325

64

मुद्रा एवं राजस्व

(CURRENCY AND FINANCE)

लेखक

गिरिराजप्रसाद गुप्त,

एम० कॉम० (स्वर्णपदक विजेता)

87

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

X61 87
152J4G
Gupta, Girija Prasad
Mudra evam raja-
SVA.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

X61
152J4G

87 64

e.v. देशिक हिरेमठ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रा, राजपूताना, नागपुर, सागर, बिहार, पटना, गोहाटी तथा अन्य
विश्वविद्यालयों की इंटर० आर्ट्स, आई० कॉम०, बी० कॉम०, बी० ए०,
एम० ए० तथा एम० कॉम० और चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट
परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए

मुद्रा एवं राजस्व

(CURRENCY AND FINANCE)

लेखक

गिरिराजप्रसाद गुप्त

एम० कॉम० (स्वर्णपदक विजेता)

प्रोफेसर, गो० से० अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय, नागपुर

तथा

मेम्बर, फेकल्टी ऑव कॉमर्स, नागपुर विश्वविद्यालय

रामप्रसाद एन्ड सन्स

आगरा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भूमिका

मेरे सहयोगी प्रो० गिरिराजप्रसाद गुप्त द्वारा लिखित 'मुद्रा एवं राजस्व' की भूमिका लिखते हुए मुझे हर्ष है। विश्वविद्यालयीन परीक्षाओं के लिए शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने के पश्चात् मुद्रा एवं बैंकिंग जैसे गहन विषयों पर उत्तम कोटि की पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता अनुभव होने लगी है। यह पुस्तक उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक सफल प्रयत्न है। गुप्तजी मुद्रा-शास्त्र के विद्यार्थी होने के साथ-साथ एक अनुभवी प्राध्यापक भी हैं। अतः उन्होंने इस पुस्तक में मुद्रा, बैंकिंग तथा विनिमय जैसे गहन और गम्भीर विषय को सरल भाषा में धाराप्रवाह रीति से इस प्रकार समझाया है कि विद्यार्थी और जन-साधारण भी विषय के दुरूह सिद्धांतों का ज्ञान भलीभांति प्राप्त कर सकें। रुपये का अवमूल्यन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, पौंड-पावने, औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशन आदि जैसे सामयिक प्रश्नों का लेखक ने अपनी सहज-स्वाभाविक योग्यता और स्पष्टता के साथ विश्लेषण किया है। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विषय के सिद्धांतों का विवेचन करते-करते उन्हें भारतीय मौद्रिक घटनाओं के साथ समायोजित भी कर दिया गया है जिससे विषय का विश्लेषण रुचिकर ही नहीं वरन् उपयोगी बन गया है। पुस्तक की सामग्री सामयिक है और आज तक के आंकड़े विश्वसनीय स्रोतों से जुटाए गए हैं। जहां-जहां पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां उनके समरूप अंग्रेजी शब्द भी दे दिये गये हैं।

गुप्तजी ने बैंकिंग पर और भी कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनकी इस विशाल पुस्तक का मैं स्वागत करता हूं। गुप्तजी ने इस पुस्तक को लिखकर मुद्रा एवं बैंकिंग विषय पर हिन्दी भाषा में उपलब्ध साहित्य को निश्चय ही सम्पन्न बनाया है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मैं पूर्ण विश्वास के साथ इस पुस्तक की विश्वविद्यालयों में अर्थ-वाणिज्य के परीक्षार्थियों के लिए सिफारिश करता हूँ। मुझे किंचित् भी सन्देह नहीं कि इस पुस्तक के द्वारा न केवल विद्यार्थियों को वरन् व्यवसायी समाज को भी विशेषतः बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्तियों को यथेष्ट लाभ होगा।

ऐसी उपयोगी और सामयिक पुस्तक लिखने के लिए मैं लेखक को हृदय से बधाई देता हूँ।

मि० रा० तोखी

आचार्य, गो० से० अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय, नागपुर;
अध्यक्ष, बोर्ड ऑव स्टडीज़ (एकाउन्ट्स एंड स्टेटिस्टिक्स);
मेम्बर, एक्जीक्यूटिव कौंसिल, एकेडेमिक कौंसिल तथा
फेकल्टी ऑव कॉमर्स, नागपुर विश्वविद्यालय

नागपुर
सितम्बर ७, १९५४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

S.V.A. SARMA.

पुस्तक-परिचय

वैसे तो पुस्तक लिख चुकने के पश्चात् लेखक को उस पुस्तक के विषय में कुछ और कहना शेष नहीं रह जाता पर परम्परा के अनुसार लेखक पुस्तक के विषय, भाषा एवं सामग्री के बारे में पाठकों को संक्षिप्त परिचय देना तथा हितैषी एवं सहयोगियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानता है।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय जितना जटिल है उतना अनिवार्य भी है। इसमें मुद्रा, विनिमय एवं बैंकिंग के सिद्धांत, भारतीय मुद्रा, विनियम तथा बैंकिंग का आज तक का ऐतिहासिक विवरण और राजस्व के मूल सिद्धांत तथा भारतीय वित्त-व्यवस्था सम्मिलित हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में यह विषय अनिवार्य रूप से राष्ट्रभाषा माध्यम द्वारा विद्यार्थियों को पढ़ाये जाते हैं। यही नहीं, युद्ध-काल एवं उसके पश्चात् आर्थिक जगत् में जो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं उनको भली प्रकार जानने के लिए भी मौद्रिक तथ्यों का समझना आवश्यक हो गया है। इन्हीं दो उद्देश्यों की-पूर्ति के लिए लेखक ने यह प्रयास किया है। वैसे तो इस विषय पर अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें उपलब्ध हैं और उन सबका अपना-अपना स्थान भी है पर इस पुस्तक में लेखक न मुद्रा एवं राजस्व जैसे जटिल विषय का अपने अध्यापन-अनुभव के आधार पर भारतीय ढंग से प्रतिपादन किया है। पुस्तक में जहां मौद्रिक सिद्धांतों का विश्लेषण किया गया है वहीं उन्हें भारतीय मुद्रा के इतिहास में तुरन्त समायोजित कर दिया गया है ताकि विद्यार्थी मौद्रिक सिद्धांतों को कोरा सिद्धांत मात्र ही समझकर रट न लें वरन् उनके द्वारा भारतीय मौद्रिक इतिहास में घटित घटनाओं को भी समझ सकें। यह पुस्तक की अपनी विशेषता है। अधिकांश मौद्रिक सिद्धांतों का विवेचन हमें विदेशी मुद्रा-शास्त्रियों की पुस्तकों में मिलता है जो उन्होंने अपने समय और देश की परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित किए होंगे। लेखक ने अनेक स्थलों पर उक्त सिद्धांतों में भारतीय स्थिति के आधार पर संशोधन करने का साहस किया है ताकि भारतीय विद्यार्थियों के लिए वे 'विदेशी सिद्धांत' केवल किताबी मसाला न रह जाय वरन् वे उनका तथ्य, प्रयोग एवं उपयोगिता भी समझ सकें।

पुस्तक की भाषा को सरल एवं मुहाविरेदार बनाने का सतत् प्रयत्न किया गया है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर अनेक पुस्तकें हैं पर उनमें से अनेक भाषा के पचड़े में पड़कर अर्थहीन हो गई हैं। उनसे हमारे विद्यार्थियों की आवश्यकताएं भी पूर्णरूपेण पूर्ण नहीं हो पातीं। अनेक पुस्तकों की रचनाओं का दो प्रकार का स्वरूप मिलता है—या तो विषय से अपरिचित हिन्दी के लेखकों ने अंगरेजी विद्वानों की रचनाओं का अनुवाद मात्र कर डाला है और या भाषा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से अपरिचित विषय के जानकारों ने अपनी टढ़ी-मेढ़ी भाषा में कुछ लिख देने का प्रयत्न किया है। दोनों प्रकार की इन पुस्तकों में अपने-अपने कुछ दोष और त्रुटियां रह गई हैं। या तो भाषा के अभाव में विषय को भ्रष्ट कर दिया गया है और या विषय की जानकारी न होने के कारण भाषा को दण्डित कर दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भाषा और विषय का सामंजस्य बनाए रखने का प्रयत्न किया है ताकि भाषा के साथ-साथ विषय का चमत्कार भी बना रहे। हिन्दी का विद्यार्थी रहने के कारण लेखक को इस कार्य में पर्याप्त सुविधाएं रही हैं। भाषा और विषय के बारे में और अधिक पाठक निर्णय करेंगे।

पुस्तक का विषय जितना गम्भीर है उतनी ही अथाह उसकी सामग्री भी है। पुस्तक की सामग्री विदेशी मान्य लेखकों की पुस्तकों, सरकारी और गैर-सरकारी रिपोर्टों एवं पत्र-पत्रिकाओं में से जुटाई गई है। पुस्तक को देश के अनेक विश्वविद्यालयों में निर्धारित पाठ्यक्रमों के आधार पर तैयार किया गया है ताकि सभी की आवश्यकताएं समान रूप से पूरी कर सके। इसी प्रयत्न में पुस्तक का कलेवर कुछ बोझिल हो गया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट देकर सामयिक सूचनाएं भी सम्मिलित कर दी गई हैं। लेखक उन सब लेखकों का आभारी है जिनकी रचनाओं में से उसने सामग्री बटोरकर पुस्तक तैयार की।

पुस्तक कदापि पूर्ण नहीं हो पाती यदि लेखक को उसके हितैषियों, सहयोगियों एवं प्रकाशकों का सहयोग प्राप्त न होता। पुस्तक लिखने में लेखक को मेरठ कालेज के डा० कृष्णकुमार शर्मा तथा नागपुर अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय के आचार्य श्री एम० आर० तोखी से सदैव भरपूर प्रोत्साहन मिलता रहा है। उनके प्रोत्साहन और मार्ग-प्रदर्शन के बिना लेखक को इतनी बोझिल पुस्तक लिखना कभी सम्भव नहीं होता। श्रद्धेय श्री अग्रवालजी तथा आचार्य श्री तोखीजी ने पुस्तक के लिए क्रमशः 'दो शब्द' और भूमिका लिखकर लेखक और पुस्तक के प्रति जो शुभ कामना और आशा प्रकट की हैं उसके लिए लेखक उनका हृदय से आभारी है। विश्वास है, उनकी ऐसी सद्भावना लेखक को सदैव प्राप्त होती रहेगी। लेखक अपने सहयोगियों का भी आभारी है जिनके साथ अनेक विषयों पर तर्क-वितर्क करके उसे अनेक समस्याओं के नए पहलुओं का ज्ञान हो सका।

प्रकाशकों ने जिस आत्मीयता और तत्परता के साथ पुस्तक का प्रकाशन किया उसके लिए लेखक उनका विशेष रूप से आभारी है। पुस्तक के मुद्रण में अनेक बाधाएं आईं पर फिर भी उनको पार करते हुए प्रकाशकों ने जिस सम्भव-शीघ्रता से पुस्तक को पाठकों के सामने ला रखा उससे उनके साधनों की प्रचुरता और कार्यालय की कार्यकुशलता का परिचय मिलता है।

पुस्तक की किसी भी कमी और त्रुटि से जो पाठक लेखक को परिचित कराएंगे उनका लेखक हृदय से आभारी होगा। लेखक अपने विषय में स्वयं क्या कहे? पुस्तक पाठकों के हाथ में है। यदि इस पुस्तक के द्वारा विद्यार्थी समाज का और हिन्दी भाषा का कोई भी हित हो सका तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक मानेगा।

सितम्बर १९५४

—लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विषय-सूची

भाग १

मुद्रा के सिद्धान्त

अध्याय १—मुद्रा का जन्म और विकास, वस्तु-विनिमय एवं उसकी कठिनाइयां, मुद्रा का विकास, मुद्रा-वस्तु के गुण-धर्म। १—१०

अध्याय २—मुद्रा का महत्त्व, मुद्रा की क्रियाएं, मुद्रा की परिभाषा, मुद्रा के दोष, 'करेंसी' का अर्थ। ११—२३

अध्याय ३—सिक्के एवं सिक्का-ढलाई, कानूनी मुद्रा, कानूनी मुद्रा के भेद, सिक्का-ढलाई का जन्म एवं विकास, सिक्का-ढलाई के भेद, आदर्श सिक्का-प्रणाली के लक्षण, सिक्कों के भेद, रुपये का सिक्का क्या है? विकार, भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली। २४—३४

अध्याय ४—नोट एवं नोट-व्यवस्था, नोटों के भेद, नोट क्योंकर चलते हैं? नोट-संचालन के सिद्धांत, नोट-संचालन कौन करे? केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट-संचालन में सावधानी, अपरिवर्तनीय नोटों के दोष, नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण, नोटों से लाभ, नोटों से हानियां, क्या नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं? नोट-निर्गमन की आधुनिक प्रणालियां, नोट-निर्गमन की आदर्श प्रणाली, भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था, भारतीय नोट-व्यवस्था के दोष। ३५—५७

अध्याय ५—साख एवं साख-व्यवस्था, 'साख' का अर्थ, साख का लेन-देन, साख-मुद्रा की परिभाषा, साख-पत्र एवं साख-मुद्रा का भेद, साख-मुद्रा के भेद, साख का महत्व, साख के दोष, साख और पूंजी का संबंध—क्या साख पूंजी का सृजन करती है? क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है? साख और वस्तुओं के भाव, साख की घटत-बढ़त, भारत में साख-व्यवस्था। ५८—७५

अध्याय ६—मुद्रा का चलन सिद्धांत, ग्रेशम का नियम, नियम का मूल स्वरूप, 'बुरी' एवं 'अच्छी' मुद्राओं के वैज्ञानिक भेद, नियम की विचि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

त्रता, नियम के विभिन्न रूप, नियम के अपवाद, नियम का योरप में प्रयोग, भारत में ग्रेशम का नियम, सरकार द्वारा मुद्राओं के चलन पर रोक। ७६—८४

अध्याय ७—मुद्रा का परिमाण-सिद्धांत—मुद्रा का मूल्य, सिद्धांत की व्याख्या, मुद्रा की 'मांग' का अर्थ, मुद्रा की 'प्रदाय' का अर्थ, प्रो० फिशर का समीकरण, सिद्धांत के विरोध में युक्तियां, सिद्धांत की आलोचना, सिद्धांत की वास्तविक उपयोगिता, भारत में इस सिद्धांत का प्रयोग, मुद्रा के चलन की गति, साख की गतिशीलता। ८५—१०२

अध्याय ८—मुद्रा का मूल्य-परिवर्तन एवं मूल्यमापन, मुद्रा-स्फीति—अर्थ, कारण एवं प्रभाव, भारत में मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन—अर्थ, कारण एवं प्रभाव, मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन का भेद, मुद्रा-अपस्फीति (disinflation), मुद्रा-अपस्फीति एवं मुद्रा-संकुचन (deflation & disinflation), मुद्रा-संस्फीति (reflation), मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संस्फीति (inflation & reflation), मूल्य-वृद्धि, मूल्य-ह्रास, आदर्श मूल्यस्तर की कल्पना, अवमूल्यन (devaluation) अर्थ, कारण एवं प्रभाव, रुपये का अवमूल्यन, मुद्रा का मूल्य-मापन (निर्देशांक), मूल्य-निर्देशांक बनाने की विधियां, निर्देशांक बनाने में सावधानी, निर्देशांक बनाने में अड़चनें, निर्देशांकों की उपयोगिता, विविध निर्देशांक, इंगलैंड और अमेरिका में निर्देशांक-व्यवस्था, भारत में निर्देशांक-व्यवस्था। १०३—१३२

अध्याय ९—मुद्रा-प्रमाप पद्धतियां—एकधातुवाद, रजत-प्रमाप पद्धति, भारत में रजत-प्रमाप, स्वर्ण-प्रमाप पद्धति, स्वर्ण-प्रमाप के भेद, स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की स्वयंपूर्ण कार्यशीलता, स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के गुण-दोष, स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप का तिरस्कार, स्वर्ण-धातु प्रमाप—गुण-धर्म एवं दोष, इंगलैंड और भारत में स्वर्ण-धातु प्रमाप, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप—गुण-धर्म एवं दोष, भारत में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप, स्वर्ण-कोष प्रमाप, तुलनात्मक विवेचन, द्विधातुवाद पद्धति, द्विधातुवाद का समातुलन सिद्धांत, द्विधातुवाद के गुण, द्विधातुवाद का इतिहास, क्या द्विधातुवाद अब सम्भव है? द्विधातुवाद के विभिन्न रूप—पंगु-प्रमाप, समानान्तर प्रमाप, नव-द्विधातुवाद; मिश्रित धातुवाद, निर्देशांक प्रमाप, विनिमय प्रमाप, पत्र-मुद्रा प्रमाप एवं उसके गुण-दोष,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आदर्श मुद्रा-पद्धति के लक्षण, भारत में मुद्रा-प्रमाप पद्धतियां, भारत का वर्तमान मुद्रा-प्रमाप, भारत में मौद्रिक पद्धतियों का तिथिवार चित्रण। १३३—१७३

अध्याय १०—स्वर्ण-प्रमाप का इतिहास—प्रथम युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप, भारत में युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-विनिमय प्रमाप, युद्धकाल में स्वर्ण-प्रमाप की स्थिति, युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप, इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति १९२५, भारत में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति, १९२७, अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति, स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग, सितम्बर १९३१, स्वर्ण-प्रमाप का वर्तमान स्वरूप, स्वर्ण-पद्धतियों का साम्य-भेद, सोने की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति। १७४—१९५

भाग २

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विदेशी विनिमय

अध्याय ११—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म एवं विकास, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ तथा हानिया, तुलनात्मक उत्पादन-व्यय का सिद्धांत (the law of comparative costs), अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धांत क्यों ? व्यापाराधिक्य, स्वतन्त्र व्यापार व नाम-संरक्षण, संरक्षण के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क, डम्पिंग, 'कोटा' प्रणाली, वदले का व्यापार (reciprocity), भला-व्यापार नीति (fair trade policy), पक्षपातपूर्ण व्यापार नीति, लेन-देन का समीकरण। १९६—२१७

अध्याय १२—विदेशी विनिमय के सिद्धांत, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने के ढंग, विदेशी विनिमय बिलों की कार्य-प्रणाली, विनिमय-दर तथा उसके निश्चित करने के ढंग, स्वर्ण-विन्दु, क्रयशक्ति-समता सिद्धांत, सिद्धांत की व्याख्या, आलोचना, महत्त्व तथा प्रयोग, भारत में क्रयशक्ति-समता सिद्धांत का प्रयोग, विनिमय-दर की ऊंच-नीच, विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण, लाभार्जन-क्रियाएं (arbitrage operations), विनिमय में परिकल्पना या सट्टा, अग्र-विनिमय (forward exchange), विनिमय-समातुलन लेखे (exchange equalization accounts)। २१८—२५३

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १३—विदेशी विनिमय-नियंत्रण, विनिमय-नियंत्रण के उद्देश्य, नियंत्रण के ढंग, 'हस्तक्षेप' की नीति, 'प्रतिबन्ध' की नीति, विनिमय-नियंत्रण के परोक्ष ढंग, विनिमय-नियंत्रण के समस्त ढंगों पर एक दृष्टि, जर्मनी की कूट-नीति, भारत में विनिमय-नियंत्रण की व्यवस्था, भारतीय विदेशी विनिमय-नियंत्रण कानून १९४७, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय-स्थायित्व। २५४—२७७

भाग ३

बैंकिंग के सिद्धान्त

अध्याय १४—बैंक एवं उनकी क्रियाएं—बैंक की परिभाषा, बैंक की क्रियाएं, भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ के अनुसार बैंकों के कार्य एवं सेवाएं, बैंकों के भेद, बैंकिंग-व्यवस्था के मूल रूप—एकक-बैंकिंग तथा शाख-बैंकिंग, बैंक तथा ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध। २७८—३००

अध्याय १५—बैंक द्वारा साख-सृजन, साख-सृजन की मर्यादाएं, नकद-कोष तथा उसका निर्धारण, बैंक की विनियोग-नीति, बैंक द्वारा मान्य जमानतें। ३०१—३१९

अध्याय १६—बैंक का स्थिति-विवरण तथा उसका आलोचनात्मक विश्लेषण, स्थिति-विवरण की प्रमुख बातें एवं उनका स्पष्टीकरण, बैंक का स्थिति-विवरण तैयार करना आवश्यक क्यों ? ३२०—३२६

अध्याय १७—केन्द्रीय बैंक व उसकी विभिन्न क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग का विकास, केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं, केन्द्रीय बैंक की निषिद्ध क्रियाएं, केन्द्रीय बैंक एवं साख-नियंत्रण—साख-नियंत्रण के साधन, साख-नियंत्रण के नवीन मनोनीतक अस्त्र, बैंक-दर एवं उसमें उच्चावचन, बैंक-दर का महत्त्व, बैंक-दर की वर्तमान स्थिति, भारत में बैंक-दर की वृद्धि। ३२७—३५२

अध्याय १८—चेक, बिल तथा हुण्डी—चेक की परिभाषा तथा चेक लिखने में सावधानी की आवश्यकता, चेकों का रेखांकन, चेकों की पृष्ठांकना, 'महत्त्वपूर्ण' परिवर्तन, अंकित चेक, विकृत चेक, कूट चेक, विनिमय बिल की परिभाषा तथा बिल लिखने में सावधानी, विनिमय बिलों से लाभ, हुण्डी तथा उसके भेद, प्रण-पत्र, आई० ओ० यू०, साख-पत्र, बैंक-ड्राफ्ट तथा वित्त-बिल। ३५३—३६८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १९—समाशोधन-गृह, गृह की कार्य-शैली, समाशोधन-गृहों का उद्गम एवं विकास, समाशोधन-गृह से लाभ, लंदन समाशोधन-गृह प्रणाली, भारतीय समाशोधन-गृह प्रणाली। ३६९—३७४

भाग ४

भारतीय मुद्रा एवं विनिमय का इतिहास

अध्याय २०—सन् १८३५ से पूर्व भारतीय मौद्रिक व्यवस्था, १८३५ का कानून, चांदी के भाव गिरने के कारण, १८३५ के पश्चात् विनिमय-दर गिरने से कठिनाइयां, हर्शल कमेटी की सिफारिशें १८९३, १८९३ का टंकण-नियम, फाउलर कमेटी १८९८, कमेटी के विचाराधीन आए हुए प्रस्ताव, फाउलर कमेटी की सिफारिशें, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का जन्म, भारत सरकार तथा भारतमंत्री में विरोध १९०८-१३, चेम्बरलेन कमीशन १९१३, कमीशन की सिफारिशें तथा सरकार की उन पर प्रतिक्रियाएं। ३७५—३९७

अध्याय २१—प्रथम युद्धकालीन मौद्रिक हलचल, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का अन्त, युद्धकालीन सरकारी प्रयत्न, बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी की नियुक्ति १९१९-२०, कमेटी की सिफारिशें, विनिमय-दर सोने में निर्धारित करने के कारण, विनिमय-दर ऊंची रखने के कारण, अल्पमत रिपोर्ट, कमेटी की रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं, सरकार की असफल नीति एवं उसकी आलोचना, सरकार की उदासीनता (१९२१–२५)। ३९८—४१३

अध्याय २२—हिल्टन-यंग कमीशन की नियुक्ति १९२५, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पर विचार, सरकारी प्रस्ताव पर विचार, कमीशन की रिपोर्ट, विनिमय-दर वाद-विवाद, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अल्पमत रिपोर्ट, वाद-विवाद की समीक्षा, रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं, रुपये का स्टर्लिंग से गठबंधन १९३१, सोने का निर्यात, रिजर्व बैंक की स्थापना तथा चांदी की बिक्री (१९३१-३९)। ४१४—४३३

अध्याय २३—द्वितीय युद्धकालीन मौद्रिक घटनाएं–तत्कालीन मौद्रिक हलचल, विनिमय नियंत्रण, मुद्रा-स्फीति एवं मूल्य-वृद्धि, नोटों एवं सिक्कों का विमुद्रीकरण। ४३४—४४८

अध्याय २४—पौण्ड पावने एवं उनका भुगतान, पौण्ड पावने कैसे जमा हुए ? उनके भुगतान में अड़चनें, पौण्ड पावनों का भुगतान तथा भुगतान

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धी समझौते—१९४७ का समझौता, जुलाई १९४८ का समझौता, १९४९ का समझौता, १९५२ का समझौता एवं १९५३ की पौण्ड-वार्ता। ४४९—४५५

अध्याय २५—रुपये का अवमूल्यन, डॉलर की समस्या, डॉलर-संकट की तत्कालीन स्थिति, रुपये का अवमूल्यन सितम्बर १९४९, अवमूल्यन के परिणाम एवं प्रतिक्रियाएं। ४५६—४६७

अध्याय २६—रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न; पुनर्मूल्यन का आशय, पुनर्मूल्यन के विरोध की युक्तियां, पुनर्मूल्यन के बारे में वित्त-मंत्री का निर्णयात्मक भाषण। ४६८—४७२

अध्याय २७—अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं—मुद्रा-कोष, उद्देश्य, संगठन, पूंजी एवं प्रबन्ध-संचालन, मुद्रा-कोष का महत्त्व, कोष के मौद्रिक साधन एवं गतिविधि, भारत और मुद्रा-कोष; अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—उद्देश्य, पूंजी, संगठन तथा प्रबन्ध-संचालन, ऋण देने की शर्तें, बैंक की गतिविधि, भारत तथा बैंक का सम्बन्ध, बैंक का महत्त्व, बैंक का भविष्य। ४७३—४९१

अध्याय २८—भारतीय पत्र-मुद्रा का इतिहास (१८००–१९५३)—१८६१ से पूर्व की स्थिति, पेपर करेंसी एक्ट १८६१, प्रथम युद्धकालीन पत्र-मुद्रा का इतिहास, युद्धोत्तरकालीन स्थिति, रिजर्व बैंक द्वारा नोट-निर्गमन १९३५, द्वितीय युद्धकालीन पत्र-मुद्रा-प्रसार, युद्धोत्तर कालीन पत्र-मुद्रा-व्यवस्था, भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था, स्वर्ण-प्रमाप कोष का इतिहास। ४९२—५१२

भाग ५

भारतीय बैंकिंग का विकास

अध्याय २९—आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का जन्म एवं विकास, मिश्रित पूंजी वाले बैंकों का विकास, प्रेसीडेन्सी बैंकों का एकीकरण तथा इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया का जन्म, विनिमय बैंकों की स्थापना, अव्यवस्थित बैंक विकास, द्वितीय युद्धकालीन बैंकिंग विकास, युद्धोत्तरकालीन बैंकिंग स्थिति, देश में बैंकिंग का भविष्य। ५१३—५२८

अध्याय ३०—भारतीय मुद्रा-मण्डी—मुद्रा-मण्डी का अर्थ तथा क्षेत्र, मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंग, भारतीय मुद्रा-मण्डी के दोष, बिल-बाजार में बिलों का अभाव, बिल-बाजार विकसित करने के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुझाव एवं उपाय, केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशें तथा रिजर्व बैंक का कर्तव्य। ५२९—५३८

अध्याय ३१—स्वदेशी बैंकर—साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर का भेद, संयुक्त स्कंध बैंक तथा स्वदेशी बैंकर का भेद, स्वदेशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली एवं क्रियाएं, स्वदेशी बैंकरों की वर्तमान अवस्था, बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध, बैंकर प्रणाली के कुछ दोष, बैंकर उन्नत कैसे हों? रिजर्व बैंक के प्रस्ताव एवं प्रयत्न, केवल दो उपाय? ५३९—५५३

अध्याय ३२—व्यापारिक बैंक, व्यापारिक बैंकों की कार्य-प्रणाली, बैंकों की निषिद्ध क्रियाएं, व्यापारिक बैंकों की प्रगति, बैंकों की कार्यशैली में त्रुटियां, बैंकों की बाह्य कठिनाइयां, बैंकों की उन्नति के सुझाव, देश में इन बैंकों पर आए हुए संकट तथा उनके कारण, देश के पांच 'महान्' बैंक। ५५४—५६८

अध्याय ३३—विदेशी विनिमय बैंक—विनिमय बैंकों के वर्ग, भारतीय व्यापारिक बैंक और विदेशी व्यापार, विनिमय बैंकों की क्रियाएं, विनिमय बैंकों की कार्यशैली, विनिमय बैंकों के दोष एवं उनके विरुद्ध शिकायतें, विदेशी बैंकों ने क्या दिया? केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशें। विदेशी बैंकों पर प्रतिबन्ध की आवश्यकता? ५६९—५८४

अध्याय ३४—औद्योगिक बैंक—भारत में औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता? व्यापारिक बैंक एवं उद्योगों की वित्त-व्यवस्था, जर्मन बैंकिंग प्रणाली, औद्योगिक बैंकों की स्थापना, प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन एक्ट १९५१, अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन—उद्देश्य, पूंजी, प्रबन्ध-संचालन, कार्यक्षेत्र तथा ऋण देने की शर्तें, कॉरपोरेशन की गतिविधि, कॉरपोरेशन के एक्ट में संशोधन, कॉरपोरेशन की कठिनाइयां, कॉरपोरेशन का आलोचनात्मक अध्ययन। ५८५—६०६

अध्याय ३५—सहकारी बैंक—कृषि-साख की आवश्यकता, सहकारी बैंक क्या है? सहकारी बैंकों का वर्गीकरण, सहकारी बैंक तथा व्यापारिक बैंक, प्रान्तीय सहकारी बैंक, भूमिबन्धक बैंक, सहकारी बैंकिंग प्रणाली में दोष, सहकारी बैंक उन्नत कैसे हों? सहकारिता आयोजन समिति की सिफारिशें, रिजर्व बैंक एवं सहकारी बैंक, सरकार तथा सहकारी बैंक, सरकार तथा कृषि-अर्थ-व्यवस्था,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकारी ऋणों में त्रुटियां, कृषि-साख कॉरपोरेशन की सिफारिश, सहकारिता आयोजन समिति के सुझाव। ६०७—६३२

अध्याय ३६—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया—रिजर्व बैंक बनाने की आवश्यकता ? रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण क्यों और कैसे ? रिजर्व बैंक का विधान, रिजर्व बैंक की क्रियाएं, बैंक की निषिद्ध क्रियाएं, तालिकाबद्ध एवं अतालिकाबद्ध बैंक, रिजर्व बैंक एवं स्वदेशी बैंकर, रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियंत्रण, रिजर्व बैंक की नवीन बिल-बाजार योजना, रिजर्व बैंक एवं साख-व्यवस्था, रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय-नियंत्रण, रिजर्व-बैंक का स्थिति-विवरण, द्वितीय युद्ध-कालीन रिजर्व बैंक की गतिविधि, रिजर्व बैंक की युद्धोत्तर-कालीन समस्याएं, बैंक का आलोचनात्मक अध्ययन। ६३३—६६६

अध्याय ३७—इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया—बैंक का विधान, इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैंक से सम्मेल—५ अप्रैल १९३५ का सम्मेल, २ मई १९४५ का सम्मेल, १८ अक्तूबर १९५१ का सम्मेल इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया ? बैंक की क्रियाएं, बैंक का देश के बैंकिंग कलेवर में विशिष्ट स्थान, इम्पीरियल बैंक का महत्त्व, बैंक पर आक्षेप, बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न, बैंक का भविष्य। ६६७—६८१

अध्याय ३८—अर्ध-बैंकिंग संस्थाएं—डाकखाने के बचत-बैंक, डाकखानों की बीमा-योजना, नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट, ट्रेजरी सेविंग्ज सार्टीफिकेट आदि, ऋण-कार्यालय, निधियां तथा चिट कोषागार। ६८२—६९३

अध्याय ३९—भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९, कानून क्यों बनाया गया ? कानून की अनुज्ञापत्र संबंधी व्यवस्था, पूंजी-विषयक धाराएं, संचित कोष की व्यवस्था, कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के विशेषाधिकार, बैंकिंग कानून से लाभ, कानून की कमियां। ६९४—७०५

अध्याय ४०—भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप—एकीकरण या राष्ट्रीयकरण ? ग्रामीण भारत में बैंकों की व्यवस्था, ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशें, बैंकिंग शिक्षा की आवश्यकता एवं आयोजन, बैंकिंग का भविष्य। ७०६—७१२

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाग ६

राजस्व के सिद्धान्त

अध्याय ४१—राजस्व का स्वरूप और क्षेत्र—राजस्व का प्रादुर्भाव, 'राजस्व' का अर्थ, राजस्व का महत्व, राजस्व का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध, राजस्व एवं व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन का भेद । ७१३—७२६

अध्याय ४२—सरकारी व्यय-व्यवस्था, सरकारी व्यय में वृद्धि के कारण, सरकारी व्यय के नियम, सरकारी व्यय का वर्गीकरण, सरकारी व्यय के आर्थिक परिणाम । ७२७—७३९

अध्याय ४३—सरकारी आय एवं उसके स्रोत और साधन; सरकारी आय का वर्गीकरण, सरकारी आय के विभिन्न स्रोत । ७४०—७४४

अध्याय ४४—कर-निर्धारण के सिद्धान्त एवं समस्याएं; विभिन्न कर-पद्धतियां, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर व उनके गुण-दोष, कर-निर्धारण के नियम, कर-निर्धारण में न्याय का पुट, कर-निर्धारण के विविध सिद्धान्त, आदर्श कर-पद्धति के लक्षण, कर-देयक्षमता का अर्थ और उसे प्रभावित करनेवाले कारण । ७४५—७६०

अध्याय ४५—कर के 'भार' के सिद्धान्त एवं समस्याएं; कर के 'भार' का अर्थ, कर के भार के सिद्धान्त, कुछ विशिष्ट करों के भार का चिंतन, करों का भार, कर का समाज पर व्यापक प्रभाव, भारतीय कर व्यवस्था । ७६१—७७१

अध्याय ४६—जन-ऋण—भारत में जन-ऋण पद्धति का विकास, जन-ऋण के विभिन्न रूप और उनकी सीमाएं; जन-ऋणों का वर्गीकरण, जन-ऋण चुकाने के ढंग, जन-ऋण का आर्थिक प्रभाव, भारत का जन-ऋण, द्वितीय युद्धकाल में भारत का जन-ऋण । ७७२—७८१

भाग ७

भारतीय राजस्व व्यवस्था

अध्याय ४७—भारतीय राजस्व का क्रमिक विकास; केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में पारस्परिक वित्त सम्बन्ध, मेस्टन अवार्ड, १९३५ का विधान,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निमियर रिपोर्ट, नए संविधान के अन्तर्गत वित्त-व्यवस्था, देशमुख अवार्ड, वित्त-आयोग की सिफारिशें, कर-आयोग की नियुक्ति । ७८२—७८९

अध्याय ४८—प्रथम पंचवर्षीय योजना में वित्त-व्यवस्था । ७९०—७९१

अध्याय ४९—विभिन्न सरकारों की आय-व्यय की मदें—केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय (राज्य) सरकारों एवं नगरपालिकाओं और जिला-बोर्डों के आय-व्यय के स्रोत, भारतीय राजस्व-व्यवस्था पर एक दृष्टि । ७९२—७९४

परिशिष्ट १—श्रॉफ कमेटी की सिफारिशें (१९५४), अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की ३० जून १९५४ को समाप्त होनेवाले वर्ष की रिपोर्ट और गति-विधि, रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट में संशोधन, बैंकों की बीमा-योजना, विभिन्न केन्द्रीय बैंकों की बैंक-दरें, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं के सम-मूल्य, भारतीय बैंकों के विदेश-स्थित कार्यालय । ७९५—८१०

परिशिष्ट २—अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन की अन्तिम गति-विधि । ८११—८१२

सन्दर्भ-सूची ८१३—८२०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रथम भाग

मुद्रा के सिद्धान्त

मुद्रा का जन्म और विकास—मुद्रा का महत्त्व, क्रियाएं, परिभाषा एवं दोष; सिक्के एवं सिक्का-ढलाई; नोट-व्यवस्था; साख-पद्धति; मुद्रा का चलन-सिद्धान्त; मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त; मुद्रा का मूल्य-परिवर्तन एवं मूल्य-मापन; मुद्रा-प्रसार पद्धतियां

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १

मुद्रा का जन्म और विकास

वर्तमान सभ्य समाज में मुद्रा का बहुत महत्त्व है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय, देशी और विदेशी व्यापार, विशाल उत्पादन, सरकारी लेन-देन आदि मुद्रा के द्वारा ही होते हैं। मनुष्य-जीवन का प्रत्येक कार्य आज मुद्रा पर केन्द्रित है। कलाकार, लेखक, कवि, नाटककार और सम्पादक की सेवाओं को भी मुद्रा में ही आंका जाता है ओर उनकी सेवाओं के बदले में मुद्रा ही चुकाई जाती है। कहने का अर्थ यह है कि संपत्ति का वर्तमान संगठन, वितरण, विनिमय एवं उपभोग—सभी आर्थिक क्रियाएं आज मुद्रा के कारण ही संभव हैं। मनुष्य ने अब तक जितने भी खोज और अनुसंधान किये हैं उन सबमें मुद्रा का विशेष स्थान है। प्रत्येक ज्ञान का मनुष्य ने एक मूल आधार खोज निकाला है। यंत्र-विद्या का मूल आधार घूमनेवाला चक्र या पहिया है, जिसपर सारी यंत्र-कला टिकी हुई है। विज्ञान का मूल आधार अग्नि है। राजनीति का मूल आधार 'वोट' या मत है। इसी भांति अर्थशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं का मूल आधार मुद्रा है जिसपर अर्थ-विज्ञान का समूचा कलेवर आधारित है। पर यह समझना भूल होगी कि मुद्रा और मुद्रा का वर्तमान रूप जो आज हम देखते हैं, सृष्टि के आदि-काल से ही चला आ रहा है। प्राचीन काल में आज से बहुत पहले न आज जैसी मुद्राएं थीं और न विनिमय का और कोई माध्यम था। उस समय मनुष्य की आवश्यकताएं भी इतनी अधिक नहीं थीं जितनी आज हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएं अपने आप पैदा करता या बना लिया करता था और यदि किसी समय उसे ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती जिसे वह स्वयं न पैदा कर सकता, तो वह अपनी वस्तु का दूसरे व्यक्ति की उस वस्तु से अदल-बदल कर लिया करता था। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति के पास अन्न होता और दूसरे के पास कपड़ा होता तो दोनों अपनी-अपनी वस्तुओं का पारस्परिक विनिमय कर लेते जिससे दोनों की खाने और पहनने की आवश्यकताएं पूर्ण हो जातीं। वस्तुओं के अदल-बदल की इस प्रणाली को अर्थशास्त्र में 'वस्तु-विनिमय' (barter) के नाम से पुकारते हैं। प्रो० जेवन्स ने वस्तु-विनिमय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत 'तुलनात्मक अति रेक वस्तु का तुलनात्मक आवश्यक वस्तु के साथ आदान-प्रदान होता है।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धीरे-धीरे मनुष्य सभ्य बनता गया। पशु-युग में, जब कि लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते-फिरते थे, उन्हें अपने साथ गाय, बैल, भेड़ आदि रखने पड़ते थे। उन लोगों ने तब गाय, बैल, भेंड़ आदि को ही विनिमय का माध्यम मान लिया था और इन्हीं के द्वारा वे अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन करते थे। उन लोगों ने इन जानवरों को विनिमय का माध्यम इसलिए भी बनाया कि ये जानवर अपने आप एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते थे और इनको लाने-लेजाने की कोई मुसीबत न थी।

पाषाण-युग में पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े विनिमय-माध्यम के काम में लाए जाते थे। इसी प्रकार कौड़ी, हड्डी, पत्थर, लकड़ी, पेड़ की छाल आदि विनिमय-माध्यम के काम आते रहे। जिस स्थान के आर्थिक जीवन में जिस वस्तु का अधिक महत्त्व होता था उसी वस्तु को विनिमय का माध्यम बना लिया जाता था। एक समय था जब कि भारत में चावल, वर्जीनियामें तम्बाकू, एबीसिनिया में नमक, अरब में खजूर और मिस्र में कपास आदि वस्तुएं विनिमय-माध्यम या मुद्रा के काम में लाई जाती थीं। परन्तु धीरे-धीरे इन वस्तुओं के लेन-देन में कठिनाई अनुभव होने लगी तथा ये वस्तुएं थोड़े समय में सड़-गल भी जाती थीं। इनका अधिकाधिक मात्रा में सरलता से उपलब्ध होना उत्तरोत्तर इनकी उपयोगिता को घटाने का कारण बनता गया। अतः इन वस्तुओं को छोड़ दिया गया।

इसके बाद धातु-युग आया जिसमें तांबे, पीतल, निकिल, लोहे आदि धातुओं की मुद्राएं बनाई जाने लगीं। मिस्र में तांबा और स्पार्टा में लोहे के सिक्के बनते थे। धीरे-धीरे सभ्यता बढ़ती गई और लोहे तथा पीतल के स्थान पर चांदी और सोने के सिक्के काम आने लगे। सोना-चादी अपेक्षाकृत दुर्लभ धातु हैं इसलिए इनके सिक्के अधिक समय तक चलते रहे। परन्तु जैसे-जैसे युग बदलता गया लोग सोना-चांदी संग्रह करने लगे। सरकारों ने भी सोने-चांदी को कोष में संग्रह करके रखना ही ठीक समझा और उनके आधार पर कागज के नोट चला दिये गये। आज सोन के सिक्के कहीं नहीं चलाये जाते और चांदी के सिक्के भी बहुत कम देखने में आते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक वस्तुओं को मुद्रा माना गया और फिर उनका उपयोग मुद्रा के रूप में ठीक न समझकर छोड़ दिया गया। अन्त में अनेक देशों में मुद्रा के लिए सोना और चांदी ग्रहण कर लिए गये। पर अब तो प्रायः पत्र-मुद्रा ही प्रयोग में लाई जाती है। यहां यह समझना आवश्यक है कि उस वस्तु में, जिसकी मुद्रा बनाई जायं, कौन-कौन से गुण-धर्म होने चाहिएं और क्या सोने, चांदी तथा कागज में वे सब गुण पाये जाते हैं ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-वस्तु के गुण-धर्म

(१) उपयोगिता एवं मूल्य—मुद्रा-वस्तु उपयोगी एवं मूल्यवान् होनी चाहिए। उपयोगिता मुद्रा का प्रधान गुण है। चमड़ा, अनाज, चाय, तम्बाकू, नमक, गाय आदि सब वस्तुएं, जो समय-समय पर मुद्रा के रूप में चलती रही थीं, उपयोगी एवं मूल्यवान् थीं। यहां तक कि हड्डियों के टुकड़े तक भी, जो मुद्रा के रूप में चलते थे, उपयोगी थे। उस समय लोग इन हड्डियों के आभूषण बनाकर पहिना करते थे और इन आभूषणों को वे मूल्यवान् समझते थे। स्वयं वह वस्तु, जिसकी मुद्रा बनाई जाय, मूल्यवान् होनी चाहिएं क्योंकि जब तक उस वस्तु का अपना कुछ मूल्य नहीं होगा तब तक लोग उसे अपनी वस्तुओं के बदले में लेना कभी पसन्द नहीं करेंगे। जो वस्तु स्वयं मूल्यवान् नहीं है वह दूसरी वस्तुओं का मूल्य मापने का काम कभी नहीं कर सकती।

सोने और चांदी में ये दोनों गुण पाये जाते हैं। ये धातु उपयोगी भी हैं और मूल्यवान् भी। प्रत्येक व्यक्ति हर समय इन्हें मुद्रा के रूप में ही नहीं वरन् किसी भी रूप में अंगीकार करने को तैयार रहता है।

कुछ लोगों का तर्क है कि मुद्रा बनाने के लिए मुद्रा-वस्तु का उपयोगी और मूल्यवान् होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। उनका कहना है कि नोटों और चेकों में काम आनेवाले कागज की न कोई उपयोगिता है और न उसका कोई मूल्य है परन्तु फिर भी वे मुद्रा का काम करते हैं। इसका उत्तर यह है कि नोट और चेक मुद्रा के रूप में इस विश्वास पर चलते हैं कि उनके बदले में सोना-चांदी अथवा सोने-चांदी के सिक्के मिल सकते हैं। यदि किसी समय लोगों का यह विश्वास टूट जाय तो नोट और चेकों का चलन उसी समय बन्द हो जायगा और तब वे मुद्रा न रहेंगे। इस विषय में वास्तविकता यह है कि मुद्रा के दो रूप होते हैं—(१) मूल्य-मापक मुद्रा, जो देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापन करती है, (२) विनिमय-साध्य मुद्रा, जो देश में वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देन में सहायता करती है। विनिमय-साध्य मुद्रा आज के युग में उस वस्तु की बनाई जा सकती है जो स्वयं न उपयोगी हो और न मूल्यवान्; परन्तु मूल्य-मापक मुद्रा की वस्तु अनिवार्य रूप से उपयोगी और मूल्यवान् होनी चाहिए। यही कारण है कि नोट और चेक, जो विनिमय-माध्यम का काम करते हैं, कागज के बनाये जाते हैं जो न उपयोगी हैं और न मूल्यवान्। पर रुपया, जो इन सबका मूल्य-मापक है, ऐसी मुद्रा है जिसकी धातु उपयोगी भी है और उसका कुछ मूल्य भी है।

(२) स्वरूप-परिचय—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सरलता से पहिचानी जा सके और खोटे-खरे और भले-बुरे की पहिचान करने में देर न हो। मुद्रा का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

काम विनिमय-माध्यम का होता है। अतः यदि लेन-देन करने से पहिले मुद्रा-वस्तु की जांच-पड़ताल करने में देर लगे कि वह वस्तु अच्छी है या बुरी, खरी है या खोटी, नकली है या असली तो मुद्रा के लेन-देन में अधिक समय लगेगा और प्रत्येक व्यक्ति उसे सरलता से स्वीकार भी नहीं करेगा। अतः मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसे किसी भी समय, किसी भी स्थान पर, किसी भी ऋतु में, किसी भी रूप में तथा किसी भी मनुष्य के पास साधारण से साधारण, अनपढ़ से अनपढ़ और बुद्धू से बुद्धू आदमी भी सरलता से पहिचान सके। सोने-चांदी में यह गुण होता है। सोना-चांदी किसी भी रूप एवं आकार में सरलता से पहिचाने जा सकते हैं। जवाहिरात तथा हीरा-मोती में यह बात नहीं होती। इनको पहिचानने के लिए जौहरी की सहायता लेनी पड़ती है। इसीलिए इनकी मुद्राएं नहीं बनाई जातीं।

(३) **सजातीयता**—मुद्रा-वस्तु ऐसी हो कि उसमें से यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएं बनाई जाएं तो उन मुद्राओं के वस्तु-रूप में किसी भी प्रकार की कोई खराबी न आने पावे। उन मुद्राओं की यदि तोल एक-सी हो तो उनका मूल्य भी एक-सा हो। हीरा, मोती तथा अन्य जवाहिरात में यह बात नहीं होती। एक ही रूप-रंग, एक ही तोल तथा एक ही आकार के दो जवाहिरात भिन्न-भिन्न मूल्यों के हो सकते हैं। पर एक ही आकार और एक-सी तोल के सोने या चांदी के दो टुकड़े प्रायः भिन्न-भिन्न मूल्यों के नहीं हो सकते। यही कारण है कि सोने-चांदी को मुद्रा बनाने के लिए उत्तम वस्तु माना जाता है।

(४) **वहनीयता**—मुद्रा-वस्तु के लाने-लेजाने में सुविधा रहनी चाहिए। न तो वह इतनी भारी हो कि जिसे लाने-लेजाने की मुसीबत रहे और न इतनी हलकी हो कि आंधी में उड़ जाय। वस्तु ऐसी हो जिसका भार और आकार तो कम और सूक्ष्म हो परन्तु मूल्य अधिक हो। प्राचीन काल में काम आनेवाली मुद्रा-वस्तुएं; जैसे बैल, अनाज, चमड़ा आदि, या तो बहुत भारी थीं और या उनका आकार इतना विशाल था कि उन्हें लाने-लेजाने में असुविधा रहती थी। जिस वस्तु के लाने-लेजाने में सुविधा रहे और कम खर्च हो उस वस्तु के मूल्य में अधिक भारी-भारी उतार-चढ़ाव नहीं हुआ करते और जिस वस्तु के मूल्य में उच्चावचन कम होते हैं वही वस्तु मुद्रा बनाने के लिए सर्वोत्तम समझी जाती है। यही कारण है कि लोहे की अपेक्षा चांदी को और चांदी की अपेक्षा सोने को मुद्रा बनाने के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता रहा है। [वहनीयता की दृष्टि से तो नोट आदर्श मुद्रा कहे जा सकते हैं। अतः आजकल पत्र-मुद्रा ही बहुत काम में लाई जाती है।]

(५) **टिकाऊपन**—मुद्रा वस्तु टिकाऊ होनी चाहिए अर्थात् अधिक समय तक रखने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आना चाहिए। लोग मुद्रा के द्वारा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्य-संचय करते हैं और उसे दूर-दूर स्थानों पर भी ले जाते हैं। यदि वह वस्तु शीघ्र ही नष्ट होनेवाली होगी तो मुद्रा का उक्त कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकेगी। प्राचीन काल में काम आनेवाली मुद्रा-वस्तु; जैसे अनाज, मछली, तेल आदि, टिकाऊ नहीं थीं और शीघ्र ही सड़-गल जाती थीं। सोने-चांदी में ऐसी बात नहीं है। बहुत समय तक रखने पर भी इनमें कोई विकार नहीं होता। सोने-चांदी के सिक्कों को जमीन में गाड़कर बहुत वर्षों के पश्चात् निकालने पर भी उनमें कोई विकार नहीं आता। [टिकाऊपन की दृष्टि से नोट ठीक नहीं समझे जाते।]

(६) विभाज्यता—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका विभाजन किया जा सके, उस वस्तु को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटा जा सके परन्तु काटने से उनके मूल्य में कोई खरावी न हो। कटे हुए सब टुकड़ों का मूल्य मिलाकर सम्पूर्ण मूल्य के बराबर हो जाय। प्राचीन काल की मुद्रा-वस्तु—गाय-बैल—को काटना सम्भव नहीं था और यदि उन्हें काट भी लेते तो उनके वास्तविक मूल्य में कमी हो जाती थी। सोने-चांदी को टुकड़ों में काटा जा सकता है और उन्हें गलाकर फिर एक पूरा टुकड़ा बनाया जा सकता है और फिर भी उनके मूल्य में कोई खरावी या कमी नहीं होती।

(७) मूल्य-स्थिरता—मुद्रा-वस्तु का मूल्य सामान्यतः स्थिर होना चाहिए। वैसे तो कोई भी वस्तु ऐसी नहीं हो सकती जिसके मूल्य में कभी कोई कमी-बेशी ही न आये, परन्तु फिर भी अपेक्षाकृत दृष्टि से मुद्रा-वस्तु के मूल्य में भारी-भारी अन्तर या उतार-चढ़ाव नहीं होने चाहिए। मुद्रा के द्वारा मूल्य संचित किया जाता है एवं उसके द्वारा ही उधार लेने-देने का काम होता है। अतः यदि मुद्रा-वस्तु के मूल्य में कोई विशेष उतार-चढ़ाव हुआ तो मूल्य-संग्रह तथा साख के लेन-देन में बाधा हो सकती है। सभी जानते हैं कि जिस वस्तु के मूल्य में जल्दी-जल्दी घटा-बढ़ी होगी उस वस्तु का कोई भी संग्रह नहीं करेगा। प्राचीन काल में एक समय अनाज को ही मुद्रा मान लिया गया था। उसमें यही कठिनाई रही कि उसका मूल्य समय-समय पर और स्थान-स्थान पर बदलता रहता था। जब नई फसल आती तो मूल्य गिर जाता और फसल समाप्त होने पर मूल्य चढ़ जाता। इसीलिये अनाज को मुद्रा मानना छोड़ दिया गया। ऐसी ही असुविधाएं अन्य वस्तुओं में थीं। सोने-चांदी में यह बात नहीं है। इनके मूल्य में इतने भारी-भारी उतार-चढ़ाव नहीं होते।

(८) गलने की सुविधा—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह सरलता से गलाई जा सके और गलाकर फिर दुबारा उसकी मुद्रा बनाई जा सके। न तो वह इतनी कड़ी ही हो कि गल ही न सके और न इतनी नरम हो कि मोम की भांति धूप में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पिघल जाय या जेब में कपड़े की गर्मी पाकर रसदार बनने लगे। सोने-चांदी के सिक्के बनाने के लिए उन्हें सरलता से गलाया जा सकता है और सिक्के बनाये जा सकते हैं। जब सिक्के घिस जाते हैं तो उन्हें फिर गलाकर नये सिक्के बनाने के काम में लाया जा सकता है। लोहे या प्लेटीनम में यह गुण नहीं होता।

प्राचीन काल से आज तक अनेक वस्तुओं को मुद्रा बनाने के काम में लाया गया, परन्तु उन सबमें कोई न कोई दोष रहा। कोई वस्तु जल्दी सड़ जाती थी, किसी का मूल्य स्थिर नहीं रहता था, किसी के पहिचानने में विलम्ब होता था तो किसी के लाने-लेजाने में असुविधा रहती थी। अतः उन सब वस्तुओं का प्रयोग कर-करके उन्हें छोड़ा जाता रहा। अन्त में सोने-चांदीको इस काम के लिए अधिक उपयुक्त वस्तु समझा गया और इनकी मुद्राएं बनने लगीं। पर अब तो सभ्यता और भी आगे बढ़ चुकी है। सोने-चांदी के स्थान पर अब कागज का प्रयोग होने लगा है। नोटों के द्वारा ही अब अधिकांश लेन-देन होता है। सरकार भी अब सोने-चांदी को कोष में सुरक्षित रखने लगी है और उनके बल पर नोट चला दिये जाते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि इससे सोना-चांदी नष्ट नहीं होता और सुरक्षित बना रहता है। दूसरे, इस समय संसार में इन धातुओं की मांग अधिक और पूर्ति कम है। अतः कागज के द्वारा इस मांग को पूरा किया जाता है। एक समय था जब सोने और चांदी के सिक्के चलाना किसी देश में गौरव की बात मानी जाती थी। भारत ने पिछली शताब्दी में सोने के सिक्के चलाने के अटूट प्रयत्न किये थे, परन्तु अब वह समय है जब कि सोने के सिक्के चलाना असभ्यता का प्रतीक माना जाता है। सोने के सिक्के चलाने का अर्थ निकाला जाता है कि जनता और सरकार में पारस्परिक विश्वास नहीं है। अतः मुद्रा-वस्तु के उपर्युक्त गुणों का आज के युग में विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।

सारांश

आधुनिक सभ्य समाज में मुद्रा का बहुत महत्त्व है। समाज की उन्नति आज मुद्रा पर अवलम्बित समझी जाती है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय, व्यापार एवं उद्योग, सरकारी लेन-देन—सभी मुद्रा के द्वारा होते हैं। सम्पत्ति का वर्तमान संगठन, वितरण, विनिमय एवं उपभोग मुद्रा के कारण ही संभव हो सके हैं। अर्थ-विज्ञान का समूचा कलेवर मुद्रा पर आधारित है। कवि, कलाकार, लेखक, नाटककार आदि सभी की सेवाओं का मूल्यांकन मुद्रा के द्वारा होता है। परन्तु आज से बहुत समय पूर्व आज जैसी मुद्रा-प्रणाली नहीं थी, न आज जैसी मुद्राएं थीं और न आज जैसा मुद्रा का स्वरूप था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की वस्तुएं अपने आप बनाता या पैदा कर लिया करता था। यदि उसे कोई ऐसी आवश्यकता होती, जिसे वह स्वयं न बना सकता, तो अपनी अतिरेक वस्तु का विनिमय दूसरे व्यक्ति की आवश्यक अतिरेक वस्तु से कर लिया करता था। इस प्रकार वस्तु का अदल-बदल वस्तु से करके आवश्यकताएं पूर्ण की जाती थीं। अदल-बदल की इस प्रथा को 'वस्तु-विनिमय' (barter) कहते हैं। शनैः-शनैः मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उसने उत्पादन के नए-नए साधन खोज निकाले। वस्तु-विनिमय में कुछ कठिनाइयां अनुभव होने लगीं। कठिनाइयां थीं—(१) पारस्परिक संयोग का अभाव, (२) विषम मूल्य की अखण्ड वस्तुओं के बंटन की कठिनाई, (३) मूल्य-मापक साधन का अभाव, (४) मूल्य-संचय की कठिनाई। इन कठिनाइयों के कारण वस्तु-विनिमय का क्षेत्र सीमित और संकुचित बनता गया। समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं को 'विनिमय का माध्यम' माना जाने लगा। आखेट-युग में जानवरों की खाल, हड्डियों तथा उनके बालों को विनिमय का माध्यम बनाया गया था। पशु-युग में गाय, बैल, भेड़ आदि को विनिमय का माध्यम बनाया गया। पाषाण-युग में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े माध्यम का काम करते थे। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं को प्रयोग में लाया जाता रहा। इसके बाद धातु-युग में पीतल, निकिल व लोहे की मुद्राएं बनने लगीं। फिर सोने-चांदी को मुद्रा बनाने के काम में लाया गया। अब सोने की मुद्राएं कहीं पर भी नहीं चलाई जातीं और चांदी के सिक्के भी प्रायः कम देखने में आते हैं। आजकल कागज के नोट प्रयुक्त होने लगे हैं। इस प्रकार मुद्रा का विकास होता रहा है और होता रहेगा।

मुद्रा-वस्तु में इन गुणों का होना आवश्यक है :—(१) उपयोगिता एवं मूल्य, (२) स्वरूप-परिचय, (३) सजातीयता, (४) वहनीयता, (५) टिकाऊपन, (६) विभाज्यता, (७) मूल्य-स्थिरता, और (८) गलने की सुविधा। सोने-चांदी में उक्त गुण अधिक मात्रा में पाए जाते हैं अतः दीर्घ काल से इन्हीं धातुओं को मुद्रा के काम में लाया जाता रहा है। पर अब इन गुण-धर्मों का विशेष महत्त्व नहीं रह गया है क्योंकि लगभग सभी देशों में कागज के नोट काम में आने लगे हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'वस्तु-विनिमय' से आप क्या समझते हैं ? समझाकर लिखिये तथा वस्तु-विनिमय प्रणाली के दोषों पर भी प्रकाश डालिए।

(२) मुद्रा के ऐतिहासिक विकास पर एक टिप्पणी लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) 'मुद्रा का विकास होता रहा है और होता रहेगा।' इस कथन की सत्यता पर प्रकाश डालिए।

(४) मुद्रा-वस्तु के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए समझाइये कि क्या आजकल मुद्रा के काम आनेवाली वस्तुओं में ये सब गुण पाये जाते हैं ?

(५) वस्तुओं के लेन-देन में 'मुद्रा' की आवश्यकता कैसे हुई ?

(६) सोने में मुद्रा-वस्तु के कौन-कौन से आवश्यक गुण पाये जाते हैं ? क्या आपकी राय में मुद्रा बनाने के लिए सोना एक आदर्श वस्तु है ? तर्कसहित उत्तर लिखिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २

मुद्रा का महत्त्व

मुद्रा का महत्त्व—आज का युग मुद्रा का युग है। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा हमारी समृद्धि आज मुद्रा पर ही निर्भर समझी जाती है। मुद्रा के द्वारा ही हम वस्तुएं खरीदते हैं, नौकरों का वेतन चुकाते हैं तथा मुद्रा के द्वारा ही देशी और विदेशी व्यापार का लेन-देन होता है। आधुनिक काल में मनुष्य वस्तुओं का उत्पादन केवल अपने लिए ही नहीं करता वरन् अपने परिवार, पड़ोसी, समाज, देश और विदेशों के लिए भी करता है। प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकता की वस्तुएं अपने आप पैदा करता या बना लिया करता था। परन्तु अब बड़े-बड़े विशाल कारखानों में माल बनाकर उसे देश-विदेशों में बेचा जाता है। यह सब मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। महान् उद्योगपति से लेकर छोटे-से किसान-मजदूर तक मुद्रा के द्वारा ही अपनी-अपनी वस्तुएं और सेवाएं बेचते हैं। एकाकी व साझेदारी का व्यापार, व्यापारिक कम्पनियों का लेन-देन, कम्पनियों के अंशों का क्रय-विक्रय, सरकारी ऋणों का लेना-देना तथा साख-व्यवस्था आदि सब कुछ मुद्रा के द्वारा ही होते हैं। मुद्रा के बिना कोई भी सरकार जनता की सेवा नहीं कर सकती।

मुद्रा वस्तुओं का मूल्यांकन करती है तथा वस्तुओं का आदान-प्रदान भी मुद्रा के माध्यम द्वारा होता है। वस्तुओं का आदान-प्रदान बढ़ने से उनका उत्पादन बढ़ता है। अतः मुद्रा परोक्ष रूप से उत्पादन-वृद्धि में प्रोत्साहन देती है।

मुद्रा के कारण समाज में श्रम-विभाजन बढ़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सुविधा से वे ही वस्तुएं बनाता या पैदा करता है जिनके लिए वह अधिक योग्य होता है या जिनके बनाने के लिए उसके पास अच्छे साधन होते हैं। और तब इन वस्तुओं का मुद्रा के माध्यम द्वारा अन्य वस्तुओं से आदान-प्रदान कर लिया जाता है।

मुद्रा होने से अब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं बनाने या पैदा करने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल वे वस्तुएं बनाने लगता है जिनमें वह अधिक निपुण होता है और फिर अपनी वस्तुओं को मुद्रा में बदलकर उस मुद्रा से अन्य आवश्यक वस्तुएं खरीद लेता है। इस प्रकार मुद्रा से श्रम-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की सर्वांगीण उन्नति का मूल कारण मुद्रा है और भावी उन्नति भी मुद्रा के कारण ही सम्भव होगी।

मुद्रा की क्रियाएं

मुद्रा का महत्त्व समझने के पश्चात् यह समझना आवश्यक है कि मुद्रा की क्रियाएं क्या-क्या हैं? मोटे तौर पर मुद्रा की क्रियाओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है:—

(१) मुख्य क्रियाएं,
(२) सहायक क्रियाएं,
(३) आकस्मिक क्रियाएं।

(१) **मुख्य क्रियाएं**—ये क्रियाएं वे हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक जीवन की प्रत्येक स्थिति में करनी पड़ती है। इन क्रियाओं को मुद्रा की अनिवार्य क्रियाएं भी कहते हैं। ये क्रियाएं इस प्रकार हैं:—

(अ) विनिमय का माध्यम—मुद्रा विनिमय का माध्यम है। यह वस्तुओं और सेवाओं के अदल-बदल में मध्यग् का काम करती है। मनुष्य अपनी किसी भी वस्तु को मुद्रा के बदले में बेचकर उस मुद्रा की सहायता से कोई भी अन्य वस्तु खरीद सकता है। वस्तु-विनिमय पद्धति में वस्तुओं का वस्तुओं से प्रत्यक्ष अदल-बदल किया जाता था परन्तु अब वस्तुओं का अदल-बदल मुद्रा के द्वारा होता है। वस्तु-विनिमय में विनिमय की केवल एक क्रिया होती थी पर मुद्रा के माध्यम द्वारा क्रय-विक्रय करने में विनिमय की दो क्रियाएं होती हैं। विनिमय-माध्यम का काम मुद्रा को आर्थिक जीवन की प्रत्येक स्थिति में करना पड़ता है और देश की उन्नत आर्थिक अवस्था में तो इस क्रिया का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। विनिमय-माध्यम का काम सफलतापूर्वक करने के लिए मुद्रा-वस्तु का उपयोगी, मूल्यवान्, वहनीय, विभाज्य एवं समरूप होना आवश्यक है।

(ब) मूल्य-मापन का साधन—जिस प्रकार दूरी नापने के लिए गज, तोल मापने के लिए पौंड, मन, सेर आदि तथा गर्मी मापने के लिए अंश (डिग्री) और बिजली मापने के लिए किलोवाट की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का मूयांकन करके उनमें पारस्परिक अनुपात निर्धारित करने का काम मुद्रा द्वारा किया जाता है। मुद्रा सब वस्तुओं का मूल्य मापकर उनमें आपस का अनुपात निश्चित कर देती है। मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्यांकन का एक यंत्र है। मूल्य-मापन का काम सफलतापूर्वक करने के लिए मुद्रा-वस्तु का मूल्यवान्, सुज्ञेय, समरूप एवं विभाज्य होना आवश्यक है।

(२) सहायक क्रियाएं—मुद्रा की इन क्रियाओं की उत्पत्ति मुख्य क्रियाओं से ही होती है अतः इन्हें सहायक क्रियाएं कहते हैं। ये क्रियाएं मुद्रा को समाज के आर्थिक जीवन की केवल उन्नत स्थिति में ही करनी पड़ती हैं। ये क्रियाएं इस प्रकार हैं :—

(अ) मूल्य-संचय का साधन—मुद्रा मूल्य संचित करने में सहायता करती है। प्रत्येक व्यक्ति केवल वर्तमान उपभोग के लिए ही नहीं वरन् भविष्य के लिए भी मूल्य संग्रह करना पसन्द करता है। यदि वह वस्तुएं संग्रह करे तो वे सड़-गल जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में वस्तुओं या जानवरों का संग्रह करके मूल्य संचित नहीं किया जा सकता। मूल्य-संचय करने का काम मुद्रा से लिया जाता है, साधारणतः जिसके न तो रूप-रंग में कोई विकार आता है और न जिसके मूल्य में विशेष घटा-बढ़ी होती है। इस कार्य के लिए मुद्रा-वस्तु का मूल्य स्थिर रहना तथा वस्तु का टिकाऊ होना आवश्यक है।

कुछ लोगों का मत है कि जो वस्तु मूल्य संचित करने के काम आती हो वह विनिमय-माध्यम का काम नहीं कर पाती। पर वास्तव में यह बात नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि मूल्य-संचय के काम आनेवाली वस्तु विनिमय-माध्यम का काम नहीं करती तो फिर काम में आनेवाली मुद्रा को ही 'मुद्रा' कहेंगे और इकट्ठी करके रक्खी हुई मुद्रा को 'मुद्रा' नहीं कहेंगे। परन्तु यह बात नहीं है। जिस प्रकार खड़ा हुआ इंजन भी इंजन कहलाता है उसी प्रकार संचित मुद्रा भी मुद्रा कहलाएगी चाहे वह उस समय विनिमय-माध्यम का काम न कर रही हो।

(ब) भावी भुगतान करने का साधन—कुछ ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका भुगतान भविष्य में चुकाया जाता है। आधुनिक लेन-देन में साख का बहुत महत्त्व है। ऐसे भुगतान करने के लिए मुद्रा से काम लिया जाता है क्योंकि उसका मूल्य सामान्यतः स्थायी रहता है और उसके रूप-रंग और आकार में कोई विकार नहीं आता। मूल्य का हस्तांतरण भी मुद्रा के द्वारा बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

(३) आकस्मिक क्रियाएं—ये क्रियाएं वे हैं जो मुद्रा को वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में करनी पड़ती है। किन्ले नामक मुद्रा-शास्त्री ने इन क्रियाओं को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अन्य क्रियाओं से भिन्न कहकर आकस्मिक क्रियाओं के नाम से वर्णित किया है। ये क्रियाएं इस प्रकार हैं :—

(अ) वितरण का आधार—आज प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा में निर्धारित किया जाता है। अतः उद्योगों में संयुक्त रूप से पैदा की हुई सम्पत्ति को उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनों; जैसे भूमि, श्रम, पूंजी एवं संगठन, में मुद्रा के द्वारा बांटा जा सकता है। मुद्रा के अभाव में संयुक्त संपत्ति को उत्पादन के उक्त साधनों में बांटना इतना सरल नहीं हो सकता था जितना अब हो सका है। उत्पादन का मूल्य मुद्रा में निश्चित होने से वितरण भी मुद्रा के द्वारा सुगम हो गया है।

(ब) साख-व्यवस्था का आधार—मुद्रा के कारण ही वर्तमान साख-व्यवस्था को जन्म मिला है। मुद्रा के होने से आज का ऋण भविष्य में सरलता से चुकाया जा सकता है। वर्तमान चेक-पद्धति, नोट-व्यवस्था, बिल-प्रणाली एवं साख-संगठन मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सके हैं।

(स) पूंजी का आधार—मुद्रा ने पूंजी को विशिष्ट रूप देकर गतिशील बनाया है। मुद्रा के माध्यम से ही पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है। पूंजी का हस्तान्तरण एवं स्थानान्तरण मुद्रा के कारण ही सम्भव है।

(द) उपयोगिता का माप—मनुष्य अपनी आय को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि उन सबसे मिलनेवाली समान उपयोगिता अधिक से अधिक हो। उपयोगिता-मापन का यह काम मुद्रा के द्वारा ही होता है। यदि मुद्रा न होती तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर कितना व्यय करना चाहिए—यह ज्ञात नहीं हो सकता था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रा के द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं को खरीदकर अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त करने में सफल हो सका है।

अंग्रेजी की चार पंक्तियों में मुद्रा की क्रियाओं का एक साथ वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store,
But if this does not complete the functions,
We may add transferability more.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

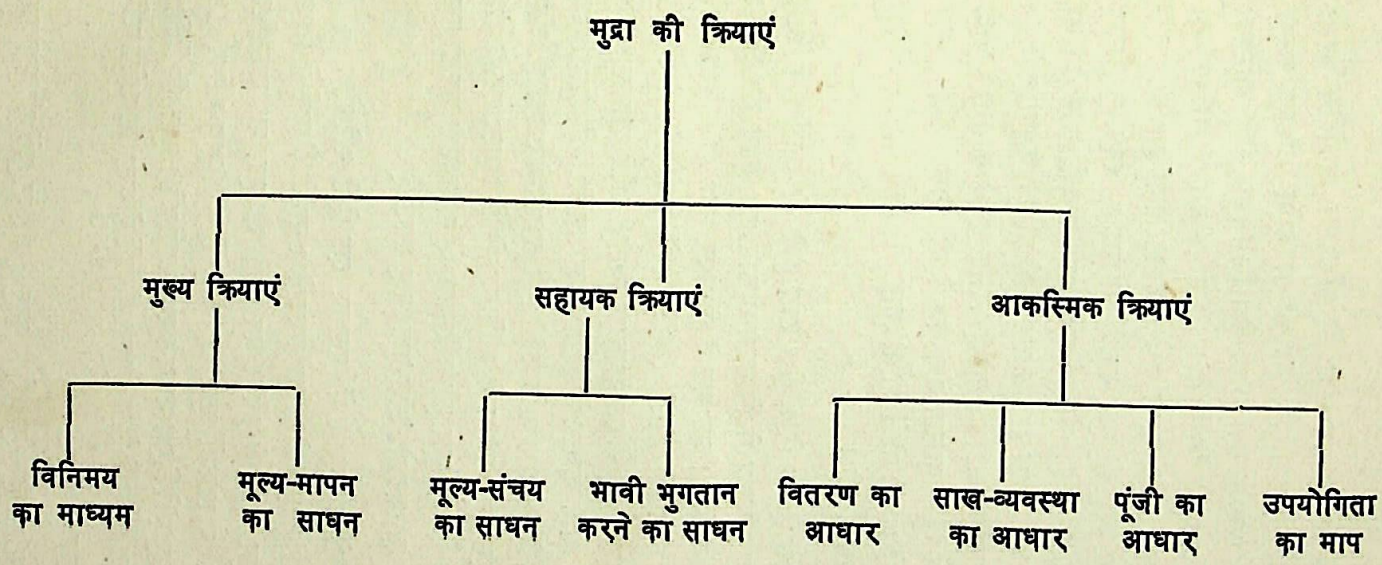

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा की परिभाषा

मुद्रा की क्रियाएं जानने के पश्चात् मुद्रा की परिभाषा निर्धारित करना कोई कठिन बात नहीं होनी चाहिए। पर फिर भी परिभाषा निश्चित करना इतना सरल नहीं है जितना प्रायः समझा जाता है। भिन्न-भिन्न मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की अलग-अलग परिभाषाएं लिखी हैं। किसी ने इसका सीमित अर्थ लगाया है और किसी ने इसको बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। कुछ विशेषज्ञों का विश्वास है कि जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय उसका अपना कुछ मूल्य होना चाहिए और तभी उस वस्तु से बनी हुई मुद्रा अन्य वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन कर सकती है। अतः केवल धातु के सिक्कों को ही मुद्रा कहना चाहिए। यह परिभाषा छोटी और संकुचित प्रतीत होती है क्योंकि इसमें कागज के नोटों को सम्मिलित नहीं किया गया है। वास्तव में कागज के नोट वे सब क्रियाएं करते हैं जो धातु के सिक्के करते हैं। अतः नोटों को परिभाषा में सम्मिलित किये बिना यह परिभाषा पूर्ण नहीं जान पड़ती।

कुछ लोगों का विश्वास है कि बिल, चेक तथा हुंडी भी लेन-देन में काम आते हैं तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय में विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। अतः इनको मुद्रा समझना चाहिए। इस मत के अनुसार मुद्रा की परिभाषा में धातु के सिक्कों के साथ कागज के नोटों, बिलों, चेकों तथा हुंडियों को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। यह परिभाषा बहुत विस्तृत और व्यापक प्रतीत होती है। चेक, बिल, हुंडी आदि बाजार में इतनी स्वतन्त्रता से विनिमय-माध्यम का काम नहीं करते जितने सिक्के तथा नोट करते हैं। इनको केवल वे ही लोग लेते-देते हैं जो आपस में एक दूसरे को भली भांति जानते हों। अतः इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। इनको मुद्रा की परिभाषा में सम्मिलित करना कुछ व्यावहारिक नहीं लगता। हां, इनको 'साख-मुद्रा' कह सकते हैं।

उक्त दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर एक ऐसी परिभाषा होनी चाहिए जो मुद्रा की सब क्रियाओं को संकेत कर सके। हार्टले ह्विदर्स ने लिखा है कि 'मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे'। पर इससे भी मुद्रा का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता। वास्तव में मुद्रा वह वस्तु है जो मूल्य-मापन तथा मूल्य-संचय के कार्य करते हुए विनिमय-माध्यम का कार्य करे। मुद्रा की विभिन्न क्रियाओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की अनेक परिभाषाएं दी हैं; जैसे :—

> 'मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी वस्तु है जो वस्तुओं को क्रय करने के काम आती है।'
>
> —कोल

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'मुद्रा उस वस्तु को कहते हैं जो माल के बदले में चुकाई जाय तथा अन्य व्यापारिक लेन-देन के भुगतान के काम में लाई जाय।'

—रॉबर्टसन

'मुद्रा उस वस्तु को कहते हैं जो विनिमय का माध्यम हो और जो लेन-देन में तथा ऋण-शोधन में सामान्यतः काम में लाई जाय परन्तु जिसके चलने न चलने का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर न हो।'

—किन्ले

'किसी भी वस्तु को मुद्रा कहा जा सकता है जो विनिमय का माध्यम हो, जिसको सब लोग बेरोक-टोक स्वीकार करें और जो सामान्यतः ऋण-शोधन के काम लाई जाय।'

—इलाई

'मुद्रा एक ऐसा विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं और सेवाओं के बदले में चुकाने के काम आवे। यह एक ऐसी वस्तु है जो ऋण के लेन-देन में सामान्यतः स्वीकार की जाय, जो वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जो मूल्य-संचय के काम में लाई जाय।'

—ज्याँफ्रे क्राउथर

'मुद्रा उन सभी वस्तुओं को कहते हैं जो किसी समय भी तथा देश के किसी भी स्थान पर बिना किसी हिचकिचाहट और विशेष जांच-पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में काम आव तथा जो व्यय चुकाने के काम में लाई जायं और जिन्हें सभी लोग सामान्यतः स्वीकार करें।'

—मार्शल

उक्त सभी परिभाषाओं से एक बात स्पष्ट होती है कि सभी मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा निर्धारित करते समय मुद्रा की किसी न किसी क्रिया पर जोर दिया है। विशेषतः जोर 'विनिमय-माध्यम' पर दिया गया है। अतः यह कहना अनुचित न होगा—"मुद्रा वह वस्तु है जो देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करे तथा जो सामान्यतः सर्वग्राह्य हो।"

आजकल 'करेंसी' शब्द मुद्रा के पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग होने लगा है।

करेंसी (Currency)

'करेंसी' शब्द अंगरेजी के 'करेंट' (current) शब्द से बना है जिसका अर्थ 'चालू' होता है। अतः करेंसी उन वस्तुओं को कह सकते हैं जो सामान्यतः चालू हों और जिन्हें लेन-देन में सभी लोग स्वीकार करें। ऐसी चालू वस्तुएं या तो सिक्के होते हैं या सरकारी नोट होते हैं। अतः इन्हें 'करेंसी' कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ वस्तुएं ऐसी भी होती हैं जो विनिमय-माध्यम का काम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर लेती हैं परन्तु जिनको सामान्यतः सभी लोग स्वीकार नहीं करते । उनका चलन-क्षेत्र सीमित होता है । ऐसी वस्तुएं चेक, बिल, हुंडी आदि हैं । अतः इनको 'करेंसी' में सम्मिलित नहीं कर सकते । हां, इन्हें साख-मुद्रा कह सकते हैं क्योंकि ये केवल लेनदार और देनदार की पारस्परिक साख पर ही लिए-दिए जाते हैं । प्रोफेसर रीड ने मुद्रा और करेंसी का अन्तर समझाते हुए लिखा है—"सिक्के व नोट करेंसी होते हैं तथा मुद्रा उनका मूल्य-मात्र होता है ।" उन्होंने करेंसी को दृश्य एवं मुद्रा को अदृश्य वस्तु माना है । इस विषय में हमारा समीकरण इस प्रकार है :—

मुद्रा=सिक्के + नोट + साख-मुद्रा

करेंसी=सिक्के + नोट

मुद्रा के दोष

मुद्रा के गुणों का वर्णन मुद्रा के महत्त्व के साथ किया जा चुका है । अतः अब यह भी देखना आवश्यक है कि वर्तमान समाज में मुद्रा के दोष क्या हैं और मुद्रा के आविष्कार ने समाज को क्या क्षति पहुंचाई है ? मुद्रा के दोष इस प्रकार हैं :—

(१) **सामाजिक एवं आर्थिक विषमता**—मुद्रा के कारण सम्पत्ति के वितरण में असमानता और विषमता आई है । कुछ लोग बहुत मुद्रा इकट्ठी कर लेते हैं और अधिकांश लोग इससे वंचित रह जाते हैं । वर्तमान काल का पूंजीवाद मुद्रा का ही परिणाम है । यदि मुद्रा न होती तो प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुएं बनानी पड़तीं या पैदा करनी होतीं और तब वह उनका इतना संग्रह भी नहीं कर पाता ।

(२) **फिजूलखर्ची**—जहां मुद्रा ने साख-व्यवस्था को जन्म दिया है वहां इसने फिजूलखर्ची भी बढ़ा दी है । उधार के कारण लोग फिजूलखर्च बन जाते हैं और अपनी आय से अधिक व्यय करने लगते हैं । यदि मुद्रा का लेन-देन न होता तो मनुष्य जितना पैदा करता उतनी ही वस्तुएं उपभोग करता । तब वह सम्भवतः इतना फिजूलखर्च नहीं होता ।

(३) **सामाजिक शोषण**—मुद्रा के कारण मजदूरी में प्रतियोगिता आई है । किसी को कम मिलता है और इतना कम कि अपने परिवार का तो क्या अपना भी पेट नहीं भर सकता और किसी को इतना अधिक मिलता है कि वह पूंजीपति बन बैठता है । इससे शोषण की भावना बढ़ती है । यदि मुद्रा का लेन-देन न होता तो मजदूरों को आवश्यकता की वस्तुएं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मिला करतीं और यदि कोई आवश्यकता से अधिक लेता भी तो वह इकट्ठा करके आज की भांति शोषक नहीं बन सकता था। क्योंकि वस्तुओं का संग्रह करना ही कठिन होता।

(४) मूल्य-परिवर्तन से हानि—मुद्रा का मूल्य घटने बढ़ने से समाज को बड़ी हानि होती है। मुद्रा के मूल्य में होनेवाले भारी-भारी उतार-चढ़ाव कभी-कभी व्यापार एवं उद्योगों को नष्टप्राय कर डालते हैं।

लुडविग वॉन नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है :—

"चोरी, हत्या, झूठ, बेईमानी और गद्दारी—इन सब बुराइयों का मूल कारण मुद्रा है। मूद्रा के कारण वेश्या अपना शरीर और सम्मान बेच देती है, न्यायाधीश अपना न्याय बेच देता है और अच्छे-अच्छे धार्मिक मानव प्राणी भी पतित बन जाते हैं।"

मुद्रा के दोष कुछ भी हों मुद्रा के बिना वर्तमान समाज की आर्थिक क्रियाएं सम्भव नहीं हो सकतीं। आज की आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल हो गई है कि मुद्रा के बिना प्राणी एक पग भी नहीं चल सकता। मुद्रा सभ्यता का प्रतीक है और मानव की उन्नति का चिन्ह है। समाज के अर्थ-पटल पर से इसे मिटाया नहीं जा सकता। पर हां, इसके दोषों को दूर करके इसे अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। मुद्रा अर्थ-विज्ञान की धुरी है जिसके बिना अर्थशास्त्र अपूर्ण ही रह जायगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेल करके इसके दोषों को दूर करना चाहिए।

सारांश

वर्तमान युग मुद्रा का युग है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षत्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। महान् उद्योगपति से लेकर छोटे किसान-मजदूर तक मुद्रा के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय करते तथा अपनी आवश्यकता शान्त करते हैं। मुद्रा के बिना कोई भी सरकार जनता की सेवा नहीं कर सकती। मुद्रा परोक्ष रीति से उत्पादन बढ़ाने में सहायता करती है। मुद्रा के कारण समाज में श्रम-विभाजन बढ़ता है तथा श्रम की निपुणता एवं विशेषज्ञता में वृद्धि होती है। मुद्रा के होने से उत्पादन और वितरण में प्रतियोगिता बढ़ती है जिससे वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने में नए-नए साधनों की खोज होती है। मुद्रा ने पूंजी को विशिष्ट स्थान देकर उसे गतिशील बनाया है। पूंजी का स्थानान्तरण एवं हस्तान्तरण मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। मुद्रा के द्वारा सामाजिक स्वतंत्रता बढ़ी और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में सहयोग मिला है। संक्षेप में, मुद्रा मानव-सभ्यता के इतिहास

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का चिन्ह और आर्थिक विकास का प्रतीक है। मुद्रा वह धुरी है जिसपर अर्थ-विज्ञान का समूचा कलेवर टिका हुआ है।

मुद्रा की क्रियाओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) मुख्य क्रियाएं, (२) सहायक क्रियाएं, और (३) आकस्मिक क्रियाएं। मुख्य क्रियाओं के अन्तर्गत मुद्रा विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करती है। सहायक क्रियाओं में यह मूल्य-संचय और भावी भुगतान चुकाने के काम आती है। आकस्मिक क्रियाओं के अन्तर्गत यह वितरण, साख-व्यवस्था और पूंजी का आधार एवं उपयोगिता का माप है।

मुद्रा की परिभाषा भिन्न-भिन्न मुद्रा-शास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से की है। किसी ने संकुचित क्षेत्र लिया है और किसी ने इसे बहुत व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। पर सभी ने मुद्रा की क्रियाओं को ध्यान में रखकर परिभाषाएं निश्चित की हैं। वास्तव में तो मुद्रा उस वस्तु को कहना चाहिए जो देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करे और जो सामान्यतः सर्वग्राह्य हो। मुद्रा के पर्यायवाची अर्थ में 'करेंसी' शब्द भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में करेंसी उन वस्तुओं को कहना चाहिए जो सामान्यतः चालू हों और जिन्हें लेन-देन में सभी लोग स्वीकार करें। इस दृष्टि से मुद्रा और करेंसी पर्यायवाची शब्द ही हुए। परन्तु जहां मुद्रा में सिक्के, नोट और साख-मुद्रा सम्मिलित किए जाएं वहां करेंसी केवल सिक्कों और नोटों को ही कहेंगे। प्रो० रीड ने करेंसी को दृश्य और मुद्रा को अदृश्य वस्तु मानकर मुद्रा को करेंसी का मूल्य-द्योतक कहा है।

मुद्रा केवल वरदान ही नहीं है वरन् इसके कुछ श्राप भी हैं। मुद्रा के दोष इस प्रकार हैं:—(१) सामाजिक एवं आर्थिक असमानता, (२) फिजूलखर्ची, (३) सामाजिक शोषण और (४) मूल्य-परिवर्तन के कारण व्यापार एवं उद्योग को हानि। कुछ भी हो, इन दोषों के कारण मुद्रा को समाप्त नहीं किया जा सकता। आज तो मुद्रा समाज का अभिन्न अंग है। अतः इसके दोषों को दूर करके इसे समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाना ही श्रेयस्कर होगा।

परीक्षा-प्रश्न

(१) आधुनिक समाज में मुद्रा का क्या महत्त्व है ? समझाकर लिखिये।

(२) मुद्रा की परिभाषा लिखिये तथा मुद्रा की क्रियाओं का विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिये।

(३) मुद्रा के दोषों पर प्रकाश डालते हुए समझाइए कि क्या आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा के बिना काम चल सकेगा ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) मुद्रा के गुण और दोषों पर प्रकाश डालिये।

(५) 'मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी वस्तु है जो अन्य वस्तुओं के खरीदने के काम आती है।'

'मुद्रा एक ऐसा विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं और सेवाओं के काम आती है।

मुद्रा की इन दोनों परिभाषाओं की विवेचना कीजिए।

(६) 'मुद्रा एक मिश्रित वरदारन है' इस कथन की पुष्टि कीजिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३

सिक्के एवं सिक्का-ढलाई

कानूनी मुद्रा—सामान्यतः मुद्रा धातु की तथा कागज की बनाई जाती है। धातु-मुद्रा को सिक्के और कागजी मुद्रा को नोट कहते हैं। सिक्के और नोट बनाकर चलाने का काम सरकार का होता है। पर कभी-कभी सरकार किसी बैंक को नोट व सिक्के चलाने का काम सौंप देती है। १८६१ से पूर्व हमारे देश में नोट छापकर चलाने का अधिकार बम्बई, मद्रास तथा बंगाल तीनों के प्रेसीडेंसी बैंकों को मिला हुआ था। आज नोट और सिक्के चलाने का अधिकार रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया को मिला हुआ है। पर अब रिजर्व बैंक सरकारी संस्था ही है। सरकार या किसी अधिकृत बैंक द्वारा चलाये गये सिक्के और नोटों को, जो कानून के अनुसार लेन-देन और ऋण-शोधन के काम लाये जाएं, कानूनी मुद्रा (legal tender) कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के सिक्कों और नोटों को लेने से इनकार करे तो उस पर कानून भंग करने का मुकदमा चलाया जा सकता है। हमारे देश में रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, एकन्नी, अधन्ना तथा पैसे के सिक्के कानूनी मुद्रा हैं। इसी प्रकार एक, दो, पांच, दस और सौ रुपये के नोट कानूनी मुद्रा हैं। चेक, बिल तथा हुंडी कानूनी मुद्रा नहीं कहे जा सकते क्योंकि इन्हें लेने के लिए किसी को कानून से बाध्य नहीं किया जा सकता।

कुछ ऐसे सिक्के तथा नोट भी होते हैं जिन्हें लोग बेईमानी और जालसाजी से अवैध रूप से बनाकर चलाने लगते हैं। ये मुद्राएं गैर-कानूनी होती हैं और इन्हें स्वीकार करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता।

कभी-कभी सरकार अपने द्वारा ही चलाई गई कानूनी मुद्राओं को चलने से बन्द कर देती है; जैसे, युद्धकाल में विक्टोरिया और एडवर्ड के छापेवाले रुपये चलने से बंद कर दिए गए थे। इसी प्रकार १९४६ में १०० से अधिक राशिवाले नोट बन्द कर दिए गए थे। ऐसा करने से पूर्व सरकार जनता को नोटिस देकर सूचित कर देती है और समय निर्धारित कर दिया जाता है जिसके अन्तर्गत चलने से बन्द किए जानेवाली मुद्राओं को अन्य वैध मुद्राओं में बदला जा सकता है। निर्धारित समय के पश्चात् वे मुद्राएं गैर-कानूनी समझी जाती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कानूनी मुद्रा के भेद

कानूनी मुद्रा दो प्रकार की होती हैं :—(१) सीमित कानूनी मुद्रा, (२) असीमित कानूनी मुद्रा ।

सीमित कानूनी मुद्रा—उसे कहते हैं जो लेन-देन में सीमित मात्रा तक ही कानूनी मुद्रा हो, जिसे केवल सीमित संख्या में ही स्वीकार करने के लिए लोगों को वाध्य किया जा सके । देश में चलनेवाले सहायक सिक्के सामान्यतः सीमित कानूनी मुद्रा होते हैं । हमारे देश में चवन्नी, दुअन्नी, एकन्नी, अधन्ना और पैसे के सिक्के सीमित कानूनी मुद्रा हैं । इन्हें केवल दस रुपये तक के लेन-देन एवं ऋण शोधन में स्वीकार करने के लिए किसी को कानूनन वाध्य किया जा सकता है । यदि किसी व्यक्ति को १००रु० का ऋण चुकाना हो तो वह अधिक से अधिक १० रुपये के सहायक सिक्के दे सकता है, शेष ९० रुपये की राशि चुकाने में उसे रुपये और नोट ही देने होंगे । (परन्तु व्यवहार में ऐसा नही होता । यदि देनदार और लेनदार चाहें तो किसी भी मात्रा में सहायक सिक्के देकर भुगतान किया जा सकता है । सीमित और असीमित का भेद केवल कानून की दृष्टि में है, व्यवहार में नहीं ।)

अ-सीमित कानूनी मुद्रा—उसे कहते हैं जो किसी भी मात्रा में लेन-देन के लिए कानूनी मुद्रा हो; जिसे किसी भी संख्या में स्वीकार करने के लिए लेनदार को बाध्य किया जा सके । हमारे देश में रुपये और अठन्नी के सिक्के एवं नोट असीमित कानूनी मुद्रा हैं ।

प्रत्येक देश में इसी प्रकार सीमित और असीमित कानूनी मुद्राएं होती हैं । इंग्लैंड में पौंड असीमित कानूनी मुद्रा है और शिलिंग सीमित मुद्रा है । शिलिंग केवल दो पौंड तक के भुगतान करने के लिए कानूनी मुद्रा है पर पौंड द्वारा कितनी ही मात्रा में भुगतान किया जा सकता है ।

सिक्का-ढलाई

सिक्के सरकारी टकसालों में सोना, चांदी, निकिल, तांबा आदि धातुओं से बनाये जाते हैं । सरकार सिक्कों के एक तरफ सरकारी छाप लगा देती है तथा उस सिक्के का नाम एवं मूल्य उसकी दूसरी ओर छाप दिया जाता है जिससे सब लोग सरलता से पहिचान सकें । सिक्के धातु के प्रायः छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं जिससे उनको लाने-लेजाने तथा रखने में कोई कठिनाई न हो । एक ही मूल्य के सिक्के एक-सी तौल और एक ही रूप-रंग के होते हैं । आजकल सोने और चांदी के सिक्के कहीं नहीं चलाये जाते । आजकल प्रायः निकिल के सिक्के काम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में आते हैं। हमारे देश में युद्धकाल तक चांदी के सिक्के बनते थे पर अब चांदी का अभाव होने से सिक्कों में चांदी काम में नहीं लाई जाती।

सिक्का-ढलाई का विकास

सिक्के बनाने की क्रिया को सिक्का-ढलाई कहते हैं। आज से बहुत पहले न आज जैसे सिक्के थे और न आज जैसी सिक्का-ढलाई की वैज्ञानिक कला थी। उस समय सोने-चांदी के लम्बे-लम्बे टुकड़े होते थे जिनपर उनकी तौल खुदी होती थी। व्यापारी लोग इन टुकड़ों पर अपना-अपना नाम भी खोद दिया करते थे। इस प्रकार जो लोग इन व्यापारियों को जानते थे वे उन टुकड़ों को उन पर छपे हुए मूल्य के अनुसार स्वीकार कर लेते थे। कुछ लोग जो उन व्यापारियों को नहीं जानते थे वे लेने से पूर्व उनको तौल लिया करते थे। धातु के कुछ ऐसे टुकड़े भी होते थे जिन पर किसी विशेष प्रकार का चिन्ह बना दिया जाता था। किसी पर बैल की आकृति बना दी जाती थी, किसी पर चाकू या तलवार की शकल खोद दी जाती थी और किसी पर तराजू का चिन्ह बना दिया जाता था। परन्तु इसका भी कोई विशेष नियम नहीं था। धीरे-धीरे इन बड़े-बड़े धातु के टुकड़ों को लाने-लेजाने में कठिनाई अनुभव होने लगी। अतः अब धातु के छोटे-छोटे टुकड़ काटकर उनपर उनकी तौल और मूल्य लिखे जाने लगे। सबसे पहले ग्रीस में ऐसे सिक्के बनाए गए थे। फिर अन्य देशों में भी ऐसे छोटे-छोटे सिक्के बनाए जाने लगे। सिक्के भिन्न-भिन्न धातुओं के बनाए जाते थे। अब तक अनेक प्रकार की धातु सिक्के बनाने के काम आ चुकी है। १९ वीं शताब्दी में सोने और चांदी के सिक्के चलाए जाते थे। अब सोने के सिक्के कहीं पर भी नहीं चलाए जाते और चांदी के सिक्के भी कम देखने में आते हैं। अब प्रायः गिलट और तांबे के सिक्के देखने में आते हैं। सिक्कों का रूप और आकार समय-समय पर बदलता रहा है। सिक्के कभी लम्बे थे और कभी गोल थे, कभी वर्गाकार थे और कभी बिलकुल टेढ़े-मेढ़े। पर जैसे-जैसे समय बीतता गया और उनके आकार के कारण कठिनाई होने लगी तैसे-तैसे उनका रूप और आकार बदलता गया और अन्त में गोल तथा चौकोर सिक्के बनने लगे।

पहले सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का नहीं था। व्यापारी लोग अपने-अपने नाम की छाप लगाकर सिक्के चलाते थे। परन्तु इस प्रकार उनकी तौल तथा रूप-रंग और आकार में बड़ा अन्तर रहता था। इससे जनता को उन्हें पहचानने में बड़ी कठिनाई होती थी। अन्त में सरकार ने इस काम को अपने हाथ में ले लिया और देश की केन्द्रीय सरकार देश भर के लिए समान रूप, रंग तथा आकार और तौल के भिन्न-भिन्न मूल्य के सिक्के चलाने लगी। अब सिक्के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बनाने का काम सरकारी टकसालों में होता है और इनको बनाने का एकाधिकार इन्हीं टकसालों को ही है।

सिक्का-ढलाई के भेद

वैसे तो सिक्के बनाने का एकाधिकार सरकार का ही होता है परन्तु कभी-कभी सरकार जनता को भी धातु में से सरकारी टकसाल पर सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता दे देती है। इस दृष्टिकोण से सिक्का-ढलाई तीन प्रकार की होती है :—

(१) स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई (free coinage)

(२) सरकारी या परिमित सिक्का-ढलाई (limited coinage)

(३) निःशुल्क सिक्का-ढलाई (gratuitous coinage)

(१) स्वतंत्र सिक्का-ढलाई—जब जनता को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके सिक्के बनवा सके तो उस प्रणाली को स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्र अधिकार मिला होता है कि वह सोना, चांदी अथवा अन्य कोई धातु (जिसकी सरकार ने आज्ञा दी हो) ले जाकर टकसाल से उसके बदले में सिक्के बनवा ले। टकसाल इस प्रकार सिक्के बनाकर देने के बदले में जनता से चाहे तो शुल्क ले सकती है और चाहे निःशुल्क ही सिक्के बनाकर दे सकती है। शुल्क लेने न लेने का स्वतंत्र सिक्का-ढलाई से कोई सरोकार नहीं है। स्वतंत्र सिक्का-ढलाई का तो केवल यह अभिप्राय है कि जनता को धातु में से टकसाल पर सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता हो।

यदि टकसाल इस प्रकार सिक्के बनाने के बदले में जनता से कोई शुल्क वसूल करे और वह शुल्क सिक्के बनाने के वास्तविक व्यय के बराबर हो तो उस शुल्क को टकसाली-व्यय (brassage) कहते हैं।

यदि टकसाल सिक्के बनाने के बदले में जनता से सिक्के बनाने के वास्तविक लागत-व्यय से अधिक शुल्क वसूल करे तो उस आधिक्य राशि को टकसाली-लाभ (seigniorage) कहते हैं।

उदाहरण—मान लो, चांदी का एक सिक्का बनाने में सरकार के दो आने व्यय होते हैं। यदि सरकार केवल दो ही आने जनता से वसूल करे तो उसे टकसाली-व्यय कहेंगे, और यदि सरकार जनता से तीन आने वसूल करे तो एक आने को टकसाली-लाभ कहेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारत में १८९३ से पूर्व चांदी के रुपये की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई की प्रथा थी। १८९३ में कुछ कारणों से हार्शेल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार यह प्रथा तोड़ दी गई ।

(२) **सरकारी या परिमित सिक्का-ढलाई**—जब देश में सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का हो और सरकार अपने लेखे पर सिक्के बनाकर चलाए तो उस व्यवस्था को सरकारी सिक्का-ढलाई कहते हैं। क्योंकि सिक्के बनाने का काम सरकार तक ही परिमित रहता है अतः उसे परिमित सिक्का-ढलाई भी कहते हैं ।

१८९३ से हमारे देश में रुपये की सरकारी सिक्का-ढलाई की प्रथा चली आ रही है। आज सिक्के बनाकर चलाने का एकाधिकार सरकार का है और जनता को टकसाल से सिक्के बनवाने की आज्ञा नहीं है ।

(३) **निःशुल्क सिक्का-ढलाई**—जब जनता को सरकारी टकसाल से धातु में से सिक्के बनवाने की स्वतंत्रता हो और टकसाल इस प्रकार सिक्के बनाकर देने के बदले में जनता से कोई भी शुल्क वसूल न करे तो उस व्यवस्था को निःशुल्क सिक्का-ढलाई की प्रणाली कहते हैं ।

स्वतंत्र सिक्का-ढलाई एवं निःशुल्क सिक्का-ढलाई का भेद

स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत जनता को टकसाल पर धातु लेजाकर उसमें से सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता मिली होती है। इस प्रकार सिक्के बनाकर देने के बदले में टकसाल जनता से चाहे तो शुल्क वसूल कर सकती है। जब टकसाल सिक्के बनाकर देने के बदले में जनता से कोई शुल्क वसूल न करे तो उसे निःशुल्क सिक्का-ढलाई की व्यवस्था कहते हैं। निःशुल्क सिक्का-ढलाई स्वतंत्र सिक्का-ढलाई का एक अंग है। बिना शुल्क की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई को निःशुल्क सिक्का-ढलाई कहते हैं ।

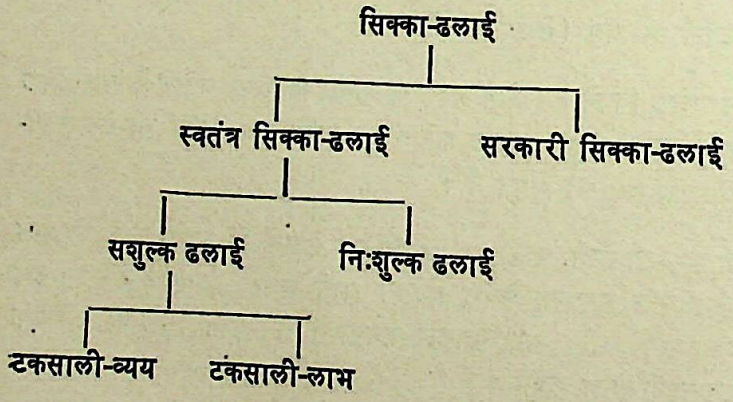

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आदर्श सिक्का-प्रणाली के लक्षण

सिक्का-प्रणाली को आदर्श बनाने के लिए निम्न गुण होने चाहिए :—

(१) देश में चलनेवाले सब सिक्कों की बनावट, आकृति और तौल ऐसी होनी चाहिए कि उनके रखने और लाने-लेजाने में सुविधा रहे। बनावट ऐसी हो कि जिससे बेईमान लोग उनमें से धातु न चुरा सकें।

(२) एक ही मूल्य के सब सिक्के तौल में सही होने चाहिएं। यदि एक ही प्रकार के सिक्के हलके भारी हुए तो उनके चलने में बड़ी अड़चन होगी। तब उनके प्रति जनता में विश्वास भी नहीं जम सकेगा।

(३) एक ही मूल्य के सब सिक्के तौल और आकार में बिलकुल एक जैसे होने चाहिएं। सोने-चांदी के सिक्कों को टिकाऊ बनाने के लिए उनमें कुछ निकृष्ट धातु मिलाई जाती है। ऐसी अवस्था में निकृष्ट धातु एक-सी तथा समान होनी चाहिए। (पर अब तो यह प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि सोने-चांदी के सिक्के बनाए ही नहीं जाते।)

(४) सिक्के ऐसे होने चाहिएं कि जिनकी नकल करके दूसरे सिक्के बनाना लोगों को सम्भव न हो सके।

(५) सिक्के टिकाऊ होने चाहिएं जिससे उनको प्रयोग करने में उनकी धातु में कमी न होने पावे। सिक्के ऐसे होने चाहिएं कि चलते-चलते उनके रूप, रंग और आकार में कोई विकार न आवे।

(६) सिक्के ऐसे होने चाहिएं कि जिससे लोग उन्हें सरलता से पहचान कर अच्छे-बुरे का भेद कर सकें।

इन सब गुणों को प्राप्त करने के लिए आजकल सब देशों में सिक्का बनाने का काम सरकार ने अपने अधिकार में ले रक्खा है।

सिक्कों के भेद

सामान्यतः सिक्के दो प्रकार के होते हैं :—

(१) प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का।

(२) सांकेतिक या सहायक सिक्का।

(१) **प्रामाणिक सिक्का**—जो सिक्का देश भर में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जिसके साथ अन्य मुद्राओं का मूल्य सम्बन्धित हो उसे प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का कहते हैं। इस सिक्के में निम्नलिखित तीन गुण होने चाहिएं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(अ) उस सिक्के का अंकित मूल्य उसके वास्तविक या धातु-मूल्य के बराबर हो।

(ब) उसके लिए देश में स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली हो।

(स) वह सिक्का असीमित कानूनी मुद्रा हो अर्थात् लेन-देन में असीमित संख्या में लिया-दिया जाय।

हमारे रुपये के सिक्के में यद्यपि उक्त सभी बातें नहीं पाई जातीं तो भी वह देश का प्रमुख सिक्का माना जाता है क्योंकि उसके द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन होता है तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य भी उसी के साथ सम्बन्धित है।

(२) **सांकेतिक या सहायक सिक्का**—जो सिक्के प्रामाणिक सिक्के से कम राशि के हों तथा छोटी-छोटी राशि के लेन-देन के काम आवें उन्हें सांकेतिक या सहायक सिक्के कहते हैं। इन सिक्कों में निम्न बातें होनी चाहिएं :–

(अ) इनका अंकित मूल्य इनके वास्तविक मूल्य से अधिक हो।

(ब) इनके लिए देश में सरकारी सिक्का-ढलाई की प्रणाली हो।

(स) ये सीमित कानूनी मुद्रा हों अर्थात् लेन-देन में सीमित संख्या में ही स्वीकार किए जाएं।

हमारे रुपये के सिक्के में उक्त तीनों बातों में से प्रथम दो बातें पाई जातीं हैं। अतः उसे सांकेतिक मुद्रा कहना अनुचित नहीं होगा। पर चूंकि वह देश का प्रमुख सिक्का है और असीमित कानूनी मुद्रा है अतः उसे प्रामाणिक सिक्का ही माना जाता है। हां, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी आदि सिक्कों में उक्त तीनों गुण पाए जाते हैं अतः वे सच्चे रूप में सांकेतिक तथा सहायक सिक्के होते हैं।

रुपये का सिक्का क्या है ?

हमारे रुपये के सिक्के की स्थिति बड़ी विचित्र है। न तो इसमें प्रामाणिक सिक्के के ही सभी गुण पाए जाते हैं और न सभी गुण सांकेतिक सिक्के के ही पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्धारित करना बड़ा कठिन है कि यह प्रामाणिक सिक्का है अथवा सांकेतिक सिक्का। क्योंकि यह असीमित मुद्रा होती है और देश में सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करती है इसलिए इसे प्रमुख मुद्रा कहा जा सकता है। और क्योंकि इसमें सांकेतिक सिक्कों के अधिकांश गुण पाए जाते हैं अतः इसे सांकेतिक मुद्रा भी कहना अनुचित नहीं होगा। तो फिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस विवाद को दूर करने के लिए यही उचित होगा कि इसे 'प्रामाणिक-सांकेतिक मुद्रा' कहा जाय।

यह बात आवश्यक नहीं है कि किसी देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की हो अथवा चांदी की हो। किसी देश में सोने का प्रामाणिक सिक्का हो सकता है और किसी देश का प्रामाणिक सिक्का चांदी का हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी देश में सोने और चांदी दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा हों। परन्तु आजकल तो किसी भी देश में न सोने की प्रामाणिक मुद्राएं हैं और न चांदी की ही हैं, वरन् कागज के नोट चलते हैं। इन नोटों के बदले में भी सोना नहीं दिया जाता। अतः आजकल सब देश पत्र-मुद्रा पद्धति को मानते हैं।

१८९३ से पूर्व हमारे देश में चांदी का रुपया प्रामाणिक मुद्रा होता था पर तब से चांदी की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई बन्द होने से उसका प्रामाणिक गुण समाप्त हो गया है।

विकार (Debasement)

जब किसी सिक्के में उसके अंकित मूल्य से कम मूल्य की धातु हो तो अंकित मूल्य और धातु-मूल्य के अन्तर को 'विकार' कहते हैं। यदि किसी सिक्के में से उत्तम धातु निकालकर उसके स्थान पर निकृष्ट धातु मिला दी जाय तो कहते हैं कि उस सिक्के को विकृत किया जा रहा है।

भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली

हमारे देश की वर्तमान सिक्का-प्रणाली में रुपये का प्रमुख स्थान है। रुपया देश की प्रमुख मुद्रा मानी जाती है। यही देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है और इसी के साथ अन्य मुद्राओं का मूल्य सम्बद्ध होता है। सहायक सिक्कों में हमारे यहां अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना तथा पैसे के सिक्के हैं। ये सिक्के छोटी-छोटी राशि के लेन-देन में काम आते हैं; अतः ये देश की सहायक मुद्राएं कही जाती हैं।

रुपये का अंकित मूल्य उसके धातु-मूल्य से अधिक होता है। युद्ध से पहले रुपये के सिक्के में $\frac{११}{१२}$ भाग शुद्ध चांदी का होता था परन्तु युद्धकाल में इसमें से चांदी की मात्रा कम कर दी गई। अब रुपये में चांदी की मात्रा नगण्य है। सहायक सिक्के गिलट के बनाए जाते हैं। दो पैसे का सिक्का इसी युद्धकाल से प्रारंभ किया गया है।

रुपये या सहायक सिक्कों में से किसी के लिए भी स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली नहीं है। सिक्के चलाने का काम रिजर्व बैंक का है और सरकारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

टकसालों में सिक्के बनाए जाते हैं। इस प्रकार हमारे देश में सरकारी सिक्का-ढलाई की प्रथा है।

सिक्कों का आकार सामान्यतः गोल तथा वर्गाकार होता है। रुपया असीमित कानूनी मुद्रा है तथा सहायक सिक्के सीमित कानूनी मुद्रा हैं। सहायक सिक्के केवल १० रुपये तक असीमित मुद्रा माने जाते हैं। सिक्कों का लेखा-जोखा रिजर्व बैंक के पास रहता है।

सारांश

सरकार या किसी अधिकृत संस्था द्वारा चलाए गए सिक्कों और नोटों को, जो कानून के अनुसार लेन-देन और ऋण-शोधन के काम लाए जाएं, कानूनी मुद्रा कहते हैं। चेक, बिल, हुण्डी आदि कानूनी मुद्रा नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि इन्हें लेने के लिए किसी को कानून से बाध्य नहीं किया जा सकता। जिन मुद्राओं को लोग जालसाजी करके अवैध रूप से बनाकर चलाने लगते हैं वे गैर-कानूनी मुद्राएं कही जाती हैं। कभी-कभी सरकार अपने द्वारा चलाए गए सिक्कों और नोटों को अवैध कर देती हैं परन्तु ऐसा किसी संकटकालीन स्थिति में ही किया जाता है और ऐसा करने से पूर्व सरकार जनता को सूचित कर देती है।

कानूनी मुद्रा दो प्रकार की होती हैं—(१) सीमित कानूनी मुद्रा, (२) असीमित कानूनी मुद्रा। सीमित कानूनी मुद्रा लेन-देन में केवल सीमित संख्या तक ही कानूनी होती है। सहायक सिक्के प्रायः सीमित कानूनी मुद्रा होते हैं। असीमित कानूनी मुद्रा का लेन-देन किसी भी संख्या में किया जा सकता है। प्रामाणिक मुद्राएं प्रायः असीमित कानूनी मुद्राएं होती हैं।

सिक्के सरकारी टकसालों में धातुओं के बनाए जाते हैं। सिक्के धातु के प्रायः छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं जिससे उनको लाने-लेजाने में कठिनाई न हो। एक ही मूल्य के सिक्के एक सी तोल और एक ही रूप-रंग के होते हैं। सिक्के बनाने की क्रिया को सिक्का-ढलाई कहते हैं। सिक्का-ढलाई तीन प्रकार की होती है—(१) स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई, (२) सरकारी सिक्का-ढलाई, (३) निःशुल्क सिक्का-ढलाई। जब जनता को टकसाल पर धातु ले जाकर उसके सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता हो तो उसे स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली कहते हैं। जब सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का हो और सरकार अपने लेखे पर ही सिक्के बनाकर चलाए तो उसे सरकारी सिक्का-ढलाई कहते हैं। जब जनता को सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता हो और इस प्रकार सिक्के बनाकर देने के बदले में टकसाल जनता से कोई शुल्क वसूल न करे तो उसे निःशुल्क सिक्का-ढलाई कहते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यदि टकसाल सिक्के बनाकर देने के बदले में जनता से वास्तविक व्यय के बराबर शुल्क वसूल करे तो उस शुल्क को टकसाली व्यय (brassage) कहते हैं। यदि टकसाल वास्तविक व्यय से अधिक शुल्क वसूल करे तो उस आधिक्य राशि को टकसाली लाभ (seigniorage) कहते हैं।

आदर्श सिक्का-प्रणाली में यह आवश्यक है कि सिक्कों की बनावट, आकृति, रूप, रंग तथा तोल एकसी हो जिससे उनको लाने-लेजाने में सुविधा रहे और सरलता से पहिचाना भी जा सके। एक ही मूल्य के सिक्के तोल और आकार में एकसे होने चाहिएं। सिक्के टिकाऊ भी होने चाहिएं तथा एकसे सिक्के तोल में सही होने चाहिएं।

सिक्के दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का, (२) सहायक या सांकेतिक सिक्का। प्रामाणिक सिक्का वह होता है जिसका अंकित मूल्य उसके धातु-मूल्य के बराबर हो, जिसकी स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई हो और जो असीमित कानूनी मुद्रा हो। सांकेतिक सिक्के वे कहलाते हैं जिनका अंकित मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से अधिक हो, जिनकी सरकारी सिक्का-ढलाई हो और जो सीमित कानूनी मुद्रा हों। हमारे रुपये के सिक्के में न तो सभी गुण प्रामाणिक सिक्के के हैं और न सभी गुण सांकेतिक सिक्के के ही हैं। अतः इसे प्रामाणिक-सांकेतिक मुद्रा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

हमारी वर्तमान सिक्का-प्रणाली में रुपये का प्रमुख स्थान है। इसी के साथ-साथ सहायक सिक्के भी चलते हैं। सिक्कों की सरकारी सिक्का-ढलाई है। १८९३ से पूर्व हमारे यहां रुपये की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई थी पर इसे बन्द कर दिया गया और आज तक सरकारी सिक्का-ढलाई चली आ रही है। सिक्कों के चलन का लेखा-जोखा रिजर्व बैंक के पास रहता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) मुद्रा के भेद समझाइए। आदर्श सिक्का-प्रणाली में क्या गुण होने चाहिएं? समझाकर लिखिए।

(२) सिक्का-ढलाई किसे कहते हैं? स्वतंत्र और निःशुल्क सिक्का-ढलाई में क्या भेद है?

(३) सिक्के कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक के लक्षण सहित उदाहरण लिखिए।

(४) प्रामाणिक सिक्का और सांकेतिक सिक्का में क्या भेद है? क्या सांकेतिक सिक्का भी कानूनी मुद्रा होता है? भारत का रुपया कैसा सिक्का है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली पर एक टिप्पणी लिखिए ।

(६) 'भारत का रुपया प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का है' इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

(७) निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :—

(१) सीमित कानूनी मुद्रा ।

(२) सरकारी सिक्का-ढलाई ।

(३) टकसाली लाभ ।

(४) प्रामाणिक सिक्का ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४

नोट एवं नोट-व्यवस्था

नोटों का विकास—विनिमय-माध्यम के रूप में नोटों का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल से नोटों का लेन-देन चलता आया है। चीन में कागज के नोट ९ वीं शताब्दी में भी चलते थे। इसके पश्चात् जापान और फारिस में इनका प्रयोग होने लगा था। धीरे-धीरे एशिया के अनेक देशों में इनका प्रचार बढ़ गया। एशिया के पश्चात् योरप में कागज के नोट चलने लगे। पर उस समय नोटों का स्वरूप आज जैसा नहीं था। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप-रंग के नोट चला करते थे। प्रथम महायुद्ध-काल में नोटों का प्रचार बहुत बढ़ गया। उस काल में इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप टूट जाने के कारण भारी-भारी संख्या में नोट छापकर चलाए गए। भारत ने भी उस समय स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप को छोड़कर अ-परिवर्तनीय नोट छापकर चलाए थे। इससे जनता में नोटों की जानकारी बढ़ गई और वे अच्छी तरह से इनको समझने लगे। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् कुछ देशों ने स्वर्ण-प्रमाप फिर अपना लिया पर उन्होंने पहिले की भांति सोने के सिक्के नहीं चलाए। वे कागज के नोटों से ही अपना काम चलाते रहे। इससे नोटों की जानकारी और बढ़ गई। १९३१ के पश्चात् स्वर्ण-प्रमाप फिर टूट गया और अब संसार के आधे से अधिक देशों ने पत्र-मुद्रा को ही अपनी प्रामाणिक मुद्रा मान लिया। वे देश पत्र-मुद्रा-प्रमाप को ही मानने लगे।

द्वितीय युद्ध-काल में तो संसार भर में कागज के नोट काम में आए। अब जनता इनसे भली भांति परिचित है। इससे ज्ञात होता है कि नोटों का प्रयोग कितनी जल्दी बढ़ता गया और आज इनका कितना अधिक महत्त्व है। आज कोई देश ऐसा नहीं जो नोटों से परिचित न हो। नोटों का प्रयोग बढ़ने का कारण यह है कि इनके चलने से सोने-चांदी की बचत होती है; नोटों को सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और बड़ी-बड़ी रकम के भुगतान लेने-देने में भी सुविधा होती है।

नोटों के भेद

सामान्यतः नोट तीन प्रकार के होते हैं—

(१) प्रतिनिधि-रूप नोट (representative notes)
(२) परिवर्तनीय नोट (convertible notes)
(३) अ-परिवर्तनीय नोट (inconvertible notes)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) **प्रतिनिधि-रूप नोट**—ये नोट समान मूल्य के सोने-चांदी के बदले में चलाए जाते हैं। जितने मूल्य का सोना-चांदी कोष में रक्खा जाता है ठीक उतने ही मूल्य के नोट चला दिए जाते हैं। सरकार या नोट चलानेवाले बैंक को नोट चलाने से पहिले अपने कोष में सोना-चांदी रखना पड़ता है। जितने मूल्य का यह सोना-चांदी होता है उतने ही मूल्य के नोट चला दिए जाते हैं। कोष में धातु या धातु के सिक्के भी रक्खे जा सकते हैं। धातु रखने का उद्देश्य यह होता है कि आवश्यकता पड़ने पर यदि कोई व्यक्ति नोट के बदले में सिक्के लेना चाहे तो उसे सिक्के दिए जा सकें। इस प्रकार ये नोट कोष में जमा सोने-चांदी के प्रतिनिधि-रूप होते हैं।

१९२५ में हमारे देश में हिल्टन-यंग कमीशन ने जब स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की थी तो यह भी सुझाव दिया था कि कोष में सोना रखकर उसके समान मूल्य के 'स्वर्ण-सर्टीफिकेट' चला दिए जाएं। ये 'स्वर्ण-सर्टीफिकेट' प्रतिनिधि-रूप नोटों के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं।

(२) **परिवर्तनीय नोट**—ये नोट सिक्कों में परिवर्तनीय होते हैं अर्थात् जब कोई व्यक्ति इनके बदले में सिक्के लेना चाहता है तो सरकार उसे सिक्के देती है। इस काम के लिए सरकार नोट छापकर चलाने से पूर्व अपने कोष में धातु या सिक्के जमा रख लेती है। परन्तु नोटों के समान मूल्य की धातु या सिक्के नहीं रक्खे जाते। कोष का कुछ भाग धातु या सिक्कों के रूप में होता है और शेष भाग सिक्यूरिटियों में रक्खा जाता है। परिवर्तनीय नोट चलाने से पहिले सरकार इस बात को मान लेती है कि सभी नोटों के बदले में सिक्के मांगने के लिए सब लोग एक साथ नहीं आवेंगे और इसीलिए सभी चालू नोटों के बदले में सिक्के देने की एक साथ आवश्यकता नहीं होगी। यह मान लिया जाता है कि जैसे-जैसे लोग नोटों के बदले में सिक्के मांगेंगे वैसे ही वैसे धीरे-धीरे उनको सिक्के दिए जा सकेंगे। यही मानकर सरकार अपने कोष में चालू नोटों के मूल्य से कम मूल्य की धातु या सिक्के अपने पास रखती है।

परिवर्तनीय नोटों पर सरकार या नोट चलानेवाला अधिकृत बैंक लिखकर यह वचन देता है कि जब कभी कोई व्यक्ति उनके बदले में सिक्के मांगेगा तो उसे सिक्के दिए जायंगे। हमारे देश में २, ५, १० तथा १०० रुपये के सभी नोटों पर बीच में "I promise to pay ....." आदि शब्द छपे होते हैं और नीचे रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर होते हैं। इसका अर्थ यह है कि रिजर्व बैंक अपने ऊपर इन नोटों को सिक्कों में बदलने का दायित्व लेता है। ये सभी नोट परिवर्तनीय नोट होते हैं।

परिवर्तनीय नोट सिक्कों के साथ-साथ ही देश में चलाए जाते हैं। इनके चलाने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इनके बदले में इनके बराबर मूल्य का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सोना-चांदी कोष में नहीं रखना पड़ता। कानून द्वारा निर्धारित सोना या चांदी कोष में रखकर शेष भाग सिक्यूरिटियों में लगा दिया जाता है जिससे ब्याज कमाया जा सकता है। कोष में जमा सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए गए नोटों को fiduciary portion of note-issue कहते हैं।

(३) **अ-परिवर्तनीय नोट**—इन नोटों के बदले में सरकार धातु या सिक्के देने के लिए कानूनन बाध्य नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति इन नोटों के बदले में सरकार से सिक्के लेना चाहे तो उसे कानूनन सिक्के नहीं मिल सकते। ये नोट सरकार के प्रति विश्वास के बल पर ही चलते हैं। सरकार को भी ऐसे नोट चलाने से पहिले अपने कोष में किसी प्रकार की धातु या सिक्के रखने की आवश्यकता नहीं होती। गत युद्ध काल में भारत सरकार ने एक रुपये के नोट चलाए थे जो आज भी चलते हैं। इन नोटों पर "I promise to pay ....." आदि वे शब्द नहीं होते जो अन्य नोटों पर होते हैं। अतः ये अ-परिवर्तनीय नोट हैं। इसी प्रकार के नोट प्रथम युद्ध काल में अनेक देशों की सरकारों ने चलाए थे।

सामान्यतः अ-परिवर्तनीय नोट दो प्रकार के होते हैं—एक, जिनको सरकार चलाते समय तो परिवर्तनीय घोषित कर देती है परन्तु आगे चलकर अ-परिवर्तनीय घोषित कर देती है। दूसरे, जो आरम्भ से ही अ-परिवर्तनीय घोषित करके चलाए जाते हैं। ऐसे अपरिवर्तनीय नोटों को संकटकालीन मुद्रा भी कहते हैं। यद्यपि इन नोटों के बदले में धात्वीय कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती पर यह संकट अवश्य बना रहता है कि कहीं यह आवश्यकता से अधिक संख्या में न चला दिए जायं।

नोट क्योंकर चलते हैं ?

कभी-कभी स्वतः ही यह प्रश्न होता है कि नोट क्योंकर चलते हैं ? सिक्कों में लगी हुई धातु का तो स्वयं कुछ मूल्य होता है पर नोटों के कागज का मूल्य नगण्य है फिर भी लोग बड़े चाव से इन्हें लेते-देते हैं। इसका क्या कारण है ? यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि इसके दो कारण मुख्य हैं:—

(अ) **कानून का बल**—देश की सरकार नोटों को कानूनी मुद्रा घोषित करके चलाती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को कानून से उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। यदि कोई स्वीकार करने से आनाकानी करे तो उस पर कानून भंग करने का मुकदमा चल सकता है।

(ब) **जनता और सरकार का पारस्परिक विश्वास**—जनता को सरकार में विश्वास होता है कि वह मांगने पर उन नोटों के बदले में धातु दे देगी। दूसरे, जनता को आपस में भी यह विश्वास होता है कि कोई भी व्यक्ति उन नोटों को स्वीकार कर लेगा। यदि कभी इस प्रकार के पारस्परिक विश्वास टूट जायं तो नोटों का चलन बन्द हो जायगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परिवर्तनीय नोटों के चलने में उक्त दोनों ही बातों का बल होता है। परन्तु अ-परिवर्तनीय नोट केवल कानून के बल से चलते हैं या जनता के पारस्परिक विश्वास पर। एक मुद्राशास्त्री ने तो कहा है कि "सिक्कों और नोटों—दोनों ही के चलने का कारण कानून का बल है, अन्तर केवल यह है कि सिक्के धातु पर छापे जाते हैं और नोट कागज पर छपते हैं।"

नोटों के भेद एवं गुण-धर्म

नोटों के भेद	कोष	गुण-धर्म
(१) प्रतिनिधि-रूप नोट	नोटों के बराबर मूल्य का कोष सोने-चांदी के रूप में रखना अनिवार्य है।	(१) मितव्ययिता का अभाव। (२) लोच का अभाव। (३) धातुका प्रयोग न होने के कारण वह नष्ट होने से बचती है। (४) परिवर्तनशीलता। (५) सुरक्षितता।
(२) परिवर्तनीय नोट	कोष का कुछ भाग कानून द्वारा निर्धारित धातु के रूप में तथा शेष भाग सिक्यूरिटियों के रूप में रखना अनिवार्य है।	(१) मितव्ययिता। (२) लोच। (३) परिवर्तनशीलता। (४) सुरक्षितता।
(३) अ-परिवर्तनीय नोट	किसी भी प्रकार का कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती।	(१) मितव्ययिता। (२) लोच। (३) आवश्यकता से अधिक चलाए जाने का भय। (४) अ-परिवर्तनशीलता। (५) सुरक्षितता का अभाव।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नोट-संचालन के सिद्धान्त

देश की नोट-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकार के प्रति जनता का विश्वास जमा रहे। नोट-व्यवस्था लोचदार होनी चाहिए अर्थात् व्यापार और उद्योगों की आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। नोटों का लोचदार होना नोट-व्यवस्था का एक बड़ा भारी गुण है। सिक्का-व्यवस्था उतनी लोचदार नहीं होती जितनी नोट-व्यवस्था हो सकती है। आवश्यकता पड़ने पर सिक्कों की संख्या उतनी सरलता से नहीं बढ़ाई जा सकती जितनी सरलता से नोट की संख्या बढ़ाई जा सकती है। एक समय था जब कि नोट-व्यवस्था का लोचदार होना कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। पर आज सभी मानने लगे हैं कि देश की नोट-व्यवस्था में लोच अवश्य होना चाहिए। हमारे देश में, जहां साख-मुद्रा अर्थात् चेक, बिल व प्रतिज्ञापत्रों का अधिक प्रचार नहीं है, नोट-व्यवस्था का लोचदार होना और भी अधिक आवश्यक है क्योंकि यहां मुद्रा की मांग समय-समय पर बदलती रहती है। तो प्रश्न यह है कि नोट-व्यवथा को लोचदार बनाने के लिए नोट-संचालन का काम सरकार का होना चाहिए अथवा बैंक का ? इस विषय में दो सिद्धान्त हमारे सामने हैं:—

(१) **करेंसी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार नोटों की संख्या सरकार के पास जमा धातु-कोष पर निर्भर होनी चाहिए। जितने मूल्य की धातु और सिक्के कोष में हों उतने ही मूल्य के नोट चला दिए जायं। यदि किसी समय धातु-कोष कम होने लगे तो नोटों की संख्या भी कम कर देनी चाहिए। इसी प्रकार जब कोष बढ़ जाय तो नोटों की मात्रा में भी बढ़ोतरी कर देनी चाहिए। इस प्रकार देश की नोट-व्यवस्था धात्वीय कोष पर निर्भर रहेगी और आवश्यकता से अधिक नोट चलने एवं मुद्रा-स्फीति होने का भय कम हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने का अधिकार सरकार का ही होगा।

(२) **बैंकिंग सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने का एकाधिकार किसी बैंक को मिल जाना चाहिए जो देश भर में नोट चलाए और जो उन नोटों के बदले में धातु और सिक्के दिया करे। इस सिद्धान्त के पक्षपातियों का विश्वास है कि यदि इस प्रकार बैंक द्वारा परिवर्तनीय नोट चलाए जायंगे तो बैंक उन्हें आवश्यकता से अधिक मात्रा में नहीं छाप सकेगा और न तब देश में मुद्रास्फीति होने का ही भय रहेगा। बैंक व्यापारिक क्षेत्रों के सम्पर्क में रहने के कारण जब आवश्यक समझेगा तभी नोटों की मात्रा घटा-बढ़ा दिया करेगा। इस प्रकार नोट-व्यवस्था में लोच आएगी और नोटों की परिवर्तनीयता भी बनी रहेगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उक्त दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ न कुछ तथ्य है। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार नोट-संचालन में आवश्यकता से अधिक मात्रा में नोट चलाने अथवा मुद्रास्फीति का भय तो नहीं है पर इससे नोट-व्यवस्था में लोच नहीं आ सकती। नोटों की संख्या कोष पर ही निर्भर रहेगी और विना कोष बढ़ाए आवश्यकता होने पर भी नोटों की संख्या नहीं बढ़ाई जा सकेगी। बैंकिंग-सिद्धान्त के अनुसार नोट-संचालन में लोच आती है तो मुद्रा-स्फीति का भय निरंतर बना रहता है। अतः दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ न कुछ कमियां हैं जिनको दूर किए बिना नोट-संचालन पूर्ण एवं दोषरहित नहीं बन सकता। अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि नोट-व्यवस्था में लोच भी आ सके और मुद्रास्फीति का भय भी न रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह जानना आवश्यक है कि नोट-संचालन का काम सरकार का हो या यह अधिकार किसी बैंक को दिया जाय।

नोट-संचालन कौन करे ?

नोट-संचालन का अधिकार या तो देश की सरकार का होता है और या सरकार यह अधिकार किसी बैंक को दे सकती है। यदि नोट-संचालन का काम सरकार ही करे तो वह ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकेगी। सरकार को देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा ज्ञान न होने के कारण उनकी आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की मात्रा घटाना-बढ़ाना संभव नहीं हो सकेगा। परिणामतः नोट-व्यवस्था में आवश्यक लोच नहीं आ सकेगी। सरकार द्वारा नोट चलाने में देश की नोट-व्यवस्था पर राजनीति और दलबन्दी का अधिकार हो जायगा। सरकार की स्वार्थ-नीति के कारण नोटों की मात्रा घटने-बढ़ने लगेगी जिससे मुद्रास्फीति का निरंतर भय बना रहेगा। सरकार कभी भी दलबन्दी, बजट-नीति तथा अन्य राजनीतिक कारणों से नोटों में फेर-बदल कर सकेगी जिससे देश के व्यापारिक हितों को धक्का लग सकता है। सरकार के द्वारा नोट-संचालन में एक और दोष यह होगा कि देश की मुद्रा-व्यवस्था एक केन्द्रित शक्ति के आधीन हो जायगी और उस पर किसी बाह्य शक्ति का नियंत्रण नहीं रहेगा। अतः सरकार जैसा मनमाना चाहेगी वैसा करती रहेगी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक अवसरों पर सरकार ने अपनी स्वार्थ-नीति के कारण नोट-व्यवस्था में फेर-बदल किए जिससे व्यापार और उद्योगों को हानि उठानी पड़ी।

इसके विपरीत नोट-संचालन का अधिकार यदि देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाय तो वह देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थितियों का ठीक-ठीक अध्ययन करके आवश्यकतानुसार नोटों की संख्या घटा-बढ़ा सकेगा। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक क्षेत्रों के सम्पर्क में रहने के कारण, व्यापारिक आवश्यकताओं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के अनुकूल नोट-व्यवस्था में समुचित समायोजन कर सकेगा। केन्द्रीय बैंक में न कोई राजनीति होगी और न कोई दलवन्दी, और न उसका कोई अपना स्वार्थ होगा। वह तो देश की वास्तविक स्थिति के अनुसार नोट चलाता रहेगा। डी० कॉक ने लिखा है—"केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट-संचालन में एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि बैंक सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति का विरोध करके वास्तविकता के साथ देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध कर सकता है।" परन्तु हमें उक्त कथन में भी सन्देह होता है। इतिहास में अनेकों ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि जब-जब सरकारों ने अपनी किसी नीति के कारण देश की नोट-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन चाहे, तभी-तभी उन्होंने केन्द्रीय-बैंकों पर दबाव डालकर उनसे वह काम करा लिया। पार्कर विल्स ने भी लिखा है—"जब-जब सरकारों को केन्द्रीय बैंकों की नोट चलाने की नीति में परिवर्तन कराने की आवश्यकता हुई तभी-तभी उन्होंने किसी भी प्रकार दबाव से या समझाकर केन्द्रीय-बैंकों को पटा लिया और नोट-व्यवस्था को अपनी नीति के अनुसार चलाया।"

कुछ भी हो, बैंक द्वारा नोट-संचालन से सरकारी नोट-संचालन की अपेक्षा अधिक हित हो सकता है। यही कारण है कि आजकल अधिकांश देशों में नोट-संचालन के अधिकार बैंकों को मिले हुए हैं।

एक बैंक या अनेक बैंक ?

यह जानने के पश्चात् कि देश की नोट-व्यवस्था सरकार को अपने अधिकार में न रखकर बैंक को सौंप देनी चाहिए—अब यह प्रश्न उठता है कि नोट-संचालन का काम एक ही बैंक को दिया जाय अथवा अनेक बैंकों को सौंप दिया जाय। चूंकि देश की साख-व्यवस्था का काम केन्द्रीय बैंक का होता है इसलिए यह आवश्यक है कि उसी बैंक को नोट-संचालन का अधिकार भी सौंप दिया जाय। एक ही बैंक इन दोनों का प्रबन्ध भली प्रकार कर सकेगा और उससे मुद्रामण्डी को भी लाभ रहेगा। इसके विपरीत यदि कई बैंकों को यह अधिकार दे दिया जायगा तो नोट के आधार-कोष कई बैंकों के पास हो जायंगे। इससे उन कोषों की शक्ति और दृढ़ता मारी जायगी। केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट-संचालन में कोष केन्द्रित रहेगा जिससे केन्द्रीय बैंक को बल मिलेगा और उसका उपयोग भी अच्छा किया जा सकेगा।

अनेक बैंकों को नोट-संचालन का अधिकार मिलने से उनमें पारस्परिक प्रतियोगिता होगी और तब कोई भी एक बैंक अथवा सभी बैंक मिलकर आवश्यकता से अधिक नोट छापकर चला सकते हैं। इससे मुद्रा-स्फीति का निरंतर भय बना रहेगा। यह भी सम्भव हो सकता है कि कोई बैंक प्रतियोगिता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में आकर अपना धातु-कोष कम रक्खे जिससे नोटों के परिवर्तन में कठिनाई हो और जनता का नोट-व्यवस्था के प्रति विश्वास डिग जाय।

अनेक बैंकों द्वारा नोट-संचालन में दायित्व का केन्द्रीकरण न हो सकेगा और सब "अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग" अलापेंगे।

अतः नोट-संचालन का अधिकार और भार एक ही बैंक को मिलना चाहिए। वैसे भी केन्द्रीय बैंक द्वारा चलाए गए नोटों का देश में मान होता है और व्यापारिक क्षेत्रों में लोग उनका कुछ मूल्य भी समझते हैं। तब नोट-व्यवस्था में जनता का विश्वास भी जमा रहता है। पर केन्द्रीय बैंक को भी नोट-संचालन में कुछ सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट-संचालन में सावधानी

यह मानकर कि देश की नोट-व्यवस्था का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही मिलना चाहिए—यह समझना आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक को भी नोट-संचालन में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। सावधानी निम्न प्रकार से होनी चाहिए :—

(१) बैंक को चाहिए कि नोट-व्यवस्था को लोचदार बनाने का प्रयत्न करे। व्यापार और उद्योगों की आवश्यकताओं के अनुकूल नोटों की संख्या घटाता-बढ़ाता रहे।

(२) नोटों की परिवर्तनीयता बनाए रक्खे अर्थात् जब कोई नोटों के बदले में सिक्के लेने आवे तो तुरन्त उनके बदले में सिक्के दे। ऐसा करने से जनता का नोटों में विश्वास जमा रहेगा।

(३) मुद्रा-मण्डी के हितों को दृष्टि में रखकर नोट-संचालन करे। बैंक को चाहिए कि वह देश की साख-व्यवस्था के अनुसार नोटों का प्रबन्ध करे। बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय करे और उनके बदले में नोटों का लेन-देन बढ़ावे। इससे नोट-व्यवस्था केवल लोचदार ही नहीं वरन् मजबूत भी बनती है।

(४) बैंक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि देश में चालू नोटों की संख्या न तो बहुत अधिक हो और न आवश्यकता से कम हों। यदि बैंक इन दोनों ओर सावधान रहे तो न तो मुद्रास्फीति होगी और न मुद्रा की कमी हो सकेगी, मूल्यस्तर स्थायी बना रहेगा और व्यापार भी समृद्ध होगा।

उक्त बातों की सावधानी बैंक को स्वयं रखनी चाहिए। पर तो भी सरकार को एक ऐसा कानून बना देना चाहिए जिसके अनुसार केन्द्रीय बैंक नोट-संचालन करता रहे। उस कानून में धात्वीय कोष की न्यूनातिन्यून मात्रा अवश्य निश्चित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर देनी चाहिए। कोष की सीमा निर्धारित करते समय यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि कोष में धातु तथा सिक्कों के साथ-साथ सिक्यूरिटियां भी रक्खी जायं।

अ-परिवर्तनीय नोटों के दोष

जब-जब किसी देश में युद्ध हुए या और कोई आर्थिक संकट आए तभी-तभी उन देशों की सरकारों ने अ-परिवर्तनीय नोट छापकर चलाए। प्रथम युद्धकाल में ऐसा हुआ तथा द्वितीय विश्व-युद्धकाल में भी ऐसा किया गया। प्रथम युद्धकाल में हमारे देश में १ और २½ रुपये के नोट चलाए गए थे और द्वितीय युद्धकाल में भी १ रुपये के नोट छापे गए। चूंकि इन नोटों के बदले में सरकार को धात्वीय कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए सरकार निर्भय होकर ऐसे नोट छापकर चलाती रहती है। यहां तक कि नोटों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है जिससे मुद्रा का मूल्य गिर जाता है, वस्तुओं के भाव चढ़ जाते है और जनता का जीवन-व्यय भी बढ़ जाता है। व्यापार में उथल-पुथल मच जाती है और व्यापारिक लेन-देन में चोर-बाजारी, नफाखोरी आदि दोष आ जाते हैं। सिक्कों का विचलन होने लगता है और लोग उन्हें गलाने लगते हैं। वस्तुओं के उत्पादन की गति बिगड़ जाती है और व्यापारी वर्ग नफाखोरी के नशे में आ जाता है। मजदूरों एवं मध्यमवर्ग की स्थिति बिगड़ जाती है। विदेशी विनिमय-दर गड़बड़ हो जाती है और विदेशी व्यापार में भी विषमता आ जाती है। ऐसी स्थिति में अमीर और अमीर बनते जाते हैं और गरीब और अधिक गरीब बन जाते हैं। किन्ले नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है—

> "अ-परिवर्तनीय नोट एक ऐसी मदिरा है जिसकी दो-चार बूंदों से ही जनता और सरकारी अफसरों के दिमाग मस्त हो जाते हैं। तब उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता और वे अ-परिवर्तनीय नोट चलाने या न चलाने के विषय में कोई गम्भीर निर्णय नहीं कर पाते। इसका परिणाम यह होता है कि समाज और व्यापार में बुराइयां बढ़ जाती हैं और वे इतनी भयंकर हो जाती हैं कि उनको दूर करना असम्भव-सा बन जाता है।"

आवश्यकता से अधिक संख्या में अ-परिवर्तनीय नोट चलाने से सामाजिक दूषण पैदा हो जाते हैं और फिर उनको दूर करना कठिन हो जाता है।

नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण

आवश्यकता से अधिक संख्या में नोट चलाने से समाज में जो-जो बुराइयां एवं कठिनाइयां होती हैं उनका वर्णन अभी किया जा चुका है। यहां यह जानना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यक है कि नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण क्या हैं ? अर्थात् यह कैसे ज्ञात हो सकता है कि किसी भी समय देश में आवश्यकता से अधिक संख्या में नोट चल रहे हैं ? सामान्यतः चलनाधिक्य के लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) **सिक्कों का विचलन**—देश में सिक्कों का विचलन होने लगता है। कारण यह है कि नोटों की भरमार होने से लोग इन्हीं को काम में लाने लगते हैं और सिक्कों को इकट्ठा करने लगते हैं। इससे सिक्कों का चलन कम होने लगता है और केवल नोट ही चलन में रह जाते हैं।

(२) **मूल्य-वृद्धि**—देश में मुद्रा की संख्या बढ़ने से मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है और वस्तुओं के मूल्यस्तर बढ़ने लगते हैं। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि नोटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ रही हो। थोड़े-बहुत नोट बढ़ने से वस्तुओं के भावों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

(३) **विनिमय-दर में वृद्धि**—विनिमय-दर बढ़ने लगती है और ऐसा होने से विदेशी व्यापार में भी फेर-बदल होने लगती है। चलनाधिक्य करनेवाले देश का स्वर्ण-प्रमापी देशों से होने वाला व्यापार बिगड़ जाता है।

(४) **सोने पर प्रव्याजि**—सोने के अनुपात में नोटों का मूल्य गिर जाता हैं तथा सोने का भाव ऊंचा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति विदेशी भुगतान के लिए सोना खरीदने लगता है जिससे सोने का भाव और भी अधिक ऊंचा हो जाता है।

(५) **नोटों का अपमूल्यन**—सिक्कों के विचलन के साथ ही नोटों के मूल्य में कमी आ जाती है। जैसे-जैसे अधिकाधिक मात्रा में सिक्कों का विचलन होता है, नोटों का मूल्य गिरता जाता है और एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है कि जनता अ-परिवर्तनीय नोटों को स्वीकार करने से आनाकानी करने लगती है।

कुछ लोगों की धारणा है कि नोटों का चलनाधिक्य अ-परिवर्तनीय नोटों के द्वारा होता है इसलिए ऐसे नोटों को बिलकुल नहीं चलाना चाहिए। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। आवश्यकता आने पर तो अ-परिवर्तनीय नोट अवश्य ही चलाने चाहिएं, पर उनकी संख्या पर सरकार का पूरा-पूरा नियंत्रण रहना चाहिए। इसका एक ही उपाय हो सकता है कि जब कभी सरकार सोने का भाव चढ़ते देखे, विनिमय-दर ऊंची देखे या सिक्कों का विचलन देखे तभी उसको छानबीन करनी चाहिए कि कहीं आवश्यकता से अधिक नोट तो नहीं चल रहे हैं ? यदि ऐसा हो तो तत्काल ही नोटों की संख्या कम करनी चाहिए।

नोटों से लाभ

(१) नोट चलाने से सिक्कों की आवश्यकता कम हो जाती है जिससे धातुओं की बचत होती है। इन धातुओं को देश के अन्य उद्योग-धंधों में लगाकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। आदम स्मिथ ने लिखा है—"कागज के नोट आकाश-मार्ग की भांति होते हैं जिनकी नीचे की भूमि को भी काम में लाया जा सकता है और उस पर अन्नादि पैदा करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।"

(२) नोट चलाने से सिक्कों में व्यय और नष्ट होनेवाली धातुओं की बचत होती है। सिक्के चलाने में धातु व्यय होती है और जैसे-जैसे सिक्के पुराने होते जाते हैं धातु क्षीण होती जाती है। नोट चलाने से धातु को क्षीण होने से बचाया जा सकता है।

(३) सिक्के बनाने में धातुओं की आवश्यकता होती है और इन्हें निकालने के लिए श्रम और पूंजी व्यय करने होते हैं। नोट चलाने से इन धातुओं में जो श्रम और पूंजी व्यय होते हैं उनकी बचत हो सकती है और उनको देश के अन्य अधिक उपयोगी उद्योगों में लगाकर अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

(४) नोटों के द्वारा राशि के लेन-देन में एवं लाने-लेजाने में सुविधा होती है। दूर-दूर स्थानों के भुगतान भी सरलता पूर्वक चुकाए जा सकते हैं।

(५) नोट चलाने से देश की मुद्रा-पद्धति में लोच आती है। इसका कारण यह है कि सिक्कों की अपेक्षा नोटों की संख्या शीघ्रता से घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

(६) नोट बनाने में सिक्कों की अपेक्षा व्यय कम होता है। सिक्कों की अपेक्षा नोट बनाने में सुगमता एवं मितव्ययिता होती है। एक मुद्रण-यंत्र एवं कागज से ही कितनी ही राशि की आवश्यकता पूर्ण हो सकती है।

(७) नोट चलाने से सरकार को भी लाभ होता है। यदि कभी सरकार को राशि की आवश्यकता हो तो वह नोट छापकर आवश्यकता पूर्ण कर सकती है। तब न तो उसे राशि उधार लेने की आवश्यकता होगी और न सिक्कों के लिए धातु की ही आवश्यकता होगी। परन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि देश में सिक्के भी चल रहे हों। सिक्कों को बन्द करके नोट चलाने से सरकार के प्रति जनता का विश्वास कम हो सकता है।

नोटों से हानियां

(१) नोट सरकार की इच्छानुसार कितनी ही मात्रा में छापकर चलाए जा सकते हैं। इससे मुद्रा के चलनाधिक्य का निरंतर भय बना रहता है। चलनाधिक्य से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और जनता को बड़ी कठिनाई होती है। नोट चलाने में मुद्रा के मूल्य में उतार-चढ़ाव होने का भय बना ही रहता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सिक्कों के कारण मुद्रा के मूल्य में इतने भारी-भारी और जल्दी-जल्दी उतार-चढ़ाव नहीं होते जितने नोटों के कारण होते हैं।

(२) नोट कानून के बल पर या कोष में रखी हुई धातु के आधार पर चलते हैं। इनका अपना कोई मूल्य नहीं होता। अतः ये देश की राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत ही चल सकते हैं, विदेशों में उनका कोई मूल्य नहीं होता। इसीलिए नोट 'राष्ट्रीय मुद्रा' कहलाते हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य कोई नहीं होता। पर सिक्कों के साथ यह बात नहीं है। सिक्के देश के अन्तर्गत तो चलते ही हैं विदेशों में भी धातु-मूल्य पर चलाए जा सकते हैं।

(३) तेल या पानी से भीग जाने से नोट तुरन्त ही खराब हो जाते हैं और उनका अंक मिटने पर उनका कोई मूल्य नहीं रहता। नोटों के द्वारा दीर्घकाल तक मूल्य-संचय नहीं किया जा सकता। सिक्के उतनी शीघ्र खराब नहीं होते।

(४) यदि कभी सरकार नोटों को अवैध घोषित करके उनका विमुद्रीकरण कर दे तो जनता के पास संचित नोटों का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। यह बात सिक्कों के साथ नहीं होती। सिक्कों के अवैध हो जाने पर भी उनकी धातु का कुछ मूल्य बना रहता है। कुछ मुद्राशास्त्रियों का कहना है—"नोट किसी देश की सबसे अधिक भयंकर 'प्लेग' होती है। जितना कष्ट किसी भयंकर से भयंकर बीमारी से किसी व्यक्ति को होता है उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा से समाज को हो सकता है।"

यहां यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि पत्र-मुद्रा से होनेवाली हानियां सरकार की स्वार्थपरता, नासमझी या अज्ञानता के कारण होती हैं। नोटों में स्वयं कोई जन्मजात दोष नहीं हैं। यह तो सरकार पर निर्भर होता है कि वह नोटों का प्रयोग जनता के हित के लिए करती है या अपने स्वार्थ के लिए। यदि सरकार चाहे तो नोटों के द्वारा देश और समाज का बहुत हित कर सकती है। नोटों का चलाना हितकर है पर यदि उसका ठीक प्रयोग नहीं हुआ तो नोट हित करने के बदले घातक सिद्ध हो सकते हैं। औषधि स्वयं बुरी नहीं होती, उसके गुण-अवगुण उसके प्रयोग पर निर्भर होते हैं।

क्या नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं ?

आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता आदम स्मिथ ने इस प्रश्न पर सबसे पहिले विचार किया था। उन्होंने समझाया कि हम सड़कों पर चलते हैं। यदि हम सड़कों को छोड़ हवा में चलने लगें तो सड़क बनाने की आवश्यकता नहीं होगी और तब सड़कों की भूमि पर कृषि करके अन्नादि उपजाया जा सकेगा। ठीक ऐसी ही बात नोटों के साथ है। नोट चलाने से सिक्कों की उतनी आवश्यकता नहीं रहती और तब कुछ सिक्कों को गलाकर उनकी धातु को सम्पत्ति-उत्पादन के अन्य कामों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में लगाने से देश में सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार आदम स्मिथ ने समझाया कि नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाने में परोक्ष रूप से सहायता करते हैं। आदम स्मिथ की उक्त बात सत्य तो है पर ध्रुव-सत्य नहीं प्रतीत होती क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि नोट चलाकर लोग सिक्कों को गला लें और इस प्रकार उन्हें जो धातु मिले उसे पूंजी के काम में न लाकर आभूषण आदि बनाने में लगा दें। ऐसी स्थिति में नोट सम्पत्ति बढ़ाने का काम नहीं कर सकते। आदम स्मिथ का तर्क तभी सत्य हो सकता है जब कि हम यह मान लें कि जितने नोट चलेंगे उतने ही मूल्य के सिक्कों को गलाकर लोग उनकी धातु की सहायता से कच्चा माल या अन्य ऐसी वस्तुएं खरीदेंगे जिनसे देश की सम्पत्ति बढ़ने में सहायता मिले। अतः सिद्धान्त यह है कि "जितना उत्पादन का काम किसी देश में कुल सिक्के करते हैं यदि उससे अधिक उत्पादन सिक्के और नोट मिलाकर करें तो समझना चाहिए कि नोटों के द्वारा देश की सम्पत्ति में बढ़ोतरी हो रही है।" कभी-कभी सरकार को मुद्रा की आवश्यकता होती है। उस समय उसे धन उधार लेने की आवश्यकता होती है। इस उधार राशि पर उसे ब्याज देना पड़ता है। यदि सरकार उधार लेने के बजाय देश में नोट चलाकर अपनी आवश्यकता पूर्ण कर ले तो इस प्रकार ब्याज की रकम बच सकती हैं। इस दृष्टिकोण से नोट देश की सम्पत्ति में बढ़ोत्तरी करते हैं।

नोट-निर्गमन की आधुनिक प्रणालियां

संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से नोट छापकर चलाए जाते रहे हैं। अब भी अलग-अलग देशों में नोट-निर्गमन की अलग-अलग प्रणालियां अपनाई जाती हैं। परन्तु अधिकांश देशों में नोट चलाने का एकाधिकार वहां की केन्द्रीय बैंक को ही मिला हुआ है। उन देशों की सरकारों ने इन बैंकों द्वारा नोट चलाए जाने के लिए कुछ नियम बना रखे हैं जिनके अनुसार वहां के केन्द्रीय बैंक नोट छापकर चलाते हैं। किसी देश में नोट-व्यवस्था को लोचदार बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो किसी देश में उसे मुद्रास्फीति से सुरक्षित रखने की चेष्टा की जाती है। आजकल नोट-निर्गमन की मुख्य-मुख्य प्रणालियां निम्न हैं:—

(१) **स्थायी महत्तम सीमा प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार देश की केन्द्रीय सरकार देश में चलाए जानेवाले नोटों की 'महत्तम सीमा' निश्चित कर देती है। यह सीमा कानून के द्वारा निश्चित की जाती है। उस देश का केन्द्रीय बैंक किसी भी परिस्थिति में इस महत्तम सीमा से अधिक राशि के नोट नहीं चला सकता। यदि किसी समय इस सीमा से अधिक राशि के नोट चलाने की आवश्यकता होती है तो कानून के द्वारा महत्तम सीमा को बढ़ा दिया जाता है और तभी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केन्द्रीय बैंक सीमा से अधिक नोट छापकर देश की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

इस प्रकार नोट चलाने से देश में मुद्रास्फीति का भय कम रहता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक सरकार द्वारा निश्चित सीमा से अधिक नोट नहीं चला सकता। पर इसमें दोष यह है कि देश की नोट-व्यवस्था लोचदार नहीं बन पाती। आवश्यकता पड़ने पर भी सीमा से अधिक नोट तब तक नहीं चलाए जा सकते जब तक कि सरकार सीमा बढ़ा न दे। इसमें दूसरा दोष यह है कि नोट चलाने में अनिश्चितता रहती है। सरकार भी स्वयं यह निश्चित नहीं कर पाती कि कानून के द्वारा नोट-निर्गमन की जो सीमा निश्चित की गई है उतने नोट चलाने से देश का काम चल जायगा या नहीं। यह भी हो सकता है कि निर्धारित सीमा के बराबर मूल्य के नोट भी देश में बहुत अधिक हो जायं और मुद्रास्फीति होने लगे। संक्षेप में, इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि देश में व्यापार और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार नोट नहीं चलाए जाते वरन् कानूनी सीमा के अनुसार नोट चलाए जाते हैं।

१९२७-२८ तक फ्रांस ने इस प्रणाली को अपनाया था। १९३७ में आस्ट्रेलिया के रॉयल कमीशन ने आस्ट्रेलिया में इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाने की सिफारिश की थी। कमीशन ने प्रस्ताव किया था कि केन्द्रीय बैंक द्वारा चलाए जानेवाले नोटों की महत्तम सीमा निश्चित कर देनी चाहिए पर इसके साथ-साथ केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार भी होना चाहिए कि वह समय पड़ने पर, सरकार के वित्त-विभाग से आज्ञा लेकर, निश्चित संख्या से अधिक मूल्य के नोट छापकर चला दे।

(२) **स्थायी विश्वसनीय प्रणाली**—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलाने में एक कोष बनाना पड़ता है। इस कोष में सोना, चांदी और सिक्यूरिटियां रक्खी जाती हैं। कोष में रक्खी जाने वाली सिक्यूरिटियों की मात्रा कानून द्वारा निश्चित की जाती है। जितने मूल्य की सिक्यूरिटियां कोष में रक्खी जाती हैं उतने मूल्य के नोट इन सिक्यूरिटियों के बल पर चला दिए जाते हैं। यदि इससे अधिक नोट चलाने होते हैं तो उनके बराबर मूल्य का सोना-चांदी कोष में रखना पड़ता है। कोष में रक्खी हुई सिक्यूरिटियों की मात्रा में कानून के द्वारा ही फेर-बदल की जा सकती है। यदि किसी समय नोटों की मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता होती है तो नोट चलाने से पहिले उनके बराबर मूल्य का सोना-चांदी कोष में रख लेना आवश्यक होता है।

इस प्रणाली का लाभ यह है कि इसमें थोड़ेसे नोटों को छोड़कर, जो सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जाते हैं, अन्य सभी नोटों के बदले में बराबर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्य की धातु रखनी पड़ती है जिससे सरकार या केन्द्रीय बैंक आवश्यकता से अधिक नोट सरलता से नहीं चला सकते। अतः इसमें मुद्रास्फीति होने का भय नहीं रहता। पर इससे दोष यह है कि देश की नोट-व्यवस्था लोचदार नहीं बन पाती। नोटों का विस्तार सोने-चांदी पर निर्भर होता है, देश की आवश्यकताओं पर नहीं। यदि कभी नोट छापने की आवश्यकता हुई और सोना-चांदी न हुए तो नोट नहीं चलाए जा सकते।

इस प्रणाली में सोने-चांदी को कोष में रखकर निठल्ला बना दिया जाता है जिससे उसका और कोई अच्छा उपयोग नहीं हो पाता। यह प्रणाली केवल उन देशों के लिए अच्छी है जिनके पास सोना-चांदी पर्याप्त हो और जिनका व्यापार उन्नति पर हो।

इंगलैण्ड में इसी प्रणाली के अनुसार नोट-निर्गमन होता है। दिसम्बर १९४५ में १,४०,००,००,००० पौण्ड के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते थे तथा अन्य नोटों के लिए कोष में बराबर मूल्य का सोना-चांदी रखना पड़ता था। जब कभी सिक्यूरिटियों के बल पर चलनेवाले नोटों की सीमा बढ़ानी होती थी तो पार्लियामेंट कानून पास करके सिक्यूरिटियों की मात्रा बढ़ा दिया करती थी और तभी अधिक नोट चलाए जा सकते थे। इस प्रकार नोट-व्यवस्था में लोच लाने के लिए समय-समय पर कानून में संशोधन करना होता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए १९४८ में Currency and Bank Note Act पास किया गया जिसके अनुसार बैंक ऑफ इंगलैण्ड को अधिकार दे दिया गया कि वह सरकारी वित्त-विभाग से आज्ञा लेकर कोष में सिक्यूरिटियों की मात्रा बढ़ा सकता है और उनके बल पर नोट चला सकती है। इससे इंगलैण्ड की नोट-व्यवस्था में अब लोच आ गई है।

जापान में भी इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। वहां लगभग १,५०,००,००,००० येन के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जाते हैं तथा शेष के लिए उतने ही मूल्य का सोना-चांदी कोष में रखना होता है। नार्वे, फिनलैण्ड तथा इटली ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। भारत ने भी कुछ समय तक इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाए थे। प्रथम युद्ध काल में २० करोड़ रुपये के मूल्य के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चल सकते थे और इससे अधिक के लिए समान मूल्य का सोना-चांदी कोष में रखना होता था। अब हमारे देश में इस प्रणाली को नहीं माना जाता।

(३) आनुपातिक कोष प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलानेवाले बैंक को चालू नोटों के बदले में कम से कम निर्धारित सोना अवश्य रखना पड़ता है तथा बाकी नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जाते हैं। नोटों के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बदले में रक्खे जानेवाले सोने की निर्धारित मात्रा कानून के द्वारा निश्चित की जाती है। प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को नोट चलाने से पहिले कम से कम निर्धारित सोने की मात्रा अपने कोष में रखनी ही पड़ती है परन्तु समय पड़ने पर इससे कम सोना भी कोष में रखा जा सकता है। इसके लिए बैंक को केन्द्रीय सरकार के वित्त-विभाग से आज्ञा लेनी होती है।

इस प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें नोटों की संख्या बढ़ाने के लिए उनके बदले में बराबर मूल्य का सोना या चांदी नहीं रखना पड़ता। केवल थोड़ा सोना रखना पड़ता है और शेष कोष सिक्यूरिटियों में रक्खा जा सकता है। इस प्रणाली के अनुसार देश की नोट-व्यवस्था लोचदार बनती है और नोटों की मात्रा देश की आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

इसमें एक दोष भी है। यदि देश का सोना कभी बाहर जाने लगे और केन्द्रीय बैंक के कोष में सोने की मात्रा कम हो जाय तो नोटों को चलने से एक साथ रोककर उनकी मात्रा कम करनी होगी। डेविडसन ने लिखा है कि "आनुपातिक कोष प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उस समय अनुभव होता है जब देश का सोना बाहर जाने लगता है और केन्द्रीय बैंक के पास कोष में सोने की कमी होने लगती है। ऐसी स्थिति में यदि किसी समय केन्द्रीय बैंक में सोने की थोड़ी भी मात्रा कम होने लगे तो चालू नोटों की बहुत बड़ी मात्रा को चलने से रोकना पड़ेगा। तब मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की कमी हो सकती है और वस्तुओं के भाव एक दम नीचे गिर सकते हैं।" इस प्रणाली में एक दोष यह भी है कि थोड़ा-सा सोना कोष में बढ़ने से उससे अधिक मूल्य के नोट छापे जा सकते हैं जिससे मुद्रास्फीति का निरंतर भय बना रहता है। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रणाली को 'फैशनेबिल प्रणाली' कहकर पुकारा है।

यह प्रणाली अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, अर्जेण्टाइना, केनेडा, न्यूजीलैण्ड, यूगोस्लेविया आदि देशों में अपनाई जाती है। भारत में भी इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। भारत में चालू नोटों के बदले में कम से कम ४०% राशि का सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी सिक्यूरिटियां रखनी होती हैं। इसी प्रकार सोने का प्रतिशत भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है।

आनुपातिक कोष प्रणाली एवं स्थायी विश्वसनीय प्रणाली का भेद

आनुपातिक कोष प्रणाली के अन्तर्गत चलाए जानेवाले नोटों के बदले में कम से कम निर्धारित सोना कोष में रखना अनिवार्य होता है। निर्धारित सोने की मात्रा कानून के द्वारा निश्चित की जाती है। निर्धारित सोने के अतिरिक्त कोष में सिक्यूरिटियां रखी जा सकती हैं। इसके विपरीत स्थायी विश्वसनीय प्रणाली में सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जानेवाले नोटों का मूल्य कानून

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा निश्चित होता है और यदि इससे अधिक मूल्य के नोट चलाने होते हैं तो उनके बदले में ठीक उनके समान मूल्य का सोना-चांदी कोष में रखना अनिवार्य होता है।

आनुपातिक कोष प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से देश की नोट-व्यवस्था में लचक आती है पर मुद्रास्फीति का भय बना रहता है। स्थायी विश्वसनीय प्रणाली के अनुसार मुद्रास्फीति का भय तो नहीं रहता पर नोट-व्यवस्था में लचक का अभाव रहता है।

स्थायी विश्वसनीय प्रणाली उन देशों के लिए ठीक है जिनके पास सोना-चांदी अधिक हो या जिनका व्यापार उन्नति पर हो। आनुपातिक कोष प्रणाली को अन्य सभी देश अपना सकते हैं। संसार के अधिकांश देशों में इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। इंगलैण्ड में स्थायी विश्वसनीय प्रणाली मानी जाती है और अमेरिका तथा भारत में आनुपातिक कोष प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं।

नोट-निर्गमन की आदर्श प्रणाली

आदर्श नोट प्रणाली वही कही जा सकती है जिसके अनुसार देश में सोने के कोष को ध्यान में रखते हुए लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार तथा मुद्रा-मण्डी की परिस्थितियों को देखकर नोट चलाए जा सकें और उनकी संख्या बिना किसी प्रतिवन्ध के आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सके। सिद्धान्ततः नोट-निर्गमन का एकाधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को होना चाहिए जिससे वह व्यापारिक परिस्थितियों के अनुसार देश की नोट-व्यवस्था का प्रवन्ध और संचालन कर सके। पर साथ ही साथ सरकार को भी इस विषय में केन्द्रीय बैंक पर कुछ नियंत्रण रखना चाहिए जिससे बैंक केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही नोटों की मात्रा न घटा-बढ़ा सके। जहां तक सम्भव हो केन्द्रीय बैंक पर नोट-निर्गमन सम्बन्धी दो प्रतिबन्ध अवश्य होने चाहिएं—(१) बैंक सरकारी आज्ञा के बिना निश्चित राशि से अधिक मूल्य के नोट न छाप सके। नोट-निर्गमन की महत्तम सीमा कानून द्वारा निश्चित होनी चाहिए। (२) बैंक नोट चलाने से पहिले बदले में कम से कम निर्धारित मूल्य का सोना अपने कोष में अवश्य रख ले। संक्षेप में, नोट-निर्गमन की आदर्श प्रणाली में निम्न गुण-धर्म होने चाहिएं :—(१) लोच, (२) मितव्ययिता, (३) परिवर्तनशीलता, (४) चलनाधिक्य से बचाव, (५) सरलता।

भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था

भारत की नोट-व्यवस्था में समय-समय पर अनेक परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहले नोट चलाने का अधिकार बंगाल, बंबई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंकों

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 87

को मिला हुआ था। परन्तु १८६१ के एक्ट के अनुसार सरकार ने इसे अपने अधिकार में ले लिया। तब सरकार स्थायी विश्वसनीय प्रणाली के अनुसार नोट चलाने लगी। इसके अनुसार ४ करोड़ रुपये के मूल्य के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते थे और यदि इनसे अधिक नोट चलाने होते थे तो सरकार को अपने पास चांदी का एक संचित कोष रखना पड़ता था। धीरे-धीरे सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जानेवाले नोटों की सीमा बढ़ाई जाती रही और प्रथम महायुद्ध काल में कुल मिलाकर १२० करोड़ रुपये के मूल्य के नोट केवल सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते थे। यद्यपि उस समय नोट चलाने का काम सरकार का ही था परन्तु फिर भी यह प्रयत्न किया जाता रहा कि नोट चलाने का काम किसी बैंक को सौंप दिया जाय। उस समय देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था इसलिए इम्पीरियल बैंक को ही इस काम को सौंपने का एक बार छोटा-सा प्रयोग किया गया था। १९३४ में इम्पीरियल बैंक को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह १२ करोड़ रुपये तक के मूल्य के नोट देशी बिलों के बल पर चला सकता था। इस प्रकार हमारे देश में नोट चलाने के अनेक सिद्धान्तों और अनेक प्रणालियों का प्रयोग किया जाता रहा है।

१९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया बनने पर नोट चलाने का काम इस बैंक को सौंप दिया गया। अब यही बैंक नोट चलाता है। इस समय हमारे देश में परिवर्तनीय और अ-परिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलते हैं। २, ५, १०, १०० रुपये के नोट परिवर्तनीय नोट हैं जिनके बदले में रिजर्व बैंक सिक्के देने का वचन देता है। एक रुपये का नोट अ-परिवर्तनीय नोट है जिसे भारत सरकार का वित्त-विभाग छापकर चलाता है। एक रुपये के नोट द्वितीय युद्ध काल में चलाए गए थे और आज भी चलते हैं। इन नोटों के बदले में सरकार सिक्के देने का वचन नहीं देती। प्रतिनिधि-रूप कागज के नोट हमारे देश में नहीं चलते।

नोट चलाने के लिए अब हमारे देश में 'बैंकिंग सिद्धान्त' का पालन किया जाता है जिसके अनुसार देश के केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया) को नोट चलाने का एकाधिकार मिला हुआ है। रिजर्व बैंक बनने से पहिले देश में 'करेंसी-सिद्धान्त' का पालन किया जाता था जिसके अनुसार सरकार नोट चलाती थी।

नोट छापकर चलाने में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया 'आनुपातिक कोष प्रणाली' का पालन करती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से पहिले रिजर्व बैंक को नोटों के बदले में एक संचित कोष रखना पड़ता है जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्यूरिटियां, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटियां रक्खी जाती हैं। चलाए जानेवाले नोटों के कुल मूल्य के बदले में संचित कोष का कम-से-कम ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी सिक्यूरिटियों में रखना पड़ता है। इसमें भी हर समय कम-से-कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनिवार्य है। संचित कोष का शेष ६०% भाग रुपया, रुपये की सिक्यूरिटियों या अन्य देशी-विलों में रक्खा जा सकता है। १९४६ से पहले, जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष नहीं बना था, रिजर्व बैंक को अपने संचित-कोष में स्टर्लिंग सिक्यूरिटियां रखकर उनके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो गया तो रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के बल पर ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सब सदस्य-देशों की सिक्यूरिटियों के बल पर नोट चला सकता है। अब हमारे देश की नोट-व्यवस्था काफी लोचदार है। १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हो गया है इसलिए रिजर्व बैंक द्वारा नोट चलाने का दायित्व अब सरकार का भी दायित्व बन गया है।

संक्षेप में भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं:—

(१) परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय—दोनों प्रकार के नोटों का चलन,

(२) नोट चलाने के बैंकिंग सिद्धान्त का पालन,

(३) 'आनुपातिक कोष' प्रणाली के अनुसार नोटों का प्रचलन।

इन तीनों विशेषताओं के कारण देश की नोट-व्यवस्था में लोच आ गई है।

भारतीय नोट-व्यवस्था के दोष

राष्ट्रीय योजना समिति ने हमारी नोट-व्यवस्था में कुछ दोष बताए थे जो यहां उद्धृत किए जाते हैं:—

(१) देश की मौद्रिक पद्धति में एक निश्चित मूल्य-मापक का सर्वथा अभाव रहा है। नोट किसी भी निश्चित धातु से परिवर्तनीय नहीं हैं किन्तु असीमित रूप में कानूनी मुद्रा बने हुए हैं। यह हमारे देश की मुद्रा-पद्धति का एक बड़ा भारी दोष है।

(२) लोच का अभाव है अर्थात् व्यापार एवं उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल मुद्रा का प्रसार व संकुचन नहीं हो पाता। रुपये के जो सिक्के चलाए जाते हैं वे सरकार के पास लौटकर नहीं आ पाते। परिणाम यह होता है कि सरलता से स्वतः ही मुद्रा-संकुचन नहीं हो पाता। जहां तक मुद्रा-प्रसार का सम्बन्ध है वह भी आवश्यकतानुसार नहीं हो पाता। हां, मुद्रास्फीति शीघ्र हो जाती है।

(३) नोटों का इतना प्रचार होने पर भी पाश्चात्य देशों की भांति हमारे यहां 'डिपोजिट करेंसी' का उतना उपयोग नहीं हो रहा है। इसका एक मात्र कारण यह है कि हमारी कुल अर्थ-व्यवस्था एवं मुद्रा-पद्धति में पारस्परिक सामञ्जस्य नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) हमारी नोट-व्यवस्था में नोटों का पूरा-पूरा लाभ तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि नोटों के आधार पर रक्खे जाने वाले कोष का भली भांति संचालन एवं नियंत्रण नहीं हो पाता।

उक्त दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे नोटों तथा अन्य प्रकार की मुद्राओं में इस प्रकार समन्वय हो जिससे उसका हमारी अर्थ-व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध होकर हमारी आर्थिक उन्नति हो सके। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हमारी मुद्रा का अन्य किसी मुद्रा से कोई सीधा सम्बन्ध न हो। वैसे तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बनने के बाद हमारी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य निश्चित हो गया है फिर भी पत्र-मुद्रा-कोष में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों का परिमाण ही अधिक है। इससे हमारी मुद्रा कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रही है।

सारांश

कागज के नोटों का चलन बहुत समय से चलता आया है। चीन में कागज के नोट ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही चलते थे। धीरे-धीरे एशिया के अन्य देशों में इनका प्रचार बढ़ा और फिर योरप में भी इनका प्रयोग होने लगा। विगत दो महायुद्धों में तो नोटों की खूब भरमार रही और जनता इनसे काफी परिचित हो गई। अब संसार के अधिकांश देशों में कागज की मुद्राएं चलाई जाती हैं। नोटों का प्रयोग बढ़ने का मुख्य कारण यह है कि इनके चलने से सोने-चांदी की बचत होती है तथा इन्हें सरलता पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। सामान्यतः नोट तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रतिनिधि-रूप नोट, (२) परिवर्तनीय नोट, और (३) अ-परिवर्तनीय नोट। प्रतिनिधि-रूप नोट कोष में समान मूल्य का सोना-चांदी रखकर उनके प्रतिनिधि-स्वरूप चलाए जाते हैं। परिवर्तनीय नोट मांगने पर धातु या धातु-मुद्राओं में बदले जा सकते हैं और अ-परिवर्तनीय नोट धातु में परिवर्तनीय नहीं होते। नोटों का अपना कोई मूल्य नहीं होता, ये केवल कानून के बल तथा जनता और सरकार के पारस्परिक विश्वास पर चलते हैं।

नोट-संचालन के मुख्यतः दो सिद्धान्त हैं—(१) करेंसी सिद्धान्त, (२) बैंकिंग सिद्धान्त। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार नोटों की संख्या सरकार के पास जमा धातु-कोष पर निर्भर होती है। इसके अनुसार सरकार को नोट-संचालन का एकाधिकार होता है। बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने का एकाधिकार किसी बैंक को मिला होता है जो देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की मात्रा घटाता-बढ़ाता रहता है। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार नोट-संचालन में मुद्रास्फीति का भय नहीं रहता पर लोच का अभाव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहता है। बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से नोट-व्यवस्था में लोच आती है पर मुद्रास्फीति होने का भय निरंतर बना रहता है। अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि नोट-व्यवस्था में लोच भी आ सके और मुद्रास्फीति का भय भी न रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रश्न यह है कि नोट-संचालन का काम सरकार का हो अथवा बैंक का ? सरकार को देश की व्यापारिक आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान न होने के कारण नोटों की संख्या घटाने-बढ़ाने में सुविधा नहीं रहती। दूसरे, सरकार द्वारा नोट चलाने में देश की नोट-व्यवस्था पर राजनीति एवं दलबन्दी का अधिकार हो सकता है जिससे देश के व्यापारिक हितों को धक्का पहुंच सकता है। इसके विपरीत बैंक द्वारा नोट चलाने से इस बात का भय नहीं रहता। बैंक व्यापारिक क्षेत्रों के सम्पर्क में रहता है अतः नोटों की मात्रा आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा सकता है। पर नोट-संचालन का अधिकार देश की केन्द्रीय बैंक को ही मिलना चाहिए अन्य बैंकों को नहीं। केन्द्रीय बैंक देश में साख-व्यवस्था का प्रबन्ध करता है अतः नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध करने में उसे सुविधा रहती है। अनेक बैंकों को अधिकार मिलने से उनमें पारस्परिक प्रतियोगिता हो सकती है और आवश्यकता से अधिक मात्रा में नोट छप जाने का भय भी सदैव बना रहता है। अतः यह मानते हुए कि नोट-निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही मिलना चाहिए, यह समझना आवश्यक है कि बैंक को नोट-संचालन में सावधानी बरतनी चाहिए। बैंक को चाहिए कि नोट-व्यवस्था को लोचदार बनावे, परिवर्तनीय बनावे तथा नोट-संचालन मुद्रा-मण्डी की परिस्थितियों के अनुकूल करे। ऐसा करने पर ही बैंक नोट-संचालन में सफल हो सकता है।

अ-परिवर्तनीय नोट चलाने में मुद्रास्फीति होने का निरंतर भय बना रहता है जिससे अनेक सामाजिक दूषण पैदा हो जाते हैं। किसी ने कहा है—"अपरिवर्तनीय नोट एक ऐसी मदिरा है जिसकी दो-चार बूंदों से ही जनता और सरकारी अफसरों के दिमाग मस्त हो जाते हैं। तब उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता।" नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण इस प्रकार हैं—(१) सिक्कों का विचलन, (२) मूल्यस्तर की बढ़ोतरी, (३) विनिमय-दर की वृद्धि, (४) सोने पर प्रव्याजि, (५) नोटों का अपमूल्यन।

नोट चलाने से लाभ भी हैं और हानियां भी हैं। लाभ इस प्रकार हैं:—(१) सिक्कों की बचत होती है जिससे धातुओं की मितव्ययिता होती है, (२) नोटों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता पूर्वक ले जाया जा सकता है, (३) नोट बनाने में व्यय कम होता है, (४) मुद्रा-पद्धति में लोच आती है, (५) श्रम और पूंजी की बचत होती है, (६) सरकार को लाभ होता है। हानियां ये हैं:—(१) मुद्रास्फीति का भय रहता है, (२) तेल-पानी से शीघ्र नष्ट

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो जाते हैं, (३) ये केवल देश के अन्दर ही चलते हैं, देश से बाहर इनका कोई मूल्य नहीं होता।

आदम स्मिथ ने समझाया है कि नोट देश की सम्पत्ति में वृद्धि करते हैं। उनकी कसौटी यह है कि जितना उत्पादन का काम कुल सिक्के करते हैं यदि उससे अधिक उत्पादन सिक्के और नोट मिलकर करें तो समझना चाहिए कि नोटों के द्वारा सम्पत्ति में बढ़ोतरी हो रही है।

संसार में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के अनुसार नोट-निर्गमन होता है। आजकल नोट-निर्गमन की मुख्य-मुख्य प्रणालियां इस प्रकार हैं—(१) स्थायी महत्तम-सीमा प्रणाली, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार देश में चलाए जानेवाले नोटों की महत्तम सीमा कानून पास करके निर्धारित कर देती है। केन्द्रीय बैंक इस सीमा से अधिक नोट नहीं चला सकता और यदि कभी आवश्यकता हो तो कानून बदलकर महत्तम सीमा बढ़ानी पड़ती है। इस प्रकार नोट चलाने से मुद्रास्फीति का भय नहीं रहता पर लोच का अभाव रहता है। (२) स्थायी विश्वसनीय प्रणाली, जिसके अनुसार नोट चलाने से पहिले एक कोष बनाना पड़ता है। कोष में सिक्यूरिटी व धातु—दोनों होते हैं। सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जानेवाले नोटों की सीमा कानून द्वारा निश्चित होती है और उससे अधिक नोट चलाने पर समान मूल्य का सोना-चांदी कोष में रखना पड़ता है। इसमें मुद्रास्फीति का भय कम रहता है पर नोट-व्यवस्था में लोच नहीं आ पाती। (३) आनुपातिक कोष प्रणाली, जिसके अन्तर्गत बैंक को चालू नोटों के बदले में कम-से-कम निर्धारित सोना अवश्य रखना पड़ता है तथा बाकी नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते हैं। कोष में रक्खे जानेवाले सोने की मात्रा कानून से निश्चित की जाती है। इसमें लोच तो आती है पर मुद्रास्फीति का भय बना रहता है। भारत में यही प्रणाली मानी जाती है। नोट-निर्गमन की आदर्श प्रणाली वह है जिसके अनुसार देश में सोने के कोष को दृष्टि में रखते हुए मुद्रामण्डी की आवश्यकतानुसार नोट चलाए जा सकें और उनकी मात्रा आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सके। आदर्श प्रणाली में ये बातें होनी चाहिए :—(१) सरलता, (२) लोच, (३) मितव्ययिता, (४) परिवर्तनशीलता, (५) चलनाधिक्य से सुरक्षा, (६) विश्वास।

भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था बैंकिंग-सिद्धान्त पर आधारित है। परिवर्तनीय और अ-परिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलाए जाते हैं। नोट छापकर चलाने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है जो एक प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का विभाग ही है। नोट आनुपातिक कोष प्रणाली के अनुसार चलाए जाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) नोट कितने प्रकार के होते हैं ? प्रत्येक की विशेषताएं लिखिए और समझाइए कि किसी देश की मुद्रा-पद्धति में नोट चलाने का क्या महत्त्व होता है ?

(२) अ-परिवर्तनीय नोटों से आप क्या समझते हैं ? अ-परिवर्तनीय नोटों के दोषों का वर्णन कीजिए ।

(३) नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण क्या हैं ? समझाकर लिखिए ।

(४) नोट-संचालन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए । किसी देश में सरकार की अपेक्षा बैंक के हाथ में नोट-निर्गमन का अधिकार होना क्यों हितकर है ?

(५) नोटों के लाभ एवं हानियों पर प्रकाश डालते हुए समझाइए कि आधुनिक युग में पत्र-मुद्रा का चलन क्यों आवश्यक है ?

(६) क्या कागज के नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं ? इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

(७) नोट-निर्गमन की आधुनिक प्रणालियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिए । हमारे देश में कौनसी प्रणाली अपनाई जाती है ?

(८) भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था पर एक नोट लिखिए । हमारी नोट व्यवस्था में कौन-कौनसे मुख्य दोष बताए जाते हैं ?

(९) निम्नलिखित में भेद समझाइए :—

(अ) बैंकिंग सिद्धान्त और करेंसी सिद्धान्त ।

(ब) आनुपातिक कोष प्रणाली एवं स्थायी विश्वसनीय प्रणाली ।

(स) परिवर्तनीय नोट एवं अ-परिवर्तनीय नोट ।

(१०) निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—

(अ) प्रतिनिधि-रूप नोट ।

(ब) अ-परिवर्तनीय नोट ।

(स) आनुपातिक कोष प्रणाली ।

(द) नोट-व्यवस्था की लोच ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ५

साख एवं साख-व्यवस्था

साख का अर्थ

बताया जा चुका है कि सिक्के और नोट विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। इनको देकर बदले में हम वस्तुएं और सेवाएं खरीद लेते हैं और इन्हें लेकर वस्तुएं और सेवाएं बेच देते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम उस समय बिना कुछ दिए वस्तुएं खरीद लेते हैं और बिना सिक्के या नोट लिए वस्तुएं बेच भी देते हैं। उदाहरणार्थ, हमें कपड़े की आवश्यकता है। हम किसी परिचित दूकानदार से कपड़ा ले आएं और उस समय हम उसे न सिक्के दें, न नोट दें और न कोई और वस्तु दें, तो क्या इसका अर्थ यह है कि हम दूकानदार को इस कपड़े के बदले में कभी कुछ न देंगे या वह दूकानदार अपने कपड़े के बदले में हमसे कभी कुछ न लेगा? ऐसी बात नहीं है। यद्यपि हमने कपड़ा लेते समय दूकानदार को कुछ भी नहीं दिया परन्तु थोड़े-बहुत समय के पश्चात् हमें उस कपड़े का मूल्य सिक्के या नोट देकर चुकाना पड़ेगा। तो प्रश्न यह है कि दूकानदार ने कपड़ा देते समय ही हमसे उसका मूल्य क्यों नहीं मांगा और हमने उसी समय उसको उसका मूल्य क्यों नहीं चुकाया? इसका कारण है हमारा और दूकानदार का पारस्परिक विश्वास। दूकानदार को यह विश्वास होता है कि हम भविष्य में उसे कपड़े का मूल्य चुका देंगे और हमें यह विश्वास होता है कि दूकानदार कपड़े का मूल्य भविष्य में लेने को राजी हो जायेगा। यही 'विश्वास' जिसके बल पर हम आज का लिया मूल्य भविष्य में चुकावें 'साख' कहलाती है। साख के लेन-देन में आज के लिये हुए मूल्य का भुगतान भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। अतः साख का अर्थ 'भुगतान स्थगित करना' भी हो सकता है। साख या उधार का लेन-देन केवल उन व्यक्तियों के बीच में हो सकता है जिनको आपस में एक दूसरे का विश्वास हो। कोई भी दो अपरिचित व्यक्ति साख का लेन-देन नहीं कर सकते। साख स्वीकृत करने से पहले साख स्वीकृत करनेवाला इस बात को भली भांति देख लेता है कि जिस व्यक्ति को साख स्वीकृत की जा रही है वह भविष्य में मूल्य चुकाने के योग्य है भी या नहीं, वह उसका भुगतान कर देगा या नहीं और भुगतान करने की उसकी नीयत भी है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

या नहीं। ये सब बातें साख लेनेवाले के व्यक्तिगत चरित्र तथा उसकी जायदाद आदि को देखकर ज्ञात हो सकती हैं। इसी प्रकार दो देशों में साख का लेन-देन साख पर लेनेवाले देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। जिस देश की आर्थिक स्थिति ठोस होती है उसको बड़ी से बड़ी वस्तु तथा अधिक से अधिक माल साख पर मिल सकता है। यही बात उद्योगों के साथ भी होती है। जिन उद्योगों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है उन्हें सरलता से साख स्वीकार कर दी जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि साख का मूल आधार 'विश्वास' है और साख पर राशि या वस्तुएं लेना किसी व्यक्ति का बड़ा भारी गुण है।

साख का लेन-देन

साख का लेन-देन वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को वस्तुएं, सेवाएं या राशि इस विश्वास पर दे कि लेनेवाला उनका मूल्य चुकाने के योग्य है और भविष्य में निश्चित तिथि पर चुका भी देगा। साख के लेन-देन में 'समय' का भी विशेष स्थान है। साख स्वीकृत करनेवाले व्यक्ति को यह देखना पड़ता है कि साख पर दी जानेवाली वस्तुओं या सेवाओं का भुगतान कितने समय के पश्चात् हो सकेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति दूसरे को एक महीने की अवधि पर साख स्वीकार कर दे परन्तु दो महीने की अवधि पर न करे। इसका अर्थ यह नहीं कि उन दोनों के बीच आपस का विश्वास बिलकुल नहीं है। हां, इसका अर्थ यह होता है कि एक महीने तक के साख के लेन-देन में उन दोनों का आपस का विश्वास है परन्तु इससे अधिक समय तक के लेन-देन में उनका पारस्परिक विश्वास नहीं है।

नकद लेन-देन में वस्तुएं देकर बदले में नोट या सिक्के ले लिये जाते हैं या सिक्के या नोट देकर वस्तुएं खरीद ली जाती हैं। अतः नकद लेन-देन में वस्तुओं के बदले में तुरन्त हाथों-हाथ उसी समय उनका मूल्य चुका दिया जाता है, परन्तु साख या उधार के लेन-देन में आज वस्तुएं देकर भविष्य में उनका मूल्य चुकाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि साख के लेन-देन में वस्तुओं और मुद्रा की विनिमय-क्रिया उसी समय पूर्ण नहीं होती वरन् निश्चित समय के बाद भविष्य में पूरी होती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि साख का लेन-देन विनिमय की क्रिया को भविष्य के लिए स्थगित करने की एक व्यवस्था होती है। गाइड नामक मुद्रा-शास्त्री ने स्पष्ट लिखा है कि यदि वस्तु और मुद्रा के विनिमय में 'समय' का पुट लगा दें तो साख का लेन-देन बन जाता है। साख के लेन-देन में ऐसी व्यवस्था होती है जिसके अन्तर्गत वर्तमान वस्तुओं का मूल्य भविष्य में मुद्रा से चुकाया जाता है। अतः साख के लेन-देन में तीन बातें निहित होती हैं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) विश्वास, (२) समय, (३) मूल्य का भुगतान। साख के प्रत्येक लेन-देन में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, आपस का विश्वास होना आवश्यक है। विश्वास के बल पर ही वर्तमान वस्तुओं का मूल्य भविष्य में चुकाना सम्भव हो सकता है। साख के लेन-देन में मूल्य का भुगतान भी एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति आज साख पर वस्तुएं ले और एक महीने के पश्चात् उनका मूल्य चुकाने का वचन दे परन्तु एक महीने के बाद निश्चित तिथि पर भुगतान लेने-वाला मूल्य माफ कर दे तो उसे साख का लेन-देन नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें मूल्य का भुगतान नहीं हुआ है। इस लेन-देन को भेंट या gift कहना उचित होगा। इसी प्रकार यदि देनदार निश्चित तिथि पर यह मूल्य न चुकाए और मूल्य भुगतान करने से बिलकुल इन्कार कर दे तो भी उसे साख का लेन-देन नहीं कहना चाहिए। साख के लेन-देन का अर्थ है मूल्य के भुगतान को स्थगित करना (postponement of payment)। हमारे इन दोनों उदाहरणों में भुगतान चुकाने का काम स्थगित नहीं होता वरन् मूल्य या तो बिलकुल माफ कर दिया जाता है या डूब जाता है। इसलिए ऐसे लेन-देन को साख के सौदे (credit transactions) नहीं कह सकते। साख का लेन-देन तभी कहा जाता है जब उसमें तीनों बातें हों—विश्वास, समय, मूल्य का भुगतान।

साख का लेन-देन दो प्रकार से हो सकता है:—(१) वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय जिनका मूल्य भविष्य में चुकाया जाय, (२) राशि का लेन-देन जो निश्चित समय के बाद चुकाया जाय।

साख-मुद्रा

अभी बताया जा चुका है कि साख-व्यवस्था का मूल आधार 'विश्वास' है। इसी विश्वास के बल पर आज की ली हुई राशि या वस्तुओं का भुगतान भविष्य में किया जा सकता है। साख पर वस्तुएं लेनेवाले को भविष्य में निश्चित तिथि पर उनका मूल्य चुकाने का वचन देना पड़ता है। यह वचन दो प्रकार से दिया जा सकता है—(१) मौखिक, (२) लिखित। मौखिक वचन के अनुसार साख पर राशि या वस्तुएं लेनेवाला केवल मुंह-जबानी कहकर ही यह विश्वास दिला देता है कि वह निश्चित समय पर उन वस्तुओं का मूल्य चुका देगा या वह राशि लौटा देगा। साख के छोटे-छोटे लेन-देन प्रायः मौखिक विश्वास के आधार पर ही तय हो जाते हैं। परन्तु बड़ी-बड़ी राशि के लेन-देन में केवल मौखिक वचन देकर विश्वास दिलाने से ही काम नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति में वस्तुओं या राशि के बदले में लिखित वचन भी देना पड़ता है। लिखित वचन एक प्रकार का प्रमाण-पत्र होता है जिसमें साख पर ली हुई वस्तुओं का मूल्य तथा उसको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भविष्य में चुकाने का वचन लिखा रहता है। इन प्रमाण-पत्रों या लिखित वचनों को ही साख-पत्र या साख-मुद्रा कहते हैं। ये साख-पत्र हैं विनिमय-बिल (bill of exchange), प्रतिज्ञा-पत्र (promissory notes), बैंक-ड्राफ्ट, चेक आदि।

साख-पत्र या साख-मुद्रा ?

अभी-अभी बताया गया है कि साख के लेन-देन में वस्तु या राशि लेते समय उनके बदले में प्रायः साख-पत्र देने पड़ते हैं। अतः साख-पत्र साख के लेन-देन में एक प्रकार से विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। चेक या विनिमय-बिल देकर बदले में वस्तुएं खरीद ली जाती हैं। अब प्रश्न होता है कि क्या हम इन साख-पत्रों को सिक्कों या नोटों की तरह 'मुद्रा' कह सकते हैं ? मुद्रा की परिभाषा समझाते समय बताया गया था कि मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय का माध्यम हो तथा जिसको वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में देश के सभी लोग स्वीकार करें। सिक्के और नोट विनिमय के ऐसे ही माध्यम हैं जिनको देश में रहनेवाले सभी लोग बिना किसी हिचकिचाहट के लेन-देन में स्वीकार करते हैं। चेक, विनिमय-बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों में यह बात नहीं होती। इनको देश के सभी लोग सिक्कों या नोटों की तरह स्वीकार नहीं करते वरन् वे ही लोग लेते-देते हैं जो एक-दूसरे को भली-भांति जानते हों और जिनमें आपस का विश्वास हो। अतः साख-पत्रों का चलन सिक्कों और नोटों की अपेक्षा बहुत सीमित होता है।

सिक्कों और नोटों को लोग इकट्ठा करके संचित करते हैं परन्तु चेक, बिल, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि को कोई भी संचित नहीं करता। इसलिए ये साख-पत्र सिक्कों और नोटों की भांति 'मुद्रा' नहीं कहे जा सकते।

सिक्कों का अपना कुछ धातु-मूल्य होता है तथा सरकार उन्हें कानूनी मुद्रा घोषित करती है। इसी प्रकार नोटों के चलने में कानून का बल होता है, परन्तु चेक, बिल आदि साख-पत्रों का न तो सिक्कों की भांति कोई अपना मूल्य होता है और न सरकार उन्हें कानूनी मुद्रा घोषित करती है। ये केवल आपस की साख और विश्वास के बल पर ही लिये-दिए जाते हैं। अतः इन साख-पत्रों को सिक्कों और नोटों की तरह 'मुद्रा' नहीं कहा जा सकता। हां, उन्हें 'साख-मुद्रा' कहना कोई अनुचित बात नहीं होगी। जॉन्सन नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि सिक्कों और नोटों की तरह चेक, बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्रों में भी कुछ गुण होने आवश्यक हैं; जैसे--

(१) वे सरलता से पहिचाने जा सकें।
(२) लोग उनको जालसाजी करके सरलतापूर्वक न बना सकें।
(३) वे आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न राशि के हों।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जॉन्सन के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि चेक, बिल आदि साख-पत्र भी मुद्रा के रूप कहे जा सकते हैं। चूंकि ये लेनदार और देनदार की आपस की साख पर चलते हैं और इनका क्षेत्र बहुत सीमित होता है इसलिए इन्हें 'साख-मुद्रा' कहना ही उपयुक्त होगा। बहुतसे लेखकों ने इन्हें 'साख-पत्र' या 'साख-पुर्जे' कहा है, परन्तु हम उन्हें साख-मुद्रा कहेंगे।

साख-मुद्रा के भेद

साख-मुद्रा अनेक प्रकार की होती हैं। यहां हम केवल चेक, विनिमय-बिल, प्रतिज्ञा-पत्र, बैंक-ड्राफ्ट तथा हुण्डी आदि के विषय में ही अध्ययन करेंगे।

चेक—चेक एक लिखित पत्र है जो किसी बैंक विशेष के ऊपर लिखा जाता है तथा जिसको लिखनेवाला बैंक को आदेश देता है कि वह मांगने पर इसके बदले में उसमें लिखी हुई राशि का भुगतान कर दे। इसमें तीन विशेषताएं होती हैं—(१) यह विनिमय-बिलों के समान होता है। (२) यह किसी बैंक पर लिखा जाता है। (३) इसका भुगतान बैंक को किसी भी समय मांगने पर चुकाना पड़ता है। चेक लिखनेवाला चेक पर अपने हस्ताक्षर कर देता है तथा बैंक के नाम एक आदेश देता है कि वह बिना किसी शर्त के उसका भुगतान मांगने पर चुका दे। चेक की परिभाषा में निम्न बातें महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) यह एक आज्ञा-पत्र होता है।
(२) यह लिखित होता है।
(३) यह बिना किसी शर्त के होता है।
(४) यह किसी बैंक के नाम लिखा जाता है।
(५) इसमें लिखी हुई राशि निश्चित होती है। बैंक उस राशि से कम या अधिक नहीं चुका सकता।
(६) जिसको भुगतान दिया जाता है उसका नाम इसमें लिखा होता है अथवा उसका भुगतान उस व्यक्ति के आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को करना पड़ता है।
(७) इसका भुगतान मांगने पर करना पड़ता है।
(८) इसमें इसके लिखनेवाले के हस्ताक्षर होते हैं।

चेक दो प्रकार का होता है—(१) आर्डर-चेक, (२) वाहक-चेक। आर्डर-चेक वह होता है जिसका भुगतान चेक में लिखे हुए व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को ही मिल सकता है। वाहक-चेक का भुगतान चेक लेजानेवाले किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है। जहां तक चेक की सुरक्षा का प्रश्न है आर्डर-चेक वाहक-चेक की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहता है क्योंकि इसका भुगतान हर किसी व्यक्ति को नहीं किया जा सकता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चेक को रेखांकित भी बनाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए चेक के ऊपर दो आड़ी समानान्तर रेखाएं खींच दी जाती हैं। चेक के रेखांकन का अर्थ यह होता है कि इसका भुगतान बैंक किसी व्यक्ति को नहीं कर सकता वरन् इसका भुगतान किसी बैंक की मार्फत ही लिया जा सकता है। रेखांकित करने से चेक की सुरक्षा बढ़ जाती है। जिस चेक को रेखांकित नहीं किया जाता उसे खुला हुआ चेक कहते हैं। चेक का भुगतान करने से पहले बैंक को यह देख लेना चाहिए कि उसमें लिखे हुए हस्ताक्षर ठीक हैं या नहीं। इसके लिए बैंक को चेक लिखनेवाले के हस्ताक्षर अपने पास रखने पड़ते हैं और जब कोई चेक आता है तो उसके हस्ताक्षर इन हस्ताक्षरों से मिला लिए जाते हैं।

विनिमय-बिल—यह एक ऐसा लिखित पत्र है जिसके ऊपर इसे लिखनेवाले के हस्ताक्षर रहते हैं। इसको लिखनेवाला व्यक्ति इसमें लिखे हुए किसी व्यक्ति को आदेश देता है कि वह तीसरे किसी व्यक्ति को (जिसका नाम भी इसमें लिखा होता है) इसमें लिखित राशि का भुगतान कर दे। बिल देशी (inland) और विदेशी (foreign) दो प्रकार के होते हैं। देशी बिल वह होता है जिसका भुगतान उसी देश में हो जिसमें वह लिखा गया है तथा जिसका लिखनेवाला तथा भुगतान पानेवाला भी उसी देश में रहते हों। विदेशी बिल एक देश में लिखा जाता है तथा उसका भुगतान दूसरे देश में होता है। बिल लिखते समय नीचे लिखी बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है—(१) तिथि, (२) अवधि, (३) राशि, (४) पानेवाले का नाम, (५) स्टाम्प (टिकट)।

बिल साधारणतः तीन महीने की अवधि के होते हैं अर्थात् बिल लिखने की तिथि से ९० दिन के बाद उनका भुगतान करना होता है। कभी-कभी दर्शनी बिल (demand bill) भी लिखे जाते हैं—इनका भुगतान मांगने पर ही करना पड़ता है। दर्शनी बिलों को छोड़कर सब बिलों पर राशि के अनुपात से टिकट (revenue stamp) लगाना पड़ता है। मुद्दती बिल वे होते हैं जिनका भुगतान निश्चित अवधि के बाद करना पड़ता है। प्रत्येक मुद्दती बिल पर भुगतान चुकानेवाले व्यक्ति को स्वीकृति देनी पड़ती है। इसका आशय यह है कि वह बिल की शर्तों को देखकर स्वीकार करता है कि उन शर्तों के अनुसार वह उसका भुगतान चुका देगा। अवधि के पश्चात् निश्चित तिथि पर यदि बिल का भुगतान नहीं किया जाता तो यह 'बिल का अनादरण' कहलाता है।-बिल का अनादरण होने पर बिल लिखनेवाले व्यक्ति को उसके भुगतान का दायित्व लेना पड़ता है।

प्रतिज्ञा-पत्र—यह एक ऐसा लिखित पत्र है जिसको लिखनेवाला व्यक्ति उसमें लिखित किसी व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को उसमें लिखी हुई राशि देने का वचन देता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हुण्डियां—हुण्डी प्रायः विनिमय-बिल की भांति ही होती है। इस पर भी बिल की भांति टिकट लगानी पड़ती है। अन्तर केवल यह होता है कि उसका लिखने का ढंग कुछ और होता है। हुण्डियां दो प्रकार की होती हैं—(१) मुद्दती, (२) दर्शनी। मुद्दती-हुण्डी का भुगतान अवधि समाप्त होने के बाद चुकाया जाता है, परन्तु दर्शनी-हुण्डी का भुगतान देखते ही करना होता है। हुण्डियां देखनहार, नाम-जोग अथवा फरमान-जोग, धनी-जोग, शाह-जोग तथा जोखमी होती हैं।

देखनहार-हुण्डी वह है जिसका भुगतान उसे दिखानेवाले व्यक्ति को किया जाता है। नाम-जोग अथवा फरमान-जोग हुण्डी वह है जिसका भुगतान पानेवाले धनी के आदेशानुसार किया जाता है। धनी-जोग हुण्डी वह होती है जिसका भुगतान केवल पानेवाले धनी को ही हो सकता है। शाह-जोग हुण्डी वह होती है जिसका भुगतान केवल किसी शाह को ही हो सकता है। 'शाह' वह व्यक्ति, फर्म या कम्पनी होती है जिसका नाम उस सूची में लिखा हो जो स्थानीय व्यापार-बोर्ड द्वारा प्रकाशित होती हो। आजकल किसी बैंक को भी 'शाह' मान लिया जाता है।

बैंक ड्राफ्ट—यह एक प्रकार का दर्शनी बिल होता है जिसे एक बैंक अपनी शाखा पर या अन्य किसी आढ़तिया बैंक पर लिखकर आदेश करता है कि वह अमुक व्यक्ति को (जिसका नाम उसमें लिखा होता है) लिखित राशि का भुगतान कर दे। राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में इनका बहुत प्रयोग होने लगा है।

साख-पत्र (Letter of Credit)

साख-पत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) गश्ती (circular) साख-पत्र, (२) चालू (running) साख-पत्र।

गश्ती साख-पत्र—जब किसी व्यक्ति को भ्रमण करते समय अनेक स्थानों पर राशि की आवश्यकता होती है तो वह किसी बैंक से गश्ती साख-पत्र ले लेता है। इस पत्र में एक राशि दी हुई होती है। इस राशि की सीमा तक साख-पत्र रखनेवाला व्यक्ति अनेक स्थानों से राशि उधार ले सकता है। मान लो, मुझको अमेरिका जाना है तो वहां घूमने के लिए स्थान-स्थान पर मुझे राशि की आवश्यकता होगी। मान लो, मुझे १० हजार डालरों की आवश्यकता होगी तो मैं १० हजार डालर का एक गश्ती साख-पत्र किसी बैंक से ले लूंगा और जहां-जहां आवश्यकता होगी उसे दिखाकर उस बैंक की शाखा या किसी आढ़तिया-बैंक से राशि ले लिया करूँगा। राशि देनेवाला बैंक जितनी राशि मुझे देगा उसे उस पत्र पर लिख देगा जिससे कुल राशि निश्चित रकम से अधिक न हो जाय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चालू साख-पत्र—इस साख-पत्र में एक निश्चित रकम लिखी होती है। साख-पत्र रखनेवाला व्यक्ति उतनी राशि उस बैंक से (जो साख-पत्र देता है) ले सकता है। जब वह उस राशि का भुगतान चुका दे तो फिर उतनी ही राशि तक उधार ले सकता है। इस प्रकार साख-पत्र चालू बना रहता है।

इन साख-पत्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे पत्र और होते हैं जिन्हें साख या विश्वास के बल पर लिया-दिया जाता है।

साख-संस्थाएं

ऊपर दिए गए साख-मुद्राओं (चेक, बिलों आदि) का चलन और प्रचार साख-संस्थाओं पर निर्भर होता है। साख-संस्थाओं में बैंक, इन्शोरेन्स कम्पनी, समाशोधन-गृह (clearing house) सम्मिलित हैं। जब तक देश में बैंकों की संख्या नहीं बढ़ती तब तक साख का लेन-देन नहीं बढ़ सकता। बैंक ही साख-मुद्रा का चलन बढ़ाते हैं, बैंक ही राशि जमा करके साख पर उधार देते हैं तथा बैंक ही नोट-व्यवस्था को संगठित करते हैं। बिना बैंकों के किसी भी देश की साख-व्यवस्था ठोस और उन्नत नहीं बन सकती। इनका विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

साख का महत्व

(१) वर्तमान समाज में साख का बहुत महत्त्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार एवं उपभोग—सभी क्षेत्रों में साख का लेन-देन अनिवार्य बन गया है। आजकल तो साख का लेन-देन 'वाणिज्य का जीवन' तथा 'आधुनिक व्यापार का मूल-आधार' समझा जाता है। बिना साख और साख के लेन-देन के आजकल का विशाल उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता था। आजकल तो प्रत्येक व्यक्ति साख पर राशि या वस्तुएं लेकर उत्पादन बढ़ाता है। साख के लेन-देन के कारण वही व्यक्ति लेनदार है और वही देनदार भी है। इस प्रकार उत्पादन की पेचीदा गाड़ी आगे बढ़ रही है। यही नहीं, उपभोग में भी साख का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अधिकांश लोग आज साख पर वस्तुएं लेकर अपना जीवन-यापन करते हैं। आवश्यकता की वस्तुएं तथा आराम और विलास की वस्तुएं—सभी साख पर ली जाती हैं। कठिनाई के समय साख पर राशि या वस्तुएं लेकर मनुष्य अपने संकट को पार करने लगा है। सम्पत्ति उत्पादन करने की वर्तमान पेचीदा पद्धति आज साख के लेन-देन से ही सम्भव हुई।

(२) जो मनुष्य अपनी सम्पत्ति और साधनों का अधिक से अधिक उपयोग नहीं कर सकता, वह साख के द्वारा अपने साधनों को दूसरे लोगों को देकर अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है। इस प्रकार साधनों का महत्तम उपयोग होता है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तथा देश की सम्पत्ति में भी वृद्धि होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति और साधन होते हैं परन्तु वे उनका उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति उत्पादन करने की कला होती है परन्तु साधन नहीं होते। साख के द्वारा इन दोनों प्रकार के लोगों को लाभ मिल सकता है।

(३) साख के द्वारा ही आज व्यापार इतनी उन्नति कर सका। बड़ी-बड़ी कम्पनियां साख के कारण जनता में हिस्से बेचकर पूंजी इकट्ठी करती हैं जिससे देश की सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता मिलती है। साख के कारण ही लोग अपनी-अपनी राशि बैंकों में जमा करते तथा बैंक भी लोगों को राशि उधार देते हैं।

(४) साख-संस्थाओं (बैंक आदि) के द्वारा देशवासी बचत करना सीखते हैं जिससे देश की पूंजी बढ़ती है।

(५) साख के द्वारा साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का प्रचार बढ़ता है। साख-मुद्रा के कारण सिक्कों और नोटों की बचत होती है। सिक्कों की बचत होने से सोने, चांदी तथा अन्य धातुओं की बचत होती है। इस बचत को देश के अन्य उत्पादन के कामों में लगाकर देश की सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। साख-मुद्रा के कारण बड़ी-बड़ी राशि के भुगतान लेने-देने में तथा दूर-दूर राशि भेजने में सुविधा रहती है। इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बड़ी सरलता से भुगताए जा सकते हैं। साख-मुद्रा ने सिक्कों और नोटों के चलन को बहुत कम कर दिया है।

(६) साख से कीमतों की घट-बढ़ भी संतुलित हो जाती है। जब कभी समाज में मुद्रा की आवश्यकता होती है तो बैंक साख के रूप में उसे बढ़ा देते हैं और जब उसकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती तब वे उसे समेट लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के भावों में स्थिरता बनी रहती है।

(७) साख के द्वारा ही भीमकाय उत्पादन के बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं जिनमें देश की मानवीय एवं प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक उपयोग होता है। साख के द्वारा श्रम और पूंजी की निपुणता तथा कुशलता बढ़ाई जा सकती है। एक समय था जबकि लोग आपस में एक दूसरे की वस्तुओं का अदल-बदल किया करते थे। उस समय उनको वस्तु-विनिमय में बहुत कठिनाई होती थी। 'मुद्रा' के प्रयोग ने विनिमय की उन कठिनाइयों को दूर कर दिया और लेन-देन में समय की भी बचत की। परन्तु आज 'साख के लेन-देन' ने इस सुविधा को और भी अधिक बढ़ा दिया है। एक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि सबसे पहिले 'वस्तु-विनिमय' रूपी रेंगती हुई 'नाव' थी जो केवल पानी पर चलती थी, इसके बाद 'मुद्रा'-रूपी तेज दौड़नेवाली 'मोटर' आई जो व्यापार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूपी सड़कों पर बड़ी तेजी से चलने लगी और आज 'साख'-रूपी 'बिजली की रेल' है जो मोटरों से भी अधिक तेज दौड़ती है। साख के द्वारा लेन-देन का काम बहुत सरल हो गया है। जॉन्सन ने तो यहां तक लिखा है कि साख के लेन-देन आधुनिक व्यापार-जगत के बड़े महत्वपूर्ण सन्देश-वाहक यन्त्र के समान हैं। यदि आज टेलीग्राम और टेलीफोन के तारों को तोड़ दिया जाय तो आधुनिक व्यापार-जगत को इतनी कठिनाई नहीं होगी जितनी साख के लेन-देन तोड़ने से हो जायगी। एक वाक्य में, साख 'वाणिज्य की आत्मा', 'मौद्रिक व्यवस्था का मूल-आधार' तथा 'सभ्यता का प्रतीक' है।

साख के दोष

संसार में प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक अच्छा और दूसरा बुरा। प्रकृति के इस सिद्धान्त के अनुसार साख के लाभ भी हैं और दोष भी। साख से मिलनेवाले लाभों पर 'साख के महत्व' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। यहां साख के दोषों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) साख के द्वारा मनुष्य फिजूलखर्च करने लगता है। मनोविज्ञान से यह बात सत्य है कि मनुष्य अपने परिश्रम से पैदा की हुई सम्पत्ति को बड़ी योग्यता-पूर्वक तथा बड़े सोच-विचार के पश्चात् व्यय करता है। परन्तु दूसरे की सम्पत्ति का उसकी दृष्टि में उतना महत्व नहीं होता। अतः वह साख पर ली हुई राशि को निर्दयता के साथ व्यय करता जाता है जिससे थोड़े समय के बाद ही वह फिजूल-खर्च बन जाता है।

(२) ठीक यही बात उत्पादन के विषय में भी लागू होती है। व्यापारी लोग साख पर राशि लेकर व्यापार करते रहते हैं। धीरे-धीरे वह उधार बढ़ाते जाते हैं और फिर आवश्यकता से अधिक पूंजी व्यापार में लगा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूंजी के अनुपात में व्यापार से मिलनेवाला लाभ कम हो जाता है और व्यापार को बन्द करने तक की नौबत आ जाती है। इससे केवल उसी व्यापारी को हानि नहीं होती वरन् व्यापार के अन्य क्षेत्रों में भी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका व्यापार समाप्त होने से साख स्वीकृत करनेवालों की राशि डूब जाती है तथा साख का लेन-देन करनेवाले दूसरे लोग भी सचेत हो जाते हैं और साख का लेन-देन कम हो जाता है।

(३) बहुत से अयोग्य और चालाक लोग उधार राशि लेकर व्यापार आरम्भ करते हैं और थोड़े समय तक चलाने के बाद फिर रुपया खा जाते हैं और व्यापार बन्द कर देते हैं। इससे उनको तो कोई हानि नहीं होती परन्तु दूसरे लोगों की राशि डूब जाती है तथा व्यापार भी संकट-ग्रस्त बन जाता है; आपस की साख कम होने लगती है और उत्पादन का क्रम बिगड़ जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) साख पर ली हुई राशि से सट्टेबाजी बढ़ जाती है। अधिक सट्टेबाजी बढ़ने से व्यापार और उद्योगों को हानि होने की सम्भावना बढ़ जाती है। कभी-कभी तो इसके कारण बड़े-बड़े व्यापार नष्ट हो जाते हैं।

(५) कभी-कभी देश में साख-मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ जाती ह कि अन्य मुद्राओं की अपेक्षा उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। इससे लोगों का विश्वास टूटने का भय रहता है। यदि किसी समय देश का केन्द्रीय बैंक आवश्यकता से अधिक नोट चला दे तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाने का भय रहता है। उस समय फिर मुद्रा-संकुचन करने की आवश्यकता पड़ जाती है। मुद्रा-संकुचन करने से व्यापार तथा उद्योगों को और भी अधिक हानि होने का भय रहता है।

(६) साख-व्यवस्था के कारण ही देश की अधिकांश सम्पत्ति कुछ थोड़ेसे लोगों के हाथों में इकठ्ठी हो जाती है। ये लोग पूंजीपति बन बैठतें हैं। ये पूंजीपति अन्य साधनहीन लोगों का शोषण करने लगते हैं तथा वस्तुओं के भाव जैसा चाहें घटा-बढ़ा देते हैं। इससे जन-साधारण को संकट पैदा हो सकता है।

(७) जब सरकार को साख पर जनता से जन-ऋण के रूप में अधिक राशि मिलने लगती है तो सरकार भी फिजूलखर्च करके रुपया नष्ट करने लगती है।

साख और साख के लेन-देन के दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि देश की केन्द्रीय सरकार देश की साख-व्यवस्था पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रक्खे। साख पर नियन्त्रण करने का काम देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप देना चाहिए। साख का उचित नियंत्रण होने से ही देश को साख से लाभ मिल सकते हैं।

साख और पूंजी

क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है ?
क्या साख पूंजी का सृजन करती है ?

साख और पूंजी के विषय में बड़ा मतभेद चलता आया है। कुछ लोगों का विश्वास है कि जिस प्रकार भूमि और श्रम सम्पत्ति-उत्पादन के साधन हैं और सम्पत्ति पैदा करने में सहायता करते हैं उसी प्रकार साख भी सम्पत्ति-उत्पादन का एक साधन है। मैक्लौड नामक मुद्राशास्त्री का मत है कि साख पूंजी का सृजन करती है तथा साख-मुद्रा वास्तविक सम्पत्ति और सच्ची पूंजी है। उन्होंने अपनी 'एलीमैण्ट्स ऑफ बैंकिंग' नामक पुस्तक में लिखा है—"मुद्रा और साख दोनों ही पूंजी हैं। व्यापारिक साख एक प्रकार से व्यापारिक पूंजी होती है।"*

*"Both money and credit are capital." "Mercantile credit is mercantile capital."—*Macleod* : Elements of Banking, Chapter IV.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु उनका यह विश्वास भ्रमात्मक प्रतीत होता है। साख सम्पत्ति-उत्पादन का 'साधन' (factor) नहीं है वरन् सम्पत्ति-उत्पादन का एक तरीका है, पद्धति है, प्रणाली (method) है। जिस प्रकार श्रम-विभाजन और विनिमय सम्पत्ति पैदा करने या बनाने के तरीके हैं उसी प्रकार साख भी सम्पत्ति बनाने या पैदा करने की एक शैली या तरीका है। साख के लेन-देन में एक व्यक्ति की निठल्ली सम्पत्ति (राशि, वस्तुएं आदि) दूसरे ऐसे व्यक्ति के पास हस्तान्तरित कर दी जाती है जो उसका अधिक उपयोग कर सके। अतः सम्पत्ति का केवल हस्तान्तरण करना ही साख के लेन-देन का मूल उद्देश्य होता है। लेकिन 'हस्तान्तरण करना' ही सम्पत्ति 'बनाना' या 'पैदा करना' नहीं कहा जा सकता। अतः साख के द्वारा सम्पत्ति या पूंजी का सृजन नहीं हो सकता। जॉन स्टुअर्ट मिल नामक एक विख्यात अर्थशास्त्री ने कहा है—"साख का लेन-देन एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे की बनाई हुई सम्पत्ति का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।"* अतः इस कथन के अनुसार स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति तो साख के लेन-देन से पहिले ही बनी होती है। साख का लेन-देन उस सम्पत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर हस्तान्तरित कर देता है। मान लो, एक व्यक्ति ने दूसरे को १००० रुपये साख पर दिये और उससे बदले में एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखाकर ले लिया। अब १००० रुपये एक व्यक्ति के पास हो गए और दूसरे के पास १००० रुपये का एक प्रतिज्ञा-पत्र आ गया। कुल मिलाकर दो हजार रुपये की संख्या तो बन गई परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि १००० रुपये से २००० रुपये की सम्पत्ति बन गई। देश में तो केवल १००० रुपये ही रहे। हां, जिसके पास प्रतिज्ञा-पत्र आ गया उसको उसके बदले में १००० रुपये मिलने की सुविधा अवश्य आ गई। अतः वह प्रतिज्ञा-पत्र पूंजी नहीं कहला सकता वरन् वह तो एक ऐसा साधन हो गया जिसके द्वारा वह व्यक्ति उसके बदले में १००० रुपये किसी से ला सकता है। अगर इस प्रकार प्रतिज्ञा-पत्र भी सम्पत्ति बन जाया करते तब तो प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना मकान अपने पड़ोसियों को साख पर दे दिया करता और बदले में प्रतिज्ञा-पत्र लेकर अपनी सम्पत्ति दुगुनी कर लिया करता। जिस प्रकार शीशे में परछाईं देखकर यह कहना कि एक आदमी से दो आदमी बन गए बेवकूफी की बात होगी उसी प्रकार यह समझना कि १००० रुपये साख पर देकर २००० रुपये हो गए बेवकूफी और बुद्धिहीनता की बात है। रिकार्डो नामक एक विचारक अर्थशास्त्री ने कहा है कि "साख के द्वारा पूंजी का सृजन नहीं

*"New capital is not created by mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of borrower."—*Mill.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता ; साख के लेन-देन से तो केवल यह बात निश्चित होती है कि पैदा की हुई सम्पत्ति का उपयोग कौन करेगा ?" साख के द्वारा सम्पत्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर पहुँच जाती है—उसकी मात्रा में कोई कमी-बेशी नहीं आती। साख के लेन-देन से पूंजी की गतिशीलता (mobility) और उत्पादन-शक्ति बढ़ती है परन्तु सम्पत्ति की मात्रा में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होती। जिस प्रकार किसी सिपाही को घोड़ा मिल जाने से उसकी गतिशीलता और कार्य-कुशलता बढ़ जाती है उसी प्रकार साख के लेन-देन से साख पर राशि लेनेवाले की गति और कार्यक्षमता बढ़ जाती है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि साख के द्वारा सम्पत्ति या पूंजी का सृजन नहीं होता।

हां, क्योंकि साख के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे की निठल्ली राशि या वस्तुओं को लेकर सम्पत्ति-उत्पादन के काम में लगाता और उसे उत्पादन करने के योग्य बना देता है इसलिए यह माना जा सकता है कि परोक्ष रूप से साख पूंजी को जन्म देती है परन्तु इस प्रकार भी सम्पत्ति की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। साख परोक्ष रूप से उत्पादन बढ़ाने तथा पूंजी संग्रह करने का एक साधन है। साख के द्वारा पूंजी ऐसे लोगों के पास पहुंचती है जो उसका अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकें। इसके द्वारा देश की पूंजी अधिक उपयोगी बन जाती है। समाज और देश की आर्थिक प्रतियोगिता में साख के लेन-देन की बहुत आवश्यकता है क्योंकि इसी के द्वारा उत्पादन की मूल-शक्तियां उत्पादन-क्षेत्र में लाई जा सकती हैं।

साख और वस्तुओं के भाव

साख के विषय में इतना जान लेने के पश्चात् एक प्रश्न उठता है कि साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? हम जानते हैं कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। क्रय-शक्ति बढ़ने से लोग अधिक मात्रा में वस्तुओं की मांग करने लगते हैं और वस्तुओं की मांग बढ़ने से उनके भाव चढ़ जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि सामान्यतः मुद्रा की प्रदाय बढ़ने से वस्तुओं के भाव भी बढ़ जाते हैं। परन्तु मुद्रा की प्रदाय के घटने-बढ़ने का सही-सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। सिक्कों अथवा नोटों की मात्रा तो सरलता से ज्ञात की जा सकती है और यह मालूम किया जा सकता है कि किसी समय सिक्कों या नोटों की मात्रा घट रही है या बढ़ रही है। परन्तु साख-मुद्रा की प्रदाय के घटने-बढ़ने का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि साख-मुद्रा भी विनिमय-माध्यम का काम करती है अतः इसके द्वारा वस्तुओं के भावों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इस विषय में मुद्राशास्त्रियों की दो विचारधाराएं हैं:—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) कुछ मुद्राशास्त्रियों का मत है कि साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन लोगों का विश्वास है कि साख-मुद्रा (चेक, विल आदि) के द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है वह एक दूसरे को संतुलित (balance) कर देता है और इसलिए मुद्रा की प्रदाय पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः साख के लेन-देन से वस्तुओं के मूल्य-स्तर में कोई फेर-वदल नहीं होती।

(२) दूसरा मत पहिले मत के बिलकुल विपरीत है। इस मत को मानने वाले मुद्राशास्त्रियों का कहना है कि साख के लेन-देन से वस्तुओं की मांग तो बढ़ती ही है और वस्तुओं की मांग बढ़ने का अर्थ है कि मुद्रा की मांग बढ़ती है। अतः साख के लेन-देन से वस्तुओं के मूल्य-स्तर पर भी कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। कुछ आधुनिक मुद्रा-शास्त्रियों ने साख-नियन्त्रण (credit control) करके क्रय-शक्ति को वश में करने के नए सिद्धान्तों की खोज की है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि साख और वस्तुओं के भावों का परस्पर कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

कुछ मुद्राशास्त्रियों का मत है कि जो राशि या वस्तुएं उत्पादन के काम के लिए साख पर दी जाती हैं उनका वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इस प्रकार एक तरफ तो साख पर दी गई क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और दूसरी ओर इसकी सहायता से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है जिससे बाजार में वस्तुओं की प्रदाय बढ़ने लगती है। इस प्रकार क्रय-शक्ति की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई वस्तुओं की मांग और वस्तुओं के उत्पादन के कारण पैदा हुई उनकी प्रदाय—दोनोंमें संतुलन पैदा हो जाता है जिससे वस्तुओं के भावों पर साख का कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाता। यह विचारधारा भी दोषरहित नहीं जान पड़ती क्योंकि इसके अन्तर्गत वस्तुओं की मांग और उनकी प्रदाय के मेल का सही-सही अनुमान लगाना असंभव है। सामान्यतः साख पर दी जानेवाली अधिकांश राशि इस शर्त पर दी जाती है कि साख पर लेनेवाला व्यक्ति उसकी सहायता से वस्तुएं उत्पन्न करे और उन्हें बेचने के पश्चात् राशि का भुगतान चुका दे। साख पर राशि देते समय तो बाजार में उसके समकक्ष (corresponding) कोई भी माल नहीं होता क्योंकि साख पर राशि लेकर माल बनाने में कुछ समय तो लगता ही है। अतः इस बीच में जो क्रय-शक्ति बढ़ जाती है उससे वस्तुओं के भावों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

यदि यह मान भी ले कि उस समय वस्तुओं के भावों पर साख पर दी हुई राशि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो यह हो सकता है कि साख पर राशि लेकर वस्तुएं उत्पादन करनेवाला मांग का गलत अनुमान लगाकर मांग से अधिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वस्तुएं उत्पन्न कर दे। ऐसी परिस्थिति में बाजार में वस्तुओं की प्रदाय उनकी मांग की अपेक्षा अधिक हो जायगी और उनके भाव गिरने लगेंगे। कभी यह भी हो सकता है कि वस्तुएं उत्पन्न करनेवाला मांग का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर वस्तुएं पैदा करे परन्तु जब तक वे वस्तुएं बनकर बाजार में आवें तब तक संभव है किसी कारण से (फैशन आदि बदलने के कारण) उनकी मांग बदल जाय। ऐसी परिस्थिति में साख पर दी हुई राशि के कारण पैदा हुई वस्तुओं की मांग तथा उस राशि की सहायता से पैदा की गई वस्तुओं के कारण बढ़ी हुई उनकी प्रदाय में विषमता पैदा हो जायगी और मूल्य-स्तर में भी फेर-बदल होगी। अतः यह कहना कि उत्पादन के कामों के लिए साख पर दी हुई राशि का वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, गलत है। साख का प्रभाव साख-मुद्रा के द्वारा वस्तुओं के भावों पर अवश्य पड़ता है। साख चाहे उत्पादक काम के लिए दी जाय और चाहे उपभोग के लिए स्वीकृत की जाय उसका वस्तुओं के भावों पर प्रभाव पड़ता ही है। यही कारण है कि आजकल मूल्य-स्तर को वश में करने के लिए साख-नियंत्रण करने की आवश्यकता होने लगी है और साख-नियंत्रण किसी भी देश की केन्द्रीय बैंक की मुख्य क्रिया मानी जाती है।

साख की घटत-बढ़त

साख की घटत-बढ़त के अनेक कारण होते हैं जिनमें से कुछ यहां दिए जाते हैं:—

(१) व्यापारिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों का साख के घटने-बढ़ने पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब व्यापार उन्नति पर होता है तो साख के लेन-देन की मात्रा बढ़ जाती है और जब व्यापार शिथिल पड़ जाता है तो लेन-देन भी कम हो जाता है।

(२) जन-विश्वास तथा जन-रक्षा का भी साख पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी समय ऐसी घटना हो जाय जिससे जनता का विश्वास टूटने लगे तो साख का लेन-देन कम हो जायगा। युद्ध, भूचाल आदि कारणों से लोगों में पारस्परिक विश्वास की कमी हो जाती है जिसका साख के लेन-देन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(३) देश की आन्तरिक राजनीतिक हलचल तथा विदेशी परिस्थितियों का भी साख पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश के अन्दर राजनीतिक आतंक पैदा हो जाय तो लोगों का लेन-देन सुरक्षित नहीं रहता। बैंक तथा अन्य साख-संस्थाएं साख का लेन-देन कम कर देती हैं।

(४) सट्टेबाजी के कारण साख के लेन-देन में कमी-बेशी होती रहती है। जब साख का लेन-देन कम हो जाता है तो बहुतसे सट्टे-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वाज नष्टप्राय हो जाते हैं। सट्टेवाजी और साख के लेन-देन का पारस्परिक संबंध है। एक के घटने-बढ़ने से दूसरे में भी परिवर्तन होने लगते हैं।

(५) देश में प्रचलित मौद्रिक व्यवस्था का भी देश की साख पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि मौद्रिक व्यवस्था सुदृढ़ और ठोस हुई तो साख के लेन-देन भी बढ़ जाते हैं। यदि बैंकों के पास अच्छी मात्रा में सोना हुआ तो उसके बल पर वे बहुत भारी-भारी राशि साख पर दे सकते हैं। जब मौद्रिक व्यवस्था ठीक होती है तो बैंक भी अपने पास थोड़ा संचित-कोष रखकर अधिकांश राशि साख पर उठा देते हैं। जब मौद्रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती है तो लोगों में आपस में अविश्वास और अनिश्चितता पैदा होने लगती है जिससे साख का लेन-देन बहुत कम हो जाता है।

भारत में साख-व्यवस्था

भारत में साख-व्यवस्था इतनी उन्नत नहीं है जितनी अमरीका, इंगलैंड तथा योरप के अन्य देशों में पाई जाती है। न तो हमारे देश में बहुतसी साख-संस्थाएं (बैंक आदि) हैं और न साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का ही अधिक चलन है। देश के कुछ व्यापारिक केन्द्रों में; जैसे बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर आदि में साख-संस्थाएं भी हैं और साख-मुद्रा का भी प्रचार बढ़ गया है। परन्तु देश के आन्तरिक भागों में साख का लेन-देन व साख-मुद्रा का चलन नहीं के बराबर है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है—वे चेकों, बिलों तथा अन्य साख-मुद्राओं का लिखना तथा उनका प्रयोग करना ही नहीं जानते। दूसरे, यहां के लोग राशि को इकट्ठा करके संचित करने में विश्वास करते हैं—वे न तो आपस में ही उधार लेते-देते हैं और न बैंकों में ही जमा करते हैं। बैंकों ने भी साख-व्यवस्था को उन्नत बनाने का अधिक प्रयास नहीं किया है। जिन बैंकों ने साख के लेन-देन किए भी वे व्यापार की परिस्थिति से धोखा खाकर नष्ट हो गए। हमारे देश में साख उन्नत न होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पिछले वर्षों में हमारे देश की बैंकिंग व्यवस्था बड़ी अस्त-व्यस्त रही। न तो देश में कोई केन्द्रीय बैंक था जो साख-नियन्त्रण का काम करता और न बैंकिंग कम्पनी कानून ही था जो बैंकों पर अंकुश रखता। अब हमारे देश में केन्द्रीय बैंक भी है और बैंकिंग कानून भी बन गया है। अब केवल एक बात की आवश्यकता है कि लोगों को साक्षर बनाकर उनको साख-मुद्रा का प्रयोग सिखाया जाय। तभी देश की साख-व्यवस्था उन्नत बनाई जा सकेगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

साख वह विश्वास है जिसके बल पर आज का लिया मूल्य भविष्य में चुकाया जाय। साख के लेन-देन में आज के लिये हुए मूल्य का भुगतान भविष्य को स्थगित कर दिया जाता है। अतः साख का अर्थ भुगतान स्थगित करना भी हो सकता है। साख का लेन-देन उन व्यक्तियों के बीच में हो सकता है जिनको आपस में एक-दूसरे का विश्वास हो। कोई भी दो अपरिचित व्यक्ति साख का लेन-देन नहीं कर सकते। साख स्वीकृत करने से पहले यह देखना आवश्यक होता है कि जिस व्यक्ति को साख स्वीकृत की जा रही है वह भविष्य में मूल्य चुकाने के योग्य है भी या नहीं, वह उसका भुगतान कर सकेगा या नहीं और भुगतान करने की उसकी नीयत है या नहीं ? अतः साख के लेन-देन में तीन बातें निहित होती हैं—(१) विश्वास, (२) समय, और (३) मूल्य का अवधि के पश्चात् भुगतान। साख का लेन-देन दो प्रकार का हो सकता है—एक, वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय, जिनका मूल्य भविष्य में चुकाया जाय। दूसरा, राशि का लेन-देन जो निश्चित समय के पश्चात् चुकाई जाय। साख पर वस्तुएं लेने वाले को भविष्य में निश्चित तिथि पर उनका मूल्य चुकाने का वचन देना पड़ता है। यह वचन दो प्रकार से दिया जा सकता है—(१) मौखिक, (२) लिखित। लिखित वचनों को नियमानुसार विनिमय-बिल, चेक, प्रतिज्ञापत्र एवं बैंक-ड्राफ्ट कहते हैं। इन लिखित पत्रों को सिक्कों और नोटों की भांति मुद्रा नहीं कहा जा सकता। पर उन्हें 'साख-मुद्रा' कहना कोई अनुचित न होगा क्योंकि वे मुद्रा का काम केवल उन्हीं व्यक्तियों के बीच करते हैं जिनमें पारस्परिक विश्वास हो। साख-मुद्रा कई प्रकार की हो सकती हैं जैसे चेक, विनिमय-बिल, बैंक-ड्राफ्ट, हुण्डी तथा साख-पत्र आदि। साख-मुद्राओं का लेन-देन साख-संस्थाओं के द्वारा होता है। साख-संस्थाओं में बैंक, इन्श्योरेंस कम्पनियां, और समाशोधनगृह मुख्य हैं।

वर्तमान समाज में साख का बहुत महत्त्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार एवं उपभोग—सभी क्षेत्रों में साख का लेन-देन अनिवार्य बनता जा रहा है। साख वाणिज्य का जीवन और आधुनिक व्यापार का मूल आधार समझा जाता है। साख के बिना आधुनिक विशाल उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता था। साख द्वारा ही बड़ी-बड़ी कम्पनियां अपने अंश बेचकर वृहद् व्यापार चलाती हैं। साख-संस्थाओं से देशवासी बचत करके पूंजी का निर्माण करते हैं। साख द्वारा मूल्य-स्तरों के चढ़ाव-उतार संतुलित होकर स्थिर होते हैं और स्थायी बने रहते हैं। संक्षेप में साख वर्तमान सभ्यता का प्रतीक है। साख से समाज को कुछ दोष भी मिले हैं—साख से मनुष्य फिजूलखर्च बनता है, साख पर काम करने वाले व्यापारी कभी-कभी नष्टप्राय हो जाते हैं। साख से सट्टेबाजी बढ़ती है और मूल्यों में उच्चावचन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होते हैं। साख-व्यवस्था के कारण देश की अधिकांश पूंजी कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में इकट्ठी हो जाती है और पूंजीवाद के दोष आ जाते हैं।

साख का प्रभाव वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है। साख चाहे उत्पादन के काम के लिए दी जाय चाहे उपभोग के लिए उसका वस्तुओं के भावों पर प्रभाव पड़ता ही है। यही कारण है कि आजकल मूल्यस्तर को वश में करने के लिए साख-नियन्त्रण की आवश्यकता होती हैं और साख-नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक की मुख्य क्रियाओं में एक महत्त्वपूर्ण क्रिया मानी जाती है। साख की घटत-बढ़त के अनेक कारण होते हैं—(१) व्यापारिक एवं औद्योगिक परिस्थितियां, (२) जन-विश्वास एवं जन-सुरक्षा, (३) देश की आन्तरिक राजनीतिक हलचल एवं विदेशी परिस्थितियां, (४) सट्टेबाजी, (५) देश की मौद्रिक व्यवस्था।

हमारे देश में साख-व्यवस्था इतनी उन्नत नहीं है जितनी अमरीका तथा योरप के अन्य देशों में है। न तो हमारे देश में बहुतसी साख-संस्थाएं हैं और न साख-मुद्राओं का ही प्रचार है। साख-व्यवस्था को संगठित करके उन्नत करने के लिए जनता को साक्षर बनाने की महती आवश्यकता है जिससे वह साख का महत्त्व समझकर साख-मुद्रा का प्रयोग करने लगे। देश में बैंकों की संख्या भी बढ़नी चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

(१) साख से आप क्या समझते हैं? आधुनिक जगत में इसका क्या महत्त्व है? विस्तार पूर्वक समझाइए।

(२) 'साख उत्पत्ति का साधन नहीं है, वरन् उत्पादन की कार्यक्षमता बढ़ाता है'—इस कथन की विवेचना कीजिए।

(३) साख के लेन-देन से क्या-क्या लाभ और हानियां होती हैं? समझाकर लिखिए।

(४) साख-मुद्रा किसे कहते हैं? साख-मुद्रा का वर्गीकरण करते हुए प्रत्येक के लक्षण सोदाहरण लिखिए।

(५) निम्नलिखित के उत्तर व्याख्या सहित लिखिए:—
(अ) क्या साख पूंजी का निर्माण करती है?
(ब) क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है?

(६) साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(७) साख की घटत-बढ़त से आप क्या समझते हैं? साख के घटने-बढ़ने के क्या कारण होतें हैं?

(८) 'साख' में कौनसे विशेष तत्व निहित होते हैं? व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति के लिए साख का क्या महत्व है?

(९) 'भारत में साख-व्यवस्था' पर एक नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ६

मुद्रा का चलन-सिद्धान्त

ग्रेशम का नियम

प्रायः देखने में आता है कि कुछ सिक्के तथा नोट सरलता से स्वीकार कर लिये जाते हैं और वैसे ही दूसरे सिक्के या नोट उतनी सरलता से स्वीकार नहीं किए जाते। कुछ मुद्राएं बिना हिचकिचाहट के ले ली जाती हैं तथा कुछ को लेने में लोग आनाकानी करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक प्रकार के भिन्न-भिन्न सिक्कों और नोटों का चलन लोगों के पारस्परिक विश्वास और स्वीकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। इस बात को समझने के लिए ग्रेशम का नियम जानना आवश्यक है।

नियम का मूल स्वरूप

यदि किसी के पास एक ही धातु के एक जैसे दो सिक्के हों परन्तु उनमें से एक बिलकुल नया हो और दूसरा घिसकर कुछ पुराना या मैला पड़ गया हो तो वह व्यक्ति नए सिक्के को अपने पास रखना चाहता है और भुगतान करने में पुराने सिक्के को देने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार किसी के पास एक चांदी का सिक्का हो और दूसरा कागज का नोट हो तो स्वभावतः वह व्यक्ति चांदी के सिक्के को अपने पास रखता है और नोट के द्वारा भुगतान करके उसे चलन में डालने की चेष्टा करता है। यदि किसी के पास एक बिलकुल नया नोट हो और दूसरा मैला हो तो वह मैला नोट को पहिले चलाने का प्रयत्न करता है और यथाशक्ति नए नोट को अपने पास रखना चाहता है। इन उदाहरणों से यह बात सिद्ध होती हैं कि बुरी या दूषित मुद्राओं को लोग चलाने का प्रयत्न करते हैं और अच्छी या नई मुद्राओं को अपने पास बटोर कर रख लेतें हैं। यही ग्रेशम के नियम का मूल्य स्वरूप है। ग्रेशम रानी एलिजबेथ का अर्थ-सलाहकार था। उसी ने इस सिद्धान्त को सबसे पहिले नियमबद्ध किया था। वैसे तो यह बात उसके पता लगाने से पहले भी थी पर वैज्ञानिक ढंग पर शोध करके नियम रूप में इस पद्धति को सबसे पहले उन्होंने ही समझाया था। अतः इसे ग्रेशम का नियम कहतें हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्रेशम का नियम इस प्रकार है—"बुरी मुद्रा में अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति होती है" (Bad money tends to drive good money out of circulation.) ।

'बुरी' एवं 'अच्छी' मुद्राएं

बुरी मुद्रा का अर्थ यहां केवल खोटी मुद्रा से ही नहीं है वरन् उस मुद्रा से भी है जो अपने जैसी अन्य मुद्राओं की अपेक्षा तौल में कम हो या रूप, रंग और आकृति में अपेक्षाकृत बुरी हो, मैली हो, घिसी हो अथवा कटी-फटी हो। यही नहीं, यदि दो धातुओं की दो प्रकार की मुद्राएं देश में चलती हों और उनकी पारस्परिक विनिमय-दर कानून द्वारा निश्चित हो तो बाजार-दर पर कम मूल्य की मुद्रा बुरी मुद्रा कही जायगी और उसके अनुपात में अधिक मूल्य की मुद्रा अच्छी मुद्रा कहलाएगी।*

नियम की विचित्रता

ग्रेशम के नियम में एक बड़ी विचित्रता प्रतीत होती है। सामान्यतः देखा जाता है कि व्यक्ति अच्छी वस्तु को काम में लाते हैं और बुरी वस्तु का बहिष्कार कर देते हैं। उदाहरणार्थ, लोग अच्छी-अच्छी वस्तुएं खाने के काम लाते हैं और सड़ी-गली वस्तुएं फेंक देते हैं। इसी प्रकार अच्छा कपड़ा पहिनने के काम लाते हैं और फटे-पुराने कपड़े का बहिष्कार कर देते हैं। पर मुद्रा के चलन में बात बिलकुल उल्टी होती है। बुरी मुद्राओं को लोग काम में लातें हैं और अच्छी मुद्राएं काम में न लाकर संग्रह कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि लोग अच्छी मुद्रा के बदले में अधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए उसे संग्रह कर लेतें हैं और भुगतान करने में पहिले बुरी मुद्रा काम में लाते हैं। लोग समझतें हैं कि भुगतान करने के लिए तो अच्छी और बुरी दोनों मुद्राएं समान हैं पर धातु-रूप में बेचने या विदेशों को निर्यात करने में अच्छी मुद्राओं का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक है। अतः बुरी मुद्राएं चलन में आ जाती हैं और अच्छी मुद्राएं चलन से बाहर होकर संग्रहित हो जाती हैं। मार्शल ने लिखा है कि 'यदि बुरी मुद्रा की मात्रा असीमित हो तो वह अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।' मार्शल का कथन है कि यदि बुरी मुद्रा की मात्रा सीमित हुई और अच्छी तथा बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएं मिलकर लोगों की मौद्रिक आवश्यकताओं से कम हुईं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल सकेगी। परन्तु यदि बुरी मुद्रा की मात्रा

* ग्रेशम का नियम भली भांति समझने के लिए विद्यार्थियों को बुरी और अच्छी मुद्राओं का अर्थ भली भांति समझ लेना चाहिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

असीमित हुई तो वही मद्रा भुगतान के लेन-देन में काम आती रहेगी और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जायगी।

नियम के विभिन्न रूप

ग्रेशम का नियम विभिन्न मुद्रा-प्रणालियों में तीन प्रकार से लागू होता है:—

(१) **एक-धातुवाद एवं ग्रेशम का नियम**—जब किसी देश में एक-धातुवाद माना जाता हो अर्थात् एक ही धातु के सिक्के चलाए जाते हों तो उनमें से कुछ सिक्के नए और पूरी तोल के होते हैं तथा कुछ पुराने, मैले और घिसे होते हैं। इनमें नए और पूरी तोल के सिक्के अच्छी मुद्रा कहलाएंगे और पुराने तथा कम तोल के सिक्के बुरी मुद्रा होंगे। प्रत्येक व्यक्ति पुराने सिक्कों में भुगतान करेगा और नए सिक्कों को भविष्य के लिए संग्रह करके रखेगा। इस प्रकार बुरी मुद्राएं अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देंगी।

हमारे देश में इसी रूप में यह नियम लागू हुआ है। युद्ध से पहिले ऐसे रुपये चलते थे जिनमें $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी थी परन्तु युद्धकाल में इससे कम मात्रा की चांदी के रुपये चलाए गए। अतः अधिक चांदी वाले सिक्कों का लोप होता गया और कम चांदी वाले रुपये चलन में आते गए।

(२) **द्विधातुवाद एवं ग्रेशम का नियम**—जब किसी देश में द्विधातुवाद माना जाता हो अर्थात् दो धातुओं के सिक्के अलग अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में एक साथ चलते हों और उनकी पारस्परिक विनिमय-दर भी निश्चित हो तब भी ग्रेशम का नियम लागू होता है। बाजार में उन दोनों सिक्कों की धातुओं का मूल्य समय-समय पर बदलता रहेगा। जिससे उन दोनों सिक्कों की बाजार-दर उनकी पारस्परिक कानूनी-दर से भिन्न रहेगी। इस प्रकार वे सिक्के, जिनका बाजार में धातु-मूल्य कम हो उन सिक्कों को जिनका धातु-मूल्य बाजार में अधिक हो, चलन से बाहर कर देंगे क्योंकि अधिक मूल्यवाली धातु के सिक्कों को लोग गला-गलाकर बेचने लगेंगे।

उदाहरणार्थ, किसी देश में सोने और चांदी के सिक्के चलते हैं और उनकी पारस्परिक कानूनी दर १ सोने का सिक्का = १६ चांदी के सिक्के हैं। यदि बाजार में चांदी का भाव बढ़ जाय और १ सोने के सिक्के में केवल १५ चांदी के सिक्के मिलने लगें तो इसका अर्थ यह होगा कि दोनों सिक्कों की कानूनी-दर और बाजारू दर में विषमता है। ऐसी स्थिति में चांदी के सिक्के का बहुमूल्यन कहा जायगा और सोने के सिक्के का अवमूल्यन कहा जायगा। प्रत्येक व्यक्ति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चांदी के १६ सिक्के देकर सोने का एक सिक्का लेने के बजाय अब चांदी के १५ सिक्के गलाकर बाजार से उस चांदी के बदले में सोने का एक सिक्का खरीदने लगेगा और इस प्रकार उसे चांदी के एक सिक्के की बचत हो जायगी। अतः चांदी के सिक्के गलने लगेंगे और मुद्रा-रूप में केवल सोने के सिक्के ही रह जायंगे। इस प्रकार द्विधातुवाद में ग्रेशम का नियम लागू होगा।

इंगलैंड में एडवर्ड प्रथम के राज्यकाल में लगभग ऐसा ही हुआ था। उस समय वहां सोने के फ्लारिन्स तथा चांदी के शिलिंग चलते थे और उनकी कानूनी विनिमय-दर १ फ्लारिन=६ शि० थी। पर बाजार में सोने का भाव ऊंचा होने के कारण उन सिक्कों की बाजार-दर १ फ्लारिन=७ शि० हो गई। लोग फ्लारिन को गला-गलाकर धातु-रूप में बेचने लगे और केवल शिलिंग ही मुद्रा के रूप में शेष रह गए।

(३) मिश्रित मौद्रिक पद्धति एवं ग्रेशम का नियम—जब किसी देश में सिक्के और नोट दोनों चलते हों और दोनों ही असीमित कानूनी मुद्रा हों तो नोट सिक्कों को चलन से बाहर करते रहेंगे। लोग नोटों के द्वारा ही लेन-देन का काम करेंगे और सिक्कों को संग्रह करते रहेंगे।

युद्ध काल में जब हमारे देश में रुपये के सिक्के तथा नोट चलने लगे तो शनैः-शनैः रुपयों का चलन बन्द होता गया और नोटों की संख्या बढ़ती गई।

अब प्रश्न यह उठता है कि अच्छी मुद्रा क्यों और कैसे चलन से बाहर निकल जाती है? अच्छी मुद्रा को लोग मुद्रा के रूप में प्रयोग न करके निम्न प्रकार से प्रयोग करने लगते हैं:—

(अ) इनको गलाकर धातु रूप में बेच देते हैं, या
(ब) संचित करके संग्रह करने लगते हैं, अथवा
(स) विदेशी भुगतान चुकाने में विदेशों को निर्यात कर देते हैं।

जब किसी सिक्के का धातु-मूल्य उसके अंकित-मूल्य से अधिक होता है तो उसे गलाकर धातु-रूप में बेचा जाने लगता है जिससे वह चलन से बाहर हो जाता है। जब कभी मुद्रा संचित करना होता है तो स्वभावतः अच्छी और पूरी तोल की मुद्राओं का संग्रह किया जाता है और बुरी मुद्राएं चलन में डाल दी जाती है। इस प्रकार अच्छी मुद्राएं चलन से बाहर निकल जाती हैं। विदेशी भुगतान चुकाने में भी अच्छे सिक्के ही काम आते हैं। विदेशों में अपनी मुद्राओं का कोई मूल्य नहीं होता—वहां पर अपनी मुद्राएं अंकित-मूल्य पर न चलकर केवल धातु-मूल्य पर ली जाती हैं। अतः विदेशी भुगतान चुकाने में अच्छे और पूरी तोल के सिक्के ही निर्यात किए जाते हैं और इस प्रकार वे चलन से बाहर निकल जाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नियम के अपवाद

ग्रेशम का नियम समाज की सभी परिस्थितियों में सत्य नहीं है। उसके कुछ अपवाद हैं जो यहां दिए जाते हैं:—

(१) देश में वाणिज्य, उद्योग और व्यवसाय के लेन-देन में मुद्रा की आवश्यकता होती है। यदि किसी समय देश में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राओं की कुल संख्या इनकी आवश्यकताओं से कम या इनके ठीक बराबर हुई तो दोनों प्रकार की मुद्राएं चलन में बनी रहेंगी और उस स्थिति में ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा।

(२) यदि बुरी मुद्रा इतनी घटिया और खराब हो जाय कि लोग उसको स्वीकार ही न करें तो वह मुद्रा चलन में नहीं रह सकेगी। उस परिस्थिति में अच्छी मुद्राओं को ही काम में लाना पड़ेगा, और ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा। युद्ध आदि संकट के समय यदि सरकार अ-परिवर्तनीय नोट चलाए और लोगों को उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य करे तो संकट समाप्त होने पर लोग उन नोटों को लेना बन्द कर देंगे और अच्छी मुद्रा की मांग बढ़ जायगी। अतः तब यह नियम लागू नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि बुरी मुद्रा का चलन लोगों की मानसिक प्रवृत्ति तथा उनकी प्रकृति पर निर्भर होती है। यदि किसी समय लोग बुरी मुद्रा को न लेने पर तुल जायं और न लेने का दृढ़ निश्चय कर लें तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकती। अमेरिका ने गृह-युद्ध के संकट काल में अ-परिवर्तनीय नोट चलाए। ये नोट देश भर में सब जगह स्वीकार किए जाते थे पर केलीफोर्निया के निवासियों ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। वहां ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो सका।

(३) जब अच्छी मुद्राओं का वास्तविक मूल्य उनके अंकित-मूल्य से कम होता है तब भी अच्छी मुद्राएं चलन से बाहर नहीं होतीं। किसी भी मुद्रा का चलन से बाहर होने का मूल कारण यह है कि उसका मौद्रिक मूल्य कम हो जाता है और अन्य मूल्य (धातु-मूल्य, वास्तविक-मूल्य या अन्य कोई मूल्य) अधिक होता है जिससे लोग उन्हें मुद्रा के रूप में न चलाकर अन्य कामों में लगा देते हैं। गत युद्धकाल में भारत सरकार ने छेदवाला पैसा चलाया था। सरकार का उद्देश्य था कि इस प्रकार तांबे की बचत होगी। परन्तु लोग इस पैसे को 'वाशर' के काम लाने लगे और धीरे-धीरे इसका लोप होने लगा। अन्त में सरकार को यह सिक्का बनाना बंद ही करना पड़ा। इससे यह बात सिद्ध होती है कि ग्रेशम का नियम तब भी लागू होता है जब किसी मुद्रा का वास्तविक मूल्य उसके मौद्रिक मूल्य से अधिक हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) यदि कभी बुरी मुद्रा का अपभूल्यन शनैः-शनैः इस प्रकार किया जाय कि जनता उसे समझ न पाये, तो ऐसी स्थिति में यह नियम उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक अपमूल्यन जनता की समझ में नहीं आता।*

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि ग्रेशम का नियम मानव-जीवन के एक स्वाभाविक सिद्धान्त का अंग है। स्वाभाविक सिद्धान्त यह है कि प्रतियोगी समाज में प्रत्येक मनुष्य कम से कम व्यय करके अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जब दो प्रकार की मुद्राएं चलन में हों तो मनुष्य उन दोनों के द्वारा अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए बुरी मुद्रा को उसके अंकित मूल्य पर और अच्छी मुद्रा को उसके वास्तविक मूल्य पर प्रयोग करने की चेष्टा करता है। ऐसा करने में बुरी मुद्राएं चलन में आ जाती हैं और अच्छी मुद्राएं चलन से बाहर हो जाती हैं।

ग्रेशम का नियम और योरप

प्रथम युद्धकाल तथा उसके पश्चात् योरपीय देशों ने सोने और चांदी के सिक्कों के साथ-साथ अपरिवर्तनीय नोट भी चलाए थे। परिणाम यह हुआ कि वहां ग्रेशम के नियम के अनुसार सोने और चांदी की मुद्राएं चलना बन्द होता गया और केवल कागज के नोट ही चलन में रह गए। इंगलैंड में भी उस समय ट्रेजरी नोट चलाए गए थे। इनके चलते ही सोने के सिक्के चलन से बाहर हो गए और इस प्रकार वहां यह नियम लागू होता रहा।

भारत और ग्रेशम का नियम

भारत में ग्रेशम का नियम समय-समय पर लागू होता रहा है। १९वीं शताब्दी के अन्त में तथा इस शताब्दी के आरम्भ में यहां चांदी के रुपये तथा सोने के सावरेन चलते थे। सोने के सावरेन का अंकित-मूल्य उसके धातु-मूल्य से अधिक था। परिणाम यह होता था कि सावरेनों को लोग गलाकर आभूषण बनाने के काम में लाते थे या संग्रह कर लेते थे या विदेशों में निर्यात कर देते थे। इस प्रकार सावरेन चलन से बाहर होते गए और केवल चांदी के सिक्के या नोट ही चलन में रह गए।

द्वितीय विश्व युद्धकाल में चांदी की कमी के कारण सरकार ने नए रुपयों में चांदी की मात्रा कम कर दी जिससे देश में दो प्रकार के रुपये हो गए।

---

* Bad money will not drive out good if the depreciation of the currency is so gradual as not to be noticed by the public until it has reached an advanced stage.

—*Thomas*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अधिक चांदीवाले रुपयों को लोग संग्रह करने लगे या गलाकर बेचने लगे और कम चांदीवाले रुपये ही चलन में रह गए। उस समय सरकार ने अपरिवर्तनीय नोट भी चलाए। तब इन नोटों और चांदी के सिक्कों में प्रतियोगिता होने लगी। चांदी के सिक्के चलन में कम होते गए और नोटों की मात्रा बढ़ती गई। नोटों ने सिक्कों को विचलित कर दिया। पहले दो प्रकार की चवन्नी और दुवन्नी थीं—एक चांदी की थी और दूसरी गिलट की। गिलट की चवन्नियों-दुवन्नियों ने चांदी के सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया। छेद वाले पैसे के साथ भी यही हुआ। एक रुपये के नोट तथा पांच, दस या सौ रुपये के नोटों के साथ भी कुछ-कुछ ऐसा ही देखने में आता है। एक रुपये के नोट चलन में बढ़ते गए और अन्य नोट चलन से दूर होते गए। आज चांदी के रुपये देखने भर को नहीं मिलते और एक रुपये के नोट अनाप सनाप चलते हैं। पैसे के सिक्के भी अब उतनी संख्या में नहीं दिखाई देते।

सरकार द्वारा मुद्राओं के चलन पर रोक

देश की सरकार को अधिकार होता है कि वह किसी भी प्रकार की मुद्रा को चलने से रोक दे। ऐसा करने से पहले सरकार को देश की आवश्यकताओं और देशवासियों के हित का अध्ययन करना आवश्यक होता है। सरकार घिसे हुए सिक्कों और फटे हुए नोटों को वापस ले लेती है। हमारे देश में इनको रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के कार्यालय पर जाकर वापस करके बदले में नए सिक्के व नोट लिए जा सकते हैं। सरकार जाली सिक्कों व नोटों को वापस नहीं लेती। सिक्के उस समय तक घिसे हुए नहीं समझे जाते जब तक कि वे कानूनी तौल से २% से अधिक कम न हों। दो प्रति शत तक की कमी स्वाभाविक घिसावट मानी जाती है। पर इससे अधिक घिसावट हो तो सरकार वापस लेकर नया सिक्का चला देती है।

सरकार कभी-कभी देश के हित में अच्छी मुद्राओं को भी चलने से रोक सकती है। १ मई १९४३ से विक्टोरिया और एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियां सरकार ने बन्द कर दिए थे और १ नवम्बर १९४३ से जार्ज पंचम और जार्ज छठे वाले वे रुपये और अठन्नियां बन्द कर दिए जिनमें $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी का था। इसी प्रकार १२ जनवरी १९४६ से ५००, १००० और १०,००० रुपये के नोट बन्द कर दिए गए। इस प्रकार मुद्रा को चलने से रोकने के लिए सरकार जनता को कुछ समय देती है जिसके अन्दर वे उनको वापस करके अन्य प्रकार की मुद्राएं ले सकें। यदि उस अवधि के अन्तर्गत ये मुद्राएं वापस नहीं की जातीं तो वे गैर-कानूनी हो जाती हैं और इसके पश्चात्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वे मुद्रा के रूप में नहीं चल सकतीं। सरकार की इस क्रिया को 'मुद्रा का विमुद्रीकरण' कहते हैं।

सारांश

ग्रेशम का नियम है—"बुरी मुद्रा में अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति होती है।" बुरी मुद्रा का अर्थ केवल खोटी मुद्रा से ही नहीं है वरन् उस मुद्रा से भी है जो अपने जैसी अन्य मुद्राओं की अपेक्षा तोल में कम हो तथा रूप-रंग और आकृति में अपेक्षाकृत बुरी हो, मैली हो, घिसी हो अथवा कटी-फटी हो। यही नहीं, यदि दो धातुओं की दो प्रकार की मुद्राएं समान अधिकार से देश में चलती हों और उनकी पारस्परिक विनिमय-दर विधान द्वारा निश्चित हो तो बाजार-दर पर कम मूल्य की मुद्रा बुरी मुद्रा कही जायगी और उसके अनुपात में अधिक मूल्य की मुद्रा अच्छी मुद्रा कही जायगी। ग्रेशम का नियम विभिन्न मुद्रा-प्रणालियों में तीन प्रकार से लागू होता है—एक-धातुवाद के अन्तर्गत पुराने, मैले और घिसे हुए सिक्के नए और पूरी तोल के सिक्कों को चलन से बाहर कर देते हैं। द्विधातुवाद के अन्तर्गत बाजार-दर पर कम मूल्य के सिक्के बाजार-दर पर अधिक मूल्य के सिक्कों को चलन से बाहर कर देते हैं। मिश्रित मौद्रिक पद्धति के अन्तर्गत नोटों में सिक्कों को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति होती है। अच्छी मुद्राएं या तो गलाकर धातु-रूप में बेची जाने लगती हैं, या लोग उन्हें संग्रह कर लेते हैं या विदेशी भुगतान में निर्यात कर दी जाती हैं।

कुछ भी हो, ग्रेशम का नियम इन परिस्थितियों में लागू नहीं होता—(१) जब देश में अच्छी और बुरी मुद्राएं मिलाकर देश की मौद्रिक आवश्यकताओं से कम हों या ठीक बराबर हों, (२) जब बुरी मुद्रा इतनी घटिया और खराब हो जाय कि लोग उन्हें स्वीकार ही न करें, (३) जब अच्छी मुद्राओं का वास्तविक मूल्य उनके अंकित मूल्य से कम हो, (४) जब बुरी मुद्रा का अपमूल्यन शनैः-शनैः इस प्रकार हो कि जनता उसे समझ ही न पाय।

ग्रेशम का नियम समय-समय पर योरप और एशिया के विभिन्न देशों में लागू होता रहा है। हमारे देश में यह नियम प्रथम युद्धकाल और द्वितीय युद्धकाल में लागू हुआ है। द्वितीय युद्धकाल में नोटों ने सिक्कों को विचलित कर दिया। इसी प्रकार नए रुपये के सिक्कों ने पुराने सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया। छेद वाले पैसे के साथ भी यही हुआ। कहना न होगा कि सरकार भी कभी-कभी देश-हित में मुद्राओं का चलन बन्द कर सकती है। युद्धकाल में सरकार ने चांदी के रुपयों और १०० रुपये से अधिक राशि वाले नोटों का चलन हमारे यहां बन्द कर दिया था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'ग्रेशम का नियम' क्या है ? विभिन्न मुद्रा-प्रणालियों में यह किस प्रकार लागू होता है ?

(२) "बुरी मुद्रा में अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है"। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

(३) ग्रेशम के नियम के अपवाद लिखिए। कौनसी परिस्थितियों में यह नियम लागू नहीं होता ? समझाकर लिखिए।

(४) द्विधातुवाद में ग्रेशम का मुद्रा का चलन-सिद्धान्त किस प्रकार लागू होता है ? उदाहरण सहित समझाइए।

(५) भारत में ग्रेशम का नियम कैसे-कैसे लागू होता रहा है ? ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते हुए उत्तर दीजिए।

(६) सरकार वैधानिक मुद्राओं पर भी क्यों और कैसे प्रतिबन्ध लगा सकती है ? क्या हमारे देश में इस प्रकार की कोई घटनाएं हुई हैं ? ब्यौरेवार लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ७

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा का मूल्य

मुद्रा के 'मूल्य' का अर्थ मुद्रा की विनिमय-शक्ति है जिससे मुद्रा के बदले में वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त की जाती हैं। वस्तुओं के अनुपात में मुद्रा की विनिमय-शक्ति को मुद्रा का मूल्य कहते हैं। जिस प्रकार कपड़ा, गेहूं आदि वस्तुओं के भाव मुद्रा में व्यक्त किए जाते हैं उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य वस्तुओं में व्यक्त किया जाता है। जब यह कहते हैं कि कपड़े का भाव पहिले की अपेक्षा बढ़ गया तो सामान्यतः इसका अर्थ यह होता है कि उतने ही कपड़े के बदले में अब पहिले की अपेक्षा अधिक मुद्रा मांगी जाने लगी है। इसी प्रकार जब यह कहें कि मुद्रा का मूल्य बढ़ गया तो यह अर्थ होता है कि उतनी ही मुद्रा में अब पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएं या सेवाएं मिलने लगी हैं। कहना न होगा कि वस्तुओं के भाव मुद्रा में व्यक्त किए जाते हैं और मुद्रा का मूल्य वस्तुओं में स्पष्ट किया जाता है। अतः मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में कोई न कोई पारस्परिक संबंध अवश्य है। प्रो० सेलिग्मैन ने कहा है—"मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य में कोई फेर-बदल न हो तब तक वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर में कोई परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।" क्राउथर नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है—"मुद्रा तथा वस्तुओं के पारस्परिक मूल्यानुपात को भाव कहते हैं—इन भावों में मुद्रा की घटा-बढ़ी के कारण या वस्तुओं की घटा-बढ़ी के कारण परिवर्तन होते रहते हैं।" मुद्रा का मूल्य सदैव एकसा नहीं रहता। समय-समय और स्थान-स्थान पर यह बदलता रहता है। कभी मूल्य नीचा होता है और कभी ऊंचा, और इसी प्रकार उसमें चढ़ाव-उतार होते रहते हैं। जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएं खरीद पाती है तो मुद्रा का मूल्य ऊंचा कहा जाता है और वस्तुओं के भाव गिरे हुए माने जाते हैं। इसके विपरीत जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा कम वस्तुएं खरीद पाती है तो कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव बढ़ गए। प्रश्न यह है कि मुद्रा का मूल्य क्यों और कैसे घट-बढ़ जाता है? इसके उत्तर में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त जानना आवश्यक है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त—व्याख्या

जिस प्रकार वस्तुओं के भाव वस्तुओं की मांग और प्रदाय पर निर्भर होते हैं उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मांग और प्रदाय से निश्चित होता है। यदि किसी समय वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे पर मुद्रा की प्रदाय पहले की अपेक्षा बढ़ जाय तो अब उतनी ही वस्तुओं के लिए अधिक मुद्रा दी जाने लगेंगी। परिणामतः मुद्रा का मूल्य गिर जायगा और वस्तुओं के भाव ऊंचे समझे जायंगे। इसके विपरीत यदि वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे और मुद्रा की प्रदाय पहले की अपेक्षा कम हो जाय तो उस परिस्थिति में उतनी ही वस्तुओं के लिए कम मुद्रा दी जाने लगेंगी। परिणामतः मुद्रा का मूल्य बढ़ा माना जायगा और वस्तुओं के भाव नीचे समझे जायंगे। उदाहरणार्थ, दस वस्तुएं हों और उनको खरीदने के लिए दस ही रुपये हों। यदि सभी वस्तुएं विकने के लिए बाजार में आवें, उनका एक ही बार क्रय-विक्रय हो और सभी रुपये केवल एक ही बार व्यय किये जायं तो एक वस्तु का औसत मूल्य एक रुपया होगा। अब यदि वस्तुएं उतनी ही रहें पर रुपये दुगुने हो जायं तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य २ रुपये होगा। रुपये की क्रय-शक्ति आधी हो जायगी। इसके विपरीत यदि वस्तुएं उतनी ही रहें पर चलन में रुपये आधे रह जायं तो एक रुपये में दो वस्तुओं का विनिमय होगा। रुपये की क्रय-शक्ति अब दुगुनी हो जायगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि मद्रा का परिमाण बढ़ जाय परन्तु उससे विनिमय की जानेवाली वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे तो मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव चढ़ जाते हैं। यदि मुद्रा का परिमाण कम हो जाय पर उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम न हो तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं। संक्षेप में यही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है। प्रो० मिल ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—"यदि अन्य परिस्थितियां यथाविधि बनी रहें, तो जिस दिशा में मुद्रा का परिमाण घटता-बढ़ता है, ठीक उसकी विपरीत दिशा में मुद्रा का मूल्य क्रमशः बढ़ता-घटता है"। मुद्रा की जितनी मात्रा बढ़ती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य कम हो जाता है और मुद्रा की जितनी मात्रा घटती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य बढ़ जाता है। यथाविधि परिस्थितियों में, चालू-मुद्रा की मात्रा में घटा-बढ़ी होने से वस्तुओं के मूल्य-स्तर में उसके अनुकूल उसी दिशा में परिवर्तन होता है। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़े तो वस्तुओं के मूल्य-स्तर भी बढ़ते हैं और मुद्रा की मात्रा घटने पर वस्तुओं के मूल्य-स्तर घटते हैं। वैसे तो वस्तुओं की प्रदाय बढ़ने से उनके मूल्य-स्तर गिरते हैं परन्तु यह निश्चित नहीं कि यह घटा-बढ़ी किस अनुपात में होती है। यदि वस्तुओं की प्रदाय पहले की अपेक्षा दुगुनी हो जाय तो आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं के भाव आधे रह जायं। मुद्रा के साथ यह बात नहीं होती। मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा के मूल्य में घटा-बढ़ी एक निश्चित अनुपात में होती है। यदि चलन में मुद्रा की मात्रा पहले की अपेक्षा दुगुनी कर दी जाय तो, यथाविधि परिस्थितियों में, मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा और वस्तुओं के मूल्य-स्तर दुगुने हो जायंगे। इसी प्रकार यदि चलन में मूद्रा की मात्रा आधी कर दी जाय तो, यथाविधि परिस्थितियों में, मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा और वस्तुओं के भाव आधे रह जायंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में विपरीत सम्बन्ध होता है।"

सिद्धान्त की व्याख्या करते समय "यथाविधि परिस्थितियों" का उल्लेख किया गया है। इन परिस्थितियों से हमारा अर्थ यह है कि—

(अ) मुद्रा के चलन की गति में कोई परिवर्तन न हो।

(ब) देश में उधार लेन-देन की प्रथा न हो।

(स) वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-वदल न हो।

(द) विक्रय को आई हुई सब वस्तुएं मुद्रा के बदले में विकें, उनका पारस्परिक एक दूसरे से अदल-वदल न हो।

(य) वस्तुओं के उत्पादन, देश की जनसंख्या एवं प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई हेर-फेर न हो।

सिद्धान्त की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि उक्त परिस्थितियां यथाविधि बनी रहें। यदि मुद्रा की चलन की गति में कोई फेर-वदल हुई तो मुद्रा की प्रदाय पर उसका प्रभाव पड़ेगा और सम्भव है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू न हो। इसी प्रकार यदि देश में उधार लेन-देन की प्रथा हो, या वस्तुओं का परस्पर विनिमय होता हो अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-वदल हुई तो सम्भव है मुद्रा की मात्रा बढ़ने से वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव न पड़े। यदि मुद्रा की प्रदाय बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ता गया या जनसंख्या वढ़ती गई तो भी मुद्रा की प्रदाय का उसके मूल्य पर या वस्तुओं के भाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः यदि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को सही बनाए रखना है तो आवश्यक है कि उक्त परिस्थितियां यथाविधि बनी रहें। परन्तु वर्तमान काल में जव समाज और देश की परिस्थितियां नई-नई करवटें ले रही हैं और मानव-स्वभाव भी बदल रहा है उक्त परिस्थितियों का यथाविधि रहना सदैव सम्भव नहीं है। अतः सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जाने लगी है :—

"यथाविधि परिस्थितियों में, यदि चालू मुद्रा के परिमाण और उसके चलन की गति में कोई परिवर्तन हो तो वस्तुओं का औसत मूल्य भी सामान्यतः उसके साथ-साथ ठीक उसी दिशा में और उसी अनुपात में बदलेगा। यदि मुद्रा की मांग में कोई परिवर्तन होगा तो वस्तुओं का मूल्य सामान्यतः उसकी विपरीत दिशा में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और विपरीत अनुपात में बदलेगा।" यहां मुद्रा की मांग और प्रदाय को वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तन का मूल आधार माना गया है। अतः मुद्रा की मांग और प्रदाय का अर्थ भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

मुद्रा की मांग

मुद्रा की माग वस्तुएं और सेवाएं खरीदने के लिए होती हैं। जब वस्तुएं और सेवाएं बिकने के लिए बाजार में आती हैं तभी उनको खरीदने के लिए मुद्रा की मांग बन जाती है और ज्यों-ज्यों विक्री के लिए वस्तुएं बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों मुद्रा की मांग में भी वृद्धि हो सकती है। संक्षेप में, मुद्रा की मांग विक्री को आई हुई वस्तुओं में निहित होती है। यदि किसी समय बिकने को आई हुई वस्तुओं की मात्रा पहले की अपेक्षा बढ़ जाय, पर मूल्य वही रहें, तो मुद्रा की मांग बढ़ जायगी। इसी प्रकार जब बिकने को आई हुई वस्तुओं की मात्रा पहले की अपेक्षा कम हो जाय, पर मूल्य वही रहें, तो मुद्रा की मांग घट जायगी। अतः 'मुद्रा की मांग' का तात्पर्य मुद्रा से होनेवाले क्रय-विक्रय के लेन-देन से होता है। मुद्रा की सहायता से किसी निश्चित मूल्यों पर वस्तुओं और सेवाओं की जितनी खरीद-बेच होती है वह सब मुद्रा की मांग होती है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय से जो लेन-देन होता है उससे मुद्रा की मांग नहीं बनती। मुद्रा की मांग तो उन वस्तुओं में निहित होती है जिनका क्रय-विक्रय मुद्रा के माध्यम द्वारा होता है। मुद्रा की सहायता से होनेवाले व्यापारिक क्रय-विक्रय को मुद्रा की मांग कहते हैं।

प्रो० फिशर ने समीकरण द्वारा मुद्रा की मांग को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

मुद्रा की मांग = औसत मूल्य × वस्तुओं का कुल लेन-दन

अर्थात् **मुद्रा की मांग** = मू × व

किसी देश में मुद्रा की मांग अर्थात् मुद्रा के माध्यम द्वारा विनिमय की जानेवाली वस्तुओं का लेन-देन उसी समय स्थायी रहता है जब—

(अ) वहां की जनसंख्या में कोई परिवर्तन न हो।

(ब) प्रतिव्यक्ति वस्तुओं के उत्पादन में कोई फेर-बदल न हो।

(स) उत्पादकों द्वारा उपभोग की जानेवाली वस्तुओं में कोई हेर-फेर न हो।

(द) एक दूसरे से अदल-बदल की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में कोई फेर-बदल न हो।

यदि किसी समय देश की जनसंख्या के बढ़ने के कारण उत्पादन बढ़ जाय तो मुद्रा की मांग भी बढ़ सकती है। इसी प्रकार प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ने के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कारण या अन्य किसी कारण से मुद्रा के बदले में बेचे जानेवाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ जाय तो मुद्रा की मांग भी बदलने लगेगी। यदि मुद्रा की मांग स्थायी रहे और उसकी प्रदाय में फेर-बदल हो तो मुद्रा का मूल्य भी बदलता रहेगा—प्रदाय बढ़ने पर मूल्य गिरेगा और प्रदाय कम होने पर मूल्य बढ़ेगा।

मुद्रा की प्रदाय

सामान्यतः 'मुद्रा की प्रदाय' का अर्थ उस मुद्रा से होता है जो विनिमय-माध्यम के काम आने के लिए हो अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय हो सके। मुद्रा की प्रदाय का अर्थ प्रसारित मुद्रा की मात्रा से नहीं होता क्योंकि उसमें से सभी मुद्रा विनिमय-माध्यम के काम नहीं आतीं वरन् उनमें से कुछ को लोग संग्रह करके निठल्ली बना देते हैं। अतः केवल विनिमय-माध्यम के काम आनेवाली चालू मुद्रा की मात्रा को ही मुद्रा की प्रदाय मानना चाहिए। इसमें सभी प्रकार की मुद्राओं—धातु-मुद्रा, पत्र-मुद्रा एवं साख-मुद्रा—को सम्मिलित कर लेना चहिए। मिल नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है—"किसी भी समय मुद्रा की जितनी भी मात्रा चलन में होती है वह सब मुद्रा की प्रदाय कहलाती है।" इसी प्रकार जितनी भी वस्तुएं बिक्री के लिए होती हैं वे सब मिलकर मुद्रा की मांग बनाती हैं।

किसी भी समय देश में मुद्रा की प्रदाय का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। चालू सिक्कों और नोटों की संख्या ज्ञात करके उनकी प्रदाय का तो अनुमान लगाया जा सकता है। पर साख-मुद्रा—चैक, बिल आदि के द्वारा जो विनिमय का काम होता है, उसकी मात्रा ज्ञात करना संभव नहीं। इसमें एक और कठिनाई भी है। मुद्रा की प्रदाय का अनुमान लगाने के लिए हमें मुद्रा के चलन की गति या मुद्रा की कार्य कुशलता का पता लगाना होगा। जितनी तेजी के साथ जितनी अधिक विनिमय-क्रियाएं कोई मुद्रा करे उतने ही गुनी मुद्रा की प्रदाय बढ़ जाती है। मुद्रा की चलन की गति का पता लगाना कि किसी सिक्के, नोट या चैक ने कितनी विनिमय-क्रियाएं कीं, संभव नहीं है। फिर, मुद्रा के चलन की गति समय-समय पर बदलती भी रहती है। जब मुद्रा के परिमाण में कोई फेर-बदल हो तो उसका प्रभाव चलन की गति पर भी पड़ता है। जब कभी देश में आन्तरिक संकट हो, राजनीतिक झंझट हो अथवा आर्थिक हलचल हो तो मुद्रा की प्रदाय में कमी होने लगती है और जब व्यापार उन्नत हो एवं आर्थिक व्यवस्था संगठित हो तो मुद्रा की प्रदाय बढ़ने लगती है।

प्रो० फिशर ने मुद्रा की प्रदाय को समीकरण द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है:—

मुद्रा की प्रदाय = चालू मुद्रा की मात्रा × मुद्रा के चलन की गति

अर्थात् **मुद्रा की प्रदाय = मु × ग**

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रो० फिशर का समीकरण

प्रोफेसर इर्विंग फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को समीकरण रूप में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि समाज में किसी भी समय समूचा व्यय समूचे विक्रय-मूल्य के बराबर होता है* अर्थात् किसी भी समय जनता जितना व्यय करती है वह व्यय-राशि उतने ही समय में विक्रय-राशि के बराबर होती है। एक ओर जितना व्यय करते हैं, दूसरी ओर दूकानदार उतने ही मूल्य की बिक्री करते हैं। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि कुल बिक्री का मूल्य=कुल व्यय किए गए मूल्य के। कुल बिक्री के मूल्य का समीकरण है (मू×व) और कुल व्यय किए गए मूल्य का समीकरण है (मु×ग)। अतः प्रो० फिशर ने इस प्रकार समीकरण निर्धारित किया है:—

$$\text{मू} \times \text{व} = \text{मु} \times \text{ग}$$

$$\text{मू} = \frac{\text{मु} \times \text{ग}}{\text{व}}$$

मू = वस्तुओं का औसत मूल्य।
व = वस्तुओं का कुल लेन-देन।
मु = चालू-मुद्रा का परिमाण।
ग = मुद्रा के चलन की गति।

इस समीकरण से मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त व्यक्त होता है कि यदि 'ग' और 'व' जैसे के तैसे (यथाविधि) बने रहें तो 'मू' और 'मु' में एक ही दिशा में परिवर्तन होंगे। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा के परिमाण (मु) में कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य (मू) उसी दिशा में बदलेंगे, यदि मुद्रा के चलन की गति में कोई परिवर्तन हुआ तो भी वस्तुओं के मूल्य उसी दिशा में बदलेंगे परन्तु यदि वस्तुओं के कुल लेन-देन (व) में कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य उसकी विपरीत दिशा में बदलेंगे।

उक्त समीकरण में 'मू' और 'मु'[(वस्तुओं के मूल्य और मुद्रा का परिमाण) मुख्य हैं तथा 'ग' और 'व' अन्य सहायक परिस्थतियों के संकेत हैं। यदि ये अन्य परिस्थितियां यथाविधि बनी रहें तो 'मु' में परिवर्तन होने से 'मू' में भी उसी दिशा में परिवर्तन होंगे। यदि अन्य परिस्थितियों में भी मुद्रा के परिमाण के साथ-साथ कोई फेर-बदल होंगे तो वस्तुओं के औसत मूल्य केवल मुद्रा पर ही आश्रित नहीं रहेंगे और तब सम्भव है कि उनमें अन्य परिस्थितियों के कारण परिवर्तन ही न हों या विपरीत दिशा में परिवर्तन हों। समीकरण के द्वारा निम्न चार निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

(१) यदि मुद्रा का परिमाण बढ़ जाय परन्तु मुद्रा के चलन की गति और वस्तुओं का कुल लेन-देन यथाविधि रहे तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा।

* At any given time, the value of total sales is equal to the value of total expenditure. Henec PT=MV

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) यदि मुद्रा की गति बढ़ जाय परन्तु मुद्रा का परिमाण और वस्तुओं का कुल लेन-देन यथाविधि रहे तो भी वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा।

(३) यदि वस्तुओं का कुल लेन-देन बढ़ जाय, परन्तु मुद्रा का परिमाण और मुद्रा की गति यथाविधि रहे तो वस्तुओं का मूल्य घटेगा।

(४) यदि वस्तुओं की मात्रा में कमी हुई परन्तु मुद्रा का परिमाण और मुद्रा की गति यथाविधि रहे तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि तीन ऐसे कारण हैं जिनका वस्तुओं के औसत मूल्य पर प्रभाव पड़ता है—

(१) मु (मुद्रा का परिमाण)

(२) ग (मुद्रा के चलन की गति)

(३) व (वस्तुओं का कुल लेन-देन)

इनके अतिरिक्त यदि कोई और वाहय-शक्ति वस्तुओं के औसत मूल्य पर प्रभाव डालती है तो वह इन्हीं तीन शक्तियों के द्वारा ऐसा करती है।

सिद्धान्त के विरोध में युक्तियां

सिद्धान्त के विरोध में विभिन्न मुद्रा-शास्त्रियों * ने भांति-भांति की युक्तियां दी हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) कुछ विरोधियों का कहना है कि इस सिद्धान्त में मुद्रा के परिमाण को वस्तुओं के मूल्य-स्तर के घटने-बढ़ने का कारण मान लिया गया है पर यह बात नहीं होनी चाहिए। उनके विचार से वस्तुओं के मूल्य-स्तर को मुद्रा का परिमाण घटने-बढ़ने का कारण मानना चाहिए। उनका कहना है कि मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने से मुद्रा की मात्रा भी घटती-बढ़ती है।

यह तर्क तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ता। ऐसा कभी नहीं होता कि मूल्य-स्तर बढ़ें और फिर उनके साथसाथ मुद्रा का परिमाण भी बढ़ा दिया जाय। हां, ऐसा अवश्य होता है कि जिस स्थान पर मूल्य ऊंचे होते हैं वहां से मुद्रा का परिमाण हटकर ऐसे स्थानों पर आने लगता है जहां मूल्यस्तर नीचे होते हैं और इस प्रकार दोनों स्थानों के मूल्यस्तरों में समानता आ जाती है। इसी आधार पर प्रोफेसर फिशर ने लिखा है—"मूल्यस्तर को मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का कारण समझना एक बड़ी भारी भूल है। हां, ऐसा होता है कि एक स्थान के मूल्यस्तर दूसरे स्थान की मुद्रा की मात्रा पर अपना प्रभाव डालते हैं।"

(२) कुछ विशेषज्ञों का तर्क है कि वस्तुओं के मूल्य तो वस्तुओं की मांग और प्रदाय के आधार पर निर्धारित होते हैं इसलिए उनका सम्बन्ध मुद्रा के

---

* प्रो० लॉफ़लिन तथा प्रो० निकोलसन इस सिद्धान्त के कट्टर विरोधियों में से हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परिमाण के साथ स्थापित करना ठीक नहीं है। उनके विचार से मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्यस्तर पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती।

इस तर्क के उत्तर में प्रो० फिशर का कहना है—"मांग और प्रदाय के आधार पर तो किसी वस्तुविशेष का मूल्य जाना जा सकता है पर वस्तुओं का औसत मूल्य नहीं जाना जा सकता। वस्तुओं का औसत-मूल्य मुद्रा के परिमाण के आधार पर ही जाना जा सकता है। एक वस्तु के आधार पर वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर का अनुमान लगाना भ्रमात्मक है। किसी एक लहर की ऊंचाई के आधार पर समुद्र के धरातल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता परन्तु समुद्र के स्तर के आधार पर लहरों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तुविशेष का मूल्य वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर का आधार नहीं हो सकता, परन्तु वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर के आधार पर वस्तुविशेष के मूल्य का अनुमान किया जा सकता है"।

(३) कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक गल्प है और इसमें वास्तविकता का लेश भी नहीं है।

इसके उत्तर में प्रो० फिशर ने कहा है—"यदि यह गल्प भी हो तो भी गल्प को गल्प मानकर नहीं छोड़ देना चाहिए वरन् उसकी सत्यता प्रकट होने पर उससे पूरा-पूरा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। अतः यदि यह सिद्धान्त गल्प भी है तो भी इसमें सत्य है और इसका अपना कुछ महत्त्व है।

सिद्धान्त की आलोचना

सिद्धान्त के विरुद्ध भांति-भांति के आरोप लगाए जाते हैं और इसकी कड़ी आलोचना की जाती है। लेवेन्स्की नामक अर्थशास्त्री ने तो यहां तक कह दिया है कि मुद्रा के परिमाण के साथ साथ वस्तुओं के मूल्यस्तर में फेर-बदल होना एक साधारण और स्वयंसिद्ध बात है और इसलिए इस सिद्धान्त में कोई नवीन शोध नहीं है। अन्य प्रकार से सिद्धान्त के विरोध में निम्न बातें कही जाती हैं:—

(१) इस सिद्धान्त में अन्य परिस्थितियों को यथाविधि बने रहने की कल्पना की गई है परन्तु सामान्यतः अन्य परिस्थितियां यथाविधि कभी नहीं रहतीं। वर्तमान समाज में ये परिस्थितियां बदलती रहती हैं—कभी प्रति-व्यक्ति उत्पादन बढ़ता है, कभी जनसंख्या बढ़ती है और उसके साथ-साथ उत्पादन बढ़ता है, कभी मुद्रा के चलन की गति में परिवर्तन होते हैं और कभी साख-मुद्रा की मात्रा घटती-बढ़ती है। अल्पकाल तक भी ये परिस्थितियां जैसी की तैसी कभी नहीं रहतीं। यदि कभी मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होता है तो केवल मूल्यस्तर पर ही उसका प्रभाव नहीं पड़ता वरन् मुद्रा के चलन की गति पर तथा वस्तुओं के कुल लेन-देन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार मूल्यस्तर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में अन्य परिस्थितियों के कारण भी फेर-बदल होते हैं। लेवेन्स्की ने लिखा है—"बहुतसे लोग यह समझते हैं कि मुद्रा की मात्रा और मूल्यस्तर—दोनों का ही पारस्परिक सम्बन्ध है और अन्य परिस्थितियों का इनसे कोई सम्पर्क नहीं है। परन्तु यह बात भ्रमात्मक है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तो एक ऐसी मशीन है जिसके समीकरण का प्रत्येक भाग एक दूसरे से सम्बन्धित है। उस मशीन में केवल 'मुद्रा की मात्रा' और 'मूल्यस्तर' के ही दो पहिये नहीं हैं वरन् छोटे-छोटे अनेक चकपहिए हैं। मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने से केवल मूल्यस्तर का पहिया ही नहीं घूमता वरन् मुद्रा की गति तथा वस्तुओं के लेन-देन के सभी चकपहिए घूम जाते हैं। यह भी नहीं कि ये चकपहिए एक तरफ ही घूमते हों वरन् दोनों तरफ घूमते हैं।" इन परिस्थितियों में यह सिद्धान्त एक स्थायी सत्य नहीं जान पड़ता।

(२) इस सिद्धान्त में यह बात ज्ञात नहीं होती कि किस विधि के अनुसार मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने से मूल्यस्तर घट-बढ़ जाते हैं। इससे इस बात का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि व्यापार-चक्र में मूल्यस्तर घटने-बढ़ने के क्या कारण होते हैं? प्रायः देखा गया है कि मन्दी के काल में मुद्रा का परिमाण उतना ही रहता है परन्तु मूल्यस्तर फिर भी गिर जाते हैं। इसी प्रकार तेजी के काल में मुद्रा की मात्रा नहीं बदलती तो भी मूल्यस्तर ऊंचे चढ़ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुओं के मूल्यस्तर घटने-बढ़ने का कारण केवल मुद्रा का परिमाण ही नहीं है वरन् और भी ऐसे कारण हैं जिससे मूल्य बदलते रहते हैं।

(३) प्रोफेसर कीन्स ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि इसके समीकरण में (व) वस्तुओं के कुल लेन-देन का जो जिक्र किया गया है वह अपूर्ण है। मुद्रा के द्वारा होने वाले अधिकांश लेन-देन या तो औद्योगिक होते हैं या व्यापार और वित्त सम्बन्धी। वस्तुओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धी लेन-देन तो मुद्रा के द्वारा बहुत कम होते हैं। अतः 'व' को सम्मिलित करने से मुद्रा की सकल क्रय-शक्ति का सही-सही और पूरा-पूरा अनुमान नहीं होता वरन् केवल नकद क्रय-विक्रय का ही अनुमान होता है। अतः यह सिद्धान्त अधूरा है।

(४) कुछ लोगों का आक्षेप है कि 'इस सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है, बल्कि मुद्रा की मांग और प्रदाय के विवेचन का एक सरल ढंग दिया गया है।' पर वास्तव में ऐसा नहीं है। इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा कम या अधिक होने से क्या परिणाम होते हैं—इसका विवेचन किया गया है जिससे हम मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करके मूल्यस्तरों पर नियंत्रण कर सकें।

(५) इस सिद्धान्त में मुद्रा की मांग की अपेक्षा प्रदाय पर अधिक जोर दिया गया है जिसका प्रभाव मुद्रा की क्रयशक्ति या वस्तुओं के भावों पर अधिक पड़ता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) कभी कभी कहा जाता है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत दी हुई मुद्रा की गति और साख-मुद्रा की मात्रा को मापना या उसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। सिक्कों या नोटों की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है परन्तु विनिमय-माध्यम का काम करने वाले चैकों, बिलों या अन्य साख-मुद्रा के परिमाण का पता लगाना कठिन है। फिर, मुद्रा के चलन की गति का पता लगाना तो बिलकुल असम्भव है। अतः यह सिद्धान्त अधिकांश परिस्थितियों में केवल अनुमान पर निर्भर है। इसकी सत्यता निश्चित शब्दों में नहीं बांधी जा सकती।

(७) कुछ लोगों का विश्वास है कि यह सिद्धान्त मांग और प्रदाय के नियम पर आधारित एक स्वयंसिद्ध सत्य है जिसको आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। आलोचकों की यह बात ठीक हो सकती है परन्तु तो भी इस सिद्धान्त के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में समायोजन करने में प्रत्यक्ष सहायता मिलती है। अतः यह सिद्धान्त उपयोगी है और इसका अध्ययन करना भी आवश्यक है।

इस सिद्धान्त के एक दोष की ओर प्रोफेसर फिशर ने अपने आप संकेत किया है। उन्होंने बताया है कि संक्रान्ति काल (transition period) में मुद्रा के परिमाण और मूल्यस्तर में कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहता। संक्रान्ति काल वह समय होता है जब कि मूल्यस्तर घटने या बढ़ने लगते हैं और परिस्थितियां उन्हें संतुलन में लाने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे समय में मूल्यस्तर की घटा-बढ़ी केवल मुद्रा के कारण ही नहीं होती वरन् अन्य कारणों से भी होती है। पर जब संक्रान्ति-काल समाप्त हो जाता है तो मुद्रा की मात्रा और मूल्यस्तर में फिर आनुपातिक सम्बन्ध बन जाता है और यह सिद्धान्त लागू होने लगता है।

इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह सिद्धान्त समाज की कुछ कल्पित और स्थिर परिस्थितियों में ही लागू होता है—समाज की सभी परिस्थितियों में यह सिद्धान्त एक जैसा नहीं रहता।

सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में कुछ भी त्रुटियां क्यों न हों, पर फिर भी इसका अपना कुछ महत्त्व अवश्य है। निस्सन्देह, चालू मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने का एक कारण है। और भी अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे वस्तुओं के भाव बदलते रहते हैं पर वे सब कारण इतने महत्त्वशाली नहीं जितना मुद्रा का परिमाण घटना-बढ़ना है। यह सिद्धान्त हमें मूल्य-परिवर्तन का कम से कम एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण बतलाता है। इसी सिद्धान्त के सहारे चालू मुद्रा की मात्रा में कमी-बेशी करके देश के मूल्यस्तर को नियन्त्रित किया जा सकता है। बढ़ते हुए मूल्यों को मुद्रा की मात्रा में कमी करके नीचे गिराया जा सकता है। जब कभी मूल्यस्तर बहुत बढ़ जाते हैं और उनके द्वारा समाज को हानि होने लगती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है तो इसी सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा की मात्रा कम करके मूल्यस्तर नीचे किये जा सकते हैं। यह ठीक है कि मूल्य घटने-बढ़ने का एक मात्र कारण मुद्रा का परिमाण ही नहीं है परन्तु अनेक कारणों में से एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण है। अतः इस सिद्धान्त में सत्यता अवश्य है और इसकी अपनी उपयोगिता है। इस सिद्धान्त ने मूल्य-नियंत्रण का कम से कम एक मार्ग तो दिखा ही दिया है। रॉबर्टसन नामक एक मुद्राशास्त्री ने कहा है—

"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है—एक ऐसा सत्य है जिसे वास्तविक जीवन के अन्तर्गत मुद्रा के परिमाण और वस्तुओं के मूल्यों में सम्पर्क स्थापित करने के लिए समझना अनिवार्य है।"

भारत में इस सिद्धान्त का प्रयोग

मुद्रा के परिमाण के साथसाथ वस्तुओं के मूल्यों में भी परिवर्तन होते देखे गए हैं। मूल्यांकों से यह ज्ञात होता है कि भारत में १८९४ में कुल चालू मुद्रा का निर्देशांक १०० था जो १९१२ में १६४ हो गया। इसी बीच में वस्तुओं के मूल्यांक १०० से १३८ हो गए। इसी प्रकार १९२० से १९३४ तक के मौद्रिक इतिहास से पता लगता है कि १९२० में चालू मुद्रा का निर्देशांक १०० था जो १९३४ में घटकर ७४ हो गया। इसी समय के अन्तर्गत वस्तुओं के भाव भी घट गए और वस्तुओं के मूल्यांक १९२० में १०० से घटकर १९३४ में ४४ हो गए। प्रोफेसर कीन्स ने अपने एक लेख में दर्शाया है कि १९०३ और १९०७ के बीच में भारत में मुद्रा के परिमाण और वस्तुओं के मूल्यों में जो परिवर्तन हुए थे वे एक दूसरे के समानुपाती थे। प्रो० कीन्स ने बताया है कि १९०३ में चालू मुद्रा और वस्तुओं के मूल्यों के निर्देशांक १०० थे परन्तु १९०७ में इनमें जो परिवर्तन हुए वे लगभग एक दूसरे के समानुपात् में क्रमशः १४० और १३८ थे।

द्वितीय युद्धकाल में ही हमें यह देखने को मिलता है कि जिस गति से हमारे देश में मुद्रा-प्रसार हुआ उसके विषम अनुपात में मूल्यस्तर बढ़ते गए। युद्ध के पश्चात् तो स्थिति और भी भली प्रकार स्पष्ट होती है। इस काल में यद्यपि मुद्रा-प्रसार रोका गया और मुद्रा के परिमाण में कमी की गई परन्तु मूल्यस्तर में कमी होने के स्थान पर उल्टी बढ़ोतरी हुई। मुद्रा की मात्रा यद्यपि कम हुई पर मूल्यस्तर बढ़ते गए। मुद्रा के परिमाण को छोड़ अनेक ऐसे कारण थे जिनकी वजह से मूल्यस्तर बढ़े—उत्पादन की कमी थी, चोर-बाजारी थी तथा जनसंख्या भी बढ़ रही थी।

उक्त परिस्थितियों से यह नहीं समझना चाहिए कि मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त असत्य है और हमारे देश में लागू नहीं होता। वस्तुओं के मूल्यों पर मुद्रा के परिमाण का प्रभाव अवश्य पड़ता है परन्तु बीच-बीच में कुछ ऐसे कारण आ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाया करते हैं जिनकी वजह से मूल्यों पर मुद्रा का प्रभाव या तो स्पष्ट नहीं जान पड़ता और या उस प्रभाव का वास्तविक परिमाण नहीं जाना जा सकता। ये अन्य कारण मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं और समयसमय पर बदलते रहते हैं—इनको मापना भी बहुत कठिन होता है। इसमें संदेह नहीं कि वस्तुओं के मूल्यों में फेर-बदल करने वाले अनेक कारण हैं पर मुद्रा का परिमाण उन कारणों में से एक मुख्य, महत्वपूर्ण और मान्य कारण है।

मुद्रा के चलन की गति
(Velocity of Money)

'मुद्रा की प्रदाय' का अर्थ स्पष्ट करते समय मुद्रा के चलन की गति की ओर संकेत करते हुए बतलाया गया था कि मुद्रा की प्रदाय का अनुमान केवल मुद्रा के परिमाण से ही नहीं जाना जा सकता वरन् मुद्रा के चलन की गति या वेग को भी ध्यान में रखना पड़ता है। अतः यहां मुद्रा के चलन की गति का विस्तृत अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

'चलन की गति' का अर्थ—मुद्रा के चलन की गति का अर्थ है कि मुद्रा कितनी तेजी से विनिमय-माध्यम का काम करती है। दूसरे शब्दों में, इसे मुद्रा की कार्य-कुशलता, मुद्रा की क्रिया-शक्ति या मुद्रा के काम करने की शक्ति भी कह सकते हैं।

उदाहरण—मान लो, दस व्यक्ति हैं—उनमें से अ के पास १०० रुपये हैं और बाकी नौ व्यक्तियों के पास बिक्री के लिए माल है। मान लो, अ ने अपने १०० रुपये देकर ब से उसका माल खरीद लिया, ब ने उन रुपयों को स को देकर उससे उसका माल ले लिया और इसी प्रकार सब लोग उन्हीं १०० रुपयों के बदले में माल खरीदते रहे यहां तक कि अन्त में वे १०० रुपये १० वें व्यक्ति के पास आ गए। इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपना अपना माल १०० रुपये के बदले में बेच दिया। अतः मूल्य-स्तर १०० ही रहा। यदि अ अन्य नौ व्यक्तियों से एक साथ माल खरीदना चाहता तो उसे ९०० रुपये की एक साथ आवश्यकता होती। इस परिस्थिति में भी मूल्य-स्तर तो १०० ही रहता परन्तु मुद्रा की मात्रा की आवश्यकता बढ़ जाती। इससे यह स्पष्ट होता है कि पहिली परिस्थिति में १०० रुपयों ने विनिमय का काम ९ बार किया परन्तु दूसरी स्थिति में १०० रुपए विनिमय का काम केवल एक बार ही करते। अतः पहली स्थिति में मुद्रा के चलन का वेग दूसरी स्थिति की अपेक्षा अधिक रहा।

चलन की गति और मूल्यस्तर—इस उदाहरण से एक बात और स्पष्ट होती है कि यदि हम किसी प्रकार मुद्रा के चलन की गति को बढ़ा दें तो हमें कम मुद्रा की आवश्यकता होती है। और यदि किसी कारण से मुद्रा के चलन की गति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मन्द हो जाती है तो उतने ही लेन-देन में हमें अपेक्षाकृत अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि मुद्रा का मूल्य दोनों स्थितियों में एकसा ही बना रहे। औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रों में, जहां पारस्परिक लेन-देन में प्रतियोगिता रहती है, मुद्रा के चलन की गति प्रायः तेज होती है। क्योंकि वहां का व्यापार बढ़ता जाता है इसलिए वहां अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए मुद्रा के चलन की गति तीव्र हो जाती है और मुद्रा की अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि मुद्रा के चलन की गति मूल्यस्तर को टिकाए रखने का एक साधन है। अतः यदि मूल्यस्तर को टिकाऊ बनाने की आवश्यकता हो तो मुद्रा के चलन की गति में भी उतना ही वेग स्थापित कर देना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल मुद्रा की गति से ही मूल्यस्तर टिकाऊ बन सकेगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की मात्रा—दोनों में से किसी में कोई फेर-बदल नहीं होना चाहिए। यदि मुद्रा या वस्तुओं की मात्रा में कोई फेर-बदल हुई और मुद्रा के चलन की गति उतनी ही बनी रही तो भी मूल्यस्तर में परिवर्तन अवश्य होंगे।

चलन की गति में फेर-बदल होने के कारण—मुद्रा के चलन की गति को तेज करनेवाले कारण हैं:—

(१) मुद्रा की आपेक्षिक कमी
(२) जन-संख्या में वृद्धि
(३) यातायात एवं संचार साधनों की उन्नति
(४) मूल्य और आय के अनुकूल सिक्का-ढलाई की प्रणाली
(५) सामान्य आर्थिक उन्नति।

यदि किसी समय मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से कम हो तो प्रत्येक व्यक्ति एक मुद्रा से अधिक से अधिक विनिमय का काम करने का प्रयत्न करता है तथा लोग मुद्रा संग्रह करना कम कर देते हैं। इस प्रकार मुद्रा के चलन का वेग बढ़ने लगता है। यदि जनसंख्या बढ़ जाय या यातायात के साधन अधिक और अच्छे हो जायं तो मुद्रा के लेन-देन, लाने-लेजाने तथा चलाने की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं और इस प्रकार गति में वेग आ जाता है।

यदि ऐसी मुद्रा बनाई जायं जो जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल न हों और जिनको वे अपने नित्य प्रति के लेन-देन में काम न ला सकें तो स्वभावतः लोग उनको अपने लेन-देन के काम में नहीं लाएँगे और इस प्रकार मुद्रा के चलन की गति मन्द पड़ जायगी। यदि मुद्रा के चलन की गति बढ़ानी हो तो टंकण-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत ऐसी मुद्राएं बनाई जायं जो जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल हों और जिनको वे अपने लेन-देन के काम में ला सकें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहने का अर्थ यह है कि यदि छोटी-छोटी राशि की मुद्राओं की आवश्यकता हो तो ऐसी ही मुद्राएं बननी चाहिएं, बड़ी राशि की नहीं, अन्यथा वे लोगों की आवश्यकता के अनुकूल नहीं होंगी और लोग उनको संग्रह करने लगेंगे जिससे मुद्रा के चलन की गति मंद पड़ जायगी। जब देश में सामान्यतः आर्थिक संगठन रहता है तो लोगों में पारस्परिक विश्वास बढ़ जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय करने लगता है जिससे मुद्रा के चलन का वेग बढ़ जाता है।

मुद्रा के चलन की गति मन्द पड़ने के निम्न कारण हैं :—

(१) संकटकालीन भय, (२) व्यापार की डावांडोल स्थिति।

अवनत तथा कृषि-प्रधान देशों में उन्नत तथा उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षा मुद्रा का परिमाण तथा मुद्रा के चलन की गति मन्द होती है क्योंकि उन देशों में लेन-देन प्रायः कम रहता है। औद्योगिक केन्द्रों तथा व्यापारिक शहरों में अन्य स्थानों की अपेक्षा मुद्रा के चलन की गति तेज होती है। दिल्ली की अपेक्षा बंबई में चलन की गति तेज है, आगरे की अपेक्षा दिल्ली में अधिक तेज है और नागपुर की अपेक्षा आगरे में अधिक तेज है। सामान्यतः ऐसा देखा गया है कि जब कभी किसी स्थान पर लेन-देन और क्रय-विक्रय का काम अधिक बढ़ जाता है तो वहां के मूल्यस्तर को संतुलित बनाने और उचित अनुपात में टिकाऊ रखने के लिए वहां के लोगों को या तो मुद्रा के परिमाण में फेर-बदल करनी पड़ती है या मुद्रा के चलन की गति में परिवर्तन करना पड़ता है और कभी-कभी एक साथ ही दोनों काम करने पड़ते हैं।

साख की गतिशीलता—जिस प्रकार सिक्कों या नोटों के चलन की गति होती है उसी प्रकार साख के लेन-देन में भी चलन की गति पाई जाती है। परन्तु साख की गति को जमा-राशि की गतिशीलता कहना अधिक उचित होगा। जितनी जल्दी एक व्यक्ति के लेखे में से दूसरे के लेखे में राशि बदली जाती है उतनी ही तेजी से दूसरा व्यक्ति उसे अपने लेन-देन में काम ला सकता है और तब उतने ही वेग से साख की गतिशीलता बढ़ सकती है। जिस देश में बैंकिंग-व्यवस्था उन्नत हो वहां की साख में अधिक गतिशीलता होती है। भारत की अपेक्षा अमेरिका में साख अधिक गतिशील है। मुद्रा की क्रय-शक्ति पर साख की गतिशीलता का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा सिक्कों या नोटों के चलन के वेग का होता है।

सारांश

वस्तुओं के अनुपात में मुद्रा की विनिमय-शक्ति को मुद्रा का मूल्य कहते हैं। मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर से जाना जा सकता है। जिस प्रकार वस्तुओं के भाव मुद्रा में व्यक्त किए जाते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य वस्तुओं में आंका जाता है। अतः मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। मुद्रा का मूल्य सदैव एकसा नहीं रहता। समय-समय पर और स्थान-स्थान पर यह बदलता रहता है। जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएं खरीद पाती है तो मुद्रा का मूल्य ऊँचा कहा जाता है और वस्तुओं के भाव गिरे हुए माने जाते हैं। इसके विपरीत जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा कम वस्तुएं खरीद पाती है तो कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव बढ़ गए। मुद्रा के मूल्य के साथ-साथ वस्तुओं के भावों में जो परिवर्तन होते हैं उनको जानने के लिए मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त जानना आवश्यक है।

प्रोफेसर मिल ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यदि अन्य परिस्थितियां यथाविधि बनी रहें, तो जिस दिशा में मुद्रा का परिमाण घटता-बढ़ता है, ठीक उसकी विपरीत दिशा में मुद्रा का मूल्य क्रमशः बढ़ता-घटता है। मुद्रा की जितनी मात्रा बढ़ती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य कम हो जाता है और मुद्रा की जितनी मात्रा घटती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य बढ़ जाता है। यथाविधि परिस्थितियों में चालू मुद्रा की मात्रा में घटा-बढ़ी होने से वस्तुओं के भावों में उसके अनुकूल दिशा में परिवर्तन होता है। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़े तो वस्तुओं के भाव बढ़ते हैं और मुद्रा की मात्रा घटने पर वस्तुओं के भाव भी गिरते हैं। यथाविधि परिस्थितियों में, मुद्रा की मात्रा दुगुनी होने पर मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा, और वस्तुओं के भाव दुगुने हो जायेंगे। इसी प्रकार यथाविधि परिस्थितियों में, मुद्रा की मात्रा आधी होने पर मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा और वस्तुओं के भाव आधे रह जायेंगे। इससे यह अर्थ निकलता है कि मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में विपरीत सम्बन्ध होता है। अतः सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जाने लगी है—"यथाविधि परिस्थितियों में, यदि चालू मुद्रा के परिमाण और उसके चलन की गति में कोई परिवर्तन हो तो वस्तुओं का औसत मूल्य भी सामान्यतः उसके साथ-साथ उसी दिशा में और उसी अनुपात में बदलेगा। यदि मुद्रा की मांग में कोई परिवर्तन होगा तो वस्तुओं का मूल्य सामान्यतः उसकी विपरीत दिशा में और विपरीत अनुपात में बदलेगा।" यथाविधि परिस्थितियों से तात्पर्य यह है कि मुद्रा के चलन की गति में कोई परिवर्तन न हो, देश में उधार लेन-देन की प्रथा न हो, क्रय-विक्रय की गति में कोई हेर-फेर न हो; तथा उत्पादन, जनसंख्या एवं प्रति व्यक्ति उत्पादन वैसा ही बना रहे।

सिद्धान्त के अन्तर्गत मुद्रा की मांग और प्रदाय को वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तन का मूल आधार माना गया है। मुद्रा की मांग का अर्थ मुद्रा से होनेवाले क्रय-विक्रय के लेन-देन से होता है। मुद्रा की मांग निश्चित दर पर बिक्री को आई हुई वस्तुओं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में निहित होती है। संक्षेप में, मुद्रा की सहायता से होनेवाले कुल लेन-देन को मुद्रा की मांग कहते हैं। मुद्रा की प्रदाय का अर्थ उस मुद्रा से होता है जो विनिमय-माध्यम के काम आने के लिए हो। चालू मुद्रा के परिमाण को मुद्रा की प्रदाय कहते हैं। प्रो० फिशर ने मुद्रा की मांग और प्रदाय के आधार पर इस सिद्धान्त को समीकरण रूप में स्पष्ट किया है। उन्होंने मांग और प्रदाय का इस प्रकार समीकरण किया है—

$$\text{मुद्रा की मांग} = \text{औसत मूल्य} \times \text{वस्तुओं का कुल लेन-देन}$$
$$= \text{मू} \times \text{व}$$
$$\text{मुद्रा की प्रदाय} = \text{चालू मुद्रा की मात्रा} \times \text{मुद्रा के चलन की गति}$$
$$= \text{मु} \times \text{ग}$$

प्रो० फिशर ने बताया है कि एक ओर लोग जितना व्यय करते हैं दूसरी ओर दूकानदार उतने ही मूल्य की बिक्री करते हैं। अतः इन दोनों का मूल्य बराबर होता है। इसी आधार पर उन्होंने समीकरण बनाया है—

$$\text{मू} \times \text{व} = \text{मु} \times \text{ग}$$
$$\text{मू} = \frac{\text{मु} \times \text{ग}}{\text{व}}$$

सिद्धान्त के अनुसार मू में होनेवाले परिवर्तन मु, ग और व पर निर्भर होते हैं। यदि मु और ग में परिवर्तन हों पर व यथाविधि रहे तो मू में उसी दिशा में परिवर्तन होंगे। और यदि मु और ग यथाविधि रहें पर व में परिवर्तन हों तो मू में विपरीत दिशा में परिवर्तन होंगे।

इस सिद्धान्त के विरोध में भांति-भांति के आरोप लगाए जाते हैं—कुछ लोग इसे कोरी कल्पना और गल्प मानते हैं, कुछ लोग मुद्रा की मात्रा को वस्तुओं के भाव-परिवर्तन का कारण ही नहीं मानते और कुछ लोग इसकी वास्तविकता में सन्देह करते हैं। कभी-कभी इसकी आलोचना की जाती है कि इसमें परिस्थितियों को यथाविधि मानकर आगे बढ़ाया गया है पर परिस्थितियां यथाविधि कभी नहीं रहतीं। कुछ लोगों का कहना है कि इस सिद्धान्त में यह बात ज्ञात नहीं होती कि किस विधि के अनुसार मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने से मूल्यस्तर घट-बढ़ जाते हैं। इसमें यह भी नहीं बताया गया है कि व्यापार-चक्र में मूल्यस्तर घटने-बढ़ने के क्या कारण होते हैं। कुछ विशेषज्ञों ने आलोचना की है कि इसमें मुद्रा की मांग की अपेक्षा मुद्रा की प्रदाय पर अधिक जोर दिया गया है। यह भी कहा जाता है कि इस सिद्धान्त में वर्णित मुद्रा की मात्रा का विशेषतः साख-मुद्रा की मात्रा का और उसके चलन की गति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतः यह सिद्धान्त अपूर्ण है। कुछ कट्टर विरोधियों का मत है कि यह सिद्धान्त मांग और प्रदाय के नियम पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

X61 152J4G

क्षाधारित एक स्वयंसिद्ध बात है जिसको इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया है।

कुछ भी हो, इस सिद्धान्त की वास्तविकता उपयोगी अवश्य है। इसने मूल्य-परिवर्तन का एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण ढूंढ़ निकाला है जिसके सहारे चालू मुद्रा की मात्रा में कमी-बेशी करके देश के मूल्यस्तर को नियंत्रित किया जा सकता है। रॉबर्टसन ने लिखा है कि यह सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है—एक ऐसा सत्य है जिसे वास्तविक जीवन के अन्तर्गत मुद्रा के परिमाण और वस्तुओं के भावों में सम्पर्क स्थापित करने के लिए समझना अनिवार्य है। हमारे देश में इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यस्तर भी बढ़ते देखे गए हैं। द्वितीय युद्धकाल में जब मुद्रा-प्रसार हुआ तो वस्तुओं के भाव भी ऊँचे हो गए थे। अतः युद्धोत्तरकाल में भावों को नीचा करने के लिए सरकार ने जो नीति बनाई उसमें मुद्रा की मात्रा कम करने पर जोर दिया गया था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वस्तुओं के भावों को नियंत्रित करने के लिए मुद्रा की मात्रा में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक होता है।

'मुद्रा के चलन की गति' का अर्थ मुद्रा की कार्यकुशलता, मुद्रा की क्रिया-शक्ति तथा मुद्रा की विनिमय-क्षमता से होता है। चलन की गति बढ़ने का वही प्रभाव होता है जो मुद्रा की मात्रा बढ़ने का हो सकता है। चलन की गति में वृद्धि होने के कारण हैं—(१) मुद्रा की आपेक्षिक कमी, (२) जनसंख्या में वृद्धि, (३) यातायात एवं संचार-साधनों की उन्नति, (४) सामान्य आर्थिक उन्नति, (५) मूल्य एवं आय के अनुकूल सिक्का-ढलाई की प्रणाली। इसके विपरीत चलन की गति मन्द होने के कारण हैं—(१) संकटकालीन भय, (२) व्यापार की डावांडोल स्थिति। उन्नत देशों में चलन की गति तेज होती है और अवनत देशों में अपेक्षाकृत मंद होती है।

साख की गतिशीलता का अर्थ जमा राशि की गतिशीलता से है। जितनी जल्दी एक व्यक्ति के लेखे में से दूसरे के लेखे में राशि बदलती जाती है उतनी ही तेजी से दूसरा व्यक्ति उसे अपने लेन-देन में काम ला सकता है, और तब उतने ही वेग से साख की गतिशीलता बढ़ सकती है। जिस देश में बैंकिंग व्यवस्था उन्नत हो वहां की साख अधिक गतिशील होती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति पर साख की गति-शीलता का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा सिक्कों या नोटों के चलन की गति का होता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'मुद्रा के मूल्य' से आप क्या समझते हैं? मुद्रा का मूल्य किन-किन बातों पर निर्भर होता है तथा कैसे ज्ञात किया जाता है? विवेचनात्मक उत्तर लिखिए।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY,
Jangamwadi Math, VARANASI.
Acc. No. 3208 1802
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त क्या है ? आलोचनात्मक उत्तर दीजिए।

(३) मुद्रा की मांग और प्रदाय से आपका क्या तात्पर्य है ? इन दोनों का मुद्रा के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(४) मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की आलोचना कीजिए। इस सिद्धान्त के विपक्ष में मुद्रा-शास्त्रियों के क्या-क्या आक्षेप हैं ? इन आक्षेपों की विवेचना कीजिए। इस सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

(५) 'मुद्रा के चलन की गति' से आप क्या समझते हैं ? चलन की गति पर किन-किन शक्तियों का प्रभाव पड़ता है ?

(६) भारत में मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त कैसे लागू हो रहा है ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

(७) निम्नलिखित पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए :—

(अ) मुद्रा की मांग

(ब) परिमाण-सिद्धान्त सम्बन्धी प्रो० फिशर का समीकरण

(स) मुद्रा के चलन की गति

(द) $मू = \frac{मु \times ग}{व}$

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ८

मुद्रा का मूल्य-परिवर्तन एवं मूल्य-मापन

मुद्रा का मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। कभी मुद्रा का मूल्य ऊंचा हो जाता है और वस्तुओं के भाव नीचे हो जाते हैं और कभी मुद्रा का मूल्य नीचा हो जाता है और वस्तुओं के भाव ऊंचे चढ़ जाते हैं। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में उलट-फेर होती रहती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से कुछ लोगों को लाभ होता है और कुछ वर्गों को हानि भी होती है। अतः मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन से सम्बन्ध रखनेवाली विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है।

मुद्रा-स्फीति (Inflation)

अर्थ—जब मुद्रा (सिक्के, नोट एवं साख-मुद्रा) की मात्रा व्यापार और उद्योग की मौद्रिक आवश्यकताओं से इतनी अधिक बढ़ जाय कि लगभग सभी वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर ऊंचे हो जायं और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाय, तो उस स्थिति को मुद्रा-स्फीति कहते हैं। मुद्रा-स्फीति के प्रायः दो संकेत होते हैं—(१) मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाना, (२) वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर चढ़ जाना। मुद्रा-स्फीति दो प्रकार से उत्पन्न हो सकती है :—

(१) जब मुद्रा का प्रसार इतना अधिक कर दिया जाय कि मुद्रा की मात्रा देश में व्यापार और उद्योगों की आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो जाय और परिणामतः उसकी क्रय-शक्ति घटने लगे।

(२) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे पर वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाय और इतना कम हो जाय कि वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ने लगें और मुद्रा की क्रय-शक्ति स्वतः ही घट जाय। केमरर ने लिखा है—"यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-स्फीति होने के लक्षण आ जाते हैं।"

इस विषय में यह याद रखना चाहिए कि जब देश में जनसंख्या तथा व्यापार बढ़ने के कारण मुद्रा का प्रसार किया जाय तो उस स्थिति को मुद्रा-स्फीति नहीं कहते।

कारण—मुद्रा-स्फीति होने के प्रायः दो कारण देख गए हैं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) यदि सोने-चांदी की नई खानों का पता लगने से देश में सोने-चांदी की मात्रा बढ़ने लगे तो मुद्रा की संख्या बढ़ जाती है और मुद्रा-स्फीति के लक्षण आने लगते हैं। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि देश में सोने-चांदी की मुद्राएं चलन में काम आती हों और स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली मानी जाती हो। इसी प्रकार यदि देश में विदेशों से सोना-चांदी आयात होने लगे तो देश में मुद्रा-प्रसार होने लगता है। १८९६ से १९११ तक मूल्य-स्तर बढ़ने का यही कारण था कि उस समय दक्षिणी अफ्रीका में सोने की खानों का पता लगने से सोने की मात्रा बढ़ने लगी और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट गई। १९१४–१८ और इसके पश्चात् भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, स्वीडन, नार्वे तथा स्पेन म सोने का आयात बढ़ने के कारण वहां मुद्रा की क्रय-शक्ति घट गई थी और वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर बढ़ने लगे थे।

(२) किसी गम्भीर अवसर पर देश की सरकार जान बूझकर भी मुद्रा-स्फीति करती है। प्रायः युद्धकाल में सरकार मुद्रा-प्रसार करती है और यह प्रसार इतना अधिक हो जाता है कि मुद्रा-स्फीति हो जाती है। बात यह है कि युद्धकाल में सरकार को युद्ध सम्बन्धी कार्यों के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है परन्तु उस समय परिस्थितियां इतनी अनिश्चित होती हैं कि जनता सरकार को मांगने पर भी ऋण नहीं दे पाती और न सरकार जनता पर असीमित कर ही लगा सकती है, अतः वह अपरिवर्तनीय नोट छाप-छापकर चला देती है। य नोट इतनी अधिक संख्या में चला दिए जाते हैं कि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर ऊंच हो जाते हैं। मुद्रा की संख्या तो बढ़ जाती है पर वस्तुओं का उत्पादन उतना नहीं बढ़ पाता। गत युद्धकाल में भारत की विदेशी सरकार ने इतनी अधिक संख्या में अपरिवर्तनीय नोट चलाए कि वस्तुओं के भाव आकाश तक जा लगे। १९३९ में युद्ध आरम्भ होने से पूर्व लगभग १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु युद्ध समाप्त होने पर १९४६ में इनकी संख्या १२४० करोड़ रुपये से भी अधिक थी। इससे मूल्य-स्तर इतने चढ़े कि १९४५ में मूल्यांक १९३९ की अपेक्षा तिगुने से भी अधिक था।

कभी-कभी सरकार देश में वस्तुओं के भावों को ऊंचा उठाने के लिए मुद्रा-प्रसार करती है। परन्तु यह प्रसार उतना भयंकर नहीं होता जितना कि मुद्रा-स्फीति में होता है। मन्दी के समय में अमेरिका न मुद्रा-प्रसार करके वस्तुओं के भाव ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया था।

शान्तिकाल में भी जब कभी सरकार को धन की आवश्यकता होती है परन्तु जनता से ऋण नहीं मिल पाता या कर लगाकर भी आवश्यकता पूर्ण नहीं होती तो सरकार नोट छापकर अपनी आवश्यकता पूर्ण करती है। इससे भी मुद्रा-प्रसार होकर मुद्रा-स्फीति के लक्षण होजाने का भय रहता है। हमारे देश में पंचवर्षीय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योजना के अन्तर्गत सरकार ने मुद्रा-प्रसार करके मौद्रिक आवश्यकता पूर्ण करने का निश्चय किया है। इस मुद्रा-प्रसार का परिणाम भी उतना भयंकर नहीं होता जितना मुद्रा-स्फीति में होता है। मुद्रा-स्फीति में तो आंख बन्द करके मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ा दी जाती है कि साथ-साथ उत्पादन बढ़ाने का ध्यान ही नहीं रहता। वस्तुतः मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा वस्तुओं का निपट अभाव हो जाता है जिससे वस्तुओं के भाव ऊंचे हो जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है।

प्रभाव—मुद्रा-स्फीति का प्रभाव समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर एकसा नहीं पड़ता। कुछ लोगों को इससे हानि होती है और कुछ लोगों को इससे लाभ भी होता है। अतः हमें यह देखना चाहिए कि समाज के विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति का क्या प्रभाव पड़ता है। सुविधा के लिए कुल समाज को हम तीन वर्गों में बांटे लेते हैं :—

(१) व्यापारी वर्ग, (२) वेतनभोगी वर्ग, और (३) अन्य वर्ग।

(१) **व्यापारी वर्ग**—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से थोक व फुटकर व्यापारियों को बहुत लाभ होता है। अब वे अपना माल ऊँचे भावों पर बेचते हैं जिससे उनको अधिक लाभ मिलता है। देनदार को लाभ तथा लेनदार को हानि होती है। देनदार अब ऋण का भुगतान चुकाने में पहिले की अपेक्षा कम मूल्य देता है जिससे लेनदार को जितना मूल्य उसने दिया उससे कम मिलता है। लेनदार को अपने दिए ऋण पर जो ब्याज मिलता है उसका मूल्य उसको कम हो जाता है। व्यापारी अधिक लाभ कमाते-कमाते इतने मदमस्त-से हो जाते हैं कि वे धन कमाने की लालसा से सट्टेबाजी करने लगते हैं। सट्टा फैलने से व्यापार अनिश्चित हो जाता है और व्यापार की स्थिति डावांडोल हो जाती है। व्यापारियों में धन कमाने के लिए झूठ, भ्रष्टाचार तथा चोर-बाजारी फैल जाते हैं। लेन-देन में आपस का विश्वास कुछ ढीला पड़ जाता है जिससे लोग धन विनियोग (invest) करने में हिचकिचाने लगते हैं।

(२) **वेतन-भोगी वर्ग**—मजदूरों या निश्चित वेतन पानेवाले लोगों को इससे बहुत हानि होती है। उनका वेतन तो वही रहता है परन्तु वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाते हैं जिससे उनकी आवश्यकता की पूरी-पूरी वस्तुएं नहीं मिल पातीं। यदि उनका वेतन बढ़ता भी है तो वह उस अनुपात में नहीं बढ़ता जिसमें वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं। अतः उनको वस्तुएं लेने में कठिनाई होती है। इस कारण से मजदूर वर्ग में असन्तोष बढ़ जाता है और वे हड़ताल करने लगते हैं।

(३) **अन्य वर्ग**—इस वर्ग में हम किसान, उपभोक्ता तथा सरकार को सम्मिलित करते हैं। किसान को उसकी उत्पत्ति का मूल्य बढ़ने से लाभ मिलता है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उपभोक्ताओं को बड़ा कष्ट होता है क्योंकि पिछला रहन-सहन बनाए रखने के लिए अब उन्हें अधिक खर्च करना पड़ता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[अपने देश के किसान व माल बनानेवाले अन्य लोग विदेशी बाजारों में अपना माल बेचने के लिए अन्य देशों की प्रतियोगिता नहीं कर पाते क्योंकि वस्तुओं के भाव बढ़ने के कारण उनके माल का लागत-व्यय बढ़ जाता है और उनकी वस्तुओं के भाव विदेशी वस्तुओं की अपेक्षा ऊंचे हो जाते हैं।]

मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के भाव बढ़ने से जिन लोगों की आय बढ़ जाती है वे पहिले की अपेक्षा अधिक खर्चीले हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब मुद्रा-स्फीति समाप्त होती है और इनकी आय कम हो जाती है तो इन्हें अपना खर्च कम करना कठिन हो जाता है। इससे ये लोग उधार लेने लगते हैं और अन्त में कष्ट भोगते हैं।

संक्षेप में, मुद्रा-स्फीति से व्यापारी-वर्ग तथा देनदार को लाभ होता है, परन्तु मजदूरों, वेतन-भोगियों, उपभोक्ताओं तथा लेनदारों को हानि होती है। सरकार को इससे यह लाभ होता है कि वह नोट छापकर ही अपना काम चला लेती है। उसे जनता से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती। पर मुद्रा-स्फीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि जब एक बार यह आरम्भ हो जाती है तो इसे रोकना बहुत कठिन हो जाता है यहां तक कि अन्त में मुद्रा का मूल्य इतना घट जाता है कि उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। मुद्रा-स्फीति में व्यापारियों के आचरण भी बिगड़ जाते हैं।

भारत में मुद्रा-स्फीति—द्वितीय युद्ध-काल में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ा। परिणाम यह हुआ कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव ऊंचे चढ़ गये। मुद्रा-स्फीति का सबसे बड़ा कारण भारत सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत सरकार ने इङ्गलैण्ड और मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत के बाजारों से माल खरीदा। यह माल युद्ध चलाने के लिए खरीदा गया था। इस माल के बदले में इङ्गलैण्ड की सरकार ने भारत सरकार को नकद रुपया नहीं दिया वरन् इङ्गलैण्ड में भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटियां दे दी जाती थीं। पर भारत सरकार को इस माल के बदले में भारतीय व्यापारियों को रुपया देना पड़ता था। इतना रुपया सरकार के पास कहां से आता ? अतः सरकार नोट छाप-छापकर चलाती रही। १९३९ में देश में कुल मिलाकर कोई १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु दिसम्बर १९४६ में नोटों की कुल संख्या लगभग १२४२ करोड़ रुपये हो गई। इस काल में रुपयों और छोटे सिक्कों का प्रसार भी क्रमशः कोई १५० करोड़ और ७५ करोड़ रुपयों से बढ़ गया था। नोट, रुपयों तथा अन्य छोटे सिक्कों का प्रसार बढ़ने से साख-मुद्रा का चलन भी बढ़ जाता है। अतः इन वर्षों में साख-मुद्रा का चलन भी खूब बढ़ गया था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने युद्धकाल में खर्चा भी खूब किया। इसको पूरा करने के लिए सरकार मुद्रा-प्रसार करती रही। अतः मुद्रा की मात्रा अनाप-सनाप बढ़ गई। दूसरी ओर वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सका। जो कुछ माल पैदा किया जाता था या बनाया जाता था वह सैनिकों के लिए भेज दिया जाता था। अतः जनता के उपभोग के लिए वस्तुओं की कमी ही रही जिससे वस्तुओं के मूल्य ऊंचे चढ़ते गए।

मुद्रा-स्फीति के परिणाम बहुत भयंकर हुए। मध्यम श्रेणी के लोगों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वस्तुओं के मूल्य तो बढ़ गए परन्तु इन लोगों की आय उतनी न बढ़ी जिससे इनका जीवन-व्यय बढ़ता गया और इनको जीवन चलाना कठिन हो गया। उत्पादन न बढ़ने के कारण बाजार में वस्तुओं की कमी हो गई जिससे लोग वस्तुओं को इकट्ठा कर-करके छिपाने लगे। जहां-तहां चोरी से माल ऊंचे भावों पर बिकने लगा। व्यापारी-वर्ग में बेईमानी, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी आदि बुरी-बुरी बातें बढ़ती गईं।

सरकार ने मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के प्रयत्न किए—मुद्रा की बढ़ी हुई संख्या को वापिस खींचने के लिए जनता पर नए-नए कर लगाए, जनता से सरकार ने ऋण लिये तथा सरकार ने सोना भी बेचा जिससे बाजार में क्रय-शक्ति कम हो जाय। वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाया गया तथा देश में उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएं दी गईं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने खर्चे भी कम करने की कोशिश की। चोर-बाजारी दूर करने के लिए कड़े नियम भी बनाए गए। परन्तु मुद्रा-स्फीति का जोर कम न हुआ। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी वस्तुओं के मूल्य ऊँचे ही बने रहे।

मुद्रा-संकुचन (Deflation)

अर्थ—जब मुद्रा (सिक्के, नोट और साख-मुद्रा) की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं की अपेक्षा इतनी कम कर दी जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है तो उस स्थिति को मुद्रा-संकुचन की स्थिति कहते हैं। मुद्रा-संकुचन का सबसे पहिला परिणाम यह होता है कि वस्तुओं के मूल्य बहुत नीचे गिर जाते हैं। प्रो० कीन्स ने लिखा है—"मुद्रा-संकुचन वह मुद्रा-नीति है जिसके द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा और उसकी आवश्यकताओं के बीच का अनुपात इतना कम कर दिया जाय कि जिससे मुद्रा की विनिमय-शक्ति बढ़ जाय और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिर जायं।" मुद्रा-संकुचन एक ऐसा साधन है जिससे मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बढ़ा दिया जाता है और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिरा दिए जाते हैं। इसके द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-संकुचन की विधि—कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के भाव बहुत ऊँचे हो जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तो सरकार मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के लिए मुद्रा-संकोच करने लगती है और धीरे-धीरे इतनी अधिक मात्रा में मुद्रा-संकुचन हो जाता है कि मुद्रा की मात्रा उसकी आवश्यकता से बहुत अधिक कम हो जाती है। मुद्रा-संकुचन कई प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) सरकार देश में चलने वाले अपरिवर्तनीय नोटों को रद्द कर देती है जिससे मुद्रा की मात्रा कम हो जती है।

(२) जनता पर भारी-भारी कर लगाकर मुद्रा को चलन में से खींच लिया जाता है।

(३) देश का केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर बढ़ाकर मुद्रा-संकुचन करता है।

(४) केन्द्रीय बैंक जनता से ऋण लेकर चलन में मुद्रा की मात्रा कम कर देता है या वह अपनी 'खुली बाजार क्रियाओं' (open market operations) द्वारा जनता को सिक्यूरिटियां बेचकर बदले में मुद्रा लेकर संचित कर लेता है जिससे चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

मुद्रा-संकुचन एवं मूल्य-स्तर—मुद्रा-संकुचन प्रायः मूल्य स्तर को नीचा गिराने के उद्देश्य से किया जाता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा कम की जाती है उसी अनुपात में वस्तुओं के मूल्य नीचे नहीं गिरते वरन् उससे कम अनुपात में मूल्य-स्तर नीचे गिरता है। कभी-कभी कोई सरकार मूल्य-स्तर नीचा करने के उद्देश्य से बहुत अधिक मात्रा में मुद्रा-संकुचन करने लगती है परन्तु इससे उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता और अन्त में उसे अपनी वह योजना छोड़ देनी पड़ती है। यदि एक दिन में ही मुद्रा की मात्रा कम करके यह आशा की जाय कि वस्तुओं के मूल्य भी एक दिन में उतने ही कम हो जाएँगे तो यह सोचना बड़ी भारी भूल होगी। वस्तुओं के मूल्य एक ऐसी छूत की बीमारी है जो बढ़ते समय तो बड़ी आसानी से और बहुत जल्दी बढ़ जाती है परन्तु जिसे रोक कर नीचे गिराने में कुछ समय लगता है। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री के ये शब्द याद रखने चाहिएं :—

"वस्तुओं के मूल्य न तो ऐसी पत्थर की मजबूत दीवारें हैं जिनको तोड़कर गिराया ही न जा सके और न मोम की भांति इतनी नरम हैं कि जो थोड़ी गर्मी पाकर ही पिघलकर गिर पड़ें.....मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य-स्तर की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है। मूल्य-स्तर के अनुकूल मुद्रा की मात्रा में फेर-बदल करना सरल है परन्तु मुद्रा की मात्रा के अनुकूल मूल्य-स्तर में घटा-बढ़ी करना अपेक्षाकृत कठिन है।"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-संकुचन के परिणाम——मुद्रा-संकुचन का प्रभाव समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर एकसा नहीं पड़ता। कुछ लोगों को इससे हानि होती है और कुछ लोगों को इससे लाभ होता है। अतः यह देखना है कि लोगों पर इसका कैसा कैसा प्रभाव पड़ता है :——

(१) **व्यापारी वर्ग**——मुद्रा-संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्य गिरने से थोक व फुटकर व्यापारियों को हानि होती है——उनकी वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं जिससे उनकी आय कम हो जाती है और उनको नुकसान होने लगता है। व्यापार में हानि होने से बहुतसे व्यापार तो नष्टप्राय हो जाते हैं। उद्योगों को भारी हानि रहती है। उत्पादन भी कम होने लगता है जिससे बेकारी फैल जाती है। मुद्रा-संकुचन से लेनदार को लाभ और देनदार को हानि होती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य बढ़ने से देनदार को अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

(२) **वेतन-भोगी वर्ग**——वस्तुओं का भाव नीचा होने से मजदूरों तथा निश्चित वेतन पानेवाले लोगों को लाभ होता है क्योंकि अब वे अपनी आय के बदले में अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं। परन्तु यदि इनके वेतन में भी कमी कर दी जाय तो इनको लाभ नहीं रहता। प्रायः वस्तुओं के मूल्य गिरते ही बेकारी-सी फैलने लगती है। मालिक अपने नौकरों की छटनी करने लगते हैं या उनका वेतन कम कर देते हैं। ऐसी स्थिति में वेतन-भोगियों को अधिक लाभ नहीं रहता।

(३) **अन्य वर्ग**——अन्न के भाव अधिक गिर जाते हैं जिससे कृषकों को बहुत हानि रहती है। उन्हें अपना माल सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है। माल का लागत-व्यय कम होने से देश का माल विदेशों में सस्ता हो जाता है जिससे देश के निर्यात बढ़ने लगते हैं। उपभोक्ताओं को वस्तुओं के भाव नीचे होने से लाभ रहता है। सरकारी बजट असन्तुलित हो जाते हैं। देश में बेकारी फैल जाती है और आर्थिक दशा बिगड़ जाती है।

सारांश यह है कि मुद्रा-संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्य घटने से देश का व्यापार, उद्योग, कृषि एवं उत्पादन के अन्य स्रोत सूखने लगते हैं जिससे देश की प्रगति रुक जाती है और आर्थिक विकास मन्द पड़ जाता है। किसी ने कहा है कि मानव समाज पर समय-समय पर अनेक विपत्तियां आती हैं; जैसे युद्ध, भयंकर रोग, अकाल, राजनीतिक संकट आदि, परन्तु इन सबसे अधिक भयंकर विपत्ति मुद्रा-संकुचन की है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के भाव शनैः-शनैः नीचे होते जाते हैं। इससे व्यापार मन्द पड़ जाता है, उद्योग बन्द होने लगते हैं, समाज की प्रगति रुक जाती है, आर्थिक कलेवर छिन्न-भिन्न होने लगता है तथा देश का सम्पूर्ण ढांचा बिगड़ जाता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, कभी-कभी मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति के दोषों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को दूर करने के लिए किया जाता है, परन्तु इससे यह उद्देश्य अधिक अंश में पूरा नहीं हो पाता। मुद्रा-संकुचन से तो कुछ कठिनाइयां और पैदा हो जाती हैं। रोग का इलाज उसके बढ़ने का कारण बन जाता है। यदि मुद्रा-स्फीति के कारण पैदा हुए ऊंचे भावों को घटाने के उद्देश्य से मुद्रा-संकुचन किया जाता है तो धीरे-धीरे भाव इतने नीचे चले जाते हैं कि व्यापार की स्थिति संभालना कठिन हो जाता है। अतः मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति से कोई कम भयंकर रोग नहीं होता।

मुद्रा-संकुचन का काल—१९२० से १९३० तक की दशाब्दी व १९३०-४० की दशाब्दी मुद्रा-संकुचन के युग कहे जाते हैं। हमारे देश में पहिली दशाब्दी में मुद्रा-संकुचन की नीति काम में लाई गई जिसके अन्तर्गत लगभग ९० करोड़ रुपये का संकुचन किया गया था। इसी समय इटली और फ्रांस में भी मुद्रा-संकुचन किया गया था। इटली की सरकार ने १९३१ और १९३५ में दो बार मुद्रा-संकुचन किया। फ्रांस में १९३५ में मुद्रा-संकुचन किया गया था परन्तु वहां जनता के विरोध के कारण यह अधिक सफल नहीं हो सका।

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन का भेद

हमने देखा कि मुद्रा का मूल्य घटने-बढ़ने या वस्तुओं के भाव बढ़ने-घटने से समाज के सभी वर्गों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। वस्तुओं के भाव बढ़ने से व्यापार, व्यापारी तथा उद्योगपति को लाभ होता है तो वेतन-भोगियों तथा उपभोक्ताओं को हानि रहती है। इसी प्रकार वस्तुओं के भाव घटने से यदि उपभोक्ताओं को लाभ होने की आशा होती है तो इससे व्यापार और व्यापारी बिगड़ जाते हैं, उत्पादन कम होने लगता है, उद्योगों के द्वार बन्द होने लगते हैं और बेकारी की समस्या सामने आ जाती है। इस प्रकार यदि मुद्रा-स्फीति से व्यापार में भ्रष्टाचार फैलता है तो मुद्रा-संकुचन से व्यापार ठप्प होने लगता है। अतः मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन दोनों ही समाज को हानिकारक होते हैं। प्रो० कीन्स ने लिखा है—"मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है तो मुद्रा-संकुचन अनावश्यक है" (Inflation is unjust and Deflation is inexpedient)। प्रो० सेलिग्मैन का भी कहना है—"चढ़ते हुए तथा गिरते हुए भावों के कारण देश के आर्थिक कलेवर में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार और उद्योग की स्थिति डावांडोल हो जाती है और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को विषम अनुपात में लाभ और हानि होती है। ऊँचे और नीचे भावों से इतनी हानि नहीं होती जितनी निरन्तर ऊंचे चढ़ते हुए या नीचे गिरते हुए भावों से हानि होती है।" अतः यह सच है कि वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता नहीं रहनी चाहिए। न तो ऊँचे चढ़ते हुए भाव समाज को हितकर होते हैं और न गिरते हुए भावों से ही समाज को कोई लाभ होता है। समाज के हित में तो यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यक है कि जहां तक हो सके मूल्य-स्तर स्थायी बना रहे और मूल्य धीरे-धीरे और थोड़े-थोड़े ऊँचे बढ़ते रहें। इससे कृषि, व्यापार और उद्योग—सभी में स्थायित्व पैदा होता है और प्रगति होने की भी आशा बनी रहती है। गिरते हुए भाव न तो व्यापार को प्रगति देते हैं और न इससे मजदूरों का ही हित होता है। अतः प्रत्येक सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देश में वस्तुओं के भावों को स्थिर और स्थायी बनावे। इसी में समाज का कल्याण है।

मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)

द्वितीय युद्धकाल से 'मुद्रा-अपस्फीति' नामक शब्द प्रयोग में आने लगा है। वह मुद्रा-नीति जो देश में मुद्रा-स्फीति को रोक कर उसके दोषों को दूर करने के लिए काम में लाई जाय 'मुद्रा-अपस्फीति' की नीति कहलाती है। हमारे देश में युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति ने बड़ा प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था, वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे थे, मुद्रा की क्रय-शक्ति पाताल में धंसी जा रही थी, व्यापार में तरह-तरह के अनाचार, भ्रष्टाचार, चोर-बाजारी तथा घूंसखोरी बढ़ने लगी थी, उस समय सरकार ने मुद्रा-अपस्फीति की नीति का पालन किया। मुद्रा-अपस्फीति की नीति के अन्तर्गत सरकार ने निम्न काम किए:—

(१) मुद्रा की बढ़ी हुई मात्रा को वापस खींचने के लिए जनता पर नए-नए कर लगाए।
(२) जनता से सरकार ने ऋण लिए।
(३) सरकार ने सोना बेचा जिससे लोग सोना खरीदकर बदले में मुद्रा सरकार को वापिस कर दें जिससे क्रय-शक्ति कम हो जाय।
(४) वस्तुओं के भावों और उनकी बिक्री पर नियन्त्रण लगा दिए।
(५) देश में उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएँ दी गईं।
(६) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने खर्चे कम करके बजट के घाटे पूरा करने की कोशिश की।
(७) चोर-बाजारी दूर करने के लिए कड़े-कड़े नियम बनाए गए।
(८) कम्पनियों के लाभांश की दर सीमित कर दी गई।

मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन—कुछ लोग समझते हैं कि मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन एक ही सी बात है, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति को कम करने के उपाय किए जाते हैं परन्तु मुद्रा-संकुचन में वस्तुओं के भावों को गिराने और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ाने के काम किए जाते हैं। दोनों ही नियमों में मुद्रा की मात्रा कम करनी पड़ती है परन्तु मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा इतनी कम की जाती है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के समानुपात में आ जाय; मुद्रा-संकुचन में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक कम कर दी जाती है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से भी कम हो जाती है और देश में चारों ओर मन्दी का वायु-मण्डल छा जाता है। इस प्रकार दोनों नीतियों के उद्देश्यों में अन्तर है और दोनों के परिणामों में भी अन्तर है यद्यपि दोनों की विधि एक ही सी है।

मुद्रा-संस्फीति (Reflation)

जब कभी मुद्रा-संकुचन इतनी अधिक मात्रा में कर दिया जाय कि वस्तुओं के भाव बहुत अधिक घट जायं तो मूल्य-स्तर को उठाने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। कोल नामक मुद्रा-शास्त्री ने कहा है—"मन्दी को दूर करने के लिए जान-बूझकर जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं।" मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मंदी को दूर करके मूल्य-स्तर ऊँचा उठाना होता है। मुद्रा-संस्फीति करने से वस्तुओं के भाव एकदम एक साथ ऊँचे नहीं उठते वरन् शनैः शनैः ऊँचे होते जाते हैं। मन्दी के कारण देश में जो बेकारी फैल जाती है उसे दूर करने के लिए मुद्रा-संस्फीति की जाती है जिससे बेकार लोगों को काम मिल जाय।

मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति

कुछ लोग समझते होंगे कि मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति एक ही बात है, परन्तु ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि दोनों परिस्थितियों में मुद्रा-प्रसार किया जाता है परन्तु दोनों के उद्देश्यों में अन्तर है। मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मन्दी को दूर करके मूल्य-स्तर कों ऊँचा करना होता है जिससे बेकार लोगों को काम मिल सके और जब यह उद्देश्य पूरा हो जाता है तो मुद्रा-प्रसार करना बन्द कर दिया जाता है। मुद्रा-स्फीति का उद्देश्य एक साथ मुद्रा की मात्रा बढ़ाना होता है जिससे मूल्य-स्तर एकदम ऊँचा हो जाता है—इसमें मुद्रा-प्रसार करने की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। मुद्रा-संस्फीति तब तक की जाती है जब तक कि देश में पूरा रोजगार न हो जाय परन्तु मुद्रा-स्फीति इससे भी आगे तक होती रहती है। मुद्रा-संस्फीति में मूल्य एकदम एक साथ ऊँचे नहीं होते परन्तु मुद्रा-स्फीति में मूल्य-स्तर एकदम ऊँचे होने लगते हैं। संक्षेप में, मुद्रा-संस्फीति का परिणाम क्रियात्मक होता है और मुद्रा-स्फीति का परिणाम विनाशकारी होता है। मुद्रा-संस्फीति राष्ट्र और समाज के हित के लिए होती है परन्तु मुद्रा-स्फीति सरकार की स्वार्थसिद्धि के लिए होती है। डा० शर्मा ने लिखा है "निठल्ली पूंजी और बेकार श्रमिकों को रोजगार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं, परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं।"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्य-वृद्धि
(Appreciation of Money)

जब मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है तो उसे मुद्रा की मूल्य-वृद्धि कहते हैं। यदि पहिले एक रुपया ३ सेर गेहूँ खरीदता हो और अब ४ सेर खरीदने लगे तो कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य बढ़ गया है। मुद्रा का मूल्य बढ़ने के कई कारण हो सकते हैं :—

(१) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं की प्रदाय बढ़ जाय।

(२) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय परन्तु वस्तुओं की प्रदाय उसके अनुपात से और भी अधिक बढ़ जाय।

(३) जब वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे पर मुद्रा की मात्रा कम हो जाय।

लाभ—(१) लेनदार को लाभ होता है क्योंकि अब उसको अपने देनदार से अधिक मूल्य मिलता है।

(२) वेतन-भोगी लोगों को भी लाभ होता है क्योंकि उनकी आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है।

हानि—(१) मुद्रा की मूल्य-वृद्धि होने से वस्तुओं के भाव घट जाते हैं। वस्तुओं के भाव घटने से व्यापारियों को हानि रहती है, उत्पादन कम होने लगता है, उद्योगों के द्वार बन्द होने लगते हैं तथा बेकारी बढ़ने लगती है। पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों को भी हानि रहती है।

(२) देनदार को हानि रहती है। करदाता को भी हानि रहती है क्योंकि उन्हें अब उतनी ही मुद्रा देकर भी अधिक मूल्य देना पड़ता है।

यहां हमें शनैः शनैः घटने वाले वस्तुओं के मूल्यों व एकदम तेजी से घटने वाले मूल्यों का भेद समझना आवश्यक है। जब भाव एक साथ घट जाते हैं तो उससे समाज को बड़ी हानि रहती है—उत्पादन एकदम गिर जाता है और बहुत से मजदूर एक साथ बेकार हो जाते हैं। परन्तु जब शनैः शनैः मूल्य गिरते हैं तो उतनी हानि नहीं होती।

मूल्य-ह्रास
(Depreciation of Money)

जब मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया है। यदि पहिले एक रुपया ३ सेर गेहूँ खरीदता हो और अब केवल २ सेर ही खरीदे तो कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया है। मूल्य-ह्रास होने से वस्तुओं के भाव ऊंचे हो जाते हैं। मूल्य-ह्रास निम्न कारणों से हो सकता है :—

(१) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं की प्रदाय कम हो जाय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय परन्तु वस्तुओं की मात्रा लगभग उतनी ही रहे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसी कारण से इंगलैण्ड और भारत में मूल्य-ह्रास हुआ था। द्वितीय युद्धकाल में भी भारत में ऐसा हुआ था।

लाभ—(१) वस्तुओं के भाव बढ़ने से व्यापारियों और उद्योगियों के लाभ बढ़ जाते हैं जिससे व्यापार को भी प्रगति मिलती है। उत्पादकों को भी लाभ मिलता है क्योंकि उनका माल अब ऊंचे भावों पर बिकने लगता है। उत्पादन में वृद्धि होती है और श्रमिकों के रोजगार बढ़ जाते हैं।

(२) वस्तुओं के सामान्य भाव बढ़ने से उत्पादन के नए-नए स्रोत निकलने लगते हैं। प्रो० इलाई का कहना है—"चढ़ते हुए भावों से उत्पादन को नया प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन के नए-नए साधन और नए-नए स्रोत निकल आते हैं।"

(३) लेनदार को हानि और देनदार को लाभ होता है क्योंकि मुद्रा की क्रय-शक्ति गिर जाने से लेनदार को अपने देनदार से कम मूल्य मिलता है यद्यपि देनदार उतनी ही राशि लौटाता है जितनी उसने ली थी।

हानि—(१) मुद्रा के मूल्य-ह्रास के कारण वस्तुओं के भाव चढ़ने से व्यापार में अधिक लाभ होता है जिससे सट्टेबाजी और मुनाफाखोरी बढ़ने लगती है। उत्पादक केवल उत्पादन बढ़ाने में लग जाते हैं जिससे उत्पादन की कुशलता कम होने लगती है और माल की कोटि गिर जाती है।

(२) उपभोक्ताओं को हानि होती है क्योंकि वस्तुओं के भाव बढ़ जाने के कारण अब उन्हें अधिक चुकाना पड़ता है।

(३) वेतनभोगी लोगों को हानि रहती है क्योंकि वस्तुओं के भाव तो बढ़ जाते हैं परन्तु उनका वेतन उतना नहीं बढ़ता। उन्हें अपना जीवन-स्तर निभाना दूभर हो जाता है।

आदर्श मूल्य-स्तर की कल्पना

कुछ लोगों का विश्वास है कि चढ़ते हुए मूल्य-स्तर देश और समाज के हित में होते हैं क्योंकि उनके द्वारा देश में उत्पादन बढ़ने लगता है, श्रमिकों का रोजगार बढ़ जाता है और पूंजी लगाने के नए-नए स्रोत निकल आते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग सोचते हैं कि गिरते हुए मूल्य-स्तर समाज के हित में होते हैं। परन्तु इन दोनों विचारधाराओं में से किसी को भी आदर्श मूल्य-स्तर की कल्पना नहीं कह सकते। कैसल, कीन्स तथा हार्टले ह्विदर्स नामक विख्यात अर्थशास्त्रियों का कहना है कि न तो चढ़ते हुए मूल्य अच्छे होते हैं और न गिरते हुए मूल्य-स्तर ही आदर्श कहे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि स्थायी और स्थिर मूल्य-स्तर ही समाज के हित में हो सकते हैं क्योंकि स्थायी मूल्य-स्तरों से व्यापार, उद्योग, लेनदार, देनदार व उत्पादन की अनिश्चितता दूर हो जाती है। स्थायी मूल्य-स्तर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से ही उत्पादन, व्यापार, रोजगार तथा उद्योगों में स्थिरता और स्थायित्व आता है। परन्तु यह विचारधारा भी आज के युग में सर्वथा सत्य नहीं कही जा सकती। आज के युग में धीरे-धीरे और थोड़े-थोड़े चढ़ते हुए मूल्य-स्तर ही आदर्श माने जाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती है और आर्थिक कलेवर में प्रगति आती है।

अवमूल्यन
(Devaluation)

अर्थ—सितम्बर १९४९ से लोगों की जिह्वा पर 'अवमूल्यन' शब्द भी प्रयोग में आने लगा है। अतः यहां इसका विवेचन कर देना भी उचित जान पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-क्षेत्र में देशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा के अनुपात में मूल्य घटाने को 'अवमूल्यन' कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि जब देशी मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा के अनुपात में अपेक्षाकृत कम कर दी जाय तो देशी मुद्रा का अवमूल्यन समझा जायगा। मान लो, १ रुपया अमेरिका के ३० सेंट के बराबर था—अब उसका मूल्य ३० सेंट से घटाकर २१ सेंट कर दिया गया तो कहेंगे कि डॉलर के अनुपात में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया है।

कारण—मुद्रा का अवमूल्यन देश की आन्तरिक परिस्थिति के कारण नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर किया जाता है। जब कभी किसी देश का निर्यात व्यापार कम हो जाता है और देश का आन्तरिक मूल्य-स्तर इतना ऊंचा हो जाता है कि विदेशों में निर्यात करना दूभर हो जाय तो निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से देश की मुद्रा का अन्य देश (जिसमें निर्यात बढ़ाना हो) की मुद्रा में अवमूल्यन कर दिया जाता है। अवमूल्यन करने से विदेशी मुद्रा में देशी मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप निर्यात बढ़ने लगते हैं। जब कभी किसी देश को आयात करने की आवश्यकता हो परन्तु आयात के बदले में चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा या सोना न हो और देश के मूल्य-स्तर इतने ऊँचे हों कि विदेशों में निर्यात भी न किया जा सके तो मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा कमाई जाती है जिससे आयात करने में सुविधा हो। मुद्रा का अवमूल्यन एक ऐसी रहस्यमय विधि है जिसके द्वारा एक देश का माल (जिसकी मुद्रा का अवमूल्यन किया गया है) दूसरे देश में (जिसकी मुद्रा के अनुपात में एक मुद्रा का अवमूल्यन किया गया है) सस्ते भावों पर पहुँचाया जाता है। किसी देश का निर्यात बढ़ाने के लिए अवमूल्यन एक सस्ता तरीका है।

प्रभाव—देश के आर्थिक कलेवर पर अवमूल्यन के ये प्रभाव पड़ते हैं :—

(क) निर्यात बढ़ जाते हैं;

(ख) आयात महँगे हो जाते हैं जिससे आयात-व्यापार में कमी होने लगती है;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ग) आयात महँगे होने से देश का मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है।

रुपये का अवमूल्यन—१९ सितम्बर १९४९ को भारत सरकार ने स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का डॉलर के अनुपात में ३०.५% अवमूल्यन किया। अवमूल्यन से पहिले एक रुपया लगभग ३० सेंट के बराबर था जो अवमूल्यन के पश्चात् कोई २१ सेंट के बराबर रह गया। बात यह थी कि भारत को डॉलर-क्षेत्र से अन्न तथा मशीन आदि पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता थी परन्तु इनका मूल्य चुकाने के लिए भारत सरकार के पास न डॉलर थे और न सोना था। भारत के मूल्य-स्तर इतने ऊँचे थे कि डॉलर-क्षेत्र के देश विशेषतः अमेरिका हमारे बाजारों से माल नहीं खरीद पाते थे। वस्तुतः हमारे निर्यात लगभग बन्द ही से थे जिससे हम डॉलर कमाने में भी असमर्थ थे। देश में मूल्य-स्तर नीचा करना कठिन था। अतः भारत सरकार ने रुपये का डॉलर-मूल्य कम कर दिया जिससे भारत का निर्यात बढ़ सके और उसके द्वारा डॉलर कमाकर आवश्यक आयात किए जा सकें। भारतीय रुपये के साथ-साथ कोई २४ अन्य देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का डॉलर-मूल्य कम किया क्योंकि सभी के सामने निर्यात बढ़ाने की समस्या थी।

मुद्रा का मूल्य-मापन (निर्देशांक)

मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों का मापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्व-पूर्ण है। यह बताया जा चुका है कि मुद्रा के मूल्य में घटा-बढ़ी होने से कुछ लोगों को लाभ होता है और कुछ लोगों को बड़ी भारी हानि होती है। अतः यदि मुद्रा के मूल्य को मापते रहें और उसमें आवश्यक समायोजन करते रहें तो समाज में इस प्रकार की विषमता कुछ सीमा तक दूर की जा सकती है। भावी लेन-देन की सुविधा के हेतु मुद्रा का मूल्य मापना बहुत ही आवश्यक है। मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों को ज्ञात करके हम भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न वर्षों में मनुष्यों की आय और मजदूरों की मजदूरी की वास्तविकता की तुलना कर सकते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति को माप कर दो देशों की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक ज्ञान किया जा सकता है और तब सामाजिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु एक बात है—मुद्रा के मूल्य अथवा वस्तुओं के भावों में जो परिवर्तन होते हैं उनको ठीक-ठीक मापने की कोई भी विधि नहीं है। हां, मूल्य-स्तर में होनेवाली घटा-बढ़ी का सामान्य अनुमान एक विधि द्वारा लगाया जा सकता है जिसे मूल्य-निर्देशांक (Price index numbers) कहते हैं। मूल्य-निर्देशांकों के द्वारा हम एक काल के मूल्य-स्तर की तुलना दूसरे काल के मूल्य-स्तर से करते हैं। मूल्य निर्देशांक एक काल से दूसरे काल में वस्तुओं के भावों में होनेवाले प्रतिशत औसत को दर्शाते हैं। जब वस्तुओं के भावों में परिवर्तन होता है तब सब वस्तुओं के भाव एक समान नहीं घटते-बढ़ते। किसी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वस्तु का भाव बहुत बढ़ता है तो किसी का कम; और किसी का भाव घट भी जाता है। इसलिए यह निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है कि किसी एक स्थान में वस्तुओं का सकल मूल्य कितना बढ़ा या कितना घटा ? यदि हमें यह ज्ञात करना हो कि देश भर में वस्तुओं के मूल्य में कितनी घट-बढ़ हुई तो यह समस्या और भी जटिल रूप धारण कर लेती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वस्तुओं के मूल्य भिन्न-भिन्न प्रकार से बदलते रहते हैं परन्तु यदि किसी भी समय इन मूल्यों की हम दूसरे काल के मूल्यों से तुलना करें तो हम देखेंगे कि ऐसी अवस्था में मूल्यों का सामान्य स्तर एक ही दिशा में होगा, या तो सामान्य स्तर में चढ़ाव होगा या उतार होगा। मूल्य-स्तर के इस सामान्य चढ़ाव-उतार को मूल्य-निर्देशांक बनाकर मापा जाता है।

मूल्य-निर्देशांकों के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—(१) वस्तुओं के भावों के सामान्य परिवर्तन को दर्शाना और (२) इस परिवर्तन का विभिन्न श्रेणियों के लोगों पर हुए प्रभाव को समझाना। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो निदशांक तैयार किये जाते हैं वे सब प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों में हुए परिवर्तनों के आधार पर तैयार किए जाते हैं और दूसरे उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले निर्देशांक उन वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तन के आधार पर बनाए जाते हैं जो वस्तुएं उस विशिष्ट श्रेणी की जनता के द्वारा उपयोग में लाई जाती हैं।

निर्देशांक का प्रयोग केवल वस्तुओं का मूल्य-स्तर मापने के लिए ही नहीं वरन् देश की वस्तुओं के उत्पादन में घट-बढ़ जानने के लिए, देशवासियों की आर्थिक दशा में परिवर्तन समझने के लिए तथा मजदूरों की मजदूरी की घट-बढ़ एवं उसका प्रभाव समझने के लिए भी किया जाता है। पर यहां हम विशेषतः वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांकों के बारे में ही विचार करेंगे।

मूल्य-निर्देशांक बनाने की विधियां

मूल्य-निर्देशांक प्रायः दो प्रकार के होते हैं :—

(क) सामान्य निर्देशांक (General index numbers)

(ख) भारशील निर्देशांक (Weighted index numbers)

सामान्य निर्देशांक बनाने की विधि—(१) सामान्य निर्देशांक बनाने के लिए सबसे पहिले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हमें किस वर्ष के मूल्य-स्तर से तुलना करना है। इसके लिए सामान्यतः एक ऐसा वर्ष चुन लिया जाता है जिसमें कोई ऐसी विषम घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तुओं के मूल्यों में कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो। यह वर्ष ऐसा हो जिसमें वस्तुओं के मूल्यों में कोई असाधारण उतार-चढ़ाव न हुए हों। इस वर्ष को आधार-वर्ष कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें गत महायुद्ध की वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि के विषय में जानना हो तो हम सन्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९३८-३९ को आधार-वर्ष मान लेंगे और उसी वर्ष के मूल्य-स्तर के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्य-स्तरों की तुलना करेंगे। कभी-कभी तुलना के लिए एक ऐसा आधार-वर्ष नहीं मिलता जिसमें कोई विषम घटना न घटी हो या कोई अन्य असाधारण बात न हुई हो। ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष, पांच वर्ष या सात वर्ष का औसत मूल्य आधार मान लिया जाता है और इसी औसत मूल्य के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना की जाती है। आधार-वर्ष की विभिन्न वस्तुओं का मूल्य १०० कल्पित कर लिया जाता है और इस कल्पना के पश्चात् उनके योग को वस्तुओं की क्रम-संख्या से भाग देने के बाद जो भागफल आता है वह आधार-वर्ष का निदर्शांक होता है। (सामने के पृष्ठ की तालिका का कालम ४ देखिये)

(२) आधार-वर्ष निश्चित कर लेने के पश्चात् यह जान लेना चाहिए कि निर्देशांक में किन-किन वस्तुओं के मूल्यों का समावेश हो। वैसे तो बाजार में सहस्रों प्रकार की वस्तुएं आती हैं; और यदि सब वस्तुओं के मूल्य प्रति दिन और प्रति स्थान से ज्ञात करने का प्रयत्न किया जाय तो कार्य जटिल हो जायगा। अतएव कुछ ऐसी वस्तुएं चुन ली जाती हैं जो प्रायः सब जगह सभी के उपयोग में आती रहती हैं।

(३) वस्तुएं चुन लेने के पश्चात् यह जानना चाहिए कि निर्देशांक बनाने में उन वस्तुओं का थोक-मूल्य काम में लाया जाय या फुटकर मूल्य काम में लाया जाय। मूल्य उस स्थानविशेष से प्राप्त किये जाने चाहिएं जहां उस वस्तु का क्रय-विक्रय बहुत अधिक मात्रा में होता हो। अतएव प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग स्थान चुन लिया जाता है। चुने हुए स्थानों से चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य एकत्रित करते समय इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि मूल्य सदा उसी श्रेणी की उसी वस्तुविशेष का लिया जाय। यदि युद्ध अथवा अन्य किसी कारण से किसी वस्तु के मल्य का सरकार द्वारा नियन्त्रण किया गया हो तो नियंत्रित मूल्य न देकर वह मूल्य लेना चाहिए जिस पर वह वस्तु 'साधारणतः उपभोक्ताओं को मिलती हो। जहां तक सम्भव हो सके वस्तुओं के वास्तविक मूल्य जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

उदाहरण--मान लीजिए कि हमें १९३९ और १९५३ के मूल्य-स्तरों की तुलना करनी है। १९३९ में गेहूं का भाव ५ रुपये प्रति मन, शकर का भाव २० रुपये प्रति मन, कोयला ३ रुपये प्रति मन तथा घी ४० रुपये प्रति मन था और इन्हीं वस्तुओं की कीमतें आज १९५३ में क्रमशः २० रुपये प्रति मन, ८० रुपये प्रति मन, १२ रुपये प्रति मन तथा १२० रुपये प्रति मन हैं—तो इनके निर्देशांक इस प्रकार होंगे :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रम-संख्या	वस्तुएं	मूल्य-स्तर १९३९ (आधार-वर्ष)		मूल्य-स्तर १९५३ (अभीष्ट-वर्ष)	
		वास्तविक मूल्य प्रतिमन	निर्देशांक (कल्पित)	वास्तविक मूल्य प्रतिमन	निर्देशांक
१	गेहूँ	५ रुपये	१००	२० रुपये	४००
२	शकर	२० "	१००	८० "	४००
३	कोयला	३ "	१००	१२ "	४००
४	घी	४० "	१००	१२० "	३००
	योग		४००		१५००
	मूल्य-स्तर निर्देशांक		÷४		÷४
			१००		३७५

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि १९३९ की अपेक्षा १९५३ में गेहूँ की कीमत चौगुनी, शकर की कीमत चौगुनी, कोयला की भी चौगुनी तथा घी की कीमत तिगुनी हो गई थी। अतः १९३९ की अपेक्षा १९५३ के निर्देशांक ४०० ४००, ४०० तथा ३०० होंगे। इनका योग १५०० होगा और वस्तुओं की योग-संख्या अर्थात् ४ से भाग देने पर भागफल ३७५ हुआ। यही १९५३ का मूल्य-निर्देशांक है। इससे यह बात ज्ञात होती है कि १९३९ की अपेक्षा १९५३ का मूल्य-स्तर ३७५ हो गया है।

भारशील निर्देशांक बनाने की विधि—निर्देशांक बनाने के लिए जब कुछ वस्तुएं चुनी जाती हैं तो उन सब वस्तुओं का एकसा महत्त्व नहीं होता। उनमें से कुछ वस्तुओं का महत्त्व अधिक होता है तथा कुछ का अपेक्षाकृत कम होता है। इसी महत्त्व के अनुसार निर्देशांक के लिए चुनी हुई प्रत्येक वस्तु के लिए कुछ 'भार-अंक' निर्धारित कर दिए जाते हैं। जिस वस्तु का उपभोग में अधिक महत्त्व होता है उसको अधिक भार-अंक नियत किये जाते हैं और जिसका कम महत्त्व होता है उसको कम भार-अंक नियत किये जाते हैं। वस्तुओं को भार-अंक निर्धारित करने का आशय यह होता है कि जीवन में जिस वस्तु का अधिक महत्त्व होता है उसकी कीमत में परिवर्तन होने से रहन-सहन के स्तर में अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि उस वस्तु पर मनुष्य की आय का अधिकांश भाग व्यय होता है। किंतु जो वस्तुएं कम महत्त्व की होती हैं उन पर कम व्यय होता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और उनकी कीमत में परिवर्तन होने पर रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन होने की कम सम्भावना रहती है ।

उदाहरण--मान लीजिए, हमारे पिछले उदाहरण में जो वस्तुएं चुनी गई हैं उनका महत्त्व क्रमानुसार इस प्रकार है—गेहूँ, शकर, कोयला और घी । इसी महत्त्व के अनुसार हम प्रत्येक वस्तु को क्रमानुसार ४, ३, २, १ का भार-अंक निर्धारित करते हैं । १९३९ के मूल्यों को हम १०० कल्पित करके उनको प्रत्येक वस्तु के भार-अंक से गुणा करेंगे और फिर जो योग होगा वह आधार-वर्ष का भारशील निर्देशांक होगा । इसी प्रकार हम १९५३ के मूल्यों के साथ करेंगे जैसे :—

क्रम-संख्या	वस्तु	मूल्यस्तर १९३९ (आधार-वर्ष)			मूल्य-स्तर १९५३ (अभीष्ट-वर्ष)		
		वास्तविक मूल्य (प्रति मन)	भार अंक	भारशील मूल्य	वास्तविक मूल्य (प्रति मन)	आधार-वर्ष से तुलनात्मक मूल्य	भारशील मूल्य
१	गेहूं	५ रुपये	४	४००	२० रुपये	४००	४०० × ४ = १६००
२	शकर	२० "	३	३००	८०	४००	४०० × ३ = १२००
३	कोयला	३ "	२	२००	१२ "	४००	४०० × २ = ८००
४	घी	४० "	१	१००	१२० "	३००	३०० × १ = ३००
	योग		१०	१०००			३९००
	भारशील निर्देशांक—			÷१०			÷१०
				१००			३९०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपर्युक्त तालिका के भारशील-निर्देशांकों से स्पष्ट होता है कि १९३९ और १९५३ के मूल्य-स्तरों में भारी अन्तर था। १९५३ के मूल्य-स्तर १९३९ की अपेक्षा ३९० थे।

सामान्य और भारशील मूल्य-निर्देशांकों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोनों में बहुत अधिक अन्तर है। इसका यह कारण हो सकता है कि हमने विभिन्न वस्तुओं के जो भार-अंक निर्धारित किये हैं वे उनके वास्तविक महत्त्व से अधिक व कम हों। अतः भारशील-निर्देशांक अधिक विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते और सामान्यतः इनका प्रयोग भी कम ही किया जाता है। सामान्य निर्देशांकों द्वारा हम मूल्य-स्तरों के वास्तविक उलट-फेर का सही-सही अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु इनको बनाते समय वस्तुओं का चुनाव ठीक होना तथा उनकी कीमतों का सही-सही पता लगना आवश्यक है। सामान्य निर्देशांक बनाने में जितनी अधिक वस्तुएं चुनी जाएंगी उतने ही अधिक विश्वसनीय निर्देशांक प्राप्त हो सकेंगे।

निर्देशांक बनाने में सावधानी की आवश्यकता

निर्देशांक बनाते समय निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए :—

(१) आधार-वर्ष का चुनाव—आधार-वर्ष चुनने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। यह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमें कोई ऐसी विषम घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य में विशेष परिवर्तन हुआ हो। उस वर्ष में कोई असाधारण बात न होनी चाहिए। आधार-वर्ष का चुनाव प्रायः निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर होता है। युद्ध से पहिले तथा युद्ध-काल व युद्ध के पश्चात् के मूल्य-स्तरों की तुलना करने के लिए १९३९ का आधार-वर्ष अधिक उपयोगी हो सकता है। कभी कभी तुलना के लिए एक भी ऐसा आधार-वर्ष नहीं मिलता जिसमें कोई असाधारण बात न हुई हो। ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष, पांच वर्ष अथवा सात वर्ष का औसत मूल्य आधार मान लिया जाता है और इसी औसत मूल्य के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना की जाती है।

(२) वस्तुओं का चुनाव—निर्देशांक बनाने में कौन सी वस्तुएं सम्मिलित की जायं, इसमें भी सावधानी की आवश्यकता है। वस्तुओं का चुनाव प्रायः निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर होता है। अतः वस्तुएं ऐसी होनी चाहिएं जिनसे निर्देशांक बनाने का उद्देश्य पूरा हो सके। प्रायः ऐसी वस्तुएं चुननी चाहिएं जो सर्वत्र सभी के उपयोग में आती हों। चुनी हुई वस्तुओं को कोटि भिन्न-भिन्न वर्षों में वही रहनी चाहिए।

(३) वस्तुओं के मूल्यों का समावेश—चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। थोक मूल्य हों अथवा फुटकर मूल्य हों,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह बात निर्देशांक के उद्देश्य पर निर्भर होती है। यदि रहन-सहन का स्तर ज्ञात करना हो तो फुटकर मूल्य लेने चाहिएं और यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जानकारी करनी हो तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आनेवाले मूल्य ज्ञात करने चाहिएं। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस स्थान-विशेष से प्राप्त करना चाहिए जहां उस वस्तु का क्रय-विक्रय बहुत अधिक परिमाण में होता हो। चुने हुए स्थानों से चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मूल्य सदा उस वस्तु-विशेष की उसी कोटि का हो, भिन्न-भिन्न कोटियों का नहीं। चोर-बाजार में बेची जानेवाली वस्तुओं के मूल्य नहीं लेने चाहिएं। इसी प्रकार सरकार द्वारा नियंत्रित मूल्य भी नहीं लेने चाहिएं।

(४) 'भार-अंक' निर्धारित करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। उपभोग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु का भार-अंक सबसे अधिक और कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के भार-अंक कम होने चाहिएं।

(५) मूल्य तथा भार-अंकों के जोड़ने-घटाने तथा गुणा-भाग करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। औसत मान भी ध्यान-पूर्वक निकालना चाहिए।

निर्देशांक बनाने में अड़चनें

सब प्रकार की सावधानी रखते हुए भी निर्देशांक बनाने में कुछ ऐसी अड़चनें आती हैं जिनके कारण सच्चे और वास्तविक निर्देशांक तैयार नहीं हो पाते और इसलिए इनके प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है। मुख्य अड़चनें निम्न हैं :—

(१) ऐसा आधार-वर्ष मिलना बहुत कठिन है जिसमें कोई भी विषम परिस्थिति न आई हो और कोई असाधारण घटना न घटी हो।

(२) आधार-वर्ष के मूल्य-स्तरों की अन्य वर्षों के मूल्य-स्तरों से तुलना करना कठिन होता है क्योंकि कई कई वर्षों के बाद वस्तुओं की कोटि बदलती रहती है।

(३) निर्देशांकों के द्वारा भिन्न-भिन्न देशों के मूल्य-स्तरों की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों में आधार-वर्ष, वस्तुओं का चुनाव तथा वस्तुओं के मूल्य ज्ञात करने के साधन भिन्न-भिन्न होते हैं।

(४) निर्देशांक मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन को अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर को सही-सही नहीं दर्शाते; क्योंकि वे केवल मूल्य-स्तर का औसत मान बताते हैं तथा मुद्रा-प्रसार एवं मुद्रा-संकुचन से होनेवाले परिणामों को नहीं बता सकते। निर्देशांकों के द्वारा मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तन सही-सही नहीं मापे जा सकते, केवल उनका अनुमान लगाया जा सकता है; परन्तु यह निर्देशांकों का दोष नहीं कहा जा सकता। मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों को तो मापना असम्भव ही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रॉबर्टसन ने लिखा है कि "मुद्रा के मूल्यों में होनेवाले परिवर्तनों को सही-सही मापना न सैद्धांतिक दृष्टि से और न प्रत्यक्ष व्यवहार में ही सम्भव है।"* प्रो० मार्शल का भी यही विचार है, उन्होंने लिखा है—"क्रय-शक्ति का सही-सही माप लेना असम्भव ही नहीं वरन् विचारणीय भी नहीं है।"†

निर्देशांकों की उपयोगिता

(१) निर्देशांकों के द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति की घटत-बढ़त का सामान्य अनुमान लगाया जा सकता है और फिर इन अनुमानों के द्वारा देश के रहन-सहन के स्तर को भली-भांति पहिचाना जा सकता है।

(२) निर्देशांकों के द्वारा मजदूरों की मजदूरी के स्तर को आंका जा सकता है। जीवन-व्यय सम्बन्धी निर्देशांक बनाकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि मजदूरों की वास्तविक मजदूरी घट रही है या बढ़ रही है, और फिर आवश्यकतानुसार मजदूरी में समायोजन किया जा सकता है।

(३) निर्देशांकों के द्वारा वस्तुओं का औसत-मूल्य ज्ञात करके उसमें आवश्यक उलट-फेर किया जा सकता है और तब उनको स्थिर बनाया जा सकता है।

(४) दीर्घकालीन ऋणों के भुगतान में समता और संतुलन लाने के लिए भी निर्देशांकों का उपयोग होता है, क्योंकि इनके द्वारा क्रय-शक्ति के उतार-चढ़ाव ज्ञात हो सकते हैं अतः उनकी सहायता से उधार लेनेवाला उधार लिये जानेवाली रकम में से ऐसे उलट-फेर कर सकता है जिससे उसे अधिक हानि न हो।

(५) थोक-मूल्य-निर्देशांकों (wholesale price index numbers) के द्वारा वस्तुओं के मूल्य-स्तर का सामान्य रुख ज्ञात किया जा सकता है और तब उसके आधार पर चलन में आई हुई मुद्रा का समुचित संचालन किया जा सकता है। यदि थोक-मूल्य-निर्देशांक ऊंचे हों तो इसका अर्थ होता है कि मुद्रा का मूल्य गिर रहा है। इस गिरते हुए मूल्य को मुद्रा की मात्रा में आवश्यक समायोजन करके ऊंचा उठाया जा सकता है।

(६) निर्देशांकों के द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौन व्यापारी उन्नति कर रहा है या किस उद्योग की प्रगति हो रही है।

कहने का अर्थ यह है कि निर्देशांक आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त संबंधी

---

* "Neither in practice nor perhaps in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money."

† "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सभी समस्याओं को जानने और समझने के लिए उपयोगी हैं। इनके द्वारा व्यापार का रुख, पूंजी का बहाव, लाभ-हानि का ज्ञान आदि अनेक बातें ज्ञात की जा सकती हैं। प्रो० फिशर का कहना है—"वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थायी रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थायित्व लाने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी हैं।" यद्यपि निर्देशांकों के द्वारा मूल्य-स्तर के उतार-चढ़ावों का सही-सही ज्ञान नहीं हो सकता तो भी इनके द्वारा जो अनुमान लगाया जाता है वह बहुत उपयोगी होता है। एक मुद्रा-शास्त्री का कथन है कि निर्देशांक अर्थ-शास्त्री, राजनीतिज्ञ, व्यापार-विशेषज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ सभी के लिए समान रूप से उपयोगी होते हैं।

अन्य प्रकार के निर्देशांक

औद्योगिक दशा के निर्देशांक—निर्देशांकों का उपयोग देश की औद्योगिक दशा जानने के लिए भी किया जाता है। देश के भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों की उत्पत्ति के अंक एकत्र किए जाते हैं। आधार-वर्ष की उत्पत्ति १०० के बराबर मान ली जाती है और उसके आधार पर अन्य वर्षों की औद्योगिक उत्पत्ति के परिवर्तन का अनुमान निर्देशांक द्वारा लगाया जाता है। हमारे देश में कलकत्ता से 'केपिटल' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकलता है। वही सन् १९३२ से औद्योगिक दशा के निर्देशांक प्रकाशित कर रहा है। पहिले प्रत्येक वस्तु-समुदाय के उनकी उत्पत्ति के आधार पर अलग-अलग निर्देशांक तैयार किए जाते हैं। फिर प्रत्येक वस्तु-समुदाय के निर्देशांक को उसके भार-अंक से गुणा किया जाता है और सब गुणन-फलों को जोड़कर योगफल में भार-अंकों के योग से भाग दे दिया जाता है। यही भागफल औद्योगिक दशा का निर्देशांक माना जाता है। 'केपिटल' में प्रकाशित इन निर्देशांकों में घरेलू उद्योग-धंधों सम्बन्धी कोई सामग्री सम्मिलित नहीं रहती। केवल बड़े पैमाने पर चलाए जानेवाले कारखानों और उद्योगों की दशा का पता लगता है।

आर्थिक स्थिति के निर्देशांक—पाश्चात्य देशों में अब प्रति मास ऐसे निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं जिनसे देश की वास्तविक आर्थिक या व्यापारिक दशा का ज्ञान होता रहता है व जिनके आधार पर निकट-भविष्य की आर्थिक दशा का कुछ सामान्य अनुमान लगाया जाता है। जिस प्रकार 'बैरोमीटर' नामक यंत्र से हवा के दबाव का ज्ञान होता है और उसके आधार पर ऋतु-परिवर्तन का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार इन निर्देशांकों के द्वारा भविष्य की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः इन्हें आर्थिक 'बैरोमीटर' कहना भी अनुचित न होगा। इंगलैण्ड और अमेरिका में ऐसे निर्देशांक बराबर प्रकाशित किए जाते हैं परन्तु भारत में आवश्यक सामग्री न होने के कारण ऐसे निर्देशांक प्रकाशित नहीं होते।

निर्वाह-व्यय के निर्देशांक—जब सब वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होता है तब

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उनकी परिस्थिति और रहन-सहन के अनुसार उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। जब वस्तुओं के मूल्यों में सामान्य बढ़ोत्तरी होती है तब सभी व्यक्तियों का निर्वाह-व्यय एकसा नहीं बढ़ता। किसी का जीवन-व्यय अधिक बढ़ जाता है और किसी का कम। वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांकों से हम पता लगाते हैं कि मूल्य-स्तर में कैसा और कितना परिवर्तन हो रहा है किन्तु उनसे यह पता नहीं लगाया जा सकता कि निर्वाह-व्यय में क्या परिवर्तन हुआ है। वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण निर्वाह-व्यय में जो परिवर्तन होता है उसका अनुमान निर्वाह-व्यय निर्देशांकों द्वारा लगाया जा सकता है। निर्वाह-व्यय निर्देशांकों के तैयार करने की विधि प्रायः वही है जो मूल्य-निर्देशांक तैयार करने की है। निर्वाह-व्यय निर्देशांकों को तैयार करने के लिए वस्तुओं और स्थानों का चुनाव ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि मूल्य-निर्देशांकों में। वस्तुओं का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे ही वस्तुएं चुनी जायं जिनका उस श्रेणी के लोग, जिनके सम्बन्ध में निर्वाह-व्यय-निर्देशांक निकाले जा रहे हैं, अधिक उपभोग करते हों। जिन वस्तुओं पर वे लोग अधिक व्यय करते हों उन्हीं वस्तुओं को चुन लेना चाहिए। चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने पर आधार-वर्ष का चुनाव, वार्षिक या औसत मूल्य और प्रतिशत औसत मूल्य ठीक उसी प्रकार ज्ञात किया जाता है जिस प्रकार मूल्य-निर्देशांकों के लिए। प्रत्येक वस्तु के प्रतिशत औसत मूल्य को उस भार-अंक से गुणा किया जाता है जो उस अनुपात में रहता है जिस अनुपात में सामान्यतः व्यय होता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु के प्रभाव के अनुसार प्रतिशत औसत मूल्य का भारशील औसत निकाल दिया जाता है। सब गुणनफलों को जोड़कर उसे भार-अंकों से भाग दे दिया जाता है। भागफल निर्वाह-व्यय का निर्देशांक होगा।

इंगलैण्ड और अमेरिका में निर्देशांक-व्यवस्था

वैसे तो कितनी ही गैर-सरकारी संस्थाएं और पत्र-पत्रिकाएं निर्देशांक तैयार करके प्रकाशित करती हैं परन्तु निर्देशांक प्राप्त करने के प्रधान और विश्वसनीय स्रोत निम्न हैं :—

इंगलैण्ड में 'स्टेटिस्ट' नामक एक पत्र है जिसमें प्रतिमास मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित होते हैं। सबसे पहिले यह काम 'साबरेक' साहब ने आरम्भ किया था इसलिए इस पत्र में प्रकाशित निर्देशांक 'साबरेक निर्देशांक' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'एकॉनॉमिस्ट' नामक एक दूसरा प्रमुख पत्र है जिसमें ४४ वस्तुओं के मूल्य एकत्र करके निर्देशांक तैयार किए जाते हैं। इंगलैण्ड की सरकार द्वारा स्थापित एक व्यापार-समिति (Board of Trade) है जिसके द्वारा तैयार किए निर्देशांक 'लेबर-गजट' में प्रकाशित होते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अमेरिका में निर्देशांकों का सबसे अधिक उपयोग होता है। न्यूयार्क से 'एनेलिस्ट' (Analyst) नामक एक पत्र निकलता है जिसमें प्रति सप्ताह २५ वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांक दिए जाते हैं। देश की सरकार के द्वारा भी मूल्य-निर्देशांक और मजदूरों के निर्वाह-व्यय निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं। वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांक 'लेबर-रिव्यू' में भी प्रकाशित होते हैं। व्यापारिक दशा-निर्देशांक हारवर्ड समिति द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। सन् १९२३ से प्रो० फिशर द्वारा तैयार किए हुए मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित होते रहे हैं।

भारत में निर्देशांक-व्यवस्था

हमारे देश में निर्देशांक बनाकर प्रकाशित करनेवाले दो प्रकार के स्रोत हैं:— (१) गैर-सरकारी स्रोत, (२) सरकारी स्रोत। गैर-सरकारी स्रोतों में देश के प्रमुख स्थानों से प्रकाशित होनेवाली पत्र-पत्रिकाएं तथा गैर-सरकारी उद्योगों तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किए जानेवाले आंकड़े सम्मिलित हैं। बम्बई से प्रकाशित होनेवाला साप्ताहिक 'कॉमर्स', कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक 'इण्डियन फॉयनेन्स' और 'केपिटल' तथा नई दिल्ली से प्रकाशित 'ईस्टर्न एकॉनॉमिस्ट' प्रति सप्ताह निर्देशांक तैयार करके प्रकाशित करते हैं। 'ईस्टर्न एकॉनॉमिस्ट' का तो अपना एक सांख्यिकी विभाग (Statistics Department) ही अलग है जो समय-समय पर सभी प्रकार के निर्देशांक प्रकाशित करता रहता है।

भारत सरकार प्रतिमास 'मन्थली सर्वे ऑव विजिनेस कण्डीशन्स' (Survey of Business Conditions) नामक रिपोर्ट प्रकाशित करती है जिसमें देश की व्यापारिक दशा के निर्देशांक दिए जाते हैं। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित निर्देशांक दिए जाते हैं :—

(१) कलकत्ता थोक-मूल्य-निर्देशांक
(२) बम्बई थोक-मूल्य-निर्देशांक
(३) सरकार के आर्थिक सलाहकार के थोक-मूल्य-निर्देशांक
(४) निर्वाह-व्यय-निर्देशांक।

सन १९३९ से भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा तैयार किए हुए निर्देशांक भी प्रकाशित होने लगे हैं। आधार-वर्ष १९३९ माना जाता है। भारत सरकार के सलाहकार के मूल्य-निर्देशांक अन्य निर्देशांकों से प्रायः कम रहते हैं और अधिक विश्वसनीय होते हैं। परन्तु यदि यह काम किसी निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था को सौंप दिया जाय तो निर्देशांक और भी अधिक विश्वसनीय बन सकते हैं।

निर्वाह-व्यय सम्बन्धी निर्देशांक (cost of living index numbers) एक मासिक रिपोर्ट बनाकर प्रकाशित किए जाते हैं। ये निर्देशांक प्रायः मजदूरों के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहन-सहन का व्यय दर्शाते हैं। राज्यों की सरकारें भी ऐसे ही निर्देशांक तैयार करती हैं।

भिन्न-भिन्न राज्यों की सरकारें अपने सरकारी गजटों में प्रति मास या पाक्षिक मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों में मजदूरों के रहन-सहन सम्बन्धी निर्देशांक भी प्रति मास प्रकाशित किए जाते हैं।

भारतीय निर्देशांक-व्यवस्था के दोष—हमारे देश में जो निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं वे प्रायः अधूरे, पक्षपातपूर्ण, अवैज्ञानिक और अशुद्ध होते हैं। प्रोफेसर मुरंजन ने लिखा है कि "भारतीय मूल्य-निर्देशांक न तो बाजार के आपेक्षित महत्त्व पर निर्भर होते हैं और न उनमें आवश्यक समायोजन ही किया जाता है।" अतः वे किसी भी दशा में विश्वसनीय आंकड़े नहीं कहे जा सकते हैं। निर्देशांक बनाने में हमारे यहां सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आवश्यक आंकड़े संगठित रूप में बहुत कम मिलते हैं और जो मिलते भी हैं वे प्रायः अधूरे होते हैं। रहन-सहन के व्यय सम्बन्धी वैज्ञानिक निर्देशांक तो प्रायः मिलते ही नहीं और जो मिलते भी हैं वे सन्तोषप्रद नहीं होते। जिस अवैज्ञानिक रीति से कुछ राज्यों में इस प्रकार के निर्देशांक बनाए जाते हैं तथा उनके बनाने की रीतियों और उनके प्रयोग में जो अन्तर और विषमता है उससे सभी असन्तुष्ट हैं। बाउले और राबर्टसन ने इसकी कड़ी आलोचना की थी। इन दोषों का मुख्य कारण यह है कि हमारे देश में शिक्षित और अनुभवी जांचकर्त्ताओं की कमी है जो जनता में विश्वास पैदा करके उनसे ठीक-ठीक सूचना प्राप्त कर सकें। इसके लिए हमारे देश में एक विशाल सांख्यिकी विभाग होना चाहिए और उस कार्य के लिए अनुभवी कार्यकर्त्ता रक्खे जायं। इसके लिए विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को सामाजिक और आर्थिक विषयों की ओर विशेष ध्यान देना उपयोगी हो सकता है।

सारांश

मुद्रा का मूल्य परिवर्तनशील होता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से समाज के कुछ वर्गों को लाभ होता है और कुछ लोगों को हानि भी होती है। अतः मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण एवं उसकी विभिन्न श्रेणियों को समझना आवश्यक है। जब मुद्रा की मात्रा देश में व्यापार एवं उद्योग की मौद्रिक आवश्यकताओं से इतनी अधिक बढ़ जाय कि मुद्रा की क्रय-शक्ति घटने लगे और लगभग सभी वस्तुओं के भाव ऊंचे हो जायं तो उस स्थिति को 'मुद्रा-स्फीति' कहते हैं। मुद्रा-स्फीति दो प्रकार से उत्पन्न होती है—(१) जब मुद्रा का प्रसार इतना अधिक कर दिया जाय कि मुद्रा की मात्रा देश की मौद्रिक आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो जाय, (२) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे पर वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाय। सामान्यतः मुद्रा-स्फीति होने के दो कारण होते हैं—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) यदि सोने-चांदी की नई खानों की खोज होने से देश में सोने-चांदी की मात्रा बढ़ने लगे और उससे मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय, इसी प्रकार जब देश में विदेशों से सोना-चांदी आने लगे और देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय; (२) जब सरकार किसी संकटकालीन अवसर पर अपनी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए मुद्रा-प्रसार करे और यह प्रसार इतना अधिक हो जाय कि मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ जाय। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति जान-बूझकर की जाती है। मुद्रा-स्फीति होने से वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर ऊंचे हो जाते हैं जिससे व्यापारियों, उत्पादकों तथा देनदार को लाभ होता है और मजदूरों, वेतनभोगी लोगों तथा उपभोक्ताओं को हानि रहती है। हमारे देश में द्वितीय युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति हुई जिसके कारण वस्तुओं के भाव बहुत ऊंचे हो गए और मध्यम वर्ग को बहुत कष्ट भोगना पड़ा।

जब मुद्रा की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं की अपेक्षा इतनी कम कर दी जाय कि लगभग सभी वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर गिर जायं और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाय तो उस स्थिति को 'मुद्रा-संकुचन' कहते हैं। मुद्रा-संकुचन कई प्रकार से किया जा सकता है—(१) जब सरकार देश में चालू अपरिवर्तनीय नोटों को रद्द कर दे, (२) जब सरकार जनता पर भारी-भारी कर लगाकर मुद्रा की मात्रा चलन में कम कर दे, (३) जब देश का केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर बढ़ाकर जनता से राशि खींच ले, (४) जब केन्द्रीय बैंक जनता से ऋण लेकर चलन में मुद्रा की मात्रा कम कर दे। मुद्रा-संकुचन से वस्तुओं के सामान्य मूल्यस्तर नीचे गिर जाते हैं जिससे मजदूरों, वेतनभोगियों तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है पर व्यापारियों, उत्पादकों तथा देनदारों को हानि रहती है। हमारे देश में १९२० से १९३० के बीच में मुद्रा-संकुचन की नीति काम में लाई गई थी। प्रो० कीन्स ने लिखा है कि "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है तो मुद्रा-संकुचन अनावश्यक है।"

वह मुद्रा-नीति जो देश में मुद्रा-स्फीति को रोककर उसके दोषों को दूर करने के लिए प्रयोग की जाय, 'मुद्रा-अपस्फीति' की नीति कहलाती है। इस नीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा कम करने के उपाय किए जाते हैं जिससे वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के समानुपात में आ जाय और मूल्यस्तर नीचे हो जायं। हमारे देश में सरकार ने मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत ये काम किए—(१) जनता पर नए-नए कर लगाए, (२) जनता से सरकार ने ऋण लिए, (३) वस्तुओं के भावों पर एवं उनकी बिक्री पर नियंत्रण लगा दिए, (४) कम्पनियों द्वारा बांटे जानेवाले लाभांश सीमित कर दिए, (५) उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएं दी गईं,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) चोर-बाजारी दूर करने के लिए कड़े-कड़े कानून बनाए गए, (७) बैंक-दर भी बढ़ाई गई।

जब कभी मुद्रा संकुचन इतनी अधिक मात्रा में कर दिया जाय कि वस्तुओं के भाव बहुत अधिक घट जायं तो उस समय मूल्यस्तर उठाने के हेतु जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे 'मुद्रा-संस्फीति' कहते हैं। कोल ने लिखा है कि मन्दी को दूर करने के लिए जान-बूझकर जो मुद्रा-प्रसार किया जाय उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। मुद्रा-संस्फीति में वस्तुओं के भाव एक साथ ऊंचे नहीं उठते वरन् शनैः शनैः ऊंचे होते जाते हैं। मन्दी के कारण देश में जो बेकारी फैल जाती है उसे दूर करने के लिए ऐसा किया जाता है जिससे उत्पादन-शक्तियों को प्रोत्साहन मिले और बेकार लोगों को काम मिल जाय। वैसे तो मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संस्फीति—दोनों ही स्थितियों में मुद्रा-प्रसार किया जाता है परन्तु दोनों के उद्देश्यों में अन्तर है। मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मंदी को दूर करने के लिए मूल्यस्तर ऊंचा उठाना होता है और इसमें मुद्रा-प्रसार तब तक किया जाता है जब तक कि उत्पादन बढ़ने लग जाय और बेकारी दूर होने लगे। मुद्रा-स्फीति का उद्देश्य एक साथ मुद्रा की मात्रा बढ़ाना होता है जिससे मूल्यस्तर एक साथ ऊंचा हो जाता है। इसमें मुद्रा-प्रसार की कोई निश्चित सीमा नहीं होती।

जब मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाय तो उसे मुद्रा की मूल्य-वृद्धि कहते हैं। इससे लेनदार को तथा वेतनभोगियों को लाभ होता है तथा व्यापारियों, करदाताओं, देनदारों और उत्पादकों को हानि रहती है। जब मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाय तो उसे मुद्रा का मूल्य-ह्रास कहते हैं। इससे व्यापारियों, उत्पादकों, करदाताओं व देनदारों को लाभ होता है और लेनदारों व वेतन-भोगियों और उपभोक्ताओं को हानि रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-क्षेत्र में देशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा के अनुपात में मूल्य घटाने को 'अवमूल्यन' कहते हैं। जब देशी मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा के अनुपात में अपेक्षाकृत कम कर दी जाय तो देशी मुद्रा का अव-मूल्यन कहा जाता है। देशी मुद्रा का अवमूल्यन विदेशों में निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा कमाने की दृष्टि से किया जाता है। इससे देश के निर्यात तो बढ़ते ह पर आयात महंगे हो जाते हैं। सितम्बर १९४९ में भारत ने रुपये का डॉलर-मूल्य कम करके अवमूल्यन किया था। इसी प्रकार २४ अन्य देशों ने भी अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था।

देश के हित में न तो निरन्तर चढ़ते हुए मूल्यस्तर अच्छे होते हैं और न गिरते हुए मूल्यस्तर अच्छे होते हैं। वास्तव में तो शनैः शनैः और थोड़े-थोड़े

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चढ़ते हुए मूल्यस्तर आदर्श माने जाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता और आर्थिक कलेवर में प्रगति आती है।

मुद्रा के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों को मापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। भावी लेन-देन की सुविधा के हेतु मुद्रा का मूल्य-मापन बहुत ही आवश्यक है। इन परिवर्तनों को ज्ञात करके हम भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न वर्षों में मनुष्यों की आय का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति को मापकर दो देशों की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक ज्ञान किया जा सकता है और तब सामाजिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। मूल्यस्तर में होनेवाली घटा-बढ़ी का सामान्य अनुमान 'मूल्य-निर्देशांकों' के द्वारा लगाया जा सकता है। मूल्य-निर्देशांकों के द्वारा हम एक काल के मूल्यस्तर की तुलना दूसरे काल के मूल्यस्तर से कर सकते हैं। मूल्य-निर्देशांक एक काल से दूसरे काल में वस्तुओं के भावों में होनेवाले प्रतिशत औसत को दर्शाते हैं। वास्तव में तो मूल्य-निर्देशांकों के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—(१) वस्तुओं के भावों के सामान्य परिवर्तन को दर्शाना, (२) इस परिवर्तन के विभिन्न श्रेणियों के लोगों पर हुए प्रभाव को समझाना। निर्देशांकों का प्रयोग केवल वस्तुओं के मूल्यस्तर मापने के लिए ही नहीं वरन् उत्पादन की घट-बढ़ जानने के लिए, देशवासियों की आर्थिक दशा में परिवर्तन समझने के लिए तथा मजदूरों की मजदूरी की घट-बढ़ एवं उसका प्रभाव जानने के लिए भी किया जाता है।

मूल्य-निर्देशांक दो प्रकार के होते हैं—(१) सामान्य, (२) भारशील। निर्देशांक बनाने में कई बातों की सावधानी रखने की आवश्यकता होती है—जैसे, (१) आधार-वर्ष का चुनाव, (२) वस्तुओं का चुनाव, (३) वस्तुओं के मूल्यों का समावेश, (४) भार-अंक निर्धारित करने में सावधानी। सब प्रकार की सावधानी रखते हुए भी निर्देशांक बनाने में कुछ ऐसी अड़चनें आती हैं जिनके कारण सच्चे और वास्तविक निर्देशांक तैयार नहीं हो पाते और इसी-लिए इनके प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है। मुख्य अड़चनें इस प्रकार हैं—(१) आधार-वर्ष की कठिनाई, (२) आधार-वर्ष के मूल्यस्तर की अन्य वर्षों के मूल्यस्तर से तुलना करने में कठिनाई, क्योंकि कई-कई वर्षों के बाद वस्तुओं की कोटि बदलती रहती है, (३) विभिन्न देशों के निर्देशांकों की तुलना में कठिनाई, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों में आधार-वर्ष, वस्तुओं का चुनाव तथा वस्तुओं के मूल्य ज्ञात करने के साधन भिन्न-भिन्न होते हैं, (४) वस्तुओं के मूल्यों के चुनाव में कठिनाई।

वर्तमान युग में निर्देशांकों की उपयोगिता कोई कम नहीं है। निर्देशांकों के द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति की घटत-बढ़त का सामान्य अनुमान लगाया जा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता है, मजदूरों की मजदूरी के स्तर को आंका जा सकता है, वस्तुओं का औसत मूल्य ज्ञात करके उनमें आवश्यक उलट-फेर किया जा सकता है, दीर्घ-कालीन ऋणों के भुगतान में समता और संतुलन लाया जा सकता है, वस्तुओं के मूल्यस्तर का सामान्य रुख ज्ञात किया जा सकता है तथा व्यापार एवं उद्योग की उन्नति का अनुमान लगाया जा सकता है। संक्षेप में, निर्देशांक आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त संबंधी सभी समस्याओं को जानने के लिए उपयोगी हैं। प्रो० फिशर ने लिखा है, "वस्तुओं का मूल्यस्तर स्थायी रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थायित्व रखने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी हैं।"

मूल्य-निर्देशांकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के निर्देशांक भी तैयार किए जाते हैं—जैसे, औद्योगिक दशा के निर्देशांक, आर्थिक स्थिति के निर्देशांक तथा निर्वाह-व्यय के निर्देशांक।

हमारे देश में निर्देशांक बनाकर प्रकाशित करने के दो स्रोत हैं—(१) गैर-सरकारी, (२) सरकारी। गैर-सरकारी स्रोतों में देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं तथा व्यापारिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किए जानेवाले आंकड़े सम्मिलित हैं। भारत सरकार प्रतिमास एक रिपोर्ट प्रकाशित करती है जिसमें देश की व्यापारिक दशा के निर्देशांक दिए जाते हैं। १९३९ से भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए निर्देशांक भी प्रकाशित होने लगे हैं। पर हमारे देश के निर्देशांक प्रायः अपूर्ण, अवैज्ञानिक, पक्षपात-पूर्ण एवं अशुद्ध होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे देश म शिक्षित और अनुभवी जांचकर्त्ताओं की कमी है। यह कठिनाई तब दूर हो सकती है जब देश में एक विशाल सांख्यिकी विभाग हो और उस कार्य के लिए लोगों को शिक्षा दी जावे। इसके लिए विश्वविद्यालयों का सहयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(२) 'मुद्रा-स्फीति' एवं 'मुद्रा-संकुचन' से आप क्या समझते हैं? मीमांसा सहित उत्तर लिखिए।

(३) मुद्रा-स्फीति के क्या कारण होते हैं? समाज के विभिन्न वर्गों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है? हमारे देश की परिस्थिति से उदाहरण देकर समझाइए।

(४) "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण होती है और मुद्रा-संकुचन अनावश्यक होता है"—इस कथन की मीमांसा कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) 'मुद्रा-अपस्फीति' से आप क्या समझते हैं? भारत सरकार ने युद्धकाल में मुद्रा-अपस्फीति के लिए कौन-कौन से काम किए? क्रमानुसार लिखिए।

(६) मुद्रा की मूल्य-वृद्धि और मूल्य-ह्रास से आप क्या समझते हैं? समाज पर इसका क्या प्रभाव होता है?

(७) 'अवमूल्यन' से क्या तात्पर्य है? यह क्यों किया जाता है? सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया था?

(८) भेद समझाइए—
- (१) मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन
- (२) मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संस्फीति
- (३) अवमूल्यन और मूल्य-ह्रास

(९) निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए—
- (१) मुद्रा-अपस्फीति
- (२) अवमूल्यन
- (३) मुद्रा-स्फीति
- (४) मुद्रा की मूल्य-वृद्धि

(१०) 'निर्देशांक' किसे कहते हैं? सामान्य मूल्य-निर्देशांक बनाने की क्या विधि है? निर्देशांक बनाने से व्यापारी एवं उद्योगपति को क्या लाभ हो सकता है?

(११) निर्देशांक बनाने में किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए? निर्देशांक बनाने से क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं?

(१२) भारत में निर्देशांक बनाकर प्रकाशित करने की क्या व्यवस्था है? इस व्यवस्था में मुख्य दोष कौन-कौन से हैं? इन दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है?

(१३) निम्नलिखित पर नोट लिखिए—
- (१) भार-अंक
- (२) इंगलैंड के सॉवरेक निर्देशांक
- (३) सरकारी निर्देशांक
- (४) निर्वाह-व्यय के निर्देशांक

(१४) निर्देशांकों की उपयोगिता पर एक छोटा सा निबन्ध तैयार कीजिए।

(१५) "भारतीय मूल्य-निर्देशांक न तो बाजार के अपेक्षित महत्त्व पर निर्भर होते हैं और न उनमें आवश्यक समायोजन ही किया जाता है। अतः वे किसी भी दशा में विश्वसनीय निर्देशांक नहीं कहे जा सकते।" इस वाक्य की सत्यता पर अपना मत व्यक्त कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ९

मुद्रा-प्रमाप पद्धतियां

देशी और विदेशी व्यापार के विकास के लिए, उद्योगों की उन्नति के लिए तथा समाज के आर्थिक कल्याण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि, जहां तक सम्भव हो सके, मुद्रा का मूल्य स्थिर और स्थायी बनाया ज़ाय जिससे मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन के कारण होनेवाली हानियां न हों और व्यापार का भलीभांति संचालन हो सके। इसके लिए देश की मुद्रा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मुद्रा की मांग और प्रदाय का स्वतः ही समायोजन होता रहे। किसी भी मुद्रा-प्रमाप पद्धति के अन्तर्गत देश में एक या दो प्रकार की मुद्राएं देश की प्रामाणिक मुद्रा होती हैं, वे मुद्राएं ही सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करती हैं और उन्हीं के साथ देश की अन्य सहायक मुद्राओं का मूल्य-संबंध होता है। अतः जब एक ही धातु का सिक्का देश की प्रामाणिक मुद्रा बनाई जाय तो उस पद्धति को एक-धातु-वाद[1] कहते हैं। जब दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा बनाए जायं, और दोनों साथ-साथ देश में चलें तो उस पद्धति को 'द्वि-धातुवाद'[2] कहते हैं और जब दो धातुओं को मिलाकर मिश्रित धातु से बनाया हुआ एक सिक्का प्रामाणिक मुद्रा बनाया जाय तो उस पद्धति को 'मिश्रित-धातुवाद'[3] कहते हैं। जब किसी देश में नोट ही प्रामाणिक मुद्रा बना दिया जाय तो उस पद्धति को 'पत्र-मुद्रा प्रमाप'[4] कहते हैं।

मुद्रा-पद्धति देश की आर्थिक स्थिति एवं देशवासियों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। मुद्रा-पद्धति के अन्तर्गत या तो ऐसी मुद्रा को मूल्य-मापक बनाया जाता है, जो उस वस्तु की बनी हो जिसका कोई वास्तविक मूल्य हो अथवा ऐसी वस्तु की बनी हो जिसका स्वतः कोई मूल्य न हो।

एक-धातुवाद

वह पद्धति जिसके अन्तर्गत देश की प्रामाणिक मुद्रा एक ही धातु (विशेषतः, सोने या चांदी) की बनी हुई हो 'एक-धातुवाद' कहलाती है। इसके अनुसार एक ही धातु की प्रमुख मुद्रा देश भर में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-

१. Mono-metallism. २. Bi-metallism. ३. Symmetallism.
४. Paper Currency Standard.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मापन करती तथा उसी के साथ अन्य सांकेतिक मुद्राओं का मूल्य संबंधित होता है। इस पद्धति में निम्न बातें होती हैं :—

(१) एक ही धातु—सोना या चांदी—का सिक्का देश की प्रमुख मुद्रा होता है तथा असीमित संख्या में लिया-दिया जा सकता है।

(२) उस सिक्के के लिए देश में स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की प्रणाली होती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति उस धातु को सरकारी टकसाल पर ले जाकर उसमें से सिक्के ढलवा सकता है।

(३) प्रमुख मुद्रा के साथ-साथ देश में अन्य प्रकार की सांकेतिक मुद्राएं भी चलती हैं जो सीमित कानूनी-मुद्रा होती हैं और जिन्हें किसी भी समय प्रमुख मुद्रा में बदलवाया जा सकता है।

यदि देश की प्रामाणिक या प्रमुख मुद्रा चांदी की बनी हुई हो तो उस पद्धति को 'रजत-प्रमाप पद्धति' कहते हैं और यदि प्रमुख मुद्रा सोने की बनी हुई हो तो उस पद्धति को 'स्वर्ण-प्रमाप पद्धति' कहते हैं। १८९३ से पूर्व हमारे देश में रजत-प्रमाप पद्धति थी जिसमें चांदी का रुपया प्रमुख मुद्रा के रूप में देश में चलता था—उस रुपये की तौल १८० ग्रेन होती थी और उसमें १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी होती थी। १९३३ से पूर्व अमेरिका में स्वर्ण-प्रमाप पद्धति थी जिसमें सोने का डॉलर प्रमुख मुद्रा के रूप में चलता था—उस डालर में २३.२२ ग्रेन शुद्ध सोना एवं २.५८ ग्रेन अन्य निकृष्ट धातु होती थी।

रजत-प्रमाप पद्धति *

एक-धातुवाद के अन्तर्गत जब किसी देश में चांदी का सिक्का प्रमुख मुद्रा बनकर चले तो उस पद्धति को रजत-प्रमाप कहते हैं। इस पद्धति के निम्न लक्षण होते हैं :—

(१) चांदी का सिक्का देश की प्रमुख मुद्रा हो और असीमित संख्या में लिया-दिया जाय,

(२) उस सिक्के के लिए देश में स्वतंत्र सिक्का-ढलाई हो,

(३) उसके साथ-साथ अन्य प्रकार की मुद्राएं भी देश में चलें पर उनका प्रमुख मुद्रा के साथ मूल्य-संबंध हो।

संसार के अनेक देशों ने समय-समय पर रजत-प्रमाप पद्धति को अपनाया है। १८३५ से १८९३ तक यह पद्धति हमारे देश में चलती रही। १९३४ तक चीन में रजत-प्रमाप था। आजकल यह पद्धति इथोपिया तथा हांग-कांग के ब्रिटिश उपनिवेशों में मानी जाती है।

---

*Silver Standard.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारत में रजत-प्रमाप—हमारे देश में यह पद्धति १८३५ के एक्ट के द्वारा स्थापित की गई थी जिसके अनुसार चांदी का रुपया देश की प्रामाणिक मुद्रा बनाया गया। उस रुपये की तौल १८० ग्रेन थी और $\frac{११}{१२}$ भाग शुद्ध चांदी होती थी। रुपये के लिए स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की पद्धति थी तथा वह सिक्का असीमित कानूनी-मुद्रा होता था। रुपये के अतिरिक्त अन्य सहायक सिक्के भी चलते थे जिनका रुपये से मूल्य-संबंध होता था और जिनको रुपयों में बदलवाया भी जा सकता था। पर १८७१ के पश्चात् चांदी के भाव गिरने लगे और इससे रुपये का मूल्य घटने लगा। अन्त में, १८९३ में हार्शेल कमेटी की सिफारिशों पर यह पद्धति छोड़ दी गई।

स्वर्ण-प्रमाप पद्धति*

एक-धातुवाद के अन्तर्गत जब किसी देश में सोने का सिक्का प्रमुख मुद्रा बनकर चले अथवा उसका मूल्य सोने में निर्धारित हो तो उस पद्धति को स्वर्ण-प्रमाप कहते हैं। संसार के अनेक राष्ट्र शताब्दियों तक स्वर्ण-प्रमाप को मानते रहे हैं और आज के कुछ उन्नतिशील देशों का विश्वास इसी पद्धति में जमा हुआ है। सर्वप्रथम इंगलैंड और अमरीका जैसे धनी देशों ने इस पद्धति को अपनाया था परन्तु शनैः शनैः अन्य देश भी इसको मानने लगे। जैसे-जैसे स्वर्ण-प्रमापी देशों की संख्या बढ़ती गई तैसे-ही-तैसे सोने के मूल्य में स्थिरता और स्थायित्व आता गया। स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दर भी स्थायी बनती गई जिससे पूंजी-निर्माण एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पर्याप्त सहारा मिला। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर प्रो० कीन्स ने कहा था "यदि योरप भर में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर दिया जाय तो निःसंदेह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं व्यापारिक लेन-देन बढ़ जायगा।"

इस पद्धति के अन्तर्गत सोना देश में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-मापन का काम करता है। इसमें सोने के सिक्के चलाना आवश्यक नहीं है किन्तु जो मुद्रा चलन में हो वह अनिवार्य रूप से सोने में परिवर्तनीय होनी चाहिए। केमरर का मत है कि "स्वर्ण-प्रमाप पद्धति वह है जिसमें एक निश्चित सोने की मात्रा मूल्य-मापन का काम करे और जहां सोने का लेन-देन स्वतंत्र हो।"

स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के अन्तर्गत स्वतः ही मुद्रा की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है जिससे स्वर्ण-प्रमापी देशों के मूल्यस्तर प्रायः साथ-साथ घट-बढ़ कर समानता में बने रहते हैं। इच्छानुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है और सिक्कों को गलाकर आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा कम भी की जा

*Gold Standard.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकती है । स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दरों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते और जो कुछ होते भी हैं वे 'स्वर्ण-विन्दुओं' तक ही सीमित रहते हैं।

स्वर्ण-प्रमाप के भेद—सामान्यतः स्वर्ण-प्रमाप चार रूपों में प्रयोग होता रहा है :—

(१) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप (Gold Currency Standard)
(२) स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard)
(३) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard)
(४) स्वर्ण-कोष प्रमाप (Gold Reserve Standard)

अब हम उक्त चारों रूपों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप

इस पद्धति के अन्तर्गत सोने के सिक्के देश में प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते तथा विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते हैं। इनके साथ-साथ देश में अन्य प्रकार की मुद्राएं भी चलती हैं परन्तु उनका मूल्य सोने की प्रमुख मुद्रा के साथ संबंधित होता है तथा इनको सोने या सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता है । स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) देश में सोने का सिक्का प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलता हुआ विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करता है ।
(२) सोने के सिक्के के लिए स्वतंत्र सिक्का-ढलाई की पद्धति होती है तथा यह असीमित कानूनी-मुद्रा होता है। सोने के सिक्के का अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य के बराबर होता है ।
(३) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होता ।
(४) सोने के सिक्के के साथ-साथ अन्य मुद्राएं भी चलती हैं परन्तु इनका प्रमुख-मुद्रा के साथ मूल्य-संबंध होता है और इनको प्रमुख-मुद्रा में परिवर्तित भी कराया जा सकता है।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप में 'स्वयंपूर्ण कार्यशीलता'—स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप पद्धति में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता होती है । यह इस प्रकार होता है—यदि एक देश से दूसरे देश में निर्यात अधिक हो तो दूसरा देश पहिले देश का भुगतान करने के लिए सोना निर्यात करेगा । सोना निर्यात होने से दूसरे देश में मुद्रा-संकुचन हो जायगा जिससे वहां वस्तुओं के भाव गिरने लगेंगे। फिर, अन्य देशों की अपेक्षा यहां के भाव नीचे होने के कारण इस देश का निर्यात बढ़ने लगेगा और बदले में सोने का आयात

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होगा। सोने का आयात होते ही मुद्रा की मात्रा बढ़ेगी और वस्तुओं के भाव ऊंचे होने लगेंगे। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमापी देशों के मूल्यस्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व बना रहेगा। यह सब स्वतः ही होता रहेगा, और सरकार को इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होगी। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की इस क्रिया को 'स्वयंपूर्ण कार्यशीलता' कहते हैं। यह कार्यशीलता दो बातों पर निर्भर होती है--(१) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, (२) सोने के आयात पर देश में मुद्रा की मात्रा बढ़े और सोने के निर्यात पर मुद्रा की मात्रा घटे। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण और मुद्रा का पारस्परिक अविच्छेद संबंध हो। यदि इन दोनों बातों में से किसी एक भी बात का पालन न किया गया तो स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं रह सकता। इसकी कार्यशैली तो एक 'खेल' के समान है जिसे खेलने के लिए खेल के नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। यदि नियमों का पालन न किया जाय तो खेल नहीं खेला जायगा। इसी प्रकार उक्त नियमों का पालन किए बिना स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप नहीं चल सकता। प्रथम महायुद्धकाल में इंगलैंड ने इन नियमों का उल्लंघन किया था जिससे वहां स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप टूट गया।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के गुण--(१) इस पद्धति की कार्यशैली सरल होती है जिससे सामान्य व्यक्ति भी इसे समझ सकता है। इससे जनता का इसके प्रति विश्वास बना रहता है।

(२) सोने की मांग हर जगह होती है अतः सोने की प्रमुख मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बन जाती है जिससे स्वर्ण-प्रमाप मानने वाले देशों का वदेशिक व्यापार सुगम हो जाता है।

(३) सरकार या अन्य किसी बाह्य संस्था को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता। इसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्यस्तर स्वतः ही समायोजित होते रहते हैं और यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील बनी रहती है।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के दोष--(१) सोने के सिक्के चलने के कारण सोने का अधिक व्यय होता है। अतः यह पद्धति अधिक खर्चीली होती है।

(२) यह पद्धति विश्वशांतिकाल में ही स्वयंपूर्ण कार्यशील रह सकती है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुगमतापूर्वक चलता रहे तब तक इसकी कार्यशीलता बनी रह सकती है परन्तु राजनैतिक अराजकता या आर्थिक संकट के समय इसको निभाना कठिन हो जाता है। अतः यह पद्धति "भले समय की साथी"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। युद्धकाल में जब प्रत्येक देश अपने कल्याण के स्वार्थ में लगा रहता है यह पद्धति नहीं चल सकती। जब एक देश आयात ही आयात करता रहे तो उसे सोना निर्यात करना पड़ेगा जिससे वहां मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी और वस्तुओं के भाव गिरने लगेंगे। ऐसे समय में यदि उस देश ने स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के नियमों का पालन तो किया पर वस्तुओं के भाव गिरने के साथ-साथ उत्पादन-व्यय कम न किया तो स्वर्ण-प्रमाप का निभाना कठिन हो जायगा।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप का तिरस्कार—प्रथम महायुद्ध से पहिले मुद्राशास्त्रियों का मत था कि स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है और मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के भावों में स्थायित्व लाने के लिए सोने के सिक्के चलाना अनिवार्य है। परन्तु युद्धकाल में सोने का अभाव होने के कारण यह विचारधारा बदल गई और लोग समझने लगे कि सोने की मुद्रा चलाकर सोना नष्ट करने से तो सोना इकट्ठा करके रखना अच्छा है। अनेक मुद्राशास्त्री अनुभव करने लगे कि सोना किसी भी मुद्रा-पद्धति का लक्ष्य नहीं होना चाहिए वरन् लक्ष्य प्राप्ति का साधन मात्र होना चाहिए। युद्ध के पश्चात् तो कुछ लोगों का यह विश्वास ही हो गया कि सोने के सिक्के चलाना कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। प्रो० कीन्स जैसे प्रकांड मुद्राशास्त्री ने कहा था "युद्ध के पश्चात् युद्धपूर्व काल के स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। मैं समझता हूं कि मूल्यस्तर, साख तथा नियोग में स्थायित्व रखना अनिवार्य है परन्तु मैं यह नहीं समझता कि अब स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप इनमें स्थायित्व रखने के लिए आवश्यक है।" अब अनेक विद्वानों का मत बन चुका है कि कोई भी पद्धति, जिसके अंतर्गत नोटों को किसी भी समय और किसी भी उद्देश्य के लिए सोने में बदलवाने की व्यवस्था हो, स्वर्ण-प्रमाप पद्धति कही जा सकती है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक होगा कि सोने का लेन-देन स्वतंत्र हो और देश की बैंकिंग व्यवस्था सुसंगठित हो। इस प्रकार युद्ध के पश्चात् सोने के सिक्कों का मान घट गया। एक समय था जब सोने के सिक्के चलाना किसी देश के लिए गौरव और सम्मान की बात समझी जाती थी परन्तु आज सोने के सिक्के चलाना असभ्यता का चिन्ह माना जाता है। प्रथम युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप बिल्कुल समाप्त हो गया और उसके स्थान पर स्वर्ण-धातु प्रमाप पद्धति आ गई।

स्वर्ण-धातु प्रमाप

इस पद्धति के अन्तर्गत सोना देश में मूल्यमापन का काम करता है पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-माध्यम का काम नहीं करता, अर्थात् देश में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते। देश में नोट तथा चांदी के सिक्के चलाए जाते हैं और इनके बदले में सोना (धातुरूप में) प्राप्त किया जा सकता है। सोने के आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिवन्ध नहीं होता। सरकार निश्चित दर पर तथा निश्चित मात्रा में जनता को सोना वेचती तथा जनता से सोना खरीदती है। जनता किसी भी कार्य के लिए सोना खरीद सकती है। इसके मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(१) सोना मूल्य-मापक होता है पर विनिमय-माध्यम नहीं होता। सोने के सिक्के न तो वनाए जाते और न चलाए जाते हैं।

(२) विनिमय-माध्यम के लिए नोट तथा रजत-मुद्राएं चलती हैं जिन्हें स्वर्ण-धातु में बदलवाया जा सकता है। सरकार या देश का केन्द्रीय वैंक निश्चित दर पर और निश्चित मात्रा में जनता को सोना वेचते और जनता से सोना खरीदते हैं।

(३) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(४) सरकार को या केन्द्रीय वैंक को सोने के क्रय-विक्रय के लिए अपने पास सोने का एक कोष बनाकर रखना पड़ता है।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के अंतर्गत सोना विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन दोनों काम करता है परन्तु स्वर्ण-धातु प्रमाप के अन्तर्गत सोना केवल मूल्य-मापक होता है पर विनिमय-माध्यम नहीं।

स्वर्ण-धातु प्रमाप के गुण—(१) इस पद्धति में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते इसलिए सिक्कों के. घिसावट से होनेवाली हानि नहीं होती और सिक्का-ढलाई का व्यय भी वच जाता है।

(२) इसमें सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते इसलिए इसमें सोने की वचत होती है और अविकसित देश भी, जिनके पास पर्याप्त मात्रा में सोना नहीं होता, इसे अपना सकते हैं।

(३) इसके अन्तर्गत देश में चलनेवाली प्रत्येक मुद्रा का परिवर्तन सोने में किया जा सकता है अतः इससे इसमें जनता का विश्वास जमा रहता और सरकार की साख वनी रहती है।

(४) इस पद्धति में निश्चित मात्रा से कम सोना खरीदने की व्यवस्था नहीं होती इसलिए प्रत्येक सामान्य व्यक्ति सोना नहीं खरीद पाता। इसी कारण सरकार को कोष में कम सोना रखने की आवश्यकता होती है तथा अतिरिक्त सोने को अन्य कार्यों में लगाया जा सकता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील होती है जिसमें सोने के क्रय-विक्रय के अनुसार मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकोच होता रहता है। जब लोग सरकार से सोना खरीदते हैं तो मुद्रा-मंडी में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और जब वे सोना बेचते हैं तो मुद्रा-मंडी में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार इस पद्धति में स्वतः ही लोच बनी रहती है।

स्वर्ण-धातु प्रमाप के दोष—इस पद्धति का संचालन सरकार या देश के केन्द्रीय बैंक को करना पड़ता है क्योंकि सोने का क्रय-विक्रय इन्हीं दोनों में से किसी एक के हाथ में होता है। अतः इसमें सरकार का हस्तक्षेप रहता है और कभी-कभी यह हस्तक्षेप अधिक सीमा तक बढ़ जाता है। सरकार का हस्तक्षेप रहना ही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है। केमरर नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है—"लगभग सभी देशों में युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप (स्वर्ण-धातु प्रमाप) की स्वयंपूर्ण कार्यशीलता युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप (स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप) से कम रही। इसका कारण यह था कि इसके अन्तर्गत सरकार का और केन्द्रीय बैंक का हस्तक्षेप अधिक था और जब कभी वे चाहते तभी मुद्रा की घटा-बढ़ी में कमी-बेशी कर दिया करते थे।"

इंगलड और भारत में स्वर्ण-धातु प्रमाप (१९२५-१९३१)—सबसे पहिले स्वर्ण-धातु प्रमाप को १९२५ में इंगलैंड ने अपनाया था। उस समय वहां सोने के सिक्के—सॉवरेन तथा अर्ध-सॉवरेन—चलना बन्द कर दिया गया था और नोटों के बदले में सोना मिला करता था। सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पेंस प्रति औंस की दर से मिलता था और ४०० औंस से कम मात्रा में नहीं खरीदा जा सकता था। सोना धातु के रूप म मिलता था, सिक्कों के रूप में नहीं।

१९२८ में फ्रांस ने भी लगभग इसी रूप में इसे स्वीकार किया। अन्तर केवल यह था कि फ्रांस के केन्द्रीय बैंक को अधिकार दे दिया गया था कि वह नोटों के बदले में चाहे तो सोना दे, चाहे स्वर्ण-मुद्राएं दे दे।

हमारे देश में १९२६ में हिल्टन-यंग कमीशन ने स्वर्ण-धातु प्रमाप की सिफारिश की थी। सरकार ने १९२७ में करेंसी एक्ट पास करके इस पद्धति को स्थापित किया। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति सरकार से कम से कम ४०० औंस या १०६५ तोला सोना २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से खरीद सकता था। सोना किसी भी कार्य के लिए खरीदा जा सकता था। उस समय सोने के आयात-निर्यात की भी स्वतंत्रता थी। यह पद्धति हमारे देश में १९३१ तक चलती रही। सितम्बर १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्ण-प्रमाप छोड़ दिया और फिर भारत ने भी स्वर्ण-धातु प्रमाप तोड़कर अपने रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन कर लिया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप

इस पद्धति के अन्तर्गत देश में सोने की मुद्राएं नहीं चलाई जातीं। सोना केवल विदेशी भुगतान करने के काम में लाया जाता है। विनिमय-माध्यम के लिए देश में नोट, चांदी के सिक्के और अन्य सहायक सिक्के चलाए जाते हैं। इन मुद्राओं का मूल्य शुद्ध सोने की निश्चित मात्रा में निर्धारित किया जाता है। मुद्रा का मूल्य स्थायी रखने का दायित्व सरकार का होता है । इसके लिए सरकार दो कोष बनाकर रखती है—एक कोष चालू मुद्राओं के रूप में देश में रक्खा जाता है तथा यह अनुकूल व्यापाराधिक्य का भुगतान चुकाने के काम आता है, दूसरा कोष सोने के रूप में विदेश में रक्खा जाता है तथा वह विदेशी भुगतान चुकाने के काम लाया जाता है । सोना केवल विदेशी भुगतान के लिए प्राप्त हो सकता है, देशी कार्यों के लिए नहीं। जब कभी विदेशी भुगतान करने होते हैं तो सरकार देश में देशी मुद्रा लेकर कोष में जमा कर लेती है और विदेश-स्थित सोने के कोष में से विदेशी भुगतान चुका दिया जाता है और जब कभी व्यापाराधिक्य देश के पक्ष में होता है तो विदेशों में सोना लेकर विदेश-स्थित कोष में जमा कर लिया जाता है और देशी कोष में से भुगतान चुका दिया जाता है। इस प्रकार सरकार मुद्रा की विनिमय-दर को स्थायी बनाने की चेष्टा करती है। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(१) सोना विनिमय-माध्यम का काम नहीं करता वरन् मूल्य-मापन का काम करता है—सोने की मुद्राएं नहीं चलाई जातीं।

(२) देश के आन्तरिक प्रयोग के हेतु नोट, चांदी के सिक्के तथा अन्य सहायक मुद्राएं चलाई जाती हैं—इनका सोने के साथ मूल्य-संबंध होता है। विदेशी भुगतान के लिए सरकार निश्चित मूल्य पर सोना देती है—सरकार सोना या सोने पर आधारित अन्य मुद्रा भी दे सकती है।

(३) सिद्धान्ततः सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता पर व्यवहार में सोने का आयात-निर्यात नहीं होता। सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने की व्यवस्था होती है।

(४) उक्त कार्य के लिए सरकार को दो कोष बनाकर रखने होते हैं—एक कोष देश में रक्खा जाता है जिसमें देशी मुद्राएं होती हैं—दूसरा कोष विदेश में रक्खा जाता है जिसमें सोना या सोने पर आश्रित विदेशी मुद्रा होती हैं। इन्हीं कोषों के द्वारा सरकार विदेशी भुगतान लेन-देन की व्यवस्था करती एवं विनिमय-दर को स्थायी बनाती है।

स्वर्ण-धातु प्रमाप के अन्तर्गत चालू मुद्रा के बदले में सोना देशी व

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विदेशी कैसी भी आवश्यकताओं के लिए मिल सकता है, परन्तु स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के अन्तर्गत चालू मुद्रा का विनिमय सोने या सोने पर आश्रित विदेशी मुद्रा से केवल विदेशी भुगतान चुकाने के लिए ही होता है। स्वर्ण-मुद्राएं दोनों में से किसी भी स्थिति में नहीं चलाई जातीं।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के गुण—(१) इसके अन्तर्गत न तो सोने के सिक्के ही चलाए जाते हैं और न आन्तरिक कार्यों के लिए ही सोना दिया जाता है अतः इसमें सोना व्यय नहीं होता। हां, विदेशी भुगतान के लिए सरकार को सोने का एक कोष बनाना पड़ता है जिसमें अपेक्षाकृत कम सोने की आवश्यकता होती है।

(२) चूंकि इसमें अधिक सोने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए निर्धन और अविकसित देश में इसे अपना सकते हैं और इस प्रकार अधिकांश देशों में इसका पालन किया जा सकता है।

(३) इस पद्धति के अन्तर्गत देशी और विदेशी मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर सरलता से स्थिर और स्थायी बनाई जा सकती है।

(४) यह पद्धति अधिक लोचदार होती है क्योंकि इसमें मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकोच सोने की मात्रा पर आश्रित नहीं होते। अतः आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के दोष—(१) चूंकि इसमें सोने के सिक्के नहीं चलते और न स्थानीय आवश्यकताओं के लिए सोना दिया जाता है इसलिए सामान्य जनता का इसमें विश्वास कम रहता है।

(२) चूंकि इसके अन्तर्गत सोने का आदान-प्रदान और आयात-निर्यात नहीं होता इसलिए सभी देशों के मूल्यस्तरों में समानता पैदा नहीं की जा सकती और इसलिए विदेशी विनिमय-दरों में फेर-बदल होती रहती है।

(३) सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते हैं जिनके प्रबन्ध और संचालन में कभी-कभी मतिविभ्रम हो जाता है। उस समय यह पद्धति सामान्य जनता की दृष्टि में एक जटिल पद्धति बन जाती है।

(४) इस पद्धति का प्रबन्ध और संचालन सरकार के हाथ में रहता है इसलिए सरकार चाहे जैसा फेर-बदल इसमें कर सकती है। इस दृष्टिकोण से यह पद्धति संचालित पद्धति होती है जिसकी सफलता सरकार की कृपा पर निर्भर बन जाती है।

(५) इस पद्धति की लोच आत्मनिर्भर नहीं होती जैसा कि अन्य पद्धतियों में होता है। इसमें मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकोच सरकार के हाथ में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहता है क्योंकि विदेशी विनिमय का नियंत्रण भी उसी के अधिकार में होता है।

भारत में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप
(१९०७-८ से १९१६-१७ तक)

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप को सर्वप्रथम हालैंड ने अपनाया था। इसके पश्चात् १८९२-९३ में रूस और ऑस्ट्रिया ने भी मान लिया। प्रथम युद्ध से पूर्व भारत म भी इस पद्धति का पालन होता रहा था। यहां पर यह पद्धति सन् १९०७-८ में स्थापित हुई और युद्ध के मध्यकाल तक चलती रही। उस समय १ रुपया १६ पेंस के बराबर था—इस दर पर १ पौंड १५ रुपये के बराबर होता था। भारत सरकार के पास दो कोष थे—एक कोष इंगलैंड में भारतमंत्री के पास रहता था और दूसरा कोष भारत में रक्खा जाता था। जब कभी भारत के किसी व्यापारी को इंगलैंड में भुगतान करना होता तो वह भारत सरकार से स्टर्लिंग-बिल खरीद लेता और बदले में १ शि० ४ पेंस प्रति रुपया की दर से रुपया जमा कर दिया करता था। वह इस स्टर्लिंग-बिल को इंगलैंड भेज देता और वहां भारतमंत्री उसके बदले में कोष में से पौंड चुका दिया करते थे। इसके विपरीत जब इंगलैंड के व्यापारी को भारत में राशि भेजनी होती तो वह लन्दन में भारतमंत्री से रुपये के बिल खरीदकर १ पौंड = १५ रुपये की दर से पौंड जमा कर देता था। वह इस रुपये के बिल को भारत में भेज दिया करता और यहां उसके बदले में भारत सरकार कोष में से रुपये चुका दिया करती थी। इस प्रकार सरकार अपने हाथों से इस पद्धति का संचालन करती थी। यह पद्धति लगभग १९१७ तक चलती रही। युद्धकाल की असाधारण परिस्थितियों में सरकार विनिमय-दर को स्थायी न रख सकी और अन्त में भारत को स्वर्ण-विनिमय प्रमाप छोड़ना पड़ा।

स्वर्ण-कोष प्रमाप

यह पद्धति स्वर्ण-प्रमाप का एक नया रूप था जिसका प्रयोग कुछ देशों में १९३६ से लेकर द्वितीय युद्धकाल तक होता रहा था। १९३६ में अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड तथा स्विजरलैंड ने एक समझौता* किया जिसके अनुसार सोना एक देश से दूसरे देश में आ-जा सकता था। यह आयात-निर्यात केवल मुद्रा-संबंधी कामों में प्रयोग होनेवाले सोने का ही

*यह समझौता सितम्बर १९३६ का "त्रिदेशीय मौद्रिक समझौता" कहलाता है। सबसे पहिले यह समझौता अमरीका, इंगलैंड और फ्रांस के बीच हुआ था। बेल्जियम, हालैंड और स्विजरलैंड ने इस पर नवम्बर १९३६ में हस्ताक्षर किए थे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो सकता था, व्यापारियों द्वारा क्रय-विक्रय किए गए सोने का नहीं। सोने का यह लेन-देन इन देशों की केन्द्रीय बैंकों के बीच नहीं होता था वरन् विनिमय-समातुलन* कोषों द्वारा होता था। ये कोष प्रत्येक देश में एक प्रकार से सरकारी कोषों के ही विभाग थे और केन्द्रीय बैंकों के साथ मिलकर काम करते थे। इन कोषों में अपने-अपने देश की मुद्राएं जमा रहती थीं जिनके बदले में आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा या सोना खरीदा जाता था परन्तु ये कोष किसी निश्चित अनुपात में ही अपनी-अपनी मुद्राओं को सोना या विदेशी मुद्रा खरीदने में व्यय कर सकते थे। इस प्रकार ये कोष विदेशी मुद्रा-मंडियों में दोनों ही काम कर सकते थे—विदेशी मुद्रा तथा सोने का अपनी मुद्रा के बदले में क्रय भी कर सकते थे और विदेशी मुद्रा तथा सोने के बदले में अपनी मुद्रा भी खरीद सकते थे। उदाहरणार्थ, यदि कभी लन्दन में डॉलरों की मांग होती तो इंगलैंड-स्थित कोष डॉलर देकर इस मांग को पूरा कर दिया करता था जिससे पौंड के साथ डॉलर का मूल्य नहीं बढ़ पाता था। इसी प्रकार यदि पेरिस में फ्रैंक की कमी होती तो फ्रांस-स्थित कोष फ्रैंक बेच दिया करता और बदले में विदेशी मुद्रा ले लिया करता था जिससे फ्रैंक की विनिमय-दर स्थिर बनी रहती थी।

प्रत्येक कोष में समझौता करनेवाले देशों की मुद्राएं जमा रहती थीं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता था कि एक, दो या इससे अधिक कोषों में एक ही मुद्रा बहुत अधिक मात्रा में इकट्ठी हो जाय। इसके लिए समझौते में उचित व्यवस्था कर ली गई थी। उदाहरणार्थ, यदि कभी कई कोषों में स्टर्लिंग की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती तो ये कोष इंगलैंड को स्टर्लिंग देकर बदले में सोना ले सकते थे और इस सोने को या तो अपने-अपने पास रख लेते थे और या उसके बदले में और कोई विदेशी-मुद्रा—जिसकी उनके पास कमी होती, खरीद लिया करते थे। परन्तु इंगलैंड इस प्रकार अनिश्चित मात्रा में सोना नहीं दे सकता था। यदि कभी स्टर्लिंग के बदले में सोने की मांग बढ़ती ही जाती तो इसका अर्थ यह होता था कि स्टर्लिंग की विनिमय-दर ऊंची है और उसे कम कर देना चाहिए। ऐसी स्थिति में कोष स्टर्लिंग खरीदना बन्द कर दिया करते जिससे स्टर्लिंग की दर वास्तविक स्तर पर आ जाती थी और तब फिर नई वास्तविक दर पर स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय आरम्भ हो जाता था।

इस प्रकार विनिमय-समातुलन कोषों में सोना जमा रहता था और एक देश के कोष में से दूसरे देश के कोष में आ-जा सकता था। इसलिए इस

*Exchange Equalization Funds.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पद्धति को स्वर्ण-कोष पद्धति कहते हैं। इस पद्धति के द्वारा विना किसी कठिनाई के मुद्रा की विनिमय-दर स्थिर और स्थायी बनाई जा सकती थी। इसके द्वारा ब्याज-दर को घटा-बढ़ाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से देश की आन्तरिक स्थिति को प्रभावित किए विना ही विदेशी विनिमय-दर स्थायी बनाई जा सकती थी। जब तक यह पद्धति अपनाई जाती रही विदेशी मुद्राओं में सोने का मूल्य स्थायी बना रहा पर युद्धकाल की विषम परिस्थितियों में यह पद्धति न चल सकी।

१९३६ से लेकर युद्धकाल तक यह पद्धति गुप्त रूप से चलती रही। कोषों के द्वारा विदेशी मुद्राओं व सोने का लेन-देन प्रायः गुप्त रूप से ही होता था। जनता को न तो यह ज्ञात हो पाता था कि अमुक कोष क्या खरीद रहा है और न यह मालूम हो पाता था कि कौन-कौन सी मुद्राएं कितनी मात्रा में जमा हैं। इस प्रकार यह पद्धति सुचारु रूप से चलती रही परन्तु युद्ध की भीषणता के सामने न टिक सकी। युद्धकाल में विनिमय-दर स्थायी बनाने के लिए अनेक नए-नए प्रयत्न करने पड़े जो आज तक चले आ रहे हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, स्वर्ण-धातु प्रमाप, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप तथा स्वर्ण-कोष प्रमाप का तुलनात्मक विवेचन

	स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप	स्वर्ण-धातु प्रमाप	स्वर्ण-विनिमय प्रमाप	स्वर्ण-कोष प्रमाप
लक्षण	१. सोने के सिक्के प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हैं।	१. सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते।	१. सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते।	१. सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते।
	२. सोने के सिक्कों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है।	२. नोट, चांदी के सिक्के तथा अन्य प्रकार के सहायक सिक्के चलते हैं जो सोने में परिवर्तनीय होते हैं।	२. नोट, चांदी के सिक्के और अन्य प्रकार के सहायक सिक्के चलते हैं।	२. सोने का स्वतंत्र आयात-निर्यात नहीं होता—केवल मुद्रा-संबंधी कार्यों के लिए काम आनेवाला सोना ही आयात-निर्यात हो सकता है।
	३. सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।	३. सिक्कों व नोटों के बदले में निश्चित दर पर तथा निश्चित राशि में सोना खरीदा जा सकता है।	३. सिक्कों व नोटों के बदले में निश्चित दर पर सोना या सोने पर आधारित मुद्रा खरीदी जा सकती है।	३. सोने का आयात-निर्यात देश के केन्द्रीय बैंकों द्वारा नहीं होता वरन् देशों में स्थापित किए हुए विनिमय-समातुलन कोषों (Exchange Equalization Funds) द्वारा होता है।
	४. सोने के सिक्कों के साथ नोट तथा अन्य सिक्के भी चलते हैं जो सोने के सिक्कों में परिवर्तनीय होते हैं।	४. सोना किसी भी काम के लिए खरीदा जा सकता है।	४. सोना केवल विदेशी भुगतान करने के लिए खरीदा जा सकता है, देशी कार्यों के लिए नहीं।	

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

	स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप	स्वर्ण-धातु प्रमाप	स्वर्ण-विनिमय प्रमाप	स्वर्ण-कोष प्रमाप
		५. सोनेके आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।	५. सोने का स्वतंत्र आयात-निर्यात नहीं होता।	
		६. सोना खरीदने-बेचने का काम सरकार का होता है जिसके लिए सरकार को सोने का एक कोष रखना पड़ता है।	६. सोना बेचने का काम सरकार का होता है। इसके लिए सरकार को दो कोष बनाने पड़ते हैं—(१) देश में (२) विदेश में।	
सारांश	सोना 'मूल्य-मापन' तथा 'विनिमय-माध्यम'—दोनों काम करता है।	सोना 'मूल्य-मापन' का काम करता है परन्तु 'विनिमय-माध्यम' का काम नहीं करता।	सोना 'मूल्य-मापन' का काम करता है परन्तु 'विनिमय-माध्यम' का काम नहीं करता।	सोना न 'मूल्य-मापन' का काम करता है और न 'विनिमय-माध्यम' का काम करता है।
गुण	१. कार्य-शैली सरल होती है जिससे जनता का इसके प्रति विश्वास बना रहता है। २. इसके द्वारा स्वर्ण-प्रमापी देशों का पारस्परिक-	१. सोने की बचत होती ह क्योंकि सिक्के नहीं चलाए जाते। २. अविकसित देश भी इसको अपना सकते हैं।	१. सोने की बहुत बचत होती है। २. निर्धन देश भी इसको अपना सकते हैं और इस	१. मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थिर व स्थायी बनाई जा सकती है। २. मुद्रा की विनिमय-दर, ब्याज-दर बढ़ा-घटा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

	स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप	स्वर्ण-धातु प्रमाप	स्वर्ण-विनिमय प्रमाप	स्वर्ण-कोष प्रमाप
	व्यापार सुगम हो जाता है।		प्रकार अधिकांश देशों में इसका पालन किया जा सकता है।	कर अथवा किसी भी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा देश की आन्तरिक आर्थिक-स्थिति को प्रभावित किए बिना ही स्थिर बनाई जा सकती है।
	३. सरकार का इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता।	३. चूंकि सिक्कों का परिवर्तन सोने में होता है इसलिए इसमें जनता का विश्वास जमा रहता है।	३. अधिक लोचदार होती है।	
	४. यह पद्धति 'स्वयंपूर्ण-कार्यशील' (Automatic) होती है।	४. यह पद्धति 'स्वयंपूर्ण-कार्यशील' होती है।	४. देशी और विदेशी मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर सरलता से स्थिर बनाई जा सकती है।	
दोष	१. सोने का अधिक व्यय होता है। २. सोने के अभाव में तथा राजनैतिक-संकट और आर्थिक अराजकता के समय यह पद्धति नहीं चल सकती।	१. सरकार का हस्तक्षेप रहता है। २. सरकार के अनुचित हस्तक्षेप के कारण इसमें स्वयं-पूर्ण-कार्यशीलता नहीं रह सकती।	१. जटिल पद्धति है। २. जनता इसे सरलता से नहीं समझ सकती इसलिए जनता का इसमें विश्वास कम होता है।	१. युद्धकाल की विषम परिस्थितियों में नहीं चल सकती।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप	स्वर्ण-धातु प्रमाप	स्वर्ण-विनिमय प्रमाप	स्वर्ण-कोष प्रमाप
		३. सरकार के हाथ में इसका संचालन रहता है इसलिए इसकी सफलता सरकारी नीति पर आश्रित बन जाती है। ४. लोच आत्म-निर्भर नहीं होती वरन् सरकारी नीति पर निर्भर होती है। ५. सोने का आदान-प्रदान न होने के कारण सभी देशों के मूल्य-स्तरों में समानता पैदा नहीं की जा सकती।	

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वि-धातुवाद पद्धति
(Bi-metallism)

द्वि-धातुवाद उस मुद्रा-पद्धति को कहते हैं जिसके अन्तर्गत दो धातुओं—प्रायः सोने और चांदी—के सिक्के अलग-अलग प्रमुख मुद्रा के रूप में चलें और दोनों का एक दूसरे के साथ वैधानिक संबंध हो। दोनों ही सिक्कों के लिए स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है और दोनों ही असीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों ही प्रकार के सिक्के देश में मूल्य-मापन और विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। द्वि-धातुवाद के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) दो धातुओं (प्रायः सोने और चांदी) के सिक्के अलग-अलग प्रमुख अर्थात् प्रामाणिक मुद्रा होते हैं,
(२) दोनों सिक्कों का पारस्परिक मूल्य कानून द्वारा निर्धारित होता है,
(३) दोनों प्रकार के सिक्कों के लिए स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है,
(४) दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं,
(५) दोनों सिक्कों का अंकित-मूल्य उनके वास्तविक-मूल्य के बराबर होता है,
(६) दोनों ही सिक्के अलग-अलग विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करते हैं।

वैसे तो सोना और चांदी अनेक वर्षों तक मुद्रा के काम आते रहे हैं पर द्वि-धातुवाद का प्रचार केवल १९वीं शताब्दी से आरम्भ होता है। इससे पहले सोना और चांदी द्वि-धातुवाद के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं चलते थे। यद्यपि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी सोने और चांदी के सिक्के प्रामाणिक-मुद्रा के रूप में चलते थे परन्तु उस समय भी द्वि-धातुवाद का वैज्ञानिक रूप ज्ञात नहीं था। द्वि-धातुवाद का वैज्ञानिक सिद्धान्त तो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होता है।

द्वि-धातुवाद का समातुलन सिद्धान्त (The Compensatory Action of Bi-metallism)—द्वि-धातुवाद का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि देश के अन्तर्गत चलनेवाले दो धातुओं के सिक्के एक दूसरे पर अपना-अपना समातुलन प्रभाव डालते रहते हैं जिससे मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थायी बना रहता है और जिससे मूल्यस्तर को भी स्थायी बनाने में सहायता मिलती है। यदि कभी सोने का मूल्य चांदी के मूल्य की अपेक्षा बढ़ जाय तो लोग चांदी के सिक्के बनवाने लगेंगे और सोने को धातु रूप में बेचकर लाभ कमाने लगेंगे। ऐसी स्थिति में चांदी की मांग और सोने की प्रदाय बढ़ने लगेगी। इससे चांदी का मूल्य बढ़ने लगेगा और सोने का मूल्य गिरने लगेगा; यहां तक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कि दोनों धातुओं की मात्रा संतुलन में आकर दोनों एक दूसरे के मूल्य को संतुलित करते रहेंगे। इसी प्रकार यदि कभी चांदी का मूल्य सोने के मूल्य की अपेक्षा बढ़ जाय तो लोग चांदी को बाजार में बेचकर लाभ कमाएंगे और सोने के सिक्के बनवाने लगेंगे। इस प्रकार सोने की मांग बढ़ जायगी और चांदी की प्रदाय बढ़ने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि चांदी का भाव गिरने लगेगा और सोने का भाव बढ़ जायगा। दोनों एक दूसरे पर समातुलन प्रभाव डालकर मूल्य स्थायी बनाते रहेंगे। एक धातु की मांग और प्रदाय की घटा-बढ़ी दूसरी धातु की मांग और प्रदाय की बढ़त-घटत के द्वारा समातुलन होती रहती है जिससे दोनों धातुओं की मुद्राओं का बाजार-मूल्य और वैधानिक-मूल्य समानता में बने रहते हैं। प्रोफेसर जेवन्स ने इस सिद्धान्त को संतुलन-क्रिया (Equilibratory Action) कहकर पुकारा है। उदाहरणार्थ, यदि हम ऐसी दो पानी की टंकियों की कल्पना करें जिनमें एक दूसरे को मिलानेवाली कोई नली नहीं हो तो हम देखेंगे कि उन दोनों टंकियों के पानी का स्तर अपने-अपने अनुपात में अलग-अलग उतरता-चढ़ता रहेगा। पर यदि उन दोनों टंकियों के बीच में एक नली लगा दी जाय तो दोनों टंकियों के पानी का स्तर समातुलन में रहेगा और एक टंकी के पानी की कमी-बेशी दोनों पर प्रभाव डालती रहेगी; यहां तक कि दोनों का उतार-चढ़ाव संतुलन में बना रहेगा। ठीक ऐसी ही बात द्वि-धातुवाद के साथ है। इसके अन्तर्गत भी दोनों धातु एक दूसरे पर अपनी-अपनी मांग और प्रदाय का प्रभाव डालते रहते हैं जिससे दोनों का मूल्य संतुलन में बना रहता है और दोनों मुद्राओं के पारस्परिक बाजार-मूल्य और वैधानिक-मूल्य में अधिक समय तक विषमता न रहकर समानता ही बनी रहती है।

उदाहरण—मान लो किसी देश में द्वि-धातुवाद के अन्तर्गत सोने और चांदी के सिक्के चलते हैं और दोनों की पारस्परिक वैधानिक दर १६ : १ है अर्थात् १६ चांदी के सिक्के मूल्य में १ सोने के सिक्के के बराबर हैं। अब यदि चांदी का बाजार-मूल्य (धातु के रूप में) १५ : १ हो जाय तो कहेंगे कि चांदी का बाजार-मूल्य बढ़ गया और अपेक्षाकृत सोने का बाजार-मूल्य गिर गया। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि चांदी का धातु-मूल्य बढ़ गया और उसका मौद्रिक-मूल्य घट गया। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति चांदी लाकर उसके सिक्के बनवाना पसन्द नहीं करेगा और न कोई व्यक्ति १६ चांदी के सिक्के देकर १ सोने का सिक्का ही लेना पसन्द करेगा क्योंकि बाजार में चांदी का मूल्य बढ़ जाने के कारण १ सोने का सिक्का केवल १५ ही चांदी के सिक्कों में मिल सकेगा। अब तो प्रत्येक व्यक्ति चाहेगा कि वह सोना लाकर उसके सिक्के बनवाए। परिणामतः देश में सोने ही सोने के सिक्के होंगे और चांदी के सिक्के विचलित हो जायेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लोग चांदी को या तो गलाकर बेचने लगेंगे और या विदेशी भुगतान करने में विदेशों में भेज देंगे। इस प्रकार दोनों प्रमुख सिक्कों के वैधानिक-मूल्य और बाजार-मूल्य में विषमता हो जायगी। परन्तु ज्यों-ज्यों बाजार में चांदी की प्रदाय बढ़ेगी चांदी का मूल्य गिरने लगेगा और ज्यों-ज्यों सोने की मांग बढ़ेगी सोने का मूल्य बढ़ने लगेगा और कुछ ही समय पश्चात् दोनों सिक्कों का पारस्परिक अनुपात संतुलन में आ जायगा। इसके विपरीत यदि कभी दोनों सिक्कों का बाजार-मूल्य १७ : १ हो जाय तो कहा जायगा कि सोने का अधिमूल्यन (over-valuation) हो गया और चांदी का अभिमूल्यन (under-valuation) हो गया। अभिमूल्यित-धातु—चांदी—अधिमूल्यित-धातु—सोना—को चलन से बाहर करने लगेगी। लोग चांदी के सिक्के बनवाने के लिए चांदी की मांग करने लगेंगे और बाजार में सोने का मूल्य बढ़ जाने के कारण सोने को धातुरूप में बेचने लगेंगे। इससे सोने की प्रदाय बढ़ जायगी और चांदी की मांग बढ़ जायगी। प्रदाय बढ़ने से सोने का मूल्य गिरने लगेगा और चांदी की मांग बढ़ने से चांदी का मूल्य बढ़ने लगेगा। फिर कुछ ही समय बाद दोनों के मूल्यों में संतुलन आ जायगा।

इस प्रकार दोनों धातुओं का बाजार-मूल्य घट-बढ़कर अन्त में वैधानिक-मूल्य के समान हो जाता है और दोनों के पारस्परिक मूल्य में स्थायित्व बना रहता है। दोनों धातुओं का आपस का समातुलन-प्रभाव द्वि-धातुवाद की समातुलन-क्रिया कहलाती है। स्मरण रखना चाहिए कि द्वि-धातुवाद के अन्तर्गत प्रयोग किए जानेवाले धातुओं का मूल्य घटता-बढ़ता अवश्य है पर यह घटा-बढ़ी अधिक समय तक स्थायी नहीं रहती वरन् समातुलन-क्रिया के द्वारा शीघ्र ही संतुलित होती रहती है। कुछ भी हो, समातुलन-क्रिया किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कुछ समय तक ही संभव होती है। यदि कभी ऐसी स्थायी शक्तियां आ जायं, जिनसे धातुओं के बाजार-मूल्य और वैधानिक-मूल्य के बीच में गहरी खाई बनती ही जाय तो समातुलन-क्रिया का कोई प्रभाव नहीं होगा। उस स्थिति में अधिमूल्यित-धातु के सिक्के चलन में से बन्द होते जायेंगे और अभिमूल्यित-धातु के सिक्के ही चलन में रहेंगे।

द्विधातुवाद के गुण—(१) क्रय-शक्ति की स्थिरता एवं स्थायित्व—द्वि-धातुवाद के अन्तर्गत मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं के भावों में सामान्य स्थायित्व बना रहता है। इसका कारण यह है कि एक धातु की घटत-बढ़त दूसरी धातु की बढ़त-घटत से संतुलित होती रहती है और परिणामस्वरूप दोनों धातुओं के सिक्कों की क्रय-शक्ति में स्थिरता बनी रहती है। सोने का अभाव चांदी के उत्पादन से और चांदी का अभाव सोने की प्रदाय से संतुलित होते रहते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिससे दोनों के मूल्य प्रायः स्थिर बने रहते हैं। दूसरी बात यह है कि इसके अन्तर्गत दो प्रकार के सिक्के प्रमुख मुद्रा होने के कारण मुद्रा की मात्रा पर्याप्त रहती है जिससे यदि एक मुद्रा की कमी-बेशी भी हो जाय तो मुद्रा के सामान्य मूल्य पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्रोफेसर फिशर का मत तो यह है कि द्वि-धातुवाद एक ऐसी पद्धति है जिसके अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थाई बना रहता है।*

(२) विदेशी व्यापार को प्रगति—इस पद्धति के द्वारा विदेशी व्यापार को प्रगति मिलती है क्योंकि दो प्रकार के सिक्के प्रामाणिक मुद्राएं होने के कारण स्वर्ण-प्रमाप रखनेवाले तथा रजत-प्रमाप माननेवाले देशों से व्यापारिक संबंध स्थापित हो सकते हैं और विनिमय-दर भी स्थायी रक्खी जा सकती है।

(३) उत्पादन को प्रोत्साहन—दो प्रकार के सिक्के प्रामाणिक-मुद्रा होने के कारण मुद्रा की मात्रा एक-धातुवाद की अपेक्षाकृत इसमें अधिक जल्दी बढ़ जाती है। इससे मुद्रा का मूल्य शनैः शनैः गिरने लगता है और वस्तुओं के भाव शनैः शनैः बढ़नें लगते हैं जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादकों को लाभ होता है। मुद्रा का मूल्य गिरने से देनदार को भी लाभ पहुंचता है क्योंकि उस पर ऋण का भार कम हो जाता है।

(४) कोष-निर्धारण में मितव्ययिता—दो धातुओं के सिक्के प्रमुख-मुद्रा होने के कारण बैंकों को अपने-अपने कोषों की व्यवस्था और संचालन करने में मितव्ययिता होती है तथा मुद्रा की पर्याप्त मात्रा चलन में होने के कारण बैंकों के ब्याज की दर भी कम होती है। बैंक किसी भी एक धातु को अथवा दोनों धातुओं को अपने-अपने कोषों में रख सकते हैं।

द्वि-धातुवाद के दोष—(१) इस पद्धति के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम लागू होने लगता है जिसके कारण अभिमूल्यित-मुद्रा अधिमूल्यित-मुद्रा को चलन से बाहर करने लगती है। प्रोफेसर मार्शल का कहना है कि अगर मौद्रिक कार्यों को छोड़ अन्य कामों में सोने का प्रयोग बढ़ने लगे तो सोने का मूल्य बढ़ने लगेगा और इस प्रकार सोने और चांदी का पारस्परिक बाजार-मूल्य उनके वैधानिक-मूल्य से भिन्न हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि सोने में सट्टेबाजी होने लगेगी और इसके साथ-साथ और दोष भी

---

* Bimetallism is the only scheme for securing stability of the standard of value which has received any substantial measure of popular support—*Fisher*: 'The Purchasing Power of Money'.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उत्पन्न हो जायंगे ।* इतिहास साक्षी है कि योरप में १८७३ के आस-पास अनेक देशों ने एक-धातुवाद के अन्तर्गत स्वर्ण-प्रमाप को अपना रक्खा था और लेटिनसंघ के देशों में द्वि-धातुवाद था । उसी समय द्वि-धातुवादी देशों में सोने की अपेक्षा चांदी का मौद्रिक-मूल्य बढ़ गया और धातु-मूल्य घट गया । परिणाम यह हुआ कि सोना उन देशों में से निकल-निकलकर स्वर्ण-प्रमापी देशों में जाने लगा और लेटिनसंघीय देशों में केवल चांदी के सिक्के ही चलन में रह गए।

(२) इस पद्धति के अन्तर्गत जब दोनों धातुओं के वैधानिक-मूल्य और बाजार-मूल्य में अन्तर होता है तो लेनदार अपने ऋणों का भुगतान अधिमूल्यित-मुद्रा में लेना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर देनदार अभि-मूल्यित-मुद्रा में चुकाना चाहते हैं जिससे लेन-देन में बड़ी असुविधा होने लगती है।

द्वि-धातुवाद का इतिहास—सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने १७९२ में मिण्ट एक्ट पास करके द्वि-धातुवाद अपनाया, जिसके अनुसार सोने और चांदी के सिक्के प्रमुख मुद्रा बना दिए गए । दोनों सिक्कों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई थी और उन दोनों का पारस्परिक वैधानिक अनुपात १५ : १ निर्धा-रित किया गया था। एक औंस सोने का मूल्य १५ औंस चांदी थी। उस समय बाजार-मूल्य और वैधानिक-मूल्य में कोई अन्तर न था और जब तक यह समानता बनी रही तब तक किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हुई। १८३३ के आसपास सोने और चांदी का बाजार-मूल्य १५.६ : १ हो गया अर्थात् बाजार में १ औंस सोना खरीदने के लिए १५.६ औंस चांदी देनी पड़ती थी परन्तु टकसाल से केवल १५ औंस चांदी के बदले में १ औंस सोना मिल सकता था । इसका अर्थ यह हुआ कि टकसाल में चांदी का अधिमूल्यन (over-valuation) और सोने का अभिमूल्यन (under-valuation) हो गया । परिणामस्वरूप बाजार में सोने का मूल्य चढ़ गया । अब लोग सोने के सिक्कों को या तो गलाने लगे और या विदेशी भुगतान के उपयोग में लाने लगे। इस प्रवृत्ति के कारण १८३४ में वैधानिक अनुपात बदल कर १६ : १ कर दिया गया। परन्तु बाजार-

---

* If the use of gold in arts increases the value of gold will rise; and if in the currency a fixed ratio between gold and silver has been established, then the market ratio between gold and silver will differ from monetary ratio. There will be speculation as a consequence of this, and its attendant evils.

—*Marshall.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्य अब भी १५.६ : १ था। परिणाम यह हुआ कि अब बाजार में चांदी का मूल्य बढ़ गया और सोने का मूल्य वैधानिक-मूल्य की अपेक्षाकृत कम हो गया। अब लोग चांदी के सिक्कों को गला-गलाकर बेचने लगे। १८४० में सोने की नई खानों का पता लगा जिससे सोने का उत्पादन बढ़ गया और सोने के भाव और भी अधिक गिरने लगे। चांदी के सिक्के विचलित होने लगे। १८७३ में अमेरिका की सरकार ने चांदी की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई बन्द कर दी। इसका बहुत विरोध किया गया क्योंकि उस समय चांदी की खानों के मालिक वहां के राजनैतिक क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली थे। इस विरोध के कारण उनमें और सरकार में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार वहां पर एक निश्चित मात्रा में चांदी के सिक्के बनाए जाने लगे। १८९३ में यह समझौता रद्द कर दिया गया और १९०० में स्वर्ण-प्रमाप एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार वहां पर स्वर्ण-प्रमाप स्थापित किया गया।

१९२९-३० में फिर एक बार द्वि-धातुवाद की लहर आई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इसका समर्थन करते हुए निश्चित किया कि वहां कुल धातु-मुद्रा का $\frac{1}{4}$ भाग चांदी में रक्खा जायगा। इसके लिए वहां की सरकार ने सभी देशों से खूब चांदी खरीदी। चांदी का वैधानिक-मूल्य ऊंचा निर्धारित कर दिया गया। चांदी का भाव ऊंचा रखने का परिणाम यह हुआ कि चांदी में सट्टेबाजी होने लगी जिससे पहिले तो उसका भाव ऊंचा बढ़ा परन्तु फिर नीचे गिर गया। उस समय केवल चीन में ही रजत-प्रमाप था परन्तु इस घट-बढ़ के कारण उसने भी १९३४ में इसे छोड़ दिया। अमेरिका अब भी द्वि-धातुवाद का पक्षपाती है। जुलाई १९४६ में उसने चांदी का भाव कोई ७१ सेंट प्रति औंस से बढ़ाकर ९०.५ सेंट प्रति औंस कर दिया है।

फ्रांस तथा लेटिनसंघीय देशों ने भी द्वि-धातुवाद को अपनाया था। १८०३ में फ्रांस ने इसे अपनाया और सोने-चांदी के बीच में १५ : १ का अनुपात स्थापित किया। किन्तु वहां भी वैधानिक-मूल्य और बाजार-मूल्य में विषमता रहती थी जिससे कभी सोना अभिमूल्यित होता था और कभी चांदी। इस प्रकार वहां ग्रेशम का नियम लागू होता और केवल एक ही धातु की मुद्रा चलन में रहती थी। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए फ्रांस ने इटली, बेल्जियम और स्विजरलैंड के साथ एक संघ बनाया जहां द्वि-धातुवाद का प्रचार था। १८६८ में ग्रीस भी इस संघ में सम्मिलित हो गया। परन्तु कुछ ऐसे कारण बनते गए जिनकी वजह से उन देशों में से सोने के सिक्कों का लोप होने लगा और चांदी के सिक्के ही चलन में रह गए। इसके दो प्रमुख कारण थे—(१) संसार के अनेक राष्ट्र चांदी का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बहिष्कार करके स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने लगे थे, (२) चांदी की नई खानों की खोज तथा चांदी निकालने के वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से चांदी का उत्पादन बढ़ रहा था। अतः सोने की अपेक्षा चांदी के भाव बुरी तरह गिर रहे थे। इससे उक्त संघ के सदस्य-देशों ने चांदी की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई बन्द कर दी और इस प्रकार शुद्ध रूप में द्वि-धातुवाद वहां भी न रहा।

१८७२-७३ के आस-पास एक नई स्थिति पैदा हुई। संसार में मन्दी का समय आया जिससे वस्तुओं के भाव गिरने लगे। इसी समय द्वि-धातु-वादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस पद्धति का प्रयोग करना चाहा। उन्होंने समझाया कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्वि-धातुवाद का पालन किया जाय तो वस्तुओं के भाव कुछ ऊंचे उठाए जा सकते हैं। परन्तु एक-धातुवाद के समर्थक इसके पक्ष में न थे और उन्होंने इस योजना का विरोध किया। फल-स्वरूप १८७८ और १८९२ में दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन किए गए जिनमें इंगलैंड ने द्वि-धातुवाद का घोर विरोध किया। इसी विरोध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुवाद नहीं अपनाया जा सका वरन् तब उसका सदैव के लिए परित्याग कर दिया गया। १८९२-९३ में आस्ट्रिया, जापान और रूस ने भी स्वर्ण-प्रमाप मान लिया। १८९३ में भारत ने भी चांदी की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई तोड़ दी। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त तक द्वि-धातुवाद का सदा के लिए परित्याग कर दिया गया।

क्या द्विधातुवाद अब संभव है?—द्विधातुवाद के समर्थकों का मत है कि यह पद्धति व्यावहारिक है और सफलता के साथ अपनाई जा सकती है परन्तु इसको अपनाते समय यह देखना होगा कि काम में आनेवाले दोनों धातुओं के सिक्कों का वैधानिक-अनुपात वही हो जो उनका पारस्परिक बाजार-मूल्य हो। अगर यह पद्धति केवल एक ही देश में अपनाई जाय तो धातुओं के बाजार-मूल्य और वैधानिक-अनुपात में शीघ्र ही विषमता हो जायगी और तब द्विधातुवाद भी चकनाचूर हो जायगा। बाजार-मूल्य और वैधानिक-अनुपात में विषमता होते ही ग्रेशम का नियम लागू होगा और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर होने लगेगी जिससे केवल एक ही धातु के सिक्के चलन में रह जायंगे। इसके विपरीत यदि अनेक देशों में यह पद्धति अपनाई गई तो ग्रेशम का नियम द्विधातुवाद की समातुलन-क्रिया के द्वारा प्रभावहीन होता रहेगा और द्विधातुवाद को कोई विशेष हानि नहीं होगी। जितने अधिक देश इस पद्धित को अपनायेंगे और अपनी-अपनी मुद्रा का पारस्परिक अनुपात एकसा निर्धारित करेंगे उतनी ही अधिक सफलता के साथ द्विधातुवाद अपनाया जा सकेगा। सिद्धान्ततः द्विधातुवाद स्थापित करके उसे सफल बनाना निम्न शर्तों पर निर्भर है :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) इस पद्धति को संसार के अधिकाधिक देश अपनाएं और वे सब देश औद्योगिक और व्यापारिक दृष्टिकोणों से भरपूर हों तथा उनके आर्थिक साधन प्रचुर हों।

(२) इस पद्धति को माननेवाले सभी देश अपनी-अपनी मुद्राओं का पारस्परिक अनुपात एकसा निर्धारित करें।

इतना होने पर भी द्विधातुवाद के पुनरुद्धार की संभावना केवल स्वप्न जान पड़ता है। संसार का मौद्रिक इतिहास बतलाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने पर भी द्विधातुवाद को चलाना संभव न हो सका। उसमें अनेकों कठिनाइयां आईं—(१) अनेकों देशों का मत था कि स्वर्ण-प्रमाप अपनाने से देश का मान बढ़ता है—अतः उन्होंने द्विधातुवाद का विरोध किया और स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के प्रयत्न किए, (२) भिन्न-भिन्न देशों ने सोने-चांदी का पारस्परिक अनुपात अलग-अलग रक्खा और एकसा करना न चाहा अतः उन्होंने परोक्ष रीति से इसका विरोध किया, (३) लेनदार देशों ने भी इसका विरोध किया। इनमें इंगलैंड मुखिया था। इंगलैंड लेनदार देश होने के कारण चाहता था कि उसके ऋणी देश उसको अपने-अपने ऋणों का भुगतान सोने में करें। परन्तु उसने सोचा कि द्विधातुवाद होने से वे देश चांदी में भुगतान करेंगे। अतः इंगलैंड ने इस पद्धति का विरोध किया।

कुछ विशेषज्ञों का मत है कि द्विधातुवाद स्थापित करने में सब देशों का एकमत होना कठिन है। इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक देश स्वर्ण-प्रमाप मानने में ही अपना मान समझता रहा—विशेषकर इंगलैंड, जिसकी इसमें विशेष आवश्यकता थी, और इसीलिए यह पद्धति नहीं चलाई जा सकी। वर्तमान परिस्थितियों में तो द्विधातुवाद प्रस्थापित करना संभव हो ही नहीं सकता क्योंकि आज किसी भी देश के पास आवश्यक मात्रा में सोना-चांदी नहीं है। अतः द्विधातुवाद प्रस्थापित करने का विचार कोरी कल्पना जान पड़ती है।

द्विधातुवाद के विभिन्न रूप—पहिले बताया जा चुका है कि द्विधातुवाद के अनुसार देश में दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हैं—इन सिक्कों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है तथा इन्हें असीमित मात्रा में लिया-दिया जा सकता है। ऐसी पद्धति को 'शुद्ध द्विधातुवाद' कहते हैं। इसके अतिरिक्त थोड़ा-बहुत फेर-बदल करके इस पद्धति के कई रूप किए गए हैं जो इस प्रकार हैं :—

पंगु-प्रमाप (Limping Bimetallism)—इस पद्धति के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलते हैं—दोनों ही असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते हैं और दोनों का पारस्परिक अनुपात कानून द्वारा निश्चित होता है परन्तु स्वतंत्र सिक्का-ढलाई केवल एक धातु की ही होती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दूसरी धातु की सिक्का-ढलाई का एकाधिकार सरकार को होता है। इसके मुख लक्षण निम्न हैं :—

(१) दो धातुओं का निश्चित अनुपात के साथ प्रमुख मुद्रा के रूप में चलन,

(२) दोनों प्रकार के सिक्कों का असीमित संख्या में लिया-दिया जाना,

परन्तु

(३) केवल एक धातु की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई।

यह पद्धति शुद्ध द्विधातुवाद का विकृत और अधूरा रूप है, इसलिए इसे पंगु-द्विधातुवाद कहते हैं। जब कभी किसी देश में शुद्ध द्विधातुवाद हो परन्तु ग्रेशम का नियम लागू होने के कारण एक सिक्का दूसरे को चलन से बाहर निकाल दे तो सरकार उन दोनों धातुओं में से सस्ती धातु की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई बन्द कर देती है। उसी स्थिति में पंगु-प्रमाप स्थापित हो जाता है।

यह पद्धति प्रथम युद्ध से पहले फ्रांस और अमरीका में प्रचलित थी। उस समय वहां सोने और चांदी के सिक्के असीमित कानूनी-मुद्रा थे पर स्वतंत्र सिक्का-ढलाई केवल सोने के सिक्कों की ही होती थी। भारत में फाउलर कमेटी ने १८९८ में पंगु-प्रमाप स्थापित करने की सिफारिश की थी। उनका प्रस्ताव था कि देश में सोने और चांदी दोनों ही धातुओं की मुद्राएं प्रमाणित हों परन्तु स्वतंत्र सिक्का-ढलाई केवल सोने की ही हो।

समानान्तर प्रमाप (Parallel Standard)—यह पद्धति द्विधातुवाद का एक विशिष्ट रूप है। इसके अन्तर्गत भी दो धातुओं (सोने और चांदी) के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं तथा दोनों प्रकार के सिक्कों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है परन्तु शुद्ध द्विधातुवाद की भांति दोनों सिक्कों का पारस्परिक अनुपात कानून द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाजार-मूल्य ही कानूनी-दर मान ली जाती है। इस प्रकार दोनों मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। चूंकि इसमें दोनों प्रकार के सिक्कों की अदल-बदल बाजार-दर पर ही होती है इसलिए इसमें ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता। इसके प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) दो धातुओं के सिक्कों का अलग-अलग प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलन,

(२) दोनों सिक्कों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई,

परन्तु

(३) दोनों का पारस्परिक अनुपात कानून के द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाजार-मूल्य ही कानूनी-दर मान ली जाती है।

यह पद्धति १६६३ में इंगलैंड में अपनाई गई थी। इसे 'आल्टरनेट स्टैन्डर्ड' भी कहते हैं। इसका दोष यह है कि दोनों प्रकार की प्रमुख-मुद्राओं का मूल्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बदलता रहता है जिससे व्यापारियों को लेन-देन में बड़ी कठिनाई होती है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता क्योंकि सिक्कों की बाजार-दर और कानूनी-दर एकसी रहती है।

नव-द्विधातुवाद (Neo-Bimetallism)—यह एक नए प्रकार का द्विधातुवाद है जिसके अन्तर्गत सोने और चांदी को आधार बनाकर नोट चला दिए जाते हैं तथा नोट बदलवानेवाले की इच्छा पर ये नोट सोने या चांदी में बदले जाते हैं। इसमें सोने और चांदी के बीच कोई कानूनी अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् यह अनुपात परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर बदलता रहता है। इसका दोष यह है कि दोनों धातुओं की पारस्परिक दर बदलती रहती है जिससे इसका संचालन बहुत कठिन हो जाता है। (*Kinley:* Money—pp. 312-313)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्विधातुवाद के भेद तथा लक्षण

(तुलनात्मक अध्ययन)

शुद्ध द्विधातुवाद	पंगु द्विधातुवाद	समानान्तर द्विधातुवाद	नव-द्विधातुवाद
१. दो धातुओं (प्रायः सोने और चांदी) के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं।	१. दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा होते हैं।	१. दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा होते हैं।	१. सोने और चांदी के बीच अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।
२. दोनों की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है।	२. दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं।	२. दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं।	२. सोने-चांदी के बल पर नोट चलाए जाते हैं।
३. दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं।	३. दोनों का पारस्परिक मूल्य कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है।	३. दोनों धातुओं के लिए स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है।	३. ये नोट सोने और चांदी में परिवर्तनीय होते हैं।
४. दोनों सिक्कों का पारस्परिक अनुपात कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है।	४. परन्तु केवल एक धातु की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है।	४. परन्तु दोनों सिक्कों का पारस्परिक अनुपात कानून द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाजार-दर ही कानूनी-दर मान ली जाती है।	
५. दोनों सिक्के विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करते हैं।	५. दोनों सिक्के विनिमय-माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करते हैं।	५. दोनों सिक्के विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते हैं।	

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक-धातुवाद और द्वि-धातुवाद को छोड़ कुछ और भी मौद्रिक पद्धतियां होती हैं जिनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है :—

मिश्रित धातुवाद

(Sym-metallism)

इस पद्धति के अनुसार दो धातुओं (प्रायः सोना-चांदी) को निश्चित मात्रा में मिलाकर इस मिश्रित धातु के सिक्के बनाकर चलाए जाते हैं। इसका लाभ यह है कि इसमें ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता। पर इसमें निम्न दोष हैं:—

(१) सोने और/या चांदी के मूल्य में कोई परिवर्तन होने पर सिक्के का मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है जिससे कभी-कभी भुगतान लेने-देने में बड़ी कठिनाई हो जाती है।

(२) सिक्के की घिसावट होने पर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कौनसी धातु अधिक क्षीण हो गई है। इससे अनजान और अशिक्षित जनता को धोखा हो जाने की संभावना होती है।

(३) कभी-कभी सरकार भी सिक्का बनाने में बेईमानी कर सकती है— सस्ती धातु अधिक और महंगी धातु कम मिलाकर सिक्के बनाकर धोखा दिया जा सकता है।

(४) सिक्के बनाने से पूर्व धातुओं को किस अनुपात में मिलाया जाय— इसकी बड़ी कठिन समस्या रहती है।

निर्देशांक प्रमाप

(Tabular Standard)

इस पद्धति के अन्तर्गत देश में चलनेवाली मुद्रा का मूल्य स्थायी रखने के लिए मूल्य-निर्देशांक तैयार किए जाते हैं जिनके द्वारा आधार-वर्ष के मूल्यों की तुलना करके मुद्रा का मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है। ऐसा करने से वस्तुओं के अनुपात में मुद्रा का मूल्य सदैव एकसा बना रहता है जिससे लेनदार और देनदार के लेन-देन में किसी को हानि नहीं रहती। इसमें ऐसी व्यवस्था होती है कि ऋणों के भुगतान में, विशेषकर दीर्घकालीन ऋणशोधन में, कोई हानि नहीं रहती वरन् मुद्रा का मूल्य स्थायी बना रहता है। यह पद्धति विशेषतः भविष्य में चुकाए जानेवाले ऋणों को सुविधा देने के उद्देश्य से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपनाई जाती है । देश में चाहे कोई भी मुद्रा विनिमय-माध्यम के काम आती हो तो भी इस पद्धति को अपनाया जा सकता है ।*

गुण—(१) इस पद्धति को मानने से देशवासियों की आय, क्रय-शक्ति के रूप में, स्थायी बनी रहती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य मूल्यस्तरों के अनुरूप निश्चित किया जाता है । स्थायी आयवाले लोगों के जीवन-व्यय बढ़ जाने से भी कोई हेर-फेर नहीं पड़ता क्योंकि उनकी आय की क्रय-शक्ति स्थायी रहती है । बचत करनेवालों को भी यह भय नहीं रहता कि जो कुछ भी आज उन्होंने बचाया है वह कल अपूर्ण रहेगा ।

(२) इस पद्धति को मानने से आर्थिक संकट और तेजी-मंदी का प्रभाव कम हो जाता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं के भावों के आधार पर निर्धारित होता है । इस पद्धति को मानने से वस्तुओं के भावों में घटा-बढ़ी के कारण लोगों की आय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता—जब भाव घट जाते हैं तो देनदार को कम देना पड़ता है और लेनदार को भी कम आवश्यकता होती है और जब भाव बढ़ जाते हैं तो लेनदार को अधिक मिलता है और देनदार भी अधिक देने में समर्थ होता है ।

दोष—(१) यह पद्धति जटिल और कठिन है । इसे सामान्य जनता सरलता से नहीं समझ सकती और इसलिए लोगों का इसमें विश्वास नहीं जम सकता ।

(२) इसको माननेवाले देशों को अन्य देशों के साथ व्यापार करने में बड़ी अड़चनें होती हैं । अतः यदि इसे चलाना हो तो अधिकांश देशों को इसे पालन करना होगा पर यह अब संभव नहीं जान पड़ता ।

(३) इसके अन्तर्गत दीर्घकालीन ऋणों के लिए एक प्रमाप और नकद लेन-देन के लिए दूसरे प्रमाप की आवश्यकता होगी जिससे इसे समझने में मतिविभ्रम हो सकता है ।

(४) पिछले इकट्ठे किए गए मूल्यों से बनाए हुए निर्देशांकों से इस पद्धति का संबंध होने के कारण यह आदर्श पद्धति नहीं कही जा सकती क्योंकि वस्तुओं के मूल्य प्रायः अशुद्ध और अपूर्ण संग्रह किए जाते हैं ।

---

* "It is directly concerned with the standard of deferred payments function of money and may be employed while any other kind of monetary standard is serving for the medium of exchange." —*Kemerrer.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) इसमें विशेषतः आधार-वर्ष के निर्देशांकों पर ही आश्रित रहना पड़ता है और समय-समय पर भिन्न-भिन्न कारणों से होनेवाले मूल्य-परिवर्तनों का विचार नहीं रखा जाता। इससे स्थिति का वास्तविक और सही ज्ञान नहीं हो पाता।

(६) सरकार को निर्देशांक बार-बार बनाने पड़ते हैं और समय-समय पर उन्हें सर्वपूर्ण रखना पड़ता है, जो एक कठिन काम है।

संक्षेप में बात यह है कि यह पद्धति सैद्धान्तिक है पर व्यावहारिक नहीं। अगर कभी इसे अपनाया भी गया तो सबसे पहिले इसे शनैः शनैः अपने व्यक्तिगत लेन-देन में प्रयोग करके देखना पड़ेगा। ऐसा करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तुओं के भावों का मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने में कोई हाथ ही नहीं रहेगा पर इसकी अभी कोई संभावना नहीं दीख पड़ती।

विनिमय-प्रमाप

(Exchange Standard)

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि जब किसी देश की मुद्रा विदेशी भुगतान करने के लिए सोने में या सोने पर आधारित किसी विदेशी मुद्रा में परिवर्तनीय हो तो उस पद्धति को स्वर्ण-विनिमय प्रमाप कहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी देश की मुद्रा किसी अन्य देश की स्वतन्त्र मुद्रा के साथ संबंधित होती है। उदाहरणार्थ, यदि रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से हो तो उसे स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप कहेंगे और यदि रुपये का संबंध डॉलर से हो तो उसे डॉलर-विनिमय प्रमाप कहेंगे। जिस देश की मुद्रा के साथ स्थानीय मुद्रा परिवर्तनीय होगी उसी मुद्रा का विनिमय-प्रमाप माना जायगा। किसी भी विनिमय-प्रमाप में वे सब दोष होते हैं जो स्वर्ण-विनिमय प्रमाप में होते हैं। इसका सबसे भारी दोष तो यह है कि देशी मुद्रा विदेशी मुद्रा से बंधकर उस पर आश्रित हो जाती है। दूसरे, विदेशी विनिमय के लिए दोनों देशों को एक-दूसरे की मुद्राएं अपने-अपने कोष में रखनी होती हैं।

हमारे देश में १९३१ में स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप अपनाया गया। हमारे रुपये का भाग्य इंगलैण्ड के स्टर्लिंग के साथ जोड़ दिया गया था। वह प्रमाप द्वितीय युद्ध समाप्त होने तक चलता रहा। युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कोष बनने से स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप टूटा और अब बहुमुद्रा प्रमाप स्थापित हो गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पत्र-मुद्रा प्रमाप

(Paper Currency Standard)

पिछले पृष्ठों में धात्विक पद्धतियों का वर्णन किया गया है जिनके अन्तर्गत धातु-मुद्रा प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हुए विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करती हैं। ये सब पद्धतियां उस समय तक अपनाई जा सकती हैं जब कि देश में सोना और चांदी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों। उस समय जब कि सोना-चांदी भली प्रकार देखने को भी न मिलते हों कैसी भी धात्विक पद्धति नहीं अपनाई जा सकती। उस समय तो पत्र-मुद्रा से ही काम चलाना पड़ेगा। पत्र-मुद्रा पद्धति वह है जिसके अन्तर्गत नोट देश में विनिमय-माध्यम का काम करते हैं पर जिनका मूल्य-संबंध किसी धातु विशेष के साथ निश्चित नहीं किया जाता। इस प्रकार की पद्धति प्रायः युद्धकाल या अन्य किसी आर्थिक संकट के समय काम में लाई जाती है। इसके मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(१) नोट देश की प्रामाणिक मुद्रा होते हैं और उन्हें असीमित संख्या में लिया-दिया जा सकता है।

(२) नोटों का मूल्य किसी भी प्रकार की धातु से संबंधित नहीं होता और न ये नोट धातु में परिवर्तनीय होते हैं।

(३) मूल्यस्तर में स्थायित्व बनाए रखने के लिए सरकार इस पद्धति का संचालन करती है। चूंकि सरकार इसका संचालन करती है इसलिए इसे "संचालित मुद्रा-पद्धति" भी कहते हैं।

दोष—(१) इस पद्धति के अन्तर्गत नोटों के चलनाधिक्य का सदैव भय बना रहता है। सरकार भी छापाखाना खोलकर असीमित मात्रा में नोट चलाने लगती है और ज्यों-ज्यों इन नोटों की संख्या बढ़ती है मुद्रा का मूल्य कम होता जाता है और वस्तुओं के भाव बढ़ने लगते हैं। परिणामतः लेनदारों को हानि रहती है और वेतनभोगी लोग पिस जाते हैं।* यह इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

(२) इस पद्धति में किसी भी सीमा तक मूल्यस्तर में उलट-फेर होने

---

* "An inconvertible paper is viewed with uneasiness. People fear, and not without reason, that it will be issued in excess. Government which have recourse to it are strongly tempted to escape the unpopularity of taxing the people openly by taxing them indirectly through the emission of more notes."—*Chapman*: Outlines of Political Economy. pp. 244-45.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की संभावना बनी रहती है। इस अनिश्चितता के कारण देशी और विदेशी व्यापार को बड़ी हानि होती है। मुद्रा के खिलाड़ी इसे अपने खेल का साधन बना लेते हैं। यह ठीक है कि इसमें विनिमय-दर को गिराकर व्यापार को प्रगति दी जा सकती है परन्तु इसका दीर्घकालीन प्रभाव बहुत बुरा होता है।

(३) नोट केवल देश के अन्तर्गत ही चल सकते हैं इसलिए इस पद्धति को अपनाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान लेने-देने में बड़ी असुविधा रहती है।

(४) इस पद्धति का प्रबन्ध और संचालन सरकार के हाथ में होता है जिससे सरकार जैसा चाहे इसे तोड़-मोड़कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर सकती है। सरकार द्वारा संचालित मुद्रा-पद्धति में अनेक दोष होते हैं—सरकार अपने हित के लिए नोटों की संख्या बढ़ाकर वस्तुओं के भाव ऊंचे कर सकती है; सरकार अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए मुद्रा-पद्धति में हेर-फेर कर सकती है जिससे व्यापारिक हितों को हानि रहती है तथा सरकार द्वारा मुद्रा-पद्धति के संचालन से देश के आन्तरिक मूल्यस्तर स्थायी नहीं रह पाते क्योंकि सरकार अपने हितों के सामने आर्थिक हितों की उतनी चिन्ता नहीं करती। क्राउथर नामक मुद्राशास्त्री ने कहा है—

"जिस प्रकार संसार में स्वर्ण-प्रमाप सफल नहीं हो सका उसी प्रकार १९३१ के पश्चात् संचालित पत्र-मुद्रा पद्धति भी सफल नहीं हो सकी। यद्यपि संसार के सभी राष्ट्र स्वेच्छानुसार अपनी-अपनी आन्तरिक नीति निर्धारित करने में स्वतन्त्र थे परन्तु फिर भी वह नीति सफल न हो सकी और उसकी असफलता के कारण सैकड़ों और हजारों लोग बेकार हो गए। विदेशी विनिमय-दर घटती-बढ़ती रही और भुगतान-संतुलन विषम ही बना रहा। परिणाम यह हुआ कि अन्त में हारकर विदेशी व्यापार से प्रतिबन्ध हटाने पड़े।"*

कुछ मुद्राशास्त्रियों का मत है कि पत्र-मुद्रा प्रमाप पद्धति इतनी दोषपूर्ण

* "The post-1931 managed currency system failed as completely as the gold standard. The nations have indeed been free to pursue internal policies of their own choosing, but the hundreds of thousands of unemployed in the export industries have been silent witnesses to the limitations of the scope for a purely internal policy, however well conceived and successfully executed. Fluctuating exchanges have not restored the nation's balances of payments to equilibrium and thereby removed the necessity for restrictions on foreign trade."

—*Geoffrey Crowther.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है जितनी समझी जाती है। उनका विश्वास है कि इसके अन्तर्गत वस्तुओं के भाव उसी प्रकार स्थायी बने रहते हैं जिस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत होते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि "इस पद्धति में विनिमय-दर को इतना स्थायी बनाया जा सकता है जितना शायद स्वर्ण-प्रमाप में भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु यह बात तभी संभव हो सकती है जब यह पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाई जाय। वास्तव में तो इस पद्धति का जन्म ही स्वर्ण-प्रमाप की दुर्बलताओं और दोषों के कारण हुआ।" तर्क कुछ भी हो, पर इतना अवश्य है कि स्वर्ण-प्रमाप सामान्यतः किसी भी संचालित पत्र-मुद्रा प्रमाप से अच्छा है और यदि पत्र-मुद्रा प्रमाप का संचालन ठीक-ठीक न किया जाय तो उससे जनता को इतनी भयंकर हानि हो सकती है जितनी किसी भी प्रकार की स्वर्ण-प्रमाप पद्धति से नहीं हो सकती।

अब पत्र-मुद्रा प्रमाप के कुछ दोष और कठिनाइयां अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना से दूर हो गए हैं। कोष के द्वारा अब स्वर्ण-प्रमाप के सभी लाभ प्राप्त हो सकते हैं। विनिमय-दर को स्थायी बनाने तथा समय-समय पर उसमें आवश्यकतानुसार हेर-फेर करने की भी इसमें व्यवस्था कर दी गई है। (इसके लिए विस्तृत विवरण आगे पढ़ें।)

आदर्श मुद्रा-पद्धति के लक्षण

विभिन्न मुद्रा-पद्धतियों का अध्ययन करने के पश्चात् यह देखना आवश्यक है कि आदर्श मुद्रा-पद्धति में कौन-कौन गुण होने चाहिएं। सामान्यतः आदर्श पद्धति में निम्न गुण होना अनिवार्य है :—

सरलता—पद्धति ऐसी सरल हो कि सामान्य जनता भी उसे सरलता से समझकर उसके प्रति विश्वास बना सके। जटिल पद्धति में जनता का विश्वास नहीं जम पाता अतः उसके चलाने में कठिनाई होती है। स्वर्ण-विनिमय प्रमाप जटिल पद्धति है जिसे जनता सरलता से नहीं समझ पाती।

मितव्ययिता—पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि उसमें अधिक व्यय न हो, न तो उसे चलाने के लिए कीमती धातुओं की आवश्यकता हो और न उसके प्रबन्ध और संचालन में अधिक व्यय होना चाहिए। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप एक खर्चीली पद्धति है जिसे चलाने के लिए सोने की आवश्यकता होती है।

स्वयंपूर्ण कार्यशीलता—पद्धति ऐसी हो जो स्वयं ही चलती रहे और जिसमें सरकार के हस्तक्षेप की विशेष आवश्यकता न हो। पद्धति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा स्वयमेव घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। निर्देशांक पद्धति, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पद्धति तथा स्वर्ण-धातु प्रमाप पद्धति में सरकार का हस्तक्षेप अधिक होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लोच या लचक—पद्धति के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मुद्रा की मात्रा देश में उद्योग एवं व्यापार के अनुकूल घटती-बढ़ती रहे। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए मुद्रा-पद्धति में लोच होना अनिवार्य है। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप लोचदार है पर खर्चीला है।

मूल्य-स्थिरता—पद्धति ऐसी हो जिसके अन्तर्गत देश के मूल्यस्तर तथा विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता एवं स्थायित्व रक्खा जा सके।

उक्त लक्षणों की कसौटी पर आदर्श मुद्रा-पद्धति का ज्ञान सरलता से हो सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि आदर्श पद्धति वह है जो जनता में अपना स्थान बना ले और सामान्य जनता का जिसमें विश्वास हो। विश्वास बनाने के लिए पद्धति का जहां सरल होना आवश्यक है वहां उसमें मूल्य-स्थिरता लाने की क्षमता भी होनी चाहिए।* मुद्रा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत छोटे-बड़े मूल्य की सभी मुद्राएं चल सकें जिससे सब प्रकार के लेन-देन की सुविधा रहे। संक्षेप में, पद्धति लोचदार, सरल तथा लोकप्रिय होनी चाहिए।

भारत में मुद्रा-प्रमाप पद्धतियां

भारत में समय-समय पर भिन्न-भिन्न मुद्रा-पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है। सन् १८३५ से पहले यहां सोने और चांदी के तरह-तरह के सिक्के चलते थे। १८३५ में सबसे पहले कानून बनाकर रजत-प्रमाप स्थापित किया गया जिसमें चांदी का रुपया देश भर की प्रमुख मुद्रा बना दिया गया। इस रुपये की तौल १८० ग्रेन थी जिसमें $\frac{११}{१२}$ भाग शुद्ध चांदी होती थी। रुपये के लिए स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई थी और वह असीमित कानूनी मुद्रा था। १८७२ के पश्चात् चांदी की मात्रा बढ़ने से देश में चांदी के सिक्कों की संख्या बढ़ने लगी। अन्त में सरकार ने १८९३ में चांदी की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई बन्द कर दी और तभी रजत-प्रमाप का अन्त हो गया।

१८९८ में फाउलर कमेटी ने पंगु-द्विधातुवाद का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि सोने और चांदी, दोनों धातुओं के सिक्के देश में चलाए जायं पर स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई केवल सोने के लिए ही हो। इस प्रकार कुछ समय तक देश में पंगु-प्रमाप लाने के प्रयत्न किए गए पर परिस्थितियों के कारण वह स्थापित नहीं किया जा सका।

फाउलर कमेटी की उक्त सिफारिश के अनुसार काम करते-करते सरकार १९०७-८ में स्वर्ण-विनियम प्रमाप पर आ गई। इसके अन्तर्गत देश में

---

* "The main need of the hour today.....is more confidence. There can be no surer route to the establishment of confidence than the stabilization of exchanges."—*L. Robbins*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रुपये के सिक्के, नोट तथा अन्य सहायक सिक्के चलते थे पर विदेशी भुगतान के लिए उनके बदले में सोना मिल सकता था। सरकार के पास दो कोष थे—एक देश में ही जमा रहता था और दूसरा लन्दन में रखा जाता था। सरकार इस पद्धति का संचालन कौंसिल बिलों तथा रिवर्स कौंसिल-बिलों के द्वारा करती थी। परन्तु यह पद्धति भी अधिक समय तक न चल सकी। प्रथम युद्धकाल की भीषण परिस्थितियों में १९१७ के मध्य में इस पद्धति को छोड़ना पड़ा।

युद्ध समाप्त होने पर १९२० में बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने रुपये का सोने के साथ गठबन्धन करके स्वर्ण-विनिमय प्रमाप तथा स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप का भान कराया परन्तु रुपये और सोने का गठबन्धन अधिक समय तक न चल सका।

१९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण-धातु प्रमाप का प्रस्ताव किया। इस प्रस्ताव के अनुसार सरकार ने १९२७ में करेंसी एक्ट पास करके निश्चित मात्रा में और निश्चित दर पर सोने का क्रय-विक्रय वैधानिक बना दिया। उस समय सोना मूल्यमापक था पर विनिमय-माध्यम नहीं था। जनता सरकार से सोना किसी भी काम के लिए खरीद सकती थी। इस प्रकार देश में स्वर्ण-धातु प्रमाप को जन्म मिला। यह प्रमाप १९३१ तक चलता रहा।

१९३१ में स्टर्लिंग का सोने से गठबन्धन टूटने के कारण रुपये का गठ-बन्धन केवल स्टर्लिंग से हो गया। तब रुपया १ शि० ६ पें० की दर पर केवल स्टर्लिंग में परिवर्तित हो सकता था। अतः देश में स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप स्थापित हो गया। देश की मुद्रा स्टर्लिंग के साथ बंध गई। युद्धकाल में भी हमारे देश में यही पद्धति थी।

भारत का वर्तमान मुद्रा-प्रमाप

युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना से संसार भर की मौद्रिक पद्धति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। अनेक देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का सम-मूल्य सोने में व्यक्त कर दिया है। भारत ने भी रुपये का मूल्य सोने में निश्चित करके कोष को दे दिया है। इस प्रकार संसार के अधिकांश देशों की मुद्राओं का मूल्य सोने में व्यक्त होने के कारण एक प्रकार से अब स्वर्ण-प्रमाप फिर स्थापित हो गया है जिसमें सोना मुद्राओं का मूल्यमापक है। कोष के सदस्य-देशों की सब मुद्राएं आज कोष की सहायता से एक दूसरे में बदली जा सकती हैं। भारतीय मुद्रा के बदले में भी कोष के सदस्य-देशों की सब मुद्राएं प्राप्त की जा सकती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आज स्वर्ण-प्रमाप एक नया रूप लेकर जन्मा है जिसमें सोना अधिकांश मुद्राओं का मूल्यमापक है। यह भी कहा जा सकता है कि आज "बहु-मुद्रा प्रमाप" पद्धति है जिसमें एक मुद्रा का अनेक मुद्राओं से संबंध है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारत में मौद्रिक पद्धतियों का तिथिवार चित्रण

(१८३५–१८९३) रजत-प्रमाप ।
(१८९८–१९०७) पंगु-प्रमाप स्थापित करने के असफल प्रयत्न ।
(१९०७–१९१७) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप ।
(१९२७–१९३१) स्वर्ण-धातु प्रमाप/स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप ।
(१९३१–१९४७) स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप ।
(१९४७– ?) बहुमुद्रा प्रमाप/अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-समता प्रमाप।

सारांश

देशी एवं विदेशी व्यापार के विकास के लिए तथा उद्योगों की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि जहां तक सम्भव हो सके मुद्रा का मूल्य स्थिर और स्थायी बनाया जाय जिससे व्यापार का भलीभांति संचालन हो सके और मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-संकुचन से होनेवाली हानियां न हों। किसी भी मुद्रा-पद्धति के अन्तर्गत देश में एक या दो प्रकार की मुद्राएं देश की प्रामाणिक मुद्राएं होती हैं। वे ही मुद्राएं वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यमापन करती हैं और उन्हीं के साथ अन्य सहायक मुद्राओं का मूल्य-संबंध होता है। जब एक धातु का सिक्का देश की प्रामाणिक मुद्रा हो तो उस पद्धति को 'एक-धातुवाद' कहते हैं। जब दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्राएं बनाए जायं और दोनों साथ-साथ देश में चलें तो उस पद्धति को 'द्वि-धातुवाद' कहते हैं और जब किसी देश में नोट ही प्रामाणिक मुद्रा का काम करें तो उस पद्धति को 'पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति' कहते हैं। मुद्रा-पद्धति देश की आर्थिक स्थिति तथा देशवासियों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

एक-धातुवाद के अन्तर्गत जब देश की प्रामाणिक मुद्रा चांदी का सिक्का हो तो उस पद्धति को 'रजत-प्रमाप' कहते हैं। भारत में यह पद्धति १८३५ से १८९३ तक चलती रही। १९३४ तक चीन भी इस पद्धति को मानता रहा था। एक-धातुवाद के अन्तर्गत जब देश की प्रमुख मुद्रा सोने का सिक्का हो तो उस पद्धति को स्वर्ण-प्रमाप कहते हैं। स्वर्ण-प्रमाप के चार रूप किए गए हैं— (१) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, (२) स्वण-धातु प्रमाप, (३) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप, (४) स्वर्ण-कोष प्रमाप। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के अन्तर्गत सोने के सिक्के देश में प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते तथा विनिमय माध्यम और मूल्यमापन का काम करते हैं। इनके साथ देश में अन्य प्रकार की मुद्राएं भी चलती हैं परन्तु उनका मूल्य सोने की प्रमुख मुद्रा के साथ संबंधित होता है। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की कार्यशैली सरल होती है, सरकार को इसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती तथा यह पद्धति स्वयंपूर्ण-कार्यशील होती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु सोने के सिक्के चलाने से इसमें सोना नष्ट होता है तथा यह पद्धति राजनैतिक अराजकता या आर्थिक संकट के समय नहीं चल सकती। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप प्रथम युद्ध से पहिले अनेक देशों में माना जाता रहा था। अब यह पद्धति कहीं भी नहीं मानी जाती। स्वर्ण-धातु प्रमाप के अन्तर्गत सोना देश में मूल्यमापन का काम करता है पर विनिमय-माध्यम का काम नहीं करता--सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते। अतः इस पद्धति में सोना क्षीण नहीं होता, सोने की बचत होती है तथा यह पद्धति भी स्वयंपूर्ण-कार्यशील होती है। इसके अन्तर्गत देश में चलनेवाली प्रत्येक मुद्रा के बदले में सरकार निश्चित दर पर और निश्चित मात्रा में किसी भी काम के लिए सोना बेचती है अतः जनता का इसमें विश्वास जमा रहता है। परन्तु इसका संचालन देश की सरकार के हाथ में होता है। १९२५ में इंगलैंड ने इसको स्थापित किया तथा हमारे देश में १९२७ के करेंसी एक्ट के द्वारा यह पद्धति स्थापित की गई। स्वर्ण-विनिमय, प्रमाप के अन्तर्गत सोना केवल विदेशी भुगतान में काम लाया जा सकता है। देश के अन्तर्गत सोने की मुद्राएं नहीं चलतीं। विनिमय-दर स्थायी बनाने का दायित्व सरकार का होता है। इसके लिए सरकार दो कोष बनाकर रखती है--एक कोष देश में, दूसरा विदेश में। इस पद्धति से सोने की बचत होती है तथा यह लोचदार भी है। इसे निर्धन और अविकसित देश भी अपना सकते हैं। परन्तु इसका संचालन पूर्णरूपेण सरकार के हाथ में होता है जिससे वह इसमें हस्तक्षेप करती रहती है। इस पद्धति में न उतनी लोच होती है और न स्वयंपूर्ण-कार्यशीलता होती है अतः जनता इसको सरलता से समझ भी नहीं पाती। संक्षेप में, यह पद्धति जटिल एवं बाह्य शक्ति द्वारा संचालित होती है। इस पद्धति को हालैंड, रूस तथा आस्ट्रिया ने अपनाया था। भारत में इस पद्धति को १९०७ में स्थापित किया गया और १९१७ तक यह चलती रही। स्वर्ण-कोष प्रमाप स्वर्ण-प्रमाप का एक नया रूप है जिसका प्रयोग अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड तथा स्विजरलैंड में १९३६ से लेकर द्वितीय युद्ध के आरम्भ तक होता रहा था। इसमें न सोने की मुद्राएं चलती थीं और न सोने का देश की स्थानीय आवश्यकताओं के लिए प्रयोग ही होता था। इसमें सोने का आयात-निर्यात केवल मुद्रा-संबंधी कार्यों के लिए विनिमय-समातुलन कोषों के द्वारा होता था।

द्वि-धातुवाद के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग मुद्रा के रूप में चलते हैं और दोनों का एक दूसरे के साथ वैधानिक संबंध होता है। द्वि-धातुवाद का आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि देश के अन्तर्गत चलनेवाले दो धातुओं के सिक्के एक-दूसरे पर अपना-अपना समातुलन प्रभाव डालते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिससे मुद्रा का मल्य सामान्यतः स्थायी बना रहता है और जिससे मूल्य-स्तर को भी स्थायी बनाने में सहायता मिलती है । इस पद्धति के द्वारा क्रय-शक्ति की स्थिरता बनी रहती है, विदेशी व्यापार को प्रगति मिलती है, उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है तथा बैंकों को कोष-निर्धारण में मित-व्ययिता होती है। परन्तु इसमें ग्रेशम का नियम लागू होने का भय सदैव बना रहता है। इस पद्धति को अमरीका, फ्रांस तथा लेटिनसंघीय देशों ने समय-समय पर माना है। आज यह पद्धति कहीं भी नहीं मानी जाती और न भविष्य में इसके प्रस्थापन की कोई आशा ही की जा सकती है।

द्वि-धातुवाद के कई रूप हो सकते हैं—(१) पंगु-प्रमाप, (२) समानान्तर-प्रमाप, (३) नव-द्विधातुवाद । पंगु-प्रमाप में दो धातुओं के सिक्के प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते तथा दोनों असीमित कानूनी मुद्रा होते हैं परन्तु स्वतंत्र सिक्का-ढलाई केवल एक धातु की ही होती है । यह पद्धति प्रथम युद्ध से पहिले फ्रांस और अमरीका में प्रचलित थी । भारत में इसकी सिफारिश फाउलर कमेटी ने १८९८ में की थी । समानान्तर-प्रमाप के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते तथा दोनों असीमित कानूनी मुद्रा होते हैं । दोनों धातुओं की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई होती है पर उनकी पारस्परिक दर कानून द्वारा निश्चित नहीं की जाती वरन् बाजार-दर ही काननी दर मान ली जाती है । यह पद्धति १६६३ में इंगलैंड में अपनाई गई थी । नव-द्विधातुवाद में सोने और चांदी को आधार बनाकर नोट चला दिए जाते हैं तथा ये नोट सोन-चांदी में परिवर्तनीय होते हैं । इसके अन्तर्गत सोने और चांदी के बीच कोई कानूनी दर निर्धारित नहीं की जाती वरन् पारस्परिक दर परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रहती है।

मिश्रित धातुवाद में दो धातुओं (प्रायः सोना-चांदी) को निश्चित अनुपात में मिलाकर मिश्रित धातु के सिक्के बनाकर चलाए जाते हैं । इसमें ग्रेशम का नियम लागू होने का भय नहीं रहता। निर्देशांक-प्रमाप में मुद्रा का मल्य वस्तुओं के भावों पर निर्भर रक्खा जाता है। मल्य-निर्देशांक बनाकर उन्हीं के अनुसार मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है । यह पद्धति सैद्धांतिक है पर] व्यावहारिक नहीं क्योंकि निर्देशांकों के अनुसार मूल्य निश्चित करने से मल्य म समय-समय पर परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है ।

पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति में नोट देश में विनिमय-माध्यम का काम करते हैं परन्तु उनका मूल्य-संबंध किसी धातुविशेष के साथ निश्चित नहीं किया जाता । इस प्रकार की पद्धति प्रायः युद्धकाल तथा अन्य आर्थिक संकट-काल में प्रयोग की जाती है । इसमें नोटों के चलनाधिक्य का निरंतर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भय बना रहता है तथा मूल्यों में असीमित फेर-बदल होने की शंका बनी रहती है। फिर इसका संचालन सरकार के हाथों में होने के कारण यह पद्धति सरकारी हाथों की कठपुतली बन जाती है।

आदर्श मौद्रिक पद्धति के लक्षण इस प्रकार हैं—(१) सरलता, (२) मित-व्ययिता, (३) स्वयंपूर्ण कार्यशीलता, (४) लोच या लचक, (५) मूल्य स्थिर व स्थायी रखने की क्षमता।

भारत में समय-समय पर भिन्न-भिन्न पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है—१८३५ से १८९३ तक रजत-प्रमाप रहा, १८९८ से पंगु-प्रमाप स्थापित करने के असफल प्रयत्न होते रहे, १९०७-१७ में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप रहा, १९२७ में स्वर्ण-धातु-प्रमाप पद्धति स्थापित की गई, १९३१ में स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप आया और वह १९४७ तक चलता रहा। अब बहुमुद्रा-प्रमाप या अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-समता प्रमाप समझना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'मौद्रिक प्रमाप' से आप क्या समझते हैं? आदर्श मौद्रिक प्रमाप पद्धति में कौन-कौन गुण होना अनिवार्य है? क्या स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप पद्धति आदर्श कही जा सकती है?

(२) 'एक-धातुवाद' किसे कहते हैं? एक-धातुवाद के भेद लक्षण सहित समझाकर लिखिए।

(३) किसी देश की मौद्रिक पद्धति में सोने और चांदी का समावेश किस-किस प्रकार किया जा सकता है?

(४) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के मुख्य लक्षण कौन-कौन से हैं? आधुनिक स्वर्ण-प्रमाप एवं प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप का भेद दर्शाइए।

(५) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, स्वर्ण-धातु प्रमाप तथा स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के लक्षण सहित भेद बतलाइए।

(६) 'द्वि-धातुवाद' से आप क्या समझते हैं? इस पद्धति की क्या-क्या विशेषताएं हैं? इसका अन्त क्योंकर हुआ? क्या अब इसका पुनरुद्धार संभव है?

(७) 'द्वि-धातुवाद की समातुलन क्रिया' से आप क्या समझते हैं? द्वि-धातु-वाद में इसका क्या महत्त्व है?

(८) पत्र-मुद्रा प्रमाप पद्धति से आपका क्या अर्थ है? लक्षण सहित उत्तर लिखिए तथा उसके गुण-दोषों पर भी प्रकाश डालिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मौद्रिक पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन

(एक विहंगम दृष्टि)

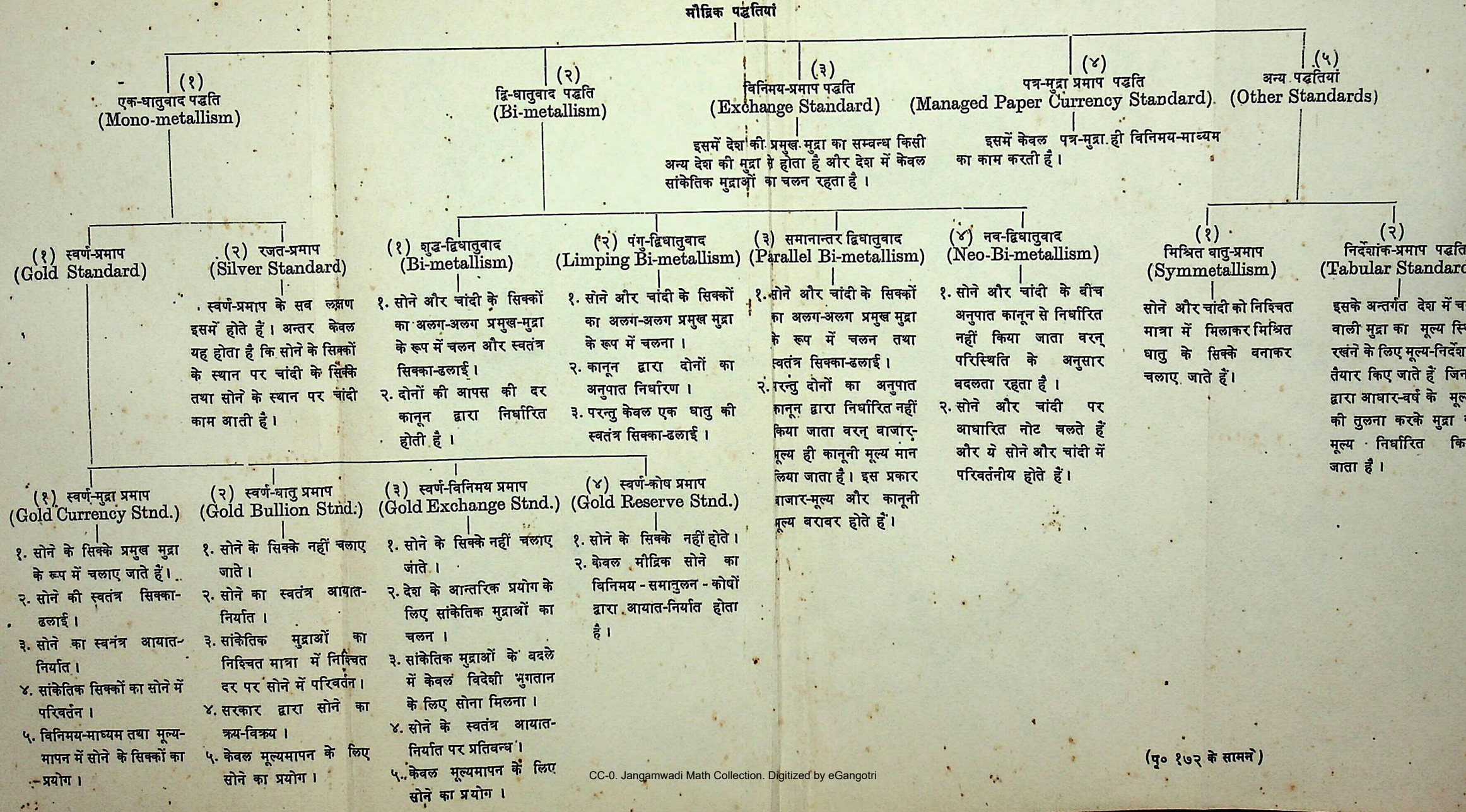

(पृ० १७२ के सामने)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १०

स्वर्ण-प्रमाप का इतिहास

१९वीं शताब्दी के अन्त तक द्वि-धातुवाद स्थापित करने के अटूट प्रयत्न होते रहे परन्तु इसकी विशिष्ट कठिनाइयों के कारण, जिनका उल्लेख गत अध्याय में किया जा चुका है, यह पद्धति न अपनाई जा सकी। चांदी के भावों में भारी-भारी उतार-चढ़ाव होने के कारण रजत-प्रमाप का भी बहिष्कार कर दिया गया। अन्त में, संसार के अनेक देशों में स्वर्ण-प्रमाप ही माना जाने लगा। केमरर लिखता है कि उस काल में स्वर्ण-प्रमाप अपनाए जाने के चार प्रमुख कारण थे :—

(१) १९वीं शताब्दी में सोने के मूल्य में स्थिरता बनी रही जिससे स्वर्ण प्रमाप को सफलतापूर्वक चलाने में कोई कठिनाई नहीं हुई;

(२) उस काल में सोना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था जिससे उसे किसी प्रकार भी प्रयोग किया जा सकता था;

(३) सोना अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् था जिससे राशि को गतिशील बनाने के लिए सोने को लाने-ले जाने में सुविधा रहती थी;

(४) सोने के भावों पर उसके उत्पादन का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था क्योंकि टकसाल में उसके क्रय-विक्रय का मूल्य निश्चित रहता था।

इन्हीं कारणों से १९वीं शताब्दी में स्वर्ण-प्रमाप की विजय रही और संसार के अनेक राष्ट्र इसको अपनाते रहे।

प्रथम युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप

१९१४ से पूर्व अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस आदि प्रमुख देशों में स्वर्ण-प्रमाप पद्धति मानी जाती थी। इसके अन्तर्गत सोना विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करता था। सोने के सिक्के भी चलाए जाते थे और ये ही सिक्के देश की प्रमुख या प्रामाणिक मुद्रा होते थे। इन सिक्कों की देश में स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई होती थी अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर सरकारी टकसाल से सिक्के बनवा सकता था। सोने के सिक्कों के साथ साथ इन देशों में अन्य प्रकार के सहायक सिक्के भी चलते थे परन्तु इनका सोने के सिक्कों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के साथ मूल्य-संबंध होता था। विदेशी विनिमय का आधार भी सोना ही था। सोने के सम-मूल्य पर ही देश-विदेशों में ऋण का भुगतान होता था और इनकी विदेशी विनिमय-दर 'स्वर्ण-निर्यात-विन्दु' तथा 'स्वर्ण-आयात-विन्दु' के वीच उतरती-चढ़ती रहती थी। सोने के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार का कोई प्रतिवन्ध नहीं होता था। सोने के सिक्कों के चलने में सोने की घिसावट से होनेवाली हानि को वचाने के लिए इन देशों में नोट भी चलाए जाते थे परन्तु ये नोट सोने में परिवर्तनीय होते थे। इस काम के लिए नोट छापकर चलानेवाले वैंकों को अपने पास सोने के कोष रखने पड़ते थे। इस प्रकार देश का अधिकांश सोना वैंकों के पास उनके कोप में वन्द पड़ा रहता था। इसमें मितव्ययिता लाने के उद्देश्य से कोषों का केन्द्रीकरण करना उचित समझा गया जिसके लिए प्रत्येक देश में केन्द्रीय वैंकों की स्थापना की गई जो साख और पत्र-मुद्रा का संचालन करने लगे तथा देश में स्वर्ण-कोष का भी प्रवन्ध करते थे। इन्हीं केन्द्रीय वैंकों के द्वारा सोने का क्रय-विक्रय एक निश्चित दर से किया जाता था। इस प्रकार सोने का क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात स्वतन्त्र होने के कारण इस पद्धति में स्वयंपूर्ण-कार्यशीलता बनी रहती थी जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं के मूल्यस्तर अपने आप समानता में वने रहते थे। इस वात को हम एक उदाहरण लेकर भली-भांति समझ सकते हैं। मान लो, यदि किसी देश की मुद्रा की विनिमय-दर अन्य मुद्राओं की अपेक्षा वढ़ जाती तो उस देश का मूल्यस्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊंचा हो जाता था और तव वहां आयात अधिक होने लगता था। इसी प्रकार अन्य देशों के मूल्यस्तर उस देश की अपेक्षा नीचे हो जाते थे जिससे वहां से निर्यात वढ़ने लगते थे। परिणामस्वरूप वह देश ऋणी वन जाता था और उसे ऋण भुगतान करने के लिए विदेशों में सोना भेजना पड़ता था। इससे वहां मुद्रा की क्रय-शक्ति वढ़ जाती और मूल्यस्तर नीचे हो जाते थे तथा विनिमय-दर भी समानता में हो जाती थी। इस प्रकार इस पद्धति में स्वयंपूर्ण-कार्यशीलता थी। इस पद्धति के लक्षण निम्न थे :—

(१) सोना 'विनिमय का माध्यम' था तथा 'मूल्यमापक' भी था। देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए सोने के सिक्के चलते थे। ये ही सिक्के देश की प्रामाणिक मुद्रा माने जाते थे तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य इन्हीं के साथ संवंधित होता था।

(२) सोने की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई थी अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर सरकारी टकसाल से उसके सिक्के वनवा सकता था।

(३) सोने का आयात-निर्यात स्वतंत्र था।

प्रथम महायुद्ध से पहिले स्वर्ण-प्रमाप एक दूसरे रूप में भी माना जाता था

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसे स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति कहते हैं। इस पद्धति का मूल उद्देश्य सोने के प्रयोग में मितव्ययिता लाना तथा स्वर्ण-प्रमापी और रजत-प्रमापी देशों की विनिमय-दरों में स्थिरता रखना था जिससे रजत-प्रमापी देशों में भी वैदेशिक व्यापार बढ़ाया जा सके। इस पद्धति के अन्तर्गत देश में सोने के सिक्के नहीं चलते थे वरन् देशी व्यापारिक लेन-देन में चांदी के सिक्कों तथा नोटों का प्रयोग होता था। ये चांदी के सिक्के और नोट असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे। देशी कामों के लिए ये मुद्राएं सोने में परिवर्तित नहीं होती थीं किन्तु विदेशी भुगतान के लिए इनके बदले में सरकार सोना या विदेशी मुद्राएं देने को बाध्य होती थी। इसके लिए सरकार को केन्द्रीय बैंक में देशी मुद्रा का एक कोष रखना पड़ता था जिससे वे विदेशी भुगतान लेकर देश में देशी मुद्रा दे सकें। इसी प्रकार सरकार को विदेशी बैंकों में भी सोने का एक कोष रखना पड़ता था जिसमें से विदेशी भुगतान किए जा सकें। यह पद्धति जावा, हालैंड, आस्ट्रिया, हंगरी, भारत तथा अन्य अनेक देशों में मानी जाती थी। वास्तव में इस पद्धति के दो उद्देश्य थे :—

एक, उन देशों में पारस्परिक विनिमय-दर स्थापित करना जो स्वर्ण-प्रमाप मानते थे अथवा जिनकी मुद्रा का सोने से मूल्य-संबंध था;

दूसरे, ऐसे दो देशों में पारस्परिक विनिमय-दर स्थापित करना जिनमें से एक देश सोने पर तथा दूसरा चांदी पर आधारित था।

भारतीय रुपये का इंगलैंड के स्टर्लिंग के साथ १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर से गठबन्धन था। परन्तु स्टर्लिंग सोने पर आधारित था इसलिए उस पद्धति को स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति भी कहते थे। इसके अन्तर्गत विनिमय-दर को स्थिर बनाने में सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती थी इसलिए यह पद्धति स्वयंपूर्ण-कार्यशील नहीं थी। संक्षेप में, इस पद्धति के लक्षण निम्न थे :—

(१) देश में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते थे। सोना 'विनिमय-माध्यम' का काम नहीं करता था।

(२) देश में आन्तरिक प्रयोग के लिए चांदी के सिक्के, नोट तथा अन्य प्रकार के सिक्के चलते थे। इनका मूल्य सोने के साथ या सोने पर आधारित किसी विदेशी मुद्रा के साथ निर्धारित कर दिया जाता था। देशी कार्यों के लिए इन मुद्राओं के बदले में सोना नहीं मिल सकता था परन्तु विदेशी भुगतान करने के लिए सरकार इनके बदले में सोना या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा देने को बाध्य होती थी।

(३) सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते थे। एक कोष देश में रखना पड़ता था जिसमें देशी मुद्राएं होती थीं। दूसरा कोष विदेश में रखना पड़ता था जिसमें सोना या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा होती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

थी। इन्हीं कोषों के द्वारा सरकार मुद्रा की विनिमय-दर स्थिर बनाती थी।

(४) सोने का आयात-निर्यात नहीं होता था वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता था।

भारत में युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-विनिमय प्रमाप

भारत में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पद्धति १९०७-८ में स्थापित हुई और युद्ध-काल तक चलती रही। उस समय भारत सरकार पर विदेशी ऋणों का भुगतान सोने में चुकाने की वैधानिक जिम्मेदारी थी। उसी प्रकार इंगलैंड के आयातकों द्वारा भारत में चुकाए जानेवाले ऋणों को रुपयों में चुकाने की जिम्मेदारी इंगलैंड में भारत-मंत्री पर थी। इस प्रकार यह पद्धति सब प्रकार से सरकार के नियंत्रण में थी जिसमें भारत-मंत्री और भारत सरकार दोनों अलग-अलग दो बैंकों का काम करते थे। देश में आन्तरिक प्रयोग के लिए चांदी का रुपया ही प्रमाणित मुद्रा थी परन्तु विदेशी भुगतान के लिए यह रुपया १ शि० ४ पें० की दर पर स्टर्लिंग में बदला जाता था। भारत सरकार के पास दो कोष थे—एक कोष इंगलैंड में भारत-मंत्री के पास रहता था और दूसरा कोष भारत में रक्खा जाता था। जब कभी भारत के किसी व्यापारी को इंगलैंड में भुगतान करना होता था तो वह भारत सरकार से स्टर्लिंग-बिल या रिवर्स-कौंसिल-बिल खरीद लेता और बदले में १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर पर रुपया जमा कर दिया करता था। वह इस स्टर्लिंग-बिल को इंगलैंड भेज देता जहां भारत-मंत्री उसके बदले में कोष में से पौंड चुका दिया करते थे। इसी प्रकार यदि कभी इंगलैंड के व्यापारी को भारत में भुगतान चुकाना होता तो वह लन्दन में भारत-मंत्री से रुपये के बिल या कौंसिल-बिल खरीदकर पौंड जमा कर दिया करता था। वह इस बिल को भारत में भेज देता था और यहां उसके बदले में भारत सरकार कोष में से रुपये चुका दिया करती थी। इस प्रकार सरकार अपने हाथों से इस पद्धति का संचालन करती थी। यह पद्धति लगभग १९१७ तक चलती रही। युद्धकाल की असाधारण परिस्थितियों के कारण सरकार इसको न निभा सकी और तब यह पद्धति छोड़नी पड़ी।

युद्धकाल में स्वर्ण-प्रमाप की स्थिति

युद्ध आरम्भ होने तक स्वर्ण-प्रमाप का भली प्रकार पालन किया जाता रहा। लगभग सभी स्वर्ण-प्रमापी देशों में मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थिर और स्थायी बनी रही। यद्यपि इन देशों की आर्थिक परिस्थितियां और अर्थ-व्यवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं परन्तु स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के द्वारा इनमें पारस्परिक मौद्रिक

 CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहयोग बना रहा। सब देशों के मूल्य-स्तर समानता में रहे तथा उनमें समरूपता बनी रही। ऐसा मालूम होता था मानों सब स्वर्ण-प्रमापी देशों की मुद्राएं एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अर्थात् स्वर्ण की ही शाखाएं हैं और इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाएं एक दूसरे पर आश्रित हैं। परन्तु यह गति अधिक समय तक न चल सकी। किसी ने कहा है कि स्वर्ण-प्रमाप तो एक ऐसा देवता है जो निरन्तर तथा नियमपूर्वक साधना करने से ही प्रसन्न रह सकता है, यदि इस साधना में तनिक भी त्रुटि हुई तो वह अवश्य रुष्ट हो जाता है और तब सारा काम बिगाड़ देता है।* स्वर्ण-प्रमाप तभी चल सकता था जब कि सभी स्वर्ण-प्रमापी देशों के केन्द्रीय बैंक ईमानदारी के साथ विनिमय-दर को स्थायी बनाने के प्रयत्न करते और सोने के आयात-निर्यात के साथ-साथ साख की मात्रा क्रमशः बढ़ाते और घटाते रहते। युद्धकाल में ऐसा न हुआ। युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही अनेक स्वर्ण-प्रमापी देशों ने सोने के सिक्के बनाकर चलाना बन्द कर दिया। इंगलैंड में तो सोने के सिक्के बनाना तथा सोने का आयात-निर्यात भी बन्द कर दिया गया। युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा और इसके लिए सोने के सिक्कों के स्थान पर नोट चलाए जाने लगे। कुछ राजनैतिक परिस्थितियां ऐसी बन चुकी थीं जिनमें सोने का संचय करना ही हितकर था तथा कुछ आर्थिक कारण भी थे जिनकी वजह से सोने को सुरक्षित रखना ही श्रेयस्कर समझा गया। कुछ भी हो, युद्धकाल में स्वर्ण-प्रमाप टूट गया। अमरीका जैसे देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए थे। हमारे देश में भी युद्ध की विषम परिस्थितियों के कारण रुपये की विनिमय-दर को स्थिर और स्थायी न रक्खा जा सका और स्वर्ण-विनिमय प्रमाप टूट गया।

युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप

स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति—युद्ध समाप्त होने के पश्चात् अनेक देशों में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने की योजनाएं बनाई गईं। इस उद्देश्य से १९२० में ब्रूसेल्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक परिषद् बुलाई गई जिसमें स्वीकृत किया गया कि जिन देशों ने स्वर्ण-प्रमाप को तोड़ दिया है वे फिर उसको स्थापित कर लें। इसके दो वर्ष बाद ही जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् बुलाई गई। इस परिषद् में घोषणा की गई कि "प्रत्येक देश की मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व होना आवश्यक है जिससे वहां का आर्थिक पुनर्संगठन हो सके और योरप में स्वर्ण को मुद्राओं का आधार बनाया जा सके।"

* "The Gold Standard is a jealous god. It will work provided it is given exclusive devotion."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

युद्ध के पश्चात् संसार के अधिकांश राष्ट्रों में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया गया। सबसे पहिला देश जहां स्वर्ण-प्रमाप का पुनःस्थापन हुआ, संयुक्त राष्ट्र अमरीका था। यहां १९१९ में ही सोने के आयात-निर्यात संबंधी प्रतिबन्ध तोड़ दिए गए। इसके बाद अन्य देशों ने भी स्वर्ण-प्रमाप अपना लिया। इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप का पुनःस्थापन १९२५ में तथा भारत में १९२७ में किया गया। युद्धोत्तरकाल में स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित करने के दो कारण थे :—

(१) अनेक देश अपने मौद्रिक क्षेत्रों में युद्धपूर्व जैसी सामान्य परिस्थिति लाना चाहते थे परन्तु यह परिस्थिति तभी पैदा हो सकती थी जब कि वे स्वर्ण-प्रमाप को पुनः स्थापित कर लेते। अतः युद्धपूर्व-कालीन सामान्य परिस्थिति पैदा करने की कामना से अनेक देशों में स्वर्ण-प्रमाप मान लिया गया।

(२) युद्धकाल में तथा युद्ध के बाद भी अनेक योरपीय देशों में भयंकर मुद्रा-स्फीति हुई जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य-स्तर आकाश को छूने लगे। जर्मनी में तो युद्धकाल के पश्चात् वस्तुओं के मूल्य-स्तर युद्धपूर्व के मूल्य-स्तरों की अपेक्षाकृत लाखों और करोड़ों गुने अधिक ऊंचे हो गए थे। ऐसी भयंकर मुद्रा-स्फीति के दुःखद परिणामों से त्रस्त होकर प्रत्येक देश स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के प्रयत्न करने लगा क्योंकि सब समझते थे कि स्वर्ण-प्रमाप ही एक ऐसा साधन है जिसको अपनाने से मुद्रा-स्फीति की संभावना नहीं रहती। योरप के अधिकांश देशों का विश्वास था कि स्वर्ण-प्रमाप के द्वारा ही मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व पैदा किया जा सकता है। अतः युद्ध समाप्त होने के बाद दस वर्षों के अन्दर ही अन्दर अधिकांश देशों ने स्वर्ण-प्रमाप लौटा लिया।*

---

* "The second impelling force was the appalling chaos produced in Continental Europe by the wild inter-war inflation; which carried prices in Germany to one million million times their pre-war level, and in other countries to levels only slightly less astronomical. The misery and dislocation produced by the inflation brought to.....the first principle of monetary wisdom. The Gold Standard does.....nip any such wild inflation long before it has even formed into the bud. This assurance.....ot desire to return to the Gold Standard which enabled the whole movement of restoration.....within ten years of the Armistice."

—*Geoffrey Crowther* : Outline of Money, pp. 309-310.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित करने की समस्या भिन्न-भिन्न देशों के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार से थी। अमरीका ने तो युद्ध-काल में केवल थोड़े समय के लिए सोने का निर्यात बन्द कर दिया था परन्तु १९१९ में यह प्रतिबन्ध तोड़ दिया और फिर स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया। यहां वस्तुओं के मूल्य-स्तर ऊंचे अवश्य हुए थे परन्तु इतने अधिक ऊंचे नहीं थे जितने अन्य देशों में थे। अतः अमरीका को स्वर्ण-प्रमाप लौटाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कुछ देश ऐसे थे जो युद्ध से बिलकुल अछूते रहे थे और उन पर युद्ध का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। यद्यपि इन देशों ने युद्ध-काल में नोटों का सोने में परिवर्तन करना बन्द कर दिया था और इसलिए इनके यहां मूल्य-स्तर कुछ ऊंचा हो गया था परन्तु फिर भी वह अमरीका के मूल्य-स्तर के समान ही था। इन देशों ने भी बिना किसी विशेष कठिनाई के युद्धपूर्व की दर पर ही स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया। ये देश स्विजरलैंड, हालैंड तथा स्केण्डिनेवियन प्रदेश थे। स्पेन ही एक ऐसा देश था जिसने युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित नहीं किया।

इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति---१९२५

युद्ध के पश्चात् इंगलैंड की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। इंगलैंड का मूल्य-स्तर अमरीका के मूल्य-स्तर की अपेक्षा बहुत ऊंचा था। परन्तु १९२२ के आरम्भ में दोनों देशों के मूल्य-स्तरों में २० प्रतिशत से भी कम का अन्तर रह गया। उसी वर्ष इंगलैंड के मूल्य-स्तर नीचे गिर गए और तब इंगलैंड तथा अमरीका के मूल्य-स्तरों में बहुत कम अन्तर था। १९२३ के अन्त में और १९२४ के आरम्भ में इंगलैंड के मूल्य फिर ऊंचे हो गए किन्तु तीन महीने के पश्चात् फिर गिरने लगे।

अप्रैल १९२५ में इंगलैंड की सरकार ने १ पौंड ४·८६$\frac{2}{3}$ डॉलर के बराबर घोषित कर दिया। पौंड की यह विनिमय-दर वही थी जो युद्ध से पहिले काम आती थी। १९२५ में स्वर्ण-प्रमाप के पुनःस्थापन के लिए सरकार ने 'स्वर्ण-प्रमाप कानून' पास किया जिसके अनुसार सोने की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई तथा नोटों का सोने के सिक्कों में परिवर्तन बन्द कर दिया गया। बैंक ऑव इंगलैंड को अधिकार दे दिया गया कि वह ३ पौंड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पें० प्रति औंस की दर से कम से कम ४०० औंस की तौल में स्वर्ण-धातु बेचा करे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति नोटों को ४०० औंस से कम सोने में परिवर्तित नहीं करा सकता था जिससे बैंक का सोना जनता के पास जाने से बच जाता था। इस पद्धति के अन्तर्गत इंगलैंड में सोने के सिक्कों का चलन बन्द कर दिया गया। अब इंगलैंड में युद्ध-पूर्व की भांति स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप नहीं रहा वरन् स्वर्ण-धातु प्रमाप हो गया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इंगलैंड की सरकार द्वारा निश्चित की हुई पौंड की विनिमय-दर पर काफी वाद-विवाद रहा। लोगों का कहना था कि वास्तव में तो पौंड का डॉलर-मूल्य कम हो गया है परन्तु सरकार ने जोड़-तोड़ करके ४·८६$\frac{3}{4}$ डॉलर के समान निश्चित कर दिया है जिससे पौंड का अस्वाभाविक बहुमूल्यन हो गया है। आलोचकों का विश्वास था कि पौंड का सम्मान बनाए रखने के लिए उसे ऊंची दर पर "टांक" दिया गया है इसलिए पौंड और डॉलर वास्तविक समानता में तभी आ सकेंगे जब या तो इंगलैंड के मूल्य-स्तर नीचे हो जायं और या अमरीका के मूल्य-स्तर ऊंचे हो जायं। उनका विश्वास था कि पौंड और डॉलर को समानता में आने के लिए इंगलैंड या अमरीका में मूल्यों के समायोजन करने में अधिक संकट का सामना करना पड़ेगा। परन्तु पौंड के बहुमूल्यन के पक्षपातियों का कहना था कि लन्दन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मंडी तथा पौंड जैसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का सम्मान रखने के लिए ऐसा संकट कोई असाधारण बात नहीं है इसलिए पौंड की विनिमय-दर ४·८६$\frac{3}{4}$ डॉलर ही रखनी चाहिए। वास्तव में तो इंगलैंड की सरकार ने पौंड के डॉलर-मूल्य का अनुमान लगाने में दो गलतियां कीं :—

एक तो यह कि पौंड की पुरानी डॉलर-दर निर्धारित करने के कारण पौंड का जो बहुमूल्यन हुआ, उसकी सीमा का उन्होंने गलत अनुमान लगाया। उनका अनुमान था कि पौंड और डॉलर के बीच में केवल ५ प्रतिशत की विषमता है। परन्तु बात कुछ और ही थी। वास्तव में तो उन दोनों के मूल्यों में १० प्रतिशत की विषमता थी अर्थात् पौंड अपने वास्तविक डॉलर-मूल्य से १० प्रतिशत अधिक ऊंचे मूल्य पर "टांक" दिया गया था। सच पूछा जाय तो १ पौंड ४·३८ डॉलर के बराबर था परन्तु उसे जोड़-तोड़ करके ४·८६$\frac{3}{4}$ डॉलर के बराबर ऊंचा उठाकर रख दिया गया था। इससे पौंड का लगभग १० प्रतिशत बहुमूल्यन हो गया।

दूसरे, सरकार का अनुमान था कि इंगलैंड और अमरीका के मूल्य-स्तरों की विषमता सरलता से शनैः शनैः दूर हो जायगी। उनकी धारणा थी कि इंगलैंड के लागत-व्यय साख संकुचित करके कम किए जा सकेंगे और लागत-व्यय कम करके मूल्य-स्तर भी नीचे हो जायंगे। परन्तु यह उनका कोरा भ्रम निकला। साख-संकुचन किया गया तथा ब्याज-दर भी बढ़ाई गई जिससे लाभ कम हो गए और बेकारी फैलने लगी परन्तु बेकारी फैलने पर भी मजदूरी की दर कम न हुई। सरकार ने मजदूरी की दर कम करने के प्रयत्न भी किए परन्तु मजदूरों में असंतोष बढ़ता गया और हड़तालें होने लगीं। मजदूरी कम न होने के कारण इंगलैंड के मूल्य-स्तर नीचे न हो सके। इंगलैंड के पौंड का डॉलर-मूल्य ऊंचा ही बना रहा और जैसी कि आशा थी पौंड और डॉलर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समानता में आ ही न सके और अन्त में हारकर इंगलैंड को सितम्बर १९३१ में स्वर्ण-प्रमाप सदैव के लिए छोड़ना ही पड़ा।

पौंड का बहुमूल्यन करने से इंगलैंड ने १९२५ से १९३१ तक कई सबक सीखे। इंगलैंड को इससे कई हानियां रहीं। बैंक ऑव इंगलैंड अपनी ब्याज-दर कभी नीची न कर सका क्योंकि उसे भय था कि कहीं देश का सोना विदेशों में न चला जाय। इंगलैंड का निर्यात-व्यापार भी ठप्प हो गया। मूल्य-स्तर ऊंचा रहने के कारण वहां का माल विदेशों में जाना बन्द हो गया जिससे निर्यातकों को बहुत हानि उठानी पड़ी।

भारत में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति—१९२७

युद्ध के पश्चात् १९२५ में हमारे देश में हिल्टन-यंग कमीशन ने स्वर्ण-धातु प्रमाप की सिफारिश की। तदनुसार १९२७ में करेन्सी एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा १ रुपया १८ पेंस के बराबर निर्धारित कर दिया गया। इस दर पर १ रुपया ८·४७५१२ ग्रॅम्म शुद्ध सोने के बराबर था। सरकार को वैधानिक जिम्मेदारी दी गई कि वह २१ रु० ३ आ० प्रति तोले की दर से कम से कम ४० तोला या इससे अधिक सोना बम्बई की टकसाल पर खरीद सकती थी और २१ रु० ३ आ० प्रति तोले की दर से कम से कम १०६५ तोला या इससे अधिक सोना बम्बई की टकसाल पर बेच सकती थी या १ शि० ५$\frac{३२}{३३}$ पेंस प्रति रुपया की दर से लन्दन में चुकाए जानेवाले स्टर्लिंग बेच सकती थी। इस प्रणाली के अनुसार देश में उपर्युक्त शर्तों पर सोने की खरीद-बेच हो सकती थी परन्तु सोने के सिक्कों का चलन नहीं था। करेंसी एक्ट के अनुसार सरकार को सोना या स्टर्लिंग बेचने का अधिकार था पर सरकार प्रायः सोना न देकर स्टर्लिंग ही दिया करती थी। अतः इस पद्धति को स्वर्ण-धातु प्रमाप न कहकर स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। चूंकि स्टर्लिंग उस समय सोने में परिवर्तनीय था; अतः हम इसे स्वर्ण-विनिमय प्रमाप भी कह सकते हैं। इससे ज्ञात होता है कि हिल्टन-यंग कमीशन ने देश के लिए सुझाव कुछ दिया था, सरकार ने पास कुछ और किया और वास्तव में होता कुछ और ही था। कमीशन का सुझाव स्वर्ण-धातु प्रमाप स्थापित करने का था, करेंसी एक्ट के द्वारा सरकार ने स्वर्ण-धातु एवं स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप पास किया पर व्यवहार में काम आता था केवल स्टर्लिंग-विनिमय प्रमाप।

अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति

अन्य देशों में भी वस्तुओं के मूल्य-स्तर ऊंचे हो जाने के कारण उन्हें अपनी-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपनी मुद्राओं की विनिमय-दर बदलनी पड़ी। फ्रांस में मूल्य-स्तर युद्धपूर्व-काल की अपेक्षाकृत पांचगुने अधिक थे इसलिए फ्रांस ने अपनी मुद्रा (फ्रैंक) की दर २५ फ्रैंक=१ पौंड के स्थान पर १२४ फ्रैंक=१ पौंड निर्धारित की। जिन देशों के मूल्य-स्तर बहुत ऊंचे हो गए थे उन्होंने नई मुद्रा चलाकर उनकी नई विनिमय-दर निर्धारित कर ली, जैसे जर्मनी ने रीशमार्क (Reichmark) चलाया, आस्ट्रिया ने शिलिंग (Schilling) चलाए तथा हंगरी ने पेंगो (Pengo) चलाए। ये नई मुद्राएं पुरानी मुद्राओं के साथ उसी अनुपात में बदली जाती थीं जिस अनुपात में वस्तुओं के मूल्य-स्तर बढ़ने के कारण पुरानी मुद्राओं का मूल्य गिर गया था। उदाहरणार्थ, जर्मनी की नई मुद्रा रीशमार्क (Reichmark) का पौंड के साथ वही अनुपात था जो युद्धपूर्वकाल में रहा था परन्तु इस नई मुद्रा के बदले में जर्मनी की करोड़ों और लाखों पुरानी मुद्राएं (मार्क) मिलती थीं क्योंकि नई मुद्राओं की अपेक्षाकृत पुरानी मुद्राओं का मूल्य बहुत गिर गया था। कुछ देशों ने तो अपनी-अपनी मुद्राओं की विनिमय-दर निर्धारित करते समय उनका बहुमूल्यन कर लिया या अवमूल्यन कर लिया। इटली ने अपनी मुद्रा (लीरा) का बहुमूल्यन किया जिससे संसार के मूल्यों के साथ समता लाने के लिए उसे अपने मूल्य-स्तर गिराने पड़े। फ्रांस ने, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिससे वहां के मूल्य-स्तर शनैः शनैः मन्द गति से बढ़ते रहे। इससे वहां के व्यापार और उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला और उनका निर्यात व्यापार भी उन्नति करने लगा।

इस प्रकार युद्ध के पश्चात् अनेक देशों ने स्वर्ण-प्रमाप को अपना लिया—उन देशों ने भी, जो युद्ध से पहिले स्वर्ण-प्रमाप को नहीं मानते थे, युद्ध के बाद अपनी-अपनी मुद्राओं को स्वर्ण के साथ संबंधित कर दिया। १९२९ तक चीन, मैक्सिको तथा स्पेन को छोड़ लगभग सभी देशों में* स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया गया। यह याद रखना चाहिए कि बहुत से देशों ने न स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप अपनाया और न स्वर्ण-धातु प्रमाप अपनाया वरन् स्वर्ण-विनिमय प्रमाप स्थापित किया था। इंगलैंड तथा हमारे देश में तो स्वर्ण-धातु प्रमाप स्थापित हुआ। अब हम देखें कि इस प्रमाप में तथा युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप में क्या सार्म्य-भेद है :—

---

*इसमें रूस की मुद्रा-पद्धति के विषय में विचार नहीं किया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप	युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप
(१) सोना 'विनिमय-माध्यम' तथा 'मूल्य-मापन' का कार्य करता था।	(१) सोना केवल 'मूल्य-मापक' था 'विनिमय-माध्यम' नहीं।
(२) सोने के सिक्के चलाए जाते थे और इन सिक्कों की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई होती थी।	(२) सोने के सिक्के न तो चलाए जाते थे और न उनकी ढलाई ही होती थी।
(३) देश में नोट तथा अन्य सहायक सिक्के भी चलते थे परन्तु इनको स्वेच्छापूर्वक सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता था।	(३) देश में नोट तथा अन्य सहायक सिक्के थे परन्तु इनको केवल सोने की निश्चित तौल में ही बदलवाया जा सकता था अर्थात् ४०० औंस से कम तौल में सोना नहीं मिल सकता था।
(४) सोना देश के आन्तरिक कामों के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिए भी मिल सकता था।	(४) सोना किसी भी कार्य के लिए मिल सकता था परन्तु जनता प्रायः विदेशी भुगतान के लिए ही सोना लेती थी।
(५) यह पद्धति 'स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप' के नाम से प्रचलित थी। यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील थी। इसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्यों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता था।	(५) इस पद्धति को 'स्वर्ण-धातु-प्रमाप' कहते थे। इसका संचालन देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक करते थे। इसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दर पर अधिक जोर दिया जाता था।

इस तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप में कई लाभ थे :—

(१) इसमें स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप से मिलनेवाले सब लाभ तो मिलते ही थे, इसके अतिरिक्त सोने के सिक्कों के चलाने में जो व्यय और हानि होती है उसकी भी बचत होती थी।

(२) कोष में सोना होने से विदेशी विनिमय-दर को प्रभावशाली एवं स्थिर बनाया जा सकता था तथा सोने में भी मितव्ययिता होती थी।

स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग—सितम्बर १९३१

ऊपर बताया जा चुका है कि सन् १९२५ में इंगलैंड ने स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित कर लिया और १९२९ तक तो संसार के अनेक देशों ने किसी न किसी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूप में स्वर्ण-प्रमाप अपना लिया था। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। सितम्बर १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्ण-प्रमाप तोड़ दिया। इंगलैंड के बाद ग्रीस, पुर्तगाल, जापान, दक्षिणी अमरीका तथा स्केण्डिनेवियन प्रदेशों ने भी स्वर्ण-प्रमाप छोड़ दिया। अप्रैल १९३३ में डॉलर का सोने में परिवर्तन करना भी बन्द कर दिया गया। मध्य योरप के अनेक राष्ट्रों ने यद्यपि अपनी-अपनी मुद्राओं के मूल्य सोने के साथ बनाए रखने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने भी उनको सोने में बदलना बन्द कर दिया। फ्रांस तथा एक दो अन्य राष्ट्र ऐसे थे जिन्होंने स्वर्ण-प्रमाप बनाए रखने की देर तक कोशिश की परन्तु १९३६ में उनको भी स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग करना पड़ा। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप के पुनःस्थापन से दस वर्ष के अन्दर अन्दर संसार के लगभग सभी राष्ट्रों ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। यहां हम विचार करेंगे कि कौनसे ऐसे कारण उत्पन्न हुए जिनसे बाध्य होकर स्वर्ण-प्रमाप तोड़ना पड़ा। ये कारण निम्न थे :—

(१) युद्ध के पश्चात् संसार के अनेक देशों ने स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्यों को भुलाकर स्वार्थपूर्ण नीति अपना ली थी। यदि देखा जाय तो स्वर्ण-प्रमाप तभी चलाया जा सकता था जब कि संसार के सभी राष्ट्र एक दूसरे के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते और मौद्रिक नीति में एक दूसरे का सहयोग देते। युद्ध के पश्चात् भिन्न-भिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों ने इस उद्देश्य को भुला दिया और कोई भी देश संसार के मूल्य-स्तरों के साथ अपने मूल्य-स्तर बनाए रखना नहीं चाहता था। युद्धकाल में मूल्य-स्तर बहुत ऊंचे हो गए थे परन्तु १९२०-२२ तक एकदम नीचे जा गिरे। इन गिरते हुए मूल्यों के साथ-साथ मूल्य-स्तर गिराना कोई देश नहीं चाहता था और किसी-किसी को तो ऐसा करना अरुचिकर ही नहीं वरन् असंभव था। अतः संसार के मूल्य-स्तरों में स्थायित्व और समानता न होने के कारण स्वर्ण-प्रमाप टूट गया।

(२) युद्धोत्तरकाल में स्वर्ण-प्रमाप चलाने के लिए विनिमय-दरों के बीच स्थिरता और स्थायित्व बनाए रखना एक कठिन काम हो गया था। स्वर्ण-प्रमाप चलाने के लिए दो मुख्य आवश्यकताएं होती हैं—(क) सोने के स्वतन्त्र आयात-निर्यात द्वारा विनिमय-दरों में स्थिरता रखना, (ख) भिन्न-भिन्न देशों के लागत-व्यय और मूल्य-स्तरों के बीच ऐसा समायोजन बनाकर रखना कि जिससे सोने का आना-जाना बना रहे और आयात ही आयात या निर्यात ही निर्यात न हो। इन दोनों में भी जब तक दूसरी बात का पालन नहीं होता तब तक पहला उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। जब तक देशों के मूल्य-स्तर समानता में न हों तब तक विनिमय-दरों को स्थिर और स्थायी नहीं बनाया जा सकता। युद्ध के पश्चात् संसार के मूल्य-स्तरों को समानता में लाकर स्थिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बनाना कठिन हो गया। कहा जाता है कि १९२५ में पौंड की विनिमय-दर निश्चित करते समय पौंड का कोई १०% बहुमूल्यन कर दिया गया था—इसी प्रकार फ्रैंक की विनिमय-दर निश्चित करते समय उसका १०% अवमूल्यन कर दिया गया था। इस प्रकार किसी-किसी स्थान पर तो विनिमय-दर में २०% की विषमता थी जिसे दूर करना असंभव ही था। इंगलैंड ने मूल्य-स्तर घटाने के प्रयत्न भी किए और मजदूरों की मजदूरी कम करने के प्रस्ताव रक्खे परन्तु कोई सफलता न मिली। मजदूर मजदूरी कम करने को तैयार न थे—हड़तालें हुईं, दंगे हुए और अन्त में इंगलैंड की सरकार को पौंड की दर ऊंची ही रखनी पड़ी। इस प्रकार मूल्य-स्तरों की विषमता बनी रही और अन्त में इस विषमता के कारण स्वर्ण-प्रमाप निभाना असंभव हो गया।

(३) युद्धोत्तरकाल में इंगलैंड की बैंक-दर उतनी प्रभावशाली और क्रियात्मक नहीं रही जितनी युद्ध से पहले थी। युद्ध से पहले बैंक-दर बढ़ाते ही विदेशों से पूंजी इंगलैंड में आने लगती थी और इंगलैंड की पूंजी का बाहर जाना बन्द हो जाता था—इस प्रकार पूंजी को बाहर जाने से रोका जाता था और स्टर्लिंग की मांग बढ़ा दी जाती थी जिससे विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति को सन्तुलन में करके विनिमय-दर स्थिर बनाई जा सके। युद्ध के पश्चात् यह बैंक-दर उतनी प्रभावशाली न रही वरन् अन्य देश इंगलैंड द्वारा बैंक-दर बढ़ाने को उसकी कमजोरी का कारण समझने लगे। इससे विदेशी मुद्रा की मांग और प्रदाय को सन्तुलन में लाने का एक शस्त्र कमजोर हो गया और विनिमय-दर के घटने-बढ़ने को रोकने का कोई साधन न रहा जिससे स्वर्ण-प्रमाप को चलाने में काफी कठिनाई होने लगी।

(४) युद्धोत्तरकालीन राजनैतिक चालों ने भी स्वर्ण-प्रमाप को तोड़ने में सहायता दी। युद्ध के बाद अमरीका ने कुछ देशों पर युद्धजन्य हानि की पूर्ति करने की संधियां कीं तथा कुछ देशों को युद्धकालीन ऋणों का भुगतान चुकाने को बाध्य किया। इससे डॉलरों की मांग एक साथ बढ़ने लगी और पूंजी की गति एक-मार्गी हो गई। इन अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कुछ देश सहन न कर सके और उन्हें इस प्रकार मुद्रा की विनिमय-दर स्थायी बनाने में कठिनाई होने लगी। अतः स्वर्ण-प्रमाप न चल सका।

(५) संयुक्त राष्ट्र तथा फ्रांस जैसे लेनदार देशों ने ऊंचे-ऊंचे संरक्षण-करों द्वारा आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। यदि देखा जाय तो संरक्षण-कर स्वर्ण-प्रमाप चलाने में कोई बाधा नहीं है। १९१४ से पहिले भी संरक्षण-कर थे। परन्तु स्वर्ण-प्रमाप चल ही नहीं सकता जब तक कि उस देश को जहां से सोना निर्यात हो रहा हो, उसके निर्यात बढ़ाकर उसकी मुद्रा की मांग बढ़ाने में सहायता न की जाय। युद्धोत्तरकाल में इस प्रकार की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहायता का नाम भी न रहा। अमरीका तो जान-बूझकर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाता रहा जिससे उसका सोना विदेशों को न चला जाय। परिणामस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में सोना अमरीका तथा फ्रांस में चला गया जिसको उन्होंने निष्क्रिय कर दिया अर्थात् जिसका प्रभाव आन्तरिक कीमतों पर नहीं पड़ने दिया। उधर अन्य देशों में सोने की कमी के कारण मूल्य-स्तर गिरने लगे। फल यह हुआ कि स्वर्ण-प्रमाप तोड़ना पड़ा। किसी ने कहा है कि "स्वार्थी व्यापारिक पद्धति के, चाहे वह राष्ट्र के स्वार्थ में ही क्यों न हो, सहारे चलकर कैसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली सफल नहीं हो सकती।"* अमरीका ने अपना स्वार्थ सोचा और अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप तोड़ दिया।

(६) केन्द्रीय बैंकों ने अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर स्वर्ण-प्रमाप के "स्वर्ण नियमों" को भुला दिया। जब उनके देश में सोने का आयात होता तो वे उस सोने को इकट्ठा करते जाते परन्तु साख-प्रसार करके मूल्य-स्तर ऊंचे नहीं करते जिससे सोने का निर्यात भी हो पाता। इसी प्रकार जब उनके देश में से सोना निर्यात होता तो वे खड़े-खड़े देखते रहते परन्तु साख-संकोच करके मूल्य-स्तर नीचे नहीं करते जिससे सोने का आयात भी हो पाता। अमरीका और फ्रांस इस कार्य में सबसे बड़े दोषी थे। इनके पास सोना बढ़ता गया परन्तु इन्होंने मूल्य-स्तर ऊंचे करके सोने का निर्यात नहीं होने दिया। संसार का लगभग ⅔ सोना इन दोनों देशों के पास जाकर इकट्ठा हो गया। इंगलैंड भी कम दोषी न था। इंगलैंड में से सोने का निर्यात होता रहा परन्तु बैंक ऑव इंगलैंड ने साख-संकोच करके मूल्य-स्तर नीचे नहीं किए। बात कुछ और भी थी। इंगलैंड में मूल्य-स्तर पहिले ही बहुत नीचे थे इसलिए इंगलैंड साख-संकोच करके मूल्य-स्तर और भी अधिक नीचे नहीं करना चाहता था। इस प्रकार इंगलैंड में मूल्य-स्तर नीचे थे, अमरीका और फ्रांस में ऊंचे थे। सत्य यह है कि देश-देश के मूल्य-स्तरों में काफी विषमता थी और यह विषमता की खाई इतनी चौड़ी होती जा रही थी कि इसको ब्याज-दर या साख में घटा-बढ़ी करके पाटना लगभग असंभव था। केवल एक ही चारा था और वह था स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग।

इस प्रकार हमने देखा कि युद्धोत्तरकाल में स्वर्ण-प्रमाप को चलाने के लिए जिन शर्तों की आवश्यकता थी वे पूरी न की गईं—न तो मूल्य-स्तरों में आवश्यक समायोजन किए गए और न सोने की एक-तरफा गति को ही रोका गया। संसार दो भागों में बंट गया—(१) वह भाग जहां से सोना

* "It is impossible to have an international financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national." —*Crowther*: Outline of Money, pp. 318-19.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निकल-निकलकर विदेशों में जाता रहा, (२) वह भाग जहां सोना पहुंचता रहा और फिर भी उनकी सोने की भूख बढ़ती ही रही। कुछ देश ऐसे हो गए जहां देखने तक को सोना नहीं था और कुछ देश ऐसे हो गए जहां सोने के ढेर थे। कुछ समय तक तो देशों ने दीर्घकालीन ऋण ले-लेकर अपना काम चलाया। इंगलैंड ने ब्याज की दर बढ़ाकर विदेशों से सोना आकर्षित किया तथा जर्मनी ने अमरीका में सिक्यूरिटियां बेचकर थोड़ा-बहुत सोना प्राप्त किया। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। १९२९ के पश्चात् तो दीर्घकालीन ऋण देना ही बन्द कर दिया गया। इतना ही नहीं, ऋणदाताओं में एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगा और उन्होंने ऋणी देशों को ऋण भुगतान करने के लिए बाध्य किया। ऋणी देश अपने पूरे-पूरे ऋण भुगतान न कर सके। आस्ट्रिया ने मई १९३१ में तथा जर्मनी ने जुलाई १९३१ में ऋणों का भुगतान करना बन्द दिया। इंगलैंड के ऋण-दाताओं ने तो अपने-अपने ऋणों का भुगतान लेने में सोना ही लेना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक ऑव इंगलैंड के पास सोने का कोष समाप्त होने को आ गया और तभी सितम्बर १९३१ में इंगलैंड को अन्त में अपनी मुद्रा का सोने से संबंध-विच्छेद करके स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग करना पड़ा। यद्यपि १९३१ का संकट एक साथ ही अचानक आया परन्तु इसका बीजारोपण कई वर्ष पहिले हो चुका था।

स्वर्ण-प्रमाप का वर्तमान स्वरूप

२७ दिसम्बर १९४५ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बन जाने से आज स्वर्ण-प्रमाप अपना एक नया रूप लेकर संसार के सामने आया है। मुद्रा-कोष में लगभग ५४ राष्ट्र सम्मिलित हैं। इन सदस्य-राष्ट्रों ने अपने-अपने निश्चित 'कोटा' के बराबर सोना और अपनी-अपनी मुद्राएं कोष में जमा कर दी हैं तथा अपनी-अपनी मुद्रा का सम-मूल्य सोने में या अमरीकन डॉलर में व्यक्त कर दिया है। सोने का मूल्य ३५ डॉलर प्रति औंस (ट्राय) निश्चित किया गया है। इन सम-मूल्यों में कोष के नियमानुसार फेर-बदल भी की जा सकती है। कोष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संबंधी असुविधाओं को दूर करने के लिए सदस्य-राष्ट्रों के साथ विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता है। विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय सम-मूल्यों से १% से अधिक या कम दर पर ही हो सकता है। यह सीमा इसलिए निश्चित की गई है जिससे विनिमय-दरों में कोई असाधारण और भारी-भारी उतार-चढ़ाव न हों। यही नहीं, आवश्यकतानुसार कोष विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की अन्य दर भी निश्चित कर सकता है।

कोष की इस योजना के अनुसार संसार में एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यवस्था एवं मौद्रिक स्थायित्व स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें स्वर्ण-प्रमाप के कई चिह्न दीख पड़ते हैं ; जैसे—

(क) सोना कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' है। सब सदस्यों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का सम-मूल्य सोने में व्यक्त करके सोने को ही अपनी मुद्राओं का मूल्याधार बना लिया है।

(ख) कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर कोष द्वारा निश्चित की हुई सीमाओं से अधिक ऊंची-नीची नहीं हो सकती। प्रथम युद्ध-काल से पूर्व स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत विनिमय-दर "स्वर्ण-बिन्दुओं" के बीच में बदलती रहती थी। परन्तु अब यह दर कोष के द्वारा निर्धारित सीमाओं के बीच बदल सकती है।

इस प्रकार आज हमारे सामने स्वर्ण-प्रमाप का एक नया रूप है जिसमें सोना अनेक मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' एवं मूल्य-आधार है। प्रथम युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की तुलना में इस नए प्रमाप में केवल यह अन्तर है कि इसमें सोने के सिक्के नहीं चलते, सोने की स्वतंत्र सिक्का-ढलाई नहीं होती, नोटों तथा अन्य सहायक-सिक्कों को सोने में नहीं बदला जा सकता, और विनिमय-दर को स्थिर बनाने के लिए विदेशी-विनिमय-नियंत्रण भी लगाए जा सकते हैं। युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप की भांति वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप 'स्वयंपूर्ण-कार्यशील' भी नहीं है। किन्तु उस पुराने स्वर्ण-प्रमाप की भांति आज के स्वर्ण-प्रमाप में भी भुगतान-संतुलन करने के लिए आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न मुद्राओं के सम-मूल्यों में फेर-बदल की जा सकती है और सभी मुद्राओं की दरों में एक साथ ही सामान्य परिवर्तन भी किया जा सकता है।

कोष-योजना के अन्तर्गत आए हुए वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में लोच है तथा वह दोष नहीं है जिसके कारण सोने का "एक-मार्गी आना-जाना" होकर स्वर्ण-प्रमाप चूर-चूर हो जाय। इसमें स्थिरता है, स्थायित्व है, लोच है तथा समझने की सरलता भी है। प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप का सबसे बड़ा दोष यह निकला कि संसार भर का सोना कुछ इने-गिने देशों के पास इकट्ठा हो गया। परन्तु वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में यह दोष नहीं दीख पड़ता।

सामान्यतः ऐसा जान पड़ता है कि कोष-योजना का वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप ऐसी शक्ति और कार्य-प्रणाली लेकर जन्मा है जिस पर युद्धकालीन अथवा अन्य कोई भावी संकटों से कोई आंच नहीं आ सकेगी जैसा कि पिछले स्वर्ण-प्रमापों के साथ हुआ था। इस प्रमाप में स्थिरता भी है और समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल बदलने की व्यवस्था भी है। प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों की अपेक्षा वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में निम्न गुण प्रतीत होते हैं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(क) इसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संसार के राष्ट्रों में मौद्रिक समस्याओं पर पारस्परिक विचार-विमर्श तथा सहयोग की व्यवस्था है।

(ख) इसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष की व्यवस्था है जहां से सदस्य-देश चालू लेन-देन संबंधी अपनी-अपनी भुगतान-विषमताओं को संतुलित करने के लिए सुविधाएं प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य संसार में उत्पादन और रोजगारी की गति को बढ़ाना है जिसके लिए इसमें विनिमय-स्थिरता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक वृद्धि पर काफी जोर दिया गया है। इस वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में विनिमय-दर की स्थिरता को उत्पादन-वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक उन्नति का साधन बना लिया गया है।

इस प्रकार कोष-योजना के अन्तर्गत आए हुए स्वर्ण-प्रमाप में प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप-पद्धतियों के सभी गुण हैं परन्तु अवगुण नहीं। आज के संसार में ऐसे स्वर्ण-प्रमाप की आवश्यकता है जिसमें सोने का अपव्यय न हो, सोना नष्ट न हो तथा जिसमें उत्पादन-वृद्धि तथा रोजगारी बढ़ाने को प्रोत्साहन मिले। सब गुण वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में हैं। परन्तु यह तभी चल सकता है जब कोष के सभी सदस्य-देश मिलकर इसे सफल बनाने का प्रयत्न करें। जब तक सभी देश सहयोग के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति में योग नहीं देंगे तब तक यह नवीन स्वर्ण-प्रमाप भी सफल नहीं हो सकता। हम अभी देख रहे हैं कि संसार में डॉलर की समस्या है। अमरीका से माल आयात करने के लिए अन्य देशों के पास सोना या डालर नहीं हैं। अमरीका भी अन्य देशों से आयात करने म सतर्क नहीं है। यदि ऐसी ही परिस्थिति चलती रही तो डर है कि संकट कहीं गम्भीर रूप धारण करके इस नवीन पद्धति को भी चूर-चूर न कर दे। इस संकट को टालने के लिए सब सदस्य-देशों को प्रयत्न करने होंगे अन्यथा इस पद्धति का भी वही भाग्य होगा जो गत इतिहास में अन्य पद्धतियों का होता रहा है।

भविष्य में क्या होगा? यह कहना तो इतना सरल नहीं ह परन्तु हां यह कह सकते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष न एक ओर स्वग-प्रमाप की स्थायी और पुरातन पद्धति का नवीन स्वरूप स्थापित किया ह तो दूसरी ओर पुरातन सरल और लोचदार मौद्रिक-व्यवस्था को पुनर्जन्म दिया है।"*

*" The Fund is the happy synthesis of orthodox and rigid system of Gold Standard on the one hand, and an orthodox and more conveniently flexible system of monetary management on the other hand."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण-पद्धतियों का साम्य-भेद

(ऐतिहासिक चित्रण)

प्रथम युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियां (१९१४-१८ से पूर्व)	युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति (१९२५-१९३३)	वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप पद्धति १९४७ से स्थापित
(क) **स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप**—जिसके अन्तर्गत— (१) सोने के सिक्के चलते थे, (२) सोने के सिक्कों की स्वतंत्र-ढलाई थी, (३) सोने का स्वतंत्र आयात-निर्यात था। सोना 'विनिमय-माध्यम' तथा 'मूल्य-मापन'—दोनों ही काम करता था। इसमें विनिमय-दर "स्वर्ण-बिन्दुओं" के बीच में बदलती रहती थी। (ख) **स्वर्ण-विनिमय प्रमाप**—जिसके अन्तर्गत— (१) सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते थे और न सोने के सिक्कों की ढलाई ही होती थी (२) देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए नोट तथा अन्य-सहायक सिक्के चलते थे। (३) सोने का आयात-निर्यात नहीं था वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता था। इस काम के लिए सरकार दो कोष बनाकर रखती थी—एक देश में, दूसरा विदेश में। भारत में इसका प्रयोग १९०७-८ से १९१७-१८ तक होता रहा था।	**स्वर्ण-धातु प्रमाप**—युद्धोत्तरकाल में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति के क्रम में स्वर्ण-धातु प्रमाप की स्थापना हुई जिसमें— (१) सोने के सिक्के नहीं चलते थे और न इनकी ढलाई होती थी। (२) सरकार या केन्द्रीय बैंक सोने का क्रय-विक्रय करती थी—क्रय-विक्रय निश्चित दर पर तथा निश्चित मात्रा में ही हो सकता था। (३) जनता किसी भी कार्य के लिए सरकार से निश्चित मात्रा में सोने का क्रय-विक्रय कर सकती थी। सोना केवल 'मूल्य-मापक' था 'विनिमय-माध्यम' नहीं। यह पद्धति विशेषतः इंगलैंड में १९२५ में तथा भारत में १९२७ में स्थापित हुई। अधिकांश देशों ने युद्धोत्तर काल में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का ही अवलम्बन किया।	**अन्तर्राष्ट्रीय नवीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति**—१९४५ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बन जाने से संसार के सामने स्वर्ण-प्रमाप का एक नवीन रूप आया है जिसमें— (१) सोना मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' तथा 'मूल्य-आधार' है। (२) विनिमय-दर को स्थायी व स्थिर बनाना सदस्य-देशों का काम है परन्तु इसमें चालू लेन-देन का भुगतान-संतुलन करने के लिए कोष से सहायता ली जा सकती है। (३) विनिमय-दर को स्थायी करने में सदस्य अल्पकालीन विनिमय-नियंत्रण भी लगा सकते हैं। सोना मुद्राओं का मूल्य-आधार है। न सोने के सिक्के हैं, न सोने का आयात-निर्यात। परन्तु यह पद्धति स्थायी है, स्थिर है, टिकाऊ है, लोचदार है, परिस्थितियों के अनुकूल है तथा सरल भी है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सोने की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

सोने का इतिहास एक रोमांचकारी घटनाचक्र है। सोना तथा सोना उत्पन्न करनेवाले प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए इतिहास में भारी-भारी संघर्ष होते रहे हैं। सोने के प्रति आकर्षित होने का प्रमुख कारण यह रहा है कि यह एक दुर्लभ वस्तु है तथा इसकी क्रय-शक्ति इतनी व्यापक और विशाल है जितनी किसी अन्य वस्तु की नहीं है। गत दो शताब्दियों में सोना मौद्रिक धातु एवं मुद्रा के अधिकार-कोष के रूप में प्रयुक्त होता रहा था। आज भी सोने की क्रय-शक्ति में कोई कमी नहीं और आज भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लेन-देन में सोने का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि देखा जाय तो मौद्रिक क्षेत्र में सोने का महत्त्व अब द्विगुण हो गया है। जहां तक इसकी क्रय-शक्ति का संबंध है वह समय के साथ-साथ बढ़ती रही है और अब पहले की अपेक्षा अधिक है। उन देशों में जहां सोने का लेन-देन और क्रय-विक्रय स्वतंत्र रूप से होता है सोने की क्रय-शक्ति ऊंची है। अन्य देशों में जहां सोने का लेन-देन स्वतंत्र रूप से नहीं होता वहां 'काले' और 'भूरे' बाजारों में सोने का मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है। आज-कल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने सोने का मूल्य ३५ डॉलर=१ औंस (ट्राय) निर्धारित कर रक्खा है परन्तु सोना निकालने वाले देशों में इसका मूल्य इससे कहीं अधिक रहा है। अन्त में हारकर मुद्रा-कोष को सोना निकालने-वाले देशों को किसी भी भाव पर खुले बाजार सोना बेचने की अनुमति देनी पड़ी। इससे ज्ञात होता है कि सोने की स्थिति आज भी कितनी ऊंची है और इसका मूल्य कितना अधिक है।

द्वितीय युद्ध समाप्त होने पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बन जाने से सोने की स्थिति और भी अधिक ऊंची हो गई है। कोष ने ऐसी व्यवस्था की है जिसके अन्तर्गत सोना संसार की मुद्राओं का मूल्याधार बन गया है और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में माध्यम का काम करने लगा है। संसार के अनेक देशों की मुद्राओं का मूल आधार आज भी सोना है जिससे यह संसार में एक बार फिर "मूल्य-मापक" बन बैठा है। मौद्रिक कोषों में सोने का एक विशेष भाग रहा है और आज भी है। आज भी सोना एक ऐसी वस्तु है जिसका मूल्य हर स्थान पर, हर व्यक्ति पर तथा हर समय है। कोष की योजना के अनुसार सोना आज "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा" का स्थान ग्रहण कर चुका है। इस प्रकार सोने की स्थिति आज पहिले से कोई कम नहीं है। इसके जीवन-इतिहास में बड़ी-बड़ी उथल-पुथल हुई हैं परन्तु उन सबको पार करके भी आज सोना देश-देश के मौद्रिक कोषों की अपूर्व सम्पत्ति है, मुद्रा-कोष की नवीन मुद्रा-पद्धति का मूलाधार है, संसार की मुद्राओं का मूल्य-मापक यंत्र है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा है। संसार के मौद्रिक इतिहास में सोने का विशेष स्थान रहा है और अब भी बना हुआ है।

सारांश

१९वीं शताब्दी के अन्त तक द्विधातुवाद स्थापित करने के असफल प्रयत्न होते रहे। चांदी के भावों में भारी-भारी उतार-चढ़ाव होने के कारण रजत-प्रमाप का भी बहिष्कार कर दिया गया और अन्त में संसार के अनेक देशों ने उस समय स्वर्ण-प्रमाप को ही मान लिया। स्वर्ण-प्रमाप अपनाए जानेवाले मुख्य कारण थे—(१) सोने के मूल्य में स्थिरता, (२) सोने का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना, (३) सोने का अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् होना तथा राशि को गतिशील बनाने में सोने को लाने ले जाने की सुविधा, (४) सोने की मुद्राएं चलाने में देशों को गौरव अनुभव होना।

प्रथम युद्ध से पहिले अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस आदि प्रमुख देशों में स्वर्ण प्रमाप माना जाता था जिसके अन्तर्गत देश में सोने के सिक्के चलाए जाते थे—सोना विनिमय-माध्यम और मूल्यमापन दोनों ही काम करता था। विदेशी विनिमय का आधार भी सोना ही था और विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दुओं के बीच उतरती-चढ़ती रहती थी। सोने का क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात स्वतंत्र था। यह स्वर्ण-मुद्रा पद्धति थी जो स्वयंपूर्ण कार्यशील, लोचदार एवं सरल होने के कारण योरपीय देशों में लोकप्रिय बनी रही। प्रथम युद्ध से पूर्व भारत में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप माना जाता था जिसमें देश के अन्दर सोने के सिक्के नहीं चलते थे। सोना केवल विदेशी भुगतान चुकाने में काम आता था। देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए चांदी के सिक्के, नोट तथा अन्य प्रकार की मुद्राएं चलती थीं। यह पद्धति जावा, हालैंड, आस्ट्रिया, हंगरी तथा एशिया के अन्य देशों में मानी जाती थी।

युद्ध आरम्भ होते ही, अनेक देशों के आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो गए। सभी देश सोने के सिक्के चलाने के स्थान पर सोना संग्रह करके रखने में जुट गए। अनेक स्वर्ण-प्रमापी देशों ने सोने के सिक्के चलाना बन्द कर दिया। युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा और स्वर्ण-मुद्राओं के स्थान पर कागज के नोट चलाने लगा। इंगलैंड ने स्वर्ण-मुद्राएं चलाना तथा सोने का आयात-निर्यात बन्द कर दिया। अमरीका ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। हमारे देश में भी सरकार रुपये की विनिमय-दर स्थायी न रख सकी और स्वर्ण-विनिमय प्रमाप छोड़ दिया गया।

युद्धोत्तर-काल में अनेक देशों ने स्वर्ण-प्रमाप पुनः प्रस्थापित करने की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योजनाएं बनाईं। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन किए गए और निश्चित किया गया कि "प्रत्येक देश की मुद्रा में स्थायित्व लाने के लिए सोने को मुद्राओं का मूल्याधार बनाना चाहिए।" दूसरे, युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति से त्रस्त होकर अनेक देश स्वर्ण-प्रमाप लाने के लिए लालायित थे। अतः युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप प्रस्थापित किया गया, परन्तु यह प्रमाप युद्धपूर्व जैसा नहीं था; इसमें सोना 'मूल्य-मापन' का काम करता था पर 'विनिमय-माध्यम' का नहीं--सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते थे। पहिले अमरीका में ही स्वर्ण-प्रमाप स्थापित किया गया। १९२५ में इंगलैंड ने स्वर्ण-धातु प्रमाप अपनाया और १९२७ में करेंसी एक्ट पास करके हमारे देश में भी स्वर्ण-धातु प्रमाप मान लिया गया। अन्य देशों में भी किसी न किसी रूप में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति हुई। १९२९ तक तो चीन, मैक्सिको तथा स्पेन को छोड़कर लगभग सभी देशों में किसी न किसी रूप में स्वर्ण-प्रमाप लौटा लिया गया।

युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप अधिक समय तक न चल सका। १९३१ में इंगलैंड और इसके बाद ग्रीस, पुर्तगाल, जापान, दक्षिणी अमरीका तथा स्केण्डिनेवियन देशों को स्वर्ण प्रमाप छोड़ना पड़ा। १९३३ में अमरीका ने डॉलर का सोने में परिवर्तन करना बन्द कर दिया। १९३६ में फ्रांस ने भी स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग करने के अनेक कारण थे--(१) देशों की सरकारों ने स्वर्ण-प्रमाप के आधार-भूत नियमों को भुलाकर स्वार्थ-पूर्ण नीति अपना ली थी; (२) युद्धोत्तरकाल में विभिन्न देशों के मूल्यस्तरों में विषमता थी जिसे वे दूर नहीं कर सके; (३) बैंक-दर, जिसे पूंजी के आयात-निर्यात तथा साख-नियंत्रण का एक साधन माना जाता था, अब उतनी प्रभावशाली नहीं रही थी जितनी युद्धपूर्व-काल में थी; (४) युद्धोत्तरकालीन राजनैतिक चालों ने वैदेशिक व्यापार के स्वतंत्र आवागमन पर परोक्ष रूप से प्रतिबन्ध खड़े कर दिए; (५) कुछ देशों की वैदेशिक व्यापार-नीति ने स्वतंत्र आयात-निर्यात को बड़ा धक्का पहुंचाया; (६) केन्द्रीय बैंकों ने अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर स्वर्ण-प्रमाप के 'स्वर्ण नियमों' को भुला दिया था। इन कारणों से स्वर्ण-प्रमाप अपने मौलिक रूप में सदैव के लिए छोड़ दिया गया।

२७ दिसम्बर १९४५ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बन जाने से अब स्वर्ण-प्रमाप एक नया रूप लेकर संसार के सामने आया है। कोष के लगभग ५० सदस्य-देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का मूल्य सोने में व्यक्त करके एक ऐसी स्वर्ण-पद्धति को जन्म दिया है जिसमें सोना मुद्राओं का मूल्यमापक यंत्र हो गया है। आज यद्यपि सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते और न सोने का स्वतंत्र आयात-निर्यात ही है परन्तु फिर भी इसके द्वारा संसार की अधि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कांश मुद्राओं में स्थायित्व लाने की व्यवस्था की गई है। इस नवीन पद्धति में लोच है, स्थिरता है तथा सरलता भी है। सोना आज 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा' का स्थान ग्रहण कर चुका है। सोने के इतिहास में बड़ी-बड़ी उथल-पुथल हुई पर सबको पार करता हुआ आज सोना देश-देश के मौद्रिक कोषों की अपूर्व निधि है, नवीन मुद्रा-पद्धति का आधार है तथा मुद्राओं का मूल्यमापक है। संसार के मौद्रिक इतिहास में सोने का विशिष्ट स्थान रहा है और अब भी है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) स्वर्ण-प्रमाप की ऐतिहासिकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखते हुए वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप पद्धति की व्याख्या कीजिए।

(२) प्रथम युद्धपूर्वकालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को लिखते हुए समझाइए कि उस समय हमारे देश में कौनसी पद्धति थी और उसके विशेष लक्षण क्या थे।

(३) भारत में स्वर्ण-विनिमय प्रमाप के क्या लक्षण थे ? युद्धकाल में यह पद्धति क्यों छोड़ दी गई ?

(४) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के लक्षणों की व्याख्या करते हुए समझाइए कि क्या यह पद्धति संसार में आज स्थापित की जा सकती है। यदि नहीं, तो क्यों ?

(५) युद्धोत्तर-काल में इंगलैंड ने स्वर्ण-प्रमाप कैसे स्थापित किया ? उस पद्धति के मुख्य-मुख्य लक्षणों की मीमांसा कीजिए।

(६) १९२७ के करेंसी एक्ट द्वारा हमारे देश में जो मौद्रिक पद्धति अपनाई गई उसकी आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(७) युद्ध (१९१४-१८) पूर्वकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

(८) सितम्बर १९३१ में इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप क्यों तोड़ना पड़ा ? इससे भारत की मुद्रा-पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

(९) स्वर्ण-प्रमाप के वर्तमान स्वरूप का विश्लेषण करते हुए इसका प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप से भेद दर्शाइए।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की योजना के अनुसार संसार में जिस मुद्रा-पद्धति को जन्म मिला है उसकी आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(११) सोने का इतिहास लिखते हुए सोने की वर्तमान मौद्रिक स्थिति पर अपने विचार प्रकट कीजिए। आज के मौद्रिक संसार में सोने का क्या स्थान है ?

(१२) भारतीय मुद्रा-प्रणाली में सोने का क्या स्थान है ? इस पर एक टिप्पणी तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीय भाग

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विदेशी विनिमय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म और विकास; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ; तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त क्यों ? व्यापाराधिक्य; स्वतंत्र व्यापार एवं व्यापार-संरक्षण; डंपिंग; विदेशी विनिमय के सिद्धान्त; क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त; विनि-मय-नियंत्रण आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ११

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल सिद्धान्त

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म और विकास

मुद्रा के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय संकेत किया गया था कि समाज ने वर्तमान मुद्रा का स्वरूप कैसे पाया। एक युग था जब कि वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी, लोग अपने-अपने कुटुम्ब, कबीले या गिरोह बनाकर रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएं अपने आप पैदा करता था या बना लिया करता था। आवश्यकताएं भी कम थीं। यदि किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती जिसे वह स्वयं न बना पाता तो वह अपने द्वारा बनाई हुई वस्तु का दूसरे व्यक्ति की अन्य वस्तु से, जिसकी उसे आवश्यकता होती, अदल-बदल कर लिया करता था। न आज जैसे यातायात और आवागमन के साधन थे और न आज जैसा व्यापार था। न आज जैसी लेन-देन की पद्धति थी और न आज जैसी साख-व्यवस्था थी। वस्तु-विनिमय भी प्रायः एक ही कुटुम्ब, कबीले या गिरोह के सदस्यों के बीच हुआ करता था। शनैः शनैः मानव ने प्रगति की और सभ्यता का विकास हुआ। लोगों की आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए उन्होंने वस्तु-उत्पादन के नए-नए साधन भी खोज निकाले। ज्यों-ज्यों वस्तु-उत्पादन बढ़ा, विनिमय-माध्यम और मूल्यमापन के साधन भी खोज लिये गए। पहले हाड़-मांस, भेड़-बकरी, लकड़ी-पत्थर को विनिमय का माध्यम बनाया गया और फिर धातु की मुद्राएं बनाई जाने लगीं। धीरे-धीरे सोना-चांदी विनिमय-माध्यम के काम आने लगे। सभ्यता ने और जोर लगाया और कागज के नोट चलने लगे तथा वर्तमान साख-पद्धति पनप उठी। इसी प्रकार लेन-देन का क्षेत्र विस्तृत बनता गया। लोग गांव बनाकर स्थायी रूप से बसने लगे और वर्तमान शहरों का रूप निकल आया। यातायात और आवागमन के साधन बढ़े तथा क्रय-विक्रय की वर्तमान व्यवस्था को जन्म मिला। कृषि का विकास हुआ, उद्योग स्थापित हुए तथा विज्ञान के नए-नए आविष्कार हुए। गांव-गांव और नगर-नगर के लोग अपनी-अपनी वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थान-विशेष पर मिलने लगे और इस प्रकार हाट, बाजार, पैंठ या नुमाइश लगने लगीं। कुछ लोग कुछ वस्तुएं बनाने में दक्ष तथा कुशल हो गए और अन्य लोग अन्य वस्तुओं के निर्माण में चतुर बन गए। कोई कृषि करने लगा, कोई उद्योगी बन बैठा तथा कोई शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करके, आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करके आवश्यकताएं तृप्त करने लगा। इसी प्रकार कुछ स्थानों पर कुछ वस्तुओं के उत्पादन की विशेष सुविधाएं मिलने लगीं तथा अन्य स्थानों पर कुछ और वस्तुओं के निर्माण में आसानी होने लगी। उदाहरणार्थ, बम्बई में कपास पैदा करने तथा सूत कातने और बुनने की प्राकृतिक सुविधा होने के कारण वहां सूती कपड़े के उद्योग बन गए, बंगाल में पटसन उत्पन्न किया जाने लगा तथा अन्य स्थानों पर कोयला-लोहा मिलने के कारण उद्योग स्थापित हो गए। एक स्थान पर माल पैदा करके या बनाकर समस्त देश के लोगों तक पहुंचने लगा। वर्तमान यातायात की सुविधाओं के कारण देश के एक कोने से माल दूसरे कोने में जाने लगा। इस प्रकार देशी व्यापार को जन्म मिला। अब प्रत्येक व्यक्ति को पहिले की भांति अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु को बनाने या उत्पादन करने की आवश्यकता नहीं है। जो जिस कार्य में योग्य, कुशल और दक्ष होता है वह वही कार्य करता है। इस प्रकार श्रम के विशिष्टीकरण एवं वर्गीकरण ने तथा उद्योगों के स्थानीयकरण ने व्यापार के वर्तमान स्वरूप को जन्म दिया। यह तो हुई देशी व्यापार की उत्क्रान्ति और विकास। समय की गति के साथ-साथ वस्तु-उत्पादन और निर्माण की कला में और उन्नति होती गई। विज्ञान के नए-नए आविष्कारों द्वारा देश-देश में उत्पादन बढ़ाने के नये-नये साधन खोज निकाले गए। यातायात और आवागमन एवं संदेशवाहन के उन्नत साधनों द्वारा देश-देश के बीच की खाई पार होने लगी। प्रकृति का विदोहन होने लगा तथा वन पर्वत आदि को पार कर करके एक देश के लोग दूसरे देश में आने-जाने लगे। लोगों के सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक सम्पर्क बढ़ने लगे। आज कुछ देश कुछ वस्तुएं बनाने में दक्ष हैं, और दूसरे देश अन्य वस्तुएं बनाते हैं। कहीं का जलवायु वहां उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं के लिए उपयुक्त है तो कहीं का श्रम अन्य स्थानों के श्रमिकों की अपेक्षा अधिक कुशल है। एक देश की वस्तुएं दूसरे देश में आने-जाने लगीं और शनैः शनैः आज अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन इतना अधिक बढ़ गया है कि संसार के सभी देश एक आर्थिक इकाई बन गए हैं। कोई देश कृषि में विशेषता रखता है तो कहीं यंत्रादि बनाए जाते हैं और फिर वे दोनों अपनी-अपनी वस्तुओं का एक दूसरे की वस्तु से अदल-बदल करके आवश्यकता तृप्त करते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन इतना अधिक बढ़ चुका है कि आज प्रत्येक देश किसी न किसी वस्तु के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहने लगा है। सच तो यह है कि आज कोई भी देश राष्ट्रीयता की हांक भर कर एकाकी रहकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ-जगत् में जीवित नहीं रह सकता। आर्थिक दृष्टिकोण से उसे अपने माल के निर्यात तथा अन्य देशों से आवश्यक माल के आयात के लिए बाह्य देशों पर आश्रित रहना ही होगा। यह है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वर्तमान स्वरूप जिसने संसार के सभी देशों को एक इकाई में बांधकर समीप ला दिया है। आज का वस्तु-उत्पादक केवल अपने लिए ही वस्तु-उत्पादन नहीं करता वरन् अपने परिवार के लिए, पड़ोसी के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए एवं विदेशों के लिए भी करता है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न रहता है जिनके उत्पन्न करने के लिए उसके पास उपयुक्त साधन उपलब्ध होते हैं। उपयुक्त साधनों में भूमि की उत्पादन-शक्ति, निवासियों की कार्य-कुशलता और संग्रहित पूंजी की मात्रा इत्यादि सम्मिलित हैं। प्रत्येक देश इन साधनों द्वारा उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं का अपनी देशी आवश्यकताओं के परिमाण तक ही नहीं वरन् उससे अधिक मात्रा में उत्पादन करना चाहता है जिससे वह निजी आवश्यकताओं को तृप्त करने के पश्चात्, बची हुई अतिरेक मात्रा को अन्य देशों में निर्यात करके उन देशों से वे वस्तुएं आयात कर सके जिनके उत्पादन के लिए उसके पास उपयुक्त साधन नहीं हैं, और यदि हैं भी तो अपर्याप्त मात्रा में हैं।

कहना न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तु-विनिमय पद्धति का एक निखरा हुआ स्वरूप है। जिस प्रकार वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने द्वारा उत्पादित एवं निर्मित वस्तुओं का अदल-बदल अन्य व्यक्ति की उत्पादित वस्तुओं से कर लिया करता था उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत एक देश में उत्पादित एवं निर्माणित वस्तुओं का दूसरे देश में उत्पन्न की गई वस्तुओं से अदल-बदल कर लिया जाता है। आज कुछ देशों में वहां के उपलब्ध साधनों द्वारा कुछ वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं और अन्य देशों में कुछ अन्य वस्तुएं बनाई जाती हैं और तब वे अपनी-अपनी वस्तुओं का एक-दूसरे से आयात-निर्यात कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में कपास उत्पन्न की जाती है और इंगलैंड यंत्रादि बनाने में कुशल है तो दोनों एक दूसरे की वस्तु आयात करके बदले में अपनी वस्तुएं निर्यात कर देते हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निहित वस्तु-विनिमय में प्राचीनकालीन वस्तु-विनिमय से एक विशेषता है और वह यह कि आयात-निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का मूल्यमापन मुद्रा के द्वारा किया जाता है, जबकि प्राचीनकालीन वस्तु-विनिमय में मूल्यमापन का आधार और अस्तित्व ही नहीं था। आयात के बदले निर्यात करने से पूर्व आयात-निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का मूल्यमापन कर लिया जाता है। अतः यह कहना उचित होगा कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्राचीनकालीन वस्तु-विनिमय प्रणाली का एक उन्नत, विकसित, वैज्ञानिक और निखरा हुआ स्वरूप है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से केवल एक ही देश को नहीं वरन् उन सभी देशों को, जो आयात-निर्यात करते हैं, लाभ पहुँचता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा आयात करनेवाले देश को भी उतना ही लाभ मिलता है जितना निर्यात करनेवाले देश को हो सकता है।* इन लाभों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) आर्थिक, (२) सामाजिक एवं राजनैतिक।

आर्थिक लाभ—(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा एक देश दूसरे देश से वे वस्तुएं आयात कर सकता है जिनके उत्पादन के लिए उसके पास उपयुक्त साधन नहीं होते या होते भी हैं तो अपर्याप्त मात्रा में होते हैं। इससे प्रत्येक देश को आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक देश अपने साधनों द्वारा वे ही वस्तुएं बनाने लगता है जिसमें वह अपने साधनों का महत्तम उपयोग कर सके तथा शेष वस्तुएं वह विदेशों से आयात कर लेता है। इस प्रकार देश के आन्तरिक साधनों का अधिकाधिक विदोहन करके महत्तम लाभ उठाया जा सकता है।

(२) जब किसी देश में किसी वस्तु का नितान्त अभाव हो जाय अथवा दुर्भिक्ष फैल जाय तो ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ही सहायक होता है जिसके द्वारा सम्पन्न देशों से अन्नादि आयात करके देशवासियों की आवश्यकताएं तृप्त की जा सकती हैं।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत आयात और निर्यात का निरंतर क्रम बना रहने के कारण देश-देश के आन्तरिक व्यापारिक क्षेत्रों में प्रतियोगिता बनी रहती है जिससे किसी देश में व्यापाराधिकार एवं एकाधिकार के दूषण नहीं पनप पाते और वस्तुओं के भावों में समानता एवं सामान्य स्थायित्व बना रहता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा लेन-देन का निरंतर क्रम बना रहने से क्रय-विक्रय का क्षेत्र विस्तृत बनता है जिससे श्रम-विभाजन, श्रम-विशिष्टीकरण एवं बड़े पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। आयात-निर्यात का क्रम बना रहने से प्रत्येक देश वे ही वस्तुएं बनाने लगता है जिनके बनाने के लिए उसके पास प्राकृतिक साधनों एवं जनशक्ति की प्रचुरता होती है। इससे प्रत्येक राष्ट्र की कार्यकुशलता में बढ़ोत्तरी होती है जिससे संसार का प्रत्येक भाग समान रूप से उन्नत बन सकता है।

रिकार्डो ने लिखा है—"वैदेशिक व्यापार के द्वारा देश के आन्तरिक साधनों का महत्तम उपयोग किया जा सकता है तथा विदेशों से आयात करके देश के

* "It blesseth him that gives, and him that takes."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आन्तरिक मूल्यस्तर को नीचा बनाया जा सकता है जिससे लोगों को बचत करने में प्रोत्साहन मिले और देश के पूंजी-निर्माण में भी सहयोग मिल सके।" * मार्शल ने कहा है, "विदेशी व्यापार से दोहरा लाभ मिलता है, देश में उपलब्ध साधनों का महत्तम उपयोग किया जा सकता है तथा विदेशों से वस्तु प्राप्त करके देशवासियों की आवश्यकताएं भी तृप्त की जा सकती हैं।"

सामाजिक एवं राजनैतिक लाभ—(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा भिन्न-भिन्न संस्कृति और सभ्यता के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं जिससे सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राजनैतिक आचार-विचारों में सामंजस्य उत्पन्न होकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता बढ़ती है।

(२) कुछ लोगों का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को एक आर्थिक इकाई में बांधकर उन्हें एक दूसरे के समीप लाता है अतः इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद दूर होते तथा विश्व-शान्ति स्थापित करने में सहायता मिलती है। [इस मत के समर्थक चाहे कुछ भी कहें पर आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने संसार में प्रतियोगिता का ऐसा दूषित वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि उससे विश्व-शांति तो दूर, विश्व-युद्धों को प्रोत्साहन मिलने लगा है। पिछले दोनों महायुद्धों ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में अशान्ति का कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की पारस्परिक प्रतियोगिता है जिसने मानव को दानव बना रक्खा है। आज प्रत्येक देश अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के लिए नर-संहार करता हुआ मानव के खून से होली खेल रहा है, सभ्यता कुचली जा रही है और संस्कृति भयभीत है। हमारी राय में आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विश्व-शान्ति में सहायक कहना उचित नहीं है।]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानि

(१) देशी उद्योगों में श्रम एवं पूंजी का विचलन—कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्रम में देश में बहुत भारी मात्रा में आयात होने के कारण देश के स्थानीय औद्योगिक कलेवर को बहुत क्षति पहुँचती है। विदेशी माल की प्रतियोगिता बढ़ने से देश का औद्योगिक कार्यक्रम बिगड़ जाता है जिससे उद्योग में काम करनेवाले श्रमिकों की भृति कम होने लगती है या उनकी छंटनी आरम्भ हो जाती है। कभी-कभी प्रतियोगिता इतनी अधिक हो जाती है कि उद्योग बन्द तक हो जाते हैं और पूंजी भी चक्कर में आ जाती है। उद्योग बन्द

---

* "Foreign trade.....affords, by the abundance and cheapness of commodities, incentives to saving, and to the accumulation of capital."

—Richardo's Principles of Political Economy, Chap vii.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होने से श्रमिकों का रोजगार चला जाता है और देश के सामने बेकारी की समस्या बन जाती है।

(२) **हानिकारक पदार्थों का आयात**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्रम में देश में कभी-कभी हानिकारक वस्तुओं का आयात होने लगता है जिनके उपयोग से देशवासियों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर उलटा प्रभाव पड़ता है। ऐसी वस्तुओं में अफीम, गांजा आदि सम्मिलित हैं। [पर आजकल तो आयात पर सरकार का नियंत्रण होने के कारण इस प्रकार की दूषित वस्तुओं का खुला आयात सम्भव नहीं हो सकता।]

(३) **अति उत्पादन का भय**—देश का निर्यात व्यापार बढ़ने के कारण देश का उत्पादन कभी-कभी इतना अधिक बढ़ा लिया जाता है कि सहसा ही बाह्य देशों की मांग कम होने पर देश में अति उत्पादन हो जाता है, जिससे मन्दी आरम्भ हो जाती और स्थानीय उद्योगों को उत्पादन कम कर देना पड़ता है। इससे श्रमिकों की छंटनी होने लगती है व देश के स्थानीय मूल्यस्तर गिर जाते हैं। उद्योगों को भी अपना निर्मित माल बेचने में बड़ी कठिनाई होती है।

(४) **देशी हितों को धक्का**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार यदि स्वतंत्र हुआ तो देश के उत्पादकों को विदेशों में माल निर्यात करने का इतना चसका लग जाता है कि वे देश की स्थानीय आवश्यकताओं की पर्वाह न करके विदेशों में माल भेजते रहते हैं। इससे देश के आन्तरिक हितों को बड़ा धक्का लगता है और देश की प्रमुख वस्तुएं देश से बाहर चली जाती हैं।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय का सिद्धान्त
(The Theory of Comparative Costs)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त भिन्न-भिन्न देशों में वस्तु-उत्पादन के उत्पादन-व्यय में अन्तर होने का ही एक विशिष्ट रूप है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार सीमान्त-उत्पादन-व्यय* मूल्य का आधार माना गया है और सीमान्त-उत्पादन-व्यय के द्वारा ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौन देश किस वस्तु के उत्पादन के लिए उपयुक्त है। भारत और पड़ोसी पाकिस्तान का उदाहरण ही ले लीजिए। भारत पाकिस्तान से कपास आयात करता है और इसके बदले में पाकिस्तान को कोयला देता है। यह आयात-निर्यात उस स्थिति में सम्भव हो सकता है जबकि इससे दोनों देशों का हित होता हो अर्थात् भारत को कोयला देकर कपास लेने में तथा पाकिस्तान को कपास देकर कोयला लेने में लाभ होता हो। यह स्थिति तब तक सम्भव हो सकती है

*The Marginal Cost of Production.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जब तक कि भारत में कोयला और पाकिस्तान में कपास का सीमान्त-उत्पादन-व्यय कम हो। उदाहरणार्थ, भारत में कपास की एक गांठ का सीमान्त-उत्पादन-व्यय २०० रुपये और एक टन कोयले का उत्पादन-व्यय १०० रुपये है। इसके विपरीत पाकिस्तान में कपास की एक गांठ का उत्पादन-व्यय १०० रुपये और एक टन कोयले का उत्पादन-व्यय २०० रुपये है। इस स्थिति में दोनों देशों का हित इसमें है कि भारत केवल कोयले के उत्पादन में अपने साधनों का उपयोग करके अधिक से अधिक कोयला निकाले और पाकिस्तान केवल कपास के उत्पादन में अपने साधनों को प्रयोग करके अधिक से अधिक मात्रा में कपास पैदा करता रहे और फिर दोनों परस्पर अपनी-अपनी वस्तुओं का अदल-बदल कर लें ; अन्यथा भारत को स्वयं कपास पैदा करने में और पाकिस्तान को कोयला निकालने में अलग-अलग अधिक उत्पादन-व्यय उठाना पड़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत सी वस्तुओं का आयात-निर्यात इसीलिए होता है कि निर्यात करनेवाले देश में निर्यात की जानेवाली वस्तु का सीमांत-उत्पादन-व्यय आयात करनेवाले देश से निरपेक्ष रूप से कम होता है। यह स्थिति दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में सर्वांग अन्तर* की स्थिति कही जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस स्थिति में भी सम्भव हो सकता है जबकि एक देश में दोनों वस्तुओं के सीमांत-उत्पादन-व्यय दूसरे देश में उन दोनों वस्तुओं के सीमान्त-उत्पादन-व्यय से कम हों। परन्तु तो भी उस देश को उन दोनों वस्तुओं में से केवल एक ही वस्तु के उत्पादन में अपने साधनों का अधिकाधिक प्रयोग करने से सापेक्ष रूप में अधिक लाभ होने की सम्भावना हो सकती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक देश में उत्पादन के साधन सीमित मात्रा में होते हैं अतः उनके द्वारा महत्तम लाभ प्राप्त करने की इच्छा से उस देश के उत्पादक उसी वस्तु के उत्पादन में अपने साधनों का उपयोग करेंगे जिनमें उन्हें सापेक्ष रूप में अधिक लाभ मिलने की आशा होगी। उदाहरणार्थ, भारत में एक गांठ कपास का सीमान्त-उत्पादन-व्यय १०० रु० और एक टन कोयले का सीमान्त-उत्पादन-व्यय ५० रु० है। यदि भारत दोनों ही वस्तुओं को उत्पन्न करे तो कोयले और कपास का पारस्परिक विनिमय-अनुपात २ : १ होगा अर्थात् दो टन कोयले के बदले में एक गांठ कपास मिल सकेगी। अब यदि पाकिस्तान में कपास की एक गांठ का सीमान्त-उत्पादन-व्यय १५० रु० और एक टन कोयले का सीमान्त-उत्पादन-व्यय १०० रु० है और यदि पाकिस्तान भी दोनों वस्तुएं उत्पन्न करे तो वहां कोयले और कपास का विनिमय-अनुपात ३ : २ रहेगा अर्थात् तीन टन कोयले के बदले में दो गांठें कपास मिल सकेंगी। यदि पाकिस्तान कपास की दो गांठें उत्पन्न करके भारत में भेजे तो प्रेषण-

---

*Absolute Differences in Costs.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यय की गणना न होने पर, उसे भारत में ४ टन कोयला मिल सकेगा; जबकि देश में ही ३ टन कोयला मिलेगा। इसी प्रकार भारत यदि ३ टन कोयला पाकिस्तान में भेजे तो प्रेषण-व्यय की गणना न होने पर, उसे २ गांठ कपास मिल सकेगी जबकि देश में ही १½ गांठ कपास मिलेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि भारत में कपास और कोयला दोनों का सीमान्त-उत्पादन-व्यय पाकिस्तान में दोनों के उत्पादन-व्यय से अपेक्षाकृत कम है परन्तु तुलनात्मक हित इसमें है कि वह कोयले के उत्पादन में अपने समस्त साधनों को लगा दे और फिर कोयला पाकिस्तान में भेजकर बदले में कपास ले ले। इसी प्रकार पाकिस्तान का हित इसमें है कि वह कपास उत्पन्न करने में अपने साधनों का प्रयोग करे और फिर कपास भारत में भेजकर बदले में कोयला प्राप्त करले। यह स्थिति दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में तुलनात्मक अन्तर* की स्थति कही जाती है।

कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है कि एक देश में दोनों वस्तुओं के सीमान्त-उत्पादन-व्यय दूसरे देश में उत्पादन-व्यय से कम हों परन्तु तो भी किसी भी देश को उनमें से कोई एक ही वस्तु उत्पन्न करके दूसरे देश की दूसरी वस्तु से अदल-बदल करने में बिलकुल लाभ न हो। उदाहरणार्थ, भारत में एक टन कोयले का सीमान्त-उत्पादन-व्यय ५० रु० और कपास की गांठ का सीमान्त-उत्पादन-व्यय १०० रु० है तथा पाकिस्तान में दोनों वस्तुओं का उत्पादन-व्यय क्रमशः ७५ रु० और १५० रु० है। भारत दोनों वस्तुएं उत्पन्न करे तो दोनों का पारस्परिक अनुपात २:१ होगा और यही अनुपात पाकिस्तान में होगा। अतः न तो भारत को कोयला उत्पन्न करके उसके बदले में कपास लेने में लाभ होगा और न पाकिस्तान को कपास उत्पन्न करके बदले में कोयला लेने में कोई लाभ होगा। अतः ऐसी स्थिति में दोनों देशों में कोयले और कपास का व्यापारिक लेन-देन सम्भव नहीं सकेगा। ऐसी स्थिति को दो देशों में उत्पादन-व्यय में समान अन्तरों की स्थिति कहते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक उत्पादन-व्यय के क्रम में तीन बातें स्पष्ट होती हैं :—

(१) लागत-व्यय में सर्वांग अन्तर—यदि एक देश किसी वस्तु को और दूसरा देश किसी अन्य वस्तु को निरपेक्ष दृष्टि से कम उत्पादन-व्यय में उत्पन्न कर सके तो उन देशों के बीच में उन दोनों वस्तुओं का पारस्परिक लेन-देन सम्भव होगा।

(२) लागत-व्यय में तुलनात्मक अन्तर—यदि एक देश दो वस्तुओं को दूसरे देश की अपेक्षा कम उत्पादन-व्यय में उत्पन्न कर सके पर यदि दोनों देशों को एक वस्तु के उत्पादन में सापेक्ष दृष्टि से दूसरी वस्तु के उत्पादन की अपेक्षा

---

*Comparative Differences in Costs.

†Equal Differences in Costs.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अधिक लाभ हो सकता हो, तो उन देशों में वस्तुओं का पारस्परिक लेन-देन सम्भव होगा।

(३) **लागत-व्यय का समान अन्तर**—यदि उत्पादन-व्यय इस प्रकार हो कि दोनों वस्तुओं को एक ही देश में उत्पन्न करने पर भी उनका पारस्परिक विनियम-अनुपात वही हो जो एक वस्तु स्वयं उत्पन्न करके दूसरी वस्तु दूसरे देश से विनिमय द्वारा प्राप्त करने से हो तो ऐसी स्थिति में उन वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की तनिक भी संभावना नहीं हो सकती।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि जो वस्तु विनिमय द्वारा दूसरे देश से आयात की जाय उसका आयात करनेवाले देश में नितान्त अभाव हो। सम्भव है वह देश उस वस्तु को उतनी मात्रा में उत्पन्न न कर पाता हो जिससे उसकी अपनी तथा दूसरे देश की मांग पूरी हो सके। यह सिद्धान्त उस स्थिति में भी लागू होता है जबकि एक देश बहुत सी वस्तुएं निर्यात करके बदले में अनेक वस्तुएं आयात करता हो। उस स्थिति में कहा जायगा कि प्रत्येक देश में निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन में उस देश में आयात होनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा उस देश को सापेक्ष रूप में अधिक लाभ मिलता है।

यहां यह कह देना असंगत नहीं होगा कि तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त का आशय दो देशों में किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन-व्यय की तुलना करना नहीं है; न ऐसा हम कर ही सकते हैं क्योंकि जब तक हमें दोनों देशों की व्यापारिक स्थिति का भला-पूरा ज्ञान न हो तब तक दो देशों में एक ही वस्तु के उत्पादन-व्यय का ज्ञान संभव नहीं हो सकता। इस सिद्धांत के अन्तर्गत तो प्रत्येक देश में अलग-अलग दो वस्तुओं के उत्पादन-व्यय के अनुपात की तुलना की जा सकती है और यदि अनुपात भिन्न-भिन्न हुए तो उन दोनों देशों में पारस्परिक निर्यात-आयात सम्भव होगा अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में यंत्र और कपास का उत्पादन-व्यय भारत में इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन-व्यय से कम है फिर भी इंगलैण्ड भारत से कपास आयात करे तो इसका अर्थ यह है कि उसे कपास की अपेक्षा यंत्रादि बनाने में अधिक लाभ है अतः वह यंत्रों के निर्माण में अपने साधनों का प्रयोग करके यंत्र निर्यात करता है और बदले में भारत से कपास आयात कर लेता है। संक्षेप में, यही बात तुलनात्मक उत्पादन-व्यय के सिद्धान्त को स्पष्ट करती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त क्यों ?

वैसे तो देशी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है पर आदम स्मिथ और रिकार्डो जैसे विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक पृथक् सिद्धान्त निर्धारित किया। उनका मत था कि उत्पादन के साधन—श्रम, पूंजी आदि—एक देश से दूसरे देश में जाने के लिए उतने गतिशील नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होते जितने कि एक देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाने के लिए होते हैं। श्रमजीवी भाषा, धर्म तथा रहन-सहन में भेद होने के कारण, साहस के अभाव में तथा अज्ञानता के कारण अधिक वेतन पाने पर भी एक देश से दूसरे देश में जाने में हिचकिचाते हैं। इसी भांति पूंजीपति अपनी पूंजी विदेशों में भेजना हानि-भय की बात समझते हैं। दूसरे, भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग मौद्रिक पद्धतियां अपनाई जाती हैं। तीसरे, आधुनिक सरकारें आजकल आयात-निर्यात पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाने लगी हैं। इन सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त बनाने की आवश्यकता समझी गई।

व्यापाराधिक्य*

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं के आयात-निर्यात द्वारा व्यापाराधिक्य ज्ञात किया जाता है। निश्चित अवधि में यदि किसी देश में वस्तुओं का सकल आयात उसके सकल वस्तु-निर्यात से अधिक हो तो व्यापाराधिक्य उस देश के विपक्ष में या प्रतिकूल समझा जायगा। इसके विपरीत यदि निश्चित अवधि में वस्तुओं का सकल निर्यात उस देश के सकल वस्तु-आयात से अधिक हो तो व्यापाराधिक्य उस देश के पक्ष में या अनूकल समझा जायगा। कुछ लोग समझते होंगे कि यदि किसी देश का व्यापाराधिक्य उसके अनुकूल हो तो वह देश उन्नत और समृद्ध होगा ही। पर वास्तव में यह बात नहीं है। अनुकूल व्यापाराधिक्य रखनेवाला देश समृद्ध हो भी सकता है और नहीं भी। उदाहरणार्थ, यद्धकाल से पूर्व भारत का अनुकूल व्यापाराधिक्य रहता था फिर भी वह उतना उन्नत या समृद्ध नहीं कहा जा सकता जितना कि वे देश—इंगलैण्ड, अमरीका—जो इसके साथ प्रतिकूल व्यापाराधिक्य रखते थे।

स्वतंत्र व्यापार बनाम संरक्षण†

स्वतंत्र व्यापार का सिद्धान्त—विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के स्वतंत्र और अनियंत्रित आयात-निर्यात को स्वतंत्र व्यापार कहते हैं। स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत सरकार की ओर से आयात पर, देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए अथवा अन्य किसी उद्देश्य से, किसी प्रकार के नियंत्रण या प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाते। आदम स्मिथ ने लिखा है कि स्वतंत्र व्यापार-नीति उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें देशी और विदेशी वस्तुओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाता और इसलिए विदेशी वस्तुओं पर न तो अनावश्यक कर लगाए जाते हैं और न स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएं ही दी जाती हैं। स्वतंत्र व्यापार का अर्थ यह नहीं कि इसके अन्तर्गत वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर ही न लगाए जायं पर

---

*Balance of Trade.

†Free Trade v/s Protection.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो भी कर लगें, वे केवल आय-वृद्धि के उद्देश्य से होने चाहिएं, संरक्षण के हेतु नहीं। व्यापारिक आयात-निर्यात जितना अधिक स्वतंत्र होगा उतना ही अधिक लाभ व्यापार करने वाले देशों को मिल सकेगा। स्वतंत्र व्यापार-नीति के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपने-अपने साधनों का महत्तम उपयोग कर सकता है और तब इस प्रकार संसार भर के साधनों का भरपूर उपयोग किया जा सकता है।

१९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड स्वतंत्र व्यापार का पक्का पक्षपाती था। इसका मुख्य कारण था कि वहां औद्योगिक क्रांति होने के कारण औद्योगिक वर्ग को जन्म मिला जो सस्ता कच्चा माल चाहते थे और निर्मित वस्तुओं के लिए विस्तृत बाजार चाहते थे। ये दोनों बातें स्वतंत्र व्यापार-नीति के द्वारा मिल सकती थीं। इंगलैण्ड ने अपनी नीति को भारत पर भी लागू किया जिससे भारत में घरेलू उद्योग-धंधों को बड़ी क्षति हुई। परन्तु आगे चलकर विवश होकर मन्दी के काल में स्वतंत्र व्यापार-नीति छोड़नी पड़ी।

संरक्षण की नीति—देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए विदेशी माल के आयात पर अत्यधिक कर लगाकर देशी उत्पादन को प्रोत्साहित करने की नीति को संरक्षण की नीति कहते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य स्वदेशी उद्योगों की उन्नति करना होता है। संरक्षण की नीति में आर्थिक और राजनैतिक दो उद्देश्य मिले होते हैं—देशी उद्योगों को विदेशी माल की प्रतियोगिता से बचाकर आर्थिक स्वतंत्रता स्थापित करना तथा राष्ट्रीयता के भावों का विकास करना। देशभक्त नागरिकों के लिए देशी उद्योगों का विकास उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना। अमरीका आरम्भ से ही संरक्षण-नीति का समर्थक रहा है। राष्ट्रीयता की भावनाओं से प्रेरित होकर भारत ने भी संरक्षण-नीति का अनुशीलन किया है और आज भी यही नीति प्रचलित है।

संरक्षण के पक्ष में तर्क

(१) देशी व्यवसाय की उन्नति—विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण मिलने पर देश के उद्योगों की उन्नति और व्यवसाय में वृद्धि होती है। यदि संरक्षण न मिले तो विदेशी प्रतियोगिता देश के उद्योगों को समाप्त करके बेकारी फैला देगी। १९वीं शताब्दी में विदेशी प्रतियोगिता के कारण भारतीय कुटीर-धंधों का जो विनाश हुआ और फलस्वरूप देश में जो बेकारी फैली—यह सब इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(२) राष्ट्रीय साधनों की रक्षा—संरक्षण से देश के प्राकृतिक एवं आर्थिक साधन देशवासियों के उपयोग के लिए सुरक्षित बने रहते हैं जिससे उनके द्वारा दीर्घ काल में देश का आर्थिक विकास करने में योग मिलता है। यदि कोई देश कच्चे माल का अनिर्बाध निर्यात करे तो इससे देश के उद्योगों को कच्चे माल का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभाव तो होता ही है पर साथ ही साथ कच्चा माल देश से समाप्त हो जाता है। इंगलैण्ड के कोयले, दक्षिणी अफ्रीका के सोने तथा भारत की भुड़भुड़ के विषय में यही तर्क दिया जाता है। यदि देश के साधनों को संरक्षित रक्खा जाय तो इस प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती।

(३) शिशु उद्योगों का विकास—विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण पाकर देश के शिशु उद्योग सबल बनते तथा आगे चलकर आर्थिक विकास में भारी योग देते हैं। यदि नवीन उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षित रखकर उन्हें फलने-फूलने के लिए समय दिया जाय तो वे थोड़े समय में दृढ़ होकर देश को उन्नत बना सकते हैं पर इस प्रकार के उद्योगों को उस समय तक ही संरक्षण देना चाहिए जब तक कि वे अपने पैरों पर खड़े न हो जायं।

(४) सुरक्षा—कुछ विद्वानों का मत है कि देश की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे उद्योगों को संरक्षण अवश्य मिलना चाहिए जो देश की सैनिक आवश्यकताएं पूर्ण करते हों। आदम स्मिथ ने कहा है—"सुरक्षा अमीरी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।" हिटलर कहा करता था—"बन्दूकें मक्खन से भी अच्छी होती हैं।" अतः सैनिक सुरक्षा के उद्योगों को संरक्षण देना आवश्यक होता है।

(५) आय-वृद्धि—सरकार की आय बढ़ाने के लिए भी विदेशी माल के आयात पर संरक्षण-कर लगाए जा सकते हैं। संरक्षण-करों से सरकार की अच्छी आय होती है पर आय के उद्देश्य से लगाए गए संरक्षण-कर कुछ हलके होने चाहिएं अन्यथा विदेशी व्यापार बन्द होने का भय रहता है। आधुनिक विचारधारा तो यह है कि संरक्षण-कर आय के लिए नहीं वरन् देशी उद्योगों की रक्षा के उद्देश्य से लगाने चाहिएं।

(६) प्रमुख उद्योगों का भावी विकास—देश के औद्योगिक कलेवर को स्थिर एवं दृढ़ बनाने के लिए देश के कुछ प्रमुख उद्योगों का विकास होना आवश्यक होता है। इसके लिए यदि देश में आवश्यक सुविधाएं न भी हों तो भी कम से कम उन्हें विदेशी प्रतियोगिता से बचाकर रखना तो आवश्यक होता ही है। उद्योगों के विकास से देश की बेकारी की समस्या भी हल होती है।

(७) देश-भक्ति—संरक्षण का समर्थन देश-भक्ति की दृष्टि से भी होने लगा है। देशी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने तथा देश का धन देश में ही बनाए रखने के लिए संरक्षण को एक सुलभ साधन माना जाता है। वर्तमान शताब्दी में देश-भक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर ही संरक्षण-नीति का पालन होता रहा है।

(८) आत्मनिर्भरता—प्रत्येक देश को आत्मनिर्भर बनना चाहिए तथा उपभोग्य वस्तुओं के लिए बाह्य देशों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संरक्षण आवश्यक माना जाता है। अनुचित प्रतियोगिता को रोकने के लिए तो संरक्षण अनिवार्य समझा जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संरक्षण के विपक्ष में तर्क

(१) संरक्षण मिलने से कभी-कभी उद्योगों में उदासीनता आ जाती है। विदेशी प्रतियोगिता के समाप्त हो जाने से उद्योगी लापरवाह बन जाते हैं और उद्योग कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाते।

(२) संरक्षण एकाधिकार को जन्म देता है। विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाने से देशी व्यवसायी एकाधिकार के अनुचित लाभ लेने लगते हैं जिससे व्यापार का क्रम और उलटा बिगड़ जाता है।

(३) उद्योगों में स्वार्थ भर जाता है। शिशु-उद्योग कहलानेवाले उद्योग संरक्षण तोड़ना ही नहीं चाहते और यदि किसी उद्योग को संरक्षण देकर फिर हटाया जाता है तो वे चिल्लपों करने लगते हैं।

(४) संरक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में खिंचाव पैदा हो जाता है—युद्ध के बीज पड़ जाते हैं। आजकल युद्ध का एक कारण संरक्षण-नीति भी मानी जाने लगी है।

(५) अरक्षित उद्योगों को अपेक्षाकृत हानि रहती है क्योंकि आयात-करों के कारण मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

(६) संरक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में कठिनाई होती है। श्रम, पूंजी व उत्पादन के अन्य साधन उत्पादन में पूरा-पूरा योग नहीं दे पाते जिससे उत्पादन का अभाव हो जाता है और आर्थिक समृद्धि रुक सकती है।

(७) संरक्षण-कर लगाने से आयात होनेवाले माल के भाव बढ़ जाते हैं और साथ ही साथ देशी माल के भाव भी ऊंचे हो जाते हैं। इससे उपभोक्ताओं को बड़ी कठिनाई होती है।

(८) वितरण की दृष्टि से तो संरक्षण बिल्कुल असंगत और अनुचित है क्योंकि इसके द्वारा अमीर और अधिक अमीर बनते तथा गरीब और अधिक गरीब बन जाते हैं।

सिद्धान्ततः स्वतंत्र व्यापार आदर्श है परन्तु क्रियात्मक दृष्टिकोण से कभी कभी संरक्षण अधिक आवश्यक होता है, विशेषकर ऐसे देशों में जिनका आर्थिक विकास होना अभी शेष हो। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना भले ही आवश्यक हो परन्तु कम उन्नत देशों को उस समय तक संरक्षण-करों को अपनाना ही होगा जब तक वे भी औद्योगिक दृष्टि से उतने उन्नत नहीं हो जाते जितने कि उनके प्रतियोगी अन्य देश।

डम्पिंग

(Dumping)

जब किसी देश में उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाय कि देश के अन्तर्गत उसकी खपत न हो सके तो उत्पादक शेष माल को विदेशी बाजारों में लागत-व्यय से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी कम भावों पर बेचना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार माल बेचने को डम्पिंग कहते हैं। डम्पिंग के अन्तर्गत विदेशों में वस्तु को उसके उत्पादन-व्यय से भी कम मूल्य पर बेचा जाता है और इस प्रकार होने वाली हानि को स्वदेशी बाजारों में उस माल का अधिक मूल्य वसूल करके उससे होने वाले लाभ से पूरा किया जाता है। यदि किसी देश में विदेशी उत्पादकों द्वारा डम्पिंग हो रहा हो तो इस अनुचित प्रतियोगिता से देशी उद्योगों की रक्षा करने के लिए विदेशी माल के आयात पर संरक्षण-कर लगाना आवश्यक हो जाता है। साथ ही साथ एक बात और होती है—डम्पिंग करने वाला देश भी इस भय से कि विदेशों में सस्ते भावों पर बिकी हुई वस्तु दुबारा स्वदेश में न लौट आए, उस वस्तु के आयात पर संरक्षण-कर लगा देता है।

डम्पिंग की नीति उस समय तक नहीं बरती जा सकती जब तक स्वदेश में उत्पादकों को उत्पादन का एकाधिकार न हो और वे स्वदेशी बाजारों से मनमाना मूल्य न ले सकें। स्वदेश में मनमाना मूल्य लिये बिना विदेशों में माल का डम्पिंग सफल नहीं हो सकता। उत्पादन का एकाधिकार उसी समय प्राप्त हो सकता है जब कि उस वस्तु को एक ही व्यक्ति या संस्था उत्पन्न करती हो अथवा सभी उत्पादक मिलकर सम्मेलन द्वारा ऐसा निश्चय कर लें।

डम्पिंग करने से स्वदेश की उत्पादन-क्षमता बनी रहती है—उसमें कमी करने की आवश्यकता नहीं होती और साथ ही साथ विदेशी बाजारों में माल बेचकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र विस्तृत बनाया जा सकता है।

'कोटा' प्रणाली*

कभी कभी सरकार आयात-निर्यात के 'कोटा' निश्चित कर देती है अर्थात् यह निश्चित कर दिया जाता है कि निश्चित अवधि के अन्दर निश्चित मात्रा से अधिक माल आयात या निर्यात नहीं किया जा सकता। कोटा-निर्धारण का प्रभाव व्यापार पर बड़ा गंभीर होता है क्योंकि निश्चित मात्रा को छोड़ फिर उस वस्तु का आयात-निर्यात निश्चित अवधि में हो ही नहीं सकता। कोटों में आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं।

बदले का व्यापार

(Reciprocity)

कुछ विद्वानों का कहना है कि जो देश स्वतंत्र व्यापार-नीति अपनाता हो उसके साथ वैसी ही नीति बरतनी चाहिए और यदि कोई देश संरक्षण-नीति मानता हो तो उस देश से होनेवाले आयात पर भी संरक्षण-कर लगा देना चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि जो देश जैसी नीति बरते उसके साथ वैसी ही नीति बरतनी

* Quota system—Import and Export quotas.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाहिए ! इस प्रकार की व्यापार-नीति को बदले की व्यापार-प्रथा (Reciprocity) कहते हैं। आदम स्मिथ ने इस नीति का समर्थन करते हुए लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जो देश अपने साथ जैसी नीति बरते उसके साथ वैसी ही नीति बरतनी चाहिए परन्तु यह देख लेना चाहिए कि इस प्रकार की नीति से भविष्य में वह देश अपनी नीति में परिवर्तन कर देगा या नहीं।" उन्होंने यह भी कहा है कि यदि यह नीति स्वतंत्र व्यापार के लिए देशों को प्रेरित कर सके तो उसे सफल समझना चाहिए।

भला-व्यापार नीति
(Fair Trade Policy)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र में स्वदेशी व्यापार एवं उद्योग-धंधों को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना जो आयात-निर्यात हो सके, उसको भला व्यापार कहते हैं और वह व्यापारिक नीति "भला व्यापार-नीति" कही जाती है।

पक्षपातपूर्ण व्यापार नीति
(Preferential Policy)

कभी कभी किसी देश-विशेष से होनेवाले आयात के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत सरकार इंगलैण्ड से आनेवाले माल पर कम आयात-कर और जापान से होनेवाले आयात पर अधिक आयात-कर लगा दे तो कहा जायेगा कि भारत इंगलैण्ड के साथ पक्षपातपूर्ण नीति बरत रहा है। सन् १९३२ के ओटावा समझौते के अनुसार भारत में अंग्रेजी माल के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था और ऐसा ही व्यवहार इंगलैण्ड भारत के माल पर करता था।

लेन-देन का समीकरण

किसी देश को अन्य देशों से कितना लेना है और अन्य देशों को कितना चुकाना है—इस बात को जानने के लिए केवल माल के आयात-निर्यात की तालिका बनाना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् इसके अन्तर्गत यह देखना पड़ता है कि विभिन्न लेखों पर देश को कितना पावना है और कितना देना है। इस प्रकार की तालिका में निम्न लेन-देन का ब्यौरा सम्मिलित करना चाहिए—(१) माल का आयात-निर्यात, (२) विदेशों में विनियोगित स्वदेशी पूंजी पर आनेवाला ब्याज, (३) देशी जहाजों द्वारा विदेशों से कमाया हुआ भाड़ा, (४) बैंकों द्वारा कमाया हुआ कमीशन, (५) विदेशी पर्यटकों-दर्शकों द्वारा देश में व्यय की जाने वाली राशि, (६) सरकार के लेखे पर लिए-दिए गए ऋण, व्यय तथा अन्य लेन-देन। संक्षेप में बात यह है कि माल, राशि, तथा सेवाओं के रूप में जो देश जितना आयात करता है उसके बराबर ही माल, राशि तथा सेवाओं को देकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसे निर्यात करना पड़ता है। दीर्घकाल में, इस लेन-देन का समीकरण बराबर हो जाता है और इसी से किसी देश की आर्थिक क्षमता का ज्ञान होता है।*

सारांश

एक युग था जबकि वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। लोग अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएं अपने आप बनाते थे। न आज जैसे यातायात और आवागमन के साधन थे, न आज जैसा व्यापार था, न आज जैसी मौद्रिक व्यवस्था थी और न आज जैसी साख पद्धति थी। परन्तु समय की गति के साथ-साथ विज्ञान ने भी उन्नति की और यातायात के नये-नये उन्नत साधन खोज निकाले गए। कृषि का विकास हुआ, उद्योग स्थापित होते गए तथा वस्तु-उत्पादन और वस्तु-निर्माण के नये-नये साधन खोज निकाले गए। श्रम के वर्गीकरण एवं विशिष्टीकरण ने तथा उद्योगों के स्थानीयकरण ने व्यापार के वर्तमान रूप को जन्म दिया। विज्ञान की सहायता से वन, पर्वत, सागर आदि प्राकृतिक कठिनाइयों को पार किया जाने लगा और लोगों के सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक सम्पर्क बढ़ने लगे। आज कुछ देश जलवायु, श्रम एवं अन्य सुविधाओं के कारण कुछ वस्तु बनाने या उत्पन्न करने में दक्ष हैं और अन्य देश इस प्रकार की सुविधाओं के कारण कुछ अन्य वस्तुएं बनाने में लगे हुए हैं, और फिर वे आपस में एक दूसरे की वस्तुओं का अदल-बदल करके देशवासियों की आवश्यकताएं तृप्त करते हैं। इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज इतना अधिक बढ़ चुका है कि प्रत्येक देश अन्य देशों पर निर्भर बन गया है। अपने माल के निर्यात एवं बाह्य माल के आयात के लिए प्रत्येक देश को एक दूसरे पर आश्रित रहना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्राचीन वस्तु-विनिमय पद्धति का एक निखरा हुआ स्वरूप है—अन्तर केवल यह है कि इसमें वस्तुओं का मूल्यांकन करके विनिमय किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ—(१) प्रत्येक देश को आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक देश अपने साधनों द्वारा वे ही वस्तुएं बनाता है जिससे वह साधनों का महत्तम उपयोग कर सके। इससे देश के आन्तरिक साधनों का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकता है। (२) दुर्भिक्ष आदि संकट के समय विदेशों से माल मंगाकर देशवासियों की सहायता की जा सकती है। (३) देश के आन्तरिक व्यापार में प्रतियोगिता बनी रहती है जिससे एकाधिकार की बुराइयां नहीं पनपने पातीं। (४) श्रम-विभाजन, श्रम-विशिष्टीकरण एवं विशाल उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। (५) सभ्यता

* "The establishment of the equation of indebtedness is for every country simply the condition of her remaining a solvent nation."—*Bastable.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एवं संस्कृति का सामञ्जस्य होता है । (६) विभिन्न देश आर्थिक इकाई में बंधते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानि--(१)देशी उद्योगों में से श्रम एवं पूंजी का विचलन, (२) हानिकारक पदार्थों का आयात,(३) अति उत्पादन का भय, (४) देशी हितों को आघात।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त भिन्न-भिन्न देशों में उत्पादन-व्यय में अन्तर होने का एक विशिष्ट रूप है । तुलनात्मक उत्पादन-व्यय के तीन रूप हो सकते हैं--(१)उत्पादन-व्यय में सर्वांग अन्तर,(२) उत्पादन-व्यय में तुलनात्मक अन्तर, (३) उत्पादन-व्यय में समान अन्तर । यदि एक देश किसी एक वस्तु को और दूसरा देश किसी अन्य वस्तु को निरपेक्ष दृष्टि से कम लागत में उत्पन्न कर सके तो उन देशों के बीच में उन दोनों वस्तुओं का पारस्परिक आयात निर्यात होगा। यदि एक देश दो वस्तुओं को दूसरे देश की अपेक्षा कम लागत में उत्पन्न कर सका पर यदि दोनों देशों को एक एक वस्तु के उत्पादन में सापेक्ष लाभ हो तो उन दोनों वस्तुओं का उन देशों में निर्यात-आयात होगा। यदि लागत इस प्रकार हो कि दोनों वस्तुओं को एक ही देश में उत्पन्न करने पर भी उनका पारस्परिक विनिमय-अनुपात वही हो जो एक वस्तु को उत्पन्न करके दूसरी वस्तु दूसरे देश से प्राप्त करने पर हो तो उस स्थिति में उन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय संभव नहीं होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् नियम बनाने की आवश्यकता इसलिए हुई कि--(१) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में श्रम और पूंजी इतनी गतिशील नहीं होती जितनी एक देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर, (२) भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग मौद्रिक पद्धतियां अपनाई जाती हैं, (३) आधुनिक सरकारें आजकल आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने लगी हैं।

विभिन्न देशों में वस्तुओं के स्वतंत्र और अनिर्बाध आयात-निर्यात को स्वतंत्र व्यापार कहते हैं। स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत सरकार की ओर से आयात पर किसी प्रकार के नियंत्रण या प्रतिबंध नहीं लगाए जाते । इस नीति का पालन करने से प्रत्येक देश अपने-अपने साधनों का महत्तम उपयोग कर सकता है और तब इस प्रकार संसार भर के साधनों का भरपूर उपयोग किया जा सकता है ।

देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के उद्देश्य से विदेशी माल के आयात पर अत्यधिक कर लगाकर देशी उत्पादन को प्रोत्साहित करने की नीति को संरक्षण की नीति कहते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य स्वदेशी उद्योगों की उन्नति करना होता है । संरक्षण के पक्ष में ये तर्क दिए जाते हैं—(१) देशी व्यवसाय की उन्नति, (२) राष्ट्रीय साधनों की रक्षा, (३) शिशु-उद्योगों का विकास, (४) सुरक्षा-उद्योगों की प्रगति, (५) आय-वृद्धि, (६) प्रमुख उद्योगों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का विकास, (७) रोजगार को प्रोत्साहन, (८) देश भक्ति, (९) आत्म-निर्भरता। संरक्षण के विपक्ष में तर्क दिए जाते हैं कि इससे उद्योगों में उदासीनता आती है, उद्योगों में स्वार्थ आता है, देश में एकाधिकार की भावना आती है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में कठिनाई होती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में खिचाव आता है और देश में वस्तुओं के मूल्य ऊंचे हो जाते हैं।

जब किसी देश में उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाय कि देश के अन्तर्गत उसकी खपत न हो सके तो उत्पादक शेष माल को विदेशी बाजारों में लागत-व्यय से भी कम भावों पर बेचना आरम्भ करते हैं। इस प्रकार माल बेचने को डम्पिंग कहते हैं। डम्पिंग के अन्तर्गत विदेशों में वस्तु को लागत-व्यय से भी कम भावों पर बेचने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति स्वदेशी बाजारों में उसी प्रकार का माल ऊंचे भावों पर बेचकर कर ली जाती है।

जो देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जैसी नीति बरते उसके साथ वैसी ही नीति बरतने को बदले का व्यापार या Reciprocity कहते हैं। स्वदेशी उद्योगों को किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाए बिना जो आयात-निर्यात हो उसे Fair Trade कहते हैं।

किसी भी देश को अपने लेन-देन का समीकरण बनाने में इन बातों को सम्मिलित करना आवश्यक होता है—(१) माल का आयात-निर्यात, (२) ब्याज, (३) विदेशी पर्यटकों द्वारा देश में व्यय की गई राशि, (४) देशी जहाजों द्वारा कमाया गया भाड़ा, (५) बैंकों द्वारा कमाया हुआ कमीशन, (६) सरकारी लेखे पर लिए-दिए गए ऋण।

परीक्षा-प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म और विकास क्यों एवं कैसे हुआ? इस पर एक विस्तृत निबंध लिखिए और समझाइए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आधुनिक युग में क्या आवश्यकता है?

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होनेवाले लाभ एवं हानियों का वर्णन कीजिए।

(३) तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए उसकी मीमांसा कीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस सिद्धान्त का क्या महत्त्व है?

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अन्तर्देशीय व्यापार से पृथक् सिद्धांत निर्धारित करने की आवश्यकता क्यों हुई? इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण का क्या महत्त्व है? संरक्षण क्यों दिया जाता है? क्या हमारे देश में उद्योगों को संरक्षण मिलना आवश्यक है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) व्यापार की संरक्षण-नीति के पक्ष और विपक्ष में तर्क देते हुए समझाइए कि आधुनिक युग में संरक्षण का क्या स्थान है ?

(७) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां तैयार कीजिए :—

(१) स्वतंत्र व्यापार

(२) लेन-देन का समीकरण

(३) भला व्यापार-नीति

(४) अदृश्य आयात-निर्यात।

(८) 'डम्पिंग' किसे कहते हैं ? यह क्यों किया जाता है ? इसकी सफलता किन किन बातों पर निर्भर होती है ? स्पष्ट उत्तर दीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १२

विदेशी विनिमय के सिद्धान्त

प्रत्येक देश की मुद्राएं उन देशों की भौगोलिक एवं राजनैतिक सीमाओं के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देन में तथा ऋण-शोधन में काम आती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में एक देश की मुद्रा दूसरे देश में काम नहीं आ सकती। उदाहरणार्थ, भारत का रुपया इंगलैण्ड में, इंगलैण्ड का पौण्ड अमरीका में, अमरीका का डॉलर रूस में, रूस का रूबिल इटली में, इटली का लीरा जापान में, जापान का यैन अरब में, अरब का दीनार अफगानिस्तान में, अफगानिस्तान का राइल भारत में काम नहीं आ सकते। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में तो भुगतान करनेवाले को अपनी मुद्रा को उस देश की मुद्रा में बदलना पड़ता है जिस देश को भुगतान दिया जा रहा है। अतः एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्राओं में बदलने की क्रिया को 'विदेशी विनिमय' कहते हैं।

'विदेशी विनिमय' से भांति-भांति के अर्थ लगाए जाते हैं। कभी कभी लोग कहते हैं कि विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं। उस समय विदेशी विनिमय से हमारा अर्थ होता है 'विदेशी विनिमय बिल'। कभी कभी हम कहते हैं कि विदेशी विनिमय पक्ष में नहीं है अथवा अनुकूल नहीं है—उस समय हमारा अर्थ विदेशी विनिमय-दर से होता है। वास्तव में तो विदेशी विनिमय वह कार्य-प्रणाली है जिससे व्यापारी राष्ट्र अपने पारस्परिक ऋणों का भुगतान लेते-देते हैं। यह वह पद्धति है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए-दिए जाते और चुकाए जाते हैं। विदेशी विनिमय मुद्रा-शास्त्र की एक ऐसी पद्धति है जिसके अनुसार एक देश के निवासी दूसरे देशवासियों को अपने ऋण चुकाते हैं। हार्टले ह्विदर्स लिखता है कि "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है।" जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी विनिमय के अन्तर्गत विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है।* सारांश यह है कि 'विदेशी विनिमय' के अध्ययन में निम्नलिखित विषय आते हैं :—

---

* "Foreign Exchange is the Art and Science of International money-changing."—*Hartley Withers.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) **विदेशी विनिमय विल**––जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए-दिए जाते एवं अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाए जाते हैं।

(२) **विदेशी विनिमय-दर**––वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से वदली जाती है।

(३) **विदेशी विनिमय बैंक**––जिनसे विदेशी विल खरीदे और वेचे जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने के ढंग

जहां तक देश के आन्तरिक व्यापारिक लेन-देन का प्रश्न ह, उस देश में भुगतान देशी मुद्रा द्वारा किया जाता है क्योंकि वही उस देश की कानूनी मुद्रा होती है। किन्तु विदेशी भुगतान के लिए हमें ऐसी वस्तुएं देनी पड़ेंगी जो उस देश में, जहां भुगतान किया जा रहा है, स्वीकृत हों। ऐसी वस्तुएं सामान्यतः तीन हो सकती हैं––(१) उस देश की मुद्राएं, (२) उस देश में स्वीकृत किए जानेवाला माल, (३) सोना। यहां हम इन तीनों उपायों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) **सोना देकर भुगतान चुकाना**––आयात की हुई वस्तुओं और सेवाओं के वदले में सोना देना तथा निर्यात के वदले में सोना लेना वहुत खर्चीला, खतरनाक एवं असुविधाजनक है। एक देश का दूसरे के साथ अनेकों व्यक्तियों से लेन-देन होता है। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक व्यक्ति सोने का आयात-निर्यात करे तो वड़ी कठिनाई और असुविधा की वात रहेगी। किन्तु यदि एक देश की कुल लेनदारी और देनदारी का शेष निकाला जाय तो वहुत कम मात्रा में सोने का आयात या निर्यात करना होगा। अतः सोने के लेन-देन से होनेवाली असुविधाओं से वचने तथा सोने के प्रयोग में मितव्ययिता लाने की दृष्टि से यह ढंग काम में नहीं लाया जाता। आजकल तो प्रत्येक देश की सरकार ने सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिवन्ध ही लगा रक्खे हैं। इस शताब्दी के तीसा तक सोने का आयात-निर्यात हो सकता था परन्तु उसके पश्चात् से आज तक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में सोने का प्रयोग विल्कुल निषिद्ध कर दिया गया है। सरकार की स्वीकृति के विना कोई व्यक्ति सोने का आयात-निर्यात नहीं कर सकता। दूसरे, आज संसार के सभी देशों के पास सोना है भी नहीं; और जितना है भी उसको वे अपने से अलग करना नहीं चाहते। आजकल यह ढंग कहीं भी काम में नहीं लाया जाता।

(२) **आयात के बदले में निर्यात करना** (Exports for Imports)––अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने की दूसरी विधि यह है कि जितना माल किसी देश से आयात किया जाय उसके वदले में उतने ही मूल्य का माल निर्यात करके उस देश में भेज दिया जाय। परन्तु दो देशों के वीच यह वात सदैव सम्भव नहीं जान पड़ती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि एक देश दूसरे देश को उसकी आवश्यकता की सभी वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में नहीं दे सकता और यह भी सम्भव है कि उन वस्तुओं की उस देश में उपज ही न होती हो।

हां, 'आयात के बदले निर्यात' का सिद्धान्त विस्तृत दृष्टिकोण से सही है। कोई देश केवल एक देश से ही आयात नहीं करता वरन् अनेक देशों से करता है। इसी प्रकार वह केवल एक देश को ही निर्यात नहीं करता वरन् अनेक देशों को करता है। ऐसी स्थिति में वह सब देशों से मिलाकर कुल जितना आयात करता है उतने मूल्य का निर्यात वह कुल देशों को करके अपने कुल आयात का मूल्य निर्यात द्वारा भुगता देता है। कोई भी देश दीर्घ काल तक या स्थायी रूप से अपने निर्यात से अधिक आयात नहीं कर सकता और न वह आयात से अधिक निर्यात ही कर सकता है। अगर एक देश ने किसी देश से कुछ माल आयात किया है तो उतने ही मूल्य का माल अन्य देशों को (यह आवश्यक नहीं है कि उन्हीं देशों को जिनसे आयात किया गया है) निर्यात करना ही पड़ेगा। कहने का अर्थ यह है कि किसी देश के आयात और निर्यात का मूल्य अन्त में जाकर संतुलन में होगा ही। यह आवश्यक नहीं है कि जिस देश से माल आयात किया जाय उसी को निर्यात किया जाय। आयात करनेवाला देश किसी भी देश को निर्यात करके अपने आयात का मूल्य चुका सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि दृश्य-माल के आयात के बदले में दृश्य-माल ही निर्यात किया जाय। दृश्य-माल आयात करके अदृश्य-माल अर्थात् सेवाएं निर्यात करके आयात का मूल्य चुकाया जा सकता है। हो सकता है कि आयात और निर्यात का संतुलन एक सप्ताह में, एक माह में या एक वर्ष में भी पूरा न हो पावे। इसके लिए कोई निश्चित अवधि नहीं होती। हां, अन्त में चलकर आयात के मूल्य का भुगतान निर्यात द्वारा अवश्यमेव हो ही जाता है। अतः सिद्धान्त यह बनता है कि "अन्त में चलकर कुल आयात के मूल्य का भुगतान विदेशों को किए हुए कुल दृश्य तथा अदृश्य निर्यात द्वारा अवश्य चुक जाता है।* भुगतान-संतुलन अनिवार्य रूप से संतुलित हो ही जाता है।†"

मान लीजिए किसी भारतवासी ने इंगलैण्ड से एक मोटरकार खरीदी। कार का मूल्य चुकाने के लिए भारतवासी को रुपये देकर पौण्ड खरीदने पड़ेंगे और तब वह कार का मूल्य इंगलैण्ड के व्यापारी को चुका सकेगा। मान लीजिए कुछ समय के लिए इंगलैण्ड के व्यापारी ने रुपया लेना ही स्वीकार कर

---

* "The money value of exports and imports, both visible and invisible, must ultimately balance."

† "The balance of payments necessarily balances."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिया। परन्तु वह हमारे रुपयों का करेगा क्या ? वह हर समय इस तलाश में रहेगा कि कोई ऐसा अंगरेज मिले जो भारत से माल मंगाकर पौण्ड दे और बदले में रुपये खरीदना चाहे। पौण्ड देकर रुपया खरीदनेवाला वही व्यक्ति होगा जो भारत से माल मंगाएगा । यदि अन्त में चलकर इंगलैण्ड के कार-विक्रेता को ऐसा व्यक्ति मिल गया तो वह रुपये बेचकर पौण्ड ले लेगा । इंगलैण्ड के कार-विक्रेता को कार के बदले में पौण्ड मिल जायंगे और भारत के निर्यातकर्त्ता को रुपये मिल जायंगे। इस प्रकार अन्त में भारत के आयात और निर्यात का मूल्य संतुलित हो जायगा ।

ऐसा भी हो सकता है कि भारतवासी इंगलैण्ड से कार का आयात करे, परन्तु इंगलैण्ड को कुछ भी निर्यात न करके अमरीका को उतने ही मूल्य का माल भेज दे। इंगलैण्ड का व्यापारी अमरीका से माल मंगा ले । इस प्रकार भारत, अमरीका और इंगलैण्ड—तीनों देशों के आयात और निर्यात अलग-अलग बराबर होकर संतुलित हो जायंगे ।

इस विषय में गाइड ने लिखा है कि जिस प्रकार महासागर का ज्वार-भाटा एक ही दिशा में न होकर उतरता-चढ़ता रहता है उसी प्रकार विदेशी व्यापार में भी निर्यात और आयात दोनों ही होते रहते हैं—केवल आयात ही आयात या निर्यात ही निर्यात नहीं होते। जिस प्रकार इञ्जन में लगा हुआ रेग्यूलेटर इञ्जन की चाल को समस्थिति में बनाए रखता है उसी प्रकार लेखे-सन्तुलन में एक ऐसी क्रिया होती है जिसमें दृश्य और अदृश्य आयात-निर्यात द्वारा लेखे संतुलित होते रहते हैं ।

(३) **विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करना**—विदेशी भुगतान चुकाने का तीसरा ढंग है देशी मुद्रा के बदले में उस देश की मुद्रा खरीद कर भुगतान करना। विदेशी मुद्राओं का खरीदना विदेशी विनिमय ड्राफ्टों में निहित होता है और ये ड्राफ्ट विदेशी विनिमय बैंकों से खरीदे जाते हैं। आयात करनेवाला व्यापारी अपने देश में स्थित किसी विनिमय बैंक को अपनी मुद्रा देकर बदले में बैंक से विनिमय ड्राफ्ट खरीद लेता है। वह इस ड्राफ्ट को अपने लेनदार के पास विदेश में भेज देता है। वहां वह व्यापारी इस ड्राफ्ट को दिखाकर उस बैंक की शाखा से अपनी मुद्रा में भुगतान चुक लेता है। इस प्रकार आयात का भुगतान विदेशी मुद्रा में कर दिया जाता है। इस विधि में न सोना भेजने की आवश्यकता होती है और न आयात के बदले में आयातकर्त्ता को माल भेजने की आवश्यकता होती है। आजकल यह विधि बहुत प्रचलित है और प्रायः इसी के अनुसार विदेशी भुगतान चुकाए जाते हैं। इस विधि के अन्तर्गत भुगतान चुकाने के दो मुख्य साधन हैं—(१) विनिमय ड्राफ्ट द्वारा, (२) विनिमय बिल द्वारा। विनिमय ड्राफ्ट का संक्षिप्त वर्णन अभी किया जा चुका है। अब हम विदेशी विनिमय-बिलों की कार्य-प्रणाली की व्याख्या करेंगे ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विदेशी विनिमय-बिलों की कार्य-प्रणाली

विनिमय-विलों का राष्ट्रों के पारस्परिक ऋणों के भुगतान में एक बहुत बड़ा भाग है। विनिमय-विल एक ऐसा शर्तरहित आज्ञापत्र है जिसके द्वारा इसका लेखक किसी दूसरे व्यक्ति को, जिसका नाम इसमें लिखा रहता है, यह आदेश देता है कि वह इसमें लिखे हुए तीसरे व्यक्ति को अथवा उस व्यक्ति के आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को उसके मांगने पर अथवा उस पर लिखी हुई तिथि से निश्चित अवधि के पश्चात् उसमें लिखी हुई राशि भुगतान कर दे। विल दर्शनी अथवा मुद्दती होते हैं। दर्शनी बिल का भुगतान बिल को दिखाते ही करना पड़ता है तथा मुद्दती बिल का भुगतान बिल में लिखी हुई अवधि बीत जाने पर करना होता है। बिल प्रायः इस प्रकार लिखा जाता है:—

नई दिल्ली, १५ जनवरी १९५४

रु० १०,०००

दर्शन-तिथि के साठ दिन के पश्चात् श्री सी० पी० हैनकॉक या उनके आदेशित किसी व्यक्ति को १०,००० रुपये की राशि भुगतान कीजिए। इसका मूल्य प्राप्त हो चुका है।

शरद् गुप्ता

जेम्स एण्ड कम्पनी, लन्दन।

इस बिल में शरद् गुप्ता बिल के लेखक हैं, जेम्स एण्ड कम्पनी पर बिल लिखा गया है अर्थात् ये भुगतान करनेवाले हैं, तथा सी० पी० हैनकॉक को भुगतान मिलनेवाला है। इसकी कार्य-प्रणाली समझने के लिए हमें एक उदाहरण लेना पड़ेगा।

मान लीजिए, भारत के एक व्यापारी रामलाल ने इंगलैण्ड के एक व्यापारी जेम्स से १००० पौण्ड का कुछ माल मंगाया और भारत के दूसरे व्यापारी श्यामलाल ने इंगलैण्ड के दूसरे व्यापारी टेम्स को १३,३३३ रु० अर्थात् १००० पौण्ड का कुछ माल भेजा। इस परिस्थिति में लेन-देन का क्रम इस प्रकार होगा—

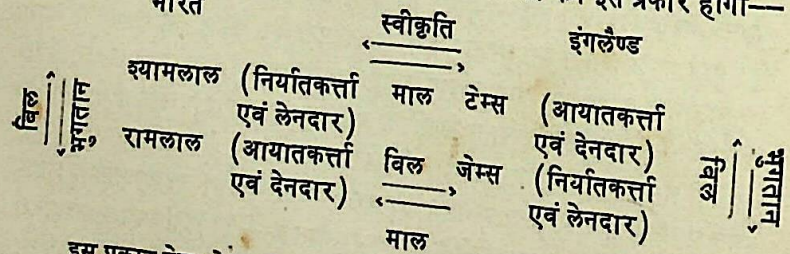

इस प्रकार टेम्स ने श्यामलाल को १००० पौण्ड तथा रामलाल ने जेम्स को १००० पौण्ड देना है। यहां यदि सोने के द्वारा भुगतान किए जायं तो दोनों देन-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दारों को अलग-अलग सोना भेजना पड़ेगा । परन्तु यदि विनिमय-विल से भुगतान किए जायं तो केवल एक ही विल से काम चल जायगा । श्यामलाल टेम्स पर १००० पौण्ड का विल लिखकर टेम्स को भेजेगा—टेम्स उसको स्वीकार करके और उस पर स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर करके श्यामलाल को ही लौटा देगा । भारत में श्यामलाल उस विल को रामलाल को बेचकर १३,३३३ रुपया (१००० पौण्ड) प्राप्त कर लेगा। रामलाल इस विल को जेम्स के पास भेज देगा और जेम्स उसका भुगतान टेम्स से पौण्डों में ले लेगा। इस प्रकार एक विनिमय-विल के द्वारा श्याम-लाल और जेम्स दोनों अपने-अपने देश की मुद्राओं में भुगतान चुक लेंगे ।

इस उदाहरण में हमने दोनों की एक ही राशि (अर्थात् १००० पौण्ड) मान ली है परन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता है। व्यवहार में तो भारत से लाखों रुपये के विल इंगलैण्ड पर लिखे जाते हैं और इंगलैण्ड में भी लाखों पौण्डों के विल भारत के नाम लिखे जाते हैं । यदि किसी देश का पावना उसकी देनदारी से अधिक होता है तो शेष राशि लेनदार देश के नाम से देनदार देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक में जमा रहती है, और फिर भविष्य में इसी प्रकार भुगतान चुकाने के काम में आती रहती है। आजकल सोने का आयात-निर्यात नहीं होता ।

हमने अपने उदाहरण में केवल दो ही देशों का आयात-निर्यात लिया है। किन्तु व्यवहार में तो अनेक देशों के बीच एक साथ लेन-देन होता है। ऐसी परिस्थिति में एक देश की कुल देनदारी और लेनदारी का अन्तर निकाल लिया जाता है। उस अन्तर की राशि से एक देश दूसरे का ऋणी रहता है और भविष्य में आयात-निर्यात द्वारा यह ऋण चुक जाता है ।

विनिमय-विल द्वारा भुगतान लेने-देने की एक विधि और है । मान लीजिए, रामलाल ने जेम्स का आदेश पाकर २०,००० रुपये के मूल्य का माल इंगलैण्ड को निर्यात किया। ऐसी परिस्थिति में रामलाल माल का बीमा आदि कराके जहाज में रवाना कर देगा और बदले में जहाज के मालिक से जहाजी रसीद प्राप्त कर लेगा। रामलाल इतना करने के पश्चात् जेम्स पर एक विल लिखेगा। विल दो प्रकार का लिखा जा सकता है—(१) भुगतान-विल D/P, (२) स्वीकृति-विल D/A । इस विल के साथ रामलाल बीमा-रसीद तथा जहाजी रसीद को लगा कर किसी विनिमय-बैंक को दे देगा। वह बैंक उस लेख-बिल (Documentary Bill) को लन्दन में अपनी शाखा के पास भेज देगा। बैंक की यह शाखा उस विल को जेम्स के पास भेजेगी। यदि विल स्वीकृति-विल हुआ तो जेम्स उसे देखकर अपनी स्वीकृति देगा और तब जहाजी रसीद आदि कागजात उसे मिल जायेंगे जिनको दिखाकर वह जहाजी कम्पनी से माल छुड़ा लेगा। बिल की अवधि समाप्त होने पर जेम्स बैंक को विल का भुगतान कर देगा। तभी भारत-स्थित बैंक भारत में रामलाल को भुगतान दे देगी। यदि विल भुगतान-विल हुआ तो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जेम्स को बिल देखते ही भुगतान करना होगा और तभी उसे जहाजी रसीद आदि पत्र मिलेंगे। भुगतान करते ही भारत-स्थित बैंक भी रामलाल को भुगतान दे देगी। इस विधि में भुगतान लेन-देन का सारा काम बैंक के द्वारा होगा।

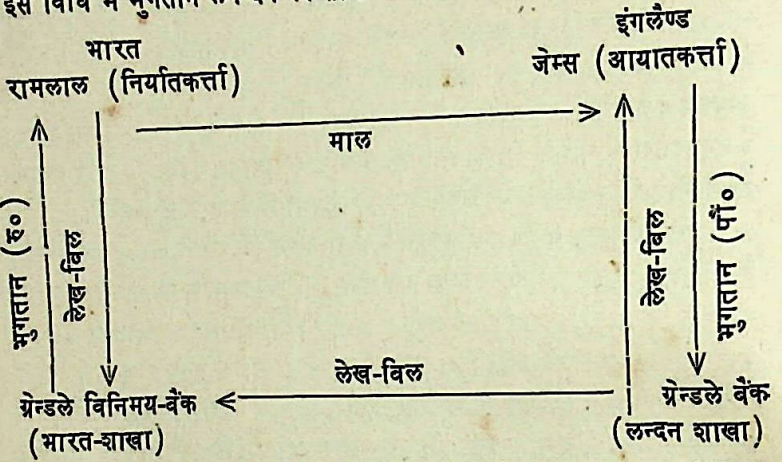

इस प्रकार हमने देखा कि बड़ी-बड़ी राशि के भुगतान विनिमय-बैंकों की सहायता से विनिमय-बिलों के द्वारा चुक जाते हैं। इनकी सहायता से भुगतान करने में न तो एक देश का सोना-चांदी दूसरे देश में भेजना पड़ता है और न व्यापारियों को भुगतान लेने के लिए इधर-उधर आने-जाने की ही आवश्यकता होती है। घर बैठे अपनी मुद्रा में भुगतान कर दिया जाता है और घर बैठे अपनी मुद्रा में भुगतान मिल जाता है। विदेशों में भुगतान भेजने की आवश्यकता नहीं होती, केवल अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बदलने की आवश्यकता होती है। लोग प्रायः समझते हैं कि विनिमय-बिल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेने-देने के सुगम साधन हैं परन्तु एक मुद्राशास्त्री का तो कहना है कि "विनिमय-बिलों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सुगम तो क्या अनावश्यक ही हो जाते हैं।"*

विनिमय-दर

विनिमय-दर दो देशों की मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय का अनपात है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से बदली जाती है। दूसरे शब्दों में विनिमय-दर वह अर्घ है जिस पर विदेशी मुद्रा का देशी मुद्रा के साथ क्रय-विक्रय

---

* "Bills of Exchange are not so much a means of making international payments as of rendering international payments unnecessary."

Crowther: Outline of Money, p. 208.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता है। ईशर नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "जिस अनुपात में एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के साथ व्यक्त की जावे उसे 'विनिमय-दर' कहते हैं।"* भारतीय रुपये और इंगलैण्ड के पौण्ड का पारस्परिक विनिमय-अनुपात १ रुपया = १ शि० ६ प० है, तो हम कहेंगे कि इंगलैण्ड की मुद्रा में रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० है। इसी प्रकार अमरीका की मुद्रा के साथ हमारे रुपये की विनिमय-दर २१ सेंट है। सामान्यतः विनिमय-दर दो प्रकार से व्यक्त की जाती है —

(१) देशी मुद्रा की इकाइयों में, जैसे—१ पौण्ड = १३ रु० ५ आ० ४ पा०

(२) विदेशी मुद्रा की इकाइयों में, जैसे—१ रु० = १ शि० ६ पें०

१ पौण्ड = २·८० डालर

विनिमय-दर विदेशी विनिमय-बिलों की मांग और प्रदाय पर निर्भर होती है। यदि किसी समय विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय समानता में हो तो विनिमय-दर में समता होगी। यदि कभी विदेशी बिलों की मांग अधिक हो और प्रदाय कम तो विनिमय-दर बढ़ेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए पहिले की अपेक्षा अधिक देशी मुद्राएं देनी पड़ेंगी। इसी प्रकार यदि विदेशी बिलों की प्रदाय अधिक हो और मांग कम तो विनिमय-दर गिरेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए पहिले की अपेक्षा कम देशी मुद्राएं देनी पड़ेंगी। विदेशी बिलों की मांग करनेवाले वे व्यक्ति होते हैं जो विदेशों से माल आयात करना चाहते हों, विदेशी सेवाओं का भुगतान करना चाहते हों अथवा विदेशों में अपनी पूंजी भेजना चाहते हों। इसी प्रकार विदेशी बिलों की प्रदाय करनेवाले वे लोग होते हैं जो विदेशी मुद्रा को किसी न किसी कारण से प्राप्त करना चाहते हों। मांग और प्रदाय के अनुसार विनिमय-दर अपनी समता से घटती-बढ़ती रहती है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे ढंग हैं जिनके द्वारा विनिमय-दर निश्चित की जाती है।

विनिमय-दर निश्चित करने के ढंग

भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा-पद्धतियां मानी जाती हैं। इन्हीं मुद्रा-पद्धतियों के अनुसार विनिमय-दर भी भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है :—

(१) **जब दोनों देश स्वर्ण-प्रमाप को मानते हैं**—जब दो देश स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को मानते हों और उन देशों की प्रामाणिक मुद्राएं सोने की हों तो उनकी विनिमय-दर उन मुद्राओं में लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा के आधार पर

---

* "Foreign Exchange Rate is the price of the money of one country expressed in the money of the other."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निश्चित की जाती है। दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में लगे हुए सोने की वैधानिक मात्रा की तुलना करके उनकी पारस्परिक विनिमय-दर निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार जो दर निश्चित की जाती है उसे 'विनिमय की टंक-समता' (Mint Par of Exchange or Mint Parity) कहते हैं और इस विधि को 'टंक-समता का सिद्धान्त' (Mint Par Theory of Exchange) कहते हैं। टंक-समता दो स्वर्ण-प्रमापी देशों की प्रामाणिक मुद्राओं के पारस्परिक मल्य का एक सैद्धान्तिक माप है। टंक-समता दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में लगे हुए सोने की वैधानिक मात्रा के अनपात में विधान से निश्चित की जाती है। इसलिए यदि उन प्रामाणिक मुद्राओं के सोने की मात्रा में या सोने के गुण में समय के साथ-साथ स्वयं ही कोई घटा-बढ़ी हो तो टंक-समता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि जैसा कि अभी बताया गया है टंक-समता तो मुद्राओं में लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा के आधार पर निश्चित होती है। टंक-समता में कोई फेर-बदल केवल विधान के द्वारा ही हो सकती है। चाहे उन दोनों स्वर्ण-प्रमापी देशों में सोने की मुद्राएँ न मिलें और चाहे सोने का आयात-निर्यात भी न होता हो परन्तु यदि उनके टंकण नियमों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया है तो टंक-समता में कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि यह तो विधान द्वारा ही निश्चित होती है। टॉमस नामक मुद्राशास्त्री का कथन है कि "एक ही धातु-पद्धति को माननेवाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में विधान के द्वारा निश्चित करके लगाई हुई धातु की वैधानिक मात्रा और शुद्धता की तुलना द्वारा जो वास्तविक अनपात मिले उसे टंक-समता कहते हैं।" दूसरे शब्दों में, "टंक-समता वह अनुपात है जो एक ही धातु-पद्धति को माननेवाले देशों की प्रामाणिक मुद्राओं की वैधानिक धातु-मात्रा की तुलना करने से व्यक्त हो।"* कुछ मुद्राशास्त्रियों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि टंक-समता प्रामाणिक सिक्के या उसमें लगे हुए वास्तविक सोने पर निर्भर नहीं होती अपितु उस सिक्के की वैधानिक व्याख्या पर अर्थात् सिक्के की

* "The exact equivalent of the standard coin of one country expressed in terms of the standard coin of another country having the same metallic standard—the equivalent being determined by a comparison of the quantity and fineness of the metal contained in two standard coins as fixed by law" or "The mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard."

—*Thomas*: Principles and Arithmetic of Foreign Exchange.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वैधानिकता पर निर्भर होती है। जब तक विधान में ही कोई परिवर्तन न किया जाय तब तक टंक-समता में भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।*

जब दो देश रजत-प्रमाप पद्धति को मानते हों तो भी टंक-समता इसी प्रकार निर्धारित की जायगी।

(२) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप तथा दूसरा देश रजत-प्रमाप को मानता हो—जब एक देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की हो तथा दूसरे देश की प्रामाणिक मुद्रा चांदी की हो तो उस परिस्थिति में यह मालूम किया जायगा कि दोनों देशों की मुद्राओं में कितना शुद्ध सोना अथवा चांदी है। चांदी का स्वर्ण-मूल्य ज्ञात कर लिया जायगा (यह मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है)। इसके पश्चात् दोनों मुद्राओं का जो स्वर्ण-मूल्य हुआ उसकी तुलना करके अनुपात स्थापित किया जायगा। दोनों मुद्राओं का जो स्वर्ण-अनुपात होगा वही इन दोनों मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय टंक-समता की दर होगी। गत शताब्दी के अन्त तक भारत और इंगलैण्ड की विनिमय-दर इसी प्रकार निर्धारित की गई थी। १८३५ के एक्ट के अनुसार भारतीय रुपये में (जो १८० ग्रेन्स की तौल का था) १६५ ग्रेन्स शुद्ध चांदी थी—इसका स्वर्ण-मूल्य उस समय ७·५३३४४ ग्रॅम्स था। इंगलैण्ड के प्रामाणिक सिक्के में ११३·००१६ ग्रॅम्स सोना था। अतः इंगलैण्ड का १ पौण्ड ११३·००१६÷७·५३३४४ अर्थात् १५ रुपये के बराबर था। उस समय भारत और इंगलैण्ड की विनिमय-दर १ रु०=१ शि० ४ पेंस अथवा १ पौण्ड=१५ रुपये के बराबर थी।

(३) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप तथा दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप मानता हो—जब एक देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की तथा दूसरे देश की प्रामाणिक मुद्रा कागज की हो तो उनकी विनिमय-दर की समता इस बात पर निर्भर करती है कि दोनों देशों की मुद्राएं कितना सोना खरीद सकती हैं। जो देश स्वर्ण-प्रमाप पर होता है उसकी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य तो निश्चित होता ही है किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य और ज्ञात कर लिया जाता है (यह मूल्य स्वर्ण-मण्डी से ज्ञात हो सकता है)। इन दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्यों का अनुपात ज्ञात कर लिया जाता है और यही अनुपात इन मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय-दर की समता होती है।

(४) जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को मानते हों—

---

* "The mint par depends in short not on the coin itself but on the legal definition of it, not on the sovereign *de facto* but on the sovereign *de jure*..unless and until the law is altered the mint par cannot alter."

—*Clare and Crump*: A.B.C. of Foreign Exchange.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पद्धति को माननेवाले हों तो उनकी विनिमय-दर विदेशी विनिमय-बिलों की मांग एवं प्रदाय पर निर्भर होती है। किन्तु फिर भी यह दर निश्चित करना कठिन होता है क्योंकि ये पत्र-मुद्राएं किसी भी अन्य धातु से सम्बन्धित नहीं होतीं तथा उन देशों में मुद्रा-स्फीति के कारण तथा अन्य आर्थिक कारणों से मुद्रा की क्रय-शक्ति बदलती रहती है। ऐसी स्थिति में एक देश की मुद्रा के मूल्य की दूसरे देश की मुद्रा के मूल्य के साथ तुलना करने के लिए दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्ति का उपयोग किया जाता है अर्थात् अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित देशों की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि भारत में १ रुपया देकर हम 'अ' वस्तुएं खरीद सकते हैं तथा इतनी ही वस्तुएं खरीदने के लिए इंगलैण्ड में १ शि० ६ पें० देने पड़ते हैं। अतः इस परिस्थिति में भारत और इंगलैण्ड के बीच की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ रुपया = १ शि० ६ पें० होगी। इस प्रकार से विनिमय-दर निश्चित करने की विधि को 'क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त' कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया जायगा।

स्वर्ण-बिन्दु
(Gold Points)

जब दो देश स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को माननेवाले हों तो उन देशों में सोने का आयात-निर्यात सिद्धान्ततः स्वतंत्र होता है। दोनों देशों के व्यापारी एक देश से माल मंगाकर उसका भुगतान सोना भेजकर चुका सकते हैं। ऐसी स्थिति में इन देशों की विनिमय-दर सामान्यतः टंक-समदर के लगभग आसपास ही रहती है। टंक-समदर इन देशों में चलनेवाली प्रामाणिक मुद्राओं में लगी हुई सोने की वैधानिक मात्रा की तुलना करके विधान द्वारा निश्चित होती है परन्तु सोने के आयात-निर्यात की स्वतंत्रता होते हुए भी व्यापारी लोग अपनी-अपनी देनदारी का भुगतान प्रायः विदेशी विनिमय-बिलों द्वारा ही चुकाना पसन्द करते हैं। विदेशी बिल विनिमय-मण्डी में विदेशी विनिमय-बैंकों से खरीदे जा सकते हैं। व्यवहार में विदेशी बिलों के क्रय-विक्रय करने की दर टंक-समदर के ठीक बराबर कभी नहीं होती, वरन् टंक-समदर के आस-पास दो निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत घटती-बढ़ती रहती है। इन दोनों सीमाओं को ही 'स्वर्ण-बिन्दु' कहते हैं। ये सीमाएं, एक देश से दूसरे देश में सोना भेजने में जो व्यय होता है, उसको टंक-समदर में जोड़कर व घटाकर ज्ञात की जाती हैं। टंक-समदर में व्यय जोड़ने से 'उच्च-स्वर्ण-बिन्दु' (Upper Gold Point or Upper Specie Point) तथा टंक-समदर में से व्यय घटाकर 'निम्न-स्वर्ण-बिन्दु' (Lower Gold

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Point or Lower Specie Point) ज्ञात होता है। इन विन्दुओं को क्रमशः 'स्वर्ण-निर्यात-विन्दु' (Gold Export Point) तथा 'स्वर्ण-आयात-विन्दु' (Gold Import Point) भी कहते हैं।

यह वताया जा चुका है कि विदेशी विलों की मांग एवं प्रदाय के अनुसार मण्डी में विलों का मूल्य टंक-समदर से घटता तथा वढ़ता रहता है। यह घटत-वढ़त स्वर्ण-विन्दुओं के अन्तर्गत ही सीमित रहती है। किसी भी समय टंक-समदर में सोना भेजने का व्यय जोड़कर विलों का उच्चतम मूल्य अर्थात् 'स्वर्ण-निर्यात-विन्दु' ज्ञात हो सकता है। इसी प्रकार टंक-समदर में से सोना भेजने का व्यय घटा-कर विलों का निम्नतम मूल्य अर्थात् 'स्वर्ण-आयात विन्दु' ज्ञात हो सकता है। विलों के उतार-चढ़ाव की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं सोना भेजने में जो खर्च होता है, उस पर निर्भर रहती हैं।

मान लो, भारत और इंगलैण्ड दोनों स्वर्ण-प्रमाप को मानते हैं और दोनों के बीच टंक-समदर १ रुपया=१·५ शि० है एवं सोना भेजने या मंगाने में ·३ शि० व्यय होते हैं। जव भारतीय रुपये में दर वढ़ेगी तो यह दर अधिक से अधिक प्रति रुपया १·८ (१·५+·३) शि० हो सकती है क्योंकि यदि दर इससे अधिक वढ़ेगी तो इंगलैण्ड के व्यापारियों को विलों के द्वारा भुगतान करने की अपेक्षा सोना भेजना सस्ता पड़ेगा। किसी भी समय भारत और इंगलैण्ड के बीच की दर १ रु०=१·८ शि० से अधिक नहीं चढ़ सकती। इस उच्चतम सीमा को स्वर्ण-निर्यात-विन्दु कहेंगे। इंगलैण्ड की दृष्टि से यह स्वर्ण-निर्यात-विन्दु है क्योंकि इससे अधिक दर वढ़ने पर इंगलैण्ड से सोने का निर्यात होने लगेगा। भारत की दृष्टि से यह स्वर्ण-आयात-विन्दु होगा क्योंकि इससे अधिक दर वढ़ने पर भारत में सोना आना आरम्भ होगा।

यदि किसी समय इंगलैण्ड के विलों के लिए प्रदाय की अपेक्षा मांग कम हो तो दर गिरने लगेगी। ऐसी स्थिति में दर गिरने की निम्नतम सीमा टंक-समदर में से स्वर्ण-आयात-व्यय घटाकर ज्ञात हो सकेगी। यदि सोना भेजने में ·३ शि० व्यय हो तो इंगलैण्ड के व्यापारी अपने विलों की दर (१·५–·३) १·२ शि० प्रति रुपये से नीचे नहीं उतरने देंगे और यदि ऐसा हुआ तो वे विलों में भुगतान लेने की अपेक्षा सोने में ही अपना भुगतान लेंगे। इस सीमा को स्वर्ण-आयात-विन्दु कहेंगे। भारत की दृष्टि से यह स्वर्ण-निर्यात-विन्दु होगा क्योंकि इससे नीची विनिमय-दर होने पर भारतीय व्यापारियों को सोना भेजना ही लाभदायक रहेगा।

स्वर्ण-निर्यात-विन्दु एवं स्वर्ण-आयात-विन्दु स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं हैं। सामान्यतः विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव इन मर्यादाओं से सीमित रहता है। किन्तु असाधारण परि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति में जब आयात-निर्यात के लिए सोना पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता तो उस समय विनिमय-दर इन सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाती है। यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये स्वर्ण-बिन्दु स्थायी नहीं होते वरन् परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि सोने को भेजने-मंगाने का व्यय, जैसे वाहन-व्यय, बीमा-व्यय आदि समय-समय पर बदलते रहते हैं।

स्वर्ण-बिन्दु निकालने के सिद्धान्त—स्वर्ण-बिन्दु निकालने के लिए निम्न सिद्धान्तों का प्रयोग उपयोगी हो सकता है :—

(१) टंक-समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़कर स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु निकालना तथा टंक-समदर में से स्वर्ण-वाहन-व्यय घटाकर स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालना।

(२) जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर में से स्वर्ण-वाहन-व्यय घटाना चाहिए तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर में वाहन-व्यय जोड़ना चाहिए। उदाहरणार्थ—यदि भारतीय रुपये की दर इंगलैण्ड की मुद्रा १·५ शि० के बराबर व्यक्त की जाय तो भारत की दृष्टि से स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु (१·५−·३) = १·२ शि० होगा तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु (१·५ + ·३) = १·८ शि० होगा।

(३) जब विनिमय-दर देशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु निकालने के लिए टंक-समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़ना चाहिए तथा स्वर्ण-आयात-बिन्दु निकालने के लिए व्यय घटाना चाहिए।

(४) अपने देश में सोना खरीदकर विदेश में बेचने से जो दर आए वह स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु होगा और विदेश म सोना खरीदकर अपन देश म बेचने से जो दर आए वह स्वर्ण-आयात-बिन्दु समझना चाहिए।*

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त*

(Purchasing Power Parity Theory)

यह बताया जा चुका है कि स्वर्ण-प्रमाप को माननेवाले देशों की विनिमय-दर उन देशों में चलनेवाली स्वर्ण-मुद्राओं में लगे हुए सोने की मात्रा के अनुपात से निश्चित होती है और इस विनिमय-दर में होनेवाले उतार-चढ़ाव स्वर्ण-बिन्दुओं द्वारा सीमित रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि अगर कुछ देश स्वर्ण-प्रमाप

* "The export specie point from a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold at home and selling abroad while the import specie point to a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold abroad and selling at home".

Thomas: Principles & Arithmetic of Foreign Exchange.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को न मानकर अपरिवर्तनीय-पत्र-मुद्रा प्रमाप को मानें तो उनकी विनिमय-दर किस प्रकार निश्चित होगी ? इसके लिए स्वीडन के एक विख्यात अर्थशास्त्री गॅस्टव केसल ने एक सिद्धान्त की खोज की जिसे 'क्रय-शक्ति-समता' का सिद्धान्त कहते हैं। प्रो० केसल का कथन है कि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को मानने-वाले देशों की पत्र-मुद्राओं का सम्बन्ध किसी धातु से न होने के कारण उनकी विनिमय-दर स्वर्ण-प्रमापी देशों की भांति स्थापित नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में एक देश की मुद्राओं की दूसरे देश की मुद्राओं के साथ तुलना करने के लिए विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति का उपयोग करना चाहिए अर्थात् अपरि-वर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप को माननेवाले देशों की विनिमय-दर क्रय-शक्ति-समता पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए, भारत और इंगलैण्ड दोनों अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमाप पर आधारित हैं। भारत में १ रुपया देकर हम 'क' वस्तुएं खरीद सकते हैं और इतनी वस्तुएं खरीदने के लिए इंगलैण्ड में हमें १८ पेंस देने पड़ते हैं। अतः इस परिस्थिति में भारत और इंगलैण्ड के बीच की विनिमय-दर क्रय-शक्ति-समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ रु० = १८ पें० होगी। इस प्रकार दर निर्धारित करन की विधि को क्रय-शक्ति समता का सिद्धान्त कहते हैं। कोल नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि जो देश स्वण-प्रमाप पद्धति को नहीं मानते उनकी विनिमय-दर दीर्घ-काल में, उनकी मुद्राओं की क्रय-शक्ति द्वारा निश्चित होती है। इस विनिमय-दर में यद्यपि उतार-चढ़ाव होते रहते हैं परन्तु इसकी प्रवृत्ति उसी विन्दु पर स्थिर होने की होती है जहां दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समान हो—इस विन्दु को क्रय-शक्ति-समता कहते हैं। कहने का अर्थ यह है कि दो देशों में जब धातु-मुद्रा की जगह अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रयोग होता हो तो उस समय विनिमय-दर टंक-समता से निश्चित न होकर क्रय-शक्ति-समता से निर्धारित होती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर से जानी जाती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पद्धति में मुद्रा-प्रसार का अधिक और निरन्तर भय रहता है जिससे मूल्य-स्तर बदलते रहते हैं। मूल्य-स्तर में होनेवाले उतार-चढ़ावों को निर्देशांकों द्वारा मापा जा सकता है। इन निर्देशांकों की सहायता से ही हम विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति जान सकते हैं। जैसे-जैसे मूल्य-स्तर में परिवर्तन होते जाते हैं अर्थात् विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति बदलती जाती है वैसे ही वैसे मुद्राओं की विनिमय-दर में भी फेर-बदल होती रहती है क्योंकि विनिमय-दर क्रय-शक्ति पर निर्भर होती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी :—

मान लो, भारत और इंगलैण्ड दोनों अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित हैं। दोनों में वस्तुओं का आयात-निर्यात स्वतंत्र है तथा विनिमय-क्रियाओं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । भारत में १ रुपया 'क' वस्तुएं खरीदता है और इतनी ही वस्तुएं इंगलैण्ड में १८ पें० में मिलती हैं। अतः दोनों के मूल्य-स्तर १ रु०=१८ पें० की विनिमय-दर पर समता में हैं । मान लो, इस मूल्य-स्तर पर दोनों देशों के निर्देशांक अलग-अलग १०० के बराबर हैं। अगर इंगलैण्ड में मुद्रा-प्रसार होने के कारण वहां के मूल्य-स्तर बढ़ जायं और वहां का निर्देशांक १०० से बढ़कर १५० हो जाय तो विनिमय-दर बदल जायगी—दर इस प्रकार होगी—

$$\frac{१८ \text{ पें०} \times १५०}{१००} = २७ \text{ पें०}$$

अब १ रु० २७ पें० के बराबर होगा क्योंकि इंगलैण्ड में मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो गई है । यदि किसी समय भारत के मूल्य-स्तर बढ़ जायं और यहां का निर्देशांक २०० हो जाय तथा इंगलैण्ड का १५० ही रहे तो दर इस प्रकार होगी—

$$\frac{१८ \text{ पें०} \times १५०}{२००} = १३\frac{१}{२} \text{ पें०}$$

अब १ रुपया १३½ पें० के बराबर होगा क्योंकि भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति इंगलैण्ड की मुद्रा की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक कम हो गई है । २७ पें० दर भारत के पक्ष में कही जायगी तथा १३½ पें० दर इंगलैण्ड के पक्ष में होगी ।

इस प्रकार क्रय-शक्ति-समता के आधार पर विनिमय-दर ज्ञात करने की विधि यह है—"जब अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रमापी दो देशों में मुद्रा-प्रसार के कारण मूल्य-स्तर बढ़ रहे हों और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो रही हो तो क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त पर विनिमय-दर निकालने के लिए पुरानी विनिमय-दर को दोनों देशों की मुद्रा-स्फीति के अनुपात से गुणा करना चाहिए ।"*

प्रो० केसल का कथन है कि क्रय-शक्ति-समता के आधार पर जो विनिमय-दर निश्चित होती है उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं और कभी-कभी संक्रान्ति-काल में तो ये परिवर्तन बड़े भारी-भारी होते हैं परन्तु क्रय-शक्ति के आधार पर निकाली हुई दर सच्ची और वास्तविक होती है। प्रो० केसल ने इस सिद्धान्त की खोज प्रथम महायुद्ध के पश्चात् की थी । बात यह थी कि युद्ध-काल में अनेक देशों में भयंकर मुद्रा-स्फीति हुई जिसके परिणामस्वरूप वहां के मूल्य-स्तर बहुत

* "When two currencies in two countries have been inflated the new normal rate of exchange will be equal to the old rate multiplied by the quotient between the degrees of inflation of both countries."

—*Gustav Cassel.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बढ़ गए। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में लगभग सभी देशों ने धातु-प्रमाप तोड़ कर पत्र-मुद्रा-प्रमाप अपना लिया और असंख्य मात्रा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राएं चलाईं। अतः युद्ध-काल में लगभग सभी देशों की विनिमय-दरों में उथल-पुथल मच गई। युद्ध के पश्चात् विनिमय-दर निर्धारित करने की एक बड़ी भारी समस्या संसार के सामने थी। इस समस्या को दूर करने के लिए प्रोफेसर साहब ने इस सिद्धान्त की शोध की और संसार के राष्ट्रों को समझाया कि उन्हें अपने-अपने मूल्य-स्तरों अर्थात् मुद्राओं की क्रय-शक्ति की समता के आधार पर नई विनिमय-दरें स्थापित कर लेनी चाहिएं। विनिमय-दर निश्चित करने का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सिद्ध हुआ।

सिद्धान्त की आलोचना—इस सिद्धान्त के विषय में भिन्न-भिन्न मुद्रा-शास्त्रियों के प्रकार-प्रकार के मत हैं। कुछ लोगों ने इसकी कड़ी आलोचना की है जो इस प्रकार है:—

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार क्रय-शक्ति-समता निर्देशांकों द्वारा ज्ञात की जाती है जो सर्वथा ठीक नहीं होती। निर्देशांक केवल औसत का अनुपात ही बतलाते हैं। ऐसे निर्देशांक प्रायः अपूर्ण और अशुद्ध होते हैं। अतः इनके द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही-सही ज्ञान नहीं हो सकता।

(२) निर्देशांक बनाते समय केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं को ही सम्मिलित किया जाता है तथा भिन्न-भिन्न देशों में ये अंक भिन्न-भिन्न प्रकार से बनाए जाते हैं। अतः क्रय-शक्ति ज्ञात करने के लिए ये विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। कभी-कभी निर्देशांक बनाते समय ऐसी वस्तुओं को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई महत्त्व नहीं होता। अतः ऐसे निर्देशांक विनिमय-दर निर्धारित करने में विश्वसनीय नहीं रहते और न उनके द्वारा वास्तविक दर ही निर्धारित की जा सकती है।

(३) निर्देशांक बनाने में जिन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है वे वस्तुएं प्रायः कच्चा माल और खाद्यान्न होती हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पक्के माल का भी समावेश होता है। इससे क्रय-शक्ति ठीक-ठीक नहीं मापी जा सकती। दूसरे, पक्के माल के मूल्य केवल कच्चे माल के मूल्य पर ही निर्भर नहीं होते वरन् मजदूरी तथा ब्याज पर भी निर्भर रहते हैं और मजदूरी तथा ब्याज के घटने-बढ़ने के कोई ५-६ माह बाद पक्के माल के मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। इससे निर्देशांक बनाने में काफी समय का फेर पड़ जाता है। इसी प्रकार वस्तुओं के मूल्यों की गति म तथा निर्देशांक बनाने में कुछ समय का अन्तर रहता है जिसके कारण इस सिद्धान्त के द्वारा वास्तविक क्रय-शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता।

(४) निर्देशांक समय-समय पर बदलते रहते हैं। अतः उनके द्वारा निकाली हुई क्रय-शक्ति-समता भी स्थिर नहीं रहती वरन् बदलती रहती है। दूसरे,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

टंक-समदर की भांति इस सिद्धान्त में विनिमय-दर का समायोजन स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं है।

(५) इस सिद्धान्त में 'मूल्य-स्तर' पर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु वास्तविक मूल्य-स्तर का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। मूल्य-स्तर केवल आन्तरिक मांग और पूर्ति के कारण ही नहीं बदलते अपितु राजनैतिक परिस्थिति तथा व्यापार के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्धों के कारण भी बदलते हैं। अतः मूल्य-स्तर का वास्तविक ज्ञान होना कठिन है। कभी कभी ऐसा होता है कि विनिमय-दर बदल जाती है परन्तु आन्तरिक मूल्य-स्तर में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार कभी कभी आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर विनिमय-दर को स्थायी बनाया जाता है। इस कारण इस सिद्धान्त के लिए वास्तविक क्रय-शक्ति का पता लगाना सम्भव नहीं है।

(६) कुछ लोगों का आरोप है कि यह सिद्धान्त 'संक्राति-काल' में होनेवाले विनिमय-दर के उतार-चढ़ावों के कारणों का ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता और न ऐसे समय में क्रय-शक्ति-समता ही जानने में उपयोगी हो सकता है। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त केवल दीर्घकालीन अवधि में क्रय-शक्ति-समता जानने की एक साधारण विधि है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी इस सिद्धान्त की उपयोगिता भुलाई नहीं जा सकती। दीर्घकाल में विनिमय-दर स्थापित करने का यह एक सुगम साधन है।

सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व—यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो सब प्रकार की चलन पद्धतियों में, सब प्रकार की मौद्रिक प्रणालियों में तथा सब प्रकार की विनिमय-परिस्थितियों में लागू हो सकता है। यही एक ऐसा सिद्धान्त है जो स्वर्ण-प्रमाप पर आधारित मुद्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त कर सकता है तथा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं के असाधारण प्रसार के कारण अवमूल्यित मुद्राओं का सम्बन्ध भी व्यक्त कर सकता है। व्यापार का रुख किस समय किस दिशा में होगा यह बात इस सिद्धान्त के द्वारा मालूम हो सकती है। संसार में मुद्राओं के अवमूल्यन तथा बहुमूल्यन से विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव हो रहा है—इसको हम इस सिद्धान्त द्वारा जान सकते हैं। यह सिद्धान्त संसार के देशों में पारस्परिक व्यापाराधिक्य जानने की एक विधि है। एक प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री का कहना है कि इस सिद्धान्त का ज्ञान तीन दृष्टियों से बहुत अनिवार्य है :—

(१) दीर्घकाल में क्रय-शक्ति-समता के अनुसार विनिमय-दर जानने के लिए;

(२) आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तरों में स्थिरता लाने की योजना बनाने के लिए;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) विभिन्न देशों का पारस्परिक ऋण-शेष जानने के लिए एवं ऋण-शेष का विनिमय-दर पर प्रभाव जानने के लिए।

टॉमस लिखता है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के अनेक राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुद्राओं को किस प्रकार संगठित किया इसका आधार जानने के लिए क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में सिद्धान्त का प्रयोग—भारतीय मुद्रा का इतिहास अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि हमारे देश में इस सिद्धान्त के आधार पर कई अवसरों पर रुपये की विनिमय-दर निर्धारित की गई। आज हमारे आलोचक चाहे इस बात से सहमत न हों परन्तु हम यह कह सकते हैं कि बेविंग्टन स्मिथ कमेटी एवं हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये की विनिमय-दर निश्चित करते समय क्रय-शक्ति-समता का सहारा अवश्य लिया था। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने से पहिले रुपये की विनिमय-दर १ रु० = १६ पेंस थी। इस दर पर उस समय दोनों देशों के मूल्य-स्तर समता में थे, युद्धकाल में दोनों देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की संख्या बढ़ाई गई जिसके फलस्वरूप दोनों ही देशों के मूल्य-स्तर बढ़ गए। परन्तु भारत का मूल्य-स्तर उतना नहीं बढ़ा जितना इंगलैण्ड का बढ़ गया था। इंगलैण्ड के मूल्य-निर्देशांक १९१९ में १९१४ की अपेक्षा १०० से बढ़कर २२६ हो गए जब कि भारत के मूल्य-निर्देशांक इसी काल में १०० बढ़कर १७८ ही हुए थे। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार नई विनिमय-दर २०·३ पेंस होती थी—

$$\frac{१६ \text{ पें०} \times २२६}{१७८} = २०·३ \text{ पें०}$$

१९२० में जब हमारे देश में बेविंग्टन स्मिथ कमेटी ने देश की मुद्रा-पद्धति तथा विनिमय-परिस्थिति का अध्ययन किया तो उन्होंने देश के लिए २ शि० (स्वर्ग) की दर निर्धारित की थी। यद्यपि यह दर बहुत ऊंची और असाधारण थी परन्तु फिर भी कमेटी ने कहा था कि भारत के मूल्य-स्तर अन्य देशों के मूल्य-स्तरों की अपेक्षा नीचे होने के कारण ऊंची विनिमय-दर ही उपयुक्त होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि कमेटी ने भारत और अन्य देशों के मूल्य-स्तरों को ध्यान में रखकर दर निर्धारित की थी। इसी प्रकार १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने १८ पें० की दर निर्धारित करते समय कहा था कि "भारत के मूल्य-स्तर इसी दर पर संसार के मूल्य-स्तरों की तुलना में स्थायी बन चुके हैं।" कमीशन के इन शब्दों से जान पड़ता है कि कमीशन ने दर निश्चित करते समय मूल्य-स्तरों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन कर लिया था। इस प्रकार क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त ने अनेक अवसरों पर हमारी मौद्रिक और विनिमय सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में उपयोगी योग दिया है। इस सिद्धान्त का महत्त्व किसी भी प्रकार आलोचना की आंधी में छुपाया नहीं जा सकता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-दर की 'ऊंच-नीच'—जब अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में व्यक्त किया जाय और विदेशी मुद्राओं का अपमूल्यन हो जाय अर्थात् अपनी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अब अधिक मात्रा में विदेशी मुद्रा मिलने लगे तो कहेंगे कि विनिमय-दर ऊंची हो गई है। जब विदेशी मुद्रा का मूल्य हमारी मुद्रा में व्यक्त किया जाय और हमारी मुद्रा का अपमूल्यन होकर विदेशी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अधिक दी जाय तो भी कहेंगे कि दर 'ऊंची' है। जैसे, १ रुपये के बदले में १९ मार्क* की जगह अब २० मार्क मिलने लगें या १ येन† के बदले में १० आने की जगह ११ आने दिए जायं तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'ऊंची' समझी जायगी।

इसके विपरीत यदि हमारी मुद्रा के अनुपात में विदेशी मुद्राओं का अधिमूल्यन होकर पहिले की अपेक्षा कम मिलने लगें अथवा हमारी मुद्रा का अधिमूल्यन होने के कारण विदेशी मुद्रा के बदले में कम दी जायं तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'नीची' समझी जायगी। जैसे, १ रुपये के बदले में १९ मार्क की जगह १८ मार्क मिलने लगें या १ येन के बदले में १० आने के स्थान पर ९ आने दिए जायं तो दोनों ही परिस्थितियों में दर 'नीची' समझी जायगी।

कभी-कभी 'ऊंच' और 'नीच' शब्द दर के लिए प्रयोग में न आकर मुद्रा के विनिमय-मूल्य के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं जैसे, पौण्ड का मूल्य 'ऊंचा' हो गया, रुपये का मूल्य 'नीचा' गिर गया आदि। ऐसी परिस्थिति में इन शब्दों का अर्थ बिलकुल भिन्न होता है। यदि १ रुपये में १९ मार्क की जगह १८ मार्क मिलने लगें तो कहा जायगा कि दर 'नीची' हो गई और मार्क का मूल्य 'ऊंचा' हो गया। इसके विपरीत यदि २० मार्क मिलने लगें तो कहेंगे कि दर 'ऊंची' हो गई परन्तु मार्क का मूल्य 'नीचा' हो गया। मुद्रा की विनिमय-दर में होने वाली घटा-बढ़ी के लिए 'नीच' 'ऊंच' शब्द प्रयोग करने चाहिएं और मुद्रा के विनिमय-मूल्य में कमी-बेशी को व्यक्त करने के लिए 'अपमूल्यन' तथा 'अधिमूल्यन' शब्दों का प्रयोग ठीक होगा।

विनिमय-दर 'निर्बल' और 'सबल'—कभी कभी विनिमय-दर के लिए 'निर्बल' और 'सबल' शब्दों का प्रयोग होता है जैसे, रुपया 'निर्बल' है और पौण्ड सबल' है। इसका अर्थ यह है कि रुपये का विनिमय-मूल्य गिरावट की ओर है और पौण्ड की मांग अधिक होने के कारण उसका मूल्य उठ रहा है।

'अनुकूल' तथा 'प्रतिकूल' विनिमय-दर—जब विनिमय-दर अपनी मुद्रा

---

* मार्क—जर्मनी की मुद्रा।

† येन—जापान की मुद्रा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में व्यक्त की जाय तब 'नीची' विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि विदेशी मुद्रा के बदले में पहिले की अपेक्षा अब हमें अपनी कम मुद्राएं देनी पड़ेंगी। जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो 'ऊंची' विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि पहिले की अपेक्षा अब अधिक विदेशी मुद्राएं मिलेंगी। उदाहरणार्थ, यदि १ रुपया=१६ पेंस हो और फिर यह दर ऊंची होकर १ रुपया=१८ पेंस हो जाय तो नई दर हमारे अनुकूल होगी और इंगलैण्ड के प्रतिकूल। दूसरे शब्दों में यदि १५ रु०=१ पौण्ड हो और फिर यह दर नीची होकर १३ रु० ५ आ० ४ पाई=१ पौण्ड हो जाय तो यह नई दर हमारे अनुकूल होगी और इंगलैण्ड के प्रतिकूल। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस दर पर सोना हमारे देश से निर्यात हो वह दर हमारे लिए अनुकूल होगी। अपने अनुकूल विनिमय-दर को अपने 'पक्ष' की दर तथा प्रतिकूल दर को अपने 'विपक्ष' की दर भी कहते हैं।

विनिमय-दर अनुकूल होने से आयातकर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है तथा निर्यातकर्त्ताओं और उत्पादकों को हानि रहती है क्योंकि विदेशों में हमारा माल जाना कम हो जाता है, देश में बेकारी बढ़ने लगती है। प्रतिकल विनिमय-दर के परिणाम इसके विपरीत होते हैं। आयातकों को हानि तथा निर्यातकों को लाभ रहता है, देश का उत्पादन बढ़ने लगता है तथा रोजगार भी बढ़ जाता है अतः देश के आर्थिक विकास के लिए प्रतिकूल दर अधिक उपयोगी है।

जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि—

ऊंची दर पक्ष में, नीची दर विपक्ष में

(High rates for us, Low rates against us)

यदि दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त हो और हम विदेशी मुद्राएं खरीदना चाहें तो ऊंची दर हमारे अनुकूल होती है। ऐसे समय में देनदारों को अपने विदेशी ऋणों का भुगतान करना लाभकर होता है क्योंकि तब उन्हें ऋणशोधन म अपनी देशी मुद्राएं कम देनी पड़ती हैं। इसके विपरीत जब दर नीची होती है तो हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएं कम मिलती हैं इसलिए ऐसे समय अधिक देशी मुद्रा कमाने के लिए लेनदारों को अपने भुगतान लेना लाभदायक होता है।

ऊंची दर खरीदो, नीची दर बेचो

(Buy High, Sell Low)

विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी है। जब दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त हो तो ऊंची दर हमारे अनुकूल होती है। उस समय विदेशी मुद्राएं खरीदना लाभकर होता है क्योंकि विदेशी मुद्राओं के बदले में देशी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्राएं कम देनी पड़ेंगी। ऐसी स्थिति में हमको विदेशी ऋण चुकान में भी लाभ रहता है क्योंकि ऋणशोधन में देशी मुद्राएं कम देनी पड़ती हैं। इसी प्रकार जब दर नीची हो तो विदेशी मुद्रा बेचना अच्छा होता है क्योंकि तब विदेशी मुद्राओं के बदले में देशी मुद्राएं अधिक मिलती हैं। ऐसी स्थिति में ऋणों का भुगतान लेना भी हितकर होता है क्योंकि तब विदेशी मुद्राएं अधिक मिलती हैं। जब विनिमय-दर अपनी मुद्रा में व्यक्त की जाय तो उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त बदल जायेंगे। उस समय यह कहना ठीक होगा :—

नीची दर पक्ष में, ऊंची दर विपक्ष में

(Low rates for us, High rates against us)

ऊंची दर बेचो, नीची दर खरीदो

(Sell High, Buy Low)

विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण

देश-देश की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर उनकी (मुद्राओं की) मांग और प्रदाय में घटा-बढ़ी होने के कारण समय-समय पर बदलती रहती है। विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव होने के मूलतः दो कारण होते हैं:—

एक तो ऐसे कारण होते हैं जो अल्पकाल में ही मुद्राओं की मांग और प्रदाय को प्रभावित करते रहते हैं जिससे उनकी विनिमय-दर प्रायः प्रतिदिन और प्रतिघंटा बदलती रहती है।

दूसरे ऐसे कारण होते हैं जिनके द्वारा दीर्घकाल में मुद्राओं की विनिमय-दर में फेर-बदल होती है।

इन दोनों ही परिस्थितियों में मुद्राओं की विनिमय-दर विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय पर निर्भर होती है। यदि विदेशी बिलों की मांग उनकी प्रदाय की अपेक्षा बढ़ती है तो विनिमय-दर प्रतिकूल हो जाती है और यदि उनकी प्रदाय बढ़ती है तो विनिमय-दर अनुकूल हो जाती है। अतः हमें यह देखना चाहिए कि विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय में घटा-बढ़ी होने के क्या कारण हैं। विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय सामान्यतः तीन कारणों से प्रभावित होती है :—

(१) व्यापारिक परिस्थितियां,
(२) बैंकिंग परिस्थितियां,
(३) स्टॉक-एक्सचेंज की परिस्थितियां।

(१) **व्यापारिक परिस्थितियां**—व्यापारिक परिस्थितियों में एक देश से दूसरे देश में होनेवाले आयात और निर्यात सम्मिलित हैं जिनके कारण विदेशी मुद्रा की मांग और प्रदाय घटती-बढ़ती रहती है। यदि किसी समय निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता है तो विदेशी मुद्रा की मांग उसकी प्रदाय की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपेक्षा वढ़ जाती है और विनिमय-दर हमारे प्रतिकूल होने लगती है। इसके विपरीत यदि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक हों तो विदेशी मुद्रा की प्रदाय उसकी मांग की अपेक्षा अधिक होने के कारण दर हमारे पक्ष में हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के आयात-निर्यात के कारण विदेशी मुद्रा की मांग और प्रदाय पर प्रभाव पड़ता है और विनिमय-दर में भी उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। वस्तुओं के आयात-निर्यात को दृश्य आयात-निर्यात कहते हैं।

वस्तुओं के आयात-निर्यात के अतिरिक्त सेवाओं का आयात-निर्यात भी होता ह जिसे अदृश्य आयात-निर्यात कहते हैं। आयात-निर्यात में एक देश दूसरे देश को कुछ सेवाएं भी देता है—जैसे, अपने जहाजों में माल ले जाना, अपनी वीमा कम्पनियों में माल का वीमा कराना, अपने एजेन्टों द्वारा माल निर्यात करने का प्रबन्ध कराना, आदि-आदि। इन सेवाओं का भुगतान आयातक देश को चुकाना पड़ता है तथा यह भुगतान ठीक उसी प्रकार किया जाता है जैसे दृश्य आयात का। अतः सेवाओं के भुगतान लेने-देने में विनिमय-दर ठीक उसी प्रकार प्रभावित होती है जैसे माल का भुगतान लेने-देने में। सेवाओं का भुगतान करने में दर पर ठीक वही प्रभाव पड़ता है जो आयात किए हुए माल का भुगतान करने में होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक देश दूसरे देश को माल निर्यात कर दे और दूसरा देश पहिले को अपनी सेवाएं दे दे, जैसे अपने जहाजों में उसका माल ले जाय, अपने वैंकों तथा वीमा कम्पनियों द्वारा उसके व्यापार में सहायता कर दे या अपने देशवासियों से उसकी और कोई सेवा करा दे। ऐसी स्थिति में दोनों देश अपने-अपने लेखे सन्तुलित कर लेते हैं और यह ज्ञात कर लिया जाता है कि लेन-देन की काट-छांट करके अन्त में किसको कितना देना है; अर्थात् ऋण-शेष ज्ञात कर लिया जाता है। यह ऋण-शेष जिस देश के पक्ष में होता है विनिमय-दर उसी के अनुकूल हो जाती है और जिसके विपक्ष में होता है उसके प्रतिकूल हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृश्य आयात-निर्यात का शेष किसी देश के पक्ष में हो और अदृश्य व्यापार का शेष उसके विपक्ष में हो। ऐसी स्थिति में यह देखा जाता है कि दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार का शेष उसके पक्ष में है या विपक्ष में। यदि यह शेष पक्ष में हुआ तो दर अनुकूल होगी और यदि विपक्ष में हुआ तो प्रतिकूल। अन्त में निष्कर्ष यह है कि विनिमय-दर दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के लेन-देन के कारण वदलती रहती है।

(२) **बैंकिंग परिस्थितियां**—देशी तथा विदेशी वैंकों द्वारा विदेशी मुद्राओं के जो लेन-देन होते हैं उनसे भी विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इन लेन-देनों में जो बातें सम्मिलित होती हैं वे इस प्रकार हैं—(१) साख-पत्रों तथा यात्री-चेकों का क्रय-विक्रय, (२) वैंकों की व्याज-दर तथा कटौती-दर,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) बैंकों द्वारा दिए गए दीर्घकालीन ऋण, (४) लाभार्जन क्रियाएं (Arbitrage Operations)।

जिस समय देशवासी विदेशों में व्यापारिक या किसी व्यक्तिगत काम से यात्रा के लिए जाते हैं तो वे देशी बैंकों से साख-पत्र खरीदते हैं। इन साख-पत्रों के बदले में उन्हें विदेशों में आवश्यक विदेशी मुद्राएं मिल जाती हैं। साख-पत्र बेचते समय बैंक देशी मुद्राएं लेते हैं और विदेशी मुद्राएं देने का प्रबन्ध करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि साख-पत्र बेचते समय देशी मुद्रा की प्रदाय तथा विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ती है जिससे विनिमय-दर गिरने लगती है। इसके विपरीत जब हमारे देश में आनेवाले विदेशी यात्री अपने देश में साख-पत्र खरीदते हैं तो उनकी मुद्रा की प्रदाय बढ़ती और हमारी मुद्रा की मांग बढ़ती है जिससे विनिमय-दर हमारे पक्ष में बदलने लगती है। इस प्रकार विदेशों में जानेवाले यात्रियों को साख-पत्र बेचने से विनिमय-दर पर तत्काल ही हमारे प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अर्थात् दर हमारे प्रतिकूल बदलती है और हमारे देश में भुगतान के लिए बेचे गए विदेशी साख-पत्रों द्वारा दर हमारे अनुकूल बदलती है।

बैंकों की ब्याज-दर का भी विनिमय-दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में बैंक-दर अन्य देशों की बैंक-दरों की अपेक्षा बढ़ा दी जाय तो अन्य देशवासियों को उस देश में अपनी पूंजी जमा करना लाभकर होगा। परिणामस्वरूप विदेशों में उस देश की मुद्रा की मांग बढ़ जायगी जिससे विनिमय-दर में फेर-बदल होने लगेंगे। इसके विपरीत यदि अन्य देशों की तुलना में अपने देश की बैंक-दर कम कर दी जाय तो अपने देश से पूंजी विदेशों में जाने लगेगी। परिणामस्वरूप अपनी मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी और दर गिरने लगेगी। इस प्रकार पूंजी के आयात-निर्यात से विनिमय-दर में उच्चावचन होते रहेंगे।

एक देश के बैंक दूसरे देशों को जो ऋण देते हैं उनका प्रभाव भी विनिमय-दर पर पड़ता है। ऋण देने से दर पर जो प्रभाव पड़ता है वह ऋण देने की विधि और ऋण के उपयोग पर निर्भर करता है। यदि उस ऋण का उपयोग ऋण स्वीकृत करनेवाले देश में माल खरीदने के लिए किया जाय तो उस समय विनिमय-दर पर कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु उसी ऋण से यदि दूसरे देशों से माल खरीदा जाय तो ऋण स्वीकृत करनेवाले देश की मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी और विनिमय-दर गिरने लगेगी अर्थात् विनिमय-दर ऋणदाता देश के प्रतिकूल होने लगेगी। ऋण की अवधि समाप्त होने पर जब ऋणी देश ऋण की राशि चुकाने लगेगा तो उसकी मुद्रा की प्रदाय बढ़ेगी और दर उसके प्रतिकूल होने लगेगी। ऋणी देश जब जब ऋण पर ब्याज चुकायेगा तभी-तभी विनिमय-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दर भी प्रभावित होगी। कहने का अर्थ यह है कि ऋण देते समय, व्याज चुकाते समय तथा ऋण का भुगतान चुकाते समय विनिमय-दर पर प्रभाव होता रहेगा।

बहुत से लोग विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल लाभ कमाने के लिए ही करते हैं। ये लोग एक स्थान पर विदेशी मुद्रा खरीद लेते हैं और अवसर आने पर उसी या अन्य स्थानों पर उन्हें बेच देते हैं—इस प्रकार क्रय-विक्रय की दरों में जो अन्तर होता है उससे लाभ कमा लेते हैं। इन क्रियाओं को अन्तर्देशीय लाभार्जन क्रियाएं कहते हैं। ये क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं—(१) साधारण, (२) जटिल। साधारण व्यवहारों में दो देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय दो स्थानों पर किया जाता है और दोनों केन्द्रों की दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। उदाहरणार्थ, बम्बई में विनिमय-दर १ रु०=१८ पेंस हो और लंदन में उसी समय १९ पेंस प्रति रुपया हो तो इन दोनों दरों के अन्तर से १ पेंस प्रति रुपया लाभ कमाया जा सकता ह। अतः कोई भी व्यक्ति तार द्वारा इंगलैण्ड से १९ पेंस प्रति रुपया की दर से स्टर्लिंग खरीद ले और उन्हें भारत में १८ पेंस प्रति रुपया की दर से बेच दे तो उसे १ पेंस प्रति रुपये का लाभ हो सकता है। इस क्रिया को साधारण क्रिया कहेंगे। जटिल क्रियाओं (Compound Arbitrage Operations) में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है और उनमें जो अन्तर होता है उससे लाभ कमाया जाता है। जटिल लेन-देन या तो विदेशी विनिमय-बैंक करते हैं और या वे लोग करते हैं जिन्हें इस विषय में पूरी जानकारी होती है और जो विभिन्न विनिमय-मंडियों के सम्पर्क में रहते हैं। इन क्रियाओं का विनिमय-दरों पर काफी प्रभाव पड़ता है। ये क्रियाएं सदैव चलती रहती हैं जिससे इनके द्वारा विनिमय-दर के भारी-भारी उतार-चढ़ाव 'घिसकर' समतल होते रहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभकारी रहते हैं।

(३) **स्टॉक-एक्सचेंज की परिस्थितियां**—स्टॉक-एक्सचेंज के लेन-देन जिनसे विनिमय-दर में फेर-बदल होते हैं, ये हैं—(१) विनियोग (Investment), (२) लाभांश (Dividend) तथा ब्याज का भुगतान एवं ऋण-शोधन, (३) दीर्घकालीन ऋण, (४) अंशों में सट्टेबाजी।

विनियोग-पत्रों के क्रय-विक्रय का विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। आजकल लोग देश-विदेशों में स्थित कम्पनियों के अंश खरीदकर अपनी पूंजी का विनियोग करने लगे हैं। जब विदेशी सिक्यूरिटियां खरीदी जाती हैं तो विदेशी मुद्रा में भुगतान चुकाया जाता है, जिससे देश में विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ती है और देशी मुद्रा की दर विदेश की मुद्रा में घट जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी लोग हमारी कम्पनियों की सिक्यूरिटियां खरीदते हैं तो हमारी मुद्रा की दर हमारे अनुकूल हो जाती है। पूंजी विनियोग करनेवाले

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विदेशी सिक्यूरिटियां खरीदकर पूंजी विदेशों में भेज देते हैं और बदले में विनियोग-पत्र मंगा लेते हैं। अतः सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय का विनिमय-दर पर वही प्रभाव पड़ता है जो माल के आयात-निर्यात का होता है।

विदेशों में पूंजी विनियोग करने के पश्चात् विनियोगी को अपनी पूंजी पर लाभांश या ब्याज मिलता है। जब लाभांश या ब्याज मिलता है तो विदेशी मुद्राओं की प्रदाय बढ़ती और विनिमय-दर हमारे पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत जब हम दूसरे देशों को ब्याज और लाभांश का भुगतान करते हैं तो विदेशी मुद्रा की मांग हमारे यहां बढ़ने लगती है जिससे दर हमारे विपक्ष में बदलने लगती है। इसी प्रकार जब लिये हुए विदेशी ऋणों का भुगतान चुकाया जाता है तो उसके लिए भी विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ती है और दर हमारे विपक्ष में होने लगती है। कहने का अर्थ यह है कि लाभांश तथा ब्याज के लेन-देन एवं ऋण-शोधन करते समय विनिमय-दर प्रभावित होती है।

जब एक देश दूसरे देश को दीर्घकालीन ऋण देता है तो उस लेन-देन का प्रभाव विनिमय-दर पर भी पड़ता है। ऋण देने से विनिमय-दर पर जो प्रभाव पड़ता है वह ऋण देने की विधि तथा ऋण के उपयोग पर निर्भर होता है। यदि उस ऋण का उपयोग ऋणदाता देश में ही माल खरीदने के लिए किया जाय तो उस समय विनिमय-दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव केवल यह पड़ता है कि ऋण लेनेवाला देश ऋणदाता देश से वस्तुएं खरीदकर ले जाता है जिसका भुगतान निश्चित अवधि पर चुकाया जाता है। इसीलिए प्रायः कहा जाता है कि—

"प्रत्येक विदेशी ऋण निर्यात का सृजनकर्ता होता है"

(Every Foreign Loan creates an Export)

यदि एक देश से ऋण लेकर उसकी राशि से अन्य देशों से माल खरीदा जाय तो विनिमय-दर ऋणदाता देशों के प्रतिकूल होने लगती है। ऋण की अवधि समाप्त होने पर ऋणी देश राशि चुकाने लगता है तो विनिमय-दर उसके प्रतिकूल होने लगती है। इस प्रकार ऋण देते और चुकाते समय विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है।

विदेशी सिक्यूरिटियों में सट्टा होने से विनिमय-दर में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ लोग विदेशी कम्पनियों के अंश और स्कंध इस आशा से खरीद लेते हैं कि निकट भविष्य में ही उनके मूल्य बढ़ जायेंगे और तब वे उन्हें बेचकर लाभ कमा सकेंगे। ये लोग विनियोग की दृष्टि से अंश और स्कंध नहीं खरीदते वरन् अवसर पाते ही बेचकर लाभ कमाने की दृष्टि से ऐसा करते हैं। इस प्रकार की सट्टेबाजी से विनिमय-दर में बहुत भारी-भारी उतार-चढ़ाव होते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इसके द्वारा विनिमय-मण्डी का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रम ही बिगड़ जाता है। हाट्रे नामक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "अंशों और स्कंधों में होनेवाले सट्टे से देश की साख-व्यवस्था को बहुत खतरा रहता है।"

विनिमय-दर को प्रभावित करनेवाले अन्य कारण

(१) **अन्तर्सरकारी लेन-देन**—पिछले कुछ वर्षों से देखा गया है कि कुछ देशों की सरकारें दूसरी सरकारों को युद्धजनित ऋण तथा युद्ध के हर्जाने की रकम चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा की मांग करने लगी हैं जिससे विनिमय-दर में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रथम महायुद्ध से पहले विनिमय-दर अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन तथा ऋण सम्बन्धी स्थिति का सच्चा और विश्वसनीय मापदण्ड होती थी अर्थात् विनिमय-दर में परिवर्तन होने का कारण केवल अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन होता था जिसमें सरकार का कोई हाथ नहीं होता था। परन्तु आजकल सरकारी लेन-देन तथा अन्य सरकारी क्रियाओं ने विनिमय-दरों को तथा उनमें होनेवाले परिवर्तनों को अस्वाभाविक और अविश्वसनीय बना दिया है। ये सरकारी क्रियाएं इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण होती जा रही हैं कि विनिमय के प्रबन्ध और नियंत्रण का काम अब प्रायः सरकारों के अधिकार में ही पहुंचता चला जा रहा है। आज यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि "विनिमय-भण्डार की कुञ्जी अब संसार की मुद्रा-मण्डियों में नहीं वरन् सरकारी दफ्तरों में है।"* यदि वास्तव में देखा जाय तो विनिमय का प्रबन्ध मुद्रा-मण्डियों की स्वाभाविक परिस्थितियों पर अवलम्बित होना चाहिए परन्तु अब तो यह सरकारी प्रबन्ध में पहुंचकर सरकार के कारनामों पर आश्रित होती जा रही है।

(२) **मौद्रिक परिस्थितियां**—मौद्रिक परिस्थितियों में मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकोच, अवमूल्यन आदि ऐसे विषय हैं जिनके कारण विनिमय-दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश में मुद्रा-स्फीति की संभावना हो तो उस देश के निवासी अपनी पूंजी को बाह्य देशों में विनियोग करना हितकर समझते हैं क्योंकि उनके देश में मुद्रा-स्फीति के कारण उनकी पूंजी की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। पूंजी बाहर भेजने का परिणाम यह होता है कि विनिमय-दर उस देश के प्रतिकूल होने लगती है और विदेशी मुद्रा में उस देश की मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। इसके विपरीत यदि कभी किन्हीं कारणों से मुद्रा का बहुमूल्यन होने लगे तो उस समय लाभ के लिए विदेशी लोग उस मुद्रा को खरीदने लगते हैं जिससे विदेशी मुद्रा में इस देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और विनिमय-दर अनुकूल हो जाती है।

(३) **राजनैतिक परिस्थितियां**—व्यापारिक संधियों, सरकार की व्यापारिक

---

* "The key to the exchange position is now more likely to be found in the Government offices than in the money markets of the world." —*Thomas.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नीति, युद्ध, हड़ताल आदि राजनैतिक परिस्थितियों के कारण भी विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में किसी भी प्रकार से व्यापार में रुकावटें डाली जायेंगी तो उनका परोक्ष परिणाम विनिमय-दर पर पड़ेगा। इसी प्रकार युद्ध आदि अन्य संकट-काल में मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रायः कम हो जाती है जिसकी वजह से विनिमय-दर भी उस देश के प्रतिकूल हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी प्रकार की राजनैतिक परस्थिति से देश की मौद्रिक नीति में परिवर्तन होता है और फिर उसका प्रभाव विनिमय-दर पर पड़ता है।

(४) **विनिमय-नियन्त्रण**—यदि सरकार विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं पर, विदेशी मुद्राओं के लेन-देन पर या आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाए तो विनिमय-दर पर परोक्ष-रूप से प्रभाव पड़ता है। आयात पर प्रतिबन्ध लगाने से दर अनुकूल होती है तथा निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने से दर प्रतिकूल होती है। (इसका विस्तृत वर्णन आगे पढ़िए।)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण

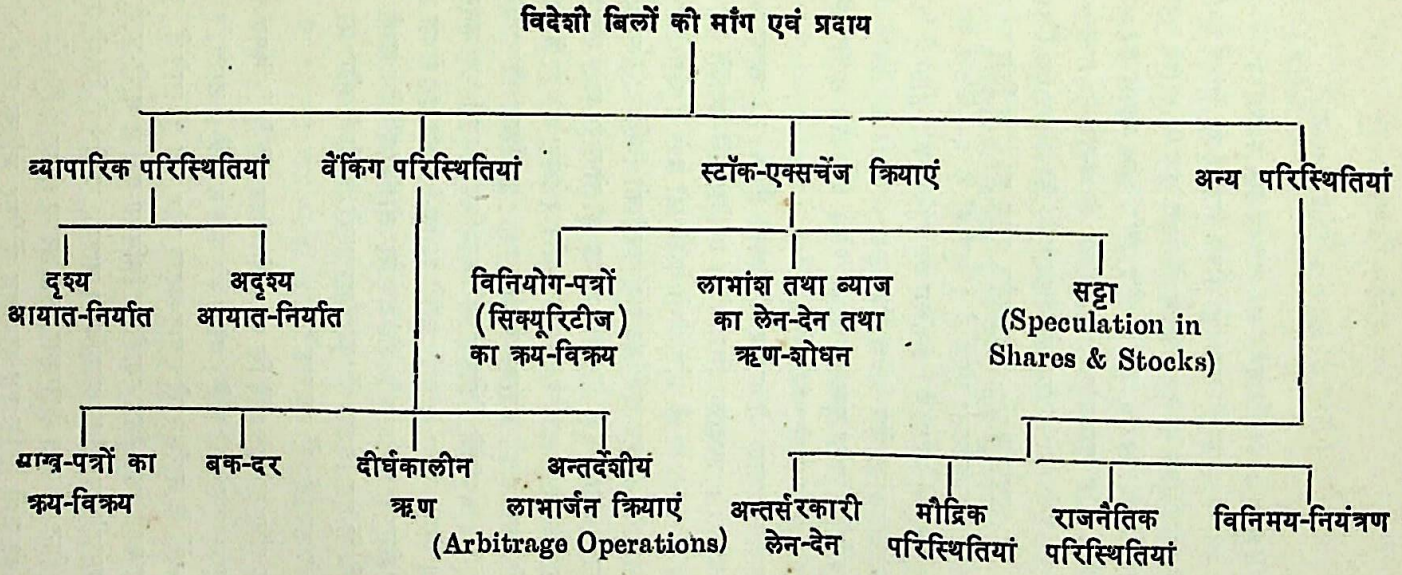

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लाभार्जन-क्रियाएं
(Arbitrage Operations)

विदेशी मुद्राओं की विनिमय-दर भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है। किसी मुद्रा की विनिमय-दर कहीं नीची होती है और कहीं ऊंची। विनिमय-दर की इस ऊंच-नीच से लाभ उठाने के लिए कुछ लोग एक स्थान पर सस्ती दर पर विदेशी मुद्रा खरीद लेते हैं और उसी समय महंगी दर पर दूसरे स्थान पर वेच देते हैं और इस प्रकार क्रय-विक्रय के अन्तर से लाभ कमाते हैं। इस प्रकार की खरीद-वेच को 'लाभार्जन-क्रियाएं' (Arbitrage Operations) कहते हैं। इस व्यवसाय में सफलतापूर्वक काम करने के लिए बड़ी योग्यता और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। मुद्राओं के क्रय-विक्रय का काम लगभग एक साथ ही करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यकता होती है कि इस व्यवसाय को करनेवाला व्यक्ति देश-विदेश में भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर विनिमय-दरों में होने वाले परिवर्तनों से सदैव पूर्णतः परिचित रहे। इस काम में टेलीफोन तथा वेतार के तार से वहुत सहायता मिलती है।

लाभार्जन-क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) साधारण, (२) वहु-मुखी या जटिल। साधारण क्रियाओं में दो देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय दो स्थानों पर किया जाता है और दोनों केन्द्रों की दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। उदाहरणार्थ, वंबई में रुपये की विनिमय-दर १८ पेंस हो और लन्दन में उसी समय १८$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति रुपया हो तो तार द्वारा लन्दन में १८$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति रुपया की दर से स्टर्लिंग खरीदकर और १८ पेंस की दर से वम्वई में वेचकर $\frac{1}{2}$ पेंस प्रति रुपया लाभ कमाया जा सकता है। इस क्रिया को साधारण लाभार्जन-क्रिया कहेंगे। वहुमुखी क्रियाओं में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है और उनकी खरीद-वेच की दर में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। वहुमुखी लेन-देन या तो विदेशी वैंक करते हैं या वे लोग करते हैं जिन्हें इस विषय में पूरी जानकारी होती है और जो विभिन्न मुद्रा-मण्डियों के सम्पर्क में रह सकते हैं।

कुछ लोग समझते होंगे कि लाभार्जन-क्रियाओं से विनिमय-दरों में भारी-भारी उतार-चढ़ाव होते होंगे। परन्तु यह वात नहीं है। लाभार्जन-क्रियाओं से तो विनिमय-दरों के भारी-भारी उतार-चढ़ाव और कम हो जाते हैं। असल वात यह है कि जव कभी भिन्न-भिन्न स्थानों पर विनिमय-दरों में भारी-भारी अन्तर होते हैं तभी व्यवसायी मुद्राओं का क्रय-विक्रय आरम्भ कर देते हैं जिससे या तो ये अन्तर विलकुल मिट ही जाते हैं अन्यथा कम अवश्य हो जाते हैं। ये अन्तर फिर इतने संकुचित हो जाते हैं कि इस व्यवसाय में फिर अधिक लाभ की गुंजाइश नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहती । इन क्रियाओं का सामान्यतः प्रभाव यह होता है कि विनिमय-दरों के भारी-भारी उतार-चढ़ाव और अन्तर 'घिस-घिसकर' संतुलन में हो जाते हैं जिससे वैदेशिक व्यापार को वहुत लाभ पहुंचता है। इन क्रियाओं का एक सबसे वड़ा लाभ यह होता है कि इनसे मुख्य-मुख्य विनिमय-दर अनुकूल और आवश्यक स्थिति में आ जाती हैं।*

लाभार्जन-क्रियाओं के द्वारा सबसे अधिक लाभ उस समय कमाया जा सकता है जव विनिमय-दरों में बहुत भारी-भारी अन्तर हो और दरों में भारी-भारी उतार-चढ़ाव हो रहे हों। जव विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव न हों तो इन क्रियाओं द्वारा विशेष लाभ नहीं कमाया जा सकता।

लाभार्जन-क्रियाएं एवं सट्टे का लेन-देन
(Arbitrage and Speculation)

लाभार्जन-क्रियाओं के अन्तर्गत दो या दो से अधिक स्थानों पर विदेशी मुद्राओं का एक साथ क्रय-विक्रय किया जाता है जिससे उनकी दरों में होनेवाले अन्तर से लाभ कमाया जा सके। एक स्थान पर क्रय किया जाता है और दूसरे स्थान पर उसी मुद्रा का साथ ही साथ विक्रय भी किया जाता है और इस प्रकार इन दोनों स्थानों की विनिमय-दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। सट्टेवाजी के अन्तर्गत विदेशी मुद्राओं का क्रय या विक्रय इस उद्देश्य से किया जाता है कि भविष्य में उनकी दर अनुकूल होने पर उनको वेचकर या खरीद कर लाभ कमाया जा सके। सट्टा करनेवाले विदेशी मुद्रा इस आशा से खरीदते हैं कि भविष्य में उनको ऊंची दर पर वेचकर लाभ कमा लेंगे। कुछ ऐसे सट्टेवाज होते हैं जो विदेशी मुद्रा इस आशा से वेचते हैं कि भविष्य में नीची दर पर खरीदकर लाभ कमा लेंगे। लाभार्जन-क्रियाओं तथा सट्टेबाजी में निम्न-लिखित मुख्य-मुख्य विभिन्नताएं हैं:—

(१) लाभार्जन-क्रियाओं के अन्तर्गत विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय एक साथ किया जाता है, तथा सट्टे में एक साथ क्रय-विक्रय नहीं किया जाता वरन् क्रय करके विक्रय भविष्य में या विक्रय करके क्रय भविष्य में किया जाता है।

(२) लाभार्जन-क्रिया में एक साथ क्रय-विक्रय करने से विभिन्न स्थानों पर

---

*"..apart prove their tendency to smooth out fluctuations these operations generally result in what are known as 'Sympathetic' movements of the principal exchanges."

Thomas: Principles & Arithmetic of Foreign Exchange. p. 227.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है, सट्टे में आज खरीदकर दर बढ़ जाने के कारण भविष्य में बेचने से दरों में जो बढ़ोत्तरी होती है वह लाभ होता है।

(३) लाभार्जन-क्रिया करनेवाले व्यक्ति को अपने लाभ के लिए भविष्य में दर की घटा-बढ़ी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता, सट्टेबाज को अपने लाभ के लिए भविष्य में दर की घटा-बढ़ी पर निर्भर रहना पड़ता है।

विनिमय-क्रियाओं के सट्टे के प्रभाव सट्टे की प्रकृति पर निर्भर होते हैं। यदि सटोरिया योग्य और दूरदर्शी हुआ और उसने भविष्य में किसी मुद्रा की दर ऊंची होने का अनुमान लगाया तो वह मुद्रा को खरीदने लगेगा जिससे दर में बढ़ोत्तरी होने लगेगी। दर बढ़ते ही वह खरीदी हुई मुद्रा को बेचने लगेगा और तब दर नीची होने लगेगी। इन क्रय-विक्रय की क्रियाओं का परिणाम यह होगा कि दर में होनेवाले उतार-चढ़ाव 'घिसते' रहेंगे और संतुलन में बने रहेंगे। यही परिणाम लाभार्जन-क्रियाओं का होता है।

अग्र-विनिमय

(Forward Exchange)

प्रथम महायुद्ध-काल में तथा इसके पश्चात् भी संसार के अनेक देशों ने बहुत बड़ी मात्रा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रसार किया। इस कारण उन देशों के मूल्य-स्तर बढ़ते रहे और विनिमय सम्बन्धी लेन-देन पर भी काफी प्रभाव पड़ा। इन देशों की मौद्रिक, राजनैतिक तथा बैंकिंग परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण विनिमय-दरों में भी उतार-चढ़ाव होने लगे और इन दरों में एक प्रकार की अस्थिरता और अनिश्चितता आती गई। इस अनिश्चितता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधाएं आने लगीं। इन बाधाओं को दूर करने तथा विनिमय-दर की अनिश्चितता से होनेवाली हानियों से अपने आपको बचाने के लिए व्यापारियों ने 'अग्र-विनिमय' की प्रणाली अपनाई अर्थात् उन्होंने पहिले ही से विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय करने के समझौते करना आरम्भ किया जिससे भविष्य में होनेवाले उतार-चढ़ावों से कोई हानि न हो। अग्र-विनिमय का उद्देश्य विनिमय-दर के उच्चावचन से होनेवाली हानियों को विदेशी मुद्रा के अग्र-क्रय-विक्रय द्वारा कम करना होता है। इस प्रकार का क्रय-विक्रय विदेशी बैंकों द्वारा किया जाता है।

मान लीजिए, भारत के एक व्यापारी ने इंगलैण्ड के किसी व्यापारी से ५०० पौण्ड का माल मंगाया जिसका मूल्य उसे तीन माह पश्चात् चुकता करना है। विनिमय-दर में अनिश्चितता होने के कारण वह नहीं जानता कि तीन माह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पश्चात् उसे कितने रुपये देने पड़ेंगे और इस अनिश्चितता के कारण वह अपने आयात किए हुए माल की कीमत भी निर्धारित नहीं कर सकता। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए भारतीय व्यापारी तीन माह पहिले ही चालू या अन्य किसी निश्चित दर पर किसी विदेशी विनिमय बैंक से ५०० पौण्ड खरीदने का वचन दे देगा जिसका भुगतान उसे इस निश्चित दर पर तीन महीने बाद करना होगा। इस प्रकार दर निश्चित हो जायगी और व्यापारी को कितने रुपये चुकाने हैं यह भी निश्चित हो जायगा तथा व्यापारी को दर में उच्चावचन होने के कारण चिन्तित भी नहीं होना पड़ेगा।

तीन माह पहिले ही दर निश्चित करके विदेशी मुद्रा खरीदने की इस प्रथा को अग्र-विनिमय का लेन-देन कहते हैं। इस प्रकार के लेन-देन प्रतिदिन लाखों के होते हैं।

अग्र-विनिमय के लेन-देन प्रायः चालू दर पर ही निश्चित होते हैं। कभी-कभी ऐसे लेन-देन चालू दर से ऊंची या नीची दर पर भी होते हैं। यदि अग्र-विनिमय में देशी मुद्रा के बदले में कम विदेशी मुद्रा मिले तो कहते हैं कि विदेशी मुद्रा तेजी पर है अर्थात् Foreign Currency is at Premium. यदि देशी मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्राएं मिलें तो कहते हैं कि विदेशी मुद्रा कटौती पर है अर्थात् Foreign Currency is at Discount. अग्र-विनिमय के लेन-देन में विदेशी मुद्रा की तेजी तथा कटौती निम्न बातों पर निर्भर होती हैं :—

(१) **देश-विदेश की ब्याज-दर**—अग्र-विनिमय-दर तेजी पर है या कटौती पर, यह देश-विदेश की ब्याज-दर पर निर्भर होता है। यदि विदेशों में ब्याज की दर हमारे देश की ब्याज-दर से ऊंची हुई तो हमारे देश की पूंजी विदेशों में जाने लगेगी जिससे विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ने लगेगी। देशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएं कम मात्रा में मिलेंगी और तब कहा जायगा कि विदेशी मुद्रा तेजी पर है। इसी प्रकार यदि हमारे देश की ब्याज-दर विदेशी ब्याज-दर की अपेक्षा ऊंची हुई तो विदेशी पूंजी हमारे देश में आने लगेगी। इससे हमारी मुद्रा की मांग बढ़ेगी और तब अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्राएं अधिक मात्रा में मिल सकेंगी। ऐसे समय में कहा जायगा कि विदेशी मुद्रा कटौती पर है।

(२) **मौद्रिक परिस्थिति**—किसी भी देश की मुद्रा के अवमूल्यन तथा बहुमूल्यन पर भी विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की अग्र-विनिमय-दर निर्भर रहती है। यदि विदेशी मुद्रा का अवमूल्यन होने की आशंका होती है तो विदेशी विनिमय-बैंक उस मुद्रा को खरीदने के अनिच्छुक होते हैं इसलिए अग्र-विनिमय के लेन-देन में देशी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा कम मिलती है और तब कहा जाता है कि विदेशी मुद्रा तेजी पर है। यदि देशी मुद्रा का बहुमूल्यन होने की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संभावना हो तो बैंक ऐसी मुद्रा को खरीदने के इच्छुक रहते हैं और तब अग्र-विनिमय में विदेशी मुद्रा कटौती पर होती है।

(३) **विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का पारस्परिक सम्मेल** (Marrying a Contract)—अग्र-विनिमय के लेन-देन में प्रायः ऐसा होता है कि कुछ लोग विदेशी मुद्रा बेचना चाहते हैं और कुछ दूसरे व्यापारी विदेशी मुद्रा का अग्रिम क्रय करना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति में विदेशी विनिमय-बैंकों का सामान्यतः यह काम होता है कि वे मध्यस्थ बनकर एक स्थान पर विदेशी मुद्रा खरीदते हैं तथा दूसरे स्थान पर वही विदेशी मुद्रा बेचते हैं और इस प्रकार खरीद-बेच से लाभ उठाते हैं। बैंक एक देश में एक मुद्रा के क्रय को दूसरे देश म उसी मुद्रा के विक्रय से सम्बन्धित करते रहते हैं। ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना जितनी अधिक होती है उतनी ही अधिक कटौती अग्र-विनिमय के लेन-देन में विदेशी मुद्रा पर होती है और परस्पर सम्बन्ध की जितनी सम्भावना कम होती है उतनी ही तेजी विदेशी मुद्रा पर अधिक होती है।

अग्र-विनिमय के लेन-देन से विनिमय-दरों के उतार-चढ़ाव कम होते रहते हैं। ये लेन-देन व्यापारिक लेन-देन के लिए ही होते हैं परन्तु कुछ व्यापारी इनमें सट्टा भी करते हैं।

विनिमय-संतुलन लेखा
(Exchange Equalization Account)

१९३२ में इंगलैण्ड में १५०० लाख पौण्ड जमा करके एक कोष बनाया गया था। इस कोष में सोना और सिक्यूरिटियां जमा थीं। इसका उद्देश्य स्टर्लिंग की विनिमय-दर में होनेवाले उचार-चढ़ावों को रोक कर स्टर्लिंग की विनिमय-दर में स्थायित्व पैदा करना था। १९३३ में यह राशि ३५०० लाख पौण्ड तथा १९३७ में ५५०० लाख पौण्ड कर दी गई थी। किसी समय जब स्टर्लिंग की मांग बढ़ने के कारण स्टर्लिंग की विनिमय-दर बढ़ने लगती थी तो इस कोष में से विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी जिससे विनिमय-दर बढ़ने से रोक दी जाती थी और जो विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी उसे विदेशी बैंकों में कोष के रूप में जमा कर दिया जाता था। जब कभी स्टर्लिंग की दर गिरने लगती तो उस विदेशी कोष में से स्टर्लिंग खरीदा जाता था जिससे स्टर्लिंग की मांग बढ़ जाती और दर गिरने से रोक दी जाती थी। इस प्रकार इस लेखे द्वारा विनिमय-दर में होनेवाले उच्चावचन रोके जाते थे। इस प्रकार के लेखे कई देशों ने बना रक्खे थे।

सारांश

विदेशी विनिमय मुद्राशास्त्र की वह पद्धति है जिसके अनुसार एक देश के निवासी दूसरे देशवासियों को अपने ऋण चुकाते हैं। इस पद्धति के द्वारा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिए-दिए जाते और चुकाए जाते हैं। हार्टले ह्विदर्स के शब्दों में विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है। इसके अध्ययन में सामान्यतः तीन विषय आते हैं--(१) विदेशी विनिमय-बिल, (२) विदेशी विनिमय-दर, (३) विदेशी विनिमय-बैंक।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने की तीन विधियां हो सकती हैं--(१) सोना देकर भुगतान चुकाना, (२) आयात के बदले निर्यात करना, (३) विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करना। आजकल पहली विधि कहीं भी काम में नहीं लाई जाती क्योंकि सोने के आयात-निर्यात पर सभी देशों ने नियंत्रण ठोक रक्खे हैं। अतः आजकल दूसरी और तीसरी विधि के द्वारा ही भुगतान लिए-दिए जाते हैं। विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय विदेशी विनिमय-बिलों के द्वारा होता है। ये बिल विदेशी बैंकों से लिए जाते हैं।

दो देशों की मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय के अनुपात को विनिमय-दर कहते हैं। विनिमय-दर वह अर्घ होती है जिस पर विदेशी मुद्रा का देशी मुद्रा के साथ क्रय-विक्रय होता है। दो देशों की मुद्राओं के बीच दर निश्चित करने के कई ढंग हैं--(१) जब दोनों देश स्वर्ण-प्रमाप पद्धति मानते हों तो दर उन देशों की प्रामाणिक मुद्राओं में लगे हुए सोने की वैधानिक मात्रा की तुलना करके निर्धारित की जाती है। इसे टंक समदर भी कहते हैं। (२) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप तथा दूसरा देश रजत-प्रमाप पर हो तो दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य के आधार पर दर निश्चित कर ली जाती है। पहिले रजत-मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है और फिर दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य की तुलना कर ली जाती है। (३) जब एक देश स्वर्ण-प्रमाप पर और दूसरा देश पत्र-मुद्रा-प्रमाप पर हो तो भी दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य ज्ञात करके उनकी तुलना के आधार पर दर निश्चित कर ली जाती है। (४) जब दोनों देश पत्र-मुद्रा-प्रमापी हों तो दर क्रय-शक्ति-समता के सिद्धान्त पर निश्चित की जाती है।

स्वर्ण-बिन्दु (स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु और स्वर्ण-आयात-बिन्दु) स्वर्ण-प्रमापी देशों की विनिमय-दर के चढ़ाव-उतार की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाएं होती हैं। टंक समदर में स्वर्ण-वाहन-व्यय जोड़कर स्वर्ण निर्यात-बिन्दु तथा घटाकर स्वर्ण-आयात-बिन्दु ज्ञात किया जाता है। सामान्यतः दर इन्हीं सीमाओं से मर्यादित रहती है पर असाधारण परिस्थितियों में इन सीमाओं को पार भी कर जाती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति को माननेवाले देशों में मुद्राओं की विनिमय-दर क्रय-शक्ति-समता के आधार पर निश्चित की जाती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति निर्देशांक बनाकर ज्ञात की जाती है। इस पद्धति को प्रोफेसर गस्टव केसल ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ज्ञात किया था। वैसे तो इस पद्धति द्वारा मुद्राओं की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होकर सच्ची विनिमय-दर निर्धारित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की जा सकती है पर निदर्शांक बनाने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। अतः कभी कभी वास्तविक क्रय शक्ति का पता लगाना कठिन हो जाता है। फिर भी अनेक देशों में इस सिद्धान्त का प्रयोग होता रहा है।

विनिमय-दर में उच्चावचन विदेशी बिलों की मांग और प्रदाय के अनुसार होते हैं। बिलों की मांग और प्रदाय घटने-बढ़ने के ये कारण होते हैं—(१) व्यापारिक परिस्थितियां, (२) बैंकिंग परिस्थितियां, (३) स्टॉक एक्सचेंज की परिस्थितियां, (४) अन्तर्सरकारी लेन-देन, (५) राजनैतिक परिस्थितियां, (६) विनिमय-नियंत्रण।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर विनिमय-दर की ऊंच-नीच से लाभ उठाने के लिए कुछ लोग एक स्थान पर सस्ती दर पर विदेशी मुद्रा खरीदते हैं और उसी समय दूसरे स्थान पर मंहगी दर पर बेच देते हैं और इस प्रकार क्रय-विक्रय के अन्तर से लाभ कमाते हैं। इस प्रकार की खरीद-बेच को लाभार्जन-क्रियाएं कहते हैं। लाभार्जन-क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं—(१) साधारण, (२) जटिल। साधारण क्रियाओं के अन्तर्गत दो मुद्राओं का क्रय-विक्रय दो स्थानों पर किया जाता है और दोनों केन्द्रों की दरों में जो अन्तर होता है वह लाभ होता है। जटिल क्रियाओं में दो से अधिक स्थानों पर मुद्राओं का क्रय-विक्रय होता है। ये काम या तो विनिमय-बैंक करते हैं या वे लोग करते हैं जो विदेशी मुद्रा-मण्डियों के सम्पर्क में रह सकते हैं

विनिमय-दर में भविष्य में होनेवाले उतार-चढ़ावों के कारण होनेवाली सम्भावित हानि से बचने के लिए व्यापारी लोग विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय का अग्रिम समझौता कर लेते हैं—इसे अग्र-विनिमय के समझौते कहते हैं। इस प्रकार के क्रय-विक्रय के समझौते विदेशी बैंकों द्वारा किए जाते हैं। अग्र-विनिमय के लेन-देन में विदेशी मुद्रा की तेजी तथा कटौती इन बातों पर निर्भर होती है—(१) देश-विदेश की ब्याज-दर, (२) मौद्रिक परिस्थिति, (३) विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का पारस्परिक सम्मेल।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'विदेशी विनिमय' से आप क्या समझते हैं ? इसके अन्तर्गत किन-किन बातों का आभास मिलता है ?

(२) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने की क्या-क्या विधियां हैं ? 'आयात के बदले निर्यात' से आप क्या समझते हैं ?

(३) 'विदेशी विनिमय-बिल' से आपका क्या अर्थ है ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इन बिलों के द्वारा भुगतान किस प्रकार किया जाता है ? सोदाहरण लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) विनिमय-दर निर्धारित करने के क्या सिद्धान्त हैं ? पत्र-मुद्रा पद्धति को माननेवाले देशों में दर किस प्रकार निश्चित की जाती है ? भारत के रुपये की दर इंगलैण्ड के स्टर्लिंग के साथ किस प्रकार निश्चित की गई है ?

(५) विनिमय-दर में उच्चावचन होने के क्या कारण होते हैं ? राजनैतिक परिस्थितियों का विनिमय-दर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(६) 'टंक-समदर' से आप क्या समझते हैं ? टंक-समदर स्वर्ण-विन्दुओं के वीच क्यों घटती-वढ़ती रहती है ?

(७) 'स्वर्ण-विन्दुओं' से आपका क्या तात्पर्य है ? ये किस प्रकार निर्धारित किए जाते हैं ? क्या टंक-समदर इन विन्दुओं से भी आगे-नीचे घट-वढ़ सकती है ? यदि हां, तो कव और कैसे ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

(८) क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एक छोटा सा निवंध तैयार कीजिए। क्या कभी भारत में इस सिद्धान्त का प्रयोग हुआ है ?

(९) "निर्यात आयात का भुगतान चुकाते हैं"—इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

(१०) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए :—

(१) लाभार्जन-क्रियाएं (Arbitrage Operations)
(२) अग्र-विनिमय (Forward Exchange)
(३) स्वर्ण-विन्दु (Specie Points)
(४) टंक-समदर (Mint Par of Exchange)
(५) विनिमय-संतुलन लेखा (Exchange Equalization Account)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १३

विदेशी विनिमय-नियंत्रण

आधुनिक युग में जब भांति-भांति के आर्थिक आयोजन-नियोजन हो रहे हैं और व्यापार तथा उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण-प्रतिवन्ध वढ़ते जा रहे हैं, विनिमय-नियंत्रण भी सरकारी नीति का एक आवश्यक अंग बन गया है। आज शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहां किसी न किसी प्रकार का विनिमय-नियंत्रण न हो। गत युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् तो विनिमय-नियंत्रण अनिवार्य सा बन गया है। 'विनिमय-नियंत्रण' का अर्थ है विदेशी मुद्राओं की मांग और प्रदाय को घटा-बढ़ाकर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर में आवश्यक तथा इच्छानुसार फेर-बदल करना। यदि कभी सरकार मांग और प्रदाय के द्वारा निर्धारित की हुई स्वतंत्र विनिमय-दर को अपने देश के हित में समझे तो उसे देश में विनिमय-नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यदि इस दर को सरकार देश के हित में उचित न समझे तो वह विदेशी मुद्रा की मांग और प्रदाय में आवश्यक संशोधन करके दर को अपने अनुकूल बना सकती है।

विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य

(१) बहुमूल्यन—सरकार अपनी मुद्रा की दर ऊंची करने के लिए विनिमय-नियंत्रण कर सकती है।

(२) अवमूल्यन—सरकार अपनी मुद्रा की दर नीची करने के लिए विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण लगा सकती है।

(३) उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए—यदि कभी विनिमय-दर में भारी-भारी और जल्दी-जल्दी उतार-चढ़ाव हो रहे हों तो सरकार इन उच्चावचनों को रोकने के लिए विनिमय-नियंत्रण लगा सकती है।

(१) बहुमूल्यन क्यों?—(क) जब कभी किसी कारण से देश के विदेशी व्यापारिक लेन-देन में विषमता आ जाती है और अपनी मुद्रा की प्रदाय की अपेक्षा उसकी मांग बढ़ने लगती है तो सरकार विनिमय-नियंत्रण करके मुद्रा का बहुमूल्यन कर देती है।

(ख) कभी-कभी युद्धकाल में कच्चे व पक्के माल का आयात बढ़ाने के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिए भी देशी मुद्रा का बहुमूल्यन कर दिया जाता है। देशी मुद्रा का बहुमूल्यन करने से आयात सस्ते हो जाते हैं और बढ़ने लगते हैं। परन्तु ऐसा करते समय सरकार को विदेशी मुद्रा की मांग पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं अन्यथा विदेशी मुद्रा की मांग बहुत बढ़ जाने से अपनी मुद्रा की दर गिर जाने का भय रहता है।

(ग) युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् जब देश का आर्थिक विकास एवं पुनरुद्धार करना होता है तो विदेशों से कच्चे व पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता होती है। इस आयात को प्रोत्साहन देने के लिए भी मुद्रा का बहुमूल्यन किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी देश को विदेशों से माल खरीदकर लाने की आवश्यकता हो तो उसके लिए अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन हितकर होता है।

(घ) जब देनदार-देश को लेनदार-देश में लेनदार-देश की ही मुद्रा में ऋण भुगतान करना हो तो ऋण का भार कम करने के लिए देनदार-देश अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन कर देता है। इससे देनदार को ऋण चुकाने में अपनी मुद्रा की कम राशि देनी पड़ती है और इस प्रकार ऋण का भार कम हो जाता है।

(ङ) अगर किसी देश में स्थानीय कारणों से वस्तुओं के भाव ऊंचे हो रहे हों और वहां के आर्थिक क्रम में आयात-निर्यात का अधिक महत्त्व हो तो ऐसी स्थिति में किसी भी कारण से मुद्रा की दर गिरने से आयात महंगे होने का तथा निर्यात बढ़ने का भय रहता है। इन दोनों ही कारणों से वस्तुओं के भाव और ऊंचे होने की सम्भावना रहती है। इस परिस्थिति को टालने के लिए सरकार अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन कर देती है जिससे आयात महंगे होने का तथा इस कारण से मूल्य-स्तर बढ़ने का भय नहीं रहता।

इन परिस्थितियों में मुद्रा का बहुमूल्यन करना हितकर होता है परन्तु इससे एक बड़ा भारी अहित भी होता है। जब किसी देश की मुद्रा का अन्य देश की मुद्रा के साथ बहुमूल्यन कर दिया जाता है अर्थात् जब उसकी विनिमय-दर उसकी वास्तविक सम-दर से अधिक निर्धारित कर दी जाती है तो उस देश के मूल्य-स्तर अन्य देशों के मूल्य-स्तरों की अपेक्षाकृत स्वभावतः ऊंचे हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस देश के निर्यात बिल्कुल ठप्प होने लगते हैं और आयात बढ़ जाते हैं। निर्यात ठप्प होने से देश का आर्थिक क्रम बिगड़ जाता है और देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। निर्यात ठप्प होने से देश के व्यापार एवं उद्योग लुञ्ज से हो जाते हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि मुद्रा का बहुमूल्यन किस परिस्थिति में हितकर और किसमें अहितकर होता है। इसके लिए एक सामान्य सिद्धान्त यह हो सकता है कि "युद्ध एवं दुर्लभता के काल में बहुमूल्यन करना चाहिए तथा मंदी एवं अवसाद के काल में मुद्रा का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अवमूल्यन करना चाहिए।"* परन्तु यह सिद्धान्त भी सभी परिस्थितियों में लागू नहीं हो सकता। अतः मुद्रा का बहुमूल्यन या अवमूल्यन करना सरकारी नीति पर ही निर्भर करता है। जब सरकार चाहे तभी देश के हित में मुद्रा का बहुमूल्यन अथवा अवमूल्यन करे।

(२) अवमूल्यन क्यों ?—(क) मुद्रा का अवमूल्यन करने से आयात-निर्यात की हुई वस्तुओं के मूल्यों से देश के सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। अतः जिस देश के आर्थिक क्रम में विदेशी व्यापार का अधिक हाथ होता है उस देश में अवमूल्यन से सामान्य मूल्य-स्तर पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है और जिसमें विदेशी व्यापार का लेन-देन कम होता है वहां अवमूल्यन के द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर पर अपेक्षाकृत देर से प्रभाव पड़ता है। न्यूजीलैण्ड जैसे छोटे देश में, जहां का विदेशी व्यापार बहुत अधिक नहीं है, अवमूल्यन अधिक हितकर सिद्ध हो सकता है और इसके विपरीत अमरीका में, जहां का विदेशी व्यापार संसार में प्रमुख स्थान रखता है, अवमूल्यन हितकर सिद्ध नहीं हो सकता।

(ख) वह देश, जिसका निर्यात व्यापार मुख्यतः खाद्य पदार्थ एवं कच्चे माल का हो, अवमूल्यन करके लाभ उठा सकता है क्योंकि मंदी के काल में इन वस्तुओं के भाव शीघ्रता से गिरते हैं परन्तु अवमूल्यन के द्वारा स्थिरता एवं संतुलन में बने रह सकते हैं जिससे मूल्य-स्तर गिरने का संकट नहीं भोगना पड़ता। (सितम्बर १९४९ में भारत तथा २४ अन्य देशों ने अवमूल्यन किया था।)

(ग) अगर कोई देसदार-देश कच्चा माल उत्पन्न करता हो तो वह मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात बढ़ा कर लाभ उठा सकता है।

यहां पर भी यह निर्णय करना कठिन है कि किस देश को और किस परिस्थिति में मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिए। यह बात तो सरकारों की आवश्यकता और उनकी ईमानदारी पर निर्भर होती है। अवमूल्यन करना तो एक प्रकार का खेल है जिसको कोई भी खेल सकता है। परन्तु यदि प्रत्येक देश इस खेल को खेलता रहे और इन देशों की मुद्राओं में एक दूसरे को नीचे फेंकने की प्रतियोगिता होती रहे तो यह खेल सब मुद्राओं को निकम्मा कर देता है।†

---

* "The rough rule of thumb is : In times of war and scarcity overvalue your currency, in times of slump and surfeit, undervalue your currency."

—*Crowther* : Outline of Money, pp. 240-241.

† "Undervaluation is a game that any one can play but if everyone plays at it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed further below its real value it quickly develops into its race to render all currencies worthless."

—*Ibid*, pp. 243-244.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव पर रोक क्यों ?—विनिमय-नियन्त्रण का तीसरा उद्देश्य विनिमय-दर के उच्चावचन को रोकना होता है जिससे दर स्थिर बनाकर स्थायी बनाई जा सके। देखने में तो दर का स्थायी बनाना बड़ा भला प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार में दर को स्थायी रूप से स्थायी बनाना न सम्भव ही हो सकता है और न हितकर ही। विनिमय-नियन्त्रण द्वारा तो विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी, अनावश्यक तथा भारी-भारी उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रयत्न किया जाता है जिससे देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन पर उसका कोई बुरा प्रभाव न पड़ सके। विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों का पहिले से ही पता लगाना कोई सरल बात नहीं है परन्तु फिर भी सरकार विनिमय-नियन्त्रण द्वारा इस बात का प्रयत्न करती है कि दर में जल्दी-जल्दी कोई फेर-बदल न हो। इंगलैण्ड की सरकार ने इस प्रकार की नीति १९३२ से लेकर द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने तक अपनाई थी जिसके अन्तर्गत विनिमय-संतुलन-लेखों द्वारा दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रयत्न किया जाता था। इन लेखों का उद्देश्य मुद्रा का अवमूल्यन या बहुमूल्यन करना नहीं था वरन् अस्थायी उतार-चढ़ावों को 'घिसकर' संतुलन में लाना होता था। आज भी हमारे सामने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष नामक एक ऐसी संस्था है जो सदस्य-देशों की मुद्राओं की विनिमय-दरों में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने में सहायता करती है। कोष में व्यवस्था की गई है कि सदस्य-देश कुछ समय तक अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए विनिमय-नियन्त्रण लगा सकते हैं परन्तु स्थायी विषमता को दूर करने के लिए उन्हें कोष से मिलकर अपनी मुद्रा की विनिमय-दर में स्थायी परिवर्तन करना ही होगा। इसका प्रमाण भी हमारे सामने आ चुका है। सितम्बर १९४९ में पौण्ड और डॉलर के बीच में स्थायी विषमता थी जिसे दूर करने के लिए इंगलैण्ड ने कोष की आज्ञा से पौण्ड के डॉलर-मूल्य में ३०·५% की कमी करके पौण्ड का अवमूल्यन कर दिया। भारत तथा अन्य अनेक देशों ने भी ऐसा ही किया था।

विनिमय-नियन्त्रण के ढंग

विनिमय-नियन्त्रण को सफल बनाने के लिए नियन्त्रण लगानेवाली सरकार को विदेशी विनिमय-मण्डी में मुद्राओं की मांग और प्रदाय को प्रभावित करने की आवश्यकता होती है। अगर कभी सरकार देखे कि मांग और प्रदाय के द्वारा निर्धारित की हुई स्वतन्त्र विनिमय-दर उसके अनुकूल नहीं है तो सरकार विनिमय-दर को अपने अनुकूल बनाने के लिए दो उपायों में से कोई भी उपाय कर सकती है :—

(अ) या तो सरकार स्वयं विदेशी-विनिमय-मण्डी में जाकर किसी मुद्रा, जिसमें उसका हित हो, की मांग या प्रदाय बढ़ा दे;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(आ) या वह प्रतिबन्ध लगाकर उस मुद्रा की मांग और प्रदाय को मण्डी में आने से रोक दे।

उदाहरणार्थ, यदि भारत सरकार रुपये की विनिमय-दर को ऊंचा करना चाहे तो वह स्वयं विनिमय-मण्डी में जाकर रुपये की मांग बढ़ा सकती है। अन्यथा उसके पास एक और उपाय है। वह उन लोगों पर, जो रुपया देकर विदेशी मुद्रा खरीद रहे हों, प्रतिबन्ध लगाकर रुपये की प्रदाय को कम कर सकती है। इस प्रकार दोनों में से कोई भी उपाय करने से रुपये की मांग उसकी प्रदाय की अपेक्षा बढ़ जायगी जिससे रुपये की विनिमय-दर भी ऊंची होने लगेगी। इसके विपरीत यदि भारत सरकार रुपये की विनिमय-दर को नीचा करना चाहे तो या तो वह स्वयं विनिमय-मण्डी में जाकर रुपये की प्रदाय बढ़ा सकती है और या रुपये की मांग करनेवाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। इन दोनों उपायों में अन्तर यह है कि पहिला उपाय करने से विनिमय-मण्डी में मुद्राओं के क्रय-विक्रय की संख्या बढ़ जाती है और दूसरे उपाय को काम में लाने से मण्डी में मुद्राओं के क्रय-विक्रय की संख्या कम हो जाती है। पहिले उपाय को काम में लाने से मण्डी में विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की भी स्वतन्त्रता रहती है और साथ-ही-साथ उसमें सरकार का लेन-देन और बढ़ जाता है, परन्तु दूसरे उपाय द्वारा लोगों को मण्डी में स्वतन्त्र क्रय-विक्रय करने से रोक दिया जाता है। पहिले उपाय को 'हस्तक्षेप की नीति' (Policy of Intervention) और दूसरे उपाय को 'प्रतिबन्ध की नीति' (Policy of Restriction) कहते हैं।

हस्तक्षेप की नीति

वैसे तो सरकार विनिमय-नियन्त्रण करते समय अपनी मुद्रा की दर ऊंची करने में या नीची करने में 'हस्तक्षेप की नीति' का पालन कर सकती है, परन्तु एसा देखा गया है कि दर ऊंची करने में ही प्रायः इस नीति का पालन किया जाता है। जब 'हस्तक्षेप की नीति' को मुद्रा की विनिमय-दर ऊंची करने के उद्देश्य से काम में लाया जाता है तो कहते हैं कि मुद्रा की विनिमय-दर "ऊँची टांक दी गई है"।* इसी प्रकार यदि इस नीति को विनिमय-दर नीची करने के लिए प्रयोग किया जावे तो कहेंगे कि मुद्रा की विनिमय-दर "नीची अटका दी गई है।*

अगर किसी समय सरकार देशी मुद्रा को, स्वतन्त्र बाजार-दर से ऊंची दर 'टांक' कर रखने की कल्पना करे तो इसका अर्थ यह होगा कि उस समय विनिमय-मण्डी में उस मुद्रा की मांग की अपेक्षा प्रदाय अधिक है और इसलिए

---

* अंग्रेजी में इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः Pegging up और Pegging down शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दर ऊंची टांकने के लिए अपनी मुद्रा की मांग बढ़ानी चाहिए। तुरन्त ही सरकार अपनी मुद्रा की मांग करने लगेगी और बदले में अन्य विदेशी मुद्राएं बेचेगी। इससे मांग को जानेवाली देशी मुद्रा की दर ऊंची हो जायगी परन्तु ऐसा करते समय सरकार के पास अपनी मुद्रा लेकर बदले में विदेशी मुद्राएं देने की शक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाना' चाहे तो उसे अपनी मुद्रा की प्रदाय बढ़ानी चाहिए और बदले में विदेशी मुद्राओं की मांग करनी चाहिए। परन्तु ऐसा करने में सरकार के पास अपनी मुद्राएं देने की शक्ति होनी चाहिए। सिद्धान्त यह है कि जब सरकार 'हस्तक्षेप की नीति' के द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय-दर 'ऊंची टांकना' चाहे तो अपनी मुद्रा की मांग बढ़ाकर विदेशी मुद्राएं देने के लिए उसके पास विदेशी मुद्राओं का भरपूर कोष होना चाहिए; और जब सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाना' चाहे तो विदेशी मुद्राएं लेकर अपनी मुद्रा देने के लिए उसके पास अपनी मुद्रा की भरपूर मात्रा होनी चाहिए। देशी मुद्रा की विनिमय-दर 'ऊंची टांकने' तथा 'नीची अटकाने' के लिए सरकार के पास क्रमशः विदेशी मुद्रा तथा देशी मुद्रा का कोष इतना भरपूर होना चाहिए कि वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए दीर्घ काल तक भी काम आ सके। अगर ऐसा न हुआ तो 'हस्तक्षेप की नीति' का सफल होना दूभर हो जाता है। 'हस्तक्षेप की नीति' का सफल होना सरकार के पास रक्खे हुए देशी तथा विदेशी मुद्राओं के कोष पर निर्भर होता है। दर 'नीची अटकाने' की अपेक्षा 'ऊंची टांकने' में अधिक कठिनाई होती है क्योंकि इसमें सरकार द्वारा बेचने के लिए विदेशी मुद्राओं के कोष की आवश्यकता होती है जो सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। विदेशी मुद्राएं विदेशों से ऋण लेकर प्राप्त की जा सकती हैं परन्तु कोई भी सरकार अनिश्चित काल तक तथा असीमित मात्रा में विदेशों से ऋण नहीं ले सकती। ये ऋण केवल किसी संकटकालीन अस्थायी समय के लिए तथा थोड़ी बहुत मात्रा में ही लिए जा सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि 'हस्तक्षेप की नीति' के द्वारा अपनी मुद्रा की दर की मात्रा 'ऊंची टांककर' रखना सरकार के पास रक्खी हुई विदेशी मुद्राओं की मात्रा पर निर्भर है।

जब सरकार अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटकाकर' रखना चाहे तो उसके पास बेचने के लिए देशी मुद्रा का कोष होना चाहिए। देशी मुद्रा का कोष बढ़ाते रहना इस नीति के द्वारा इतना कठिन काम नहीं है जितना विदेशी मुद्राएं प्राप्त करते रहना। अतः दर 'नीची अटकाने' में सरकार को अधिक सफलता मिल सकती है। सरकार अपनी मुद्रा की मात्रा तीन साधनों से प्राप्त कर सकती है :—

(१) **जनता पर कर लगाकर**—परन्तु जनता पर असीमित मात्रा में कर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं लादे जा सकते क्योंकि ऐसा करने से जनता में सरकार के प्रति विद्रोह और असहयोग की भावना पैदा होने लगती है।

(२) जनता से उधार लेकर—हां, जनता से ऋण लेकर सरकार अपने पास देशी मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर अपनी मुद्रा को दर 'नीची अटकाने' में सफल हो सकती है। परन्तु जनता से ऋण लेने की भी कोई सीमा होती है। अनिश्चित काल तक तथा असीमित मात्रा में जनता से ऋण नहीं लिए जा सकते क्योंकि ऐसा करने से सरकार के सिर पर ऋण का भारी बोझ हो जाता है जिसे भविष्य में सरकार सहन करने में असमर्थ रहती है। जनता भी अनिश्चित काल तक सरकार को ऋण नहीं दे सकती।

(३) नए नोट छापकर—सरकार नए नोट छापकर तथा इस प्रकार अपने पास मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर मुद्रा की दर नीची 'अटकाने' में प्रयत्न कर सकती है। परन्तु नए नोट छापने का काम भी सरकार अनिश्चत मात्रा में नहीं कर सकती क्योंकि इस प्रकार देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय रहता है। हां, थोड़े-बहुत नोट छापने से मुद्रा का मूल्य नीचा हो सकता है और मुद्रा की दर अस्थायी काल के लिए अपने-आप नीची हो सकती है। तब 'हस्तक्षेप की नीति' की ही और आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जब स्थायी-रूप से दर 'नीची अटकाने' के लिए सरकार नए नोट छापती ही रहे तो देश में मुद्रा-स्फीति का भयंकर संकट आ सकता है। अतः स्थायी रूप से दर 'नीची अटकाने' के लिए नए-नए नोट छापने की नीति उचित नहीं है। हां, अस्थायी रूप से दर 'नीची अटकाने' के लिए थोड़े-बहुत नए नोट छापे जा सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्धकाल में स्वीडन की मुद्रा की मांग बहुत बढ़ी। इसकी पूर्ति के लिए स्वीडन की सरकार ने अपनी मुद्रा की दर 'नीची अटका' दी और अपनी मुद्रा की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए नए नोट छापे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वीडन को युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् भयंकर मुद्रा-स्फीति का सामना करना पड़ा।

कुछ भी हो, दर 'नीचा अटकाने' में 'ऊंची टांकने' की अपेक्षा कम असुविधा और कठिनाई होती है। परन्तु यदि सरकार ने कभी स्थायीकाल के लिए मुद्रा की दर 'नीची अटकाने' की कोशिश की तो सरकार मौद्रिक संकट में पड़ सकती है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'हस्तक्षेप की नीति' स्थायी काल के लिए ठीक नहीं है वरन् इसको केवल अस्थायी समय के लिए मुद्रा की विनिमय-दर में फेर-बदल करने के लिए काम में लाया जा सकता है। मुद्रा का बहुमूल्यन करने या अवमूल्यन करने, दोनों ही बातों में 'हस्तक्षेप की नीति' अस्थायी काल के लिए ही सफलता के साथ काम में लाई जा सकती है परन्तु बहुमूल्यन करने की अपेक्षा अवमूल्यन करने में इसका क्षेत्र अधिक सीमित होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जहां तक मुद्रा की विनिमय-दर में होनेवाले उतार-चढ़ावों को रोकने का प्रश्न है 'हस्तक्षेप की नीति' दिन-प्रतिदिन की होनेवाली घटा-बढ़ी तथा अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकने में पूर्ण सफल हो सकती है। यह नीति स्थायी घटा-बढ़ी तथा दीर्घकालीन विषमताओं को दूर करने में पूर्णतः सहायक नहीं हो सकती। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि विनिमय-नियन्त्रण में 'हस्तक्षेप की नीति' की सफलता सीमित होती है। यह नीति खर्चीली है, अस्थायी है तथा अधिक प्रभावशाली भी नहीं है।

प्रतिबन्ध की नीति

(१) **विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर रोक**—विनिमय-नियन्त्रण करने के लिए 'प्रतिवन्ध की नीति' को पालन करने में सरकार विनिमय-मण्डी में मुद्रा के लेन-देन पर प्रतिवन्ध लगा देती है। देशी मुद्रा के विक्रेताओं पर रोक लगा दी जाती है जिससे देशी मुद्रा की प्रदाय न वढ़ने पावे और अपेक्षाकृत मांग वढ़ जाय। इस प्रकार 'प्रतिवन्ध की नीति' द्वारा विनिमय-मण्डी में विदेशी विनिमय के लेन-देन की संख्या कम कर दी जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार आयात-कर वढ़ा देती है तथा आयात पर रोक भी लगा देती है जिससे आयात कम हो जाय और देशी मुद्रा की प्रदाय घट जाय। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार प्रायः तीन उपाय काम में लाती है—

(१) विदेशी विनिमय सम्वन्धी सारा लेन-देन सरकार अपने या अपने किसी एजेंट के हाथ में केन्द्रित कर देती है। (हमारे देश में आयात करने के लायसेंस देना सरकार के हाथ में है तथा विनिमय सम्वन्धी लेन-देन रिजर्व वैंक ऑव इण्डिया के अधिकार में है।)

(२) देशी मुद्रा के वदले में विदेशी मुद्रा खरीदने से पहिले सरकारी आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया जाता है।

(३) सरकार की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय का लेन-देन करना अपराध वना दिया जाता है जिसके लिए कड़े दण्ड की व्यवस्था कर दी जाती है।

(२) **विदेशी सम्पत्ति की घेरा-बांधी**—सरकार विनिमय-मण्डी में देशी मुद्रा की प्रदाय काटने के लिए देशवासियों को आज्ञा दे देती है कि वे अपनी मुद्रा देकर विदेशी मुद्रा की मांग न करें। ऐसी स्थिति में देशवासी अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा की मांग नहीं करते वरन् देश में ही अन्य कामों में लगा देने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी सरकार विदेशियों पर भी वन्धन लगा देती है कि वे इस देश में लगी हुई अपनी सम्पत्ति देश से निकालकर वाहर नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ले जा सकते। ऐसी स्थिति में विदेशियों की सम्पत्ति उस देश म ही घिर जाती है। विदेशियों की ऐसी सम्पत्ति जो सरकार की इस नीति के कारण अन्य देश में घिर जाय और जिसको निकालकर बाहर ले जाने का अधिकार विदेशियों को न हो 'घिरी हुई सम्पत्ति' (Blocked Assets) कहलाती है। इतना ही नहीं विदेशियों से माल खरीद लिया जाता है और उसका मूल्य न चुकाकर उनकी लेनदारी घेर ली जाती है। विदेशियों को अपनी पूंजी निकालकर ले जाने का भी अधिकार नहीं दिया जाता—यहां तक कि उनकी पूंजी पर कमाए हुए ब्याज का भुगतान भी बन्द करके ब्याज की रकम घेर ली जाती है। १९३१ में केन्द्रीय योरुप के देशों ने इसी प्रकार की 'प्रतिबन्ध की नीति' अपनाई थी। जर्मनी ने तो अपने यहां से यहूदियों को निकाल बाहर किया था परन्तु उनकी सम्पत्ति को 'घेर लिया'। उस प्रकार यहूदियों की करोड़ों की सम्पत्ति जर्मनी में थी परन्तु वे लन्दन में भूखे मरते थे क्योंकि अपनी जर्मनी-स्थित सम्पत्ति को वे निकालकर इंगलैंड नहीं ले जा सकते थे।

कभी-कभी सरकार विदेशी सम्पत्ति को 'घेरते' समय यह शर्त कर देती है कि सम्पत्ति के विदेशी मालिक यदि चाहें तो उसका उसी देश में उपयोग कर सकते हैं परन्तु निकालकर बाहर नहीं ले जा सकते। ऐसी स्थिति में 'घेरी हुई सम्पत्ति' में काला-बाजार होने लगता है। सम्पत्ति के विदेशी मालिक 'घिरी हुई' सम्पत्ति को कटौती पर बेचने लगते हैं और उसे प्रायः वे लोग खरीद लेते हैं जो या तो उसका उसी देश में (जिसमें वह घिरी हुई है) उपयोग करें और या उसे अपने नाम रखें तथा समय आने पर भविष्य में लाभ कमा कर ऊंचे दामों पर बेच सकें। १९४० के आरम्भ में इंगलैण्ड में ऐसा ही हुआ। इंगलैण्ड ने विदेशियों की स्टर्लिंग सम्पत्ति 'घेर ली' तथा घोषणा कर दी कि इस सम्पत्ति के मालिक अपनी 'घिरी हुई' सम्पत्ति को अन्य विदेशियों के नाम हस्तांतरित कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि 'घिरी हुई' स्टर्लिंग सम्पत्ति न्यूयार्क के बाजारों में वास्तविक दर से कोई १०% की कटौती लगा कर विकने लगी। 'घिरी हुई' सम्पत्ति के मालिक किसी भी दर पर उसे बेचने लगे और जैसे-तैसे उसके बदले में अन्य देशों की मुद्रा प्राप्त करने लगे।

'प्रतिबन्ध की नीति' का प्रयोग सबसे पहले १९३१ में जर्मनी और आस्ट्रिया ने किया था। तभी से लेकर १९३९ तक जर्मनी ने इसको भली प्रकार अपनाया। १९३८ से पहले जर्मनी में यदि कोई 'प्रतिबन्ध की नीति' के लगाए गए प्रतिबन्धों का उल्लंघन करता था तो उसे मौत की सजा दी जाती थी। युद्ध आरम्भ होने तक 'प्रतिबन्ध की नीति' केन्द्रीय योरुप तथा दक्षिणी अमरीका के देशों में भी अपनाई जाती थी। युद्ध आरम्भ हो जाने पर तो फ्रांस, इंगलैण्ड तथा इंगलैण्ड के सभी उपनिवेशों ने इस नीति का प्रयोग करके विनिमय-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नियन्त्रण किया। युद्ध समाप्त होने पर आज शायद ही ऐसा देश होगा जहां 'प्रतिबन्ध की नीति' न अपनाई जाती हो। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की अध्यक्षता में अनेक देशों ने विनिमय-नियन्त्रण करने में 'प्रतिबन्ध की नीति' का प्रयोग कर रक्खा है।

विनिमय-नियन्त्रण के परोक्ष ढंग

'हस्तक्षेप' और 'प्रतिबन्ध' की नीतियां विनिमय का नियन्त्रण करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से काम में लाई जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसे ढंग भी हैं जो किन्हीं अन्य उद्देश्यों से काम में लाए जाते हैं परन्तु विनिमय-दर पर जिनका परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इन ढंगों पर हम यहां विचार करेंगे।

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण**—सरकार कभी-कभी देश में होनेवाले आयातों पर 'आयात-कर' या 'संरक्षण-कर' बढ़ा देती है या आयात किए जानेवाले माल की मात्रा घटाकर निश्चित कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयात का भुगतान चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा खरीदने में देशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़ती है जिससे विनिमय-मण्डी में देशी मुद्रा की प्रदाय कम हो जाती है। देशी मुद्रा की प्रदाय कम होने से मुद्रा की विनिमय-दर बढ़ने लगती है। परन्तु सरकार यह उपाय अधिक समय तक नहीं अपना सकती क्योंकि इसमें यह भय रहता है कि अन्य देश भी इस प्रकार 'आयात-कर' अथवा 'संरक्षण-कर' लगाकर अपनी-अपनी मुद्रा की दर न बढ़ा दें। यदि ऐसा हुआ तो देशी मुद्रा की दर बढ़ाने का प्रयत्न निष्फल हो जाता है। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि 'आयात-कर' बढ़ाकर विनिमय-नियन्त्रण अधिक समय तक सफल बनाया जा सकता है। हां इससे हमें एक सिद्धान्त का पता लगता है कि आयात-कर या संरक्षण-कर बढ़ाकर तथा आयात की मात्रा कम करके सरकार पहले की अपेक्षा अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को अधिक ऊंचा कर सकती है। इसी प्रकार निर्यात-कर बढ़ाकर देशी मुद्रा की दर नीची गिराई जा सकती है। परन्तु निर्यात-कर प्रायः बहुत कम परिस्थितियों में बढ़ाया जाता है। इसके विपरीत सरकार अपने देश के निर्यात पर राजकीय सहायता देकर निर्यात बढ़ा सकती है और निर्यात बढ़ाकर अपनी मुद्रा की दर ऊंची कर सकती है। इसी प्रकार आयात पर राजकीय सहायता देकर आयात बढ़ा सकती है और आयात बढ़ाकर मुद्रा की विनिमय-दर गिरा सकती है। परन्तु ये सब सिद्धान्त की बातें हैं जिन्हें हमें जानना आवश्यक है। व्यवहार में आयात बढ़ाने के लिए राजकीय सहायता कभी नहीं दी जाती। इसी प्रकार निर्यात बढ़ाने के लिए भी राजकीय सहायता प्रायः कम ही दी जाती है।

(२) **ब्याज की दर में घटा-बढ़ी**—विनिमय-नियन्त्रण का दूसरा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपाय ब्याज की दर में घटा-बढ़ी करना भी है। कभी-कभी सरकार अपने देश में ब्याज की दर बढ़ा देती है जिससे विदेशी पूंजी उस देश में आने लगती है। इससे अपनी मुद्रा की मांग बढ़ने लगती है और दर ऊंची हो जाती है। जब विनिमय-दर गिरानी होती है तो ब्याज की दर नीची कर दी जाती है। ब्याज की दर नीची होते ही देशी पूंजी बाहर जाने लगती है जिससे देशी मुद्रा की प्रदाय बढ़ने लगती है और दर गिर जाती है। देनदार देश अपनी ब्याज-दर बढ़ाकर अपने औद्योगिक विकास के लिए विदेशों से पूंजी आकर्षित कर सकता है (परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर पूंजी का आदान-प्रदान चालू हो)। जर्मनी ने १९२४ से १९३० तक ऐसा ही किया था।

उपर्युक्त उपाय यदि वास्तव में देखा जाय तो विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य से काम में नहीं लाए जाते। ये उपाय तो देश की आन्तरिक स्थिति या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी के आदान-प्रदान के दृष्टिकोण से काम में लाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, निर्यात पर दी गई राजकीय सहायता निर्यात बढ़ाने की दृष्टि से दी जाती है। आयात-कर देशी उद्योगों को संरक्षण देने के उद्देश्य से लगाए जाते हैं तथा ब्याज-दर की घटा-बढ़ी स्थानीय स्थिति को संभालने के लिए की जाती है। परन्तु इन सब उपायों का मुद्रा की विनिमय-दर पर भी काफी प्रभाव पड़ता है।

इन उपायों का विनिमय-दर पर कोई सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् ये उपाय विनिमय-मण्डी में कोई हस्तक्षेप नहीं करते वरन् इनका प्रभाव विनिमय-दर पर परोक्ष रूप से पड़ता है।

इन उपायों का क्षेत्र बहुत सीमित और संकुचित होता है जैसे, निर्यात-कर असीमित मात्रा में नहीं बढ़ाए जा सकते, राजकीय सहायता भी असीमित मात्रा में नहीं दी जा सकती और ब्याज-दर भी बार-बार और असीमित मात्रा में नहीं बढ़ाई जा सकती क्योंकि ऐसा करने में वैदेशिक व्यापार भंग हो जाने तथा देश की आन्तरिक स्थिति खण्डित हो जाने का भय रहता है। अतः ये उपाय विनिमय-नियन्त्रण के वास्तविक, सच्चे, स्थाई और सफल ढंग नहीं हो सकते।

विनिमय-नियन्त्रण के अन्य ढंग

(१) **विनिमय-समातुलन कोष**—विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को 'घिसकर' संतुलन में लाने के लिए सरकार अपनी-अपनी केन्द्रीय बैंकों में देशी और विदेशी मुद्राओं का एक कोष बना लेती है जिसे 'विनिमय-समातुलन कोष' कहते हैं। १९३२ में इंगलैण्ड ने सबसे पहिले

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१५ करोड़ पौण्ड से ऐसे कोष की स्थापना की थी। परन्तु शनैः शनैः इस कोष की मात्रा बढ़ती गई। इंगलैण्ड में इस कोष का उद्देश्य प्रधानतः स्टर्लिंग की विनिमय-दर में होनेवाले अस्थायी उतार-चढ़ावों को रोकना था।* जैसा कि पहिले बताया जा चुका है इस कोष में स्टर्लिंग तथा विदेशी मुद्रा या सोना होता था। जब स्टर्लिंग की दर बढ़ानी होती थी तो इस कोष में से विदेशी मुद्राएं बेचकर बदले में स्टर्लिंग की मांग बढ़ा दी जाती थी। और जब स्टर्लिंग की दर गिरानी होती थी तो इस कोष में से स्टर्लिंग बेचकर विदेशी मुद्राओं की मांग बढ़ा दी जाती थी। इस प्रकार इस कोष के द्वारा विनिमय-दर के उतार-चढ़ावों को दूर किया जाता था। परन्तु इसमें एक बड़ा भारी दोष था कि स्टर्लिंग की दर घटाने-बढ़ाने का काम कोष में रक्खी हुई विदेशी मुद्राओं तथा स्टर्लिंग की मात्रा पर निर्भर रहता था। आगे चलकर ऐसे कोष अमेरिका, फ्रांस, स्विजरलैण्ड, बेल्जियम, हालैण्ड आदि देशों में भी स्थापित कर लिए गए थे।

(२) लेखे 'खड़े' रखने के समझौते—कभी-कभी विदेशी सम्पत्ति पर रोक लगाने के बजाय विदेशियों से ऐसे समझौते कर लिए जाते हैं कि वे अपने लेखे एक निश्चित अवधि तक 'खड़े' रखकर देश की विनिमय-दर को ठीक करने में सहायता दें। इस प्रकार देशों के पारस्परिक सहयोग से विनिमय-दर ठीक बना दी जाती है।

कुछ देशों से उनका हिसाब निपटाने के लिए ऐसे समझौते कर लिए जाते हैं कि जिससे विनिमय-दर पर कोई अनुचित प्रभाव न पड़े।

विनिमय-नियंत्रण के उपायों पर एक दृष्टि

विनिमय-नियन्त्रण के परोक्ष ढंग दर में फेर-बदल करने के वास्तविक और स्थायी उपाय नहीं हैं। अतः हम विनिमय-नियंत्रण की 'हस्तक्षेप' और 'प्रतिबन्ध' की नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। 'हस्तक्षेप की नीति' द्वारा विनिमय दर को दीर्घकाल तक स्थायी नहीं बनाया जा सकता क्योंकि इस नीति को सफल बनाने में नियंत्रण करनेवाली सरकार के पास देशी और विदेशी मुद्राओं का एक कोष होना आवश्यक होता है जो अनिश्चित काल तक स्थायी नहीं रक्खा जा सकता। हां, इस नीति के द्वारा विनिमय-दर में दिन-प्रतिदिन के होनेवाले छोटे-मोटे उतार-चढ़ावों को दूर किया जा सकता है और इस काम के लिए इस नीति

* "The main object of the Fund was to affect purely speculative movements in sterling exchange rates whilst allowing 'real' causes to affect the long-term trend. The Fund was to smooth out temporary fluctuations."

Benham: Economics, pp. 440-41.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का प्रयोग स्थायी रूप से हो सकता है। इस प्रकार इस नीति के द्वारा दर की स्थायी स्थिरता (Permanent stability) तथा अत्यधिक अस्थिरता (Excessive instability) दोनों ही को दूर किया जा सकता है। विनिमय-नियन्त्रण के लिए यह बात वास्तव में एक आदर्श की वस्तु है। परन्तु इस उद्देश्य के लिए 'हस्तक्षेप की नीति' का प्रयोग करने से पहिले सरकार को इस बात का पता लगाना होगा कि विनिमय-मण्डी में कौनसा अस्थायी दबाव पड़ रहा है तथा कौनसी स्थायी स्थिति अटक रही है। परन्तु ऐसा भी करने से पहिले सरकार को अपनी मुद्रा की संतुलन-दर (Equilibrium Rate) का सही-सही अनुमान लगाना होगा। यह अनुमान लगाना कोई साधारण बात नहीं है। संसार के मौद्रिक इतिहास में अनेकों ऐसे अवसर आए हैं जब कि सरकार अपनी मुद्रा की संतुलन-दर का सही-सही अनुमान न लगा सकी और उनका प्रयत्न निष्फल रहा। यदि किसी समय सरकार अपनी मुद्रा की संतुलन-दर का सही-सही अनुमान लगा भी ले तो वह अपने पास रक्खे हुए देशी और विदेशी मुद्रा के कोष का (जो देशी मुद्रा की मांग और प्रदाय बढ़ाने के उद्देश्य से रक्खा जाता है) गलत अनुमान कर सकती है। तब ऐसी स्थिति में 'हस्तक्षेप की नीति' असफल रहेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि विनिमय-नियंत्रण से 'हस्तक्षेप की नीति' का उद्देश्य बड़ा महान् है परन्तु उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे प्रयोग करना कठिन है। इसीलिए आजकल 'हस्तक्षेप की नीति' नहीं अपनाई जाती।

जहां तक 'प्रतिबन्ध की नीति' का प्रश्न है यह मानना पड़ेगा कि यह एक उत्तम और प्रभावकारी उपाय है। परन्तु जनता इसको ठीक नहीं समझती क्योंकि इसके अन्तर्गत जनता की विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है और उन पर प्रकार प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। युद्ध-काल में तथा युद्ध के पश्चात् भी विदेशी मुद्रा के अकाल को दूर करने के लिए विनिमय-नियंत्रण करने में 'प्रतिबन्ध की नीति' अपनाई जाती रही है। इसका एक साक्षात् प्रमाण आज हमारे सामने है। द्वितीय युद्धकाल में और इसके पश्चात् भी डॉलर का अकाल आया। योरप के देशों में तथा इंगलैण्ड और भारत ने भी डॉलर प्राप्त करने के अनेक उपाय बरते। अमरीका को निर्यात बढ़ाने की चेष्टा की गई परन्तु कोई सफलता न मिली। अन्त में इन देशों की सरकारों ने विनिमय-नियन्त्रण के उपाय किए जिनमें मुख्यतः 'प्रतिबन्ध की नीति' अपनाई गई। विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर, आयात-निर्यात पर तथा विनिमय-मण्डी में लेन-देन पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। अतः यह कहना निर्मूल नहीं है कि 'प्रतिबन्ध की नीति' की आवश्यकता प्रायः युद्धकाल की विषम परिस्थितियों में होती है। परन्तु यदि युद्धकालीन विषम परिस्थितियां युद्ध समाप्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होने के पश्चात् भी चलती रहें तो उस समय भी इस नीति द्वारा विनिमय-नियन्त्रण किया जा सकता है। परन्तु जैसे ही सामान्य परिस्थितियां आएं 'प्रतिबन्ध की नीति' को छोड़ देना चाहिए जिससे विदेशी मुद्रा का स्वतन्त्र लेन-देन हो सके और विनिमय-दर मांग और प्रदाय के सहारे-सहारे चलने लगे। 'प्रतिबन्ध की नीति' देश और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हित में होनी चाहिए, केवल अपने ही स्वार्थ के लिए नहीं।

विनिमय-नियन्त्रण के विषय में एक आवश्यक बात यह है कि विनिमय-नियन्त्रण के शस्त्र उस समय काम में लाने चाहिएं जब उनकी बहुत ही अनिवार्य आवश्यकता हो। इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने की आवश्यकता है जो समय-समय पर इस बात का निर्णय करता रहे कि विनिमय-नियन्त्रण में किस समय कौन से उपाय काम में लाए जाएं और कौन से नहीं। सौभाग्य से आज संसार में यह विधान उपलब्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन के द्वारा विनिमय-नियन्त्रण का संचालन किया जा रहा है परन्तु उनकी सफलता का अभी कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह तो भविष्य ही बतलाएगा कि इन संस्थाओं के द्वारा विनिमय-नियन्त्रण कहां तक सफल हो रहा है। परन्तु हमें आशा करनी चाहिए कि सब राष्ट्रों के सहयोग से यह काम पूरा हो सकेगा।

जर्मनी की कूटनीति

१९३९ से पहिले जर्मनी ने विनिमय-नियंत्रण क्षेत्र में ऐसी कूटनीति बरती जिसे देखकर संसार चकित रह गया। जर्मनी की सरकार ने अपने देश में इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण किया जिससे वह बिना भुगतान किए ही विदेशों से असीमित मात्रा में माल मंगा-मंगाकर संचित करता रहा। जर्मनी ने युद्ध छेड़ने की आर्थिक तैयारियां पहिले से ही आरम्भ कर दी थीं। युद्ध के लिए जर्मनी को खाद्य पदार्थों तथा अन्य अनिवार्य वस्तुओं की आवश्यकता थी। विनिमय-नीति के द्वारा इन आवश्यकताओं को जर्मन सरकार ने बहुत पहिले ही पूरा कर लिया। तभी तो यह छोटा सा देश इतनी विशाल शक्तियों के साथ इतने समय तक टक्कर ले सका कि उसके हार जाने पर भी संसार आज उसका लोहा मानने में संकोच नहीं करता। जर्मनी की कूटनीति के कुछ उदाहरण यहां दिए जाते हैं:—

(१) १९३१ से लेकर १९३९ तक जर्मनी ने अनेक देशों के साथ 'विनिमय-समाशोधन' (Exchange Clearing) समझौते किए। उन देशों से जर्मनी खूब माल मंगाता रहा (क्योंकि उसे उस समय इन देशों को बदले में विदेशी मुद्रा नहीं देनी पड़ती थी), यहां तक कि जर्मनी इन देशों का कर्ज़—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दार हो गया और वर्लिन में उन देशों की अतुल राशि इकट्ठी हो गई। उन देशों को यह राशि नकद (विदेशी मुद्रा के रूप में) नहीं मिल सकती थी वरन् बदले में उन्हें जर्मनी से ही कुछ न कुछ माल खरीदना पड़ता था। इस प्रकार इन समझौतों के द्वारा जर्मनी युद्ध की आवश्यकीय वस्तुएं खरीद-खरीदकर संचित करता रहा और बदले में अपने उद्योगों को उन्नत करके विदेशी बाजारों में अपना माल बेचता रहा। जर्मनी को इससे दो लाभ मिले—(१) उसने युद्ध की आर्थिक तैयारियां कर लीं, (२) अपना माल विदेशों में भेजने लगा। (युद्ध-काल में इंगलैण्ड भी लगभग यही काम करता रहा—उसने भारत, मिस्र, लंका आदि से कच्चा माल तथा अन्य प्रकार की युद्धावश्यक सामग्री खरीदी परन्तु उसका भुगतान न नकद के रूप में किया और न बदले में माल ही दिया। परिणाम-स्वरूप इन देशों का अतुल ऋण इंगलैण्ड पर स्टर्लिंग-पूंजी के रूप में जमा हो गया जो अब शनैः शनैः चुकाया जा रहा है।)

(२) जर्मनी ने दक्षिणी-पूर्वी योरप के अनेक देशों के साथ 'विनिमय-समाशोधन' समझौते किए और इन देशों से अतुल खाद्य-सामग्री खरीदी, यहां तक कि बिना कटी फसलों को भी खरीद लिया। फिर बदले में उन देशों को बाध्य किया कि वे जर्मनी का माल ऊंचे-ऊंचे भावों पर खरीदें। जर्मनी उन देशों से ऊंचे-ऊंचे भावों पर माल खरीदता रहा और फिर उन्हें बदले में अपना ही माल और वह भी ऊंचे-ऊंचे भावों पर, खरीदने के लिए बाध्य करता रहा। इससे उन देशों में मूल्य-स्तर बहुत ऊंचे हो गए। मूल्य-स्तर ऊंचे होने के कारण ये देश अपना माल और कहीं नहीं बेच सकते थे और अन्त में हारकर उन्हें जर्मनी को ही बेचना पड़ता था और बदले में उसका ही माल खरीदना पड़ता था। इस चतुरता के साथ जर्मनी ने इन देशों पर आर्थिक आधिपत्य जमा लिया और वे अपना माल बेचने तथा विदेशी माल खरीदने के लिए जर्मनी पर ही आश्रित हो गए।

(३) जर्मनी ने रूमानिया की मुद्रा के साथ अपनी मुद्रा (मार्क) की दर बढ़ाकर अपने लिए ऐसी स्थिति पैदा कर ली कि अब वह रूमानिया के माल के लिए रूमानिया की मुद्रा में अधिक-से-अधिक मूल्य दे सकता था। इससे जर्मनी को तो रूमानिया का माल अपनी मुद्रा में सस्ता पड़ता परन्तु रूमा-निया को जर्मनी का माल महंगा पड़ता था। इससे जर्मनी को क्या हानि थी? जर्मनी असीमित मात्रा में रूमानिया से गेहूँ मंगाता रहा और इसका नकद भुगतान न करके वर्लिन में रूमानिया के लेखे में जमा करता रहा। रूमानिया इसके बदले में जर्मनी का माल मंगाने के लिए बाध्य था। इस प्रकार जर्मनी को सस्ता गेहूं मिलता रहा परन्तु रूमानिया को जर्मनी का माल महंगा मिलता था। इसी समय इंगलैण्ड की मुद्रा में रूमानिया की मुद्रा की दर नीची थी जिससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूमानिया का माल इंगलैण्ड में महँगा पड़ने के कारण निर्यात नहीं होने पाता था। यद्यपि इंगलैण्ड का माल रूमानिया को सस्ता पड़ता था परन्तु वह (रूमानिया) वहां से माल नहीं मंगा सकता था क्योंकि उसका भुगतान चुकाने के लिए उसके पास पौण्ड नहीं थे और न वह इंगलैण्ड में निर्यात करके पौण्ड कमा ही सकता था। अतः रूमानिया का भाग्य जर्मनी के साथ बंध गया और वह लेने-देने में जर्मनी पर आश्रित हो गया। इस प्रकार जर्मनी ने युद्ध के लिए काफी गेहूं संचित कर लिया।

(४) युद्ध के पूर्व जर्मनी ने भिन्न-भिन्न देशों की मुद्राओं के साथ अपनी मुद्रा की दर भिन्न-भिन्न निर्धारित कर रक्खी थी। जिस देश से उसे माल मंगाना होता था उस देश की मुद्रा के साथ वह अपनी मुद्रा की दर नीची रखता था और जिस देश को अपना माल भेजना होता था उसकी मुद्रा के साथ अपनी दर ऊंची रखता था। इस प्रकार उस समय जर्मनी में भिन्न-भिन्न दरों के हिसाब से कई प्रकार के मार्क होते थे जैसे Registermarks, Blockmarks, Sondermarks, Handelmarks, Degomarks आदि-आदि। ये मार्क इंगलैण्ड में भिन्न-भिन्न दरों पर बेचे और खरीदे जाते थे—इनकी दर इंगलैण्ड में २ पेंस से लगाकर १ शिलिंग ९ पेंस तक थी।

सारांश यह है कि जर्मनी ने युद्ध आरम्भ करने से पहिले अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी कूटनीति द्वारा युद्ध की पूरी-पूरी तैयारियां कर ली थीं। विनिमय-समाशोधन समझौतों द्वारा अनाज, कपड़ा तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भण्डार भर लिए थे जिससे युद्ध सफलतापूर्वक लड़ा जा सके। जर्मनी ने अपनी विनिमय-नीति द्वारा अनेक देशों को आर्थिक दृष्टिकोण से गुलाम बना लिया था पर अब इस बात को संसार जान गया है—इसलिए भविष्य में कोई देश इस प्रकार की चालाकी में सफल नहीं हो सकेगा।

भारत में विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था

युद्धकालीन व्यवस्था—प्रथम महायुद्ध-काल में रुपये की विदेशी विनिमय-दर पर कोई नियन्त्रण नहीं रक्खा गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि रुपये की स्टर्लिंग-दर में खूब उतार-चढ़ाव हुए यहां तक कि एक रुपया १ शि० ४ पें० से बढ़कर २ शि० ११ पें० तक जा पहुंचा। युद्ध समाप्त होने पर विदेशी विनिमय के लेन-देन में सट्टेबाजी चलती रही जिसके परिणामस्वरूप १९२१-२२ में देश के व्यापार और उद्योग को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही भारत-सरकार ने पिछली परिस्थितियों से अनुभव लेकर विदेशी विनिमय को नियन्त्रित करके संचालित करने के भरसक प्रयत्न किए जो यहां दिए जाते हैं:—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को अधिकार दे दिया कि वह सोना, सिक्यूरिटियों तथा विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का प्रबन्ध करे। रिजर्व बैंक ने इस काम के लिए एक विनिमय-नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) खोला और ४ सितम्बर १९३९ को विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य तथा उपाय समझाने के लिए एक विज्ञप्ति निकाली जिससे जनता को इसकी जानकारी हो सके। युद्धकाल में विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगा दिया गया। विदेशी मुद्रा केवल उन्हीं कामों के लिए बेची जाती थी जो युद्ध में सहायक हों। सट्टेखोरी या मुनाफाखोरी के लिए विदेशी मुद्राएं नहीं बेची जा सकती थीं। विदेशी मुद्राएं केवल उन्हीं लोगों व संस्थाओं को बेची जाती थीं जिनको रिजर्व बैंक इसके लिए उपयुक्त समझता था। ऐसे लोगों व संस्थाओं को रिजर्व बैंक ने लाइसेन्स दे दिए थे। केवल ये ही लोग बैंक से विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय कर सकते थे। जनता को इन्हीं लाइसेन्स रखनेवाले लोगों से विदेशी मुद्रा खरीदनी पड़ती थीं। विनिमय-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अनेक उपाय किए और ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई नए-नए उपाय काम में लाए जाते रहे। कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय, जिनके द्वारा युद्धकाल में विनिमय-नियन्त्रण किया गया, इस प्रकार हैं:—

(१) रिजर्व बैंक ने कुछ विदेशी विनिमय-बैंकों तथा तालिकाबद्ध बैंकों (Scheduled Banks) को विदेशी मुद्राएं खरीदने-बेचने का अधिकार देने के लिए लाइसेन्स दे दिए। लाइसेन्स देने से पहिले इन बैंकों को यह बात समझा दी गई कि वे किन-किन बातों के लिए तथा किस प्रकार विदेशी मुद्रा बचें। ये बैंक विदेशी मुद्रा तभी बेचा करते थे जब कि विदेशी मुद्रा खरीदनेवाला व्यक्ति माल मंगवाने का सबूत दे दिया करता था। इन बैंकों को प्रतिदिन विदेशी मुद्रा की खरीद-बेच का लेखा रिजर्व बैंक को भेजना पड़ता था।

(२) सरकार ने एक निर्यात-नियन्त्रण योजना बनाई जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो लोग भारत से बाहर माल भेजें और इस माल के बदले में स्टर्लिंग को छोड़कर जो विदेशी मुद्रा मिले वे इस मुद्रा को रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना व्यय नहीं कर सकते।

(३) माल के आयात करने पर भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि विदेशी मुद्रा, विशेषकर दुर्लभ-मुद्रा, केवल उसी माल को आयात करने के लिए मिलेगी जिस माल को आयात करनेवाले व्यापारी ने सरकारी आज्ञा लेकर मंगाया हो। यह प्रतिबन्ध २० मार्च १९४० में लगाया गया परन्तु जैसे-जैसे परिस्थिति अनुकूल आती गई प्रतिबन्ध ढीले कर दिए गए। १९४५-४६ के पश्चात् सरकार ने माल आयात करने के प्रतिबन्ध ढीले कर दिए जिससे पहिले की अपेक्षा अधिक माल बाहर से आने लगा। लोगों को विदेश-यात्रा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करने की सुविधाएं भी बढ़ा दी गईं। विदेश-यात्रा के लिए पहिले केवल उन्हीं लोगों को विदेशी मुद्रा दी जाती थीं जो किसी बहुत आवश्यक काम से विदेश जाते थे। परन्तु धीरे-धीरे अन्य व्यापारियों तथा विद्यार्थियों को भी विदेश जाने की सुविधाएं मिलने लगीं।

(४) नवम्बर १९४० में प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना किसी भी प्रकार के सिक्के या नोट भारत से बाहर नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार सोना या अन्य किसी प्रकार के जेवर या जवाहिरात भी बाहर नहीं भेजे जा सकते थे। इनको भेजने के लिए रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

सितम्बर १९४३ में भारतीय मुद्रा, ईरानी रायल, अफगानी रायल तथा लंका के नोटों को छोड़ सब प्रकार की मुद्रा के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। जनवरी १९४४ में भारतीय नोटों के अतिरिक्त अन्य सब नोटों के आयात पर रोक लगा दी गई। इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का उद्देश्य शत्रु राष्ट्रों द्वारा प्रचारित नोटों को रोकना तथा अपनी मुद्रा का उपयोग शत्रु राष्ट्रों को न होने देने का था।

(५) नवम्बर १९४१ में भारत-सरकार ने, भारत में रहनेवाले लोगों के पास जो डालर थे अपने अधिकार में कर लिए और उनके बदले में रुपये दे दिए गए। सरकार ने भारत में रहनेवाले लोगों से अमरीका की सिक्यूरिटियां भी लेकर अपने अधिकार में कर लीं और उनके बदले में रुपये दे दिए।

(६) भारत से स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में राशि भेजना बन्द कर दिया गया। अक्तूबर १९४१ में निश्चय कर दिया गया कि भारत में व्यापार करनेवाली कोई भी कम्पनी लाइसेन्स लिए बिना अपने लाभ स्टर्लिंग-क्षेत्र से बाहर नहीं भेज सकती। १९४३-४४ में डॉलर मिलने लगे और अमरीका की कम्पनियों को भारत से बाहर राशि भेजने की छूट मिल गई तथा दूसरी कम्पनियों पर लगे हुए प्रतिबन्ध भी ढीले कर दिए गए।

इन विभिन्न प्रतिबन्धों का उद्देश्य देश के आर्थिक कलेवर को व्यवस्थित कर विदेशी मुद्रा को युद्ध-काल के लिए समुचित एवं पूर्ण उपयोग में लाना, शत्रु राष्ट्रों द्वारा हमारी सम्पत्ति के उपयोग को रोकना तथा आयात-निर्यात के नियन्त्रण द्वारा युद्धकार्य के लिए यातायात के साधनों का पूर्ण उपयोग करना था।

(७) स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में जानेवाले यात्रियों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १७ जुलाई १९४३ को सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके द्वारा रिजर्व बैंक से आज्ञा लिए बिना विदेशों को जानेवाले लोगों पर रोक लगा दी गई। परन्तु ये प्रतिबन्ध उन लोगों पर नहीं थे जो ईराक, अरब, पूर्वी अफ्रीका, इंगलैण्ड या भारत की सीमा पर लगे हुए अन्य देशों को जाना चाहते थे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(८) २८ जुलाई १९४१ को भारत में व्यापार करने वाली जापानी कम्पनियों तथा दूसरे जापानी व्यापारियों के विदेशी मुद्रा के कोष छीनकर सरकारी अधिकार में ले लिए गए। जापानी कम्पनियों तथा जापानी व्यापारी रिजर्व बैंक की आज्ञा के विना इन विदेशी मुद्रा-कोषों को किसी भी काम में नहीं ला सकते थे। दिसम्बर १९४१ में जापान के साथ युद्ध आरम्भ होने पर भारत में रहने वाले जापानियों की सम्पत्ति को शत्रु-सम्पत्ति घोषित करके सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया और उसकी व्यवस्था शत्रु-सम्पत्ति-संरक्षक को सौंप दी गई। इसका उद्देश्य यह था कि इस सम्पत्ति का उपयोग मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध न हो सके। विदेशियों का जो धन भारतीय बैंकों में था उसके भुगतान के लिए कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने रोक लगा दी। १९४२ में जापान के अधिकार में आए हुए देशों जैसे हांगकांग, मलाया, बोर्नियो आदि देशों के रहनेवाले लोगों की भारत-स्थित सम्पत्ति भी सरकारी अधिकार में कर ली गई।

इन सब उपायों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विनिमय-नियन्त्रण करने में भारत सरकार ने 'प्रतिवन्ध की नीति' का पालन किया। माल के आयात-निर्यात तथा विदेशी यात्रा पर प्रतिवन्ध लगा दिए गए; सोना, सिक्के, नोट, जेवर तथा जवाहिरात के लाने-लेजाने पर रोक लगा दी गई तथा विदेशियों के भारत-स्थित लेखे और सम्पत्ति भी सरकार ने 'घेर कर' अपने अधिकार में ले लिए। इस सब का उद्देश्य यह था कि विदेशी मुद्राओं को अन्य कामों से बचा-बचा कर युद्ध के काम में आनेवाले माल को खरीदने में लगाया जाय। दूसरा उद्देश्य यह था कि विदेशी विनिमय का इस प्रकार प्रवन्ध हो जिससे शत्रु राष्ट्र कोई लाभ न उठा सकें। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण में इस वात का प्रयत्न किया गया कि व्यक्तिगत व्यापार कम-से-कम हो जिससे माल लाने-लेजानेवाले जहाज और अन्य व्यापारिक सुविधाएं लड़ाई के काम में लाई जा सकें। युद्ध समाप्त होने के वाद आज तक विदेशी विनिमय पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण है।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण कानून—१९४७

वर्तमान व्यवस्था—युद्ध-काल में विनिमय-नियन्त्रण का अधिकार भारत सरकार ने भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत ले रखा था। इसकी अवधि ३१ मार्च १९४७ को समाप्त होनी थी। अतः सरकार ने युद्ध के पश्चात् विनिमय-नियन्त्रण करने का अधिकार लेने के लिए "विदेशी विनिमय नियन्त्रण कानून" (Foreign Exchange Regulation Act) पास किया। यह कानून २५ मार्च १९४७ से लागू कर दिया गया। इस कानून के द्वारा भारत सरकार को विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी वे सभी अधिकार मिले जो युद्ध काल में भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मिले हुए थे। इस कानून के अन्तर्गत भी विनिमय-नियन्त्रण का काम रिजर्व बैंक को मिला। यह बैंक भारत सरकार के विभाग की हैसियत से अपने विदेशी-विनिमय-विभाग द्वारा देश में विनिमय का प्रबन्ध करता है। युद्ध-काल में भारत-रक्षा-कानून की विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी धाराओं के अन्तर्गत भारत से स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में राशि भेजने के लिए रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक था। नए कानून के अन्तर्गत भारत से बाहर किसी भी देश को राशि भेजने से पहिले रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक हो गया। अब स्टर्लिंग-क्षेत्र में भी राशि भेजने से पहिले बैंक की आज्ञा लेना अनिवार्य बना दिया गया परन्तु बार-बार की असुविधा से बचने के लिए रिजर्व बैंक ने २५ मार्च १९४७ को ही एक विज्ञप्ति निकालकर स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों में राशि भेजने की एक सामान्य आज्ञा दे दी जिससे युद्धकालीन विनिमय-नियन्त्रण तथा वर्तमान विनिमय-नियन्त्रण-व्यवस्था में कोई भेद नहीं रहा।

इस कानून के अन्तर्गत भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक को विदेशी मुद्राओं के लेन-देन पर नियन्त्रण सम्बन्धी तथा सोना-चांदी, सिक्के, नोट, जेवर, जवाहिरात आदि के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध सम्बन्धी अनेक अधिकार मिले हुए हैं। रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की विनिमय-नियन्त्रण सम्बन्धी धाराओं को दृष्टि में रखते हुए देश में विनिमय-नियन्त्रण का प्रबन्ध करता है।

अगस्त १९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान बन जाने से इस कानून में आवश्यक संशोधन कर दिए गए हैं। विनिमय-नियन्त्रण के दृष्टिकोण से पाकिस्तान को विदेशी राष्ट्र मान लिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय-स्थायित्व

युद्धोत्तर-काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रगति देने के उद्देश्य से संसार भर की मुद्राओं में पारस्परिक एकता पैदा करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष' नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सन् १९४४ म स्थापित की जा चुकी है। अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ इस संस्था के ये भी उद्देश्य हैं:—

(१) संसार के देशों में मुद्रा सम्बन्धी एकता पैदा करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना।

(२) सदस्य-देशों की मुद्राओं की आपस की विनिमय-दर का प्रबन्ध करना तथा विनिमय-दरों को स्थिर बनाने का प्रयत्न करना।

(३) किसी भी सदस्य-देश में लगाए गए विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रणों को दूर करने का प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अड़चन न हो।

इस प्रकार मुद्रा-कोष का प्रमुख उद्देश्य सदस्य-देशों को विदेशी विनिमय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धी सुविधाएं देना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो और इसके द्वारा सदस्य-देश अपना-अपना अधिक से अधिक आर्थिक विकास कर सकें। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोष ने सब सदस्य-देशों की मुद्राओं का मूल्य सोने तथा अमरीकी डॉलर में व्यक्त करके उन सब की आपसी विनिमय-दरें भी निश्चित कर दी हैं। ये विनिमय-दरें प्रत्येक सदस्य-देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की मात्रा को दृष्टि में रखकर निश्चित की गई हैं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि विनिमय-दरों का प्रबन्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियन्त्रण में आ गया है जिससे उनमें जल्दी-जल्दी और भारी-भारी उतार-चढ़ाव नहीं होंगे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मुद्राओं की विनिमय-दरों में आवश्यक फेर-बदल की जा सकती है।

कोष के पास सब सदस्य-देशों की मुद्राएं तथा सोना जमा रहता है जिन्हें वह अस्थायी भुगतान-विषमता को दूर करने में काम लाता है। जब किसी सदस्य-देश को अपनी भुगतान-विषमता दूर करने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है तो वह कोष से उधार ले लेता है और इस प्रकार सब सदस्य-देशों में पारस्परिक भुगतान-संतुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है। जब कभी किन्हीं सदस्य-देशों के बीच स्थायी रूप से भुगतान-विषमता होती है तो उन देशों की विनिमय-दरों में आवश्यक समायोजन कर दिया जाता है। (सितम्बर १९४९ में पौण्ड, रुपया तथा अन्य अनेक मुद्राओं के डॉलर-मूल्य में जो कमी की गई थी वह इसी उद्देश्य को लेकर हुई थी।)

कोष विदेशी विनिमय के स्वतन्त्र लेन-देन में विश्वास करता है और उसका विचार है कि संसार के वैदेशिक व्यापार के विकास के लिए किसी भी देश में विनिमय-सम्बन्धी नियन्त्रण नहीं होने चाहिएँ। युद्ध-काल में संसार के अनेक राष्ट्रों ने विनिमय-नियन्त्रण के उपाय किए थे। कोष ने विदेशी विनिमय के लेन-देन पर लगे हुए उन प्रतिबन्धों को उठा लेने की सलाह दी थी। परन्तु युद्धोत्तर-काल में युद्धपूर्व-परिस्थितियों को लौटाने के लिए विनिमय-नियन्त्रण की अवधि ३१ मार्च १९५२ तक बढ़ा दी गई। यह अवधि समाप्त होने से पहिले ही मुद्रा-कोष ने अपनी जून १९५१ को समाप्त होनेवाले वर्ष की वार्षिक रिपोर्ट में सब सदस्य-देशों से अपील की कि वे निश्चित अवधि समाप्त होने तक विनिमय-नियन्त्रण को दूर करके विनिमय के लेन-देन पर लगे हुए प्रतिबन्धों को उठा लें। परन्तु कोष के सदस्य-देशों पर इस अपील की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। अतः विनिमय-नियन्त्रण अभी तक लगे हुए हैं। स्टर्लिंग-क्षेत्र के सभी देशों, विशेषकर इंगलैण्ड के सामने डॉलर की समस्या अपने भयानक रूप को लेकर फिर आ खड़ी हुई। १९४९ में इंगलैण्ड, भारत तथा अन्य अनेक देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके सोचा था कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उनके निर्यात व्यापार को प्रगति मिलेगी और वे डॉलर कमाकर अमरीका से अपने आयात बढ़ा सकेंगे । उनका विश्वास था कि अवमूल्यन के द्वारा स्टर्लिंग-क्षेत्र और डॉलर-क्षेत्र की भुगतान-विषमता दूर हो जायगी । अवमूल्यन करने के पश्चात् कुछ समय तक स्थिति बड़ी सन्तोषजनक रही । इंगलैण्ड ने अवमूल्यन के पश्चात् लगभग-लगभग १½ वर्षों में अपने डॉलर एवं स्वर्ण-कोष बढ़ा-बढ़ा कर लगभग ४,००,००,००,००० डॉलर के बराबर कर लिए थे । परन्तु बाद में परिस्थिति फिर बिगड़ने लगी । इंगलैण्ड के डॉलर-कोष बड़ी तेजी से कम होते गए । १९५२-५३ की तीसरी तिमाही में स्टर्लिंग-क्षेत्र की डॉलर की कमी कोई ६,००,००,००,००० डॉलर के आसपास रही । इस प्रकार मुद्रा-कोष के सदस्यों के सामने भुगतान-विषमता की समस्या होने के कारण विनिमय के लेन-देन पर से नियंत्रण उठा लेने के आसार दिखाई नहीं देते । हां, लंका सरकार ने कुछ सीमा तक विनिमय पर लगाए गए प्रतिबन्ध हलके कर दिए हैं । आशा है, भविष्य में स्थिति सुधरने पर अन्य देश भी ऐसा कर सकेंगे ।

सारांश

विनिमय-नियंत्रण का अर्थ है विदेशी मुद्राओं की मांग और प्रदाय को घटा-बढ़ाकर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर में आवश्यक तथा इच्छानुसार फेर-बदल करना । विनिमय-नियंत्रण के तीन उद्देश्य होते हैं—(१) मुद्रा का बहुमूल्यन करना, (२) मुद्रा का अवमूल्यन करना, (३) मुद्रा की दर में होने वाले त्वरित उतार-चढ़ावों को रोकना । मुद्रा का बहुमूल्यन देश के विदेशी व्यापारिक लेन-देन की विषमता को दूर करने के लिए, विदेशों से देश में आयात बढ़ाने के लिए तथा विदेशी ऋणों का भुगतान चुकता करने में सुविधा के लिए किया जाता है । मुद्रा का अवमूल्यन प्रायः विदेशों में निर्यात बढ़ाने के लिए किया जाता है । इसी प्रकार देशी और विदेशी व्यापार में स्थायित्व लाने के लिए मुद्रा की विनिमय-दर में होनेवाले त्वरित उतार-चढ़ावों को रोककर थामने की आवश्यकता होती है ।

विनिमय-नियंत्रण के दो प्रमुख उपाय होते हैं—(१) सरकार की 'हस्तक्षेप-नीति', (२) सरकार की 'प्रतिबन्ध-नीति' । हस्तक्षेप की नीति में सरकार स्वयं विदेशी विनिमय-मण्डी में जाकर किसी मुद्रा की, जिसमें उसका हित हो, मांग या प्रदाय बढ़ाती है । प्रतिबन्ध की नीति में सरकार विनिमय के लेन-देन पर प्रतिबन्ध लगाकर उस मुद्रा की मांग और प्रदाय को मण्डी में आने से रोक देती है । हस्तक्षेप की नीति के अनुसार सरकार स्वयं मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है तथा प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर रोक लगा देती है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-नियंत्रण के परोक्ष ढंग भी हैं जैसे, (१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण, (२) ब्याज की दर में कमी-वेशी। इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण विनिमय-समातुलन कोषों द्वारा तथा लेखे खड़े रहने के समझौतों द्वारा भी किया जाता है।

समय की परिस्थिति के अनुसार विनिमय-नियंत्रण में कोई भी उपाय काम में लाया जा सकता है परन्तु कोई भी शस्त्र उसी समय काम में लाना चाहिए जब उसकी अनिवार्य आवश्यकता हो। इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने की आवश्यकता है जो समय-समय पर इस बात का निर्णय करता रहे कि विनिमय-नियंत्रण में किस समय कौन सा उपाय काम में लाया जाय। सौभाग्य से ऐसा विधान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के रूप में आज संसार में उपलब्ध है।

युद्ध-काल में प्रत्येक देश ने विनिमय-नियंत्रण के किसी न किसी उपाय द्वारा अपनी-अपनी मुद्रा की दर स्थायी रखने के प्रयत्न किए। भारत सरकार ने भी विनिमय नियंत्रित रक्खा। सरकार ने ये उपाय किए—(१) निर्यात-आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर 'कोटा' निश्चित कर दिए, (२) विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का प्रबन्ध अपने अधिकार में ले लिया, (३) सोने-चांदी के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाए, (४) देशी मुद्रा के निर्यात तथा विदेशी मुद्राओं के आयात पर रोक लगा दी, (५) लोगों के पास जमा विदेशी मुद्राएं लेकर अपने अधिकार में कर लीं, (६) आयात-निर्यात के लिए लाइसेंस की प्रथा चलाई, (७) यात्रियों तथा पर्यटकों के बाहर जाने पर नियन्त्रण लगा दिए, (८) विदेशी कम्पनियों की भारत-स्थित सम्पत्ति अपने अधिकार में ले ली। युद्ध समाप्त होने पर भी विनिमय-नियंत्रण की आवश्यकता बनी रही। अतः सरकार ने १९४७ में विदेशी विनिमय-नियंत्रण कानून पास किया जिसके अनुसार अब भी देश का रिजर्व बैंक अपने विदेशी विनिमय-नियंत्रण विभाग द्वारा विनिमय नियंत्रित करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशी विनिमय-नियंत्रण करने-कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष है जो सदस्य-देशों में विनिमय-नियंत्रण की आवश्यकता एवं सदस्य-देशों द्वारा लगाए गए विनिमय-नियंत्रण की जांच-पड़ताल करता और तदनुसार अपनी सम्मति देता है। सितम्बर १९४९ में संसार के मौद्रिक इतिहास में जो क्रान्ति हुई वह मुद्रा-कोष के प्रयत्नों का परिणाम था। अनेक देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं के मूल्यों में समायोजन करके यह बतला दिया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए कितन प्रयत्नशील हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि शनैः शनैः सब देश विनिमय-नियन्त्रण को हटाकर स्वतन्त्र-नीति अपना लें। तभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भावी विकास सम्भव होगा। पर निकट भविष्य में ऐसी कोई आशा नहीं की जा सकती।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'विनिमय-नियन्त्रण' से आपका क्या अर्थ है ? यह किन उद्देश्यों को लेकर लगाया जाता है ? विस्तार के साथ उत्तर दीजिए ।

(२) मुद्रा का 'अवमूल्यन' और 'बहुमूल्यन' क्यों किया जाता है ? सितम्बर १९४९ में भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन क्यों किया था ?

(३) विनिमय-नियन्त्रण के उपायों की मीमांसा करते हुए समझाइए कि इनमें से कौनसा उपाय आजकल अधिक प्रयोग किया जाता है । भारत सरकार ने इस समय कौनसा उपाय अपना रक्खा है ?

(४) विनिमय-नियंत्रण में "प्रतिबन्ध की नीति" से आप क्या समझते हैं ? समझाइए कि इस नीति में 'हस्तक्षेप की नीति' की अपेक्षा कौन-कौन से विशेष गुण हैं ।

(५) विनिमय-नियंत्रण में 'हस्तक्षेप की नीति' किसे कहते हैं ? इस नीति को मानने में क्या-क्या कठिनाइयां उपस्थित होती हैं ? इन कठिनाइयों को कैसे और किस सीमा तक पार किया जाता है ?

(६) युद्धकाल में हमारे देश में विदेशी-विनिमय-नियंत्रण कैसे किया गया था ? समझाकर ब्यौरेवार लिखिए ।

(७) विदेशी-विनिमय-नियंत्रण कानून १९४७ पर एक निबंध लिखिए । इस कानून की मुख्य-मुख्य धाराएं क्या हैं ?

(८) युद्ध के पश्चात् आज हमारे देश में विनिमय-नियंत्रण की क्या नीति बरती जा रही है ? यह काम आज किसके हाथ में है ?

(९) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने सदस्य-देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दरों में स्थायित्व लाने के लिए क्या व्यवस्था कर रक्खी है ? समझा कर लिखिए ।

(१०) संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए—

(१) मुद्रा का बहुमूल्यन
(२) विनिमय-नियन्त्रण में हस्तक्षेप की नीति
(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की विनिमय-व्यवस्था ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तृतीय भाग

बैंकिंग के सिद्धान्त

बैंक की परिभाषा; बैंक के कार्य; बैंकों का वर्गीकरण;
बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध; साख-सृजन;
बैंक की विनियोग-नीति तथा उसकी सीमाएं;
केन्द्रीय बैंक एवं साख-नियंत्रण;
बैंक-दर तथा खुला-बाजार क्रियाएं;
समाशोधन-गृह; आदि-आदि।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १४

बैंक एवं उनकी क्रियाएं

बैंक की परिभाषा

बैंक प्रायः उस संस्था को कहते हैं जो मूलतः जनता से राशि जमा करने तथा जनता को ऋण देने का काम करती है। लोग अपनी-अपनी बचत-राशि को सुरक्षा की दृष्टि से अथवा ब्याज कमाने के हेतु, इन संस्थाओं में जमा करते और आवश्यकतानुसार समय समय पर निकालते रहते हैं। ये संस्थाएं इस प्रकार जमा की हुई राशि को व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को ऋण देकर ब्याज कमाती हैं। जमा लेने तथा ऋण स्वीकृत करने के अतिरिक्त बैंक अन्य काम भी करते हैं जैसे—सुरक्षा के लिए लोगों से उनके आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं जमा रखना, चेकों का संग्रहण करना, अपने ग्राहकों के बीमे की प्रव्याजि प्रेषित करने की व्यवस्था करना, व्यापारिक बिलों की कटौती करना, एजेंसी का काम करना, गुप्त रीति से ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना, आदि। इन सब क्रियाओं को सम्मिलित करते हुए बैंक की एक वैज्ञानिक परिभाषा निर्धारित करना वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। सेयर्स लिखता है कि बैंक केवल मुद्रा का लेन-देन ही नहीं करते वरन् साख का व्यवहार भी करते हैं अतः बैंक को साख का सृजनकर्ता मानना चाहिए। डाक्टर एच० एल० हार्ट का कथन है कि बैंक वह संस्था है जो जनता से चल-लेखे पर राशि जमा करे और फिर उसका भुगतान शनैः शनैः उस पर लिखे गए चेकों द्वारा करता रहे। इस परिभाषा में यद्यपि बैंक के मूल तत्त्व का आभास मिलता है तो भी इसे आधुनिक अर्थों में सर्वांगपूर्ण नहीं कह सकते क्योंकि बैंक केवल जमा करनेवालों के द्वारा लिखे गए चेकों का भुगतान ही नहीं करता वरन् अन्य अनेक ऐसे कार्य करता है जिनका समावेश इस परिभाषा में नहीं है। इस तर्क की पुष्टि करते हुए सर जॉन पंगटे ने लिखा है—"कोई भी संस्था तब तक बैंक नहीं कही जा सकती जब तक कि वह सामान्य जनता से राशि जमा न करे, उनके नाम पर चल-लेखे न खोले और अपने ग्राहकों के चेकों का भुगतान एवं संग्रहण न करे।" इससे स्पष्ट होता है कि बैंक का काम राशि जमा करने के अतिरिक्त चेकों का भुगतान एवं संग्रहण करना भी होता है। अतः मुद्रा और साख का लेन-देन करनेवाली संस्था को बैंक की संज्ञा दी जा सकती है। भारतीय कम्पनी विधान १९३६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की धारा २७७ के अनुसार बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जिसका मूल व्यवसाय जनता से चल तथा अन्य लेखों पर राशि जमा करना तथा चेकों व ड्राफ्टों द्वारा एवं अन्य किसी प्रकार से उस जमा-राशि का भुगतान करना हो। प्रोफेसर शिराज के अनुसार बैंक वह संस्था है जिसमें लोग अपनी अतिरेक-राशि जमा करके अपना लेखा खोलें और फिर उस लेखे के आधार पर जमा करने-वाला चेक लिखकर अपनी जमा-राशि का भुगतान लेता रहे। इनके अनुसार बैंक का दूसरा मुख्य कार्य अपने पास जमा-राशि को ऋण देना एवं बिलों की कटौती करना है। प्रोफेसर शिराज की इस परिभाषा से बैंक की आधुनिक क्रियाओं का आभास मिलता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अन्तर्गत बैंक एवं बैंकिंग व्यवसाय की निश्चित रूपरेखा निर्धा-रित की गई है। इस एक्ट के अनुसार "ऋण देने अथवा विनियोग के लिए सामान्य जनता से राशि जमा करना तथा चेकों, ड्राफ्टों व आदेशों द्वारा मांगने पर उस जमा-राशि का भुगतान करना बैंकिंग व्यवसाय कहलाता है" और "इस व्यवसाय को करनेवाली संस्था ही बैंक कहलाती है।" इस प्रकार बैंक की परिभाषा निर्धारित करते समय हमें बैंकिंग व्यवसाय के मूल तत्त्व को समझना और उसे परिभाषा में सम्मिलित करना आवश्यक है। अतः यह कहना चाहिए कि कोई भी संस्था, जो जनता से राशि जमा करने तथा चेकों द्वारा उसका भुगतान करने का काम करे, बैंक कहलाती है। इस कार्य के साथ साथ वह मुद्रा और साख सम्बन्धी कोई भी लेन-देन कर सकती है।

बैंक की क्रियाएं

बैंक की क्रियाओं और सेवाओं को चार वर्गों में बांटा जा सकता है :— (१) जनता से राशि जमा करना, (२) जनता को ऋण स्वीकृत करना, (३) ग्राहकों के लिए एजेंट बनकर काम करना, (४) विविध सेवाएं करना।

(१) जनता से राशि जमा करना—बैंक जनता से दो प्रकार से राशि जमा करता है—एक तो अंश बेचकर अंश-पूंजी द्वारा और दूसरे जनता से उनकी अतिरेक बचत-राशि जमा करके। अंश-पूंजी को सामान्यतः जमा-राशि में नहीं गिना जाता क्योंकि एक बार अंश बेचकर प्राप्त की हुई राशि प्रायः अंशधारियों को लौटाई नहीं जाती। वह राशि स्थायी रूप से बैंक की पूंजी बनकर काम आती रहती है। लोग अपनी अतिरेक बचत-राशि को बैंकों में या तो सुरक्षा की दृष्टि से और या ब्याज कमाने के उद्देश्य से जमा करते हैं। कभी-कभी दोनों उद्देश्यों को लेकर राशि बैंकों में जमा की जाती है। आज-कल तो बहुत से बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति बैंकों में राशि इसलिए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जमा करने लगे हैं कि उन्हें बैंकों के द्वारा भुगतान लेन-देन में तथा राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रेषित करने में बड़ी सुविधा होती है। राशि जमा करने में बैंक प्रायः तीन प्रकार के लेखे खोलते हैं—(१) चल-लेखा, (२) स्थिर-लेखा, (३) बचत-लेखा। चल-लेखे में जो राशि जमा की जाती है वह जमा करनेवालों की मांग पर किसी समय भी बैंक को भुगतान करनी पड़ती है। यह जमा-राशि प्रायः चेकों द्वारा निकाली जाती है। इस प्रकार की जमा-राशि को बैंक की 'मांग-देनदारी' (Demand Liability) कहते हैं। चल-लेखे में जमा-राशि पर सामान्यतः ब्याज नहीं दिया जाता; यहां तक कि कभी-कभी यह शर्त भी रहती है कि जमा करनेवाले उसमें से न्यूनतम राशि कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। कुछ ऐसे भी बैंक होते हैं जो चल-लेखे की जमा पर ब्याज देते हैं।

स्थिर-लेखे में जो राशि जमा की जाती है वह एक निश्चित अवधि के लिए जमा होती है और उस अवधि के समाप्त होने से पहिले नहीं निकाली जा सकती। पर यदि कोई जमा करनेवाला अवधि समाप्त होने से पहले राशि निकालना ही चाहे तो उसे मिल भी सकती है पर उस स्थिति में जमा-राशि पर ब्याज नहीं दिया जाता। इस प्रकार की जमा-राशि को बैंक की 'काल-देनदारी' (Time Liability) कहते हैं। बैंक प्रायः काल-देनदारी पर मांग-देनदारी की अपेक्षा अधिक ब्याज-दर देते हैं।

तीसरे प्रकार की जमा बचत-लेखे में की जाती है। बचत-लेखे में निर्धारित सीमा से अधिक राशि जमा नहीं की जा सकती। इस जमा पर ब्याज की दर अपेक्षाकृत नीची होती है। इस प्रकार के लेखे कम आयवाले लोगों को बचत करने की सुविधा देने के लिए खोले जाते हैं। कुछ बैंक इसमें चेकों के प्रयोग की सुविधा भी देने लगे हैं।

उक्त तीन प्रकार के जमा-लेखों के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार की विधियां निकाली गई हैं जिनसे सामान्य लोग मितव्ययी बनकर बचत करना सीखते हैं। इन विधियों में "गोलक-लेखा" (Home Safe Account) आजकल बहुत प्रचलित हैं। जब कोई व्यक्ति किसी बैंक में गोलक-लेखा खोलता है तो बैंक एक सुन्दर और सुदृढ़ गोलक (Box) दे देता है जिसे वह व्यक्ति अपने घर ले जाता है और जिसमें वह समय-समय पर अपनी बचत-राशि डालता रहता है। इस गोलक की चाबी बैंक अपने पास रखता है। जब गोलक भर जाता है तो उसे बैंक में लाकर खुलवाया जाता है और उसमें से जमा-राशि निकालकर बैंक उस व्यक्ति के लेखे में जमा कर लेता है—गोलक-लेखे का उद्देश्य प्रायः बालकों में बचत करने की आदत डालना होता है। इस लेखे में जमा-राशि पर उसी प्रकार ब्याज़ दिया जाता है जिस प्रकार बचत-लेखे पर दिया जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कभी-कभी विशेष कार्यों के लिए विशेष प्रकार के लेखे खोले जाते हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के लिए धनराशि संग्रह करने के लिए विवाह-लेखा; शिक्षा के लिए राशि संग्रह करने के हेतु शिक्षा-लेखा आदि-आदि।

(२) **ऋण स्वीकृत करना**—बैंक का दूसरा मुख्य और महत्त्वपूर्ण कार्य जनता को राशि उधार देना होता है। बैंक अपने पास जमा राशि को ऋण देकर ब्याज कमाते हैं, वे सामान्यतः अपनी पूंजी उधार नहीं देते। इस विषय में ओवर्सटन नामक प्रसिद्ध बैंक-शास्त्री ने कहा है कि "बैंक-संचालन में मेरी स्वयं की बुद्धि और दूसरों की राशि काम आती है।" बैंक द्वारा ऋण देने की क्रिया का महत्त्व दर्शाते हुए रिकार्डो नामक एक विख्यात अर्थशास्त्री ने लिखा है—"कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था बैंकर तभी बन सकता है जब वह दूसरों को ऋण स्वीकृत करे।" वास्तव में बात यह है कि बैंक को अपना नकद-कोष रखने तथा अन्य आवश्यक सामग्री जुटाने के पश्चात् अपनी स्वयं की पूंजी ऋण देने के लिए बचती ही नहीं अतः वे जमा-राशि को ही ऋण देने में काम लाते हैं। बैंक प्रायः तीन प्रकार से ऋण देते हैं—एक, ऋण मांगनेवाले की वैयक्तिक साख पर; दूसरे, ऋण मांगनेवाले की साख के अतिरिक्त अन्य सिफारिशियों की साख पर; तीसरे, सिक्यूरिटियों, अंशों तथा अन्य चल-अचल सम्पत्ति की साख पर।

ऋण कई रूपों में स्वीकृत किया जाता है—(१) सामान्य ऋण एवं अग्रिम राशि स्वीकृत करके (Loans and Advances), (२) अधिविकर्ष द्वारा (Overdraft), (३) नकद-साख द्वारा (Cash Credit), (४) बिलों की कटौती करके (Bill discounting)।

बैंक अपने ग्राहकों तथा अन्य विश्वसनीय व्यक्तियों तथा संस्थाओं को केवल व्यवसाय एवं उत्पादन सम्बन्धी कार्यों के लिए ऋण देते हैं। ऋण सामान्यतः नकद राशि के रूप में नहीं दिए जाते वरन् ऋण लेनेवाले के नाम से एक लेखा खोलकर ऋण-राशि उसके नाम कर दी जाती है और दूसरी ओर उसके चल-लेखे में जमा कर दी जाती है जिसके बल पर ऋण लेनेवाला आवश्यकतानुसार समय-समय पर चेक लिखकर राशि लेता रहता है। इस प्रकार बैंक को सम्पूर्ण ऋण-राशि एक साथ ही देने की आवश्यकता नहीं होती जिससे बैंक का हानि-भय (Risk) कम हो जाता है। इस प्रकार ऋण देने से पहिले बैंक ऋण लेनेवाले से ऐसी जमानत ले लेता है जिनमें समय की गति के साथ-साथ विशेष मूल्य-ह्रास न हो और जो समय पड़ने पर सरलता पूर्वक बेची भी जा सकें। कभी-कभी ऋण लेने वाले की वैयक्तिक साख पर भी ऐसे ऋण स्वीकृत कर दिए जाते हैं।

बैंक द्वारा ऋण स्वीकृत करने का दूसरा रूप अधिविकर्ष (Overdraft) है। इसके अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहक को उसके चल-लेखे में जमा राशि से अधिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक निश्चित राशि निकालने का अधिकार दे देता है। पर ऐसा अधिकार प्राप्त करने से पूर्व ग्राहक को अपने बैंक के साथ अधिविकर्ष की राशि, उसकी अवधि, ब्याज-दर आदि के विषय में निश्चित सम्मेल करना पड़ता है। इस प्रकार ग्राहक अपने चल-लेखे में जमा राशि से अधिक राशि निकाल सकता है परन्तु सम्मेल द्वारा निश्चित की गई निर्धारित राशि से अधिक नहीं निकाल सकता।

नकद-साख (Cash Credit) पद्धति के अन्तर्गत बैंक ऋण मांगनेवाले की वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं देते वरन् व्यावसायिक माल के बल पर लिखे गए प्रण-पत्रों तथा साख-पत्रों की साख पर ऋण देते हैं। कभी-कभी बैंक व्यावसायिक माल को अपने गोदामों में रखवाकर उसकी साख पर ऋण देते हैं और जैसे-जैसे ऋण का भुगतान होता जाता है वैसे-वैसे गोदाम से माल निकाल-कर ऋणी को दे दिया जाता है। पर इस प्रकार ऋण देने से पहिले बैंक माल के मूल्य पर छूट (Margin) लगा लेते हैं—यदि १०० रु० के मूल्य का माल गोदाम में है तो उस पर केवल ८० रु० ऋण देकर २०% छूट काट ली जाती है। ऐसा करने में बैंक का एकमात्र उद्देश्य माल के मूल्य में कमी-बेशी होने से अपने आपको अनुमानित हानि-भय से सुरक्षित रखना होता है। इस प्रकार ऋण देने की प्रणाली स्काटलैण्ड में बहुत प्रिय और प्रचलित रही है। हमारे देश में भी इस प्रकार ऋण दिए जाते हैं।

बिलों की कटौती कराके बैंक से ऋण प्राप्त करने की प्रणाली आजकल बहुत लोकप्रिय हो गई है। कोई भी माल-विक्रेता अपने खरीदार के नाम विनिमय-बिल लिखकर उस पर उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेता है और फिर, यदि चाहे तो, किसी भी बैंक से उसकी कटौती कराके राशि प्राप्त कर सकता है। कटौती करने में बैंक अपना कमीशन काटकर बिल की शेष राशि बिलधारक को दे देते हैं और फिर बिल की अवधि समाप्त होने पर उन्हें बिल के स्वीकृति-कर्त्ता से पूरी राशि मिल जाती है। बिल की कटौती करने से पहिले बैंक यह देख लेता है कि उस बिल से सम्बन्धित व्यक्ति विश्वसनीय है या नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो उस बिल पर किसी विश्वसनीय व्यक्ति अथवा संस्था के हस्ताक्षर कराने आवश्यक होते हैं। इंगलैण्ड में इस प्रकार की "स्वीकृति-संस्थाएं" अलग होती हैं। हमारे देश में यह काम देशी बैंकर करते हैं। बिलों की कटौती करके ऋण देना बैंक अपने लिए बहुत लाभप्रद समझते हैं क्योंकि—(१) बिल की अवधि समाप्त होने पर उसका भुगतान मिलना प्रायः निश्चित होता है, (२) बिल पर मिलनेवाली राशि निश्चित रहती है, उसमें किसी प्रकार की कमी-बेशी नहीं होती, (३) आवश्यकता होने पर बैंक उन बिलों की केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती कराके अवधि से पहिले भी राशि प्राप्त कर सकता है, (४) बिलों पर दिया गया ऋण अल्पकालीन होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किसी भी प्रकार से ऋण देने में बैंक के व्यवस्थापकों को पूर्ण विचार, दूरदर्शिता एवं नियम-पालन से काम लेना चाहिए। व्यवस्थापक विज्ञ हों, चतुर हों तथा व्यवसाय का अच्छा ज्ञान रखते हों। प्रो० टॉसिग का कथन है कि "बैंक-व्यवस्थापकों को ऋण देने में साहसी और कायर होना चाहिए।"

(३) एजेंसी-कार्य करना—बैंक अपने ग्राहकों के लिए एजेंसी का काम भी करता है परन्तु ऐसा करने से पहिले वह अपने ग्राहकों से उस कार्य-विशेष को करने की लिखित अनुमति प्राप्त कर लेता है। बैंक की एजेंसी सम्बन्धी क्रियाएं इस प्रकार हैं—(१) अपने ग्राहकों के लिए बिल, चेक तथा प्रण-पत्रों की राशि वसूल करना तथा अपने ग्राहकों की ओर से चुकाए जानेवाले बिल, चेक तथा प्रण-पत्रों का भुगतान करना; (२) ग्राहकों के लिए उनके आदेशानुसार उनके लेखे में से किसी व्यक्ति अथवा संस्था को नियमित रूप से एक निश्चित राशि भुगतना, बीमा कम्पनियों को प्रव्याजि की राशि चुकाना, सरकार को ग्राहक की ओर से आय-कर चुकाना तथा उनकी ओर से माल-गुजारी चुकाने की व्यवस्था करना; (३) ग्राहकों के लिए कम्पनी के अंशों पर लाभांश तथा ऋण-पत्रों पर ब्याज वसूल करना और ग्राहकों की ओर से सरकारी सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करना; (४) अपने ग्राहकों के लिए राशि का स्थानान्तरण करना; (५) प्रबन्धक, प्रन्यासी (Trustee) तथा व्यवस्थापक का कार्य करना; (६) अपने ग्राहकों के लिए सलाहकार तथा प्रतिनिधि की हैसियत से काम करना।

(४) विविध सेवाएं—उक्त क्रियाओं के अतिरिक्त बैंक जनता की विविध प्रकार से अनेक सेवाएं करते हैं। ये विविध सेवाएं इस प्रकार हैं—(१) अपने ग्राहकों की आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं, कानूनी पत्रादि, दस्तावेज तथा अन्य मूल्यवान् वस्तुएं सुरक्षित रखना; (२) अपने ग्राहकों पर लिखे गए बिलों की स्वीकृति करना तथा अवधि समाप्त होने पर उनका भुगतान करना; (३) सरकार तथा अन्य जनसंस्थाओं द्वारा लिये जानेवाले जन-ऋण की व्यवस्था करना; (४) कम्पनियों के अंशों की बिक्री का भार लेना; (५) साख-पत्रों (Letters of Credit) द्वारा राशि का स्थानान्तरण एवं हस्तांतरण करना; (६) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना तथा ग्राहकों को विदेशी विनिमय प्राप्त करने की सुविधाएं देना; (७) अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना; (८) व्यापार एवं उद्योग सम्बन्धी आंकड़े एकत्रित करके उन्हें प्रसारित करना, उनका विश्लेषण करना तथा उन पर टिप्पणी तैयार करना।

बैंक की उक्त क्रियाओं और सेवाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बैंक देश की बिखरी और निठल्ली सम्पत्ति को केन्द्रित करके देश में उत्पादन के कार्यों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में लगाते हैं जिससे देश में पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन को प्रगति मिलती है। बैंक एक प्रकार से पूंजी और साहस के बीच में मध्यग् का काम करते हैं—जिनके पास राशि होती है पर व्यापारिक साहस नहीं होता वे अपनी राशि बैंक में जमा करते हैं और जिनके पास साहस होता है पर राशि नहीं होती वे बैंक से ऋण लेते हैं। इस प्रकार बैंक राशि और व्यापारिक साहस को समीप लाकर मिला देते हैं। बैंक देश में साख को जन्म देते हैं और साख का प्रबन्ध एवं संचालन उन्हीं के द्वारा होता है। इन सुविधाओं के कारण किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था में बैंकों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून, १९४९, के अन्तर्गत निर्धारित बैंकों के कार्य एवं सेवाएं

भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून, १९४९, के अनुसार भारतीय व्यापारिक बैंकों के कार्य एवं सेवाएं इस प्रकार निर्धारित किए गए हैं :—

(१) ऋण लेना-देना; साख एवं जमानत पर ऋण एवं अग्रिम राशि स्वीकृत करना; विनिमय-बिल, प्रण-पत्र, हुण्डी, ड्राफ्ट, जहाजी रसीद, रेलवे रसीद, ऋण-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों का लिखना, स्वीकृत करना, कटौती करना, क्रय-विक्रय करना तथा उनकी राशि संग्रहण करना एवं उनका भुगतान करना; साख-पत्र व यात्री-चेक लिखना; सोने-चांदी का क्रय-विक्रय करना; विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना; कम्पनियों के अंश व ऋण-पत्र रखना; कमीशन लेकर अंश प्राप्त करना तथा उनकी बिक्री की व्यवस्था करना; राशि का स्थानान्तरण करना; आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं एवं कागजात सुरक्षित रखना;

(२) जन-ऋण तथा वैयक्तिक ऋण के सम्मेल करना; जन-संस्थाओं एवं राज्य-सरकारों के ऋण-पत्रों का प्रकाशन करना; उनकी गारंटी करना तथा उनके बेचने की व्यवस्था करना;

(३) केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकार, स्थानीय जन-सरकार या अन्य किसी व्यक्ति या संस्था के लिए एजेन्ट बनकर काम करना; अपने ग्राहकों के लिए सलाह देना, उनकी आर्थिक स्थिति की सूचना लेना-देना तथा माल के क्रय-विक्रय में ग्राहकों की सहायता करना;

(४) क्षतिपूर्ति में आई हुई किसी भी सम्पत्ति का प्रबन्ध करना, बेचना तथा उससे राशि वसूल करना;

(५) ऋण देने के क्रम में साख के रूप में आई हुई सम्पत्तियों का रखना; ट्रस्टी के रूप में अन्य सम्पत्तियों की व्यवस्था करना; अपने ग्राहकों की सम्पत्तियों का प्रबन्धक तथा व्यवस्थापक बनकर काम करना;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) बैंक के कर्मचारियों द्वारा संचालित तथा स्थापित संस्थाओं की सहायता करना; बैंक की सुविधा के लिए गृहादि बनाना, मरम्मत करना तथा अदल-बदल भी करना ;

(७) समय-समय पर भारत सरकार द्वारा निकाले गए आदेशों के अनुसार कार्य एवं सेवाएं करना ;

स्मरण रहे कि उक्त कार्य व्यापारिक बैंकों के लिए निर्धारित किए गए हैं। विशिष्ट प्रकार की बैंकों को विशेष प्रकार के कार्य उक्त कार्यों के अतिरिक्त करने होते हैं जिनका वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

बैंकों के भेद

आधुनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टता पाई जाती है। वही बात बैंकों के साथ भी है। कुछ बैंक सामान्य बैंकिंग कार्य करते हैं और कुछ दूसरे बैंक विशेष प्रकार की सेवाएं करते हैं। यह सत्य है कि आधुनिक बैंक अनेक प्रकार के कार्य और सेवाएं करता है पर तो भी एक ही बैंक के लिए व्यापार, वाणिज्य, उद्योग व कृषि को समुचित वित्त-सहायता देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतएव विशिष्ट कार्यों के लिए अलग-अलग बैंक स्थापित किए जाते हैं, जैसे—व्यापार में सहायता देने के लिए व्यापारिक बैंक, कृषि के लिए कृषि-बैंक, उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए औद्योगिक बैंक, विदेशी व्यापार के लिए विदेशी विनिमय बैंक तथा लोगों को बचत सिखाने के लिए बचत बैंक आदि। इन सब प्रकार की बैंकों को नियमपूर्वक चलाने तथा उनमें पारस्परिक ताल-मेल बनाए रखने के लिए 'केन्द्रीय बैंक' होता है जो देश भर की बैंकिंग व्यवस्था का संचालन करता है। मूलतः बैंकों के निम्न भेद हो सकते हैं :—

(१) व्यापारिक बैंक, (२) औद्योगिक बैंक, (३) कृषि बैंक, (४) विनिमय बैंक, (५) बचत बैंक, (६) केन्द्रीय बैंक (७) विविध बैंक।

व्यापारिक बैंक—जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है व्यापारिक बैंक व्यापार सम्बन्धी कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण स्वीकृत करते हैं। ये बैंक एक ओर तो राशि जमा करते हैं और दूसरी ओर उस जमा राशि को अल्प काल के लिए ऋण देते हैं। चूंकि इनके पास जो राशि जमा होती है वह अधिकांश में 'मांग-देनदारी' होती है इसलिए ये बैंक ऋण देने से पहिले मांग-देनदारी का कुछ भाग नकद कोष के रूप में अपने पास रख लेते हैं। इन बैंकों का काम न तो उद्योगों को स्थायी पूंजी देना होता है और न व्यापार के लिए दीर्घकालीन ऋण देना होता है। ये बैंक वास्तविक व्यापारियों को ऋण देते हैं, सटोरियों को नहीं। हमारे देश में अधिकतर ऐसे ही बैंक पाए जाते हैं।

औद्योगिक बैंक—इन बैंकों का काम उद्योगों की वित्त-सहायता करना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता है। उद्योगों में प्रायः दीर्घकाल के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है अतः व्यापारिक बैंक अपने विशेष दायित्व के कारण उस आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर पाते। औद्योगिक बैंकों के पास दीर्घकाल के लिए राशि जमा होती है और साथ ही उनके पास औद्योगिक विशेषज्ञ भी होते हैं जिससे वे उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की भली भांति पूर्ति कर सकते हैं। ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों को प्रारम्भिक पूंजी उधार देते हैं, उनके अंश तथा ऋण-पत्र खरीदते एवं विकवाते हैं तथा ग्राहकों को कम्पनियों के अंश खरीदने के लिए सलाह देते हैं। योरपीय देशों में ऐसे बैंक बहुत पाए जाते हैं। जर्मनी में तो उद्योगों और व्यापार—दोनों को एक साथ वित्त-सहायता देनेवाले मिले-जुले बैंक हैं जो दोनों काम एक साथ करते हैं। इंगलैण्ड तथा अमरीका में औद्योगिक बैंक बहुत पाए जाते हैं। हमारे देश में इस प्रकार के बैंकों का बहुत अभाव रहा है पर अब सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और वह "औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशन" स्थापित करने लगी है।

कृषि-बैंक—कृषि के लिए वित्त की आवश्यकता तीन प्रकार से होती है—(१) अल्पकालीन, (२) मध्यकालीन, (३) दीर्घकालीन। इन तीनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति न तो व्यापारिक बैंक कर सकते हैं और न औद्योगिक बैंक ही कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि कृषि-धंधा एक अनिश्चित धंधा होने के कारण इसमें हानि-भय की संभावना अधिक होती है। दूसरे, इसमें निरंतर-साख की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति उक्त बैंक नहीं कर सकते। अतः कृषि-उत्पादन के लिए एक विशेष प्रकार की साख-संस्था की आवश्यकता होती है जो कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं का भली प्रकार अध्ययन कर सके और आवश्यकतानुसार कृषकों को ऋण दे सके। ऐसी संस्थाएं कृषि-बैंक हो सकती हैं। कृषि-बैंक केवल कृषि-कार्यों के लिए ऋण देते हैं। पाश्चात्य देशों में विभिन्न प्रकार की कृषि-साख-संस्थाएं हैं, जैसे—कृषि-साख-संस्था, भूमि-बन्धक बैंक, सहकारी बैंक। इंगलैण्ड में 'लैंड मॉरगेज कॉरपोरेशन' तथा फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड तथा डेनमार्क में कृषि-बैंक स्थापित किए गए हैं। हमारे देश में भी बहुत से सहकारी बैंक तथा भूमि-बन्धक बैंक हैं। हमारे देश में यह काम 'सहकारी आन्दोलन' के अन्तर्गत हुआ है। ये कृषि-बैंक क्रमशः अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करते हैं। सहकारी बैंक कृषकों के अपने बैंक होते हैं जिनमें वे ही सदस्य और वे ही ऋणदाता होते हैं। सहकारी आन्दोलन को आज लगभग ५० वर्ष हो गए पर देश भर के कृषकों की साख-व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है। अब भारत सरकार 'कृषि-साख मॉरगेज कॉरपोरेशन' खोलने के प्रस्ताव पर विचार कर रही है।

विनिमय बैंक—विनिमय बैंक मूलतः विदेशी व्यापार को वित्त-सहायता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पहुंचाते तथा भिन्न-भिन्न देशों के पारस्परिक लेन-देन का भुगतान लेते-देते हैं। हमारे देश में ये बैंक अन्तर्देशीय व्यापार में भी वित्त-सहायता देते हैं। विनिमय बैंकों की शाखाएं प्रायः सभी देशों में होती हैं क्योंकि उन्हें देश-देश के आयात-निर्यात में वित्त-सहायता देनी होती है। यही कारण है कि इन बैंकों में बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। फिर विनिमय का व्यवसाय भी कुछ पेचीदा होता है जिसके लिए इन्हें कुशल, अनुभवी तथा चतुर कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। ये बैंक विदेशी विनिमय-बिलों का क्रय-विक्रय करके विदेशी व्यापार में सहायता पहुंचाते हैं। हमारे देश में विदेशों के अनेक विनिमय बैंक हैं। पिछले दिनों तक भारतीय बैंक विनिमय का व्यवसाय नहीं करते थे पर अब हमारे बैंकों ने विदेशों में शाखाएं स्थापित करके विनिमय का व्यवसाय भी आरम्भ कर दिया है।

बचत-बैंक—यदि सच पूछा जाय तो ये बैंक नहीं होते वरन् व्यापारिक बैंकों तथा सरकारी डाकखानों के साथ लगे हुए विभाग होते हैं जिनका उद्देश्य जनता को उनकी आय में से बचत करना सिखाकर राशि संचय करना होता है। ये बचत-विभाग 'बचत-बैंक' के नाम से प्रचलित हैं। कहीं कहीं पर केवल इसी उद्देश्य को लेकर अलग से बचत-बैंक भी स्थापित किए जाते हैं। इन बैंकों का मूल उद्देश्य कम आयवाले लोगों को मितव्ययी बनाकर बचत करना सिखाना होता है। उनकी बचत-राशि को ये बैंक जमा करके उस पर ब्याज देते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अनेक प्रकार के बचत-बैंक हैं। इंगलैण्ड में डाकघर यह काम करते हैं। हमारे देश में भी डाकघर तथा व्यापारिक बैंकों ने ऐसी सुविधाएं दे रक्खी हैं।

केन्द्रीय बैंक—केन्द्रीय बैंक उक्त सभी प्रकार के बैंकों का दिग्दर्शक, पथ-प्रदर्शक तथा बैंकर होता है। देश की सभी बैंकिंग व अन्य वित्तीय संस्थाएं वित्त-सहायता के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होती हैं। जिस प्रकार सौर्यमण्डल के सब ग्रह-उपग्रह सूर्य के चारों ओर चलते हैं उसी प्रकार देश की सभी बैंकिंग संस्थाएं केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होतीं तथा उसके आदेशानुसार कार्य करती हैं। केन्द्रीय बैंक देश में केवल एक होता है जो सरकारी बैंक के रूप में काम करता तथा बैंकों का बैंक भी माना जाता है। अन्य बैंकों की तुलना में इस बैंक को कुछ विशेष कार्य करने का अधिकार मिला होता है; जैसे, देश में नोट-संचालन करना, सरकार के बैंकिंग कार्य करना, बैंकों का बैंक होना तथा देश में साख का संचालन करना। देश के धात्वीय कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा रक्खे जाते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं वरन् देश हित में कार्य करते हुए देश की मौद्रिक इकाई का बाह्य एवं आन्तरिक मूल्य स्थायी बनाना होता है जिससे देश में मूल्यस्तर का समुचित नियमन होकर उत्पादन-कार्यों को प्रगति मिल सके।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चूंकि यह बैंक सभी बैंकों की सहायता करता है इसलिए उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करता वरन् संकटकाल में उन्हें सहायता देकर डूबने से बचाता है। केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्य इस प्रकार होते हैं—(१) पत्र-मुद्रा का निर्गमन करना, (२) सरकार के लिए बैंकिंग कार्य करना, (३) सभी बैंकों के नकद-कोष सुरक्षित रखना, (४) राष्ट्र के धात्विक कोष सुरक्षित रखना, (५) विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना, (६) बैंकों के लिए समाशोधन-गृह का काम करना, (७) देश की साख-व्यवस्था का प्रबन्ध करना, (८) सरकारी जन-ऋण का प्रबन्ध करना। [इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।]

विविध बैंक—लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थान-स्थान पर विविध प्रकार के बैंक खुलने लगे हैं। इंगलैण्ड और अमरीका में विनियोगी बैंक (Investment Bank) हैं जो अपनी पूंजी को विभिन्न प्रकार से विनियोग करते हैं। फिर कहीं कहीं पर श्रम-बैंक (Labour Bank) भी देखने में आते हैं जिनमें श्रमिक वर्ग अपनी-अपनी बचत जमा करके मितव्ययिता सीखते हैं। हमारे देश के बड़े बड़े कॉलेजों में विद्यार्थियों की सुविधा के लिए विद्यार्थी-बैंक (Student Bank) खोले गए हैं। विद्यार्थी-बैंकों में बिड़ला कालेज पिलानी का 'कुबेर-निधि' नामक बैंक उल्लेखनीय है। कुबेर-निधि में विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की राशि जमा रहती है और ये ही लोग वहां से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। निधि का प्रबन्ध-संचालन विद्यार्थी स्वयं करते हैं। हमारे देश में तो 'रक्त-बैंक' (Blood Bank) भी हैं जहां स्वस्थ लोग अपना रक्त जमा करते हैं जो विशेष प्रकार के रोगियों के काम लाया जाता है।

भारत के मौद्रिक क्षेत्र में स्वदेशी बैंकरों (Indigenous Bankers) का भी एक विशिष्ट स्थान है। ये बैंकर बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करते करते व्यापारिक लेन-देन भी करते हैं। देश के ग्रामीण क्षेत्र में इन बैंकरों ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रक्खा है। वास्तव में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां ये न पाए जाते हों। कृषि एवं अन्तर्देशीय व्यापार के एक बहुत बड़े भाग को इन्हीं से वित्त-सहायता मिलती है। पर इनके सुधार की अतीव आवश्यकता है। इनकी कार्य-शैली संगठित तथा नियमबद्ध होनी चाहिए। यद्यपि रिजर्व बैंक ने इस ओर प्रयत्न किए हैं पर अभी मनोवांछित सफलता नहीं मिल सकी है।

बैंकिंग व्यवस्था के मूल रूप
(एकक-बैंकिंग तथा शाख-बैंकिंग)

प्रत्येक देश में बैंकिंग व्यवस्था का विकास भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है और इसलिए प्रत्येक देश के बैंकिंग कलेवर में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहा है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु वर्तमान शताब्दी में बैंकिंग व्यवस्था के सिद्धान्तों में कुछ ऐसे आधारभूत परिवर्तन हुए हैं कि आज की बैंकिंग पद्धति केन्द्रीय बैंक द्वारा संचालित है। प्रत्येक देश में आज तरह तरह के बैंक देखने में आते हैं और इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बैंकिंग व्यवसाय में भी श्रम-विभाजन एवं श्रम के विशिष्टीकरण को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। आज देश में बैंकिंग नीति का निर्धारण विशेषतः केन्द्रीय बैंक द्वारा होने लगा है और लगभग सभी देशों की सरकारों ने बैंकिंग कानून पास कर दिए हैं जिनके द्वारा बैंकिंग व्यवसाय का संचालन एवं नियंत्रण होता है। आजकल दो प्रकार की बैंकिंग व्यवस्थाएं देखने में आती हैं :—

(१) एकक-बैंकिंग व्यवस्था, (२) शाख-बैंकिंग व्यवस्था।

एकक-बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक प्रबन्ध, संचालन एवं व्यवस्था के विषय में स्वतन्त्र और स्वाधीन होता है पर सभी बैंकों पर देश के केन्द्रीय बैंक की देखभाल अवश्य रहती है। कुछ बैंकों को किसी क्षेत्र-विशेष के अन्तर्गत शाखाएं खोलने का अधिकार भी दे दिया जाता है। सेयर्स का लेख है कि गत शताब्दी में अमरीका के एकक-बैंक कॉरेस्पॉन्डेंट बैंकिंग व्यवस्था के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे और उन्हें राशि के स्थानान्तरण की वे सब सुविधाएं प्राप्त थीं जो शाख-बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त होती हैं। एकक-बैंकिंग व्यवस्था में निम्न गुण मिलते हैं :—

(१) प्रबन्ध एवं नियंत्रण में सुविधा—प्रत्येक बैंक अपना अपना प्रबन्ध एवं संचालन सरलता और सावधानी के साथ कर सकता है। प्रबन्ध केन्द्रित होने के कारण प्रबन्धकों को बैंक का लेन-देन देखने और निरीक्षण करने में सुविधा होती है।

(२) मितव्ययिता—बैंक की अनेक शाखाएं और उपशाखाएं न होने के कारण स्थापन-व्यय तथा निर्वाह-व्यय में बचत होती है।

(३) कार्यकुशलता—शाख-बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक की शाखाएं होने के कारण कोई न कोई शाखा ऐसी अवश्य होती है जो आर्थिक दृष्टि से निर्बल हो और यदि उस निर्बल शाखा पर कोई आपत्ति आए तो उसका प्रभाव तत्सम्बन्धी सारे बैंकिंग संगठन पर आ पड़ता है। इससे कार्यकुशलता के दोष आते हैं और बैंकों के डूबने की संभावनाएं अधिक बढ़ती जाती हैं। एक दुर्बल और अयोग्य शाखा के चलने से प्रधान कार्यालय की स्थिति भी खतरे में पड़ जाती है। यह बात एकक-बैंकिंग में नहीं होती।

(४) केन्द्रित कोष का महत्तम सदुपयोग—एकक-बैंकिंग में कोष एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण उसका महत्तम सदुपयोग किया जा सकता है। शाख-बैंकिंग में कोष भिन्न-भिन्न स्थानों में छिटके और बिखरे पड़े रहते हैं जिससे उनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। दूसरे, शाख-बैंकिंग में कभी-कभी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रधान कार्यालय विभिन्न शाखाओं से कोष मंगा कर सट्टेबाजी अथवा अन्य व्यवसाय में लगा देता है जिससे शाखाओं के पास स्थानीय आवश्यकताओं के लिए राशि की कमी पड़ जाती है। एकक-बैंकिंग में यह दोष नहीं होता।

(५) **स्वाधीनता**—एकक-बैंकिंग के अन्तर्गत बैंक-व्यवस्थापकों को कार्य करने की स्वाधीनता होती है। बैंक के मैनेजर स्थानीय व्यापारियों के निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनके साथ अच्छा लेन-देन कर सकते हैं पर शाख-बैंकिंग के अन्तर्गत शाखा के मैनेजर को कोई भी ठोस कदम उठाने से पूर्व प्रधान कार्यालय से अनुमति और आज्ञा लेनी होती है जिससे उन्हें कार्य करने की कोई स्वाधीनता नहीं रहती।

शाख-बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक का प्रमुख अर्थात् प्रधान कार्यालय एक स्थान-विशेष पर स्थित होता है और उस बैंक की शाखाएं देश भर में स्थान-स्थान पर बिखरी रहती हैं। इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था में अनेक गुण हैं :—

(१) **श्रम-विभाजन एवं श्रम-विशिष्टीकरण का लाभ**—शाख-बैंकिंग के अन्तर्गत श्रम-विभाजन के लाभ मिलते हैं—भिन्न-भिन्न कामों के लिए उपयुक्त, चतुर और योग्य व्यक्ति रखे जा सकते हैं और प्रत्येक शाखा से महत्तम सेवा की जा सकती है तथा महत्तम लाभ भी उठाया जा सकता है।

(२) **नकद-कोष में मितव्ययिता**—प्रत्येक शाखा को अधिक मात्रा में नकद-कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि आवश्यकता होने पर एक शाखा दूसरी शाखा से अथवा प्रधान कार्यालय से नकद राशि लेकर काम चला सकती है। यह लाभ एकक-बैंकिंग व्यवस्था में प्राप्त नहीं हो सकता।

(३) **राशि के स्थानान्तरण की सुविधा**—चूंकि बैंक की शाखाएं देश भर में जाल की भांति बिछी रहती हैं अतः एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने-मंगाने में खर्च कम लगता है।

(४) **राशि का महत्तम उपयोग**—शाख-बैंकिंग के अन्तर्गत एक क्षेत्र में स्थित शाखाओं में निठल्ली पड़ी हुई राशि को अन्य क्षेत्रों में स्थित शाखाओं में भेजकर लाभप्रद व्यवसायों में लगाया जा सकता है और इस प्रकार महत्तम उपयोग द्वारा अधिकाधिक लाभ कमाया जा सकता है। एकक-बैंकिंग में यह सुविधा प्राप्त नहीं है।

(५) **निकट सम्पर्क**—चूंकि बैंक की शाखाएं देश के विभिन्न स्थानों पर फैली होती हैं इसलिए बैंक देश भर में प्रकार प्रकार के व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों के सम्पर्क में आते हैं। इससे उन्हें राशि विनियोग करने में सुविधा होती है। एक लाभ और भी है—चूंकि शाखाएं दूर-दूर तक फैली होती हैं इसलिए बैंक को अपनी नीति देशभर में एक साथ प्रचलित करने में सुविधा रहती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) खतरे का विकेन्द्रीकरण—शाख-बैंकिंग व्यवस्था में यदि किसी एक शाखा पर संकट आए तो उसको देश में फैली हुई सभी शाखाएं बांट लेती हैं और इस प्रकार खतरे का विकेन्द्रीकरण हो जाता है। १९४६ में बंगाल के बैंकों पर जब संकट आया तो शक्तिशाली शाखावाले बैंकों को अन्य स्वाधीन बैंकों की अपेक्षा कम हानि सहनी पड़ी। देश के विभाजन तथा साम्प्रदायिक दंगों के कारण पंजाब में स्थित पंजाब नेशनल बैंक तथा सेंट्रल बैंक ऑव इंडिया की शाखाओं को बहुत हानि हुई पर देश के अन्य भागों में उनका काम अच्छा था और उनकी आय बहुत थी इसलिए उस हानि को सरलता के साथ सह लिया गया।

हमारे देश में शाख-बैंकिंग व्यवस्था के अनुसार बैंकिंग प्रणाली संचालित है। प्रत्येक बैंक की शाखाएं देश भर में फैली हुई होती हैं। ठीक भी है, देश के समुचित आर्थिक विकास के लिए शाख-बैंकिंग व्यवस्था ही हितकारी होती है जिससे राशि के स्थानान्तरण की सुविधा मिले, राशि का महत्तम उपयोग हो, और बैंकिंग नीति को एक साथ देश भर में लागू किया जा सके।

बैंक तथा ग्राहक का पारस्परिक सम्पर्क

बैंक के कार्यों और सेवाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध क्या होता है। परन्तु इससे पहिले यह समझ लेना चाहिए कि 'बैंक' और 'ग्राहक' कहते किसे हैं। बैंक के विषय में हम पहिले ही कह चुके हैं कि कोई भी संस्था, जो जनता से सामान्यतः राशि जमा करे और फिर उसका भुगतान मांग होने पर करती रहे तथा जो जनता को सामान्यतः ऋण स्वीकृत करे, बैंक कहलाती है। चूंकि ग्राहक की कोई परिभाषा विधान द्वारा निश्चित नहीं की गई है अतः ग्राहक की वैज्ञानिक परिभाषा निर्धारित करना उतना सरल नहीं है। फिर भी, किसी व्यक्ति को बैंक का ग्राहक बनने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(१) वह व्यक्ति राशि जमा करके बैंक में अपना लेखा खोले, तथा (२) वह नियमित बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित लेन-देन बैंक के साथ करता रहे। संक्षेप में, कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था, जो बैंक में अपना लेखा खोलकर बैंक के साथ दैनिक बैंकिंग व्यवसाय करे, बैंक का ग्राहक होता है। बैंक और ग्राहक के परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार होते हैं :—

लेनदार एवं देनदार का सम्बन्ध—बैंक और ग्राहक का सबसे प्रथम और मूल सम्बन्ध क्रमशः देनदार और लेनदार का होता है। चूंकि बैंक में ग्राहक की राशि जमा होती है जो बैंक को मांगने पर भुगतान करनी होती है, इसलिए बैंक ग्राहक का देनदार और ग्राहक बैंक का लेनदार माना जाता है। पर कभी-कभी यह सम्बन्ध विपरीत हो जाता है। जब ग्राहक बैंक से ऋण ले तो उस स्थिति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में ग्राहक देनदार और बैंक लेनदार बन जाता है। बैंक और ग्राहक का यह सम्बन्ध अन्य सामान्य लेनदार और देनदार के सम्बन्धों से बिलकुल भिन्न होता है। सामान्य लेन-देन में अवधि बीतने पर देनदार को ऋण का भुगतान करना ही होता है चाहे उसकी मांग लेनदार की ओर से हो अथवा न हो; पर बैंक ऐसा देनदार होता है जो अपने पास जमा की हुई राशि का भुगतान ग्राहक के मांग करने पर ही लौटाता है अन्यथा नहीं। यदि ग्राहक देनदार हुआ तो उसे ऋण का भुगतान अवधि पर बैंक के मांगने व न मांगने पर भी करना होता है। एक बात और भी है—यदि बैंक ग्राहक का देनदार हुआ तो राशि की मांग होने पर बैंक को राशि का भुगतान करना ही पड़ता है अन्यथा ग्राहक और बैंक दोनों की साख बिगड़ जाने का भय रहता है। यदि कभी बैंक ने ऐसा न किया तो उसे उस कारण अपने ग्राहक को होनेवाली हानि की पूर्ति करनी होती है; पर बैंक जमा-राशि का भुगतान करने के लिए तभी बाध्य होता है जब कि उसकी मांग चेक द्वारा या अन्य किसी वैधानिक रीति से की जाय। तीसरी बात यह है कि बैंक द्वारा जमा रूप में लिए गए ऋणों के साथ अन्य सामान्य ऋणों की भांति 'काल-मर्यादा विधान'* लागू नहीं होता। ग्राहक के लेखे में कितनी ही राशि, कितने ही समय तक जमा रह सकती है। स्थिर-लेखे में जमा-राशि को ग्राहक निश्चित अवधि समाप्त होने पर ही निकलवा सकता है, मांग करने पर नहीं। पर यदि अवधि समाप्त होने से पूर्व निकालना चाहे तो उसकी सूचना बैंक को कुछ समय पहिले देनी होती है और तब बैंक उस राशि पर ब्याज नहीं देता।

जब किसी ग्राहक के किसी बैंक में कई लेखे हों तो उस परिस्थिति में ग्राहक को जमा करने के लिए राशि भेजते समय तथा संग्रहण के लिए चेकादि भेजते समय बैंक में यह आदेश भेजना चाहिए कि उक्त राशि किस लेखे में और किस प्रकार जमा की जाय। बैंक को अपने ग्राहक द्वारा दिए गए इस प्रकार के आदेश का पालन करना अनिवार्य होता है। यदि उक्त कथित आदेश न दिया गया तो बैंक अपनी इच्छानुसार उस राशि का उपयोग कर सकता है—वह चाहे जिस लेखे में राशि जमा कर सकता है और यदि चाहे तो, ग्राहक द्वारा लिए हुए ऋणों के भुगतान में उपयोग कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी राशि पर बैंक को ग्रहणाधिकार (Right of Lien) प्राप्त हो जाता है जिसके अनुसार वह उसका इच्छानुसार उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र होता है।

यदि किसी ग्राहक का किसी बैंक में कोई चल-लेखा हो तो उसके साथ 'क्लेटन का सिद्धान्त' लागू हो सकता है जिसके अनुसार पहले जमा की हुई

---

* The Law of Limitation.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राशि का प्रतिसाद (Set off) बैंक द्वारा ग्राहक को दी गई ऋण-राशि के साथ हो जाता है। इस प्रकार पहिले दिए हुए ऋण के भुगतान के लिए पहिली जमा-राशि का उपयोग होता है। यह सिद्धान्त केवल चल-लेखों के साथ ही लागू होता है। पर इस प्रकार से प्रतिसाद अर्थात् समायोजन करने से पहिले उस आशय की एक लिखित सूचना बैंक को ग्राहक के पास भेजना आवश्यक है। यदि किसी ग्राहक के किसी बैंक में कई चल-लेखे हों और उनका कोई विशिष्ट उद्देश्य न हो तो बैंक ग्राहक को लिखित सूचना देकर उनमें जमा-राशि का समायोजन ग्राहक को दिए गए ऋणों के लिए कर सकता है। बैंक एक ही ग्राहक के विभिन्न लेखों को एकत्र कर सकता है पर यदि किसी व्यक्ति का एक लेखा उसके व्यक्तिगत नाम से हो और दूसरा लेखा साझीदार के साथ हो तो इस प्रकार के दो लेखों को बैंक मिलाकर समायोजित नहीं कर सकता।

ग्राहक द्वारा लिखे गए चेकों का भुगतान करने में बैंक तभी बाध्य होता है जबकि चेक नियमानुसार सही-सही और पूर्ण विवरण के साथ लिखे गए हों, निर्धारित अवधि के अन्तर्गत बैंक के कार्यकाल में प्रस्तुत किए गए हों, ग्राहक की पर्याप्त राशि उसके लेखे में जमा हो और उसका भुगतान स्वयं ग्राहक ने या न्यायालय ने विशेष आदेश (Garnishee Order) देकर निषिद्ध न कर दिया हो। बैंक ग्राहक की मृत्यु तथा पागल होने की सूचना पाकर उसके जीवनकाल में लिखे गए चेकों का भुगतान नकार सकता है। संग्रहण के हेतु भेजे गए चेकों का भुगतान तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि उनका बैंक ने संग्रहण करके उनकी राशि प्राप्त न कर ली हो।

बैंक तथा ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर्गत बैंक का दायित्व होता है कि वह अपने ग्राहक के लेखे तथा उसमें जमा राशि सम्बन्धी सभी जानकारी पूर्णरूपेण गुप्त रक्खे और उन्हें बिना उसकी स्वीकृति के प्रकाशित न करे। यदि बैंक ने ऐसा किया तो उसे ग्राहक को इससे होनेवाली हानि की पूर्ति करनी होती है। हां, बैंक अपने ग्राहक की सामान्य आर्थिक स्थिति के विषय में, उसकी आज्ञा से, अन्य लोगों को संदर्भ-सूचना भेज सकता है परन्तु तब उसे पूर्ण विश्वास और सद्भावना से ऐसा करना चाहिए। कभी कभी ऐसी परिस्थितियां भी आती हैं जब कि बैंक को अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति की वास्तविक जानकारी ग्राहक की अनुमति के बिना ही प्रकाशित करनी पड़ती है। उस स्थिति में बैंक का कोई दायित्व नहीं होता। ये परिस्थितियां इस प्रकार हैं—(१) न्यायालय द्वारा किसी ग्राहक के लेखे का विवरण मांगने पर; (२) सरकार, देश तथा समाज-हित के लिए सरकार द्वारा उक्त सूचना मांगने पर; (३) ग्राहक को बैंक द्वारा दिए गए ऋण को वसूल करने के लिए यदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कोई प्रमाण की आवश्यकता हो तो बैंक स्वयं अपने आप रहस्य का विस्फोट कर सकता है ।

बैंक तथा ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध के क्रम में बैंक को ग्राहक से सामान्य लेन-देन में आई हुई राशि एवं अन्य वस्तुओं (सिक्यूरिटियों, बिल, प्रण-पत्रादि) पर स्वत्व-ग्रहणाधिकार प्राप्त होता है ।* बैंक को ग्राहक की उन सिक्यूरिटियों पर, राशि पर तथा अन्य वस्तुओं पर ग्रहणाधिकार प्राप्त होता है जो उसके पास किसी विशिष्ट उद्देश्य के हेतु न आई हों वरन् बैंकिंग लेन-देन के सामान्य क्रम में आई हों । इन वस्तुओं को बैंक तब तक अपने पास रख सकता है जब तक कि ग्राहक बैंक से लिए हुए ऋण का भुगतान न कर दे । इस ग्रहणाधिकार के लिए बैंक को ग्राहक के साथ कोई विशेष प्रकार का सम्मेल करने की आवश्यकता नहीं होती वरन् यह अधिकार बैंक को ग्राहक के सामान्य सम्बन्ध के क्रम में मिला होता है । बैंक को उन वस्तुओं पर ग्रहणाधिकार नहीं मिलता जो या तो किसी विशिष्ट उद्देश्य से बैंक के पास जमा रहती हैं और या ग्राहक केवल सुरक्षा के उद्देश्य से बैंक में रख देता है । ग्रहणाधिकार पर काल-मर्यादा का सिद्धान्त लागू नहीं होता । जिन वस्तुओं पर बैंक का उक्त कथित ग्रहणाधिकार हो, उन्हें बैंक, ग्राहक द्वारा ऋण का भुगतान न होने पर, बेचकर अपने ऋण का भुगतान प्राप्त कर सकता है ।

बैंक किसी भी समय ग्राहक को उसका लेखा बन्द करने की सूचना देकर लेखा बन्द कर सकता है । परन्तु ग्राहक को इस प्रकार की सूचना भेजने की आवश्यकता नहीं है वरन् वह तो केवल अपनी जमा-राशि निकालकर लेखा बन्द करा सकता है ।

प्रधान एवं प्रतिनिधि का सम्बन्ध—बैंक तथा ग्राहक के बीच दूसरा मूल सम्बन्ध प्रधान एवं प्रतिनिधि के रूप में होता है । जिस समय बैंक अपने ग्राहक के आदेश से सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करता है तथा उसके लेखे पर आय-कर, भूमि-कर, बीमा की प्रव्याजि, चंदा आदि भुगतान करता है तो उस स्थिति में ग्राहक प्रधान तथा बैंक उसके प्रतिनिधि के रूप में काम करता है । प्रतिनिधि की भांति कार्य करने से पहिले बैंक को अपने ग्राहक से लिखित आदेश तथा अधिकार-पत्र प्राप्त कर लेना चाहिए और उसी प्रकार कार्य करना चाहिए जैसा कि आदेश दिया गया हो अन्यथा बैंक अपने स्वतंत्र कार्यों के लिए अपने प्रधान—ग्राहक—को उत्तरदायी नहीं बना सकता । ग्राहक के लिए उसके चेकों, बिलों आदि का संग्रहण करते समय भी बैंक ग्राहक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है ।

---

* Banker's Right of Lien is an Implied Pledge.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

* **प्रन्यासी एवं प्रत्यासी का सम्बन्ध**—बैंक तथा ग्राहक में क्रमशः प्रन्यासी तथा प्रत्यासी का सम्बन्ध भी होता है। जिस समय ग्राहक अपनी आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं अथवा पत्रादि बैंक के पास सुरक्षा के लिए रखता है तो बैंक का यह दायित्व होता है कि जिस अवस्था में उसने उन वस्तुओं को प्राप्त किया है ठीक उसी अवस्था में उन्हें ग्राहक के मांगने पर लौटा दे। जब तक ग्राहक की वह धरोहर बैंक के पास रहती है तब तक बैंक ग्राहक का प्रन्यासी तथा ग्राहक बैंक का प्रत्यासी कहलाता है। सुरक्षा हेतु रक्खी हुई वस्तुओं को सुरक्षित रखने का दायित्व बैंक का होता है अतः वह उन्हें भली प्रकार से संभालकर तत्परता के साथ अपने ही भवन में सुरक्षित रखता है। इस पर भी यदि वे वस्तुएं खो जायं अथवा उन्हें किसी प्रकार की क्षति हो जाय तो उसके लिए बैंक को उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। पर यदि बैंक ने उन वस्तुओं को अपने भवन में न रखकर अन्य किसी स्थान पर रक्खा या उनको सुरक्षित रखने में किसी और प्रकार की उपेक्षा की तो बैंक को उसकी क्षतिपूर्ति करनी होती है। अतः प्रन्यासी के रूप में काम करते हुए बैंक को अपने प्रत्यासी के द्वारा जमा की हुई वस्तुओं को बड़ी सावधानी और सुरक्षा के साथ रखना आवश्यक होता है। इस सेवा के लिए बैंक अपने ग्राहकों से कुछ शुल्क वसूल करते हैं।

सारांश

बैंक प्रायः उस संस्था को कहते हैं जो जनता से राशि जमा करने तथा जनता को राशि उधार देने का काम करे। जमा लेने तथा ऋण देने के अतिरिक्त बैंक अन्य काम भी करते हैं, जैसे—सुरक्षा के लिए लोगों से उनके आभूषणादि जमा रखना, ग्राहकों के लिए चेकों, बिलों तथा ड्राफ्टों का संग्रहण करना, व्यापारिक बिलों की कटौती करना, एजेंसी का काम करना, गुप्त रीति से ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना-देना आदि। संक्षेप में, बैंक ऐसी मौद्रिक संस्था होती है जो मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है। ऋण लेने-देने के अतिरिक्त बैंक मुद्रा और साख सम्बन्धी कोई भी लेन-देन कर सकता है।

बैंक की क्रियाओं और सेवाओं को चार वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) जनता से राशि जमा करना; (२) जनता को ऋण स्वीकृत करना; (३) ग्राहकों के लिए एजेंट के रूप में काम करना; (४) विविध सेवाएं करना। राशि जमा करने में बैंक अपने ग्राहकों के तीन प्रकार के लेखे खोल सकते हैं—स्थिर-लेखा, चल-लेखा और बचत-लेखा। स्थिर-लेखे में राशि एक निश्चित अवधि के लिए जमा होती है। इस अवधि के समाप्त होने से पहिले वह राशि सामान्यतः नहीं निकाली जा सकती पर यदि जमा करनेवाला वह राशि लेना

* Trustee and Beneficiary.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही चाहे तो उस पर उसे ब्याज नहीं दिया जाता। चल-लेखे में राशि कभी भी जमा की जा सकती है और चेकादि द्वारा कभी भी निकाली जा सकती है। बचत-लेखे में अपेक्षाकृत कम राशि जमा होती है और यह लेखा थोड़ी आय वाले लोगों को मितव्ययिता सिखाकर राशि संचय करने की सुविधा देने के लिए खोला जाता है। इन तीनों लेखों के अतिरिक्त एक 'गोलक-लेखा' भी होता है जो प्रायः बालकों को मितव्ययी बनाने के लिए खोला जाता है।

बैंक प्रायः तीन प्रकार से ऋण देते हैं—(१) ऋण मांगनेवाले की वैयक्तिक साख पर; (२) ऋण मांगनेवाले की साख के अतिरिक्त अन्य सिफारिशियों की साख पर; (३) चल-अचल सम्पत्ति की साख पर। ऋण कई रूपों में स्वीकृत किया जाता है—जैसे, अग्रिम राशि स्वीकृत करके, अधिविकर्ष द्वारा, नकद-साख द्वारा तथा बिलों की कटौती करके। एजेंसी के कार्यों में बैंक अपने ग्राहकों के चेक, बिल आदि संग्रहण करता है, बीमे की प्रव्याजि भुगताने की व्यवस्था करता है, ग्राहकों के आदेशानुसार कम्पनियों के अंश क्रय-विक्रय करता है तथा ग्राहकों की राशि का हस्तान्तर तथा स्थानान्तरण करता है। विविध सेवाओं के अन्तर्गत बैंक सरकारी कार्य करता है, सरकारी जन ऋण की व्यवस्था करता है, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है, ग्राहकों की आर्थिक जानकारी लेता-देता है तथा व्यापार सम्बन्धी शोध करके तत्सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित करता है।

बैंक कई प्रकार के होते हैं, जैसे—व्यापारिक बैंक, औद्योगिक बैंक, कृषि-बैंक, विनिमय-बैंक, बचत-बैंक, केन्द्रीय बैंक और विविध बैंक। प्रत्येक प्रकार के बैंक के अपने अलग कार्य और सेवाएं हैं और ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ही अपना लेन-देन सीमित रखते हैं।

बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होता है। मूलतः इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार होते हैं—(१) लेनदार और देनदार का सम्बन्ध; (२) प्रधान और प्रतिनिधि का सम्बन्ध; (३) प्रन्यासी और प्रत्यासी का सम्बन्ध। बैंक की अपने ग्राहक के साथ भिन्न-भिन्न स्थितियों में ये सम्बन्ध बदलते रहते हैं। बैंक में राशि जमा करने तथा बैंक से ऋण लेते समय बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध लेनदार और देनदार जैसा होता है। ग्राहक के लिए अंश क्रय-विक्रय करते समय तथा चेकों का संग्रहण करते समय वह सम्बन्ध प्रधान और प्रतिनिधि जैसा होता है। सुरक्षा के हेतु आभूषणादि बैंक में रखते समय बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध प्रन्यासी और प्रत्यासी जैसा होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा प्रश्न

(१) 'बैंक' से आपका क्या तात्पर्य है ? तर्क सहित परिभाषा लिखते हुए समझाइए कि क्या प्रत्येक ऋणदाता बैंक कहा जा सकता है ?

(२) 'बैंक' की परिभाषा लिखिए और समझाइए कि क्या बैंक ऋणी और ऋणदाता के बीच का मध्यस्थ है ?

(३) बैंक की मुख्य-मुख्य क्रियाओं और सेवाओं की विश्लेषण सहित व्याख्या कीजिए। आपकी राय में बैंक की कौनसी क्रिया 'मूल क्रिया' कही जा सकती है ?

(४) बैंक में राशि जमा करने की क्या क्या विधियां हैं ? स्थिर-लेखे और चल-लेखे में जमा राशि कब और कैसे निकाली जा सकती है ?

(५) बैंक किन किन रूपों में अपने ग्राहकों को ऋण स्वीकृत करता है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

(६) 'बिलों की कटौती' से आप क्या समझते हैं ? बिलों की कटौती करते समय बैंक को किन किन बातों की ओर मुख्य ध्यान रखना चाहिए ? बिलों की कटौती द्वारा ऋण स्वीकृत करने में बैंक को क्या क्या लाभ होते हैं ?

(७) बैंकों के भेद दर्शाते हुए लिखिए कि हमारे देश में कौन-कौन प्रकार के बैंक पाए जाते हैं ? उनकी क्या-क्या क्रियाएं हैं ?

(८) बैंक और ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध पर एक छोटा सा निबन्ध तैयार कीजिए।

(९) किन किन अवस्थाओं में बैंक अपने ग्राहक का देनदार, प्रन्यासी तथा प्रतिनिधि कहा जा सकता है ? विस्तारपूर्वक समझाइए।

(१०) "बैंक अपने ग्राहकों का देनदार, प्रन्यासी तथा प्रतिनिधि होता है"—इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १५

बैंक द्वारा साख-सृजन

पहिले बताया जा चुका है कि बैंक मूलतः साख का लेन-देन करते हैं—साख पर जनता से उनकी अतिरेक बचत-राशि जमा करते तथा उस जमा-राशि को अन्य ऋण-याचकों को ऋण रूप में देते हैं। इस प्रकार राशि लेन-देन के क्रम में बैंक साख का सृजन करते और 'साख के सृजनकर्त्ता' कहे जाते हैं। सेलिग्मन ने लिखा है कि "साख-सृजन में जमा, कटौती तथा निर्गमन—ये तीन कार्य सन्निहित होते हैं।"* वैसे तो बैंक तीन प्रकार के लेखे खोलकर जनता से जमा-राशि प्राप्त करते हैं पर जमा प्राप्त करने के सामान्यतः दो मूल सिद्धान्त हैं। एक, बैंक ग्राहक से नकद राशि लेकर और फिर उसके नाम से लेखा खोल कर जमा प्राप्त करते हैं। कभी कभी बैंक नकद राशि न लेकर ग्राहक से चेक, विल तथा प्रण-पत्र प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनकी राशि संग्रह करके ग्राहक के नाम से लेखा खोलकर जमा प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार जो जमा-राशि बैंक को प्राप्त होती है उसे 'मूल-जमा' (Primary Deposit) कहते हैं। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रकार की जमा को 'निष्क्रिय जमा' (Passive Deposit) कहा है। दूसरे प्रकार की जमा बैंक द्वारा ऋण देने से अथवा विनिमय-बिलों की कटौती करने से बनती हैं। जब बैंक किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण स्वीकृत करता है तो वह सामान्यतः ऋण-राशि नकद रूप में एक साथ ही नहीं देता वरन् ऋण-राशि को, ऋण मांगनेवाले का लेखा खोलकर उसमें जमा कर लेता है और ऋण-याचक को अधिकार दे दिया जाता है कि वह अपनी आवश्यकतानुसार चेक लिखकर ऋण-राशि निकालता रहे। इस प्रकार एक ओर ऋण स्वीकृत किया जाता है और दूसरी ओर उसी ऋण की राशि से जमा सृजित कर ली जाती है। अतः कहते हैं कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं।" इस प्रकार बैंक जो जमा निर्माण करता है उसे 'सृजित जमा' (Created Deposit) कहते हैं। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रकार की जमा को 'सक्रिय जमा' (Active Deposit) कहकर उद्‌बोधित किया

---

* "Discount, Deposit and Issue comprise modern credit."
—*Seligmen*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कीन्स ने कहा है कि "ऋण जमा के जन्मदाता और जमा ऋण की जन्मदात्री होती हैं (Loans are the Children of Deposits and Deposits are the Children of Loans)।" कीन्स का यह कथन अक्षरशः सत्य है। जब बैंक अपनी 'मूल-जमा' या 'नकद-जमा' में से ऋण-याचकों को ऋण देता है तो उस समय जमा ऋण की जन्मदात्री होती हैं और जब बैंक ऋण स्वीकृत करके जमा का निर्माण करते हैं, जैसा कि 'सृजित जमा' की व्याख्या करते हुए अभी अभी बतलाया गया है, तो उस समय ऋण जमा के जन्मदाता बन जाते हैं। वास्तव में बैंक की जमा (Deposits) दो प्रकार की होती हैं—नकद जमा (Cash Deposits) और साख-जमा (Credit Deposits)। साख-जमा ऋण स्वीकृत करके बनाई जाती है और ऋणों का आधार नकद जमा होती है। अतः कीन्स का कथन कि "जमा और ऋण दोनों एक दूसरे के जन्मदाता हैं"—ठीक ही है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि बैंक नकद ऋण देकर तथा साख-जमा द्वारा साख का सृजन करते हैं। साख-सृजन की तीसरी विधि और है जिसमें बैंक नोट-निर्गमन करके साख का सृजन कर सकते हैं। पर आजकल यह अधिकार केवल देश के केन्द्रीय बैंक को ही मिला होता है अतः अन्य बैंक इस विधि के अनुसार साख-सृजन नहीं कर सकते। आजकल अधिकांश साख-सृजन साख-जमा (Credit Deposit) विधि के अनुसार होता है। यदि बैंक की व्यवहारिक कार्य-पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो जान पड़ेगा कि बैंकों के पास जितनी भी जमा-राशि होती है उसका बहुत कम अंश ऐसा होता है जो जमाकर्त्ताओं द्वारा नकद रूप में जमा किया गया हो। अधिकांश जमा बैंक द्वारा सृजित की हुई होती है जिसे बैंक साख पर ऋण स्वीकृत करके निर्माण करते हैं। हार्टले ह्विदर्स लिखता है कि इंगलैण्ड में अधिकांश बैंक ऋण स्वीकृत करके 'साख-जमा' बनाते और इस प्रकार साख का सृजन करते हैं। उनका कथन है कि "आधुनिक अंगरेजी वाणिज्य-क्षेत्र में प्रयोग की जानेवाली मुद्रा 'चेक' है और लन्दन मुद्रा-मण्डी में जिस साख का प्रायः व्यवहार होता है वह है चेक लिखकर राशि निकालने का अधिकार।" इससे स्पष्ट है कि लन्दन के बैंक 'साख-जमा' बनाकर साख-सृजन करते हैं। ठीक भी है, आधुनिक व्यापार में भुगतान लेन-देन के लिए चेक एक सुविधाजनक एवं मितव्ययी व सरल साधन समझा जाता है जिससे मुद्रा की गति में भी वृद्धि होती है। अतः बैंक अपनी जमा-राशि में से ऋण देने तथा ऋण देकर जमा बढ़ाने का चक्र घुमाते ही रहते हैं जिससे साख का सृजन होता है और जनता में वित्त-शक्ति का संचार होकर मुद्रा की गतिशीलता बढ़ती है।

साख-सृजन की मर्यादाएं—यद्यपि प्रत्येक बैंक अपनी साख-सृजन नीति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में स्वतन्त्र होता है और अपने हितों की रक्षा करते हुए किसी सीमा तक साख का सृजन कर सकता है तो भी कुछ ऐसे कारण होते हैं जिनसे बैंक को अपनी साख-सृजन शक्ति सीमित करनी पड़ती है। साख-सृजन शक्ति को मर्यादित रखनेवाले घटक इस प्रकार हैं :—

(१) **बैंक द्वारा रक्खा जाने वाला नकद कोष**—प्रत्येक बैंक को अपने पास जमा-राशि का भुगतान करने के लिए कुछ न कुछ नकद कोष रखना पड़ता है जिससे जमाकर्त्ताओं की मांग को पूरा किया जा सके। कभी कभी नकद-कोष की सीमा कानून द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। उस अवस्था में बैंक को अपने पास रखे हुए नकद-कोष को ध्यान में रखकर साख-सृजन करना पड़ता है। जब नकद-कोष की मात्रा कानून द्वारा निर्धारित नहीं होती तो बैंक अपनी वैयक्तिक स्थिति के अनुसार कोष बनाकर रखते हैं। यदि कोष अधिक रखना पड़ा तो साख-सृजन की गति मन्द करनी होती है और यदि कोष की मात्रा कम ही रखनी पड़ी तो साख की मात्रा और गति बढ़ाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि साख-सृजन बैंक की नकद-कोष की मात्रा द्वारा मर्यादित होता है।

(२) **केन्द्रीय बैंक के पास जमा बैंकों का कोष**—प्रत्येक बैंक को अपनी मांग और काल-देनदारी का कुछ प्रतिशत भाग देश के केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना होता है। इस प्रतिशत से बैंकों की साख-सृजन की सीमा निर्धारित होती है। यदि अपेक्षाकृत कम प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास रखा गया तो बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं और यदि केन्द्रीय बैंक के पास अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत दर से कोष रखा गया तो बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति कम हो जाती है।

केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण के साधनों द्वारा भी बैंकों की साख-शक्ति सीमित रहती है क्योंकि केन्द्रीय बैंक अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा देश में साख का प्रसार एवं संकुचन करता रहता है।

(३) **धातु-कोष**—नोट-निर्गमन द्वारा साख का जो सृजन किया जाता ह वह नोटों के आधार में रखे हुए धातु-कोष द्वारा सीमित रहता है। यदि धातु-कोष अधिक हुआ तो पत्र-मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सकती ह और यदि धातु-कोष कम हो गया तो पत्र-मुद्रा की मात्रा कम करनी होती है।

(४) **ऋण-याचकों की साख**—ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक ऋण-याचकों की साख अथवा जमानत के विषय में काफी सतर्क रहता है। यदि ऋण-याचक की साख तथा जमानत उत्तम हुई तो बैंक पर्याप्त मात्रा में ऋण स्वीकार करके साख-सृजन कर सकता है अन्यथा उसे साख की मात्रा कम रखनी होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि बैंक द्वारा सृजित की गई साख की मात्रा ऋण-याचकों की वैयक्तिक साख एवं जमानत द्वारा सीमित रहती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) सामान्य आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति—ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक देश की सामान्य आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति के विषय में सतर्कता से अध्ययन कर लेता है। यदि राजनैतिक स्थिति शान्तिपूर्ण रही और उद्योग-धंधों में प्रगति का रुख रहा तो बैंक अधिक मात्रा में साख का सृजन कर सकेंगे और अगर सामान्य व्यवसाय में मन्दी का वातावरण रहा तथा राजनैतिक हलचल बनी रही तो बैंक अपनी राशि ऋण रूप में देना नहीं चाहेंगे और तब उनकी साख-शक्ति अपेक्षाकृत कम रहेगी। अतः देश की सामान्य आर्थिक तथा राजनैतिक स्थितियां भी बैंकों द्वारा सृजित साख की सीमा निर्धारित करती हैं।

बैंक द्वारा साख-सृजन के विषय में भ्रान्ति—कुछ विद्वानों के मन में बैंक द्वारा साख-सृजन के विषय में एक भ्रान्ति बनी हुई है। इसमें वाल्टर लीफ और केनन प्रमुख हैं। वाल्टर लीफ का मत है कि बैंक द्वारा साख-सृजन की शक्ति जमाकर्त्ताओं की इच्छा पर निर्भर होती है क्योंकि यदि जमाकर्त्ता बैंकों में राशि जमा करना बन्द कर दें तो फिर बैंक ऋण देकर साख-सृजन कर ही नहीं सकते। अतः लीफ के शब्दों में "साख-सृजन करनेवाले बैंक नहीं वरन् जमाकर्त्ता होते हैं।"* इसी प्रकार केनन का मत है कि "बैंक न साख का सृजन करते हैं और न वे मुद्रा के सृजनकर्त्ता ही होते हैं। बैंक तो केवल मध्यस्थ का काम करते हैं—वे उन लोगों से, जो अपनी राशि का समुचित उपयोग अपने आप नहीं कर पाते, राशि जमा करके उन लोगों को दे देते हैं जो उसका समुचित उपयोग कर सकें। अतः बैंक मध्यस्थ संस्था है, सृजनकर्त्ता नहीं।"†

नकद कोष‡

जनता से राशि जमा करने में बैंक दो प्रकार का दायित्व अपने ऊपर लेता है—(१) मांग-देनदारी; (२) काल-देनदारी। मांग-देनदारी का भुगतान बैंक को जमाकर्त्ताओं की वैधानिक मांग होने पर किसी समय भी करना

---

* "If any one in the deposit banking system can be called a creator of credit it is the depositor, for the banks are strictly limited in their lending operations by the amount which the depositor thinks fit to leave with them."

—*Walter Leaf*

† ".....Banking credits are manufactured, not by the banks, but by the customers who apply to them, and by the security that the customers bring....."

—*Kannan*

‡ Cash Reserve.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पड़ता है और काल-देनदारी का भुगतान सामान्यतः निश्चित अवधि समाप्त होने पर करना पड़ता है, पर कभी कभी अवधि से पहिले भी करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में बैंक अपने पास जमा कुल राशि को ऋण-याचकों को उधार नहीं दे सकता क्योंकि उसे यह भय रहता है कि न मालूम कब जमा-कर्त्ता मांग करके अपनी राशि लेने आ जायं। अतः ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक अपने कोष में कुछ नकद राशि बचाकर रख लेता है जिससे समय आने पर उसमें से जमाकर्त्ताओं की मांग पूरा करता रहे। यही नकद-राशि, जो बैंक इस प्रकार बचाकर सदैव अपने पास रखता है 'नकद-कोष' कहलाता है। कभी कभी बैंक नकद-कोष अपने पास न रखकर केन्द्रीय बैंक में जमा कर देते हैं ताकि आवश्यकता पड़ने पर वहां से राशि लेकर जमाकर्त्ताओं की मांग को पूरी कर सकें। कोई कोई बैंक नकद-कोष अपने पास भी रखते हैं और केन्द्रीय बैंक में भी जमा करा देते हैं। कैसे भी हो, यह निश्चित है कि ऋण देने से पहिले प्रत्येक बैंक को अपने पास कुछ नकद-कोष अनिवार्य रूप से रखना आवश्यक है। यह नकद-कोष बैंक की साख बनाए रखने में सहायता करता है क्योंकि यदि यह न हो तो सम्भव है बैंक जमाकर्त्ताओं की मांग पूरा न कर सके और तब उसे अपने द्वार बन्द करने पड़ें। कुछ मुद्राशास्त्रियों ने तो 'नकद-कोष' को बैंक की 'रक्षा की प्रथम पंक्ति' कहकर महत्त्व दिया है। बैंक को अपने पास यथेष्ट नकद-कोष रखने तथा उसे निरंतर सुदृढ़ और तरल बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। नकद-कोष किस रूप में रक्खा जाय? क्या सिक्यूरिटियों में लगाया जाय या बैंक की तिजोरी में निठल्ला रखा जाय? यह निश्चय करना बैंक के अधिकारियों का ही काम है। सिद्धान्ततः यह कोष इस प्रकार रखना चाहिए कि वह सुरक्षित रहे और समय पर उपलब्ध हो सके। इसका अर्थ यह है कि जहां तक सम्भव हो सके वहां तक उसे 'तरल' रूप में रखना चाहिए। यदि सिक्यूरिटियों में भी लगाया जाय तो ऐसी सिक्यूरिटियां हों जो अल्पकालीन हों, जिनमें मूल्य-ह्रास का भय न हो और आवश्यकता होने पर तुरन्त ही बेची जा सकें और नकद राशि प्राप्त की जा सके। प्रश्न यह है कि नकद-कोष कितना रखना चाहिए? अर्थात् नकद-कोष और मांग-देनदारी का क्या अनुपात होना चाहिए? यह बात निम्न परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं :—

(१) **वैधानिक निर्णय**—कहीं कहीं पर बैंकों द्वारा रक्खे जानेवाले नकद-कोष की मात्रा विधान द्वारा निश्चित कर दी जाती है और वह वैधानिक निर्णय देश की सभी बैंकों को मान्य होता है। इससे नए-नए बैंकों को सहायता मिलती है और पुराने साहसी बैंकों पर भी प्रतिबन्ध बना रहता है। देश की सरकार देश की आर्थिक स्थिति, लोगों की बैंकिंग आदत तथा व्यापार के रुख को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देखकर नकद-कोष की मात्रा निर्धारित करती है। भिन्न-भिन्न देशों में यह मात्रा भिन्न-भिन्न है। हमारे देश में प्रत्येक बैंक को अपनी मांग-देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है।

(२) **जमाकर्त्ताओं की औसत जमा-राशि**—नकद-कोष की मात्रा बैंक के प्रत्येक जमाकर्त्ता की औसत जमा-राशि पर निर्भर करती है। वास्तव में नकद-कोष की उतनी मात्रा होनी चाहिए जिससे सबसे अधिक राशि जमा करने वाले की मांग एक साथ ही पूरी हो सके।

(३) **लोगों की बैंकिंग आदत**—जहां के लोग अपने पास नकद-राशि न रखकर बैंकों द्वारा लेन-देन करते हों वहां पर बैंकों में नकद-कोष की कम मात्रा रखने में ही काम चल जाता है क्योंकि जहां बैंक एक ओर देनदारी का भुगतान करता है वहां दूसरी ओर उसमें राशि जमा हो जाती है। यदि किसी स्थान पर अधिकांश भुगतान चेक द्वारा होते हों तो वहां नकद-कोष की थोड़ी मात्रा ही रखने से काम चल जाता है।

(४) **ग्राहकों की सामान्य प्रकृति**—यदि किसी बैंक के ग्राहक ऐसे हों जो सामान्यतः भारी-भारी राशि बैंक से निकालते हों तो उनकी मांग को पूरा करने के लिए बैंक को यथेष्ट मात्रा में नकद-कोष रखने की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत यदि ग्राहक कभी-कभी बैंक से राशि लेने आते हों तो बैंक को अपेक्षाकृत कम नकद-कोष रखने में ही काम चल जाता है।

(५) **स्थानीय प्रथा**—किसी बैंक द्वारा रखे जानेवाले नकद-कोष की मात्रा वहां की स्थानीय प्रथा पर भी निर्भर करती है। यदि अन्य कोई स्थानीय बैंक अपने पास नकद-कोष की अधिक मात्रा रखता है तो उस स्थान के अन्य बैंकों को भी जनता का विश्वास जीतने के लिए वैसा ही करना पड़ेगा।

(६) **मुद्रा-मण्डी की व्यवस्था**—यदि किसी देश की मुद्रा-मण्डी और बिल-मण्डी उन्नत हैं तथा वहां केन्द्रीय बैंक भी है और सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय की अन्य सुविधाएं भी हैं तो ऐसे देश में बैंकों को नकद-कोष की थोड़ी मात्रा रखने से ही काम चल सकता है।

(७) **समाशोधन-गृह की सुविधा**—यदि किसी देश में बैंकों के समाशोधन-गृह का समुचित प्रबन्ध है जिससे बैंकों का पारस्परिक लेन-देन बिना नकद-राशि लिए-दिए ही चुक जाय तो वहां बैंकों को बहुत कम नकद-कोष रखने की आवश्यकता होगी।

(८) **व्यापारिक परिस्थिति**—देश की व्यापारिक स्थिति का भी नकद-कोष से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस देश में विशेषतः औद्योगिक व्यापार होता हो जिससे दैनिक आवश्यकताओं के लिए नकद राशि की आवश्यकता पड़े तो ऐसे स्थान पर बैंकों को नकद-कोष की अधिक मात्रा अपने पास रखनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होगी। इसके विपरीत जो देश कृषिप्रधान हैं और जिन बैंकों को इन कृषि-प्रधान देशों में अपना कारोबार करना पड़ता हो तो उन बैंकों को मौसम के समय में अधिक नकद-कोष तथा सामान्यतः कम नकद-कोष रखना आवश्यक होगा।

नकद-कोष की मात्रा वास्तव में तो बैंक-अधिकारियों के पूर्व-अनुभव, उनकी दूरदर्शिता तथा उस देश की व्यापारिक परिस्थिति पर निर्भर होती है। फिर भी उक्त बातों को विचार कर नकद-कोष की मात्रा निश्चित करने में सहायता मिल सकती है।

बैंक की विनियोग-नीति*

बैंक जमाकर्त्ताओं से अपने पास जो राशि जमा करता है उस जमा-राशि को वह दूसरों को उधार देकर ब्याज वसूल करता है और इस ब्याज में से कुछ भाग जमाकर्त्ताओं को उनकी जमा पर ब्याज-स्वरूप देकर शेष लाभ अपने पास बचा लेता है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि बैंक अपनी जमा-राशि को अपने कोष में निठल्ली नहीं रख सकता। यदि उसने ऐसा किया तो जमाकर्त्ताओं को ब्याज में देने के लिए उसके पास राशि कहां से आएगी और किस प्रकार वह अपना लाभ कमा सकेगा। बैंक को जमा-राशि का कुछ भाग नकद-कोष के रूप में अपने पास रखकर शेष राशि को विनियोग करना ही पड़ेगा। पर राशि विनियोग करने में भी बैंक को अनेक झंझट हैं—कितनी राशि विनियोग की जाय? किस प्रकार विनियोग की जाय? विनियोग करने में कितना लाभ प्राप्त किया जाय? पहिले कहा जा चुका है कि बैंक दूसरों की राशि से लेन-देन करता है। जमाकर्त्ताओं की राशि को ऋण देने में अनेक खतरे उपस्थित हो सकते हैं—कहीं वह राशि डूब न जाय अथवा ऐसा न हो कि विनियोगित राशि का मूल्य-ह्रास हो जाय या ऐसा न हो कि विनियोगित राशि समय पर लौटकर न आ सके और जमाकर्त्ता मांग करने लगें। यदि उक्त घटनाओं में से कोई भी घटना घटी तो बैंक की साख बिगड़ जाने का भय रहता है। इतिहास साक्षी है कि अनेक बैंक केवल इसीलिए बन्द करने पड़े कि उनकी अपनी विनियोग-नीति दूषित एवं दोषपूर्ण थी और उन्होंने अपनी जमा-राशि इस प्रकार विनियोग कर दी कि वह समय पर वापिस प्राप्त न हो सकी और जमाकर्त्ताओं की मांग करने पर बैंक उनका भुगतान करने में असफल रहे। हमारे देश में १९१३ व १९२९-३० का बैंकिंग संकट बैंकों की दोषपूर्ण विनियोग-नीति का ही परिणाम था। वास्तव में बैंक को अपनी राशि विनियोग करने में अनेक प्रकार की सावधानी की आवश्यकता होती है।

विनियोग-नीति की [illegible]—बैंक की विनियोग-नीति की कोई निश्चित

* Investment Policy of the Bank.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती। भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न समयों पर और भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ विनियोग-नीति भिन्न-भिन्न होती है। विनियोग-नीति प्रायः देशवासियों की प्रकृति पर, व्यापारिक एवं औद्योगिक परिस्थिति पर तथा बिल-मण्डी के विकास पर निर्भर होती है। फिर भी, प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग-नीति निर्धारित करते समय निम्न तत्त्वों का विचार अवश्य रखना चाहिए :—

(१) तरलता—बैंक को अपनी राशि इस प्रकार विनियोग करनी चाहिए कि आवश्यकता होने पर तत्काल ही उसे रोकड़ राशि में बदलवाया जा सके। बैंक को अपनी राशि यथासम्भव अल्पकालीन ऋणों में लगानी चाहिए, दीर्घ-कालीन ऋणों में नहीं। बैंक को अपनी राशि अचल सम्पत्ति अर्थात् भूगृहादि में विनियोग नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये वस्तुएं शीघ्र ही नकद राशि-में परिवर्तित नहीं की जा सकतीं। टेनन लिखता है कि "सफल बैंक वह है जो बिल और रहन (Mortgage) का अन्तर जानता है।" बैंक को राशि विनियोग करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके पास सदा ही कुछ न कुछ नकद राशि बनी रहे और जो जमा-राशि विनियोगित हो वह भी तत्काल तरल बनाई जा सके और उसके मूल्य में किसी प्रकार की कमी न हो।

(२) सुरक्षा—बैंक को अपनी सम्पत्ति का विनियोग इस प्रकार करना चाहिए कि उसका मूलधन सुरक्षित बना रहे—उसके डूब जाने या उसका मूल्य-ह्रास हो जाने की आशंका न हो। बैंक जो सम्पत्ति विनियोग करता है वह उसकी निज की नहीं होती वरन् जमाकर्त्ताओं की होती है अतः उसको सुरक्षित बनाए रखना बैंक का दायित्व होता है। बैंक को अपनी सम्पत्ति सट्टेखोरी या अन्य प्रकार के ऐसे व्यापार में नहीं लगाना चाहिए जो अस्थिर हो और जिसमें लाभ न मिलता हो।

(३) आय—सम्पत्ति का विनियोग करते समय बैंक को केवल तरलता और सुरक्षा की ओर ही नहीं देखना चाहिए वरन् यह भी देख लेना चाहिए कि उस विनियोग से आय भी होगी या नहीं। बैंक लाभ कमाने के लिए सब कुछ लेन-देन करता है अतः अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखते-रखते उससे लाभ भी कमाना चाहिए। सुरक्षा, तरलता एवं लाभ—तीनों तत्त्वों का पालन करने से बैंक की आर्थिक स्थिति दृढ़ बनती है और जन-समुदाय में साख भी जमती है।

(४) विकेन्द्रीकरण—बैंक को अपने धन का विनियोग विकेन्द्रित रूप में करना चाहिए—सारी धन-राशि का विनियोग किसी एक ही प्रकार के उद्योग या व्यापार में नहीं करना चाहिए क्योंकि उस उद्योग या व्यापार विशेष में हानि हो जाने के कारण बैंक की विनियोगित राशि एक साथ ही डूब जाने का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भय रहता है। बैंक को सारी राशि किसी व्यक्ति विशेष को भी ऋण नहीं देनी चाहिए। अलंकृत भाषा में यों कहना चाहिए कि "बैंक को अपने सारे अण्डे एक ही टोकरी में नहीं रखने चाहिएं।" जहां तक सम्भव हो वहां तक राशि विस्तृत क्षेत्र में बंटी होनी चाहिए। न तो व्यक्ति विशेष को, न व्यापार विशेष में, न स्थान विशेष पर और न किसी एक ही प्रकार की साख पर राशि विनियोग करनी चाहिए।

(५) **जमानतों का निरीक्षण**—जिन जमानतों पर बैंक ऋण देकर राशि विनियोग करना चाहे, उन जमानतों का भलीभांति निरीक्षण कर लेना चाहिए। वैसे तो कोई भी जमानत आदर्श या सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती परन्तु तो भी यह अवश्य देख लेना चाहिए कि वह जमानत, जिस पर राशि विनियोग की जा रही है, तरल है अथवा नहीं तथा उसके मूल्य में किसी प्रकार का ह्रास तो नहीं होगा। यदि कभी किसी जमानत में मूल्य-ह्रास होने लगे तो ऋणी से तुरन्त अन्य जमानत लेकर उस ह्रास को पूरा करना चाहिए।

(६) **केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति का अध्ययन**—बैंक को अपनी विनियोग नीति केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति के सहारे-सहारे समानान्तर गति-विधि पर बनानी चाहिए। कभी कभी बैंक को राशि की आवश्यकता होती है और उसे तृप्त करने के लिए वह केन्द्रीय बैंक से ऋण लेता है। अतः संकट काल में केन्द्रीय बैंक से ऋण मिल सके इस हेतु बैंक को उन्हीं विनियोग-पत्रों और सिक्यूरिटियों में अपना धन विनियोग करना चाहिए जो केन्द्रीय बैंक द्वारा मान्य हों।

विनियोग की विभिन्न विधियां—सामान्यतः बैंक दो प्रकार से अपनी राशि का विनियोग किया करते हैं—(१) व्यवसाय-संचालन के लिए भू-गृहादि, फर्नीचर आदि वस्तुएं खरीदकर। इसके अतिरिक्त वे कुछ राशि अपने पास तथा कुछ केन्द्रीय बैंक में नकद-कोष के रूप में जमा रखते हैं जो समय पर काम आ सके। इस प्रकार के विनियोग से बैंक को कोई आय नहीं होती; (२) अल्पकालीन ऋण देकर, बिलों की कटौती करके, सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करके तथा अन्य प्रकार से ऋणादि देकर—इस प्रकार के विनियोग से बैंक को आय होती और लाभ मिलता है। अतः बैंक के विनियोग दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—लाभप्रद विनियोग तथा लाभरहित विनियोग।

लाभ कमाने के लिए बैंक प्रायः इस प्रकार से अपनी राशि का विनियोग करते हैं—(१) अल्पकालीन ऋण देकर; (२) बिलों का क्रय करके तथा उनकी कटौती करके; (३) विनियोग-पत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां क्रय करके; (४) अग्रिम तथा ऋण देकर।

अल्पकालीन ऋण—ये ऋण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—(क) सट्टे सम्बन्धी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यवहारों के लिए बहुत अल्पकाल को दिए गए ऋण—ऐसे ऋण बैंक अपने दैनिक व्यवसाय के अन्त में केवल रात-रात के उपयोग के लिए स्वीकृत करते हैं; (ख) ऐसे ऋण जिनका भुगतान ऋणी को बैंक की सूचना पाते ही एक सप्ताह के अन्तर्गत करना होता है; (ग) ऐसे ऋण जिनका भुगतान ऋणी को बिना किसी पूर्व-सूचना के बैंक से मांग आने पर तुरन्त करना होता है। हमारे देश में इस प्रकार के ऋण बहुत कम मात्रा में दिए जाते हैं। इस प्रकार के ऋणों की जमानत बड़ी ठोस होती हैं जो समय पर अथवा मांगने पर ऋण का भुगतान न होने पर बेच दी जाती हैं। इन ऋणों पर बैंक बहुत थोड़ा ब्याज वसूल करते हैं। मुद्रा-मण्डी तथा बिल-मण्डी का समुचित विकास न होने के कारण हमारे देश में अल्पकालीन ऋणों का लेन-देन उतना प्रचलित और लोकप्रिय नहीं है जितना पाश्चात्य देशों में।

बिलों का क्रय एवं उनकी कटौती—बैंक उत्तम श्रेणी के बिलों व प्रण-पत्रों का क्रय करके एवं उनकी कटौती करके अपनी राशि का विनियोग करते हैं। पर वे सामान्यतः ऐसे बिलों की कटौती करते हैं जिनकी किसी भी समय आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती कराई जा सके अथवा जिन्हें बिल-बाजार में किसी भी समय बेचा जा सके। बिलों का क्रय एवं कटौती बैंक इस प्रकार से करते हैं कि उनका भुगतान क्रमशः होता रहे जिससे बैंक के पास नकद-राशि का अभाव न हो। ऐसा करने से बैंक को अपेक्षाकृत कम राशि नकद-कोष में रखने की आवश्यकता होती है। हमारे देश में बिल-बाजार विकसित न होने के कारण बैंक देशी बिलों का क्रय बहुत कम मात्रा में करते हैं। हां, विनिमय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय बिलों का क्रय-विक्रय करते हैं; पर वे सब बैंक विदेशी हैं।

विनियोग-पत्र एवं सिक्यूरिटियों का क्रय—बैंक अधिकांश राशि का विनियोग विनियोग-पत्र एवं सिक्यूरिटियों में करते हैं पर वे सामान्यतः ऐसी सिक्यूरिटियां खरीदते हैं जिनको किसी भी समय बिना किसी हानि के सिक्यूरिटी-बाजार में बेचकर नकद राशि प्राप्त की जा सके अथवा जिनकी जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लिया जा सके। इस प्रकार के विनियोग पर बैंक को आय तो कम होती है पर इस प्रकार का विनियोग सुरक्षित होता है। दूसरे, इस प्रकार के विनियोग से आय निश्चित होती है और नियमित रूप से मिलती रहती है। इस प्रकार के विनियोग में सुरक्षा, तरलता और निश्चित व नियमित आय होती है तथा मूल्य में उच्चावचन कम होता है। हमारे देश में मुद्रा-मण्डी विकसित न होने के कारण सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय प्रायः कम होता है फिर भी सरकारी और अर्ध-सरकारी सिक्यूरिटियों में अनेक बैंक अपनी राशि विनियोग करते हैं।

सिक्यूरिटियां एवं विनियोग-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं और सुरक्षा की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दृष्टि से उनका क्रम इस प्रकार होता है—सरकारी सिक्यूरिटियां एवं ऋण-पत्र, स्थानीय और सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्गमित सिक्यूरिटियां, जनोपयोगी संस्थाओं तथा कम्पनियों की सिक्यूरिटियां तथा अन्य व्यावसायिक एवं औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित सिक्यूरिटियां—जिनमें कम्पनियों के अंश और ऋण-पत्र सम्मिलित होते हैं।

वैसे तो देश में अनेक प्रकार की सिक्यूरिटियां होती हैं और बैंक अपनी स्थिति के अनुसार उनमें से कोई भी क्रय करके अपनी राशि विनियोग कर सकता है परन्तु तो भी सिक्यूरिटियों में राशि विनियोग करने से पहिले बैंक को निम्न बातों पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए :—

(१) सुरक्षा—ऐसी सिक्यूरिटियां खरीदनी चाहिएं जिनमें धन सुरक्षित बना रहे और बैंक के ग्राहकों का विश्वास जमा रहे। इस दृष्टि से सरकारी सिक्यूरिटियां सर्वोत्तम मानी जाती हैं।

(२) मूल्य-स्थिरता एवं स्थायित्व—क्रय की जानेवाली सिक्यूरिटियों का मूल्य स्थिर एवं स्थायी होना चाहिए। अस्थायी मूल्यवाली सिक्यूरिटियां लेने से अथवा सट्टेवाली सिक्यूरिटियां खरीदने से बैंक को भी खतरा रहता है तथा उसके ग्राहकों का बैंक में विश्वास डिग जाता है।

(३) आय—विनियोग से पर्याप्त आय भी मिलना आवश्यक है अतः बैंक को सिक्यूरिटियां लेने से पहिले यह देख लेना चाहिए कि उनसे होनेवाली आय यथेष्ट हो और स्थायी हो।

(४) विक्रय-क्षमता—ऐसी सिक्यूरिटियां खरीदनी चाहिएं जो आवश्यकता पड़ने पर सरलतापूर्वक एवं बिना हानि के बेची जा सकें।

ऋण एवं अग्रिम—इस प्रकार के ऋण बैंक प्रायः व्यवसायियों और उद्योगियों को स्वीकृत करते हैं। इस प्रकार के ऋणों में उतनी तरलता एवं सुरक्षा नहीं होती जितनी अन्य विनियोगों में होती है। ये ऋण इस शर्त पर दिए जाते हैं कि ऋणी उनका भुगतान मांग करने पर कर दे। इस प्रकार के ऋणों का विस्तृत ब्यौरा पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। संदर्भ के लिए यहां इतना लिखना पर्याप्त होगा कि अग्रिम तथा ऋण देने में बैंक को राशि की सुरक्षा व तरलता, अधिकाधिक आय तथा भुगतान की अवधि का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

बैंक दो प्रकार के ऋण स्वीकृत करता है—(१) जमानती ऋण, (२) गैर-जमानती ऋण। जमानती ऋण भू-गृहादि की साख पर अथवा सिक्यूरिटियों की साख पर दिए जाते हैं। गैर-जमानती ऋण ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर दिए जाते हैं—उनके लिए किसी प्रकार की अन्य जमानत रखने की आवश्यकता नहीं होती। जमानती ऋणों पर गैर-जमानती ऋणों की अपेक्षा कम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्याज लिया जाता है क्योंकि उनके डूबने की संभावना कम रहती है और यदि कभी ऐसा समय भी आ जाय तो बैंक उस जमानत को बेचकर राशि प्राप्त कर सकता है। गैर-जमानती ऋण या तो ऋण-याचक द्वारा लिखे गए प्रण-पत्र के आधार पर दिए जाते हैं या ऋण-याचक के प्रण-पत्र पर किसी अन्य व्यक्ति के हस्ताक्षर कराके उसकी गारंटी पर दिए जाते हैं। ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर ऋण देने की प्रथा हमारे देश में नहीं है, यहां अधिकांश ऋण जमानत पर—भू-गृहादि की साख पर या सिक्यूरिटियों की साख पर—दिए जाते हैं। गैर-जमानती ऋण दो प्रकार से दिए जाते हैं—(१) नकद-साख के रूप में, (२) अधिविकर्ष के रूप में। इन दोनों का विशद वर्णन साख-सृजन के क्रम में किया जा चुका है। यहां केवल इतना लिखना पर्याप्त होगा कि हमारे देश में बैंक विशेषतः नकद-साख के रूप में ऋण स्वीकृत करते हैं। अन्य ऋण सिक्यूरिटियों की साख पर दिए जाते हैं। भारतीय बैंक जो ऋण देते हैं वे गारंटी के बिना या ठोस जमानत के बिना नहीं देते और कभी कभी तो वे व्यापारिक माल, सोना-चांदी अथवा अधिकार-पत्र (Documents of title) अपने पास रखकर ऋण देते हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय बैंक ठोस जमानत, साख या गारंटी लिए बिना ऋण स्वीकृत नहीं करते।

बैंक द्वारा मान्य जमानतें

बताया जा चुका है कि बैंक उत्तम साख और जमानतों पर ही ऋण देते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं ताकि उनकी विनियोगित राशि सुरक्षित और तरल बनी रहे। बैंक द्वारा मान्य जमानतें इस प्रकार हो सकती हैं:—

(१) साम्पार्श्विक जमानत*

ऋण-याचक को ऋण लेते समय बैंक के पास कुछ साम्पार्श्विक जमानत जमा करनी पड़ती है। यह जमानत ऋण लेनेवाले की वैयक्तिक साख के अतिरिक्त होती है और इसलिए इसे 'अतिरिक्त जमानत' भी कहने लगे हैं। साम्पार्श्विक जमानत माल अथवा माल के सम्बन्ध में अधिकार-पत्र के रूपों में हो सकती है। इसमें सामान्यतः तीन अधिकार होते हैं—(१) स्वत्व-ग्रहणाधिकार (Lien), (२) प्राधि (Mortgage), (३) बन्धक (Pledge) स्वत्व-ग्रहणाधिकार के अन्तर्गत बैंक को यह अधिकार होता है कि वह ऋणी द्वारा रखी गई जमानत को, यदि ऋणी ऋण का भुगतान न करे तो, अपने अधिकार में रख ले। बैंक को उस जमानत को बेचने का अधिकार नहीं होता और यदि वह ऐसा करना ही चाहे तो उसे पहिले न्यायालय से तत्सम्बन्धी आज्ञा प्राप्त

* Collateral Security

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करना आवश्यक होता है। किन्तु पूर्णरूपेण विनिमय-साध्य पत्रों की जमानतों में बैंक को अधिकार होता है कि ऋणी को उचित सूचना देकर उस जमानत को बेच भी दे। जब अचल सम्पत्ति की जमानत दी जाय तो उसकी प्राधि ऋणदाता के नाम करानी होती है। प्राधि में जमानत का स्वामित्व ऋणदाता के नाम हस्तान्तरित हो जाता है पर उस वस्तु पर अधिकार ऋणी का ही होता है या ऋणी जिसे चाहे, उसका होता है। जब कोई वस्तु बन्धक करके जमानत में रक्खी जाय तो बैंक को जमानत पर ग्रहणाधिकार करने और फिर उसे उचित सूचना देकर बेचने का भी अधिकार होता है। बन्धक के अन्तर्गत बैंक को दोनों अधिकार—ग्रहणाधिकार तथा बेचने का अधिकार—प्राप्त होते हैं।

साम्पार्श्विक जमानत बैंक के पास ऋण-याचक को इसलिए देनी पड़ती है कि बैंक ऋण का भुगतान न होने पर उस सम्पत्ति को बेचकर ऋण का भुगतान प्राप्त कर ले। ये जमानत व्यापारिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती हैं—कहीं कहीं सरकारी सिक्यूरिटियां तथा कम्पनियों के अंशादि जमानत में रख दिए जाते हैं, कहीं कच्चा माल तथा अचल सम्पत्ति जमानत कर दी जाती है और कहीं-कहीं पर जीवन-बीमा-पत्र, वस्तु सम्बन्धी अधिकार-पत्र आदि जमानत में दे दिए जाते हैं। ये जमानतें सामान्यतः निम्न प्रकार की हो सकती हैं:—

व्यावसायिक माल तथा माल सम्बन्धी अधिकार-पत्र—जब बैंक व्यावसायिक माल की जमानत पर ऋण देता है तो उस माल को या तो अपने पास गोदामों में मंगवा लेता है और या उसको ऋण-याचक के पास गोदामों में ही छोड़ कर उनकी चाबियां अपने अधिकार में ले लेता है। दोनों ही परिस्थितियों में बैंक उस माल का बीमा अवश्य करा लेता है। बैंक माल के अधिकार-पत्र, जैसे जहाजी रसीद, रेलवे-रसीद, गोदामों के प्रमाण-पत्र, माल प्राप्त करने के आदेश-पत्र आदि पत्रों तथा रसीदों की साख पर भी ऋण देता है। ये सब पत्र ऐसे होते हैं जिनके हस्तान्तरण से माल का स्वामित्व अधिकार-पत्र-धारक को मिल जाता है।

इस प्रकार की जमानत पर दिए गए ऋण सुरक्षित होते हैं क्योंकि माल बैंक के स्वयं अधिकार में होता है और वह सरलता से बेचा जा सकता है। परन्तु इसमें दोष यह है कि माल खराब हो सकता है तथा उसका मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। माल सम्बन्धी अधिकार-पत्रों में जालसाजी होने की बड़ी संभावना रहती है। अतः उक्त जमानत पर ऋण स्वीकृत करने से पूर्व बैंक को चाहिए कि माल का भली प्रकार निरीक्षण कर ले, उसका बीमा करा ले, गोदामों में रखने के पश्चात् उसे बराबर समय-समय पर देखता रहे तथा माल की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जांच-पड़ताल विशेषज्ञों द्वारा करा ले। माल का अधिकार-पत्र लेने से पूर्व उसको भली भांति देखना चाहिए कि कहीं उसमें जालसाजी तो नहीं है।

हमारे देश में माल या माल के अधिकार-पत्र की जमानत पर ऋण देने की प्रथा अधिक लोकप्रिय नहीं है क्योंकि न तो हमारे यहां अनुज्ञाधारी गोदाम ही हैं और न माल के संगठित बाजार हैं। फिर भी, आजकल रेलवे-रसीद तथा जहाजी रसीद की जमानत पर ऋण देना-लेना काफी लोकप्रिय होता जा रहा है।

जीवन बीमा-पत्र—यदि किसी व्यक्ति ने अपने जीवन का बीमा करा रक्खा है तो बीमा कम्पनी द्वारा दिए गए बीमा-पत्र को जमानत के रूप में रखकर बैंक से ऋण प्राप्त किया जा सकता है, पर बीमा-पत्र के आधार पर जो ऋण मिलता है वह प्रायः बीमा की परित्यज्य-राशि (Surrender Value) से अधिक नहीं हो सकता। ऋण लेने से पूर्व बीमा-पत्र को बैंक के पास प्राधि के रूप में रखना पड़ता है।

इस प्रकार की जमानत पर ऋण देने से बैंक को अनेक लाभ हैं—(१) बीमा का परित्यज्य-मूल्य शीघ्र और सरलता से ज्ञात कर लिया जाता है और यदि बीमे की प्रव्याजि का बराबर भुगतान होता रहे तो उसकी परित्यज्य-राशि भी बढ़ती रहती है जिससे बैंक की निश्चिन्तता बढ़ती जाती है, (२) आवश्यकता पड़ने पर बैंक इसका बेचान भी कर सकता है और अपनी राशि प्राप्त कर सकता है। साथ ही साथ इस प्रकार ऋण देने में कुछ हानि-भय भी होता है—(१) यदि बीमा करानेवाले व्यक्ति ने उस बीमे के संबंध में कोई भेद छिपाया तो उस दशा में उस बीमा-पत्र का बीमा कम्पनी पर कोई दायित्व नहीं रहता, (२) इसी प्रकार यदि बीमा करानेवाला आत्महत्या कर ले तो भी कम्पनी का कोई दायित्व नहीं रहता, (३) यदि बीमा करानेवाला बीमे की प्रव्याजि का भुगतान न करे तो भी बैंक को हानि हो सकती है। इन हानियों से बचने के लिए बैंक को चाहिए कि बीमा-पत्र की जमानत स्वीकार करने से पहिले बीमे की शर्तों का भली प्रकार अध्ययन कर ले, उसकी वैधानिक प्राधि करा ले और समय समय पर देखता रहे कि उस बीमे की राशि प्रतिवर्ष चुकाई जा रही है या नहीं।

स्टॉक एक्सचेंज पर बिकनेवाली सिक्यूरिटियां—इन सिक्यूरिटियों में सरकारी, अर्ध-सरकारी, स्थानीय सरकारों द्वारा निर्गमित सिक्यूरिटियां तथा कम्पनियों के अंश व ऋण-पत्रादि सम्मिलित होते हैं। इन सब प्रकार की सिक्यूरिटियों की जमानत पर बैंक से ऋण प्राप्त किया जा सकता है। इन सिक्यूरिटियों को सरलतापूर्वक स्टॉक एक्सचेंज में जाकर बेचा जा सकता है अतः बैंक इन्हें विशेष रूप से स्वीकार कर लेते हैं। फिर एक बात और भी है कि इन सिक्यूरिटियों के हस्तान्तरण में किसी प्रकार की विशेष असुविधा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होती तथा इनके मूल्यों में विशेष उच्चावचन भी नहीं होते। अतः ये सिक्यूरिटियां जमानत का काम अच्छा कर सकती हैं। ये सिक्यूरिटियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) विनिमय-साध्य (Negotiable), (२) अ-विनिमय-साध्य (Not Negotiable)। विनिमय-साध्य सिक्यूरिटियां प्रदान मात्र से हस्तान्तरित की जा सकती हैं। अविनिमय-साध्य सिक्यूरिटियां भी सामान्यतः दो प्रकार की होती हैं—(क) सामान्य, (ख) रजिस्टर्ड। सामान्य सिक्यूरिटियों का हस्तान्तरण सिक्यूरिटी-धारक अथवा उसका एजेंट कर सकता है और इस प्रकार हस्तान्तरण के साथ स्वामित्व-अधिकार भी हस्तान्तरित हो जाता है। इनका ब्यौरा सरकारी पुस्तकों में अथवा कम्पनियों की पुस्तकों में होता है। रजिस्टर्ड सिक्यूरिटियों का हस्तान्तरण करने के साथ साथ उनकी रजिस्ट्री भी कम्पनी की पुस्तकों में करानी होती है और तभी उनका स्वामित्व-अधिकार हस्तान्तरित होता है।

उक्त सिक्यूरिटियों को जमानत पर रखकर बैंक को ऋण देने में अनेक लाभ हैं—इनको सरलतापूर्वक आवश्यकतानुसार बेचा जा सकता है, इनके मूल्य में बहुत भारी-भारी और अनिश्चित उच्चावचन नहीं होते, इनका वास्तविक मूल्य सरलता से ज्ञात किया जा सकता है तथा आवश्यकता के समय इन्हें केन्द्रीय बैंक के पास रखकर उससे राशि प्राप्त की जा सकती है। इन गुणों के कारण बैंक खुशी खुशी इनकी जमानत मान लेते हैं। पर इसके कुछ दोष भी हैं—यदि अंशों व ऋण-पत्रों का आंशिक भुगतान हुआ तो उन पर राशि-याचना (Call) होने पर बैंक को वह राशि चुकानी होगी अन्यथा वे अंशादि जब्त हो जायंगे। दूसरे, जब कोई सिक्यूरिटी पूर्ण रूप से विनिमय-साध्य हस्तान्तरित होनेवाली नहीं होती तो इनके हस्तान्तरण में बड़ी कठिनाई रहती है। ऐसी अवस्था में बैंक का अधिकार हस्तान्तरण करनेवाले के अधिकार की तरह का होता है और उसके दोषपूर्ण होने पर बैंक का अधिकार भी दोषपूर्ण माना जाता है। अतः सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण स्वीकृत करने में बैंक को चाहिए कि कम्पनी के अंशों की जमानत लेने से पूर्व अपने ग्रहणाधिकार की सुरक्षा के लिए, ग्रहणाधिकार की सूचना सम्बन्धित कम्पनी को दे दे। बैंक को आंशिक भुगतानवाले अंश और ऋण-पत्र कभी स्वीकार नहीं करने चाहिएं तथा उन्हें वे अंश भी जमानत में स्वीकार नहीं करने चाहिएं जिनमें बहुत अधिक सट्टा होता हो।

(२) अचल सम्पत्ति (भू-गृहादि) की जमानत

बैंक सामान्यतः अचल सम्पत्ति की साख पर ऋण नहीं देते पर यदि ऋण-याचक के पास जमानत के लिए और कोई साधन न हो तो कोई कोई बैंक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भू-गृहादि की जमानत पर ऋण दे भी देते हैं, भू-गृहादि की जमानत पर ऋण देने से पहिले बैंक उस अचल सम्पत्ति की प्राधि अपने नाम करा लेता है। अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण न देने के अनेक कारण हैं—अचल सम्पत्ति के वास्तविक अधिकारी का पता लगाना बहुत कठिन होता है, उस सम्पत्ति का मूल्य आंकना भी कठिन होता है, इसे बेचने में असुविधा होती है, इसके मूल्य में उच्चावचन अधिक होते हैं तथा अन्य जमानतों की भांति इसे शीघ्र ही नकदी में परिवर्तित नहीं कराया जा सकता। फिर भी यदि कोई बैंक अचल सम्पत्ति की साख पर ऋण दे तो उसे उक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखकर उस जमानत के प्रति सतर्क रहना चाहिए।

(३) वैयक्तिक जमानत (गारंटी)

बैंक वैयक्तिक जमानत पर अर्थात् व्यक्ति विशेष की गारंटी लेकर भी ऋण स्वीकृत कर सकता है। गारंटी दो प्रकार की हो सकती है—(१) विशिष्ट राशि के लिए, (२) सम्पूर्ण राशि के लिए। विशिष्ट गारंटी के अन्तर्गत गारंटी करनेवाला व्यक्ति किसी विशिष्ट एवं निश्चित राशि की गारंटी देता है। सम्पूर्ण गारंटी के अन्तर्गत ऋण की सम्पूर्ण राशि की गारंटी की जाती है और उसका दायित्व सम्पूर्ण राशि के लिए होता है, किसी निश्चित राशि के लिए ही नहीं। गारंटी लिखित अथवा मौखिक दी जा सकती है पर बैंक को सदैव लिखित गारंटी ही स्वीकार करना चाहिए। बैंक को अपने ऋण की सुरक्षा के लिए गारंटी-पत्र इस प्रकार बनाना चाहिए कि वैधानिक दृष्टि से उसमें कोई दोष न रहे। इस पत्र में राशि, अवधि तथा ऋण की अन्य बातें स्पष्ट लिखी होनी चाहिएं। गारंटी लेते समय बैंक को गारंटी करनेवाले व्यक्ति की साख एवं आर्थिक स्थिति की भली प्रकार जांच-पड़ताल कर लेना आवश्यक है जिससे भविष्य में किसी प्रकार की हानि की संभावना न रहे।

सारांश

राशि के लेन-देन में बैंक साख का सृजन करते और 'साख के सृजनकर्त्ता' कहे जाते हैं। साख का सृजन बैंक की तीन क्रियाओं में सन्निहित होता है—जमा, कटौती तथा निर्गमन। बैंक प्रायः ग्राहकों से नकद राशि प्राप्त करके अपनी जमा बनाते हैं। कभी कभी बैंक नकद राशि न लेकर ग्राहक से चेक, बिलादि प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनकी राशि संग्रहित करके ग्राहक के लेखे में जमा करके जमा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जो जमा-राशि बैंक को प्राप्त होती है उसे मूल-जमा (Primary Deposit) कहते हैं। बैंक किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण स्वीकृत करके ऋण-याचक का लेखा खोलकर उसमें राशि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जमा कर लेते और ऋण-याचक को अधिकार दे देते हैं कि वह अपनी आवश्यकतानुसार चेक लिखकर ऋण-राशि निकालता रहे। इस प्रकार एक ओर बैंक ऋण देते और दूसरी ओर उसे जमा के रूप में प्राप्त कर लेते हैं। अतः कहा जाता है कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं।" इस प्रकार की जमा को 'सृजित जमा' (Created Deposit) कहते हैं।

प्रोफेसर कीन्स ने लिखा है कि "ऋण जमा के जन्मदाता और जमा ऋण की जन्मदात्री होती हैं।" कीन्स का यह कथन इस प्रकार सत्य है—जब बैंक अपनी मूल जमा या नकद जमा में ऋण-याचकों को ऋण देता है तो उस समय जमा ऋण की जन्मदात्री होती हैं और जब बैंक ऋण स्वीकृत करके जमा का निर्माण करे तो उस समय ऋण जमा के जन्मदाता बन जाते हैं। नोट-निर्गमन करके भी साख का सृजन किया जाता है पर आजकल यह अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही मिला होता है अतः अन्य बैंक इस विधि के अनुसार साख-सृजन नहीं कर सकते।

साख-सृजन की मर्यादाएं इस प्रकार हैं—(१) बैंक द्वारा रक्खा जाने वाला नकद कोष; (२) केन्द्रीय बैंक के पास जमा बैंकों का कोष; (३) धातु-कोष; (४) ऋण-याचकों की साख; (५) सामान्य आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियां।

वाल्टर लीफ तथा केनन जैसे विद्वानों के मतानुसार साख के सृजनकर्त्ता बैंक नहीं बल्कि जमाकर्त्ता होते हैं। उनका मत है कि बैंक न साख का सृजन करते और न मुद्रा के सृजनकर्त्ता होते हैं—वे तो मध्यस्थ का काम करते हैं। यदि जमाकर्त्ता बैंकों में राशि जमा करना बन्द कर दें तो बैंक साख का सृजन कैसे कर सकते हैं। अतः साख के सच्चे सृजनकर्त्ता जमाकर्त्ता होते हैं।

ऋण स्वीकृत करने से पहिले बैंक अपने कोष में कुछ नकद राशि बचाकर रख लेता है जिससे समय आने पर उसके द्वारा जमाकर्त्ताओं की मांग पूरी करता रहे। इस नकद राशि को नकद कोष (Cash Reserve) कहते हैं। नकद कोष बैंक अपने पास रखते तथा केन्द्रीय बैंक में भी जमा कर देते हैं। यह कोष बैंक की साख बनाए रखने में सहायक होता है। नकद-कोष कितना रक्खा जाय, यह बात इन तत्वों पर निर्भर करती है—(१) वैधानिक आवश्यकता; (२) जमाकर्त्ताओं की औसत जमा-राशि; (३) लोगों की बंकिंग आदत; (४) ग्राहकों की सामान्य प्रकृति; (५) स्थानीय प्रथा; (६) मुद्रामण्डी की व्यवस्था; (७) समाशोधन-गृह की सुविधा; (८) व्यापारिक परिस्थितियां; (९) बैंक-व्यवस्थापकों की दूरदर्शिता।

बैंक अपने पास जमा-राशि को विनियोग करके ब्याज कमाता है और उस ब्याज में से कुछ भाग जमाकर्त्ताओं को, उनकी जमा-राशि पर, ब्याजस्वरूप देकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शेष लाभ अपने पास बचा लेता है। बैंक की विनियोग नीति की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती। फिर भी प्रत्येक बैंक को अपनी विनियोग नीति निर्धारित करते समय कुछ तत्त्वों का अवश्य विचार रखना चाहिए। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) तरलता; (२) सुरक्षा; (३) आय; (४) विकेन्द्रीकरण; (५) जमानतों का समुचित निरीक्षण; (६) केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति का अध्ययन।

बैंक के विनियोग दो प्रकार के होते हैं—(१) लाभप्रद विनियोग; (२) लाभरहित विनियोग। व्यवसाय-संचालन के लिए भूगृहादि वस्तुएं खरीदने में तथा नकद-कोष में जो राशि लगाई जाय उसे लाभरहित विनियोग समझना चाहिए। लाभप्रद विनियोग प्रायः चार प्रकार से किया जाता है—(१) अल्पकालीन ऋण देकर, (२) बिलों का क्रय करके एवं कटौती करके, (३) विनियोग-पत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां क्रय करके, (४) अग्रिम तथा ऋण देकर।

बैंक दो प्रकार के ऋण देता है—(१) जमानती ऋण, (२) गैर-जमानती ऋण। जमानती ऋण भूगृहादि की साख पर अथवा सिक्यूरिटियों की साख पर दिए जाते हैं। गैर-जमानती ऋण ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर दिए जाते हैं—इनके लिए किसी प्रकार की अन्य जमानत की आवश्यकता नहीं होती। बैंक द्वारा मान्य जमानतें इस प्रकार होती हैं—(१) साम्पार्श्विक जमानत, (२) अचल सम्पत्ति (भूगृहादि) की जमानत, (३) वैयक्तिक (गारंटी) जमानत। साम्पार्श्विक जमानत के अन्तर्गत जो वस्तुएं जमानत में रखी जा सकती हैं वे इस प्रकार हैं—व्यावसायिक माल तथा माल सम्बन्धी अधिकार-पत्र, जीवन बीमा-पत्र तथा स्टाक एक्सचेंज पर बिकनेवाली सिक्यूरिटियां। बैंक किसी भी प्रकार की जमानत पर ऋण स्वीकृत क्यों न करे, सभी में कुछ न कुछ गुण-दोष होते हैं। किसी में मूल्यांकन की कठिनाई होती है, किसी में तरलता का अभाव होता है, किसी में सुरक्षा की समस्या होती है और किसी में रजिस्टर आदि कराने की अड़चन होती है। बैंक को चाहिए कि जमानत पर ऋण देने से पूर्व पूर्ण सावधानी से काम ले।

बैंक किसी व्यक्ति विशेष की गारंटी लेकर भी ऋण दे सकता है। गारंटी लिखित अथवा मौखिक दी जाती है पर जहां तक सम्भव हो बैंक को लिखित गारंटी लेनी चाहिए। गारंटी पर ऋण देने से पहिले बैंक की गारंटी करनेवाले व्यक्ति की साख एवं आर्थिक स्थिति की भली प्रकार जांच-पड़ताल कर लेना आवश्यक है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा प्रश्न

(१) "बैंक साख का सृजन करते और साख के सृजनकर्त्ता होते हैं" इस उक्ति से आप क्या समझते हैं ? बैंक साख का सृजन कैसे करते हैं ?

(२) बैंक साख-सृजन का कार्य किन विधियों से करते हैं ? साख-सृजन की मर्यादाएं क्या हैं ? विवेचनात्मक उत्तर दीजिए ।

(३) "जमा ऋण की जन्मदात्री और ऋण जमा के जन्मदाता होते हैं"—प्रो० कीन्स के इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

(४) बैंक द्वारा साख-सृजन के विषय में आजकल जो भ्रान्ति चल रही है उसकी व्याख्या करते हुए समझाइए कि क्या वास्तव में बैंक साख का निर्माण करते हैं ?

(५) बैंक के 'नकद-कोष' से आपका क्या तात्पर्य है ? बैंक अपने पास नकद-कोष क्यों और कैसे रखते हैं ? नकद-कोष की मात्रा कैसे निर्धारित की जा सकती है ?

(६) "सफल बैंक वही है जो विनिमय-बिल तथा प्राधि का अन्तर समझ सके"—इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए और समझाइए कि बिलों की कटौती द्वारा तथा प्राधि पर ऋण देने में क्या अन्तर है ?

(७) बैंक की 'विनियोग नीति' से आप क्या समझते हैं ? विनियोग नीति की कसौटी क्या होती है ? बैंक के लाभप्रद विनियोगों पर प्रकाश डालिए ।

(८) बैंक द्वारा राशि विनियोग करने की विधियां कौन कौन सी हैं ? 'लाभप्रद विनियोग' से आपका क्या तात्पर्य है ? लाभप्रद विनियोग की विभिन्न विधियों की व्याख्या कीजिए ।

(९) बैंक किन-किन जमानतों पर ऋण स्वीकार करते हैं ? विभिन्न जमानतें स्वीकार करने से पूर्व बैंक को किन किन सावधानियों से काम लेना चाहिए ?

(१०) बैंक अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण क्यों नहीं देते ? वैयक्तिक गारंटी पर ऋण देने में बैंक को क्या-क्या सावधानियां बरतनी चाहिए ?

(११) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए—

(१) नकद-कोष
(२) साम्पार्श्विक जमानतें
(३) "जमा ऋ . की जन्मदात्री होती हैं"
(४) साख-जमा
(५) मूल-जमा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १६

बैंक का स्थिति-विवरण*

भारतीय कम्पनी विधान १९१३ एवं भारतीय बैंकिंग कम्पनी विधान १९४९ के अनुसार प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को वर्ष के अन्त में अपनी सम्पूर्ण देनदारी एवं लेनदारी का एक संक्षित ब्यौरा जनता की, विशेषतः अपने ग्राहकों व अंशधारियों की, सूचनार्थ प्रकाशित कराना अनिवार्य होता है। देनदारी और लेनदारी के इस ब्यौरे को स्थिति-विवरण कहते हैं। यह स्थिति-विवरण बैंक को निर्धारित वैधानिक रीति से तैयार करके प्रकाशित करना होता है। इसमें स्पष्ट रूप से सूचना दी जाती है कि उस तिथि पर, जब कि वह विवरण तैयार किया जा रहा है, बैंक की सम्पत्ति कितनी है और उसमें क्या क्या वस्तुएं सम्मिलित हैं, बैंक को कितना लेना है और कितना देना है तथा बैंक के पास कितने कोष हैं तथा कितनी नकद राशि है। स्थिति-विवरण प्रकाशित होने से बैंक के अंशधारियों, ऋणदाताओं, जमाकर्त्ताओं, लेनदारों तथा कर्मचारियों—सभी को बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति के विषय में जानकारी मिल जाती है। स्थिति-विवरण में सामान्यतः कौन कौन बातें सम्मिलित होती हैं यह सामने के पृष्ठ पर दिखाया गया है।

---

*Balance Sheet of a Bank.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति-विवरण का काल्पनिक स्वरूप

पूंजी तथा देनदारी	पये	सम्पत्ति तथा लेनदारी		रुपये
अधिकृत पूंजी		हस्तस्थ नकद राशि	५,००,०००	
.....अंश..... रुपये प्रति अंश ..		बैंकों में जमा नकद राशि	१३,००,०००	१८,००,०००
निर्गमित एवं प्रार्थित पूंजी ..		विनियोग (बाजार-भाव लगाकर)		१०,५०,०००
.....अंश.....रुपये प्रति अंश ..		नकद-साख एवं अधिविकर्ष	..२८,००,०००	
दत्त पूंजी		स्थानीय बिलों की कटौती	..१८,००,०००	
.....अंश.....रुपये प्रति अंश ..	२०,००,०००	ऋण	..४६,००,०००	९२,००,०००
संचित कोष	७,७०,०००	उक्त लेनदारी का विवरण जो कम्पनी विधान १९१३ के अनुसार देना आवश्यक है :—		
विनियोग संचित कोष ..	१,००,०००	(१) उत्तम माने जानेवाले ऋण जिनकी राशि पूर्णरूपेण जमानत द्वारा सुरक्षित है ..	५२,००,०००	
स्थिर लेखों पर जमा ..	४०,००,०००	(२) उत्तम माने जानेवाले ऋण जो एक या अधिक पक्षों की वैयक्तिक जमानत पर दिए गए हैं	३४,३०,०००	
चल एवं बचत लेखों पर जमा ..	३८,००,०००	(३) सन्देहात्मक ऋण ..	५,७०,०००	
ऋण (ग्राहकों की जमानतों को पुनः जमानत में रख कर प्राप्त) ..	१२,००,०००	(४) अशोध्य समझे जानेवाले ऋण ..		
साख-पत्रों एवं अज्ञात देनदारी के लिए व्यवस्था	१,७०,०००		९२,००,०००	
ग्राहकों के नाम पर बिलों की स्वीकृति एवं उन पर देनदारी ..	६,५०,०००	ग्राहकों के नाम पर बिलों की स्वीकृति पर उनसे लेनदारी		६,५०,०००
घोषित पर अयाचित लाभांश ..	२०,१००	फर्नीचर आदि		४०,०००
लाभालाभ-लेखा (लाभ) ..	२,०९,९००	भूगृहादि		१,७०,०००
		स्टेशनरी, कागज-पत्रादि ..		१०,०००
योग ..	१,२९,२०,०००	योग ..		१,२९,२०,०००

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पिछले पृष्ठ पर बैंक के स्थिति-विवरण का एक सामान्य और काल्पनिक स्वरूप दिया गया है। विधान के अनुसार स्थिति-विवरण प्रायः इसी भांति तैयार किए गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब बैंकों के स्थिति-विवरण ठीक इसी प्रकार तैयार किए जाते हों—बैंक की अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक फेर-बदल और घटा-बढ़ी की जा सकती है।

स्पष्ट है कि स्थिति-विवरण के दो भाग होते हैं—(१) पूंजी तथा देनदारी का भाग, जिसमें बैंक की पूंजी का क्रमिक वर्णन तथा बैंक की सम्पूर्ण देनदारी का ब्यौरा होता है, (२) सम्पत्ति तथा लेनदारी का भाग, जिसमें बैंक की चल और अचल सम्पत्ति तथा स्वीकृत किए गए ऋणों तथा अन्य लेनदारी का ब्यौरा होता है। अब हम स्थिति-विवरण के दोनों भागों की समुचित व्याख्या करेंगे।

बैंकिंग कम्पनी बनते समय उसकी पूंजी अंश बेचकर प्राप्त की जाती है। जो लोग इन अंशों को खरीदते हैं वे बैंक के अंशधारी कहे जाते हैं। 'अधिकृत पूंजी की मात्रा कम्पनी के चार्टर अर्थात् मेमोरेण्डम ऑव एसोसिएशन द्वारा निर्धारित की जाती है। इस पूंजी का कुछ भाग आवश्यकतानुसार जनता को खरीदने के लिए निर्गमित कर दिया जाता है, इसे 'निर्गमित पूंजी' कहते हैं। निर्गमित अंशों में से जनता जितने अंश खरीदे अथवा खरीदने के लिए आवेदन करे उस भाग को 'प्रार्थित पूंजी' कहते हैं। प्रार्थित पूंजी का जितना भाग वास्तव में चुकता किया जाय उसे 'दत्त पूंजी' कहते हैं। अधिकृत पूंजी के विषय में बैंक पर किसी प्रकार का वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होता। हां, कुछ देशों में अधिकृत पूंजी, निर्गमित पूंजी, प्रार्थित पूंजी तथा दत्त पूंजी के पारस्परिक अनुपात के विषय में कुछ वैधानिक प्रतिवन्ध अवश्य है जो बैंक को निबाहना आवश्यक होता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ की धारा १२ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी अधिकृत पूंजी का कम से कम ५०% प्रार्थित पूंजी तथा प्रार्थित पूंजी का कम से कम ५०% दत्त पूंजी रखना अनिवार्य है। इसका उद्देश्य यह है कि बैंक आरम्भ में आवश्यक पूंजी अंश बेचकर ही प्राप्त कर ले।

संचित कोष बैंक के लाभ में से प्रतिवर्ष एक निश्चित राशि अलग रखकर बनाया जाता है। यह कोष अज्ञात हानि की पूर्ति में अथवा समायोजन में काम आता है। जैसे-जैसे प्रतिवर्ष यह कोष बढ़ता जाता है तैसे-ही-तैसे बैंक की कार्यशील पूंजी भी बढ़ती जाती है। यह कोष अंशधारियों का माना जाता है और उन्हीं के हित में प्रयोग होता है। कोष की राशि जितनी अधिक होगी उतनी ही ठोस बैंक की आर्थिक स्थिति समझी जाती है। कोष कभी-कभी अंशधारियों को 'अतिरिक्त लाभांश' बांटने के काम में भी लाया जाता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। कोष बनाकर रखना प्रत्येक देश में विधान द्वारा अनिवार्य बना दिया गया है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून, १९४९ की धारा १७ के अनुसार संचित कोष की राशि दत्त पूंजी के बराबर होना अनिवार्य कर दिया गया है और जब तक ऐसा न हो जाय तब तक बैंक को प्रतिवर्ष अपने अवितरित लाभ का २०% भाग कोष में अलग रखना होता है।

संचित कोष के अतिरिक्त बैंक किसी विशिष्ट उद्देश्य से विशिष्ट प्रकार का कोष बना सकता है पर उसका पूर्ण विवरण स्थिति-विवरण में देना आवश्यक है। विशिष्टि प्रकार के कोष केवल उसी काम में प्रयोग किए जाते हैं जिन कामों के लिए वे बनाए जाते हैं। कभी-कभी बैंक के संचालक गुप्त कोष भी बनाकर रखते हैं पर वे स्थिति-विवरण में नहीं दिखाए जाते।

संचित कोष तथा अन्य विशिष्ट प्रकार के कोषों के पश्चात् जमा-राशि का ब्यौरा होता है। बैंक तीन प्रकार से जमा प्राप्त करता है—(१) स्थिर लेखे पर, (२) चल लेखे पर तथा (३) बचत लेखे पर। स्थिर लेखों पर जो राशि जमा होती है वह एक निश्चित अवधि के लिए होती है तथा चल और बचत लेखों की जमा-राशि समय-समय पर निकाली जा सकती है। इस जमा-राशि से बैंक को कार्यशील पूंजी प्राप्त होती है तथा इसी राशि को वे विनियोग के काम में लाते हैं।

कभी-कभी बैंक अपने ग्राहकों की ओर से बिलों की स्वीकृति करते हैं—इसका ब्यौरा भी उन्हें अपने स्थिति-विवरण में दिखाना होता है। ग्राहकों की ओर से स्वीकृति देकर बैंक अपने ऊपर उन बिलों के भुगतान का दायित्व लेते हैं अतः उस राशि को बैंक की देनदारी में दिखाया जाता है। यद्यपि स्वीकृति देकर बैंक अपनी देनदारी बढ़ा लेते हैं पर वास्तव में वह राशि उन्हें अपने ग्राहकों से, जिनकी ओर से उन्होंने बिलों की स्वीकृति की है, प्राप्त होनी होती है। अतः उस राशि का दूसरा ब्यौरा बैंक अपने स्थिति-विवरण की सम्पत्ति और लेनदारी की ओर भी दिखाते हैं।

लाभांश की वह राशि जो बैंक ने अपने अंशधारियों के नाम घोषित तो कर दी हो पर जिसका भुगतान न हुआ हो, बैंक की देनदारी होती है अतः देनदारी पक्ष की ओर दिखाई जाती है। लाभालाभ-लेखे के अन्तर्गत जो लाभ निकाला जाता है वह भी बैंक की अपने अंशधारियों के लिए देनदारी होती है अतः देनदारी पक्ष में दिखाया जाता है।

अंश-पूंजी तथा जमा-राशि का बैंक ने किस प्रकार प्रयोग किया है और सम्पत्ति तथा विनियोग की दृष्टि से बैंक की क्या स्थिति है—इसका ब्यौरा स्थिति-विवरण के दूसरी ओर अर्थात् सम्पत्ति और लेनदारी की ओर दिखाया जाता है। सम्पत्ति और लेनदारी का क्रम स्थिति-विवरण में तरलता की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दृष्टि से होता है। इस दृष्टि से सबसे पहिले वह नकद-राशि दिखाई जाती है जो बैंक के पास तिजोरी में होती है और फिर बैंक की जो राशि केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों में हो, वह दिखाई जाती है। कभी-कभी बैंक अपनी राशि अन्य बैंकों में जमा करते हैं—और केंद्रीय बैंक में तो उन्हें विधान के अनुसार कुछ राशि जमा करनी होती ही है—यह सब राशि समय पड़ने पर निकाली जा सकती है अतः यह उतनी ही तरल होती है जितनी हस्तस्थ राशि।

बैंक के अपने जितने विनियोग होते हैं वे बाजार-दर पर स्थिति-विवरण में लिखे जाते हैं। विनियोगों में सरकारी सिक्यूरिटियों, अर्धसरकारी सिक्यूरिटियों, कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों का समावेश होता है। ये सब सिक्यूरिटियां अंकित-मूल्य पर न दिखाकर बाजार-मूल्य पर दिखाई जाती हैं ताकि वास्तविक स्थिति का ज्ञान किया जा सके।

स्थिति-विवरण में बैंक द्वारा दिए गए ऋणों का ब्यौरा विस्तारपूर्वक दिखाया जाता है। बैंक प्रायः तीन प्रकार के ऋण देता है—(१) नकद-साख एवं अधिविकर्ष द्वारा, (२) बिलों की कटौती करके, (३) जमानती ऋण देकर। इन सब प्रकार के ऋणों की पूरी-पूरी राशि अलग-अलग ब्यौरे-वार दिखाई जाती है। इतना ही नहीं, यह भी दिखाना अनिवार्य होता है कि कितनी राशि के ऋण जमानत द्वारा सुरक्षित हैं, कितने ऋण वैयक्तिक जमानत पर दिए गए हैं, कितनी ऋण-राशि संदेहात्मक है और कितने अशोध्य ऋण हैं। इस ब्यौरे के अन्तर्गत प्राधि, बन्धक तथा गारंटी आदि सभी प्रकार के ऋण आ जाते हैं। बिलों की कटौती करके जो ऋण दिए जाते हैं वे अलग ब्यौरेवार दिखाए जाते हैं।

ग्राहकों की ओर से बैंक जिन बिलों की स्वीकृति करता है उनकी राशि बैंक को अपने ग्राहकों से मिलनी होती है अतः यह बैंक की लेनदारी है। इसे लेनदारी के पक्ष में ऋणों के पश्चात् लिखा जाता है। इसकी एक सम-प्रविष्टि देनदारी की ओर भी की जाती है (जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है)।

अन्त में, भूगृहादि व फर्नीचर आदि लिखे जाते हैं। ये पद सबसे अन्त में इसलिए लिखे जाते हैं क्योंकि यह सम्पत्ति सबसे कम तरल होती है। ये बैंक की अचल सम्पत्ति समझी जाती हैं और इसका मूल्य वास्तविक मूल्य में से अवक्षयण घटाकर लगाया जाता है। कभी-कभी अचल सम्पत्ति में से अवक्षयण की राशि न घटाकर अवक्षयण-कोष विवरण में देनदारी की ओर दिखाया जाता है।

बैंक के स्थिति-विवरण के प्रकाशन से बैंक के अंशधारियों, ऋणदाताओं, जमाकर्त्ताओं, देनदारों, लेनदारों तथा कर्मचारियों—सभी को अपने-अपने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हितों की सूचना प्राप्त हो जाती है। अंशधारियों को ज्ञात हो जाता है कि लाभांश गिर रहे हैं अथवा बढ़ रहे हैं। वे संचित कोष की राशि को देखकर बैंक की आर्थिक स्थिति का ज्ञान कर सकते हैं और अपनी पूंजी की वास्तविक स्थिति जान सकते हैं। ऋणदाताओं तथा लेनदारों को अपने ऋण की सुरक्षा का ज्ञान होता है। वे जान लेते हैं कि सम्पत्ति और देनदारी का संतुलन है या नहीं, उनके ऋण बैंक में सुरक्षित हैं या नहीं और समय पर उनका भुगतान हो सकेगा या नहीं। जमाकर्त्ताओं को ज्ञात हो जाता है कि उनकी राशि जो बैंक में जमा है, किस प्रकार विनियोग की गई है; उन्हें मांगने पर राशि मिल सकेगी या नहीं; जमा-राशि के अनुपात में नकद-कोष कितना है आदि-आदि। बैंक के कर्मचारी बैंक के लाभालाभ को देखकर अपनी आनेवाली स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। बैंक का व्यवसाय बढ़ रहा है या घट रहा है और उससे उनके वेतन तथा बोनस पर क्या प्रभाव पड़ेगा—यह सब बातें कर्मचारियों को स्थिति-विवरण से ज्ञात हो सकती हैं। सम्पत्ति की तरलता, जमा-राशि की सुरक्षा, लाभ-वितरण करने की शक्ति, व्यापार की प्रगति, नकद-कोष तथा देनदारी का अनुपात, हस्तस्थ नकद-राशि, विनियोग-नीति आदि बातें स्थिति-विवरण से स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं। सामान्य जनता को भी बैंक के व्यवसाय का अनुमान हो जाता है और वे बैंक में राशि जमा करने तथा अन्य लेन-देन के विषय में निर्णय करने का निश्चय बनाने लगते हैं।

सारांश

प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को वर्ष के अन्त में अपनी पूंजी और देनदारी का तथा सम्पत्ति और लेनदारी का एक ब्यौरा तैयार करना होता है। इस ब्यौरे को बैंक का स्थिति-विवरण कहते हैं। बैंकिंग कम्पनी को अपना स्थिति-विवरण प्रकाशित करना कई कारणों से आवश्यक है। अपने अंशधारियों, जमाकर्त्ताओं, ऋणदाताओं तथा कर्मचारियों और सामान्य जनता को बैंक की आर्थिक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए स्थिति-विवरण तैयार करना होता है। बैंक को भी स्वयं यह जानना आवश्यक होता है कि बैंक की सम्पत्ति कितनी है, उसमें क्या-क्या वस्तुएं सम्मिलित हैं, बैंक को कितना लेना है और कितना देना है तथा उसके पास कितनी नकद राशि है और कितने अन्य कोष हैं।

भारत में बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ तथा कम्पनी कानून १९१३ के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपना स्थिति-विवरण तैयार करके प्रकाशित करना अनिवार्य है। स्थिति-विवरण विधान द्वारा निर्धारित रूप में तैयार करना होता है। स्थिति-विवरण में मूलतः दो पक्ष होते हैं—(१) पूंजी तथा देनदारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पक्ष; (२) सम्पत्ति तथा लेनदारी पक्ष। देनदारी पक्ष में बैंक की पूंजी, जमा-राशि, लाभ तथा अन्य देनदारी लिखी जाती हैं। लेनदारी पक्ष में हस्तस्थ नकदी, ऋण, विनियोग तथा अचल सम्पत्ति लिखी जाती है। जहां स्थिति-विवरण बनाने में सावधानी की आवश्यकता होती है वहां उसे पढ़कर समझने में भी पूर्ण कुशलता की आवश्यकता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) बैंक का 'स्थिति-विवरण' किसे कहते हैं? यह क्यों और कैसे तैयार किया जाता है?

(२) बैंक का एक काल्पनिक स्थिति-विवरण तैयार कीजिए और उसमें दर्शाए हुए विभिन्न पदों की व्याख्या कीजिए।

(३) बैंक के स्थिति-विवरण का अध्ययन करके उसे समझने के लिए किन-किन मूल बातों को भली प्रकार जानने की आवश्यकता है? विस्तृत उत्तर दीजिए।

(४) बैंक के स्थिति-विवरण में लेनदारी पक्ष की ओर बैंक द्वारा स्वीकृत किए गए ऋणों का ब्यौरा किस प्रकार दिखाओगे?

(५) "बैंक को अपना स्थिति-विवरण अपने अंशधारियों, जमाकर्त्ताओं, ऋण-याचकों, कर्मचारियों तथा सामान्य जनता की सूचनार्थ प्रकाशित करना आवश्यक होता है।" इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १७

केन्द्रीय बैंक व उसकी विभिन्न क्रियाएँ

'केन्द्रीय बैंक' वह बैंकिंग संस्था है जो देश की मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध करते हुए उनमें पारस्परिक समुचित संबंध प्रस्थापित करती तथा इस प्रकार देशी और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यस्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखती है। केन्द्रीय बैंक देश के विभिन्न बैंकों म पारस्परिक सहयोग बनाकर देश की बैंकिंग व्यवस्था को संगठित एवं सुरक्षित बनाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक देश के समूचे मौद्रिक कलेवर पर नियंत्रण रखते हुए अपनी नीति द्वारा देश के हित में कार्य करता है और इसी कारण इसे देश के मौद्रिक एवं बैंकिंग कलेवर का एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अपने उद्देश्य एवं दायित्व को निभाने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य सामान्य बैंकों की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार दिए जाते हैं, जैसे देश की नोट-व्यवस्था को निर्गमन तथा संचालन करने का एकाधिकार, सरकार के मौद्रिक कार्यों का संचालन एवं उनकी देख-भाल, देश के अन्य बैंकों पर नियंत्रण तथा उनके संचित कोषों को वैधानिक अनुपात में अपने पास जमा रखने का अधिकार, आदि। केन्द्रीय बैंक के विषय में जानने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बैंक का उद्देश्य अन्य सामान्य बैंकों की भांति लाभ कमाना नहीं होता वरन् देश के हित में काम करना होता है। सेयर्स लिखता है कि "केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं वरन् जनता और देश के हित में कार्य करना है—व्यापारिक बैंकों पर इसका नियंत्रण उनके साथ स्पर्धा अथवा प्रतियोगिता करने के लिए नहीं दिया जाता वरन उनके साथ सहयोग करके उन्हें सुरक्षित रखने व उनका विकास करने के लिए दिया जाता है।" केन्द्रीय बैंक अपने विशेषाधिकारों का कहीं दुरुपयोग न कर बैठे इसलिए उस पर कुछ नियंत्रण भी रखना आवश्यक होता है। देश-देश की केन्द्रीय सरकारें केन्द्रीय बैंकों के क्रिया-कलापों पर परोक्ष नियंत्रण रखती रही हैं और अब तो अनेक देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण ही हो गया है। राष्ट्रीय-करण होने से ये बैंक केन्द्रीय सरकार के स्वामित्व एवं संचालन में आकर उनके विभाग ही बन चुके हैं। हमारे देश के केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया—का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास

केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की रीति बहुत पुरानी नहीं है। २०वीं शताब्दी से पूर्व इस बात का कोई भरपूर तथा वैज्ञानिक ज्ञान नहीं था। हां, ऐसा देखने में अवश्य आता है कि पहिले अनेक देशों में ऐसे बैंक थे जो अन्य बैंकों की देखभाल करते थे और सरकार के बैंकिंग काम-काज भी करते थे। परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली का वर्तमान स्वरूप उस समय नहीं था। आधुनिक अर्थों में स्वीडन का बैंक सबसे पुराना केन्द्रीय बैंक है जो वर्तमान उद्देश्यों को लेकर बनाया गया था परन्तु समय की दृष्टि से इंगलैंड का बैंक सबसे प्राचीन माना जाता है जो दीर्घ-काल से बैंकों के बैंक तथा सरकारी बैंक के रूप में काम करता रहा है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में केन्द्रीय बैंकिंग का विकास हुआ और अनेक देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित किए गए। स्वीडन, फ्रांस, नीदरलैण्ड, नार्वे, कापेनहेगन, बेल्जियम, स्पेन, रूस, जर्मनी, जापान आदि अनेक देशों ने १९वीं शताब्दी में ही केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिए। परन्तु तो भी ऐसे अनेक देश बाकी थे जहां केन्द्रीय बैंक नहीं थे। २०वीं शताब्दी में देश-देश में बैंकिंग संकट आए जिनमें अनेक बैंक नष्ट हुए और विपुल राशि डूब गई। तब सोचा गया कि देश की बैंकिंग व्यवस्था के हित में तथा जनता के लाभ के लिए और देशों में पारस्परिक मौद्रिक तथा बैंकिंग सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सभी देशों को एक-एक केन्द्रीय बैंकिंग संस्था स्थापित कर लेना चाहिए। १९२० में ब्रूशल्स में होने-वाली अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कान्फ्रेंस में एक प्रस्ताव पास किया गया कि उन सभी देशों को, जिन्होंने अभी तक केन्द्रीय बैंक स्थापित नहीं किए हैं, अपनी-अपनी बैंकिंग तथा मौद्रिक व्यवस्था के संगठन के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के लिए केन्द्रीय बैंक तुरन्त ही स्थापित कर लेने चाहिएं। इस प्रस्ताव के परिणाम-स्वरूप देश-देश में केन्द्रीय बैंक बनाए जाने लगे। अफ्रीका, पीरू, कोलम्बिया, हंगरी, पोलैण्ड, आस्ट्रेलिया, चिली, चीन, बोलविया, टर्की, मैक्सिको, न्यूजी-लैण्ड, केनेडा, अर्जेनटाइना आदि देशों ने केन्द्रीय बैंक बनाए। भारत ने भी १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया की स्थापना की। भारत के पश्चात् भी ऐसे अनेक देश थे जहां केन्द्रीय बैंक नहीं थे पर उसके पश्चात् से वहां भी केन्द्रीय बैंक बनने लगे। कोस्टारीका ने १९३७ में, वेन्जुला ने १९३९ में तथा आयरलैण्ड और थाइलैण्ड ने १९४२ में केन्द्रीय बैंक स्थापित किए। आज लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंक पाए जाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकिंग कला का विकास होता रहा और समय की मांग के अनुसार उनकी संख्या बढ़ती गई। अब प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक का होना अनिवार्य माना जाता है और अनेक देशों की सरकारों ने तो केन्द्रीय बैंक को अपने शासन-यंत्र का एक आवश्यक पुर्जा ही बना लिया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आर्थिक आयोजन के वर्तमान युग में केन्द्रीय बैंक का होना एक अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है और यही कारण है कि आयोजन को सफल बनाने के लिए सरकारों ने केन्द्रीय बैंकों को सरकारी स्वामित्व एवं संचालन में ले लिया है।

केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं

१. नोट-निर्गमन एवं संचालन का एकाधिकार—केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा चलाने तथा उसका प्रबन्ध-संचालन करने का एकाधिकार होता है जिससे वह देश के व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सके। नोट-निर्गमन का एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक को देश की साख-व्यवस्था का ठीक-ठीक नियंत्रण करने में सुविधा होती है क्योंकि जनहित में मुद्रा एवं साख का घनिष्ट संबंध होने से उनका संचालन-नियंत्रण तभी प्रभावशाली हो सकता है जब कि मुद्रा और साख का अधिकार एक ही संस्था को सौंप दिया जाय। केन्द्रीय बैंक इस अधिकार के द्वारा साख-संचालन करके देश के मूल्यों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाकर रखता है और देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यस्तरों में आवश्यक समायोजन उत्पन्न करता रहता है जिससे व्यापार की प्रगति हो और आयात-निर्यात का समुचित आवागमन बना रहे। नोट-निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया मानी जाती है। यह एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को कई कारणों से दिया जाता है—(१) इससे देश की नोट-व्यवस्था में सादृश्यता आ जाती है; (२) एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक देश के व्यापार-उद्योग तथा अन्य आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा का प्रसार एवं संकोच कर सकता है और इस प्रकार देश की मौद्रिक व्यवस्था में लोच उत्पन्न की जा सकती है; (३) इससे केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की साख-सृजन की शक्ति पर नियंत्रण करने का सुयोग प्राप्त हो जाता है; (४) जनविश्वास के दृष्टिकोण से नोट-व्यवस्था में सुरक्षा आ जाती है; (५) एकाधिकार मिलने से केन्द्रीय बैंक की शक्ति और सम्मान बढ़ जाते हैं जिससे उसे अन्य बैंकों पर नियंत्रण रखने में सुविधा होती है।

२. बैंकों का बैंक—जो सुख-सुविधाएं देश के सामान्य बैंक जनता को देते हैं वही सुख-सुविधाएं केन्द्रीय बैंक अन्य सामान्य बैंकों को देता है। अतः इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश में बैंकों के बैंक के रूप में काम करता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के साथ प्रतियोगिता नहीं करता वरन् उनकी राशि जमा करता एवं समय पड़ने पर उनको उधार देकर उनकी सहायता करता है। बैंक अपने सदस्य-बैंकों को राशि के स्थानान्तरण की सुविधा देता है तथा उन्हें उनके साख-पत्रों की कटौती तथा पुनः कटौती की सुविधाएं देकर सिक्यूरिटियों पर ऋण भी स्वीकृत करता है। जब बैंकों को किसी भी स्रोत से ऋण नहीं मिलता तो वे केन्द्रीय बैंक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से राशि उधार लेते हैं—इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक को "अन्तिम ऋणदाता" (Lender of the last resort) कहा जाता है। देश के बैंक अपनी-अपनी मांग और काल-देनदारी का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं जिससे केन्द्रीय बैंक का उन पर नियंत्रण बना रहे और उस जमा-राशि में से वह किसी संकट-काल में बैंकों की सहायता कर सके। व्यापारिक बैंक अपनी मांग और काल-देनदारी का जो भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं वह विधान द्वारा निश्चित किया जाता है और विधान द्वारा ही उसमें फेर-बदल की जा सकती है। इस भांति बैंकिंग जगत् में व्यापारिक बैंकों के संचित कोषों का केन्द्रीय बैंक के पास केन्द्रीकरण हो जाता है। इस प्रकार के केन्द्रीकरण से कई लाभ होते हैं—(१) केन्द्रित कोष विशाल साख-व्यवस्था का सुदृढ़ आधार बन जाता है। जब संचित कोष अनेक बैंकों के पास बिखरे रहते हैं तो उनका पूर्ण तथा सामूहिक उपयोग करना सम्भव नहीं होता पर जब उन्हें केन्द्रीय बैंक में जमा करके एक साथ इकट्ठा कर दिया जाता है तो संकटकाल में देश के व्यापार और उद्योग के हितों में उनका पूर्ण और प्रभावकारी प्रयोग किया जा सकता है; (२) इस केन्द्रित कोष में से केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के साख-पत्रों की कटौती करके अथवा उन्हें ऋण स्वीकृत करके उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करता है जिससे कभी-कभी तो कोई-कोई बैंक डूबने से बच जाता है; (३) केन्द्रित कोष केन्द्रीय बैंक को नियंत्रण-शक्ति प्रदान करता है—व्यापारिक बैंकों के साख-सृजन तथा ऋण-नीति पर नियंत्रण करने के लिए केन्द्रित कोष केन्द्रीय बैंक के हाथ में एक सुदृढ़ बागडोर के समान होता है (हाल ही में केन्द्रीय बैंकों ने व्यापारिक बैंकों के संचित कोषों के अनुपात घटा-बढ़ाकर साख-प्रसार एवं साख-संकोच पर पूर्ण नियंत्रण करने के सफल प्रयोग किए हैं।)

३. सरकार का बैंकर, एजेंट तथा परामर्शदाता—केन्द्रीय बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों के लिए बैंकर, एजेंट तथा अर्थनीतिक परामर्शदाता के रूप में भी काम करता है। बैंकर की हैसियत से बैंक सरकार के लिए उन सभी कामों को करता है जो एक व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए करता है। सरकार की ओर से सरकारी कोषों की व्यवस्था करना, सरकार के लेखे पर भुगतान करना तथा राशि जमा करना तथा सरकार को अन्य मौद्रिक सुविधाएं देना इस बैंक का काम होता है। समय पड़ने पर सरकार केन्द्रीय बैंक से राशि उधार भी लेती है। सरकार द्वारा जो ऋण-पत्र तथा कोष-पत्र बेचे जाते हैं उनका निर्गमन तथा भुगतान केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है—इस प्रकार बैंक सरकार के एजेंट के रूप में काम करता है। सरकार के लेखे पर कर-वसूली, सरकारी ब्याज का भुगतान तथा लेन-देन और सरकार की ओर से होने-वाले विदेशी मौद्रिक व्यवहार केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही होते हैं। बैंक सरकार के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जन-ऋण का प्रवन्ध करता है तथा सरकार के निमित्त विदेशों में भी ऋण उठाने का भार लेता है। इसके अतिरिक्त वैंक समय-समय पर परामर्शदाता के रूप में भी काम करता है। देशी और विदेशी वित्तीय मामलों पर सरकारें केन्द्रीय बैंक से सलाह लेती हैं।

४. साख-नियंत्रण—केन्द्रीय वैंक, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार तथा सरकार की मौद्रिक नीति के अनुकूल साख का नियंत्रण करता है। वास्तव में यह कार्य अन्य कार्यों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। शॉ लिखता है—"केन्द्रीय वैंक का वास्तविक और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य देश में साख-नियंत्रण का होता है।" यदि सच पूछा जाय तो केन्द्रीय वैंक की स्थापना का मूलभूत ध्येय साख का समुचित प्रवन्ध एवं नियंत्रण करना होता है। साख-नियंत्रण के द्वारा वैंक देश के मूल्य-स्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व पैदा करता है तथा देशी और विदेशी मूल्य-स्तरों में आवश्यक समायोजन करके उन्हें समानता में वनाए रखने की चेष्टा करता है। इस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय वैंक कई उपायों से काम लेता है जैसे वैंक-दर, खुली वाजार-क्रियाएं, कोषानुपात में परिवर्तन आदि-आदि। इनका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

५. विदेशी विनिमय का प्रवन्ध—विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता एवं स्थायित्व रखने का दायित्व भी केन्द्रीय वैंक का होता है। वैंक को विदेशी विनिमय-दर निश्चित करने तथा देशी और विदेशी मुद्राओं का पारस्परिक क्रय-विक्रय करने का एकाधिकार मिला होता है। विदेशी मुद्राओं का कोप इसी वैंक के पास जमा रहता है और इसी के द्वारा उनका लेन-देन किया जाता है। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि मौद्रिक इकाई का आन्तरिक एवं वाह्य मूल्य स्थिर एवं स्थायी बनाने का काम केन्द्रीय वैंक का होता है।

६. समाशोधन-गृह का कार्य—केन्द्रीय वैंक देश के अन्य वैंकों के लिए 'समाशोधन-गृह' का काम करता है जिससे उन्हें पारस्परिक भुगतान लेने-देने की आवश्यकता न हो और इसकी सहायता से ही उनमें आपस के भुगतान निपट जायं। वैंकों का अनुभव है कि अन्य वैंकों के पास उनके ऊपर के जो चेक आदि होते हैं उनकी राशि उन चेक आदि की राशि के वरावर होती है जो उनके पास दूसरे वैंकों की होती है। हो सकता है कि दिन-प्रति-दिन के हिसाव में कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर हो। अतः दिन-प्रति-दिन के हिसाव का निवटारा उनके जो लेखे केन्द्रीय वैंक में होते हैं, उन्हीं में जमा-खर्च करके कर दिया जाता है। इससे प्रत्येक वैंक को एक दूसरे से भुगतान लेने-देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह क्रम वहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। स्प्रेग के कथनानुसार इसका प्रारम्भ सन् १८५४ में हुआ जव कि वैंक ऑव इंगलैण्ड ने इसका रास्ता दिखाया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समाशोधन-गृह का काम केन्द्रीय बैंक के समाशोधन-विभाग द्वारा किया जाता है। (समाशोधन-गृह का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।)

७. सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने का कार्य—उक्त क्रियाओं के द्वारा केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य केन्द्रीय सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाना होता है। बैंक का दायित्व होता है कि वह अपने कार्यों द्वारा सरकारी नीति को सफल बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहे। बैंक-दर के द्वारा साख-नियंत्रण करना तथा देश के विभिन्न बैंकों की सहायता, देखभाल तथा नियंत्रण करना केन्द्रीय बैंक का एक मुख्य कार्य होता है।

उक्त सभी कार्य केन्द्रीय बैंक के हैं, परन्तु यह कहना कि कौन सा कार्य अधिक आवश्यक है, कठिन बात है। भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। स्प्रेग के अनुसार केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख तीन प्रकार से किया जा सकता है—केन्द्रीय बैंक सरकार के अर्थ-एजेंट होते हैं, उन्हें नोट-निर्गमन का एकाधिकार अथवा विशेषाधिकार मिलने से उनके पास मौद्रिक नियंत्रण की बड़ी भारी शक्ति होती है और अन्त में, उनके पास बैंकों के कोष जमा होने के कारण वे साख के सम्पूर्ण कलेवर के आधार-स्तम्भ होते हैं और यही कार्य उनका महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।" हिल्टन यंग कमीशन के सामने गवाही देते समय बैंक ऑव इंगलैण्ड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंक के कार्य इस प्रकार वर्णित किए थे—"केन्द्रीय बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार होना चाहिए, यही नहीं वरन् कानूनी मुद्रा को चलाने व संचालन करने का एकमात्र अधिकार इसी बैंक को मिलना चाहिए। सरकारी कोषों का संधारक भी वही होना चाहिए तथा देश की बैंकों के कोष भी उसी के पास जमा रहने चाहिएं। केन्द्रीय बैंक सरकार का ऐसा एजेंट हो जिसके द्वारा सरकार की देशी और विदेशी आर्थिक क्रियाएं सम्पन्न की जा सकें। आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य-स्तर में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए मुद्रा का प्रसार एवं संकोच करने का अधिकार भी केन्द्रीय बैंक को मिला होना चाहिए। वही एक ऐसा स्रोत होना चाहिए जहां से आवश्यकता होने पर सरकारी सिक्यूरिटियों तथा अन्य मान्य सिक्यूरिटियों पर ऋण प्राप्त किए जा सकें तथा मान्य बिलों की कटौती कराकर संकटकालीन साख प्राप्त की जा सके।"

उक्त कथनों से भी यह बात स्पष्ट नहीं होती कि केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया कौन सी है। मुद्राशास्त्रियों ने तो इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। हॉट्रे का कहना है कि "केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य आवश्यकता के समय बैंकों को राशि उधार देना है—विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जबकि उनको सहायता का और कोई मार्ग न मिले।" ह्वैरा स्मिथ ने लिखा है कि "केन्द्रीय बैंक की प्रधान क्रिया नोट-निर्गमन करना है और अन्य सभी क्रियाएं गौण हैं जो उसके साथ-साथ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वतः ही आ जाती हैं।" शॉ का मत है कि केन्द्रीय बैंक की एक ही क्रिया है जो सबसे अधिक आवश्यक है और वह यह कि "बैंक देश में साख-व्यवस्था का संगठन करके देश की मौद्रिक आवश्यकताएं पूर्ण करता रहे।" किश तथा एल्किन ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक का काम मुद्रा के आन्तरिक तथा वाह्य मूल्य में स्थायित्व पैदा करना होता है और इसी के लिए उसे साख-नियंत्रण की आवश्यकता होती है। जॉनसी ने बताया है कि "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में अन्य बैंकों व मौद्रिक संस्थाओं के समाशोधन-गृह का काम करे।" बैंक फॉर इन्टरनेशनल सैटिलमेण्ट की नियमावलि में व्यक्त किया गया है कि "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में मुद्रा और साख का संगठन तथा नियंत्रण करता है।" इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु चूंकि बहुत से देशों के केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों की संचित-राशि अपने पास जमा रखते हैं इसलिए यह जान पड़ता है कि केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' अवश्य होता है। फिर भी किसी एक क्रिया को ही केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य कहना संगत नहीं जान पड़ता। यह भी कहना संभव नहीं हो सकता कि अमुक क्रिया प्रधान है और अमुक गौण, क्योंकि एक क्रिया दूसरी क्रिया पर आश्रित होती है। डी कॉक का कथन है कि केन्द्रीय बैंक को किसी भी उक्त क्रिया को करने के लिए हर समय तत्पर रहना चाहिए पर सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो कोई भी काम वह करे उसे जनता और राष्ट्र के हित में करे, अपने लाभ की दृष्टि से नहीं। एक बात और है। केन्द्रीय बैंक को वे काम अधिक सीमा में नहीं करने चाहिए जिन्हें देश के अन्य बैंक करते हों अन्यथा उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता बढ़ जाने का भय रहता है। जहां तक संभव हो वहां तक उसे प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करनेवाला कोई काम नहीं करना चाहिए। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य प्रतियोगिता करना नहीं वरन् सहायता करना होता है। उसे अन्य बैंकों का संरक्षक और हितैषी बनकर कार्य करना चाहिए। यदि कभी बैंक को अपना उद्देश्य सफल बनाने के लिए जनता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना पड़े तो अवश्य करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक की निषिद्ध क्रियाएं—देश के बैंकिंग कलेवर में केन्द्रीय बैंक का विशेष स्थान होने के कारण केन्द्रीय बैंक को जहां कुछ विशेषाधिकार मिले होते हैं वहां उसके क्रियाकलापों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाए जाते हैं। ये प्रतिबन्ध इस प्रकार के होते हैं—सामान्यतः केन्द्रीय बैंक का लेन-देन देश के मुख्य-मुख्य व्यापारिक बैंकों के साथ ही होता है, केन्द्रीय बैंक व्यापारियों और व्यवसायियों के साथ सीधा लेन-देन नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होने के कारण अन्य बैंकों के साथ प्रतिस्पर्द्धा या प्रतियोगिता नहीं करता। यदि वह ऐसा करता भी है तो वह अपने सदस्य-बैंकों में विश्वास नहीं जमा सकता। अतः सामान्यतः वह जनता से सीधा सम्पर्क नहीं रखता। दूसरे,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केन्द्रीय बैंक न तो जनता से राशि जमा करता है और न जमा-राशि पर कोई ब्याज ही देता है। केन्द्रीय बैंक अधिक दीर्घकाल के लिए राशि उधार भी नहीं देता। यह प्रायः तीन, छः, नौ व अठारह महीनों की अवधि के लिए राशि उधार देता है। बैंक अपनी पूंजी स्थिर सम्पत्ति खरीदने में विनियोग नहीं कर सकता।

केन्द्रीय बैंक को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसको प्रचुर मात्रा में साधन दिए जायं तथा साथ-साथ कुछ वैधानिक अधिकार भी दे दिए जायं; देश के अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में रक्खा जाय और उन्हें आदेश दिया जाय कि वे केन्द्रीय बैंक की आज्ञानुसार समस्त प्रकार की सूचनाएं समय-समय पर उसको भेजते रहें। व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि वे केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित मौद्रिक एवं साख-नीति में पूरा-पूरा सहयोग दें। देश के बैंकों तथा अन्य मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं के पूर्ण सहयोग द्वारा ही केन्द्रीय बैंक अपनी नीति में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं। पिछले दिनों में इस विषय में काफी प्रगति हुई है। लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंकों को वैधानिक अधिकार देकर स्वतंत्र बना दिया गया है। व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का मूल्य समझकर उन्हें सहयोग देने लगे हैं। आजकल तो केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीय-करण होने के कारण इनकी महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है। फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसी विधि निकाली जाय जिससे केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में स्वतः ही मेल और सहयोग उत्पन्न हो और दोनों एक दूसरे के महत्त्व को पहिचान कर सहयोग से काम करते रहें। हमारे देश में बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों पर नियंत्रण रखने के लिए अनेक अधिकार दे दिए गए हैं। वास्तव में रिजर्व बैंक अब देश के अन्य बैंकों का संचालक, नियंत्रक, पालक तथा 'हेडमास्टर' बन गया है। (विस्तृत विवरण के लिए आगे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया पढ़िए।)

केन्द्रीय बैंक एवं साख-नियंत्रण

बताया जा चुका है कि साख-नियंत्रणकेन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख और महत्त्व-पूर्ण कार्य होता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार मिला होता है। शॉ नामक प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री ने तो यहां तक लिखा है कि केन्द्रीय बैंक की एक क्रिया सबसे अधिक आवश्यक है और वह है देश की साख-व्यवस्था का संगठन करते हुए देश की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना। अतः हमें देखना चाहिए कि साख-नियंत्रण है क्या? और केन्द्रीय बैंक किस प्रकार साख नियंत्रित करता है?

साख-नियंत्रण का अर्थ—देश में व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के अनुकूल साख की मात्रा समायोजित करते रहना 'साख-नियंत्रण' कहलाता है।* मूल्यस्तर-नियमन के लिए यह आवश्यक है कि देश में साख की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुकूल अनुपात में हो। यदि किसी समय व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुकूल साख का समायोजन नहीं हुआ तो मूल्यस्तर या तो गिरते हैं और या बढ़ने लगते हैं। इससे व्यापार एवं उत्पादन में विषमता होने का भय रहता है। यदि कभी मुद्रा-मण्डी में साख की मात्रा उसकी आवश्यकता से अधिक रही तो मूल्यस्तर बढ़ने लगते हैं और यदि साख की मात्रा आवश्यकता से कम रह गई तो मूल्यस्तर गिरने लगते हैं जिससे उत्पादन में विषमता हो जाने का भय रहता है। कहने का अर्थ यह है कि उक्त दोनों परिस्थितियां व्यापार और उत्पादन के लिए घातक होती हैं। अतः देश के हित में यह आवश्यक होता है कि केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुकूल घटा-बढ़ाकर समायोजित करता रहे। इस समायोजन-क्रिया को 'साख-नियंत्रण' की संज्ञा दी गई है। साख के समुचित नियंत्रण से देश में मूल्यस्तर संतुलन में बने रहते हैं तथा व्यापार का क्रम भी बना रहता है। साख-नियंत्रण करने में केन्द्रीय बैंक को दृढ़ता और तत्परता से कार्य करने की आवश्यकता होती है और तब उसे 'मुद्रा-मण्डी का हिटलर' बनकर काम करना होता है। साख-नियंत्रण वैसे तो देश के अन्तर्गत मूल्यस्तर-नियमन करके व्यापार और उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है पर फिर भी इसके कई उद्देश्य होते हैं—जैसे, विदेशी विनिमय-दर को स्थिर एवं स्थायी बनाना, उत्पादन-क्रियाओं को प्रोत्साहित करके देश में रोजगारी बढ़ाना, देश के सोने को बाहर जाने से रोकना, आयात-निर्यात को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित करना आदि।

केन्द्रीय बैंक द्वारा सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण के लिए यह आवश्यक है कि देश के अन्तर्गत काम करनेवाली सब मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का अधिकार एवं नियंत्रण हो। वास्तव में देखा जाय तो केन्द्रीय बैंक देश की अनेक साख-संस्थाओं जैसे बैंकों द्वारा साख-नियंत्रण करता है और यदि उन संस्थाओं पर उसका प्रभावकारी नियंत्रण न रहा तो साख-नियंत्रण आवश्यक मात्रा में नहीं हो सकता। अतः साख-नियंत्रण का दायित्व संभालने से पूर्व केन्द्रीय बैंक को चाहिए कि वह देश के अनेक मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं पर अपना प्रभावशाली अधिकार जमा ले। हमारे देश में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को साख-नियंत्रण करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि उसका देश के अनेक बैंकों तथा स्वदेशी बैंकरों और साहूकारों पर कोई प्रभाव और अधिकार नहीं रहा। १९४९ में बैंकिंग

---

* "The credit control....is a thorough adjustment of the volume of credit to the volume of business."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कम्पनी एक्ट बन जाने से देश के व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का कुछ अधिकार आया है पर स्वदेशी बैंकर तथा साहूकार अभी बिलकुल अछूते हैं। अतः रिजर्व बैंक को सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण करने के लिए इन संस्थाओं पर भी अपना अधिकार जमा लेना चाहिए।

साख-नियंत्रण के साधन—केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण करने में कई उपाय काम में लाता है। ये उपाय इस प्रकार हैं :—

(१) **बैंक-दर**—जिस दर पर केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों के बिलों की कटौती करता है तथा उन्हें सिक्यूरिटियों के आधार पर ऋण देता है उस दर को बैंक-दर कहते हैं। इस दर को केन्द्रीय बैंक की कटौती-दर भी कहते हैं। बैंक अपनी इस दर में आवश्यकतानुसार फेर-बदल करके साख-नियंत्रण कर सकता है। बैंक-दर बाजारू दर से भिन्न होती है। बाजारू दर उस दर को कहते हैं जिस पर अन्य मौद्रिक संस्थाएं विनिमय-बिलों की कटौती करती हैं या ऋण स्वीकृत करती हैं। बैंक-दर तथा बाजारू दर का घनिष्ठ संबंध होना आवश्यक है और तभी सफलतापूर्वक साख-नियंत्रण हो सकता है। जब बैंक-दर बढ़ती है तो उस समय बाजारू दर भी बढ़ जाती है और जिस समय बैंक-दर गिरे तब बाजारू दर भी गिरने लगती है। बैंक-दर में घटा-बढ़ी होने से मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मांग और प्रदाय पर प्रभाव पड़ता है। यदि कभी बैंक-दर बढ़ा दी जाय तो बाजारू दर भी बढ़ने लगती है और फिर व्यापारी तथा अन्य लोग कम ऋण लेने लगते हैं—इतना ही नहीं, वे अपनी-अपनी राशि अधिक ब्याज कमाने के उद्देश्य से बैंकों में जमा करने लगते हैं। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और उसी मात्रा में साख संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत यदि कभी बैंक-दर घटा दी जाय तो बाजारू दर भी कम होने लगती है और फिर व्यापारी तथा अन्य लोग सस्ती ब्याज-दर से लाभ उठाने के लिए अधिक राशि उधार लेने लगते हैं। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा का परिमाण बढ़ जाता है और उसी अनुपात में साख का विस्तार बढ़ने लगता है। बैंक-दर द्वारा साख-संकुचन तथा साख-विस्तार से देश के आन्तरिक मूल्यस्तर पर भी प्रभाव होता है। साख-संकुचन के समय व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में शिथिलता आ जाती है और मूल्यस्तर गिरने लगता है तथा साख-विस्तार के समय व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है और मूल्यस्तर बढ़ने लगता है। व्यापारिक शिथिलता एवं व्यापारिक प्रगति के साथ-साथ रोजगारी पर भी प्रभाव पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि बैंक-दर द्वारा साख-नियंत्रण करके देश के आन्तरिक मूल्यस्तर उत्पादन-क्रियाओं एवं रोजगार के साधनों को प्रभावित किया जा सकता है। बैंक-दर साख-नियंत्रण का एक शक्तिशाली शस्त्र माना गया है। [विस्तृत विवरण आगे देखिए।]

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) खुला-बाजार क्रियाएं*—केन्द्रीय बैंक बाजार में सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करके मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सकता है और इस प्रकार साख-संकुचन एवं साख-विस्तार कर सकता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्यूरिटियों के इस क्रय-विक्रय को "केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाएं" कहते हैं। केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाएं साख-नियंत्रण का एक प्रभावशाली उपाय मानी जाती हैं। जिस समय मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा आवश्यकताओं से अधिक होती है तो बैंक सिक्यूरिटियां बेचता है जिसके बदले में उसे धनराशि प्राप्त होती है और बाजार में ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाती है। फलतः साख का संकोच हो जाता है और मुद्रा की मात्रा आवश्यकताओं के अनुपात में आ जाती है। इसी प्रकार जब मुद्रा-मण्डी में राशि की आवश्यकता होती है तो बैंक सिक्यूरिटियां खरीदता है और बदले में धनराशि दे देता है जिससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा बढ़कर साख का विस्तार हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय द्वारा (खुला-बाजार क्रियाओं द्वारा) मुद्रा की मात्रा व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ाकर साख-नियंत्रण करता है। इससे देश के मूल्यस्तर, उत्पादन एवं उत्पादन-व्यय, व्यापार तथा रोजगार में प्रभावशाली फेर-बदल की जा सकती है।

साख-नियंत्रण का यह उपाय प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से प्रयोग में आने लगा है। इससे पूर्व साख-नियंत्रण का एकमात्र उपाय बैंक-दर था। यह साधन प्रायः उस समय काम में लाया जाता है जब बैंक-दर प्रभावी रूप में सफल नहीं हो पाती। बैंक-दर द्वारा परोक्ष रीति से साख-नियंत्रण किया जाता है पर इस साधन के द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रीति से मुद्रा की मात्रा घटा-बढ़ा सकता है। यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह साधन सरल, प्रत्यक्ष और सूक्ष्म साधन है पर यह तभी सफल हो सकता है जब कि—(१) उन सिक्यूरिटियों के लिए, जिनमें केन्द्रीय बैंक लेन-देन करता है, विस्तृत क्षेत्र हो और क्रय-विक्रय की सुविधाएं हों; (२) उन सिक्यूरिटियों का, जिनमें केन्द्रीय बैंक लेन-देन करे, सिक्यूरिटी-बाजार में महत्त्वपूर्ण स्थान हो ताकि उनके क्रय-विक्रय द्वारा मुद्रा-मण्डी प्रभावित हो सके; (३) जिस मण्डी में इन सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय हो, वह मण्डी संगठित एवं कार्यक्षम हो। यदि इन तीन बातों में से किसी भी एक की कमी रही तो बैंक की खुला-बाजार क्रियाओं का मुद्रा-मण्डी पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा और न वांछित सीमा में साख-नियंत्रण ही हो सकेगा।

जिस समय मुद्रा-मण्डी में आवश्यकता से अधिक राशि हो और वह राशि विनियोग के लिए देश से बाहर जा रही हो तो बैंक सिक्यूरिटियां बेचकर

---

* Open Market Operations.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-राशि चलन से खींच लेता है और अपने पास जमा कर लेता है। इस तरह देश का धन बाहर जाने से रुक जाता है। बैंक ऐसा तभी करता है जब कि मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की अधिकता होने से मुद्रा-राशि बाहर जा रही हो।

हमारे देश में बैंक-दर अधिक प्रभावी न होने के कारण रिजर्व बैंक 'खुला-बाजार क्रियाओं' द्वारा मुद्रा की मात्रा घटाता-बढ़ाता रहा है। चूंकि आजकल सरकारी सिक्यूरिटियों का लेन-देन अधिक बढ़ गया है इसलिए 'खुला-बाजार क्रियाएं' साख-नियंत्रण का प्रमुख साधन बनती जा रही हैं। बैंक-दर का प्रभाव घटने से भी इन क्रियाओं का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया है। एक समय था जब कहते थे कि बैंक-दर खुला-बाजार क्रियाओं से अधिक प्रभावशाली साधन है—

A Twist in Bank-Rate is a ton of Market Operations

—पर आज सभी मानते हैं कि खुला-बाजार क्रियाओं का महत्त्व बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि आजकल सिक्यूरिटियों का लेन-देन और क्रय-विक्रय बहुत अधिक बढ़ गया है। डी० काक नामक मुद्राशास्त्री का कथन है कि साख-नियंत्रण को सफल और प्रभावशाली बनाने के लिए बैंक-दर और 'खुला-बाजार क्रियाएं—दोनों साधन साथ-साथ प्रयोग करने चाहिएं।

(३) **कोषानुपात में परिवर्तन***—व्यापारिक बैंकों को अपनी-अपनी मांग-देनदारी और काल-देनदारी का कुछ भाग एक निश्चित अनुपात में केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना होता है। यह अनुपात विधान द्वारा निश्चित किया जाता है पर केन्द्रीय बैंक को इसमें फेर-बदल करने का अधिकार दिया जा सकता है। इस अधिकार के अन्तर्गत कोषानुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण कर सकता है। जब साख-संकुचन करने की आवश्यकता हो तो बैंक अन्य बैंकों द्वारा जमा-राशि के अनुपात में वृद्धि करके बैंकों से अधिक राशि जमा करा सकता है। इससे अन्य बैंकों के पास नकद राशि कम हो जाती है और उनकी साख देने की शक्ति भी घट जाती है। इसके विपरीत जब साख-विस्तार की आवश्यकता हो तो केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को कम करके अन्य बैंकों की नकद राशि बढ़ा देता है जिससे उनकी साख-सृजन की शक्ति बढ़ जाती है और साख का विस्तार हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बैंक 'क' को केन्द्रीय बैंक के पास १० प्रतिशत वैधानिक कोष रखना पड़े तो वह प्रति सौ रुपये की देनदारी में से ९० रुपये साख स्वीकृत करने में लगा सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक अनुपात १० प्रतिशत से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दे तो उस स्थिति में बैंक 'क' केवल ५० रुपये ही साख स्वीकृत करने में प्रयोग कर सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक 'क' की साख-शक्ति कम हो गई और साख का संकुचन हो गया। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक अनुपात १० प्रतिशत से घटाकर ५ प्रतिशत कर दे तो इस स्थिति

* Variable Reserve Ratio.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में बैंक 'क' ९५ रुपये ऋण देने में प्रयोग कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साख का विस्तार हो गया।

इस साधन का सुझाव प्रो० कीन्स ने दिया था। उनकी इच्छा थी कि बैंक ऑव इंगलैण्ड को मांग-देनदारी के लिए नकद-कोष के अनुपात को १० प्रतिशत से २० प्रतिशत के बीच तथा काल-देनदारी के लिए नकद-कोष के अनुपात को ० से ६ प्रतिशत के बीच परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिए।* सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इस साधन का प्रयोग किया गया। फेडरल रिजर्व बोर्ड को सदस्य-बैंकों के कोषानुपात में परिवर्तन करने का अधिकार १९३३ के कानून द्वारा दिया गया था। न्यूजीलैण्ड में १९३६ में रिजर्व बैंक के गवर्नर को व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों के अनुपात को घटाने-बढ़ाने का अधिकार दिया गया। लेटिन अमरीका के केन्द्रीय बैंकों जैसे मैक्सिको, कोस्टारिका तथा एक्वेडोर को भी कोषानुपात में परिवर्तन करने का अधिकार मिला हुआ है। हमारे देश में इस प्रकार का अधिकार अभी रिजर्व बैंक को प्राप्त नहीं है। बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ के अनुसार व्यापारिक बैंकों को अपनी मांग-देनदारी तथा काल-देनदारी का क्रमशः ५ प्रतिशत और २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा रखना होता है। इसमें परिवर्तन करने का अधिकार रिजर्व बैंक को मिलना चाहिए ताकि कोषानुपात में परिवर्तन करके वह साख नियंत्रित कर सके।

बैंक-दर तथा खुला-बाजार क्रियाओं की तुलना में यह साधन अधिक सरल माना जाता है। उक्त दोनों साधनों को प्रभावी बनाने के लिए सुसंगठित बिल-बाजार, मुद्रा-मण्डी तथा सिक्यूरिटी-बाजार का होना अत्यंत आवश्यक है पर इस नए अस्त्र के लिए किसी प्रकार के उपरोक्त बाजारों का होना आवश्यक नहीं है। यह साधन उन देशों के लिए बहुत उत्तम है जहां संगठित मुद्रा-मण्डी तथा पूंजी-बाजार के अभाव में 'खुला-बाजार क्रियाओं' का क्षेत्र नहीं है।** कई विशेषज्ञों ने बताया है कि नवीन उपनिवेशों के लिए यह नवीन साधन बहुत उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।† सेयर्स, पलम्प्टर तथा अन्य मुद्राशास्त्रियों का मत है कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंकों को 'खुला-बाजार क्रियाएं' सम्पन्न करने में कठिनाई होती है, उन देशों में यह साधन बहुत ही प्रभावकारी तथा कारगर शस्त्र सिद्ध हो सकता है।‡ ह्विटलसे का कहना है कि 'खुला-बाजार क्रियाएं' तथा कोषानुपात

---

* J. M. Keynes –A Treatise on Money Vol. II pp. 76—77 and 260—262.

** S. K. Basu—Recent Banking Developments (1947) p. 96.

† & ‡ Midland Bank's Monthly Review—May—June 1937. "Cash Reserve as a factor of Monetary Policy"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में परिवर्तन—इन दोनों साधनों को अलग-अलग और स्वतंत्र रूप से नहीं वरन् संयुक्त रूप से प्रयोग करना चाहिए।* जिस समय कोषानुपात बढ़ाया जाय तो उस समय 'खुला-बाजार क्रिया' की क्रय-नीति भी अपनाई जा सकती है। इसका कारण यह है—बढ़े हुए कोषानुपात को निभाने के लिए व्यापारिक बैंक अपने पास की सिक्यूरिटियां बेचना आरम्भ कर सकते हैं। उस समय सिक्यूरिटियों के मूल्यों में कमी होने की आशंका हो सकती है। अतः इस कमी को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार में इन सिक्यूरिटियों को खरीदते रहना चाहिए।

(४) साख का राशन†—केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण करने के लिए साख का 'राशन' कर देता है। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक प्रत्येक व्यापारिक बैंक अथवा अन्य मौद्रिक संस्थाओं को प्रतिदिन कितनी राशि उधार देगा इसकी सीमा निश्चित कर देता है और जब किसी दिन इस सीमा से अधिक राशि के बिल कटौती को आ जाते हैं या ऋण मांगे जाते हैं तो निश्चित सीमा में राशि स्वीकार करके आधिक्य राशि स्वीकार नहीं करता। परिणामस्वरूप बैंकों की ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाती है जिससे साख में भी कमी होने लगती है। कभी-कभी केन्द्रीय बैंक प्रत्येक व्यापारिक बैंक को स्वीकृत की जानेवाली राशि की सीमा घटाकर कम कर देता है या उनके द्वारा प्रस्तुत विनिमय-बिलों की अवधि घटाकर कम कर देता है। इन दोनों प्रकार से साख का राशन हो जाता है। प्रथम विधि में स्वीकृत की जानेवाली राशि कम कर दी जाती है और दूसरी विधि से स्वीकृत की गई राशि की अवधि कम कर दी जाती है। प्रथम युद्ध-काल के पश्चात् जर्मनी में साख-नियंत्रण के इस साधन का प्रयोग किया गया था। अन्य योरपीय देशों ने भी इस उपाय द्वारा साख-नियंत्रण करने के सफल प्रयोग किए हैं पर वहां इसको केवल अस्थायी रूप से ही प्रयोग किया गया है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जब-जब आर्थिक संकट आया तभी-तभी इस साधन को काम में लाकर साख-नियंत्रण किया गया। द्वितीय युद्ध-काल में अनेक देशों जैसे इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, अफ्रीका में यह साधन अपनाया गया था। इसका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि इसको केवल नियंत्रित आर्थिक व्यवस्था में ही अपनाया जा सकता है।

(५) प्रत्यक्ष कार्यवाही‡—यदि केन्द्रीय बैंक उक्त साधनों द्वारा साख-नियंत्रण नहीं कर पाता तो उस समय वह अन्य बैंकों के साथ सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है। सीधी कार्यवाही के अन्तर्गत वह साख का विस्तार या संकोच करने के उद्देश्य से अन्य बैंकों को अधिक ऋण देने के लिए अथवा कम ऋण देने के लिए आदेश दे सकता है। अगर बैंक यह समझता है कि अमुक बैंक या अनेक

---

* Quarterly Journal of Economics, August 1944, p. 568

† Rationing of Credit.

‡ Direct Action.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक देश के आर्थिक हितों के विरुद्ध सट्टे या अन्य अनावश्यक व्यवसायों में अधिक ऋण दे रहे हैं तो वह उन्हें आज्ञा निकालकर ऋण देने से रोक सकता है। बैंक अन्य बैंकों को राशि उधार देने से इन्कार कर सकता है और उनके बिलों की कटौती करना भी बन्द कर सकता है। जब कभी कोई व्यापारिक बैंक देश के हित के विरुद्ध काम करता ही रहे तो उसके साथ असहयोग की नीति बरत कर उसको किसी भी प्रकार की सुविधाएं देना बन्द कर सकता है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के अधिकार प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को विधान के अनुसार मिले होते हैं। भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अनुसार रिजर्व बैंक को प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के निम्न अधिकार दिए गए हैं :—

(क) यदि रिजर्व बैंक यह समझे कि किसी बैंक ने अपने जमाकर्त्ताओं के हित के विरुद्ध ऋण दिया है तो रिजर्व बैंक लिखित आदेश देकर उस बैंक को ऋण देने से रोक सकता है और स्वीकृत किए गए ऋण की वसूली का आदेश दे सकता है [धारा २० (३)]

(ख) यदि रिजर्व बैंक जनसाधारण के हित में कोई ऋण-नीति निर्धारित करे तो वह नीति सभी बैंकों को अनिवार्य रूप से मानना आवश्यक है। इस विषय में रिजर्व बैंक निम्न आशय के आदेश दे सकता है—किन उद्देश्यों के लिए ऋण दिया जाय, ऋण देने में कितना मार्जिन रक्खा जाय, ऋण पर कितना ब्याज लिया जाय [धारा २१ (१) (२)]

(ग) यदि रिजर्व बैंक समझे कि किसी बैंक का व्यवसाय जमाकर्त्ताओं के हित में नहीं है तो वह उस बैंक को नई जमा-राशि प्राप्त करने से रोक सकता है [धारा ३५ (४)] या उस बैंक को बिलकुल बन्द करने का आदेश दे सकता है [धारा ३८]

(६) नैतिक अनुरोध—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों पर नैतिक दबाव डालकर भी साख नियंत्रित करता है। इस क्रम में वह अन्य बैंकों तथा ऋण-प्रदायक संस्थाओं पर नैतिक अनुरोध द्वारा अपनी साख-नीति पालन कराने के लिए उन्हें बाध्य करता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों से अनुरोध करता है कि वे उससे ऋण लेने न आवें, जनता को अधिक ऋण स्वीकृत न करें अथवा अनावश्यक व्यवसायों तथा सट्टे में राशि न लगाएं आदि-आदि। इसके लिए बैंक अपनी नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर रहता है। कभी-कभी बैंक अपने प्रतिनिधियों द्वारा अन्य बैंकों पर दबाव डलवाता है कि वे केन्द्रीय बैंक की साख-नीति के विरुद्ध काम न करें।

नैतिक अनुरोध का प्रभाव तभी पड़ सकता है जब केन्द्रीय बैंक तथा मुद्रा-मण्डी के सभी तत्त्वों अर्थात् बैंकों व अन्य अर्थनीतिक संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग हो और चोली-दामन का सा सम्बन्ध हो। अमरीका में इस विषय में जो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रयोग किए गए उनसे प्रकट होता है कि नैतिक अनुरोध के द्वारा साख-नियंत्रण करना सदैव संभव नहीं है।

(७) प्रचार एवं विज्ञापन—बहुत से देशों में केन्द्रीय बैंकों ने अपने प्रचार विभाग द्वारा साख-नियंत्रण की नीति को सुदृढ़ और सफल बनाने की चेष्टा की है। प्रचार-विभाग के द्वारा केन्द्रीय बैंक अपनी नीति को देश के सभी बैंकों तथा अन्य मौद्रिक संस्थाओं तक पहुंचा सकता है। समय-समय पर रिपोर्ट, बुलेटिन, मैगजीन तथा विवरण-पत्र प्रकाशित किए जाते हैं जिनसे केन्द्रीय बैंक की साख-नीति को समझने व तदनुसार कार्य करने में बहुत सहायता मिलती है। फरवरी १९२९ में फेडरल रिजर्व बोर्ड द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट, जिसमें सिक्यूरिटियों के सट्टे में साख के दुरुपयोग के विरुद्ध चेतावनी दी गई थी, एक जीता जागता उदाहरण है।

रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया अपने प्रचार-विभाग द्वारा अपनी साख-नीति का विज्ञापन करता रहा है। मई १९४६ में रिजर्व बैंक ने स्टाक एक्सचेंज के सट्टे-व्यवसाय में अधिक ऋण न देने के लिए सभी बैंकों को चेतावनी दी थी जिसमें १९२९-३१ में आई अमरीकन बैंकों की विपत्ति का स्मरण कराया गया था। यदि भारतीय बैंक इस चेतावनी पर ध्यान देते तो भारत में १९४६ का बैंकिंग संकट न आता। आजकल रिजर्व बैंक मासिक बुलेटिन द्वारा, वार्षिक रिपोर्ट द्वारा तथा अन्य आंकड़ों द्वारा अपनी नीति प्रकाशित करता रहता है।

साख-नियंत्रण के नवीन मनोनीतक अस्त्र

साख-नियंत्रण के उपर्युक्त साधनों को घटना-चक्र ने कुंठित बना दिया है। कोषानुपात में परिवर्तन करके साख-नियंत्रण करना जितना सरल और स्वाभाविक समझा जाता था तथा जिसके लिए अविकसित, संकीर्ण तथा असंगठित मुद्रा-मण्डी वाले देशों में इतना आकर्षण था वह साधन भी अब प्रभावहीन समझा जाने लगा है। इतना ही नहीं, बैंक-दर तथा 'खुला-बाजार क्रियाएं' जैसे उत्तम शस्त्रों को भी बैंकिंग विकास की नई परिपाटी ने विफल बना दिया है। इन्हीं बदलती हुई परिस्थितियों के कारण अमेरिका में साख-नियंत्रण के दो नवीन साधनों का आविष्कार किया गया जिन्हें साख-नियंत्रण के मनोनीतक अस्त्र (Selective Instruments) कहा जाता है। ये मनोनीतक अस्त्र इस प्रकार हैं:—

(१) सिक्यूरिटी-ऋणों पर मार्जिन-व्यवस्था—सिक्यूरिटी ऐक्सचेंज एक्ट १९३४ के अंतर्गत फेडरल रिजर्व प्रणाली के संचालकों को सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय के लिए साख के लेन-देन में हस्तक्षेप करने का अधिकार दे दिया गया था। उन्हें अधिकार था कि वे सिक्यूरिटियां खरीदने के लिए ऋण मांगने वालों से स्वीकृत ऋणों पर मार्जिन जमा करा सकते थे। इसका अर्थ यह है कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सिक्यूरिटियां खरीदने के लिए ऋण लेने से पहिले ऋण-याचक को बैंक के पास मार्जिन जमा कराना आवश्यक होता था। १९३४ में यह मार्जिन ३० प्रतिशत था, जनवरी १९३६ में ४० प्रतिशत हो गया और १९३८ में ४५-५५ प्रतिशत तक कर दिया गया। जनवरी १९४६ में जब स्टॉक एक्सचेंज की साख में अस्थिरता आ गई तो मार्जिन १०० प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। इस साधन के द्वारा सिक्यूरिटियोंके सट्टे को दी जानेवाली साख का भली-भांति नियंत्रण होता रहा है और इसने अमरीका की अर्थ-व्यवस्था में सट्टे-व्यवसाय को बहुत सीमा तक समाप्त कर दिया है।

हमारे देश में भी इस उपाय का प्रयोग होने लगा है। १९४६ की स्टॉक एक्सचेंज की तेजी तथा बाद के संकट और मंदी के अनुभव से पाठ सीखकर बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ की धारा २१ (२) के अनुसार रिजर्व बैंक को अधिकार दे दिया गया है कि वह ऋण स्वीकृत करने तथा अग्रिम राशि देने में मार्जिन की व्यवस्था कर सकता है।*

(२) उपभोग को लिए गए ऋणों का नियमन—१९४१ में फेडरल रिजर्व प्रणाली के संचालकों को अधिकार दे दिया गया था कि वे उपभोग्य वस्तुओं को खरीदने के लिए मांगे गए ऋणों का नियमन कर सकते थे अर्थात् यह निर्धारित कर सकते थे कि उपभोग्य वस्तुओं के लिए ऋण दिए जायं अथवा नहीं, यदि दिए जायं तो कितने और किस प्रकार तथा उनका भुगतान किस प्रकार लिया जाय, आदि। इस व्यवस्था के अनुसार उपभोग के हेतु ली गई साख का नियंत्रण होता था। साख-नियंत्रण का यह उपाय युद्धकाल में उपभोग को लिए गए ऋणों को संचालित करने के लिए किया गया था पर इसकी सफलता और प्रभावशालिता देखकर इसे अब तक प्रयोग किया जाता है।

उक्त दोनों साधनों को साख-नियंत्रण के नवीन मनोनीतक अस्त्र कहा गया है। इसका कारण यह है कि कृषि, उद्योग-धंधे, व्यापार तथा वास्तविक व्यवसाय के लिए साख की कमी किए बिना ही किसी क्षेत्र-विशेष, जैसे सट्टाबाजी आदि में साख का नियंत्रण किया जा सकता है। किस क्षेत्र में साख-नियंत्रण करना है

---

* "The Reserve Bank may give directions to banking companies, either generally or to any banking company or group of banking companies in particular, as to the purpose for which advances may or may not be made, the margins to be maintained in respect of secured advances and the rates of interest to be chargod on advances, and each banking company shall be bound to comply with any directions so given."

—The Indian Banking Companies Act of 1949, Sec. 21 (2)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसका चुनाव केन्द्रीय बैंक परिस्थितियों के अनुसार करता है। इसीलिए इसे मनोनीत अर्थात् Selective साख-नियंत्रण कहा गया है।

उपर्युक्त विभिन्न साधनों द्वारा केन्द्रीय बैंक देश में साख-नियंत्रण करता है पर यह आवश्यक नहीं है कि उन साधनों में से किसी एक ही साधन का प्रयोग किया जाय। केन्द्रीय बैंक सुविधानुसार और आवश्यकतानुसार किसी एक साधन द्वारा अथवा कई साधनों को एक साथ प्रयोग करके साख-नियंत्रण कर सकता है। बैंक-दर, जैसा कि पाठक आगे देखेंगे, आजकल उतना प्रभावशाली साधन नहीं रहा है जैसा कि प्रथम युद्धकाल से पूर्व था। दूसरे, सुलभ मुद्रा-नीति के कारण बैंक-दर का महत्त्व और भी अधिक गिर गया है। साख का राशन करके केवल सट्टे के लेन-देन को नियंत्रित किया जाता है। कोषानुपात में एक साथ परिवर्तन कर देने से साख-नियंत्रण तो होता है पर उससे देश के बैंकिंग कलेवर को झटका लगने का भय रहता है। इसी प्रकार नैतिक अनुरोध द्वारा भी आवश्यक मात्रा में साख-नियंत्रण करना संभव नहीं होता क्योंकि सभी बैंक अपना-अपना दायित्व भली भांति नहीं निभा पाते। मनोनीतक साधनों द्वारा भी किसी क्षेत्र विशेष में ही साख-नियंत्रण किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि साख-नियंत्रण के किसी एक साधन द्वारा वांछित मात्रा में साख का संचालन संभव नहीं होता। केन्द्रीय बैंक को चाहिए कि वह सब साधनों के उचित समन्वय और संतुलन द्वारा साख-नियंत्रण करे और तभी उसके परिणाम प्रभावकारी हो सकते हैं।

बैंक-दर एवं उसमें उच्चावचन

बताया जा चुका है कि जिस दर पर केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों के बिलों की कटौती करता है तथा उन्हें सिक्यूरिटियों की साख पर ऋण देता है उस दर को 'बैंक-दर' अथवा 'केन्द्रीय बैंक की कटौती-दर' कहते हैं। साख का विस्तार एवं संकुचन करने के लिए केन्द्रीय बैंक अपनी कटौती-दर में घटा-बढ़ी करता है। बैंक-दर बढ़ाकर साख-संकुचन किया जाता है और बैंक-दर घटाकर साख का विस्तार किया जाता है। अब देखना यह है कि बैंक-दर में घटा-बढ़ी कब की जाती है और उसका क्या परिणाम होता है।

बैंक-दर बढ़ाने के कारण—(१) **स्वर्ण-निर्यात रोकने के लिए**—जिस समय देश का सोना देश से बाहर जा रहा हो तो उस स्वर्ण-निर्यात को रोकने के लिए बैंक-दर बढ़ाई जाती है जिससे लोग सोना बाहर न भेजकर देश के केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य बैंकों में ही जमा करें।

(२) **विदेशों में बैंक-दर-वृद्धि को निष्फल बनाने के लिए**—जब अन्य देशों में बैंक-दर बढ़ रही हो और उस वृद्धि के कारण देश में विनियोगित विदेशी पूंजी तथा देशी पूंजी भी बाहर जाने लगी हो तो उस समय बाहर जानेवाली उस पूंजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को रोकने तथा विदेशों में बढ़ी हुई बैंक-दर को विफल बनाने के लिए देश में बैंक-दर बढ़ा दी जाती है। इससे बाहर जानेवाली पूंजी रुककर देश में ही विनियोगित रह जाती है। १९५१ में जब इंगलैण्ड में बैंक-दर बढ़ी तो उसे विफल बनाने के लिए रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने भी अपनी बैंक-दर ३% से ३½% कर दी थी।

(३) **विनिमय-दर को पक्ष में लाने के लिए**—जिस समय विनिमय-दर देश के विपक्ष में हो और उस कारण देश का स्वर्ण-कोष बाहर जाने लगा हो तो विनिमय-दर को पक्ष में लाने के लिए तथा स्वर्ण-कोष को देश में ही सुरक्षित रखने के लिए बैंक-दर बढ़ा दी जाती है। केन्द्रीय बैंक के जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आते हैं। देखा गया है कि विनिमय-दर को पक्ष में बनाने के लिए बैंक प्रायः अपनी बैंक-दर में वृद्धि किया करते हैं।

(४) **सट्टेखोरी को रोकने के लिए**—देश में जब व्यापार प्रगति कर रहा हो और उस कारण से लोगों में सट्टे की भावना बढ़ती जा रही हो तो लोग सट्टे के लेन-देन के लिए बैंकों से राशि उधार लेते हैं। बैंक इसकी पूर्ति करने के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने आते हैं और इस प्रकार सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। सट्टेबाजी से उद्योगों को तथा विनियोगियों को हानि होती है। इस हानि से रक्षा करने के लिए तथा सट्टेखोरी को रोकने के लिए बैंक-दर बढ़ा दी जाती है जिससे सट्टे करनेवालों को सट्टे के लिए सस्ती दर पर राशि न मिल सके।

(५) **सरकारी नीति में सहयोग देने के लिए**—कभी-कभी केन्द्रीय बैंक सरकारी नीति में सहयोग देने के लिए भी बैंक-दर बढ़ा देता है। जब देश में आयात बढ़ रहे हों जिसके कारण विनिमय-दर नीची चली जा रही हो तो सरकार केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक-दर बढ़वा देती है। बैंक-दर बढ़ने से साख-संकुचन हो जाता है और देश में मुद्रा की अस्वाभाविक कमी हो जाती है जिससे मुद्रा का मूल्य ऊंचा और वस्तुओं के भाव नीचे चले जाते हैं। फलतः आयात के स्थान पर निर्यात होने लगते हैं। इस स्थिति में बैंक-दर तभी बढ़ाई जाती है जब यह विश्वास हो जाय कि आयात रोककर निर्यात बढ़ाना देश के हित में होगा।

बैंक-दर बढ़ाने के परिणाम—(१) **उधार महंगी हो जाती है**—केन्द्रीय बैंक जब दर बढ़ाता है तो अन्य बैंकों को उस बैंक से मंहगी राशि मिलती है और फिर ये बैंक भी अपनी ब्याज-दर बढ़ा देते हैं। इससे लोगों की उधार लेने की क्षमता कम हो जाती है और परिचलन में राशि कम हो जाती है।

(२) **बाजार-दर मंहगी हो जाती है**—बैंक-दर बढ़ने से बैंकों की ब्याज-दर ऊंची हो जाती है और फिर बैंकों की ब्याज-दर बढ़ने से लोगों को राशि मंहगी मिलती है। तब वे भी अपनी राशि मंहगी दर पर दूसरों को उधार देते हैं और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार बाजार भर में ब्याज-दर मंहगी हो जाती है। यदि किसी समय तुरन्त ही ऐसा नहीं होता तो केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटियां बेचकर साख-संकुचन करता और बाजार-दर मंहगी कर देता है।

(३) बैंकों की जमा बढ़ने लगती है—जब बैंक अपनी ऋण-राशि पर ऊंची दर वसूल करते हैं तो उन्हें जमा-राशि पर भी अधिक ब्याज देना पड़ता है। ऊंची ब्याज-दर से आकर्षित होकर लोग अधिक मात्रा में राशि बैंकों में जमा करने लगते हैं जिससे बैंकों के कोष बढ़ जाते हैं। इतना ही नहीं, जब देश में ब्याज-दर बढ़ जाती है तो बाहर की पूंजी भी देश में आकर जमा होने लगती है और देश में सोने की मात्रा बढ़ जाती है।

(४) व्यापारी माल बेचने पर बाध्य हो जाते हैं—बैंक-दर बढ़ने से जब राशि मंहगी हो जाती है तो व्यापारी बैंकों से ऊंची दर पर ऋण लेने के बजाय अपना माल बेचकर राशि की आवश्यकता पूर्ण करते हैं। माल की बिक्री एक साथ बढ़ने से माल के दाम गिर जाते हैं।

विनियोगी भी अपने अंश तथा ऋण-पत्र बेचने लगते हैं और उन्हें बेचकर राशि की आवश्यकता पूर्ण करते हैं।

(५) निर्यात में वृद्धि तथा सोने का आयात—बैंक-दर ऊंचा करने से साख-संकुचन होता है और मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की कमी हो जाती है। इससे मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के भाव नीचे हो जाते हैं। फलतः माल का निर्यात बढ़ने लगता है और उसके बदले में सोने का आयात होने लगता है।

बैंक-दर घटाने के कारण—(१) मुद्रा की मांग बढ़ाने के लिए—जिस समय केन्द्रीय तथा अन्य बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में राशि एकत्रित हो पर मुद्रा-मण्डी में उसकी मांग न हो तो मुद्रा की मांग बढ़ाने के लिए बैंक-दर घटा दी जाती है।

(२) साख का विस्तार करने के लिए—अनुकूल व्यापाराधिक्य के कारण जब देश के बैंकों में भरपूर राशि आ रही हो पर मुद्रा-मण्डी में उसका उपयोग न हो रहा हो तो साख का विस्तार करने के लिए तथा राशि का प्रयोग बढ़ाने के लिए बैंक-दर घटा दी जाती है।

(३) विनिमय-दर गिराने के लिए—जब ऊंची विनिमय-दर की देश में आवश्यकता न हो तो उसे नीचा करने के लिए बैंक-दर घटा दी जाती है।

(४) विदेशी पूंजी को आने से रोकने के लिए—जब विदेशी पूंजी का धड़ाधड़ आयात हो रहा हो और वह आयात देश के हित में न समझा जाय अथवा देश में उसका समुचित उपयोग न हो सके तो उस समय देश को ऋण के भार से बचाने के लिए बैंक-दर कम कर दी जाती है।

बैंक-दर घटाने के परिणाम—बैंक-दर घटाने से बाजार-दर भी कम हो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाती है। दूसरे, सस्ती दर पर राशि उधार मिलने से लोग नए-नए प्रकार के व्यापार करने लगते हैं जिससे वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है तथा व्यापार की वृद्धि होती है। तीसरे, आयात बढ़ने लगते हैं और सोने का निर्यात होने लगता है।

बैंक-दर का महत्त्व

देश की मुद्रा-मण्डी में बैंक-दर का विशेष महत्त्व होता है जो तीन प्रकार से जाना जा सकता है—(१) मण्डी की अन्य दरों के साथ-साथ जो बैंक-दर पर आश्रित होती हैं, बैंक-दर से यह ज्ञात हो सकता है कि विशेष प्रकार की सिक्यूरिटियों की कटौती तथा पुनः कटौती कराके बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक से किस दर पर राशि मिल सकती है; (२) बैंक-दर से राशि की मंदी-महंगाई का समय-समय पर ज्ञान किया जा सकता है; (३) बैंक-दर से साख-परिस्थिति तथा देश की सामान्य आर्थिक परिस्थिति का ज्ञान किया जा सकता है। बैंक-दर के द्वारा देश की वित्तीय स्थिति का सामान्य परिचय प्राप्त किया जा सकता है। गिवसन के शब्दों में बैंक-दर की वृद्धि भयसूचक लाल रोशनी का काम करती है और यह चेतावनी देती है कि उसी मार्ग पर आगे चलने से टक्कर खाकर गिर जाने की सम्भावना है। इसके विपरीत इसकी गिरावट हरी रोशनी का काम करती है जो यह बतलाती है कि मार्ग साफ है और उस पर व्यापार रूपी जहाज सावधानी के साथ आगे बढ़ सकता है।*

बैंक-दर की सफलता और मनोवैज्ञानिक महत्त्व अन्य बातों के साथ-साथ इस बात पर निर्भर करता है कि देश के व्यापारिक बैंक तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाएं केन्द्रीय बैंक के साथ कितना सहयोग करती हैं क्योंकि उनके सहयोग के बिना केन्द्रीय बैंक अपने उद्देश्य में कभी भी सफल नहीं हो सकता। यदि कभी केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर बढ़ावे पर अन्य बैंक अपनी-अपनी दर न बढ़ावें तो उस स्थिति में बैंक-दर निष्क्रिय सिद्ध होगी। अतः बैंक-दर को सफल और प्रभावकारी बनाने के लिए आवश्यक होता है कि देश की सभी मौद्रिक संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क रहे। यह सहयोग दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—कानून के द्वारा तथा सम्मेल द्वारा। कानून बनाकर यह निर्धारित किया जा सकता है कि बैंक-दर के बढ़ाते-घटाते ही अन्य बैंक भी अपनी-अपनी

---

* "A rise in the Bank Rate may be regarded as the amber coloured light of warning of a robot system of finance and economics, while a fall of the discount rate may be looked upon as the green light indicating that the coast is clear and the ship of Commerce may proceed on her way with caution."

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दरों में यथाविधि परिवर्तन करें, जैसा कि अर्जेनटाइना में होता है। सम्मेल द्वारा भी बैंक पारस्परिक समझौता कर सकते हैं कि बैंक-दर के साथ-साथ वे अपनी-अपनी दरों में भी उच्चावचन किया करेंगे—ऐसा इंगलैण्ड में होता है। देश में काम करनेवाली सभी मौद्रिक संस्थाओं से सहयोग के बिना बैंक-दर अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकती।

बैंक-दर की वर्तमान स्थिति

प्रथम महायुद्ध से पूर्व बैंक-दर साख-नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली साधन माना जाता था परन्तु उस समय के पश्चात् से विशेषतः द्वितीय युद्धकाल से इसका महत्त्व कम होता गया। अब बैंक-दर विदेशी विनिमय-दर को समायोजित करने में निष्क्रिय सिद्ध हो चुकी है। अनेक देशों ने प्रयत्न किए कि बैंक-दर को बढ़ाकर अन्य देशों की पूंजी खींची जाय परन्तु सफलता नहीं मिली। आजकल बैंक-दर के निष्क्रिय होने के कई कारण हैं—(१) आजकल देश-देश के आर्थिक कलेवर तथा उनकी मुद्रा-मण्डियों के तांत्रिक स्वरूप में भारी-भारी परिवर्तन हो गए हैं। देशों के बैंकिंग कलेवर तथा बैंकिंग प्रणालियों में भी काफी फेर-बदल हुई हैं। आजकल बैंकों ने विनिमय-बिलों का प्रयोग भुलाकर खुले लेखे पर अथवा अधिविकर्ष (Overdraft) द्वारा ऋण देना आरम्भ कर दिया है जिससे बिलों का प्रयोग तथा उनकी कटौती एवं पुनः कटौती कराने की आवश्यकता नहीं होती। बिलों के अभाव में बैंक-दर भी निष्क्रिय बन गई है। बैंक-दर प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि देशों में बिलों का प्रयोग बढ़ाया जाय। (२) आजकल मुद्रा-मण्डियों में ट्रेजरी-बिलों तथा सरकारी सिक्यूरिटियों का लेन-देन अधिक बढ़ गया है जिससे मुद्रा-मण्डी पर सरकार का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है और केन्द्रीय बैंकों का नियंत्रण कम हो गया है। (३) बैंक-दर की सफलता के लिए आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने के साथ-साथ देश के उत्पादन, व्यापार तथा मजदूरी में भी परिवर्तन हों। १९१४-१९ के पश्चात् से देशों के आर्थिक कलेवर कुछ स्थायी से बनते जा रहे हैं जिनमें परिवर्तनशीलता कम होती जा रही है तथा आर्थिक आयोजन होने के कारण देश-देश की आर्थिक व्यवस्था कुछ नियंत्रित सी बनती जा रही है। दर घट-बढ़ जाती है पर आर्थिक कलेवर में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः बैंक-दर का महत्त्व कम होता रहा है। (४) गत बीस वर्षों से साख-नियंत्रण के अन्य साधनों जैसे खुला-बाजार क्रियाएं, नैतिक अनिरोध, प्रचार एवं प्रकाशन, कोषानुपात में परिवर्तन आदि का प्रयोग बढ़ता रहा है जिससे बैंक-दर की उपयोगिता कम होती रही है। (५) १९३३ के पश्चात् से बैंकों के कोषों में तरलता अधिक रहने लगी है जिससे वे केन्द्रीय बैंक के पास ऋण लेने नहीं जाते और फिर भी मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मांग पूर्ण करते रहते हैं। गत महायुद्ध-काल में इनकी सम्पत्ति की तरलता और भी अधिक बढ़ गई है क्योंकि उस काल में राशि का बाहुल्य रहा। अतः बैंक-दर घटाने-बढ़ाने से अन्य बैंकों के लेन-देन में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (६) अन्त में, अनेक देशों में पालन की जानेवाली "सस्ती मुद्रा नीति" (Cheap Money Policy) ने बैंक-दर को पीछे ला पटका है जिससे वह निष्क्रिय बन गई है।

भारत में बैंक-दर-वृद्धि—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने अपने जीवन में प्रथम बार १९५१ में बैंक-दर बढ़ाकर साख-नियंत्रण करने का प्रत्यन किया। मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए साख-संकुचन के उद्देश्य से बैंक ने १५ नवम्बर १९५१ को बैंक-दर ३% से ३½% कर दी और घोषित किया कि वह अब विशेष परिस्थितियों को छोड़ सामान्य स्थिति में सरकारी सिक्यूरिटियां नहीं खरी-देगा। इस घोषणा से बैंक का उद्देश्य यह था कि इस प्रकार दर बढ़ने के कारण साख महंगी हो जायगी और लोग कम मात्रा में राशि उधार लेने लगेंगे। इससे न तो अवांछित व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा वरन् सट्टेबाजी और कम हो जायगी। यह पहिला अवसर था जब कि रिजर्व बैंक ने साख-नियंत्रण के इस अस्त्र का प्रयोग किया। बैंक-दर-वृद्धि निष्फल न गई। विशेषज्ञों का अनुमान है कि इससे सट्टेबाजी को धक्का लगा और इसी का परिणाम था कि १९५२ के आरम्भ में बाजार में मंदी आने लगी। रिजर्व बैंक ने यह कदम बैंक ऑव इंगलैंड द्वारा बैंक-दर बढ़ाने पर उठाया था।

सारांश

'केन्द्रीय बैंक' वह बैंकिंग संस्था है जो देश की मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध करते हुए उनमें पारस्परिक समुचित सम्बन्ध स्थापित करती तथा इस प्रकार देशी और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यस्तरों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखती है। केन्द्रीय बैंक देश के विभिन्न बैंकों तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग बनाकर देश की बैंकिंग व्यवस्था को संगठित एवं सुरक्षित बनाती है। अपने उद्देश्य एवं दायित्व को निभाने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य सामान्य बैंकों की अपेक्षा कुछ विशेषाधिकार मिले होते हैं जैसे, नोट-निर्गमन करना, सरकार के मौद्रिक कार्यों की देखभाल एवं संचालन, देश के अन्य बैंकों पर नियंत्रण आदि। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अन्य बैंकों की भांति लाभ कमाना नहीं होता वरन् देश के हित में काम करना होता है।

२०वीं शताब्दी से पूर्व केन्द्रीय बैंकिंग का कोई भरपूर एवं वैज्ञानिक ज्ञान नहीं था। २०वीं शताब्दी में देश-देश में बैंकिंग संकट आए जिनमें अनेक बैंक नष्ट हुए और विपुल धनराशि डूब गई। तब सोचा गया कि बैंकिंग कलेवर को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुदृढ़ बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक स्थापित होने चाहिएं। १९२० में ब्रुशल्स में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसमें प्रस्ताव पास करके जोर डाला गया कि प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिए। फलतः केन्द्रीय बैंक बनाए जाने लगे। १९३५ में हमारे देश में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया बनाया गया। अब आर्थिक आयोजन के वर्तमान युग में तो केन्द्रीय बैंक स्थापित करना एक अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है।

केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं—(१) नोट-निर्गमन एवं संचालन का एकाधिकार, (२) बैंकों का बैंक, (३) सरकार का बैंकर, एजेंट तथा परामर्शदाता, (४) साख-नियंत्रण, (५) विदेशी विनिमय का प्रबन्ध, (६) समाशोधन-गृह का कार्य, (७) सरकार की मौद्रिक नीति का रक्षक। इन कार्यों में यह कहना कठिन है कि केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया कौन सी है। विभिन्न मुद्राशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए ह। कोई साख-नियंत्रण को केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया बतलाता है तो कोई नोट-निर्गमन को और कोई विदेशी विनिमय के प्रबन्ध को बैंक का मुख्य कर्तव्य बतलाता है तो कोई समाशोधन-गृह के कार्य को। इसी प्रकार विषय विवादग्रस्त बना हुआ है। वास्तव में प्रत्येक क्रिया केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रिया है और प्रत्येक एक दूसरे पर आधारित है।

बैंक की निषिद्ध क्रियाएं—(१) केन्द्रीय बैंक जनता से सीधा सम्पर्क नहीं रख सकता, (२) बैंक पूंजी का विनियोग स्थिर सम्पत्ति क्रय करने में नहीं लगा सकता, (३) बैंक लोगों से राशि जमा नहीं ले सकता और जमा-राशि पर ब्याज नहीं दे सकता, (४) बैंक अधिक दीर्घ काल के लिए राशि उधार नहीं दे सकता। तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय बैंक कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिसमें वह अन्य बैंकों का प्रतियोगी बन जाय।

केन्द्रीय बैंक देश में साख-नियंत्रण का काम करता है। देश में व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुकूल साख की मात्रा समायोजित करना साख-नियंत्रण कहलाता है। साख-नियंत्रण करने के लिए बैंक निम्न साधनों का प्रयोग कर सकता है—(१) बैंक-दर में कमी-बेशी, (२) खुले बाजार में सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय, (३) बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक में जमा कोष में परिवर्तन, (४) साख का राशन, (५) प्रत्यक्ष कार्यवाही, (६) नैतिक अनरोध, (७) प्रचार एवं विज्ञापन, (८) सिक्यूरिटियों पर दिए जानेवाले ऋणों पर मार्जिन-व्यवस्था, (९) उपभोग को दिए जानेवाले ऋणों का नियमन।

साख-नियंत्रण का सबल साधन बैंक-दर माना जाता रहा है। बैंक-दर में घटा-बढ़ी करके बैंक साख का विस्तार एवं संकुचन कर सकता है। बैंक-दर बढ़ाने के कारण—स्वर्ण-निर्यात रोकने के लिए; विदेशों में बैंक-दर-वृद्धि को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विफल बनाने के लिए, विनिमय-दर पक्ष में लाने के लिए; सट्टेबाजी को रोकने के लिए तथा सरकारी नीति में सहयोग देने के लिए। बैंक-दर बढ़ाने से उधार महंगी हो जाती है, बैंकों की जमा बढ़ने लगती है, व्यापारी माल बेचने पर उतारू हो जाते हैं, भाव सस्ते हो जाते हैं तथा निर्यात में वृद्धि और सोने का आयात होता है। बैंक-दर घटाने के कारण—मुद्रा की मांग बढ़ाने के लिए, साख का विस्तार करने के लिए; विनिमय-दर गिराने के लिए तथा विदेशी पूंजी को देश में आने से रोकने के लिए। बैंक-दर घटाने से बाजार-दर कम हो जाती है, वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है, आयात बढ़ने लगते हैं और सोने का निर्यात होने लगता है।

प्रथम युद्धकाल से पूर्व बैंक-दर साख-नियंत्रण का एक सबल यंत्र माना जाता था पर युद्धोत्तर काल में इसकी शक्ति क्षीण होती जा रही है तथा इसके स्थान पर अन्य साधनों का प्रयोग होने लगा है। आजकल बैंक-दर का महत्त्व बहुत अधिक गिर गया है। बैंक-दर का महत्त्व गिर जाने के कई कारण हैं—मुद्रा-मण्डी में बिलों के प्रयोग में कमी तथा सरकारी सिक्यूरिटियों का प्रयोग, देश-देश के बैंकिंग कलेवर में परिवर्तन, अन्य साधनों का प्रयोग और उनकी सफलता, सस्ती मुद्रा-नीति आदि-आदि।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'केन्द्रीय बैंक' किसे कहते हैं? इसकी मुख्य-मुख्य क्रियाओं का वर्णन कीजिए। केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक में क्या भेद होता है?

(२) केन्द्रीय बैंक देश में मुद्रा और साख की व्यवस्था व नियंत्रण किस प्रकार करते हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

(३) केन्द्रीय बैंक की प्रमुख क्रियाओं की विवेचना करते हुए समझाइए कि साख-नियंत्रण में इन क्रियाओं का क्या महत्त्व होता है।

(४) 'साख-नियंत्रण' किसे कहते हैं? इसके क्या उद्देश्य होते हैं? केन्द्रीय बैंक देश में साख-नियंत्रण कैसे करता है?

(५) 'बैंक-दर' से आप क्या समझते हैं? बैंक-दर के उच्चावचन का किसी देश के व्यापार, उद्योग एवं वाणिज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(६) केन्द्रीय बैंक की निषिद्ध क्रियाएं कौन-कौन सी हैं? केन्द्रीय बैंक की सफलता प्रभावी बनाने के लिए उसे कौन-कौन अधिकार मिलना आवश्यक है? क्या हमारे देश में वे सब अधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त हैं?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(७) साख-नियंत्रण में बैंक-दर का क्या महत्त्व है ? आजकल बैंक-दर की इस विषय में क्या स्थिति है ? सतर्क उत्तर दीजिए ।

(८) केन्द्रीय बैंक की 'खुला-बाजार क्रियाओं' से आप क्या समझते हैं ? इन क्रियाओं द्वारा देश में साख-नियंत्रण कैसे किया जा सकता है ? क्या रिजर्व बैंक इस साधन द्वारा साख-नियंत्रण करता है ? यदि हां, तो उसे इस ओर क्या सफलता मिली है ?

(९) साख-नियंत्रण के नवीन मनोनीतक अस्त्र कौन-कौन से हैं ? अमरीका ने इन अस्त्रों का प्रयोग क्यों कर किया ? क्या इन अस्त्रों द्वारा साख-नियंत्रण के क्षेत्र में व्यापक सफलता मिल सकती है ?

(१०) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :—

(१) कोषानुपात में परिवर्तन,
(२) नैतिक अनुरोध,
(३) साख का राशन,
(४) साख-नियंत्रण के मनोनीतक शस्त्र,
(५) बैंक-दर की वर्तमान स्थिति,
(६) केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाएं ।

(११) 'केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर द्वारा साख-नियंत्रण का साधन १९१४-१८ के पश्चात्, विशेषकर १९३५ के बाद अप्रभावी बन गया है'—इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १८

चेक, बिल तथा हुण्डी

बैंक मूलतः चेक द्वारा राशि निकालने के लिए अपने जमाकर्ता को अधिकार देता है। चेक एक ऐसा लिखित अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें बैंक का जमाकर्ता अपने बैंक को चेक द्वारा मांग करने पर लिखित राशि भुगतान करने का आदेश देता है। नेगोशिएबिल इन्स्ट्रूमेन्ट्स एक्ट के अनुसार चेक बैंक पर लिखा गया ऐसा विनिमय-पत्र है जिसका भुगतान मांग होने पर किया जाता है। चेक की मूल बातें ये हैं—(१) चेक लिखित आदेश होना चाहिए, केवल मौखिक आदेश से चेक नहीं माना जा सकता; (२) यह आदेश अनिर्बन्ध हो अर्थात् इसके भुगतान के विषय में किसी प्रकार की शर्त न लगाई जाय; (३) यह आदेश किसी निश्चित बैंक पर हो और इस बात का बोध होता हो कि अमुक बैंक की किस शाखा पर चेक का भुगतान होगा; (४) चेक का भुगतान मांग करने पर हो; (५) चेक लिखनेवाले व्यक्ति के चेक पर हस्ताक्षर अवश्य हों; (६) जिस राशि का भुगतान हो वह राशि अंकों में और शब्दों में स्पष्ट रूप से लिखी जाय; (७) जिस व्यक्ति को भुगतान आदेशित किया जाय उसका नाम चेक में स्पष्ट रूप से लिखा हो।

चेक लिखते समय चेक लिखनेवाले को निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यदि इन बातों में से किसी भी विषय में अनिश्चितता रही तो बैंक चेक का अनादरण कर देता है।

(१) तिथि—जिस तिथि को चेक लिखा जाय वह तिथि चेक पर अवश्य होनी चाहिए अन्यथा बैंक उसे 'तिथिविहीन' चेक कहकर अनादरण कर देगा। चेक पूर्व-तिथीय (Ante-dated) तथा उत्तर-तिथीय (Post-dated) होते हैं। पूर्वतिथीय चेक वे होते हैं जिन पर जिस दिन वे भुगतान के लिए प्रस्तुत किए जायं उससे पहले की तिथि होती है। ऐसे चेक का भुगतान बैंक अवश्य करता है। पर यदि चेक ६ महीने पूर्व लिखा गया हो और उस पर ६ महीने पूर्व की तिथि हो तो बैंक उसका भुगतान नहीं करेगा। ऐसे चेक को वीतकालीन (Stale) चेक कहते हैं। उत्तरतिथीय चेक उसे कहते हैं जिस पर जिस दिन वह भुगतान को प्रस्तुत किया जाय उससे आगे की तिथि अंकित होती है। ऐसे चेक का भुगतान निर्दिष्ट तिथि से पहले नहीं किया जाता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) राशि—चेक पर राशि के लिए प्रायः दो स्थान होते हैं जिनमें से एक पर अंकों में तथा दूसरे स्थान पर शब्दों में राशि लिखी जाती है। राशि लिखते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वे दोनों ठीक-ठीक मिलती-जुलती हों और इस प्रकार लिखी हों कि कोई भी अन्य व्यक्ति उनमें फेर-बदल न कर सके और यदि करे भी तो वह स्पष्ट ज्ञात हो जाय।

(३) लेखक के हस्ताक्षर—चेक लिखनेवाले को अपने हस्ताक्षर ठीक उसी प्रकार लिखने चाहिए जिस प्रकार उसने अपने हस्ताक्षर बैंक को लेखा खोलते समय निदर्शन रूप में दिए थे। हस्ताक्षर की मुहर लगा देने से हस्ताक्षर बैंक को मान्य नहीं होते। अनपढ़ व्यक्ति अपने हाथ के अंगूठे का चिह्न लगाकर चेक बैंक को भुगतान के लिए भेज सकता है परन्तु इस चिह्न के लिए किसी अन्य साक्षी के हस्ताक्षर बैंक करवा लेते हैं। यदि कोई ग्राहक बीमार है और वह अपने हस्ताक्षर ठीक नहीं कर सकता तो उस स्थिति में उसके हस्ताक्षर उसके डाक्टर के हस्ताक्षर से प्रमाणित किए जाते हैं।

(४) भुगतान पानेवाले का नाम—जिस व्यक्ति के नाम चेक दिया जाय उसका नाम चेक में यथास्थान स्पष्ट लिखा होना चाहिए। उस नाम के आगे-पीछे किसी प्रकार की उपाधियां लिखने की आवश्यकता नहीं होती।

चेक सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) आदेश-चेक, (२) वाहक-चेक। आदेश-चेक का भुगतान चेक में अंकित व्यक्ति को अथवा उस व्यक्ति के द्वारा आदेशित किसी अन्य व्यक्ति को ही मिल सकता है। परन्तु आदेशित व्यक्ति को भुगतान तभी मिलेगा जब चेक में अंकित मूल व्यक्ति आदेशित व्यक्ति के नाम चेक पर पृष्ठांकन करके हस्तान्तरण कर देगा। वाहक-चेक की राशि का भुगतान किसी भी व्यक्ति को, जिसके पास वह चेक हो और वह बैंक पर नियमित रीति से प्रस्तुत करे, मिल सकता है। बैंक चेक का भुगतान करते समय भुगतान लेनेवाले व्यक्ति के हस्ताक्षर चेक पर कराके 'वसूल पाया' लिखा लेता है।

एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार भी चेक दो प्रकार के होते हैं—(१) खुला चेक (२) रेखांकित चेक। खुला चेक उसे कहते हैं जिसका भुगतान बैंक के कार्यालय में जाकर प्राप्त किया जा सकता है। यदि चेक वाहक-चेक है तो कोई भी व्यक्ति जिसके पास वह चेक हो बैंक से उसकी राशि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार आदेश-चेक पर भी चेक में लिखित मूल व्यक्ति अथवा पृष्ठांकित व्यक्ति के जाली हस्ताक्षर बनाकर बैंक से उसका भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। अतः यातायात के लिए खुला चेक असुविधाजनक होता है क्योंकि उसमें कपट की सम्भावना रहती है। रेखांकित चेक वे होते हैं जिन पर दो आड़ी समानान्तर रेखाएं खींच दी जाती हैं और जिनका भुगतान बैंक के कार्यालय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् किसी अन्य वैंक के माध्यम से प्रस्तुत होने पर ही मिल सकता है ।

चेकों का रेखांकन—चेक दो प्रकार से रेखांकित किया जाता है—(१) सामान्य रेखांकन (२) विशेष रेखांकन । सामान्य रेखांकन में केवल दो समानान्तर रेखाएं खींच दी जाती हैं। कभी-कभी इन दो रेखाओं के वीच में & Co. शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। इस रेखांकन का आशय यह होता है कि उस चेक का भुगतान किसी भी अन्य वैंक के माध्यम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । ऐसे रेखांकन में आड़ी रेखाओं के वीच में Not Negotiable अर्थात् अपरिक्राम्य शब्द भी लिख दिए जाते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि उस चेक का हस्तान्तरक हस्तान्तरिती को अपनी उपाधि से अच्छी उपाधि नहीं दे सकता अर्थात् चेक का हस्तान्तरण तो हो सकता है किन्तु उसमें परिक्राम्यता नहीं रहती; उदाहरणार्थ—यदि किसी हस्तान्तरक ने चेक चुराया और किसी माल के भुगतान में हस्तान्तरिती को दे दिया तो हस्तान्तरिती उसको मूल्य के वदले में एवं सद्भावना से लेते हुए भी अच्छे अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता । इस कपट का ज्ञान होने पर उस चेक की राशि चेक के वास्तविक अधिकारी को लौटानी होगी । इसलिए इस प्रकार के रेखांकित चेक केवल परिचित व्यक्तियों में ही हस्तान्तरित हो सकते हैं । विशेष रेखांकन में चेक पर समानान्तर रेखाओं के वीच किसी वैंक-विशेष का नाम लिख दिया जाता है । इसका तात्पर्य यह होता है कि उस चेक का भुगतान केवल उस वैंक विशेष के माध्यम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । कभी-कभी इन रेखाओं के वीच Account payee only लिख दिया जाता है । इसका अर्थ यह है कि उस चेक की राशि चेक में लिखित व्यक्ति के लेखे में जमा होनी है और उसकी नकद राशि उसको नहीं मिल सकती ।

चेक का रेखांकन चेक का लेखक कर सकता है तथा चेक पानेवाला कोई भी अन्य व्यक्ति भी कर सकता है । यदि कोई चेक सामान्य रेखित है तो चेक में लिखित व्यक्ति अथवा अन्य कोई पृष्ठांकक उसका विशेष रेखांकन कर सकता है । विशेष रेखांकित चेक का कोई भी पृष्ठांकक उस चेक को अपरिक्राम्य रेखांकन में वदल सकता है । विशेष रेखांकित चेक को कोई भी वैंक किसी दूसरे वैंक के नाम, जो उसका संग्रह एजेन्ट हो, पुनः विशेष रेखांकित कर सकता है । रेखांकित चेंक उन्हीं व्यक्तियों को स्वीकार करने चाहिएं जिनके अपने लेखे किसी वैंक में हों अन्यथा उनका भुगतान लेने में वड़ी कठिनाई होती है। तव उस चेक का भुगतान ऐसे व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिसका किसी वैंक में लेखा हो ।

चेकों की पृष्ठांकना—जब कोई व्यक्ति चेक के पृष्ठ पर अपने हस्ताक्षर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करके उस चेक का हस्तान्तरण किसी अन्य व्यक्ति को करे तो उसे चेक की पृष्ठांकना कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि पृष्ठांकन करनेवाला व्यक्ति उस चेक का वास्तविक और वैधानिक अधिकारी है और उस चेक की सम्पत्ति का अधिकार अन्य व्यक्ति को सौंप रहा है। पृष्ठांकना से चेक को लेनेवाला व्यक्ति उसका वैधानिक अधिकारी बन जाता है। चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार हस्तान्तरिती को चेक के केवल हस्तान्तरण मात्र से ही नहीं मिलता, उसके लिए पृष्ठांकना करना भी आवश्यक है। पृष्ठांकना करनेवाले व्यक्ति को पृष्ठांकक और जिसके नाम पृष्ठांकना की जाती है उसे पृष्ठांकिकी कहते हैं।

पृष्ठांकना निम्न प्रकार की होती है :—

(१) **सामान्य पृष्ठांकना**—इसमें पृष्ठांकक केवल अपने हस्ताक्षर कर देता है। 'आदेश-चेक' पर सामान्य पृष्ठांकना करने से वह चेक वाहक-चेक बन जाता है।

(२) **विशिष्ट पृष्ठांकना**—इसमें पृष्ठांकक अपने हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त पृष्ठांकिकी का नाम जिसको वह चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार सौंपना चाहता है, लिख देता है। जैसे—

रामकिशन अथवा उनके आदेश पर भुगतान हो।

देवप्रकाश

५.५.'५३

इसका अर्थ यह है कि उस चेक का भुगतान यदि रामकिशन लेना चाहें तो उन्हें भुगतान होते समय अपने हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। यदि वे उस चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरण करना चाहें तो उन्हें भी उस चेक की पृष्ठांकना करनी होगी।

(३) **सीमित पृष्ठांकना**—यदि पृष्ठांकक किसी व्यक्ति विशेष के नाम उस चेक की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार सीमित रखना चाहे तो उस व्यक्ति के नाम के पहले 'केवल' शब्द का प्रयोग करके अपने हस्ताक्षर द्वारा पृष्ठांकना करनी चाहिए। जैसे—

केवल रामकिशन को ही भुगतान हो।

देवप्रकाश

५.५.'५३

(४) **दायित्वहीन पृष्ठांकना**—जब पृष्ठांकक चेक के अनादरण से होने वाला दायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहता तो उस समय वह 'दायित्वहीन' शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर करके पृष्ठांकना करता है। इस प्रकार के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पृष्ठांकन में पृष्ठांकक चेक का अनादरण हो जाने पर किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं होता। किन्तु इसके पूर्व के सब पृष्ठांकक उत्तरदायी बने रहते हैं। जैसे—

दायित्व-हीन।

देवप्रकाश
५.५.'५३

(५) ऐच्छिक पृष्ठांकना—इस पृष्ठांकना में पृष्ठांकक "अनादरण की सूचना अनावश्यक" शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर कर देता है। इसका अर्थ यह है कि उस पृष्ठांकक को उस चेक का अनादर होने पर उसके अनादरण की सूचना देना आवश्यक नहीं है। वैसे तो नियमानुसार चेक के सब पक्षकारों को चेक के अनादरण की सूचना दी जाती है पर इस प्रकार की पृष्ठांकना करने वाले को अनादरण की सूचना देना आवश्यक नहीं होता। इस प्रकार की पृष्ठांकना आजकल विशेष चलन में नहीं है। पृष्ठांकक को अनादरण की सूचना न देने का अर्थ यह नहीं है कि उस पृष्ठांकक का कोई दायित्व ही न हो। सूचना न मिलने पर भी उसका दायित्व अवश्य होता है।

चेक की पृष्ठांकना करते समय पृष्ठांकक को बड़ी सावधानी बर्तनी चाहिए। निम्न बातों पर विशेष रूप से सावधान होना चाहिए—पृष्ठांकक का नाम जिस प्रकार चेक के अन्तर्गत लिखा हो उसी प्रकार वह अपने हस्ताक्षर करे। यदि वह चाहे तो उसके नीचे अपने सही हस्ताक्षर भी कर दे। पृष्ठांकना चेक के पृष्ठ पर लिखकर की जाय। यदि पृष्ठ पर स्थान शेष न रहे तो एक कागज की नई पर्ची लगा दे। इस पर्ची को Allonge कहते हैं। यदि चेक सामूहिक नामों पर लिखा गया है तो पृष्ठांकना करते समय सब व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिएं। यदि चेक किसी कम्पनी या अन्य संस्था के नाम पर लिखा गया हो तो उसकी पृष्ठांकना करते समय कम्पनी के नाम के साथ 'के लिए' लिखकर कम्पनी के उच्च पदाधिकारी को, जिसे चेक लेन-देन का अधिकार प्राप्त हो, अपने हस्ताक्षर करने चाहिएं। जैसे—

पी० आई० सी० के लिए

देवप्रकाश
व्यवस्थापक
५.५.'५३

यदि चेक में किसी ऐसी स्त्री का नाम हो जो चेक प्राप्त करते समय अविवाहित थी और अब विवाहित है तो उसे अपने हस्ताक्षर विवाहित नाम से करने चाहिए और साथ में अपना पूर्व नाम भी लिख देना चाहिए। पृष्ठांकना के समय पृष्ठांकक को अपनी उपाधियां नहीं लिखनी चाहिएं। विवाहिता स्त्री

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को पृष्ठांकना करते समय अपने नाम से हस्ताक्षर करने चाहिएं और फिर अपने नाम के पीछे इस बात का उल्लेख भी कर देना चाहिए कि वह किसकी पत्नी है।

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—चेक में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने पर लेखक को उस स्थान पर अपने हस्ताक्षर करना आवश्यक होता है। यदि चेक में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया गया अर्थात् उसमें अंकित राशि, भुगतान के स्थान आदि विषय में कोई परिवर्तन किया गया तो उस प्रकार चेक का स्वरूप ही बदल जाता है और तब बैंक उसका भुगतान नहीं करता। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उसे कहते हैं जिससे चेक की मूल वैधानिक भाषा में परिवर्तन हो जाय अथवा जिससे पक्षकारों के दायित्व में फेर-बदल आ जाय—चाहे ऐसा परिवर्तन लेखक की दृष्टि से हानिकारक हो अथवा नहीं। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सामान्यतः ये हैं—(१) राशि का परिवर्तन, (२) तिथि का परिवर्तन, (३) स्थान का परिवर्तन, (४) भुगतान पानेवाले के नाम में परिवर्तन, (५) यदि चेक विशेष रूपेण रेखांकित है तो उसे सामान्य रेखांकित बनाना, (६) आदेश-चेक को वाहक-चेक बनाना। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चेक के सब पक्षकारों की सम्मति से किए जा सकते हैं और उन परिवर्तनों पर लेखक के हस्ताक्षर होने अनिवार्य हैं। भुगतान करने से पहले बैंक को सूक्ष्म अवलोकन करके यह देख लेना चाहिए कि चेक में उक्त प्रकार से कोई परिवर्तन तो नहीं किया गया है। यदि किया गया हो तो लेखक के हस्ताक्षर का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि वे परिवर्तन लेखक ने ही किए हैं।

अंकित चेक—अंकित चेक वह चेक होता है जिस पर बैंक, जिसके ऊपर वह चेक लिखा गया है, अपने हस्ताक्षर करके यह बात प्रमाणित करता है कि जिस दिन वे हस्ताक्षर किए गए थे उस दिन चेक-लेखक के लेखे में चेक का भुगतान करने के लिए यथेष्ट राशि जमा थी। कभी-कभी इस प्रकार चेक अंकित करते समय बैंक यह बात भी स्पष्ट कर देता है कि यदि वह चेक निर्धारित तिथि तक प्रस्तुत किया गया तो उसका भुगतान हो सकेगा। ऐसी स्थिति में चेक उक्त तिथि तक ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए अन्यथा चेक का अनादरण होने पर चेक के अंकन के लिए बैंक उत्तरदायी नहीं होता। चेक का अंकन तीन परिस्थितियों में होता है :—

(१) **चेक-धारक के आवेदन पर**—जब चेक को पानेवाला कोई व्यक्ति बैंक से आवेदन करे तो बैंक उस चेक का अंकन कर देता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि उस तिथि को चेक-लेखक के लेखे में पर्याप्त राशि जमा थी।

(२) **चेक-लेखक के आवेदन पर**—जब बैंक चेक का अंकन कर देता है तो उस दशा में चेक का लिखनेवाला ऐसे अंकित चेक का भुगतान रोक नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता और यदि किसी कारणवश रोकता भी है तो इस प्रकार भुगतान रोक देने के कारण बैंक को जो हानि होगी उसके लिए चेक-लेखक उत्तरदायी होता है।

(३) संग्राहक बैंक के आवेदन पर—बैंक जब किसी चेक का अंकन करता है तो उसका तात्पर्य चेक के लगभग भुगतान के समान ही माना जाता है क्योंकि ऐसे चेकों का भुगतान रोकने का अधिकार चेक के लेखक के पास नहीं होता। चेक के लेखक तथा संग्राहक बैंक के आवेदन पर चेक का जो अंकन किया जाता है उसका भुगतान चेक-लेखक नहीं रोक सकता। किन्तु चेक-धारक के आवेदन पर अंकित चेक अधिक समय तक चलन में रह सकता है और बैंक उसका भुगतान तभी करेगा जब कि वह समुचित समय में प्रस्तुत किया जाय।

समुचित समय का अर्थ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। मूलतः यह तीन बातों पर निर्भर होता है—(१) चेक लेखक, चेक धारक और बैंक के स्थान-भेद; (२) चेक के लेन-देन की सामान्य पद्धति तथा (३) चेक का स्वरूप। यदि चेक-लेखक, चेक-धारक और बैंक तीनों अलग-अलग स्थानों पर रहते हों तो ऐसी स्थिति में चेक के आने-जाने के सामान्य समय की व्यवस्था करने के पश्चात् ही समुचित समय ज्ञात हो सकता है। देश में प्रचलित सामान्य पद्धति पर चेक प्रस्तुत करने का समुचित समय निर्भर होगा। इसी प्रकार यदि किसी चेक का स्वरूप ऐसा हो कि उसके अधिक समय तक चलन में रहने से कपट की सम्भावना हो तो ऐसे चेक को शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत करना चाहिए। सामान्यतः चेक उस समय प्रस्तुत करना चाहिए जब कि बैंक का कार्यकाल हो और छुट्टी न हो।

विकृत चेक—यदि कोई चेक किसी आकस्मिक कारण से फट गया हो तो उसे 'विकृत चेक' कहते हैं। विकृत चेक का भुगतान बैंक नहीं करता। चेक-लेखक को चाहिए कि ऐसे विकृत और चिपकाए हुए चेक पर विकृत लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दे। यदि कोई चेक संग्राहक बैंक द्वारा अथवा अन्य किसी धारक द्वारा फट जाय तो बैंक उसका भुगतान तभी कर सकता है जब कि संग्राहक बैंक उस पर अपनी गारंटी करे। यदि कोई चेक किसी अन्य प्रकार से विकृत हो जाय जिससे उस पर लिखी हुई राशि, तिथि या अन्य कोई महत्त्वपूर्ण बात मिट जाय या स्पष्ट दिखाई न पड़े तो बैंक उसका भुगतान तब तक नहीं करेगा जब तक कि चेक-लेखक अपने हस्ताक्षर करके उसका स्पष्टीकरण न कर दे।

कूट चेक—'कूट' चेक उसे कहते हैं जिस पर किसी अन्य व्यक्ति ने जाल-साजी करके उस व्यक्ति के हस्ताक्षर बना दिए हों जिसके लेखे पर वह चेक लिखा जा रहा है। ऐसी स्थिति में यदि बैंक पूर्ण सावधानी के साथ कार्य करते हुए भी उस चेक का भुगतान कर दे तो उसके लिए वह उत्तरदायी नहीं होगा। यदि बैंक यह सिद्ध कर दे कि पूर्ण सद्भावना के साथ उसने चेक-लेखक के हस्ताक्षर देखकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भुगतान किया है तो वह उसके लिए उत्तरदायी नहीं होगा। पर यदि बैंक ने चेक-लेखक के हस्ताक्षर मिलाने में असावधानी की और उसका भुगतान कर दिया तो उसके लिए बैंक उत्तरदायी होगा। कूट-पृष्ठांकन की स्थिति में यदि बैंक पूर्ण सावधानी के साथ कार्य करते हुए चेक का भुगतान कर दे तो उस गलत भुगतान का दायित्व बैंक पर नहीं होता।

चेक ग्राहक के लेखे में जमा राशि के आधार पर लिखा जाता है। चेक का भुगतान बैंक तभी करता है जब कि चेक-लेखक के लेखे में चेक का भुगतान करने के लिए पर्याप्त राशि हो, चेक समुचित रूप में नियमपूर्वक प्रस्तुत किया जाय और उस चेक को समुचित समय के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाय। यदि इन तीन बातों में से कोई भी एक नियम पूरा न हुआ तो बैंक चेक का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं होगा। चेक का भुगतान करने से पहले बैंक को निम्न बातें भली प्रकार देख लेनी चाहिएं :—

(१) चेक रेखांकित है अथवा सामान्य, चेक का सामान्य रेखांकन किया गया है अथवा विशेष; (२) चेक-लेखक के लेखे में पर्याप्त राशि जमा है अथवा नहीं; (३) चेक नियमित रूप से लिखा गया है या नहीं; (४) चेक-लेखक के हस्ताक्षर वास्तविक हैं या नहीं; (५) चेक विकृत, कूट, उत्तरतिथीय तथा वीतकालीन तो नहीं है; (६) यदि चेक में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं तो उन पर चेक-लेखक के हस्ताक्षर हैं या नहीं; (७) यदि चेक की पृष्ठांकना की गई है तो वह पृष्ठांकना नियमित है या नहीं।

यदि बैंक ने भुगतान करते समय पूर्ण सावधानी और सद्भावना के साथ उक्त बातों को न देखा और उसका भुगतान कर दिया तो इसका दायित्व बैंक पर होता है और तब बैंक चेक-लेखक के लेखे में वह राशि नाम नहीं लिख सकता।

निम्न परिस्थितियों में बैंक अपने ऊपर किसी प्रकार का दायित्व लिये बिना चेक का भुगतान नकार सकता है :—

(१) जब उसे भुगतान न करने के लिए अपने ग्राहक का आदेश मिला हो; (२) जब चेक-लेखक की मृत्यु हो गई हो, ग्राहक दिवालिया हो गया हो अथवा पागल हो गया हो; (३) जब न्यायालय ने ग्राहक के लेखे में से राशि भुगतान न करने का आदेश दे दिया हो; (४) जब बैंक को ज्ञान हो जाय कि चेक प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति उसका वास्तविक अधिकारी नहीं है; (५) जब चेक नियमित रूप से न लिखा गया हो और समुचित समय में न प्रस्तुत किया गया हो।

चेक के प्रयोग से लाभ—वर्तमान आर्थिक क्षेत्र में चेक द्वारा भुगतान लेने-देने की प्रथा बहुत प्रचलित हो गई है। चेक द्वारा भुगतान लेने-देने से समाज को कई लाभ मिलते हैं—(१) बैंकों में राशि जमा रहने के कारण वह धन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुरक्षित रहता है, उसमें किसी प्रकार का अवक्षयण नहीं होता; (२) बड़ी से बड़ी राशि का भुगतान लेने-देने में सुविधा रहती है; (३) राशि के लेन-देन में एक दूसरे को रसीद लेने-देने की आवश्यकता नहीं रहती; (४) यदि चेक पुस्तक खो भी जाय तो बैंक को तत्सम्बन्धी सूचना देकर राशि सुरक्षित रखी जा सकती है; (५) भुगतान में सुविधा मिलने के कारण व्यापार और उद्योगों को प्रगति मिलती है; (६) बैंक में राशि जमा करनेवाले का हिसाब-किताब बैंक स्वयं रख लेता है, उसे स्वयं को हिसाब-किताब रखने की आवश्यकता नहीं; (७) चेकों के उपयोग से धातु-मुद्रा या पत्र-मुद्रा की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जिससे सोने-चांदी की मितव्ययिता होती है।

इन लाभों के होते हुए भी हमारे देश में चेकों का बहुत अधिक प्रयोग नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि हमारे देश में बैंकों का अभाव है, जनता अशिक्षित है और लोगों में बैंकों के प्रति पूर्ण विश्वास नहीं है। चेक का प्रयोग बढ़ाने के लिए बैंकों की संख्या बढ़नी चाहिए, जनता को बैंकों में राशि जमा करने के लिए विशेष सुविधाएं देकर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए तथा लोगों को शिक्षित बनाकर चेक लिखने में हिन्दी भाषा या प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए।

विनिमय-बिल

(Bill of Exchange)

विनिमय-बिल एक ऐसा लिखित अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें उसका लेखक किसी अन्य व्यक्ति को, जिसका नाम उसमें लिखा जाय, यह आदेश देता है कि वह बिल में अंकित राशि, बिल में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान कर दे। इस प्रकार विनिमय-बिल किसी निश्चित व्यक्ति के नाम लिखित और अनिर्बन्ध आदेश होता है जिसमें भुगतान के लिए राशि का उल्लेख होता है और जिस व्यक्ति को भुगतान किया जायगा, उसका भी उल्लेख रहता है। बिल की मूल बाते ये हैं—(१) लिखित आदेश हो, (२) यह आदेश अनिर्बन्ध हो, (३) आदेशक के उसमें हस्ताक्षर हों, (४) आदेश किसी निश्चित व्यक्ति के नाम हो, (५) भुगतान की जानेवाली राशि का उसमें उल्लेख हो, (६) जिस व्यक्ति को भुगतान होना हो उसका उसमें नाम हो, (७) भुगतान का समय निश्चित हो।

विनिमय-बिल में तीन पक्षकार होते हैं—(१) बिल का लेखक, जो आहर्ता (Drawer) कहलाता है, (२) आहार्यी (Drawee) अर्थात् वह व्यक्ति जिसको बिल में लिखित राशि का भुगतान करना होता है, (३) आदाता अर्थात् वह व्यक्ति जिसके पक्ष में बिल लिखा जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिलों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। स्थान की दृष्टि से बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) देशी बिल, (२) विदेशी बिल। देशी विनिमय-बिल वे कहे जाते हैं जो भारत में लिखे गए हों एवं जिनका भुगतान भारत में ही हो। इन बिलों को छोड़ जिन बिलों का लेन-देन एक देश से दूसरे देश में होता हो उन्हें विदेशी विनिमय-बिल कहते हैं। विदेशी विनिमय-बिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग किए जाते हैं। दूसरे वर्गीकरण के अनुसार, बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) वाहक बिल, (२) आदेश बिल। वाहक बिल की राशि किसी भी व्यक्ति को, जो उस बिल का संधारक हो, प्राप्त करने का अधिकार होता है। आदेश बिल की राशि पृष्ठांकना एवं हस्तान्तरण द्वारा किसी व्यक्ति के नाम, परक्रामण के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अवधि के वर्गीकरण के अनुसार भी बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) दर्शनी बिल अथवा अभियाचन बिल, (२) सामयिक बिल। दर्शनी बिल का भुगतान बिल की उपस्थिति पर करना आवश्यक होता है तथा सामयिक बिल का भुगतान बिल पर अंकित अवधि के पश्चात् किया जाता है। व्यवहार की दृष्टि से भी बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यापार बिल, (२) अनुग्रह बिल। व्यापार बिलों का प्रयोग केवल व्यापार आदि की सुविधा के लिए किया जाता है। अनुग्रह बिल वे होते हैं जो किसी परिचित व्यक्ति की आर्थिक सहायता द्वारा उसे अनुग्रहित करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

विदेशी विनिमय-बिल तीन प्रतियों में लिखे जाते हैं जिसकी प्रत्येक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाती है ताकि उनके खोने की संभावना न रहे और वे निश्चित रूप से निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जायं। इन तीन प्रतियों में से भुगतान केवल एक ही प्रति का होता है और दो प्रतियां रद्द मानी जाती हैं।

बिल-लेखक को बिल लिखने के पश्चात् उसे आहार्यी (Drawee) से स्वीकृत कराना पड़ता है। आहार्यी उस समय तक उत्तरदायी नहीं होता जब तक कि वह बिल पर अपनी लिखित स्वीकृति नहीं दे देता। अभियाचन अथवा दर्शनी बिलों को आहार्यी से स्वीकृत कराने की आवश्यकता नहीं होती। बिल की स्वीकृति दो प्रकार की होती है—(१) सामान्य स्वीकृति—जिसमें बिना किसी शर्त के बिल स्वीकार किया जाता है, (२) विशेष स्वीकृत—जिसमें आहार्यी बिल स्वीकृति करने से पूर्व स्थान, राशि, समय आदि के बारे में कुछ शर्त लगाकर अपनी स्वीकृति देता है।

सामयिक बिलों की जो भुगतान-तिथि होती है उस तिथि को बिल की परिपक्व तिथि कहा जाता है। इन बिलों में परिपक्व तिथि के पश्चात् भी तीन दिन और दिए जाते हैं जिन्हें अनुग्रह दिवस कहते हैं।

भारतीय मुद्रांक-विधान (Indian Stamp Act) के अनुसार सामयिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिलों पर उनकी राशि के अनुसार भिन्न-भिन्न मूल्य के टिकट लगाने पड़ते हैं। विदेशी बिलों पर आहर्ता और आहार्यी दोनों के देशों के टिकट लगाना आवश्यक होता है। दर्शनी बिलों पर टिकट लगाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

भुगतान के लिए बिल को आहार्यी के पास उसके स्थान पर उसके व्यापारिक कार्य-काल में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। यदि इस प्रकार उचित रीति से समय पर बिल प्रस्तुत करने पर आहार्यी ने उस पर भुगतान न किया तो उसका दायित्व आहार्यी पर माना जाता है। बिल का इस प्रकार अनादरण होने पर उसकी सूचना बिल से संबंधित सब पक्षकारों को देना अनिवार्य होता है अन्यथा उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता। बिल का अनादरण होने पर नोटेरी पब्लिक द्वारा उसके अनादरण का वैधानिक प्रमाणन करा लेना आवश्यक होता है। नोटेरी पब्लिक इसके लिए कुछ फीस वसूल करता है जिसका भुगतान आहार्यी पर थोपा जाता है।

बिलों की राशि का संग्रह बैंकों द्वारा कराया जा सकता है। बैंक को अपने ग्राहक के लिए किसी बिल का संग्रहण करने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि उस बिल का स्वत्व अथवा उपाधि निर्दोष है अथवा नहीं। बिल का अनादरण होने पर बैंक को उसकी सूचना तुरन्त ही अपने ग्राहक के पास भेज देनी चाहिए।

बिल का संधारक यदि चाहे तो अवधि से पूर्व उसकी किसी बैंक से कटौती कराके राशि प्राप्त कर सकता है। बैंक बिल की अवधि का ब्याज काटकर शेष राशि संधारक को दे देता है और बिल को अवधि समाप्त होने तक अपने पास रख लेता है। अवधि समाप्त होने पर वह उसका भुगतान आहार्यी से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बिलों की कटौती कराने से बैंक तथा संधारक—दोनों को ही लाभ होता है। बैंक इस प्रकार जो राशि भुगतान करता है वह बिलकुल सुरक्षित रहती है—इसमें विनियोग की हुई राशि बैंक इन बिलों को बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती करके किसी भी समय प्राप्त कर सकता है। दूसरे, बैंक को कमीशन का लाभ मिलता है जिसे अपहार (Discount) कहते हैं। तीसरे, इनके मूल्य में किसी प्रकार की कमी-बेशी नहीं होने पाती।

विनिमय-बिलों के प्रयोग से लाभ—विनिमय-बिलों का प्रयोग देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत सुविधाजनक होता है क्योंकि इनके द्वारा निर्यातकों को माल निर्यात करते ही बिल की राशि उसकी कटौती कराते ही प्राप्त हो जाती है। साथ ही आयातकों को उस बिल का भुगतान करने के लिए कुछ समय मिल जाता है जिससे वे उस अवधि में अपना माल बेचकर राशि का भुगतान कर सकते हैं। बिलों में भुगतान की विधि निश्चित दी हुई होने के कारण देनदार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व लेनदार को भुगतान की निश्चित तिथि ज्ञात रहती है। बिलों की कटौती कराने से तत्काल राशि प्राप्त हो सकती है। इनके प्रयोग से देश-विदेश में राशि भेजने-मंगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे लेन-देन सुगम बन जाता है।

बिलों की पृष्ठांकना ठीक उसी प्रकार होती है जैसे चेकों की की जाती है।

हुण्डी

(Hundis)

हुण्डियों का प्रयोग भारत में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। आज भी देश के विभिन्न भागों में व्यापारिक लेन-देन में हुण्डियों का प्रयोग होता है। हुण्डियां प्रांत-प्रांत की स्थानीय पद्धतियों के अनुसार चलाई जाती हैं। इनके भुगतान एवं चलन की पद्धति स्थानीय व्यापारिक व्यवहारों पर निर्भर होती है। अवधि के अनुसार हुण्डियां दो प्रकार की होती हैं—(१) दर्शनी हुण्डी—जिनका भुगतान हुण्डी को देखते ही करना होता है; (२) मिती अथवा मुद्दती हुण्डी—जिनका भुगतान निश्चित अवधि के पश्चात्, जो हुण्डी में लिखी होती है, करना होता है।

बिलों की भांति हुण्डी में भी तीन पक्षकार होते हैं—(१) आहर्ता, (२) आहार्यी एवं (३) आदाता। भुगतान की दृष्टि से हुण्डी चार प्रकार की होती हैं—(१) धनीजोग हुण्डी—जिसका भुगतान उसी व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम हुण्डी में अंकित होता है; (२) शाहजोग हुंडी—जिसका भुगतान केवल उस शाह अर्थात् धनी-मानी व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम हुण्डी में दिया होता है; (३) फरमान जोग हुण्डी—इसका भुगतान हुण्डी में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को हो सकता है; (४) देखनहार जोग हुण्डी—इसका भुगतान उसी व्यक्ति को हो सकता है जो भी उसे भुगतान के लिए उपस्थित करे।

प्राचीनकाल में हमारे यहां जोखिमी हुण्डी का भी चलन था पर अब इस प्रकार की हुण्डियां चलन में नहीं हैं।

प्रण-पत्र (Promissory Notes)—प्रण-पत्र वह लिखित पत्र है जिसमें उसका लेखक अपने हस्ताक्षर करके यह प्रण करता है कि वह उसमें लिखित राशि बिना किसी शर्त के पत्र में लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा किसी अन्य पत्र-वाहक को अवश्य दे देगा। प्रण-पत्रों पर राशि के अनुसार मुद्रांक-कर लगता है। प्रण-पत्र में दो पक्षकार होते हैं—(१) पत्र लिखनेवाला, (२) जिसको प्रतिज्ञा दी जाती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यदि कभी प्रण-पत्र खो जाय तो संधारक दूसरी प्रति प्राप्त कर सकता है पर उस स्थिति में उसे क्षति-पूर्ति का दायित्व अपने ऊपर लेना होगा ।

प्रण-पत्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैयक्तिक प्रण पत्र—जिसमें केवल एक ही लेखक होता है और भुगतान का दायित्व उसी का होता है। (२) सामूहिक प्रण-पत्र—इसमें प्रतिज्ञा करनेवाले कई व्यक्ति होते हैं और वे भुगतान का सामूहिक रूप से दायित्व अपने ऊपर लेते हैं। इस स्थिति में यदि प्रण-पत्र का भुगतान न हो तो संधारक को प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध सामूहिक रूप से वैधानिक कार्यवाही करनी आवश्यक होती है। (३) सामूहिक एवं वैयक्तिक प्रण-पत्र—इसमें लेखक भुगतान का दायित्व सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से स्वीकार करते हैं। अतः इसका अनादरण होने पर इसका संधारक प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध अलग-अलग वैधानिक कार्यवाही कर सकता है ।

आइ० ओ० यू० (I.O.U.)—इसका शाब्दिक अर्थ है "मैं ऋण को स्वीकार करता हूं।" इस प्रकार का पत्र देनदार अपने लेनदार को लिखकर देता है जिससे देनदारी प्रमाणित होती है। छोटे-छोटे लेन-देन में इस प्रकार के पत्रों का प्रयोग होता है। बैंकिंग व्यवसाय में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

साख-पत्र (Letter of Credit)—साख-पत्र उसे कहते हैं जिसमें एक बैंक किसी विदेशस्थित बैंक को अथवा विदेशस्थित अपने किसी एजेन्ट को लिखकर यह आदेश करता है अथवा प्रार्थना करता है कि वह पत्र में लिखित राशि पत्र में लिखित व्यक्ति को भुगतान कर दे। ऐसे पत्र प्रायः विदेश जानेवालों को दिए जाते हैं ताकि वे विदेशों में जाकर राशि प्राप्त कर सकें। विदेश जानेवाला कोई भी व्यक्ति अपने देश में किसी बैंक में राशि जमा करके उसके बदले में ऐसा साख-पत्र प्राप्त कर सकता है। ये साख-पत्र हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते और न इनका परिक्राम्य ही हो सकता है। इस प्रकार के पत्र जो यात्रियों की सुविधा के लिए दिए जाते हैं 'अभियात्री साख-पत्र' भी कहे जाते हैं।

राशि के दृष्टिकोण से साख-पत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) **स्थायी साख-पत्र**—जिसमें एक स्थायी राशि भुगतान किए जाने की व्यवस्था होती है। (२) **गतिशील साख-पत्र**—जिसमें एक निश्चित अवधि के लिए निश्चित राशि भुगतान किए जाने की व्यवस्था होती है पर वह निश्चित राशि शनैः शनैः समय-समय पर प्राप्त की जा सकती है। जब उसी अवधि में वह राशि भुगतान हो जाती है तो पुनः उतनी ही राशि का भुगतान फिर मिल सकता है ।

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार साख-पत्र तीन प्रकार के होते हैं—

(१) **सीमित साख-पत्र**—ये साख-पत्र किन्हीं विशेष बैंकों तथा एजेन्टों के नाम लिखे जाते हैं और उनका भुगतान उन्हीं से प्राप्त किया जा सकता है, अन्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किसी बैंक से नहीं। इन पत्रों पर संधारक का नाम, उसके हस्ताक्षर, साख की राशि आदि लिखी जाती है।

(२) **परिसाख-पत्र**—ये पत्र किसी बैंक विशेष पर नहीं लिखे जाते वरन् किसी भी बैंक से इनका भुगतान प्राप्त हो सकता है। इसके लिए साख-पत्र देने वाला बैंक संधारक को एक निर्देशन-पत्र देता है जिसमें साख की राशि तथा संधारक के हस्ताक्षर लिखे जाते हैं। जो भी बैंक राशि भुगतान करता है वह दत्त राशि इस निर्देशन-पत्र पर लिख देता है। निर्देशन-पत्र संधारक के पास रहता है और जब तक साख की पूर्ण राशि वह प्राप्त नहीं कर लेता वह उसको अपने पास ही रखता है। जब वह साख की पूर्ण राशि प्राप्त कर लेता है तो निर्देशन-पत्र अन्तिम राशिदाता को दे दिया जाता है।

(३) **अभियात्री साख-पत्र**—ये पत्र बैंक विशेष के नाम लिखे जाते हैं। ये पत्र उन व्यापारियों को दिए जाते हैं जो माल खरीदने के लिए यात्रा करते हों। आजकल ये पत्र देशाटकों को भी दिए जाने लगे हैं।

बैंक-ड्राफ्ट (Bank Draft)—बैंक-ड्राफ्ट बैंक द्वारा अपनी किसी शाखा पर अथवा अन्य किसी बैंक पर लिखे जाते हैं। लिखनेवाला बैंक-ड्राफ्ट में लिखित बैंक को आदेश करता है कि वह ड्राफ्ट में लिखित व्यक्ति को अंकित राशि भुगतान कर दे। कोई भी व्यक्ति बैंक में राशि जमा करके उतनी राशि का ड्राफ्ट बैंक से प्राप्त कर सकता है। बैंक-ड्राफ्ट रेखांकित भी किए जाते हैं। बैंक-ड्राफ्ट देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने के काम आते हैं।

वित्त-बिल (Finance Bills)—ये बिल भविष्य में उत्पादन होने-वाली अथवा निर्माण होनेवाली वस्तुओं के आधार पर लिखे जाते हैं और उन्हीं के आधार पर इनका भुगतान होता है। इन बिलों को अग्र-बिल भी कहा जाता है। ये बिल विशेषतः कृषि-उत्पादन में वित्तीय सहायता देने के लिए लिखे जाते हैं। इनका उद्देश्य उत्पादकों तथा निर्माणकों को उनके उत्पादन-कार्य में वित्तीय सहायता करना होता है।

सारांश

बैंक मूलतः चेक द्वारा राशि निकालने के लिए अपने जमाकर्ता को अधिकार देता है। चेक एक लिखित अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें बैंक का जमा-कर्त्ता अपने बैंक को लिखित राशि भुगतान करने का आदेश देता है। चेक दो प्रकार के होते हैं—(१) आदेश-चेक और (२) वाहक-चेक। चेक रेखांकित भी किया जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि उसका भुगतान किसी बैंक के माध्यम द्वारा किया जायगा। रेखांकन दो प्रकार का होता ह—(१) सामान्य, (२) विशेष। चेक की पृष्ठांकना करके उसे किसी व्यक्ति को हस्तांतरित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी किया जा सकता है। पृष्ठांकना पांच प्रकार की होती है—(१) सामान्य, (२) विशिष्ट, (३) सीमित, (४) दायित्वहीन, (५) ऐच्छिक। चेक लिखने में लेखक को सावधानी से काम लेना चाहिए। यदि उसमें कोई भी त्रुटि रह गई तो बैंक उसका भुगतान नहीं करता। फटा हुआ चेक 'विकृत चेक' कहलाता है। कूट चेक का अर्थ है कि किसी व्यक्ति ने जालसाजी करके उसमें कोई फेर-बदल की हो। चेक के प्रयोग से राशि का लेन-देन सुगम, सरल और सुविधाजनक बन जाता है।

विनिमय-बिल एक ऐसा अनिर्बन्ध आदेश-पत्र होता है जिसमें उसका लेखक किसी अन्य व्यक्ति को आदेश देता है कि वह बिल में अंकित राशि, बिल में लिखित व्यक्ति को भुगतान कर दे। बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) देशी, (२) विदेशी। व्यापारिक दृष्टि से भी बिल दो प्रकार के होते हैं— (१) व्यापार-बिल, (२) अनुग्रह-बिल। बिलों पर मुद्रांक कर लिया जाता है।

हुंडी विनिमय-बिल की भांति एक साख-पत्र होता है। हुंडियां कई प्रकार की होती हैं—(१) धनी जोग, (२) शाह जोग, (३) फरमान जोग, (४) देखन-हार जोग, (५) जोखिमी। हमारे देश में हुंडियों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। आज भी प्रान्त-प्रान्त में इनका प्रयोग होता है।

अन्य साख-पत्रों में प्रण-पत्र, आई० ओ० यू० साख-पत्र, बैंक-ड्राफ्ट तथा वित्त-बिल मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त पोस्टल सर्टीफिकेट तथा बैंक-नोट भी साख-पत्र माने जाने लगे हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'चेक' किसे कहते हैं? चेक कितने प्रकार के होते हैं? उदाहरण सहित समझाइए।

(२) 'रेखांकन' किसे कहते हैं? रेखांकन कितने प्रकार का होता है? प्रत्येक का क्या महत्त्व है? उदाहरण सहित समझाइए।

(३) 'पृष्ठांकना' किसे कहते हैं? इसका महत्त्व क्या होता है? किस स्थिति में पृष्ठांकित चेक के अनादरण से बैंक उत्तरदायी नहीं होता?

(४) 'महत्त्वपूर्ण परिवर्तन' किसे कहते हैं? किन-किन परिस्थितियों में कोई परिवर्तन 'महत्त्वपूर्ण परिवर्तन' कहा जा सकता है तथा कौन से परिवर्तन महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते?

(५) किन परिस्थितियों में बैंक ग्राहक के चेक का अनादरण कर सकता है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) विनिमय-विल से आप क्या समझते हैं ? उसके भेद लिखते हुए उनके प्रयोग से होनेवाले लाभों की विवेचना कीजिए ।

(७) निम्नलिखित पर संक्षित टिप्पणियां लिखिए :—

(१) विशेष रेखांकन
(२) हुण्डी
(३) प्रग-पत्र
(४) चेकों का अंकन
(५) वीतकालीन चेक ।

(८) 'चेकों के अंकन' से आप क्या समझते हैं ? चेक का अंकन कब और क्यों किया जाता है और उसका क्या परिणाम होता है ?

(९) 'कूट चेक' किसे कहते हैं ? क्या बैंक इस प्रकार के चेक का भुगतान करने पर उत्तरदायी कहा जा सकता है ?

(१०) विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों की परिभाषाएं देते हुए उनकी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख कीजिए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १९

समाशोधन-गृह*

बैंकों का समाशोधन-गृह वह संस्था है जहां स्थानीय बैंकों के पारस्परिक लेन-देन का संतुलन होता है। यह कार्य प्रायः केन्द्रीय बैंक करते हैं। जिन स्थानों पर केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहां पर स्वतन्त्र समाशोधन-गृह स्थापित हो चुके हैं जो स्वयं अपने नियम और अधिनियम बनाकर समाशोधन का काम करते हैं। समाशोधन-गृह वह संस्था होती है जो बैंकों के आपसी भुगतान को सुविधाजनक बनाती है। प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री टॉसिग ने लिखा है कि समाशोधन-गृह स्थानीय बैंकों का एक सामान्य संगठन होता है जिसका मुख्य कार्य चेकों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्व का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है। इससे स्पष्ट होता है कि समाशोधन-गृह किसी भी स्थान में ऐसे विशाल बैंक का कार्य करता है जिसमें वहां के वासियों के लेखे हों तथा उनकी राशि जमा हो पर जब वे सभी लोग उस जमा-राशि को लेने उस बैंक पर आवें तो उन्हें राशि न दी जाय पर एक लेखे में से दूसरे लेखे में राशि स्थानान्तरित कर दी जाय।

सामान्य अनुभव की बात है कि किसी निश्चित समय में किसी बैंक-विशेष के ग्राहकों द्वारा उस पर लिखे गए उन चेकों की राशि जो दूसरे बैंकों द्वारा उसके पास वसूली के लिए आती है उन चेकों की राशि के प्रायः बराबर होती है जो उसके पास दूसरे बैंकों के ऊपर की उसके ग्राहकों द्वारा वसूली के लिए आती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक बैंक को एक दूसरे के पास राशि का भुगतान लेने के लिए जाना पड़ेगा। पर समाशोधन-गृह के होने से बैंक को एक दूसरे के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती। ये भुगतान समाशोधन-गृह के द्वारा पारस्परिक संतुलन द्वारा तय हो जाते हैं।

समाशोधन-गृह की कार्यशैली—इनकी कार्यशैली बहुत सरल और साधारण है। जो बैंक समाशोधन-गृह द्वारा अपना लेन-देन निपटाना चाहते हैं वे गृह के सदस्य बन जाते हैं। इन सदस्य बैंकों को 'समाशोधक बैंक' कहते हैं। समाशोधक बैंक प्रतिदिन निश्चित समय पर अपने-अपने प्रतिनिधि समाशोधन-गृह

---

* Clearing House.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर भेजते हैं। ये प्रतिनिधि अपने-अपने बैंकों के लेन-देन का हिसाब अपने साथ लाते हैं। प्रतिनिधि अपने-अपने बैंक के जो चेक लाते हैं उन्हें गृह में उचित स्थान पर रख दिया जाता है। प्रतिनिधि अपने-अपने बैंक का लेन-देन का हिसाब एक पुस्तिका पर तैयार करते हैं। इन पुस्तिकाओं में से प्रत्येक समाशोधक बैंक का लेन-देन छांट लिया जाता है और उसका विवरण प्रत्येक सदस्य बैंक के सामान्य स्थिति-विवरण में लिख दिया जाता है। सामान्यतः स्थिति विवरण एक विशिष्ट प्रकार के फार्मों पर बनाया जाता है, जिस पर सभी समाशोधक बैंकों के नाम मुद्रित होते हैं। सामान्य स्थिति-विवरण से प्रत्येक बैंक का लेन-देन निकाल लिया जाता है। यदि किसी बैंक को भुगतान देना होता है तो वह समाशोधन-गृह लेखे पर चेक काटकर अपने लेनदार बैंक को दे देता है। इस चेक की राशि से उस बैंक का समाशोधन-लेखा कम हो जाता है और दूसरे बैंक का समाशोधन-लेखा बढ़ जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक बैंक को पारस्परिक लेन-देन की आवश्यकता नहीं होती वरन् समाशोधन-गृह द्वारा उनके लेखे में प्रविष्टियां होती रहती हैं और लेन-देन संतुलित हो जाता है। सामान्य स्थिति-विवरण प्रायः इस प्रकार का होता है:—

सदस्य बैंक	कुल लेनी	कुल देनी			
		क	ख	ग	घ
क	५०,०००	—	२०,०००	२०,०००	१०,०००
ख	३०,०००	१५,०००	—	१०,०००	५,०००
ग	२५,०००	२०,०००	५,०००	—	—
घ	२०,०००	१५,०००	२,०००	३,०००	—
योग	१,२५,०००	५०,०००	२७,०००	३३,०००	१५,०००

इस विवरण से प्रत्येक बैंक का कुल लेन-देन ज्ञात होता है, जैसे क को कुल ५०,००० लेना है तथा उसका देना भी ५०,००० है। ख का लेना ३०,००० है और देना २७,००० है। इस प्रकार ख को अन्य बैंकों से ३०,००० मिलेगा तथा वह २७,००० देगा। इसी प्रकार दिन के अंत में समाशोधन-गृह लेखे का लेना-देना संतुलित होकर कुछ भी शेष नहीं रहेगा क्योंकि समाशोधन-गृह को जो राशि मिलती है उससे अन्य बैंकों की लेनदारी का भुगतान कर दिया जाता है। इस प्रकार समाशोधन-गृह का मूल आधार व्यक्तिगत व्यवहार न होते हुए सामुदायिक व्यवहार है तथा पारस्परिक लेन-देन के स्थान पर लेन-देन का प्रतिसाद होता है।

समाशोधन-गृहों का उद्गम एवं विकास—समाशोधन-गृहों का श्रीगणेश इंगलैण्ड में हुआ। वहां बैंकों का संगठित विकास होने के कारण अधिकांश लेन-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देन चेकों द्वारा होता था अतः बैंकों के समाशोधन-गृह की आवश्यकता हुई। सबसे पहिला समाशोधन-गृह १७७५ में लन्दन में स्थापित हुआ। इसके पश्चात् १८५२-५३ में एक समाशोधन-गृह न्यूयार्क में स्थापित हुआ। अनुमान है कि समाशोधन-गृह प्रणाली का जन्म तीन परिस्थितियों में हुआ होगा—(१) जिस समय बैंक अपने-अपने चेकों का भुगतान अपने प्रतिनिधियों को अन्य बैंकों पर भेजकर प्राप्त करते होंगे, (२) इस प्रकार जब प्रतिनिधियों की पर्याप्त जान-पहिचान हो गई तो उन्होंने सोचा होगा कि प्रत्येक बैंक के पास जाकर भुगतान लेने-देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि किसी स्थान विशेष पर मिलकर पारस्परिक भुगतान ले लिए जायं, (३) इस पद्धति में जब लेन-देन की सुविधा होने लगी तो बैंकों ने इसे नियमित ढंग से चलाकर मान्यता दी। इसे चलाने के लिए नियम तथा अधिनियम बनाए गए और फिर उनकी उन्नति होती गई और वे आज की स्थिति पर आ पहुंचे।

समाशोधन-गृह से लाभ—समाशोधन-गृहों से बैंकों और जनता दोनों को लाभ होता है। बैंकों को इससे यह लाभ होता है—(१) बैंकों को अपने प्रतिनिधि भुगतान लेने के लिए भिन्न-भिन्न बैंकों में नहीं भेजने पड़ते। केवल एक प्रतिनिधि समाशोधन-गृह में जाकर भुगतान संतुलन कर लाता है। (२) बैंकों को नकद लेन-देन करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक सदस्य बैंक के पारस्परिक दायित्व का परस्पर प्रतिसाद हो जाता है जिससे केवल शेषों का लेन-देन होता है, मुद्रा के आदान-प्रदान की आवश्यकता नहीं होती। (३) बैंकों को नकद भुगतान न करने के कारण अधिक नकदी अपने पास रखने की आवश्यकता नहीं होती। (४) इनके द्वारा समाशोधन होने से चेकों का प्रयोग बढ़ता है और नकद भुगतान लेन-देन की आवश्यकता नहीं रहती। (५) मुद्रा के प्रयोग में मितव्ययिता होती है जिससे साख का निर्माण होता है और साख के द्वारा देश के व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

लंदन समाशोधन प्रणाली

लन्दन में समाशोधन का काम तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) राजधानी-समाशोधन (Metropolitan Clearing), (२) शहर-समाशोधन (Town Clearing), (३) ग्राम-समाशोधन (Country Clearing)। राजधानी-समाशोधन में उन चेकों में लेन-देन होता है जो शहर-समाशोधन-क्षेत्र से बाहर किन्तु लन्दन के आसपास के क्षेत्र में स्थित बैंकों पर लिखे गए हों। इस विभाग को १९०८ में खोला गया था। शहर-समाशोधन में उन चेकों का शोधन होता है जो लन्दन शहर की सीमा में स्थित बैंकों पर लिखे गए हों अथवा जो मध्यवर्ती लंदन स्थित सदस्य-बैंकों पर लिखे गए हों।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्राम-समाशोधन में उन चेकों का समाशोधन होता है जो बैंकों की उन शाखाओं पर लिखे गए हों जिनका समावेश उक्त दोनों समाशोधन-व्यवस्थाओं में नहीं होता। प्रत्येक चेक पर संकेत लगे रहते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि कौन सा चेक किस समाशोधन-गृह के अन्तर्गत भुगतान किया जायगा।

भारतीय समाशोधन-गृह प्रणाली

हमारे देश में समाशोधन-गृह प्रणाली का विकास १९२१ से आरम्भ होता है। इससे पहिले बैंकों की संख्या भी कम थी और चेकों का आज जैसा प्रयोग भी नहीं होता था। १९२१ में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया बन जाने से समाशोधन पद्धति को एक आधार मिला। उसी समय बंबई, रंगून, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास में समाशोधन-गृह स्थापित हुए और इम्पीरियल बैंक के निरीक्षण में कार्य करने लगे। १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया बनने के पश्चात् तालिका-बद्ध बैंकों की प्रणाली प्रचलित हुई और उनको रिजर्व बैंक में अपने-अपने लेखे खोलने पड़े। इन लेखों के द्वारा ही पारस्परिक लेन-देन संतुलित होने लगा। रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह समाशोधन-गृहों का समुचित प्रबन्ध एवं नियमन करने के लिए नियम बनावे पर इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। भारत में आजकल बीस से अधिक समाशोधन-गृह काम करते हैं। ये समाशोधन-गृह इन स्थानों पर हैं—बंबई, कलकत्ता, दिल्ली, आगरा, अहमदाबाद, अमृतसर, पटना, नागपुर, शिमला, इलाहाबाद, बंगलोर, जालंधर, लखनऊ, मद्रास, देहरादून आदि।

समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध एक व्यवस्थापक समिति के द्वारा होता है जिसमें एक रिजर्व बैंक का सदस्य, इम्पीरियल बैंक का एक सदस्य तथा अन्य व्यापारिक बैंकों तथा विनिमय बैंकों के प्रतिनिधि होते हैं। समाशोधन-गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक करता है और जहां रिजर्व बैंक नहीं है वहां इम्पीरियल बैंक करता है। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं हैं वहां पारस्परिक लेन-देन का संतुलन इम्पीरियल बैंक के माध्यम द्वारा होता है। भारतीय समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं तथा उनके नियम भी उनके अपने बनाए हुए होते हैं। इन गृहों में सभी समाशोधक बैंकों को अपने-अपने लेखे खोलने पड़ते हैं। कोई नया बैंक समाशोधन-गृह का सदस्य तभी बन सकता है जब तीन-चौथाई सदस्यों की अनुमति प्राप्त कर ले। जिस बैंक की पूंजी कम होती है वह बैंक किसी अन्य बैंक की सिफारिश से आवेदन-पत्र भेजकर उपसदस्य बन सकता है तथा इस उपसदस्य के लिए सिफारिश करनेवाला बैंक उत्तरदायी होता है। भिन्न-भिन्न समाशोधन-गृहों के नियम भिन्न-भिन्न होते हैं।

भारत के सबसे बड़े समाशोधन-गृह कलकत्ता तथा बंबई में हैं। कलकत्ते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में दो समाशोधन-गृह हैं—(१) कलकत्ता क्लियरिंग बैंक्स एसोसियेशन, (२) मेट्रोपोलिटन क्लियरिंग हाउस। इनके अतिरिक्त कलकत्ते में पारस्परिक लेन-देन की एक पद्धति और है जो पिछले कुछ वर्षों से कार्य कर रही है जिसे पायोनीयर क्लियरिंग कहते हैं। इस पद्धति की कोई सरकारी मान्यता नहीं है।

भारतीय समाशोधन व्यवस्था के अन्तर्गत केवल स्थानीय चेकों का समाशोधन ही होता है तथा बाहरी स्थानों के चेकों का संग्रहण उन्हीं स्थानों से प्राप्त किया जा सकता है। इससे चेकों के संग्रहण एवं भुगतान करने में बड़ी असुविधा और विलम्ब होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से स्थानों पर तो समाशोधन-गृह हैं ही नहीं। तीसरी बात और है कि भिन्न-भिन्न समाशोधन-गृहों की कार्य-प्रणाली एवं संचालन भिन्न-भिन्न प्रकार से होते हैं जिससे प्रकार-प्रकार के नियमों का पालन होता है। आवश्यकता इस बात की है कि रिजर्व बैंक समाशोधन-कार्य को अपने अधिकार में ले और तत्सम्बन्धी नियम बनाकर सब गृहों को एक सूत्र में बांध दे। तभी देश की बैंकिंग पद्धति में विकास हो सकता है।

सारांश

'समाशोधन-गृह' वह संस्था है जहां स्थानीय बैंकों के पारस्परिक लेन-देन का संतुलन होता है। डॉसिंग का कथन है कि समाशोधन-गृह स्थानीय बैंकों का एक सामान्य संगठन होता है जिसका मुख्य कार्य चेकों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्व का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है। इनकी कार्यशैली बड़ी सरल और साधारण होती है। प्रत्येक बैंक समाशोधन-गृह का सदस्य बनकर उसमें अपना लेखा खोलता है और उसका लेना-देना उसी लेखे द्वारा संतुलित होता रहता है।

समाशोधन-गृहों का श्रीगणेश इंगलैण्ड में हुआ। सबसे पहिला गृह १७७५ में लन्दन में स्थापित किया गया। इसका कारण यह था कि वहां बैंकों का विकास अधिकांश था और अधिक लेन-देन बैंकों द्वारा होता था। अतः वहां बैंकों के समाशोधन-गृह की आवश्यकता हुई।

समाशोधन-गृहों से बैंक तथा जनता दोनों को लाभ होता है—(१) बैंकों का लेन-देन इसके द्वारा संतुलित हो जाता है—उन्हें पारस्परिक भुगतान लेन-देन की आवश्यकता नहीं होती, (२) मुद्रा के प्रयोग में मितव्ययिता होती है, (३) चेकों का प्रयोग बढ़ता है, (४) बैंकों को अधिक मात्रा में राशि रखने की आवश्यकता नहीं होती।

भारत में समाशोधन-गृह का आरम्भ १९२१ से समझना चाहिए जब इम्पीरियल बैंक बनने से इस पद्धति को एक आधार मिला। आज लगभग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२५ समाशोधन-गृह देश में काम करते हैं पर इनके नियमन की आवश्यकता है। यह काम रिजर्व बैंक को अपने हाथ में लेना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'समाशोधन-गृह' किसे कहते हैं ? इससे क्या लाभ मिलते हैं ? समाशोधन-गृहों से मुद्रा के प्रयोग में मितव्ययिता कैसे होती है ? समझा कर लिखिए ।

(२) समाशोधन-गृह की कार्य-प्रणाली बतलाते हुए लिखिए कि इससे समाज को तथा बैंकों को क्या लाभ पहुंचता है ।

(३) भारतीय समाशोधन-व्यवस्था पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

(४) समाशोधन पद्धति से बैंकों को क्या लाभ होता है ? हमारे देश में समाशोधन-गृह कहां कहां पर स्थित हैं तथा उनकी व्यवस्था किस प्रकार होती है ?

(५) 'लन्दन समाशोधन-प्रणाली' पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाग ४

भारतीय मुद्रा एवं विनिमय का इतिहास (१८००-१९५३)

१८०० से पूर्व देश की मौद्रिक व्यवस्था, १८३५ का कानून, रजत-प्रमाप की स्थापना, हर्शल कमेटी (१८९३), रजत-प्रमाप का अन्त, फाउलर कमेटी की सिफारिशें, स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का आगमन, चेम्बरलेन कमीशन (१९१३), प्रथम युद्धकालीन स्थिति, बेबिंग्टन स्मिथ कमेटी (१९२०), हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट (१९२५), रुपये का स्टर्लिंग से गठबंधन (१९३१), स्वर्ण-निर्यात, द्वितीय युद्धकालीन स्थिति, पौण्ड पावने, मुद्रा-स्फीति, डॉलर का संकट, रुपये का अवमूल्यन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २०

भारतीय मुद्रा एवं विनिमय का इतिहास (१८००-१९१४)

१८०० से पहले हमारे देश की मौद्रिक प्रणाली इतनी संगठित नहीं थी जितनी आज है। हिन्दू काल में विशेषतः सोने और चांदी के सिक्कों का प्रयोग होता था। मुगल काल में भी इसी प्रकार दोनों धातुओं के सिक्के चलते रहे थे। परन्तु धीरे-धीरे देश की मुद्रा-प्रणाली खंडित बनती गई। देश के भिन्न-भिन्न भागों में टकसालें बनने लगीं और सोने और चांदी के भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के काम आने लगे। दक्षिण भारत में विशेषतः सोने के सिक्के चलते थे और उत्तर भारत में सोने और चांदी—दोनों धातुओं के सिक्के प्रयोग में लाए जाते थे। इस प्रकार देश भर में सोने और चांदी दोनों ही प्रकार के सिक्कों का चलन था, परन्तु इन दोनों की पारस्परिक विनिमय-दर निश्चित नहीं थी। दोनों प्रकार के सिक्कों के अदल-बदल की दर दोनों सिक्कों की तौल तथा उनके धातुओं की उत्तमता के आधार पर निर्धारित कर ली जाती थी। परन्तु शनैः-शनैः इसमें कठिनाई अनुभव होने लगी क्योंकि दोनों सिक्के समय-समय पर तौल में बदलते रहते थे तथा सोने-चांदी का मूल्य भी बाजार में घटता-बढ़ता रहता था। मैकल्यौड ने लिखा है—"एक समय था जब कि सोने और चांदी के भिन्न-भिन्न रूप-रंग के लगभग ९९४ प्रकार के सिक्के भारत भर में प्रचलित थे और जिनका मूल्य भी दिन प्रतिदिन बदलता रहता था।" इस प्रकार व्यापारिक लेन-देन में तथा माल-गुजारी वसूल करने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बड़ी कठिनाई होती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कम्पनी ने कानून बनाकर सिक्कों की विनिमय-दर निर्धारित करने का प्रयत्न किया। सबसे पहले १८१८ में मद्रास में चांदी और सोने के नए सिक्के चलाए गए। चांदी के रुपये की तौल १८० ग्रेन थी जिसमें १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी होती थी। १८२० में बंबई में भी ऐसा ही किया गया। आगे चलकर इस बात की आवश्यकता हुई कि देश भर में एकसी सिक्का-प्रणाली स्थापित की जाय। यह काम १९३५ में पूरा कर दिया गया। १८३५ के कानून के अनुसार देश भर में रजत-प्रमाप स्थापित किया गया तथा चांदी का रुपया देश का प्रमुख सिक्का बना दिया गया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१८३५ का कानून

यह कानून भारत के मौद्रिक इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसी नियम के द्वारा देश भर में पहले पहल एक निश्चित और संगठित सिक्का-प्रणाली निर्धारित की गई। इस कानून की मुख्य बातें ये थीं :—

(१) चांदी का रुपया देश भर की कानूनी मुद्रा तथा प्रामाणिक सिक्का बना दिया गया। कानून के अनुसार इसे कितनी ही संस्था में लिया-दिया जा सकता था। परन्तु केवल वही रुपया प्रामाणिक सिक्का हो सकता था जो तौल में १८० ग्रेन के बराबर हो तथा जिसमें ११ भाग अर्थात् १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी हो।

(२) सोने के सिक्के अब कानूनी मुद्रा न रहे परन्तु ये सिक्के धातु के रूप में खरीदे-बेचे जा सकते थे।

(३) सोने की मुहर देश भर में चल सकती थी। एक मुहर १५ रुपये के मूल्य की होती थी परन्तु जनता की आवश्यकता के अनुसार ५, १० और ३० रुपये के मूल्य की मुहरें भी बनाकर चलाई जा सकती थीं।

इस प्रकार १८३५ के कानून के अनुसार देश में रजत-प्रमाप की स्थापना हुई जिसमें चांदी के रुपये को मुख्य स्थान मिला। यद्यपि इस कानून के द्वारा सोने के सिक्के कानूनी मुद्रा न थे परन्तु सोने की मुहरें काम में लाई जा सकती थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिकारियों ने सोने के सिक्कों का बिल-कुल निषेध नहीं किया था। १३ जनवरी, १८४१ को सरकारी घोषणा की गई कि जनता सरकार को सोने की मुहरें देकर भुगतान चुका सकती है तथा सरकारी खजानों पर १५ रुपये में इन मुहरों का अदल-बदल किया जाया करेगा। इस घोषणा से सरकार ने एक प्रकार से सोने और चांदी में १५ : १ का अनुपात स्थापित कर दिया। अब जनता अच्छी तरह १५ रुपये के बदले में १ मुहर तथा १ मुहर के बदले में १५ रुपये लिया-दिया करती थी। परन्तु तभी एक नई स्थिति पैदा हो गई। आस्ट्रेलिया और केलीफोर्निया में सोने की नई खानों का पता लगा जिससे सोने की पूर्ति बढ़ने लगी। पूर्ति बढ़ने से बाजार में सोने का भाव गिर गया और इसके अनुपात में चांदी की कीमत बढ़ने लगी। जनता ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। सभी लोग सोने की मुहरों में भुगतान करने लगे तथा सरकारी लगान भुगतान करने में भी सोने की मुहरें काम आने लगीं। प्रत्येक व्यक्ति सोने की मुहरें सरकारी खजाने में देकर बदले में चांदी के रुपये लेने लगा क्योंकि चांदी की अपेक्षा सोने का भाव नीचा था। सरकार ने इस परिस्थिति से बचने के लिए २५ दिसम्बर १८५२ को घोषणा कर दी कि सरकारी खजानों पर सोने के सिक्के अब स्वीकार नहीं किए जायंगे। इस प्रकार सरकार ने १३ जनवरी,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१८४१ की घोषणा को रद्द कर दिया और अब सोने के सिक्कों का चलन बिलकुल बन्द हो गया। सोने के सिक्के बन्द होते ही मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की कमी हो गई। दूसरे, चांदी का उत्पादन भी आवश्यकता से कम हो गया था जिससे चांदी के रुपये आवश्यक मात्रा में नहीं बनाए जा सके। तीसरे, चांदी का भाव बढ़ने से लोग चांदी के सिक्कों को या तो चांदी बनाकर खुले बाजार बेचने लगे या संग्रह करने लगे। इससे मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की और भी अधिक कमी होती गई। उस समय देश की बैंकिंग व्यवस्था भी इतनी उन्नत नहीं थी जो साख का प्रबन्ध करके इस कमी को दूर करती। अतः जनता सरकार से देश में सोने के सिक्के चलाने के लिए अनुरोध करने लगी। सरकार ने १८४६ में एक विज्ञप्ति निकाली जिसके अनुसार सरकारी खजानों पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये के बदले में स्वीकार किए जाने लगे परन्तु इससे भी मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की कमी दूर न हुई। व्यापारी वर्ग ने सरकार से सोने के सिक्के चलाने का आग्रह किया। सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए १८६६ में 'मैन्सफील्ड कमीशन' नियुक्त किया। कमीशन ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) १५, १० और ५ रुपये के मूल्य के सोने के सिक्के चलाए जाएं जिससे जनता सोने के सिक्कों से भलीभांति परिचित हो सके।

(२) देश में सोने, चांदी और कागज—तीनों प्रकार की मुद्राएं चलाई जाएं। कमीशन का विचार था कि नोट चलाने से पहले सोने के सिक्के चलाए जाएं क्योंकि जनता इस समय सोने का चलन अधिक पसंद करती है।

कमीशन की इन सिफारिशों का कोई विशेष परिणाम न निकला। १८६८ में सरकार ने सावरेन और अर्द्ध-सावरेन की दर १० और ५ रुपये से बढ़ाकर १०$\frac{1}{2}$ और ५$\frac{1}{4}$ रुपये कर दी। अब इस दर पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन सरकारी खजानों पर लिए जाने लगे। वास्तव में तो सरकार सोने के सिक्के को कानूनी मुद्रा बनाना चाहती थी। उसी समय एक नई स्थिति पैदा हो गई। सोने और चांदी के मूल्यों में विषमता आ गई। सोने के भाव ऊंचे चढ़ने लगे और चांदी की कीमत गिरने लगी। सरकार ने विवश होकर स्वर्ण-प्रमाप लाने का विचार छोड़ दिया।

१८७० के पश्चात् चांदी के भाव गिरने आरम्भ हुए। १८७१-७२ में चांदी का भाव ६०$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस था जो १८७५ में ५८ पेंस, १८७९ में ५१$\frac{1}{2}$ पेंस, १८८८ में ४३ पेंस तथा १८९२ में ३७$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस हो गया।

चांदी के भाव गिरने के कारण

(१) योरप के अनेक देश रजत-प्रमाप को छोड़कर स्वर्ण-प्रमाप मानने लगे थे जिससे सोने के सिक्के बनाने के लिए उनकी सोने की मांग बढ़ती जा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रही थी और वे चांदी का वहिष्कार करने लगे थे। जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे, हालैण्ड आदि देशों ने रजत-प्रमाप को तोड़कर चांदी को वाहर निकालना आरम्भ कर दिया था जहां से यह चांदी भारत जैसे रजत-प्रमापी देशों में आने लगी थी। असीमित मात्रा में चांदी भारत के वाजारों में आकर इकट्ठी होने लगी। इसके अतिरिक्त फ्रांस, वेल्जियम, इटली, स्विजरलैंड आदि देशों में चांदी के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकन वन्द कर दिया था जिससे वहां की जनता स्वतन्त्रता से चांदी को सिक्के वनवाने के काम नहीं ला सकती थी। अतः यह चांदी भारत जैसे रजत-प्रमाप माननेवाले देशों में चली जा रही थी। इस प्रकार देश में चांदी की मात्रा बढ़ने से चांदी का भाव बरावर गिरता जा रहा था।

(२) १८७० के पश्चात् चांदी का उत्पादन भी बढ़ने लगा था। चांदी की नई-नई खानों का पता लग गया था जहां से भारी-भारी मात्रा में नई चांदी वाजारों में आने लगी थी। अमरीका के नेवादा में चांदी की खानों की खोज भी इसी समय हुई। अतः चांदी की अधिकता के कारण चांदी के भाव गिरते जा रहे थे।

(३) चांदी की पुरानी खानों में से उत्पादन के नए वैज्ञानिक साधनों द्वारा अधिक चांदी निकाली जाने लगी थी। सीसा नामक धातु से रासायनिक क्रिया द्वारा चांदी निकाली जाने लगी थी। इस प्रकार चांदी की पूर्ति वढ़ने से चांदी के भाव गिरने स्वाभाविक ही थे।

(४) अमरीका ने शेरमन एक्ट में संशोधन करके चांदी खरीदना कम कर दिया था। शेरमन एक्ट के अनुसार अमरीका प्रतिवर्ष चांदी के सिक्के वनाने के लिए ५ करोड़ ४० लाख औंस चांदी खरीदा करता था। अव इस एक्ट में संशोधन करके अमरीका ने चांदी खरीदना वन्द कर दिया। अतः यह चांदी रजत-प्रमापी देशों में ही आने लगी और वहां उसके भाव गिरने लगे।

(५) १८४८ में आस्ट्रेलिया और केलिफोर्निया में सोने की जिन खानों का पता लगा था उनमें अव वहुत कम सोना मिलता था। सोने की इस कमी के कारण सोने का मूल्य वढ़ने लगा और दूसरी ओर सोने के अनुपात में चांदी का मूल्य गिरने लगा।

इन सब कारणों से चांदी का स्वर्ण-मूल्य गिरता जा रहा था अर्थात् रुपये और सावरेन की विनिमय-दर गिरने लगी थी। १८७१ में १ रुपया लगभग १ शिलिंग ११½ पेंस के बरावर था जो १८७५ में १ शि० ९½ पेंस, १८८३ में १ शि० ७½ पेंस तथा १८९२ में १ शि० २ पेंस के बरावर हो गया। विनिमय-दर गिरने से भारत सरकार तथा भारतीय जनता को भारी नुकसान होने लगा। अन्य लोगों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय-दर गिरने से कठिनाइयां

(१) भारत सरकार की कठिनाइयां—भारत सरकार को इंगलैण्ड की सरकार के लिए लगभग १,७०,००,००० पौंड की राशि प्रतिवर्ष देनी पड़ती थी। यह राशि भारत सरकार को रुपयों में देनी पड़ती थी। इंगलैण्ड की सरकार इसे भारत के शासन के लिए इंगलैण्ड स्थित कार्यालय पर व्यय करती थी। चांदी का भाव गिरने से पहले भारत सरकार को १४,२६,५७,००० रुपये देने पड़ते थे, परन्तु चांदी का भाव गिरने से अब रुपये की कीमत भी गिर गई थी। अतः सरकार को उतनी ही पौंड राशि चुकाने के लिए अब २६,४७,८४,१५० रुपये देने पड़ते थे। इस प्रकार विनिमय-दर गिरने से सरकारी कोष को १२,२१,२७,१५० रुपये की हानि होने लगी। इस हानि को पूरा करने के लिए सरकार जनता पर नये-नये कर लादने लगी परन्तु फिर भी बजट में घाटा ही बना रहता था।

(२) व्यापार में अस्थिरता—रुपये और पौंड की विनिमय-दर में भारी-भारी उतार-चढ़ाव होने के कारण व्यापार में भी अस्थिरता आने लगी। यह सच है कि विनिमय-दर गिरने से भारत के निर्यात-व्यापार में वृद्धि होने लगी और निर्यात बढ़ने लगे परन्तु इसके विपरीत आयात करने में व्यापारियों को हानि होने लगी। सरकार द्वारा नये-नये कर लगाए जाने से भी व्यापार अस्थिर होता गया।

(३) विदेशी पूंजी पर आघात—विनिमय-दर गिरने से भारत में आने वाली विदेशी पूंजी पर भी धक्का लगा। विदेशी पूंजीपतियों ने विनिमय-दर गिरने के कारण पूंजी में तथा ब्याज में कमी हो जाने के भय से भारत को पूंजी भेजना बन्द कर दिया। इससे देश के औद्योगिक विकास पर गहरी चोट लगी क्योंकि औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी की नितान्त आवश्यकता थी और इसके बिना उन्नति होना असम्भव था।

(४) विदेशी अफसरों की कठिनाइयां—विनिमय-दर गिरने से भारत में नौकरी करनेवाले विदेशी अफसरों को भी अधिक नुकसान हुआ। इन अफसरों की तनख्वाह सरकार रुपयों में दिया करती थी। परन्तु अपने-अपने परिवारों को राशि भेजने के लिए इन्हें स्टर्लिंग खरीदने पड़ते थे। स्टर्लिंग खरीदने में अब इन्हें पहिले से अधिक रुपये देने पड़ते थे क्योंकि रुपये की दर गिर गई थी। इस कमी को पूरा करने के लिए ये लोग सरकार से आग्रह करने लगे जिससे सरकार की कठिनाइयां भी बढ़ने लगीं और इन लोगों में भी असन्तोष फैलने लगा।

(५) विदेशी कम्पनियों की कठिनाइयां—भारत में व्यापार करनेवाली विदेशी कम्पनियों को विदेशी कार्यकर्त्ता लाने में कठिनाई होने लगी क्योंकि रुपये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की दर गिरने के कारण विदेशी लोग भारत में नौकरी नहीं करना चाहते थे। इसका कारण यह था कि भारत में उनकी तनख्वाह रुपयों में मिलती थी परन्तु अपने देश ले जाने में उन रुपयों का मूल्य कम हो जाता था क्योंकि स्टर्लिंग के अनुपात में रुपये की दर गिरती जा रही थी।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किए परन्तु सफलता न मिली। जनता ने भी स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के पक्ष में आवाज उठाई। १८७८ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में स्वर्ण-प्रमाप अपनाने का प्रस्ताव भेजा गया परन्तु कोई फल न निकला। १८९१ में भारत सरकार ने फिर प्रस्ताव भेजा कि चांदी का स्वतंत्र टंकन बन्द करके विनिमय-दर को गिरने से रोका जाए तथा शीघ्र ही स्वर्ण-प्रमाप अपनाया जाए। इस प्रस्ताव पर विचार करने तथा सरकार को सलाह देने के लिए १८९२ में हर्शल कमेटी नियुक्त की गई। इस कमेटी के अध्यक्ष लार्ड हर्शल थे।

हर्शल कमेटी की सिफारिशें (१८९३)

हर्शल कमेटी ने देश में द्वि-धातुवाद अपनाना ठीक न समझा। इसलिए उसने चांदी के सिक्के को ही कानूनी मुद्रा बनाने की सलाह दी। कमेटी ने इस विषय में निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) चांदी और सोने दोनों ही प्रकार के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया जाए। किसी भी व्यक्ति को यह स्वतन्त्र अधिकार न हो कि वह सोना या चांदी ले जाकर सरकारी टकसालों से उनके सिक्के बनवा सके। केवल सरकारी लेखे पर ही सिक्के बनाकर चलाए जाएं।

(२) रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस रक्खी जाए, अर्थात् १ रुपया १ शि० ४ पेंस के बराबर हो और १ पौंड १५ रुपये के बराबर हो।

(३) चांदी का सिक्का (रुपया) ही देश की कानूनी मुद्रा बनी रहे और असीमित संख्या में लिया-दिया जाए।

कमेटी की इन सिफारिशों में देश में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करन का कोई संकेत नहीं था वरन् देश में एक प्रकार का पंगु-प्रमाप (Limping Standard) स्थापित करने की योजना थी जिसके अन्तर्गत सोने और चांदी के सिक्कों में से किसी का भी स्वतन्त्र टंकन नहीं कराया जा सकता था परन्तु जिसमें केवल चांदी के सिक्कों को कानूनी मुद्रा बनाया गया।

सरकार ने कमेटी की सिफारिशें मान लीं और १८९३ में टंकन-नियम पास किया। इस कानून के अनुसार रुपये का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया गया। जनता को अब यह स्वतन्त्र अधिकार न रहा कि वह जब चाहे तब चांदी को टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के बनवा सके। अब केवल सरकार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही अपने लेखे पर सिक्के बना सकती थी। सरकार ने कमेटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए तीन विज्ञप्तियां निकालीं :—

(क) पहली विज्ञप्ति के अनुसार सरकार ने घोषित किया कि १ शि० ४ पें० विनिमय-दर पर सोने या सोने के सिक्कों के बदले में टकसालों पर रुपये मिला करेंगे। इसका अर्थ यह था कि शुद्ध सोने के ७·५३३४४ ग्रेन के बदले में १ रुपया मिला करेगा।

(ख) दूसरी विज्ञप्ति के अनुसार जनता को अधिकार दिया गया कि वह सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन देकर सरकारी भुगतान चुका सकती है परन्तु ये सावरेन १ शि० ४ पें० की दर पर ही स्वीकार किए जायेंगे। इसका अर्थ यह था कि एक सावरेन १५ रुपये के और अर्द्ध-सावरेन ७½ रुपये के बराबर घोषित किया गया।

(ग) तीसरी विज्ञप्ति के अनुसार व्यवस्था की गई कि सोना या सोने के सिक्कों के बदले में १ शि० ४ पें० की दर पर सरकार पत्र-मुद्रा (नोट) भी दिया करेगी। इसका अर्थ यह था कि १ शि० ४ पेंस के बदले में १ रुपये का नोट और १ पौंड के बदले में १५ रुपये का नोट मिला करेगा।

ऐसा करने में सरकार का उद्देश्य रुपये की गिरती हुई दर को रोकना था जिससे देश में विदेशी पूंजी आने लगे और विदेशी व्यापार भी संभल जाए।

चांदी की स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई बन्द करने से सरकार का ख्याल था कि मुद्रा-मण्डी में रुपये की कमी होकर उसकी विनिमय-दर बढ़ जायगी। परन्तु वास्तव में ऐसा न हुआ। १८९२ में विनिमय-दर १ शि० ३½ पेंस थी जो १८९५ में १ शि० १ पेंस, १८९६ में १ शि० १½ पेंस तथा १८९७ में १ शि० ३½ पेंस हो गई। स्वतन्त्र टंकन बन्द होने के पश्चात् भी रुपये की विनिमय-दर कई वर्षों तक ठीक १ शि० ४ पेंस न हो सकी। इसी समय देश में एक नई स्थिति पैदा हुई। १८९६-९८ में देश में अकाल पड़ा और प्लेग फैली जिससे अन्न तथा दूसरे कच्चे माल का उत्पादन कम हो गया। इससे विदेशों को उतना माल निर्यात नहीं किया जा सका जितना पहले किया जाता था। निर्यात कम होने से विदेशों में रुपये की मांग कम हो गई और विनिमय-दर ऊंची न उठ सकी। परन्तु जैसे ही परिस्थिति संभली और निर्यात बढ़ने लगा वैसे ही विनिमय-दर ऊंची होने लगी और मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं का अभाव भी अनुभव होने लगा। मुद्राओं के अभाव के कारण व्यापारियों को असुविधा हुई और वे देश में सोने के सिक्के चलाने की बात सोचने लगे। सरकार ने १८९८ में 'स्वर्ण नोट एक्ट' (Gold Note Act) पास किया। इस एक्ट के अनुसार भारत-मन्त्री को अधिकार दिया गया कि वह लन्दन में 'कौन्सिल बिल' बेचे और इस प्रकार इनकी बिक्री से जो सोना आए उसे बैंक ऑव इंगलैण्ड में पत्र-मुद्रा-कोष के नाम से अलग रख दे। भारत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह लन्दन स्थित उस सोने के बल पर नोट छापे और लन्दन में बेचे गए कौंसिल-बिलों का भुगतान भारत में चुका दे। ऐसा करने में सरकार का विचार था कि देश में मुद्राओं की कमी दूर हो जायगी। परन्तु इस प्रकार नोट छापकर चलाने से भी मुद्रा की कमी में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

फाउलर कमेटी (१८९८)

मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं की कमी के कारण उत्पन्न हुई स्थिति पर विचार करने तथा देश में स्वर्ण-प्रमाप लाने में सरकार की सलाह देने के लिए 'फाउलर कमेटी' नियुक्त की गई। इस कमेटी के अध्यक्ष सर हेनरी फाउलर थे। कमेटी के सामने सरकारी और गैर-सरकारी लोगों ने कई प्रस्ताव रक्खे। ये प्रस्ताव इस प्रकार हैं:—

१. **सरकारी प्रस्ताव**—सबसे पहिले भारत सरकार ने एक योजना रक्खी। योजना में प्रस्ताव किया गया कि—

(क) भारत सरकार इंगलैण्ड में २ करोड़ पौण्ड की एक राशि उधार ले। इस राशि का तीन-चौथाई भाग इंगलैण्ड में रहे तथा शेष भाग सोने के रूप में स्वर्ण-कोष के नाम से भारत में रक्खा जाए।

(ख) मुद्रा-मण्डी में चलनेवाले कुछ रुपये के सिक्कों को वापिस खींच लिया जाय। इन सिक्कों को धातु के रूप में बेचकर बदले में सोना खरीद लिया जाए और इस सोने को भी स्वर्ण-कोष में जमा कर दिया जाए।

(ग) किसी भी अवस्था में सरकार सोना न बेचे और विशेषतः उस समय तक जब तक कि विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस तक आकर न टिक जाए।

इस योजना द्वारा सरकार का विश्वास था कि मुद्रा-मण्डी में रुपयों की संख्या कम करने से विनिमय-दर ऊंची होकर १ शि० ४ पेंस पर आ टिकेगी तथा स्वर्ण-कोष में रक्खा हुआ सोना भविष्य में स्वर्ण-प्रमाप लाने के लिए काम आ सकेगा। फाउलर कमेटी ने इस योजना को न माना। कमेटी के सदस्य इस बात से डरते थे कि मुद्रा-मण्डी में रुपयों की संख्या कम करने से मुद्रा की और भी अधिक कमी होने लगेगी जिससे व्यापारी समाज को बहुत असुविधाएं रहेंगी।

२. **'रजत-प्रमाप लौटाओ' प्रस्ताव**—कुछ लोगों ने योजना रक्खी कि देश में रुपये का स्वतन्त्र टंकन फिर से आरम्भ करके रजत-प्रमाप पुनः स्थापित कर देना चाहिए। इन लोगों का विश्वास था कि रुपये का स्वतन्त्र टंकन न होने से भारत को रजत-प्रमापी देशों के साथ व्यापारिक प्रतियोगिता करने में हानि रहती है। उनका यह भी ख्याल था कि विनिमय-दर नीची होने से देश के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा जिस पर देश की आर्थिक उन्नति आधारित है। फाउलर कमेटी ने इस प्रस्ताव को भी न माना। कमेटी का कहना था कि रजत-प्रमाप अपनाने से देश को स्थायी लाभ नहीं मिल सकता। क्योंकि भारत का अधिकांश व्यापार स्वर्ण-प्रमापी देशों से है इसलिए रजत-प्रमाप अपनाने से उस व्यापार में हानि होगी। कमेटी का यह भी कहना था कि नीची विनिमय-दर व्यापार और उद्योग के लिए हानिकारक होती है और यह बात भी सर्वदा सत्य नहीं होती कि नीची विनिमय-दर से निर्यात बढ़ते ही हों। पिछले वर्षों में दर नीची थी फिर भी देश के निर्यात-व्यापार में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। कमेटी को यह भी भय था कि नीची विनिमय-दर होने से भारत सरकार को इंगलैण्ड की सरकार के लिए वार्षिक गृह-व्यय चुकाने में अधिक रुपये चुकाने पड़ेंगे और इस प्रकार सरकारी कोष को हानि उठानी पड़ेगी।

३. लेस्ले प्रॉव्यन का प्रस्ताव—तीसरा प्रस्ताव श्री लेस्ले प्रॉव्यन का था। उन्होंने देश में सोने के सिक्के चलाने का विरोध किया। उन्होंने कहा कि भारतीय जनता सम्पत्ति-संग्रह करने में अधिक विश्वास करती है इसलिए यदि सोने के सिक्के चलाए गए तो लोग उन्हें इकट्ठा करके बैठ जाएंगे। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव किया कि—

(क) जनता से सोना लेकर उसके बदले में नोट चलाए जाएं;

(ख) इन नोटों के अतिरिक्त १०,००० रुपये के मूल्य के स्वर्ण-नोट (Gold Notes) भी चलाए जाएं;

(ग) इन नोटों के बदले में सरकार नोट रखनेवाले व्यक्ति की इच्छानुसार या तो सोना दे या रुपये दिया करे;

(घ) जब कोई नोट के बदले में सोना मांगनेवाला व्यक्ति आए तो सरकार चाहे उसे सावरेन दे दे या सोना (धातु रूप में) दे दे, परन्तु यह धातु ६७ पौण्ड से कम के नोटों के बदले में नहीं देनी चाहिए;

(च) सोने के बदले में छापे जानेवाले नोटों के अतिरिक्त सरकार और भी छोटे-छोटे नोट चलाए परन्तु उनके बदले में केवल रुपये ही दिए जाया करें, सोना नहीं। श्री लेस्ले का विचार था कि इस प्रकार की योजना काम में लाने से जनता को सोना इकट्ठा करने का अधिक अवसर नहीं मिल सकेगा।

कमेटी ने इस योजना को भी नहीं माना। उन्होंने बताया कि सोना संग्रह करने में इतना भारी खतरा नहीं है जितना श्री लेस्ले ने समझ रक्खा है। यदि लोगों को सोना इकट्ठा करना ही है तो वे किसी प्रकार से भी ऐसा कर सकते हैं। लोगों की भावनाओं में एक साथ ही तुरन्त फेर-बदल करना सम्भव नहीं हो सकता। दूसरे, यह बात न्यायसंगत नहीं जान पड़ती कि लोगों की सोना इकट्ठा करने की आदत के कारण देश में सोने के सिक्के ही न चलाए जाएं। कमेटी ने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिस्ले प्रॉब्यन की योजना से सहमत न होकर कहा कि सोने के सिक्के तो देश में बहुत काल से चलते आए हैं और १८३५ तक चलते रहे हैं। कमेटी के इन तर्कों के कारण यह योजना उठा रक्खी गई।

४. लिंड्से का प्रस्ताव—बंगाल बैंक के तत्कालीन डिप्टी डाइरेक्टर श्री ए० एम० लिंड्से ने भी एक योजना कमेटी के समक्ष रक्खी। इस योजना में भी यही प्रस्ताव किया गया कि देश में सोने के सिक्के न चलाए जाएं। श्री लिंड्से का विचार था कि देश में विनिमय-दर को स्थायी बनाने के लिए कोई ऐसी सरल और सीधी व्यवस्था होनी चाहिए जो स्वयंपूर्ण कार्यशील हो और जिसमें किसी अन्य व्यक्ति, संस्था या सरकार का प्रबन्ध न हो। व्यवस्था ऐसी हो कि जब विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दु से आगे बढ़ने लगे तो रुपये का प्रसार करके उसे बढ़ने से रोक लिया जाए और जब स्वर्ण-बिन्दु से नीचे गिरने लगे तो रुपये का संकुचन करके उसे गिरने से रोक दिया जाए। इस प्रकार दर स्वर्ण-बिन्दुओं के आसपास स्थायी बनी रहेगी। इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :—

(क) लन्दन में १,००,००,००० पौण्ड का एक ऋण लिया जाय और उसे 'स्वर्ण-प्रमाप कोष' (Gold Standard Reserve) के नाम से वहीं छोड़ दिया जाए।

(ख) भारत सरकार भारत में स्टर्लिंग खरीदनेवालों को लन्दन में चुकाए जानेवाले स्टर्लिंग-ड्राफ्ट (Sterling Draft) बेचे। ये ड्राफ्ट १ शि० ३$\frac{3}{4}$ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचे जाएं, अर्थात् भारत में एक रुपया लेकर लन्दन में 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' में से १ शि० ३$\frac{3}{4}$ पेंस भुगतान कर दिया जाय। ये ड्राफ्ट १००० पौण्ड से कम राशि के न बेचे जाएं।

(ग) इसी प्रकार लन्दन में रुपये खरीदनेवालों को भारत में चुकाए जाने वाले रुपये-ड्राफ्ट (Rupee Draft) बेचे जाएं। ये ड्राफ्ट १ शि० ४$\frac{1}{16}$ पें० प्रति रुपया की दर से बेचे जाएं, अर्थात् लन्दन में १ शि० ४$\frac{1}{16}$ पें० ले लिया जाय और भारत में उसके बदले में सरकार १ रुपया चुका दे। ये ड्राफ्ट १५,००० रुपये से कम राशि के न बेचे जाएं।

(घ) अगर किसी समय स्टर्लिंग-ड्राफ्ट इतनी मात्रा में बेच दिए जाएं कि भारत में तो अधिक रुपये इकट्ठे हो जाएं और उन्हें चुकाते-चुकाते लन्दन का 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' समाप्त हो जाए, तो सरकार को चाहिए कि भारत में इकट्ठे हुए रुपयों में से कुछ भाग को धातु के रूप में बेचकर लन्दन में 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' में पौण्ड जमा कर दे। इसी प्रकार यदि कभी ड्राफ्ट बेचते-बेचते लन्दन में अधिक पौण्ड इकट्ठे हो जाएं और भारत में चुकाने के लिए रुपये न रहें तो लन्दन में इकट्ठे हुए कोष में से चांदी खरीदकर भारत में रुपये बना लिए जाएं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(च) देश में रुपये ही चलते रहें और सोने के सिक्कों को कानूनी मुद्रा न बनाया जाए।

श्री लिंड्से ने सोचा कि इस आयोजन के अनुसार मुद्रा-मण्डी में मुद्रा का प्रसार और संकुचन स्वयं ही होता रहेगा। जब हमारे देश में स्टर्लिंग-ड्राफ्ट बेचे जाएंगे तो मुद्रा का संकुचन होगा और जब लन्दन में बेचे हुए रुपये-ड्राफ्ट भारत में चुकाए जाएंगे तो रुपये का प्रसार होगा। इस प्रकार रुपये की विनिमय-दर स्थिर बनी रहेगी। कमेटी ने लिंड्से के इस प्रस्ताव को नहीं माना। कमेटी के सदस्यों को भय था कि ऐसा यदि किया गया तो देश में विदेशी पूंजी का आना बिल्कुल रुक जाएगा। दूसरे, इंगलैण्ड में ऋण लेकर भारतीय विनिमय-दर की व्यवस्था करना कमेटी को पसन्द नहीं था।

फाउलर कमेटी की सिफारिशें

(१) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश की कानूनी मुद्रा बना दी जाएं। देश में सोने का स्वतन्त्र टंकन हो तथा इसके लिए देश में एक टकसाल खोल दी जाए पर चांदी के रुपये का स्वतन्त्र टंकन न हो।

(२) चांदी का रुपया देश की कानूनी मुद्रा रहे और असीमित संख्या में लिया-दिया भी जाए पर इसका स्वतन्त्र टंकन न हो। रुपया सहायक सिक्का बनकर देश में चले।

(३) सरकार रुपये के टंकन से होनेवाला लाभ स्वर्ण-प्रमाप-कोष नामक एक कोष में जमा करे जो रुपये का मूल्य १ शि० ४ पें० पर स्थिर रखने के काम आए।

(४) रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निश्चित की जाए अर्थात् १ सावरेन १५ रुपये के बराबर हो।

(५) सरकार सोने या सोने के सिक्कों के बदले में रुपये के सिक्के दे पर रुपयों के बदले में सोना या सोने के सिक्के देने के लिए सरकार बाध्य न हो।

(६) रुपये के नए सिक्के तब तक न बनाए जाएं जब तक कि सोने के सिक्कों का देश में भली प्रकार प्रचार न हो जाए।

(७) जब कभी भारत का व्यापार-सन्तुलन भारत के प्रतिकूल हो तो उसको चुकाने के लिए सरकार स्वर्ण-प्रमाप-कोष में से (जिसकी सिफारिश ऊपर की गई है) व्यवस्था करे।

इस प्रकार कमेटी ने देश के लिए पंगु-प्रमाप पद्धति की सिफारिश की जिसके अन्तर्गत सोने और चांदी दोनों धातुओं के सिक्के कानूनी मुद्राएं थीं, दोनों असीमित संख्या में ली-दी जा सकती थीं परन्तु केवल सोने के सिक्कों का ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वतन्त्र टंकन किया जाने को था। कमेटी की सिफारिशों में दो विशेषताएं झलकती हैं :—

(क) सोने का स्वतन्त्र टंकन होना था, सोने के सिक्के कानूनी मुद्रा भी होने थे पर इस पर भी सरकार रुपयों के बदले में सोना या सोने के सिक्के देने को बाध्य नहीं थी।

(ख) सोने के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा होने थे और चांदी के रुपये सहायक मुद्रा, तो भी चांदी के रुपये असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे।

सरकार ने फाउलर कमेटी की सिफारिशें मान तो लीं पर उनका प्रयोग कुछ निराले ढंग पर ही किया। सबसे पहिले १८९९ में भारतीय-टंकन-नियम (Indian Coinage Act) पास किया जिसके अनुसार रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निश्चित की गई। इसी नियम के अनुसार देश-भर में सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १५ रुपये और ७।।) रुपये के बराबर घोषित कर दिए गए। सोने के स्वतंत्र टंकन के लिए देश में टकसाल खोलने के लिए भारत सरकार ने इंगलैण्ड की सरकार से आज्ञा मांगी पर उन्होंने इसकी आज्ञा न दी। इंगलैण्ड की सरकार ने कहा कि "भारत में सोने की टकसाल खोलने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि टकसाल में सिक्के बनाने के लिए पर्याप्त सोना नहीं मिल सकेगा।" इस प्रकार भारत सरकार ने टकसाल खोलने का विचार १९०२ में छोड़ दिया।

फाउलर कमेटी की एक सिफारिश यह थी कि रुपये के नए सिक्के तब तक न बनाए जाएं जब तक कि जनता सोने के सिक्कों से भलीभांति परिचित न हो जाए। सरकार ने सोने के सिक्कों का प्रचार किया। सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन मुद्रा-मण्डी में चलाए गए। सरकारी खजानों, डाकखानों तथा अन्य मौद्रिक संस्थाओं को आदेश दे दिया गया कि वे जनता में सोने के सिक्कों का प्रचार करें। सरकार ने मुद्रालयों को आज्ञा दी कि वे नोट लानेवाले व्यक्तियों को उनके नोटों के बदले में सोने के सिक्के ही देने का प्रयत्न करें। पर सरकार के इन सब प्रयत्नों का कोई फल न निकला। सभी उपाय व्यर्थ रहे। सोने के सिक्के जो अब तक बाजारों में चल रहे थे, लौट-लौटकर सरकारी खजाने में आने लगे और कहीं-कहीं तो सरकार नोटों के बदले में रुपये चुकाने में असफल रही। इतना ही नहीं, नोटों और सोने के सिक्कों पर बट्टा लगने लगा। रुपयों की मांग बढ़ने लगी और लोग सोने के सिक्के वापिस करने लगे। सरकार ने सोचा कि जनता सोने के सिक्कों का विरोध कर रही है और वह देश में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के पक्ष में नहीं है। अतः सरकार ने शीघ्र ही हार मानकर सन् १९०० में चांदी के रुपये बनाना आरम्भ कर दिया। १८९३ के पश्चात् रुपये के सिक्के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिल्कुल नहीं बनाए गए थे इसीलिए देश में रुपयों की कमी बढ़ रही थी। दूसरे, देश में व्यापार भी बढ़ता जा रहा था जिससे मुद्राओं की कमी और भी ज्यादा जान पड़ती थी। रुपये की कमी बढ़ने का एक और भी कारण था। १८९८ के 'स्वर्ण-नोट-एक्ट' के अनुसार जो नोट छपे थे उनके बदले में रुपये के सिक्के चुकाते-चुकाते सरकारी कोष में रुपयों की कमी होने लगी थी। इस कमी को दूर करने तथा देश में सोने के सिक्कों का प्रचार करने के लिए सरकार ने सावरेन चलाए थे। परन्तु सरकार की यह योजना पूर्ण न हो सकी। सरकार ने शीघ्र ही अपनी हार मान ली कि देश में सोने के सिक्के नहीं चल सकते। परन्तु वास्तविकता कुछ और थी। जिस समय सोने के सिक्के चलाए गए थे देश की परिस्थिति उसके अनुकूल न थी। देश में अकाल पड़ रहा था जिससे लोगों को छोटी-छोटी राशि के सिक्कों की आवश्यकता थी। जनता रुपये चाहती थी, सोने के सावरेन नहीं। अतः सोने के सिक्कों के न चलने का दोष जनता पर नहीं था। यह तो सरकार की ही भूल थी कि उसने ऐसे अनुचित समय पर सोने के सिक्कों का प्रचार करना चाहा।

रुपये बनाने में सरकार को जो लाभ होता रहा उसका एक कोष बना दिया गया। यह कोष भारत में ही रखा गया था। परन्तु भारत-मन्त्री ने यह निश्चय किया कि इस कोष को इंगलैण्ड में भेज देना चाहिए और वहां उससे स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां खरीद लेनी चाहिएं। अतः १९०१ के बाद रुपये बनाने से जो लाभ हुआ उसे भारत सरकार ने लन्दन में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां खरीदने में लगा दिया। इन सिक्यूरिटियों पर जो ब्याज मिला वह भी इसी में जोड़ा जाता रहा। १९०५ में भारत सरकार ने पत्र-मुद्रा-कोष में से ५० लाख पौंड की एक राशि निकालकर इंगलैण्ड में भेज दी। यह राशि वहां इसलिए भेजी गई कि जिससे वह समय आने पर वहां चांदी खरीदने के काम आ सके और चांदी के अनुकूल भावों से समय पर लाभ उठाया जा सके।

१९०६ में एक और नई बात पैदा हुई। सरकार को जनता की रुपयों की मांग पूरी करने में कुछ कठिनाई अनुभव होने लगी। अतः सरकार ने देश में ही पत्र-मुद्रा-कोष के अतिरिक्त एक स्पेशल कोष और बनाया। यह स्पेशल कोष चांदी के रुपयों के बनाने में होनेवाले लाभ में से बनाया गया तथा इसको चांदी के रुपयों के रूप में ही रक्खा गया। इस प्रकार अब स्वर्ण-कोष की दो शाखाएं बन गईं—(१) रुपयों के रूप में जो भारत में ही रखी गई, (२) स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के रूप में जो लन्दन में रखी गई थी। अब इन दोनों कोषों का नाम मिलाकर 'स्वर्ण-प्रमाप-कोष' कर दिया गया।

इतना ही नहीं हुआ वरन् लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष के उद्देश्य में भी परिवर्तन कर दिया गया। बात यह थी कि सन् १९०० में जब रुपये का टंकन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आरम्भ किया गया था चांदी खरीदने की आवश्यकता हुई। अतः लन्दन के बाजारों में से लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से चांदी खरीदकर भारत में मंगा ली गई। सबसे पहिले यह खरीद केवल दो वर्षों के लिए निश्चित की गई थी पर १९०२ में यह व्यवस्था कानून द्वारा पास कर दी गई। अब जब चाहे तभी लन्दन स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से चांदी खरीदी जा सकती थी। अतः पत्र-मुद्रा-कोष जो अब तक नोटों का आधार-कोष माना जाता था, अब चांदी खरीदने के काम भी आने लगा। इसी समय भारत मन्त्री को एक नई सूझ सूझी। सुझाया गया कि भारत स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में से जो सोना इंगलैण्ड भेजा जाता है उसको इंगलैण्ड भेजने में बहुत ही खर्च होता है। इसीलिए सोना भेजने की प्रथा को बन्द कर देना चाहिए, और उसके स्थान पर ऐसा करना चाहिए कि इंगलैण्ड में 'कौंसिल-बिल' बेचकर राशि प्राप्त कर ली जाए और उन बिलों का भुगतान भारत सरकार चुका दिया करे। सोचा गया कि इस प्रकार बिना भेजे ही सोना लन्दन में भारत मन्त्री को मिल जाया करेगा। इसी योजना के अनुसार भारत मन्त्री ने १९०४ के पश्चात् १ शि० ४$\frac{1}{16}$ पें० प्रति रुपया की दर से असीमित मात्रा में कौंसिल-बिल बेचना आरम्भ कर दिया। अतः १८९८ के 'स्वर्ण-नोट-एक्ट' के द्वारा बनाई गई कौंसिल-बिल बेचने की योजना अब स्थायी बना दी गई।

१९०७-८ में परिस्थिति बिलकुल बदल गई। देश में वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ा जिससे भारत के निर्यात में कमी आ गई। योरप में भी व्यापार मन्दा पड़ गया और बेकारी बढ़ने लगी। अमरीका में भी आर्थिक संकट आया जिसके कारण संसार भर में मुद्रा की कमी-सी आ गई। यहां तक कि इंगलैण्ड के बैंक को तो अपनी कटौती-दर भी बढ़ानी पड़ी। भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का उत्पादन कम हुआ जिससे इनका निर्यात गिर गया। परन्तु चांदी का आयात बढ़ता ही रहा। लन्दन में कौंसिल-बिलों की मांग भी कम हो गई। इन सब कारणों से रुपये की विनिमय-दर गिरने लगी और इतनी गिरी कि ३० नवम्बर १९०७ को १ शि० ३$\frac{1}{32}$ पें० हो गई। गिरती हुई विनिमय-दर को रोकने के लिए विदेशी विनिमय-बैंकों ने भारत सरकार से प्रार्थना की कि वह लन्दन में चुकाए जानेवाले बिल बेचना आरम्भ कर दे परन्तु सरकार ने इस बात को न माना। सरकार पत्र-मुद्रा-कोष में से सोना निकाल-निकाल कर लोगों को देने लगी जिससे वे लोग इंगलैण्ड में अपना भुगतान चुका सकें और रुपये की दर कम न होने पाए। लेकिन परिस्थिति बिगड़ती गई और विनिमय-दर भी नीचे गिरती गई। अन्त में ४ मार्च १९०८ को भारत मन्त्री ने आज्ञा निकाली कि भारत सरकार १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० की दर पर भारत में स्टर्लिंग-ड्राफ्ट बेचे जिनका भुगतान लन्दन में चुकाया जाए। सबसे पहिले

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२६ मार्च १९०८ को स्टर्लिंग-ड्राफ्ट बेचे गए। इसी बीच में भारत मन्त्री ने स्वर्ण-प्रमाप-कोष की स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों को भी बेच डाला जिससे भारत में बेचे गए स्टर्लिंग-ड्राफ्टों के भुगतान करने के लिए राशि प्राप्त हो सके। स्टर्लिंग-ड्राफ्ट ११ सितम्बर १९०८ तक स्वतन्त्रतापूर्वक बेचे जाते रहे और उनका भुगतान भी लन्दन में चुकाया जाता रहा। इसी समय परिस्थिति संभलने लगी और विनिमय-दर भी चढ़ी। अगले वर्ष तो निर्यात बढ़ने लगा और दर स्थायी बनती गई।

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का जन्म

१९०७-८ के संकट-काल को पार करने के लिए सरकार ने कुछ ऐसे प्रयत्न किए जिनसे वह अनजाने ही स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप की ओर बढ़ने लगी। सबसे पहिले सरकार ने स्थानीय प्रयोग के लिए रुपयों के सिक्कों के बदले में सोना देना आरंभ किया, यद्यपि विदेशी भुगतान चुकाने के लिए सोना देने में सरकार ने कुछ आना-कानी की। बाद में परिस्थिति गम्भीर होने पर 'रिवर्स-कौंसिल-बिल' बेचना आरम्भ कर दिया गया जिससे भारतीय मुद्रा-प्रणाली लिंड्से-योजना के लगभग समीप ही आ गई। इसके अन्तर्गत कौंसिल बिल बेचकर लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा कोष में सोना जमा करके भारत में नोट और रुपयों में भुगतान चुकाने की प्रथा तो थी ही, जिसे १९०४ में स्थायी बना दिया गया था। १९०८ में भारत में रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचकर उनको लन्दन में चुकाए जाने की व्यवस्था भी कर दी गई। इस प्रकार रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचने से स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पूर्ण-रूप से भारत में आ गया। अब रिवर्स-कौंसिल-बिलों के द्वारा भारत में रुपया लेकर इंगलैण्ड में स्टर्लिंग चुका दिया जाता था और कौंसिल-बिलों के द्वारा इंगलैण्ड में स्टर्लिंग-बिल बेचकर भारत में रुपया चुका दिया जाता था। यही स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का रहस्य था। स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप स्थापित करने में सरकार का न कोई उद्देश्य था और न इसे स्थापित करने के लिए सरकार ने कोई प्रयत्न ही किए। केवल परिस्थितियों पर काबू पाने के लिए सरकार प्रयत्न कर रही और प्रयत्न करते करते स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पर आ पहुँची। यह सब कुछ बिना जाने और बिना समझे होता रहा। सरकार ने जो प्रयत्न किए वे सब फाउलर कमेटी की सिफारिशों को पूरा करने के लिए थे परन्तु इन्हीं प्रयत्नों के द्वारा देश में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप आ गया। इस प्रमाप में निम्न बातें थीं :—

(१) देश के अन्दर रुपये के सिक्के और नोट चलते थे। दोनों असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे। और भी छोटे सहायक सिक्के थे जो नोट और रुपये के साथ चलते थे।

(२) रुपये और नोटों के बदले स्थानीय या देश के आन्तरिक प्रयोग के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिए सोना नहीं मिल सकता था। परन्तु विदेशी भुगतान चुकाने के लिए देशी मुद्रा के बदले में सोना या सोने पर आश्रित मुद्रा मिल सकती थी।

(३) सोने के सिक्के देश के अन्दर नहीं चलते थे।

(४) इंगलैण्ड में भुगतान चुकाने के लिए एक कोष बना हुआ था जो स्वर्ण-प्रमाप-कोष कहलाता था। इसी कोष में से स्टर्लिंग चुकाए जाते थे।

वैसे देखने से तो यह कार्य-पद्धति बड़ी ही सरल एवं सुविधापूर्ण मालूम होती थी परन्तु वास्तव में यह थी बड़ी भ्रमपूर्ण क्योंकि भारत मन्त्री की नीति सदैव यही रही कि भारत में कम से कम सोना रहे और अधिकांश सोना इंगलैण्ड चला जाए। इसी हेतु भारत मंत्री का इसी दिशा में प्रयत्न होता रहा जिससे हमारे देश की कीमतें ऊंची बनी रहें और इंगलैण्ड से होनेवाला आयात बढ़े। भारत मंत्री ने इंगलैण्ड से हमारे देश में सोना नहीं आने दिया। कौंसिल-बिल बेचकर वह सोना वहीं रख लिया जाता था। हमें सदैव यही बताया गया कि यदि सोना भारत में आता तो वह या तो भूमिगत हो जाता और या उसके आभूषण बन जाते। परन्तु वास्तव में यह तर्क सत्य नहीं था क्योंकि उस समय भारत में सोने की चाह होने लगी थी और यदि चाह नहीं भी थी तो भारत मन्त्री को क्या आवश्यकता थी कि वह भारत के साने को भारत में आने से रोकता ? दूसरे, रुपयों के टंकन से होने वाले लाभ से स्वर्ण-कोष बनाया गया था जो फाउलर कमेटी की सिफारिश के अनुसार भारत में ही रखना चाहिए था। भारत मन्त्री को क्या अधिकार था कि वह उसको इंगलैण्ड में ले जाए ? यदि वह सोना भारत में रहता तो भारत सरकार के काम आ सकता था अथवा हमारे उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए काम में लाया जा सकता था। इंगलैण्ड में उसे भेजकर तो भारत सरकार को सदैव भारत मन्त्री पर ही निर्भर रहना पड़ा। तीसरे, इस कोष को स्टार्लिंग सिक्यूरिटियां खरीदने में लगा दिया गया जिससे वहां के उद्योगों की तो उन्नति हुई किन्तु हमारे यहां उन्नति न हो सकी। कुछ भी हो, स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप स्थापित करने में भारत-मन्त्री का बहुत हाथ था। १८९८ से १९१३ तक कोई ७०० लाख पौण्ड से अधिक मूल्य का सोना इंगलैण्ड में चला गया था।

भारत सरकार तथा भारत मंत्री में विरोध
(१९०८–१९१३)

पहिले कहा जा चुका है कि सरकार ने विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए २५ नवम्बर १९०७ के पश्चात् पत्र-मुद्रा-कोष में से सोना निकाल-निकाल कर बेचना आरम्भ कर दिया था जिससे लोग माल मंगाकर इंगलैंड के व्यापारियों को भुगतान चुका सकें और रुपये की विनिमय-दर गिरने न पावे। इससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार के स्वर्ण कोष पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अतः सरकार ने मुद्रा-नीति में परिवर्तन करने के लिए भारत मन्त्री से प्रार्थना की और नीचे लिखे हुए सुझाव स्वीकृति के लिए भेजे :—

(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का अधिकांश भाग भारत में ही रखा जाए जिससे भविष्य में यदि कोई १९०७-८ जैसा संकट आए तो उसका सामना किया जा सके। सरकार ने सुझाया कि भारत-स्थित स्वर्ण-प्रमाप-कोष म कम से कम २ करोड़ ५० लाख पौण्ड रहने चाहिएं। इसलिए चांदी के रुपये बनाने में जो लाभ हो वह इंगलैंड न भेजा जाए।

(२) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का अधिकांश भाग तरल सम्पत्ति के रूप में हो जिससे उसे आवश्यकता के समय शीघ्र ही काम में लाया जा सके। कोष की राशि को सिक्यूरिटियों में न लगाया जाए क्योंकि सिक्यूरिटियों को बेचते समय उनके मूल्य में कमी हो जाने के कारण हानि होने सम्भावना रहती है।

(३) भारत-स्थित पत्र-मुद्रा-कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाए। कम से कम १ करोड़ ३० लाख पौण्ड का सोना हो और जब तक इतना सोना इकट्ठा न हो जाए तब तक लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा-कोष में सोना न बढ़ाया जाए।

(४) बम्बई की टकसाल में सोने के सावरेन बनाए जाएं।

भारत मन्त्री ने सरकार के इन सुझावों पर विचार करके यह स्वीकृति दे दी कि भारत में रखे जानेवाले स्वर्ण-प्रमाण-कोष में दो करोड़ पचास लाख पौण्ड रहें—और जब तक यह राशि उस कोष में इकट्ठी न हो जाए तब तक रुपये बनाने से होनेवाले लाभ को इंगलैंड न भेजा जाए। भारत मंत्री ने सरकार के अन्य सुझावों को न माना। इस प्रकार सरकार और भारत मंत्री के बीच विरोध उत्पन्न हो गया। वास्तव में सरकार 'स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप' स्थापित करना चाहती थी परन्तु भारत मन्त्री स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप रखना चाहते थे। इस गति-अवरोध को दूर करने के लिए १९१३ में एक कमीशन नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष श्री ऑस्टिन चेम्बरलेन थे।

चेम्बरलेन कमीशन--१९१३

चेम्बरलेन कमीशन के सामने निम्नलिखित बातें विचारार्थ रखी गईं :—

(क) भारत सरकार के सामान्य शेषों (General Balances) और कोषों के स्थान एवं व्यवस्था सम्बन्धी जांच;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ख) १९९८ के पश्चात् भारत सरकार द्वारा काम में लाई गई मौद्रिक नीति की जांच-पड़ताल;

(ग) मुद्रा-सम्बन्धी अन्य बातें।

चेम्बरलेन कमीशन ने १८९३ से लेकर १९१३ तक की मौद्रिक स्थिति का अध्ययन करके फरवरी १९१४ में अपनी रिपोर्ट तैयार की। कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप ही देश के लिए उपयुक्त प्रमाप है क्योंकि इसको सरकार ने मुद्रा-नीति में जोड़-तोड़ करके स्थापित नहीं किया था वरन् देश की परिस्थितियों के साथ-साथ इसका जन्म और विकास हुआ। अतः यही सच्चा और वास्तविक प्रमाप है। दूसरे, यह ऐसा प्रमाप है जो किसी भी असाधारण परिस्थिति में चल सकता है। कमीशन ने कहा कि १९०७-८ के संकट काल में भी इसमें कोई फेर-बदल नहीं हुई। तीसरे, इसके अन्तर्गत सोने के सिक्के चलाने की आवश्यकता नहीं है जिससे सोने की बचत होती है और लोग सस्ता सिक्का लेना-देना सीखते हैं। चौथे, इसके द्वारा रुपये की विनिमय-दर स्थायी बनी रहती है। इसीके कारण बिना सोने के सिक्के चलाए १ शि० ४ पें की दर स्थायी रह सकी थी। अतः इसी प्रमाप को अपनाना चाहिए।

(२) सोने के सिक्के चलाना देश के हित में नहीं है क्योंकि विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए इसकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती। पिछले अनेक वर्षों से बिना सोने के सिक्के चलाए ही विनिमय-दर स्थायी बनी रही है। दूसरे, सोने के सिक्के चलान से सोना नष्ट होता है। तीसरे, यह भी आवश्यक है कि जनता को सस्ता सिक्का लेने-देने का अभ्यासी बनाया जाए। अतः सोने के सिक्के न चलाये जाएं।

(३) सोने के सिक्के बनाने के लिए टकसाल बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि देशवासी चाहते ही हैं और भारत सरकार इसका खर्चा सहन कर सकती है तो एक ऐसी टकसाल खोली जा सकती है जिसमें केवल सावरेन या अर्द्ध-सावरेन ही बनाए जाएं। अगर सोने की टकसाल न खोली जाए तो सरकार को चाहिए कि बंबई की टकसाल पर ही नोट और रुपये के सिक्कों के बदले में सोना दिया करे।

(४) स्वर्ण-प्रमाप-कोष की कोई सीमा निर्धारित न की जाए। रुपया बनाने में जो लाभ हो उसे इसी कोष में जमा कर दिया जाए। स्वर्ण-प्रमाप-कोष का वह भाग जो चांदी के रूप में भारत में जमा रहता है समाप्त कर दिया जाए और कोष की सम्पूर्ण राशि लन्दन में रखी जाए। इस कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाए। सोना १ करोड़ ५० लाख पौण्ड के मूल्य का हो तथा इसके पश्चात् जो राशि इस कोष में बढ़े उसका आधा भाग सोने में हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) जब कभी विनिमय-दर गिरने लगे अर्थात् १ शि० ४ पें० से कम होने लगे तो भारत सरकार १ शि ३$\frac{29}{32}$ पें० की दर से इंगलैंड में चुकाए जानेवाले रिवर्स कौंसिल बिल बेचा करे ।

(६) पत्र-मुद्रा चलाने की व्यवस्था उन्नत की जाए और उसे लोचदार बनाया जाए ।

(७) लन्दन-स्थित भारत कार्यालय की राजस्व समिति में कम से कम दो सदस्य भारतीय हों ।

(८) देश की चलन-पद्धति को सुदृढ़ बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में सोना और स्टर्लिंग रखा जाए जिससे विदेशी विनिमय में सुविधा रहे ।

रिपोर्ट पर सरकार की कार्रवाई

२४ फरवरी १९१४ को कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पेश की और अप्रैल १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया । अतः इन सिफारिशों पर पूरा-पूरा विचार न हो सका । फिर भी युद्धारम्भ होने के पश्चात् सरकार ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिससे निम्न प्रतिक्रियाएं हुईं :—

(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का वह भाग जो चांदी के रूप में भारत में रखा जाता था समाप्त हो गया ।

(२) नोटों के बदले में रुपये के सिक्के या सोना दिया जाने लगा ।

(३) विनिमय-दर गिरने से भारत सरकार ने लन्दन में चुकाए जानेवाले रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे ।

सारांश

सन् १८०० से पूर्व देश में कोई संगठित मुद्रा-प्रणाली नहीं थी । देश के भिन्न-भिन्न भागों में सोने-चांदी के प्रकार-प्रकार के सिक्के चलते थे । इससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को लगान वसूल करने में तथा अन्य व्यापारिक लेन-देन में बड़ी कठिनाई होती थी । अतः १८३५ में कानून बनाकर देश भर के लिए रजत-प्रमाप स्थापित कर दिया गया । रजत-प्रमाप में चांदी का सिक्का, जिसमें $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चांदी होती थी, देश का प्रामाणिक सिक्का और प्रमुख मुद्रा बना दिया गया । परन्तु इसके साथ-साथ सोने की मुहरें भी कानूनी मुद्रा थीं जो लेन-देन में काम आती थीं । १८५२ में सोने के सिक्के कानूनी मुद्रा न रहे । इसी समय चांदी की प्रदाय कम होने से चांदी के सिक्कों की कमी पड़ने लगी । अतः मुद्रा-मण्डी में मुद्रा का अभाव अनुभव होने लगा । इस स्थिति का अध्ययन करने के लिए १८६६ में 'मेन्सफील्ड कमीशन' बठाया गया । कमीशन ने सिफारिश की—(१) सोने के सिक्के चलाए जाएं, (२) देश में सोने-चांदी तथा कागज तीनों प्रकार की मुद्राएं चलें,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) जनता को सोने के सिक्कों से परिचित कराया जाए। इन सिफारिशों का कोई उल्लेखनीय परिणाम न निकला।

१८७० के पश्चात् चांदी की प्रदाय बढ़ने लगी—नई-नई चांदी की खानें मिलीं। चांदी का आयात बढ़ा, योरप के देशों ने चांदी का बहिष्कार कर दिया जिससे वह भारत में आने लगी तथा अमरीका ने चांदी खरीदना बन्द कर दिया। इन सब कारणों से चांदी के भाव बुरी तरह गिरने लगे जिससे विनिमय-दर भी गिरने लगी। विनिमय-दर गिरने से भारत-सरकार को, व्यापार एवं उद्योग को, भारत में काम करनेवाले विदेशी अफसरों को, विदेशी कम्पनियों को कठिनाई होने लगी। विदेशी पूंजी पर आघात होने लगा। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए व देश की स्थिति का अध्ययन करने और सिफारिश देने के लिए १८९२ में हर्शल कमेटी नियुक्त की गई। हर्शल कमेटी ने रजत-प्रमाप को तोड़ने की सिफारिश की। फलस्वरूप १८९३ के टंकन-विधान के अनुसार देश में रजत-प्रमाप तोड़ दिया गया।

रजत-प्रमाप टूटते ही देश की मुद्रा-मण्डी में मुद्राओं का अभाव होने लगा जिससे व्यापारियों को असुविधा होने लगी। इस स्थिति पर विचार करने तथा सरकार को सुझाव देने के लिए १८९८ में फाउलर कमेटी नियुक्त की गई। कमेटी के सामने सरकारी और गैर-सरकारी कई प्रस्ताव आए पर उन्होंने एक न माना। कमेटी ने सिफारिश की—(१) देश में सोने के सिक्के चलाए जाएं और उनका स्वतंत्र टंकन हो। (२) चांदी का सिक्का भी कानूनी मुद्रा रहे। (३) विनिमय-दर १ शि० ४ पें निश्चित की जाए। सोने के बदले में रुपये दिए जाएं पर रुपयों को सोने में बदलने के लिए सरकार बाध्य न हो। इस प्रकार कमेटी ने देश के लिए पंगु-स्वर्ण-प्रमाप की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफारिशों को मानकर १८९९ के टंकन नियम द्वारा विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निश्चित कर दी। सिफारिशों को कार्यान्वित करते करते सरकार १९०८ में अनजाने ही स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पर जा लगी। स्वर्ण-प्रमाप के स्थान पर स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप स्थापित किया गया। १९०८ में स्वर्ण-प्रमाप-कोष को भारत में रखने के विषय में भारत सरकार और भारत मंत्री में गति-अवरोध उत्पन्न हो गया। इस गति-अवरोध को दूर करने के लिए १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन की नियुक्ति की गई। कमीशन ने सिफारिश की—(१) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप ही देश में रक्खा जाए, (२) सोने के सिक्के न चलाए जाएं, (३) स्वर्ण-प्रमाप-कोष की कोई सीमा निर्धारित न की जाएं, (४) पत्र-मुद्रा-व्यवस्था उन्नत बनाई जाएं, (५) विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए सरकार रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचा करे। इन सिफारिशों पर सरकार विचार कर ही रही थी कि प्रथम युद्ध आरम्भ हो गया। अतः इन सिफारिशों पर कोई कार्यवाही न की जा सकी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) १८३५ के करेंसी एक्ट पर एक टिप्पणी लिखिए।

(२) १८९३ में रुपये का स्वतंत्र टंकन क्यों बन्द कर दिया गया ? स्वतंत्र टंकन बन्द करने का क्या परिणाम निकला ?

(३) किन परिस्थितियों के कारण हर्शल कमेटी की नियुक्ति की गई थी ? कमेटी ने देश की मुद्रा-प्रणाली में फेर-बदल करने के क्या क्या सुझाव दिए ? उन परिवर्तनों का क्या परिणाम निकला ?

(४) १८९३-१९१४ तक की भारतीय मौद्रिक प्रणाली का सावधानीपूर्वक वर्णन कीजिए।

(५) प्रथम महायुद्ध से पूर्व भारत में जो स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप था उसकी व्याख्या करते हुए मुख्य-मुख्य बातों का संकेत कीजिए।

(६) प्रथम महायुद्ध से पूर्व भारतीय मुद्रा-प्रणाली में सोने का क्या स्थान रहा ? फाउलर कमेटी ने स्वर्ण-प्रमाप के विषय में क्या-क्या सिफारिशें कीं ?

(७) भारत में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप क्यों और कैसे स्थापित हो गया ? विस्तारपूर्वक समझाकर लिखिए।

(८) चेम्बरलेन कमीशन की नियुक्ति क्यों की गई ? उसने क्या-क्या सिफारिशें कीं ? उनका क्या परिणाम निकला ?

(९) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए—

(१) कौंसिल बिल
(२) १८३५ का करेंसी एक्ट
(३) लिंड्से की योजना
(४) स्वर्ण-प्रमाप-कोष।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २१

भारतीय मुद्रा एवं विनिमय का इतिहास

(१९१४–१९२५)

प्रथम युद्धकाल––चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिशों पर सरकार कोई निश्चित कार्यवाही कर भी न पाई थी कि युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध आरम्भ होते ही देश के व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भगदड़ मच गई। व्यापार को धक्का लगा, व्यापारिक शिथिलता आई, विनिमय-दर में दुर्बलता आने लगी तथा जनता बैंकों में से अपनी-अपनी जमा-राशि निकालने लगी। लोग नोटों को बदलवाकर सोना चाहने लगे। बैंकों और सरकार के प्रति जनता का विश्वास डिगने लगा। डाकखानों में से लोग अपना-अपना रुपया निकालने लगे। पहिले दो महीनों में लगभग ७ करोड़ रुपया बैंकों में से निकाला गया तथा पहिले १० महीनों में लगभग १० करोड़ रुपये के नोटों का परिवर्तन हुआ। सरकार को इस स्थिति से कुछ घबराहट होने लगी। विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए सरकार ने लन्दन में चुकाए जानेवाले 'स्टर्लिंग-ड्राफ्ट' अर्थात् 'रिवर्स-कौंसिल-बिल' बेचे। अगस्त १९१४ से जनवरी १९१५ तक ८७ लाख पौण्ड के रिवर्स-कौंसिल-बिल सरकार ने बेचे। बैंकों और डाकखानों ने भी जनता की रुपये की मांग को बराबर पूरा किया। युद्ध आरम्भ होने के एक वर्ष में ही लगभग ८ करोड़ रुपये डाकखानों से निकाले गए। पर सरकार भी बराबर रुपये देती रही। अन्त में सरकार के प्रति जनता का विश्वास लौटने लगा और राशि निकालने की जगह अब लोग जमा करने लगे। सरकार ने नोटों के बदले में सोना भी दिया। १ अगस्त १९१४ से ४ अगस्त १९१४ तक १८ लाख पौण्ड के मूल्य के सोने की हानि हुई। पर जब सोने की मात्रा कम होती गई तो सरकार ने आगे चलकर सोना देना बन्द कर दिया और चांदी के रुपये देना आरम्भ किया। विनिमय-दर भी उठने लगी। इस प्रकार सरकार ने युद्धकालीन विषम परिस्थिति का बुद्धिमानी से सामना किया पर १९१६ के पश्चात् स्थिति कुछ बदल गई।

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का अन्त

१९१६ के अन्तिम महीनों में तथा उसके बाद भी देश के मौद्रिक क्षेत्र में बड़ी भयंकर परिस्थितियां आईं। सबसे पहिली बात तो यह हुई कि देश का स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया। यह इस प्रकार हुआ :––भारत का व्यापार-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संतुलन बहुत बड़ी मात्रा में भारत के पक्ष में हो गया। निर्यात इसलिए बढ़ा कि विदेशों में युद्ध के कारण भारत के कच्चे माल तथा अन्न की मांग बढ़ने लगी। बाहर के देश युद्ध में लगे रहने के कारण कच्चा माल पैदा नहीं कर पाते थे इसलिए वे भारत से माल मंगाने लगे। दूसरे, भारत विदेशों से अब उतना आयात नहीं कर पाता था जितना पहिले करता आया था क्योंकि विदेशों में युद्ध के कारण माल बनना बन्द हो गया था। माल लाने के लिए उस समय जहाज भी नहीं मिलते थे। यदि जहाज मिल भी पाते थे तो युद्ध के कारण समुद्री मार्ग खुले हुए नहीं थे। अतः व्यापार-संतुलन भारत के पक्ष में रहने के कारण विदेशों में भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ती गई। भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ने के कुछ और भी कारण थे। सरकार को मध्य-पूर्व में लड़नेवाली अंग्रेजी और भारतीय सेनाओं का खर्चा देना पड़ता था। पांच वर्ष में भारत सरकार ने १४ करोड़ पौण्ड इन सेनाओं पर खर्च किया। इससे भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त सरकार को भारत के बाजारों से इंगलैंड की सरकार के लिए माल खरीदना पड़ता था। इस माल का भुगतान इंगलैण्ड की सरकार भारत सरकार को उस समय नहीं करती थी पर भारत सरकार को उसका भुगतान भारतीय व्यापारियों को उसी समय करना पड़ता था। इससे सरकार की भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ने लगी।

विदेशों से सोना-चांदी आना भी बन्द हो गया। अब तक भारत विदेशों को निर्यात करके बदले में सोना-चांदी ले लेता था। परन्तु युद्धकाल में सोना-चांदी मिलना भी कठिन हो गया। विदेशी सरकारों ने अपने-अपने देशों में सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। फिर, चांदी का उत्पादन भी कम हो गया था। चीन जो अब तक चांदी बेचता था, चांदी खरीदने लगा। इससे चांदी की मांग और भी बढ़ गई। मैक्सिको में जहां सबसे अधिक चांदी निकलती थी, गृह-युद्ध के कारण चांदी निकालने का काम बन्द हो गया था। चांदी का अभाव होने से चांदी के भाव बढ़ने लगे। चांदी के भाव बढ़ने से सरकार को रुपयों के टंकन पर अब कोई लाभ न रहा। अतः सरकार को १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर स्थिर रखना दूभर हो गया। विनिमय-दर दिन-प्रति-दिन ऊंची चढ़ने लगी। रुपये की कीमत बाजार में १ शि० ४ पें० से अधिक हो गई। चांदी के भावों में तथा विनिमय-दर में बढ़ोत्तरी इस प्रकार हुई:—

वर्ष	चांदी का भाव	विनिमय-दर
१९१५	२८ पें० प्रति औंस	१ शि० ४ पें० प्रति रुपया
१९१६	३७ पें० प्रति औंस	१ शि० ४ पें० प्रति रुपया
१९१७	५५ पें० प्रति औंस	१ शि० ५ प० प्रति रुपया
१९१८	५८ पें० प्रति औंस	२ शि० १ प० प्रति रुपया
१९१९	७८ पें० प्रति औंस	२ शि० १० पें० प्रति रुपया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परिणाम यह हुआ कि सरकार १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर को स्थायी न रख सकी और रुपये की विनिमय-दर बढ़ानी पड़ी। १ शि० ४ पें० की दर से अब तक लन्दन में जो कौंसिल-बिल बेचे जाते थे अब उनका इस दर पर बेचना बन्द कर दिया गया। अतः स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया। देश की वह मुद्रा-प्रणाली जो युद्ध से पहिले चलती रही थी, समाप्त हो गई। स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के टूट जाने पर इंगलैंड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने कहा था कि "भारत की वह अद्भुत मौद्रिक व्यवस्था, जो बड़े अनुभवों के पश्चात् स्थापित हुई थी, पानी के बबूले की भांति अचानक ही बैठ गई।"

युद्धकालीन सरकारी प्रयत्न

युद्धकाल की विषम परिस्थितियों में देश की मुद्रा-व्यवस्था को ठीक-ठीक बनाए रखने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किए। प्रयत्नों का ब्यौरा इस प्रकार हैं:—

(१) **चांदी की खरीद**—रुपयों की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने रुपयों के सिक्के बनाने को चांदी खरीदी। प्रतियोगिता से बचने के लिए सरकार ने कानून बनाया कि सरकार को छोड़कर कोई भी व्यक्ति बाहर से चांदी न मंगाए। अप्रैल १९१८ में अमरीका ने 'पिट्मैन एक्ट' पास किया जिसके अन्तर्गत उसन भारत सरकार को २० करोड़ औंस चांदी बेची।

(२) **सिक्कों के गलाने पर रोक**—चांदी तथा सोने के सिक्कों को निर्यात से रोकने के लिए ३ सितम्बर १९१७ को कानून बनाया गया कि सोना-चांदी या सिक्कों को बिना लाइसेन्स लिए निर्यात न किया जाए। २० जून १९१७ से सोने-चांदी के सिक्कों को गलाना गैरकानूनी कर दिया गया ताकि लोग सोना-चांदी इकट्ठा न कर सकें।

(३) **चांदी की मितव्ययिता**—चांदी की मितव्ययिता की दृष्टि से एक रुपये और ढाई रुपये के नोट चलाए गए। १ अप्रैल १९१८ से दो आने, चार आने, आठ आने के गिलट के सिक्के भी चलाए गए।

(४) **सोने का प्रयोग**—मुद्रा की कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने सोने के सावरेन चलाए। जनता को भी सोना बेचा गया। ४० लाख पौण्ड के मूल्य का सोना सरकार ने बेचा और १ करोड़ दस लाख पौण्ड के मूल्य के सोने के सिक्के चलाए। इस काम के लिए सरकार कोष में सोने की मात्रा बढ़ाती रही। २९ जून, १९१७ को आर्डिनेंस निकाला गया कि जो कोई भी बाहर से सोना मंगाए वह उस सोने को सरकार को बेच दे। १५ रुपये के मूल्य के सोने के नए सिक्के भी चलाए गए।

(५) **नए नोटों का चलन**—नए-नए नोट छापकर चलाए गए और उनके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बदले में रुपये देने की व्यवस्था भी रखी गई जिससे जनता को नोट स्वीकार करने में विश्वास बना रहे और नोट बे रोक-टोक चलते रहें। परन्तु रुपयों के सिक्कों की कमी होने के कारण सरकार ने नोटों के बदले रुपये देना बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नोटों पर बट्टा लगने लगा पर सरकार यदा-कदा नोटों को बदलकर रुपये देती रही। नोटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ती गई। ३१ मार्च, १९१४ को ६६ लाख रुपये के नोट चलते थे जो ३१ मार्च, १९१९ को १५४ लाख रुपये के तथा ३० नवम्बर, १९१९ को १८० लाख रुपये के हो गए।

(६) विनिमय-दर का बढ़ना—चांदी के भाव बढ़ने के कारण १ शि० ४ पें० दर स्थिर रखना असम्भव हो गया। अतः सरकार ने अगस्त १९१५ में दर १ शि० ५ पें० कर दी। परन्तु इससे भी काम न चला। अन्त में भारत मंत्री ने घोषणा कर दी कि रुपये की विनिमय-दर चांदी के स्टर्लिंग मूल्य पर आधारित कर दी जाए। अतः जैसे-जैसे चांदी का भाव बढ़ता गया विनिमय-दर भी बढ़ती गई। जनवरी १९१७ में दर १ शि० ४$\frac{१}{२}$ पें० थी जो मई १९१९ में १ शि० ८ पें०, दिसम्बर १९१९ में २ शि० ४ पें० तथा १९२० में २ शि० ११ पें० हो गई।

(७) विनिमय-नियन्त्रण—रुपये की विनिमय-दर में अधिक उतार-चढ़ाव होने के कारण सरकार ने विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण लगा दिया। इंगलैण्ड में बेचे जानेवाले कौंसिल-बिलों की मात्रा सीमित कर दी गई। इसी प्रकार भारत में बेचे जानेवाले रिवर्स-कौंसिल-बिलों की सीमा कम कर दी गई। अब ये बिल केवल सरकार द्वारा अधिकृत बैंकों को ही बेचे जाते थे तथा ऐसे माल के आयात-निर्यात में काम आते थे जो युद्ध के काम में सहायक हो।

(८) अन्य प्रयत्न—सरकार ने अपना व्यय कम-से-कम करने का प्रयत्न किया। युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी आय बढ़ाने को जनता पर नए-नए कर लगाए गए। जनता से सरकार ने ऋण भी लिया।

इस प्रकार भारत सरकार ने युद्धकालीन संकट का सामना किया। भारत सरकार को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सोने-चांदी के भाव ऊंचे हो गए थे, मुद्रा-स्फीति थी, वस्तुओं के भाव चढ़ रहे थे, व्यापार छिन्न-भिन्न होने लगा था तथा सरकार के सामने मौद्रिक अभाव था। हमारी मुद्रा-पद्धति लगभग विचलित हो चुकी थी। पर सौभाग्यवश १९१८ में युद्ध-समाप्ति की घोषणा हो गई। युद्ध समाप्त होते ही अमरीका, आस्ट्रेलिया, इंगलैण्ड आदि युद्ध-व्यस्त देशों ने सोने के निर्यात पर से प्रतिबन्ध उठा लिए। फलस्वरूप भारत में सोना आने लगा और हमारा आर्थिक कलेवर टूटते-टूटते बच गया।

युद्धोत्तर काल

बेंबिंग्टन-स्मिथ कमेटी (१९१९-२०)—युद्ध समाप्त होते ही इस बात की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यकता हुई कि विनिमय-दर को स्थायी बनाया जाय। अतः भारत मंत्री ने मई १९१९ में बेविंग्टन-स्मिथ कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी के अध्यक्ष सर हेनरी बेविंग्टन-स्मिथ थे। कमेटी को यह काम सौंपा गया—

(क) भारतीय मुद्रा एवं विनिमय-पद्धति पर युद्ध का प्रभाव आंकना,

(ख) भारतीय नोट-पद्धति को व्यवस्थित करने के सुझाव देना,

(ग) भारतीय व्यापार की आवश्यकतानुसार मौद्रिक व्यवस्था में हेर-फेर करने के सुझाव देना,

(घ) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप को स्थिर बनाने के लिए सरकार को सुझाव देना।

कमेटी ने देश के पिछले इतिहास का अध्ययन करके पता लगाया कि स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप जो अब तक चलता रहा था, देश के हित में अवश्य था परन्तु वह चांदी के भावों की स्थिरता पर अवलम्बित था। यही कारण था कि युद्ध-काल में चांदी के भाव बढ़ने पर विनिमय-दर १ शि० ४ पें० पर स्थायी न रही और स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति को तोड़ना पड़ा। कमेटी का विचार था कि देश में ऐसी व्यवस्था की जाए जिससे रुपये की विनिमय-दर स्थायी बनी रहे। विनिमय-दर के स्थायी रहने पर देश के उत्पादन, व्यापार और उद्योग की उन्नति निर्भर होती है। विनिमय-दर को स्थायी बनाने के लिए कमेटी के सामने कई प्रस्ताव आए। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे :—

(१) रुपये को तौल में कम कर दिया जाय या उसकी चांदी को निकाल कर उसके स्थान पर निम्न-कोटि की धातु मिला दी जाए, जिससे रुपये की पुरानी विनिमय-दर अर्थात् १ शि० ४ पें० स्थायी बनी रहे और चांदी का भाव बढ़ने से रुपये पर कोई प्रभाव न पड़े। कमेटी के सदस्यों ने इस प्रस्ताव को नहीं माना क्योंकि रुपये को तौल में कम करने से या उसको विकृत करने से सरकार के प्रति अविश्वास पैदा हो जाने का भय था। दूसरे, यह भी डर था कि इस प्रकार देश में दो प्रकार के रुपये हो जाएंगे जिससे लेन-देन में कठिनाई होगी और ग्रेशम का नियम लागू हो जाएगा।

(२) रुपये के सिक्कों का टंकन कुछ समय के लिए बन्द कर दिया जाए तथा दो और तीन रुपये के चांदी के ऐसे नए सिक्के चलाए जाएं जिनमें क्रमशः दो और तीन रुपये की चांदी के अनुपात में कम चांदी हो। कमेटी ने इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमें भी वही दोष थे जो पहले प्रस्ताव में थे। दूसरे, दो या तीन रुपये के चांदी के सिक्कों से छोटे-मोटे लेन-देन के लिए काम आनेवाले छोटे-छोटे सिक्कों की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती थी।

(३) जब तक चांदी का भाव ऊंचा रहे तब तक कागज के ऐसे नोट चलाए जाएं, जिनको चांदी के रुपये में न बदला जाए। कमेटी को यह प्रस्ताव भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न भाया क्योंकि इस प्रकार सरकार के प्रति जनता का अविश्वास पैदा होने का भय था। दूसरे, जनता नोटों से इतनी परिचित न थी कि वह नोटों का इतनी सरलता से लेन-देन कर पाती।

बेंबिंग्टन-स्मिथ कमेटी की सिफारिशें

कमेटी ने उक्त प्रस्तावों में से किसी को भी न माना। कमेटी के सदस्यों का मत था कि देशी और विदेशी व्यापार की उन्नति के लिए, देश की पूंजी को गतिशील बनाने के लिए तथा विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए विनिमय-दर का स्थिर रखना आवश्यक है। अतः उन्होंने विनिमय-दर की स्थिरता पर अधिक जोर दिया। फरवरी १९२० में कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें निम्न-लिखित सिफारिशें की गईं :—

(१) रुपये की तौल या उसमें लगी हुई चांदी की मात्रा में कोई कमी-बेशी न की जाए। जैसा रुपया अब तक चला आया है वैसा ही चलता रहे।

(२) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग में व्यक्त न करके सोने में व्यक्त की जाए। रुपये और सावरेन में १०:१ का अनुपात हो अर्थात् १ रुपया २ शि० (स्वर्ण) के बराबर हो। एक रुपया ११.३०००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो।

(३) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। जनता से सोना लेकर उसके सावरेन बनाने के लिए बम्बई में एक टकसाल खोल दी जाए।

(४) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश के अन्दर कानूनी मुद्रा बना दिए जाएं। सावरेन १० रुपये के बराबर हो और अर्द्ध-सावरेन ५ रुपये के बराबर हो।

(५) चांदी का आयात करने की जनता को छूट दे दी जाए पर चांदी का निर्यात करने की छूट न दी जाए। कमेटी को भय था कि चांदी का निर्यात करने से देश में चांदी की कमी हो जाएगी।

(६) सावरेन के बदले में रुपये के सिक्के देने के लिए सरकार का कोई दायित्व न हो, पर नई विनिमय-दर लागू करने पर जनता को अवसर दिया जाए कि वह सरकारी खजानों से सावरेन के बदले में रुपये ला सके।

(७) रुपये बनाने से सरकार को जो लाभ हो उसे स्वर्ण-प्रमाप-कोष में जमा कर दिया जाए। इस कोष का अधिकांश भाग सोने में हों और आधे से अधिक सोना भारत में रक्खा जाए। इस कोष में सोने के अतिरिक्त जो भाग शेष रहे उसे इंगलैण्ड में १२ महीने की अवधि वाले स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों में लगा दिया जाए।

(८) पत्र-मुद्रा कोष का सोना-चांदी भारत में ही रखा जाए।

(९) देश की नोट-व्यवस्था को अधिक लचकदार बनाने के लिए आनुपातिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कोष-प्रणाली अपनाई जाए तथा कुल नोटों का ६० प्रतिशत से अधिक भाग सिक्यूरिटियों के बल पर न चलाया जाए ।

(१०) आवश्यकता पड़ने पर भारत सरकार द्वारा चुकाए जानेवाले कौंसिल-बिल लन्दन में बेचे जाएं। भारत सरकार भी यदि आवश्यक समझे तो लन्दन में चुकाए जानेवाले रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे ।

(११) ९० दिन की अवधिवाले निर्यात-बिलों के बल पर ५ करोड़ रुपये तक के नोट चलाने का अधिकार प्रेसिडेन्सी बैंकों को दे दिया जाए।

(१२) साख-पत्रों के बल पर जो १२० करोड़ रुपये के नोट निकले हुए हैं वे केवल निश्चित अवधि के लिए होने चाहिए ।

(१३) भारत सरकार की सिक्यूरिटियां १० करोड़ रुपये से अधिक की न हों।

(१४) भारतीय मुद्रा-पद्धति की कार्यशैली स्वयंपूर्ण बनाई जाए ।

कमेटी की उक्त सिफारिशों में हमें दो उल्लेखनीय बातें मिलती हैं :—

(अ) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग में व्यक्त न करके सोने में व्यक्त करने की सिफारिश की गई ।

(आ) विनिमय-दर २ शि० (स्वर्ण) रखने की सिफारिश की गई जो बहुत ऊंची थी ।

विनिमय-दर स्वर्ण में रखने के कारण

कमेटी ने रुपये की विनिमय-दर सोने में व्यक्त करने के कई कारण बताए जो यहां दिए जाते हैं :—

(१) प्रथम महायुद्ध से पहिले इंगलैण्ड में सोने के सिक्के चलते थे तथा स्टर्लिंग और बैंक-नोटों को स्वतंत्रतापूर्वक इन सिक्कों में बदलवाया जा सकता था । परन्तु युद्धकाल में सोने के सिक्के चलना बन्द हो गया और स्टर्लिंग में (जो कागज की मुद्रा थी) सोने के अनुपात से लगभग २२ प्रतिशत का बट्टा (Discount) लगने लगा । इतना ही नहीं, युद्ध के पश्चात् भी सोने के अनुपात से स्टर्लिंग के मूल्य में घटा-बढ़ी होती रही जिससे स्टर्लिंग की दर अस्थिर (Instable) रहती थी। ऐसी अवस्था में रुपये को अस्थिर स्टर्लिंग (Instable Sterling) से बांधना बुद्धिमानी न थी क्योंकि जैसे-जैसे स्टर्लिंग में उतार-चढ़ाव होते तैसे-ही-तैसे रुपये में भी घटा-बढ़ी होती और रुपये की दर स्थिर बनने के बदले उलटी अस्थिर बन जाती। इसलिए रुपये की विनिमय-दर 'स्वर्ण' में स्थापित करने की सिफारिश की गई जिससे रुपये की दर स्थायी बन सके ।

(२) कमेटी ने अपनी सिफारिशों में सोने और चांदी दोनों प्रकार के सिक्कों को कानूनी मुद्रा (Legal Tender) बनाने की सलाह दी थी। इसलिए सोने और चांदी के रुपये के बीच विनिमय-दर स्थापित करना अनिवार्य था । अगर रुपये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और स्टर्लिंग में विनिमय-दर रक्खी जाती और स्टर्लिंग में उतार-चढ़ाव होने के कारण रुपया भी घटता बढ़ता तो रुपये और सोने के सिक्कों का साथ-साथ देश में चलना सम्भव नहीं हो सकता था। अतः रुपये और सोने के बीच विनिमय-दर रक्खी गई जिससे दोनों प्रकार के सिक्के निश्चित विनिमय-दर पर कानूनी मुद्रा बनकर देश में चलते रहें।

(३) कमेटी ने सिफारिश की थी कि सोने और सोने के सिक्कों का स्वतन्त्र आयात-निर्यात हो तथा सोने के सिक्कों का स्वतंत्र टंकन (Free Coinage) भी हो। ये दोनों बातें तभी सम्भव हो सकती थीं जब कि विनिमय-दर चांदी के रुपये और सोने के बीच में रक्खी जाती। अतः कमेटी ने रुपये की दर सोने में स्थापित की।

(४) कमेटी का कहना था कि अगर रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग में रक्खी जाती तो वह दर सोने में रक्खी जानेवाली इस दर से कहीं ऊंची रखनी पड़ती क्योंकि स्टर्लिंग का मूल्य सोने में कम था। इससे इस समय तो कोई हानि न होती परन्तु जब कभी स्टर्लिंग की दर बढ़कर सोने के बराबर हो जाती तो रुपये की दर ऊंची ही बनी रहती। इसलिए तब उसे नीचा लाने में उसकी दर बहुत घटानी पड़ती और इस प्रकार दर में भारी कमी करने से उस समय व्यापार को बड़ी हानि होती। अतः पहिले से ही सोच-विचारकर दर स्वर्ण में स्थापित की गई।

विनिमय-दर ऊंची रखने के कारण

कमेटी ने ऊंची विनिमय-दर रखने के जो कारण बताए वे इस प्रकार हैं:—

(१) ऊंची विनिमय-दर से वस्तुओं के भाव नीचे रहेंगे जिससे सामान्य जनता को लाभ रहेगा। यदि विनिमय-दर नीची रक्खी जाए तो वस्तुओं के भाव ऊंचे होते जिससे मध्यमवर्ग तथा स्थायी आय वाले लोगों को असन्तोष रहता।

(२) ऊंची विनिमय-दर से भारत के आयात बढ़ेंगे। बाहर से देश में सस्ती मशीनें आ सकेंगी जिससे सम्पत्ति उत्पादन-व्यय कम होगा और वस्तुओं के भाव सस्ते हो जाएंगे। इससे रहन-सहन का व्यय भी कम हो जाएगा।

(३) कमेटी ने बतलाया कि ऊंची विनिमय-दर रखने से भारतीय उद्योगों को भी लाभ होगा क्योंकि वस्तुओं के भाव सस्ते होने से मजदूरी की दर गिर जाएगी। दूसरे, बाहर से आनेवाला पूंजीगत माल भी सस्ता मिलेगा जिससे औद्योगिक उन्नति हो सकेगी।

(४) ऊंची विनिमय-दर रखने से सरकार को भी लाभ होगा। अब उसे भारत मन्त्री को दी जानेवाली वार्षिक राशि (Home Charges) में कम रुपये चुकाने पड़ेंगे। जब दर १ शि० ४ पें० थी तो भारत सरकार २,५०,००,०००

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पौण्ड देने में ३७½ करोड़ रुपया चुकाया करती थी। परन्तु अब दर २ शि० (स्वर्ण) होने पर सरकार को १२½ करोड़ रुपये का लाभ होगा ।

कमेटी ने सोचा कि ऊंची दर रखने से भारत मंत्री के पास जमा की हुई स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों और सोने का मूल्य रुपयों में कम हो जाएगा परन्तु उन्होंने समझाया कि उस हानि की पूर्ति वार्षिक राशि की बचत, जो १२½ करोड़ रुपये सालाना होगी, उससे हो जाएगी ।

(५) अन्त में, ऊंची दर रखने का एक और कारण था । कमेटी रुपये को सांकेतिक मुद्रा रखना चाहती थी और रुपया सांकेतिक मुद्रा तभी हो सकता था जबकि उसकी दर ऊंची रखी जाती। अतः इस उद्देश्य के लिए दर २ शि० (स्वर्ण) रक्खी गई। इस विषय में कमेटी ने चांदी के भाव को अपनी दृष्टि में रक्खा। उन्होंने सोचा कि चांदी का भाव अभी कुछ समय तक ऊंचा ही बना रहेगा क्योंकि इसकी मांग सभी जगह बढ़ रही है । इसलिए उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि चांदी की कीमत ६२·९ पेंस (स्वर्ण) प्रति औंस हो तो रुपये का धातु-मूल्य १ शि० ११.३६ पें० होगा और यदि इसमें सिक्का बनाने का व्यय जोड़ दिया जाए तो रुपया २ शि० स्वर्ण के समान हो जाता है। अतः दर २ शि० स्वर्ण निश्चित की गई।

अल्पमत रिपोर्ट

सर दादीबा दलाल का विरोध—सर दादीबा दलाल बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी के अकेले भारतीय सदस्य थे। उन्होंने कमेटी की सिफारिशों से अपना मतभेद रक्खा और अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखी। उन्होंने कहा कि विनिमय-दर ऊंची करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे १ शि० ४ पें० ही रखना चाहिए। कमेटी ने चांदी के ऊंचे भाव का अनुमान लगाकर ऊंची दर की सिफारिश की थी परन्तु श्री दलाल ने कहा कि यह बात वास्तविक और सत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में चांदी के भाव बढ़ने का कारण यह था कि सरकार ने चांदी का निर्यात बन्द करके आयात खोल दिया था। अतः उन्होंने कहा कि चांदी के ऊंचे भाव वास्तविक नहीं हैं। वे बनावटी हैं और इसीलिए २ शि० स्वर्ण-दर भी बनावटी दर है ।

दलाल का मत था कि विनिमय-दर ऊंची रखने से देश को हानि रहेगी क्योंकि इससे हमारा निर्यात कम हो जाएगा और हमारा व्यापार-संतुलन हमारे विपक्ष में हो जाएगा। भारत मंत्री के पास जमा की हुई स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों और सोने के मूल्य भी रुपयों में कम हो जाएंगे जिससे सरकारी कोष को हानि होगी। श्री दलाल ने कहा कि दर ऊंची करने से लेनदार और देनदार के बीच आपत्ति खड़ी हो जाएगी, उद्योगों को भी हानि होगी और निर्यात करनेवाले भी ठप्प हो जाएंगे। ऊंची-दर से भारतीय जनता को भी हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि उनके पास लगभग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

५,००,००,००० सावरेन हैं जो उन्होंने १५ रुपये प्रति सावरेन की दर से लिए होंगे परन्तु अब जिनके बदले में प्रति सावरेन १० रुपये ही मिलेंगे।

श्री दलाल ने आगे चलकर कहा कि यदि सरकार और कमेटी चांदी के भाव ऊंचे होने के कारण परेशान हैं तो चांदी की दर नीचे गिराने के प्रयत्न करने चाहिएं। इसका उपाय यह है कि चांदी के और नए सिक्के न बनाए जाएं तथा भारत सरकार द्वारा चुकाए जानेवाले कौंसिल-बिल असीमित मात्रा में लन्दन में न बेचे जाएं।

भारतीय सदस्य का मत था कि किसी भी प्रकार से रुपये की विनिमय-दर को चांदी के भावों पर आश्रित नहीं रखना चाहिए। यदि इस समय भी सरकार के पास दर ऊंची करने और रुपये में चांदी की मात्रा कम करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है तो श्री दलाल ने कहा कि मेरी राय में पहिले उपाय की अपेक्षा दूसरा उपाय करने में अधिक हानि नहीं है। श्री दलाल रुपये में चांदी की मात्रा कम करने के पक्ष में थे परन्तु विनिमय-दर बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं थे।

रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं

सरकार ने बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी की सब सिफारिशें मान लीं। १९२० में 'भारतीय टंकन एक्ट' पास किया जिसके द्वारा सावरेन और अर्द्ध-सावरेन देश की कानूनी मुद्रा घोषित कर दिए गए। सावरेन १० रुपये और अर्द्ध-सावरेन ५ रुपये के बराबर बना दिए गए। सरकारी कोषों तथा अन्य मुद्रा-कार्यालयों को आदेश दे दिया गया कि वे नई दर अर्थात् १ रुपया=२ शि० (स्वर्ण) के अनुसार रुपये का आदान-प्रदान करें। यद्यपि सरकार ने इस दर को स्वीकार कर लिया परन्तु बाजार में सावरेन का मूल्य दस रुपये से अधिक था। अतः सावरेन सिक्के के रूप में न चल सके और सरकार ने भी बम्बई में सोने के सिक्कों के लिए टकसाल खोलने का विचार छोड़ दिया।

युद्धकाल में सोने-चांदी के आयात-निर्यात पर जो नियन्त्रण लगा दिए गए थे, वे तोड़ दिए गए। फरवरी १९२० में चांदी के आयात पर से रोक हटा दी गई तथा चांदी के आयात पर लगाया गया आयात-कर हटा लिया गया। अब देश के अन्दर सोना-चांदी बे रोक-टोक लाया ले जाया जा सकता था। सोने-चांदी के सिक्कों को गलाने पर जो प्रतिबन्ध लगा हुआ था वह भी हटा लिया गया।

सरकार ने घोषणा कर दी कि लन्दन में भारत मंत्री प्रति सप्ताह असीमित मात्रा में कौंसिल-बिल बेचा करेंगे। इसी प्रकार भारत में रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे जाने लगे। यह भी घोषणा की गई थी कि लाइसेंस लेकर सोना आयात करने वाले लोगों से सरकार १ रुपया=११·३००१६ ग्रेन स्वर्ण की दर से सोना खरीदा करेगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार की असफल नीति एवं उसकी आलोचना

यद्यपि सरकार ने रुपये की विनिमय-दर २ शि० (स्वर्ण) निश्चित कर दी थी पर बाजार में चांदी का भाव फिर भी ऊंचा ही रहा । इन ऊंचे भावों को देखकर सरकार ने इच्छा प्रकट की कि बाजार-दर पर ही रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे जाएंगे। यह घोषणा होते ही रिवर्स-कौंसिल-बिलों की मांग एकदम बढ़ने लगी। २ फरवरी, १९२० को स्टर्लिंग और डॉलर की विनिमय-दर ४·८ डॉलर प्रति पौंड से गिरकर ३·६५ डॉलर हो गई। ऐसा होते ही रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय-दर भी बढ़ गई । यह दर बढ़ते ही लोगों को भय होने लगा। जिन लोगों ने इंगलैण्ड में माल भेजकर बिल ले रखे थे, वे अपने इन बिलों की कटौती कराने लगे। कटौती कराने की मांग इतनी बढ़ी कि रुपये की दर बढ़कर २ शि० ११ पें० तक जा लगी। ११ फरवरी के पश्चात् जब कटौती की धूम कम हुई तो विनिमय-दर का बढ़ना भी बन्द हुआ। २ शि० ११ पें० पर आकर टिकी हुई दर पर स्टर्लिंग की मांग एक साथ बढ़ने लगी। स्टर्लिंग की मांग करनेवाले वे भारतीय व्यापारी थे जो इंगलैण्ड में राशि भेजना चाहते थे । विदेशी व्यापारियों ने जो भारत में व्यापार करते थे अवसर से लाभ उठाकर युद्धकाल में कमाया हुआ लाभ इंगलैण्ड भेजना आरम्भ किया क्योंकि अब वे थोड़ा रुपया देकर अधिक स्टर्लिंग भेज सकते थे। विनिमय-दर ऊंची होने के कारण भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजी माल सस्ता पड़ रहा था। इसलिए इस आशा पर कि आगे भी यह दर बनी रहेगी, उन्होंने इंगलैण्ड में बड़ी मात्रा में माल खरीने के आर्डर दे दिए और इन आर्डरों का धन भी एडवान्स में भेजना आरम्भ कर दिया। इससे स्टर्लिंग की मांग बढ़ गई। कुछ ऐसे सटोरिये भी थे जो इस आशा पर स्टर्लिंग खरीदने लगे कि भविष्य में दर गिरने पर लाभ उठा सकेंगे। इन कारणों से 'रिवर्स-कौंसिल-बिलों' की मांग इतनी अधिक बढ़ गई और उनमें इतना अधिक सट्टा होने लगा कि सरकारी दर और बाजार-दर में काफी अन्तर हो गया । बाजार-दर कुछ नीची रही और सरकारी दर ऊंची ।

इसी समय व्यापार-संतुलन भारत के विपक्ष में हो गया। इसका भुगतान चुकाने के लिए भी रिवर्स-कौंसिल-बिलों की मांग बढ़ती गई। वैसे तो जनवरी १९२० से लेकर जून १९२० तक धीरे-धीरे आयात बढ़ता रहा था और निर्यात कम होता रहा था पर जून के अंत तक कोई ३ लाख रुपये से व्यापार-संतुलन विपक्ष में हो गया। इसके कई कारण थे। एक, उन देशों में जो भारत से माल आयात करते थे पहले से ही काफी मात्रा में माल मौजूद था इसलिए उन देशों में भारत का माल जाना बन्द हो गया। दूसरे, योरप के कुछ देशों के पास भारत से माल खरीदने के लिए साधन भी नहीं थे। तीसरे, १९२० में वर्षा न होने के कारण भारत की फसलें अच्छी नहीं हुई थीं जिससे अधिक मात्रा में माल निर्यात न किया जा सका। चौथे, विनिमय-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दर ऊंची होने से आयात को प्रोत्साहन मिला और निर्यात गिरते गए। पांचवें, जापान में आर्थिक संकट होने के कारण जापानी व्यापारियों ने भारत से रूई खरीदना बन्द कर दिया जिससे जापान में माल बनाना भी बन्द हो गया। इस प्रकार लगभग सारे वर्ष व्यापार-संतुलन विपक्ष में ही बना रहा जिससे विनिमय-दर गिरने लगी। १ जून, १९२० को दर २ शि० १$\frac{1}{16}$ पें० थी जो ३० जून तक १ शि० ८$\frac{3}{16}$ पें० हो गई और घटते-बढ़ते इसी के आसपास घूमती रही। गिरती विनिमय-दर को रोकने के लिए सरकार ने कई प्रयत्न किए जो इस प्रकार हैं:—

(अ) सरकार ने प्रति सप्ताह २० लाख पौण्ड के रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे और किसी-किसी सप्ताह में तो ५० लाख पौण्ड तक के बिल बेचे गए। पर इससे कुछ न हुआ। विनिमय-दर सटोरियों के हाथ की कठपुतली बन चुकी थी और वे उसे जैसा चाहते वैसा नचा सकते थे।

(आ) सरकार ने भारी-भारी मात्रा में सोना भी बेचा ताकि चांदी की तुलना में सोने का भाव गिर जाए परन्तु इससे कुछ न हुआ।

(इ) विनिमिय-दर को उठाने के लिए मुद्रा-संकुचन भी किया गया। जनवरी से सितम्बर तक २५ करोड़ रुपये के नोट रद्द किए गए।

इन सब प्रयत्नों का कोई वांछित परिणाम न निकला। अतः सितम्बर के अन्त में सरकार ने रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचना बन्द कर दिया। विनिमय-दर को मांग और पूर्ति की कृपा पर छोड़ दिया गया। जैसे ही सरकार ने इसे ढीला छोड़ा दर दिसम्बर १९२० में १ शि० ५ पें० पर आ गिरी। सरकार ने २ शि० (स्वर्ण) विनिमय-दर को माना तो था पर उसे निभा न सकी। अनेक प्रयत्न किए पर सफलता न मिली। सरकार के असफल प्रयत्नों का सरकारी कोष एवं देश के व्यापार और उद्योग पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार ने जो रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचे थे उनका भुगतान लन्दन में जमा स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों में से किया गया था। ये सिक्यूरिटियां उस समय ली गईं थीं जब दर १५ रु० = १ पौंड थी। अब इन्हीं सिक्यूरिटियों को दस रुपये प्रति पौंड की दर से बेचा गया। इससे भारतीय कोष को ४५ करोड़ रुपये की हानि हुई। व्यापारी वर्ग का सरकार पर से विश्वास हिल गया। बाहर माल भेजनेवाले व्यापारियों के पास माल था पर कोई ख़रीदार न था। इसी प्रकार भारतीय आयातकों ने विदेशों से माल मंगाने के बड़े-बड़े ऑर्डर भेज रखे थे। उन्हें आशा थी कि विनिमय-दर ऊंची ही बनी रहेगी पर जब उनका माल भारत के बन्दरगाहों पर आकर लगा तो विनिमय-दर १ शि० ४ पें० तक जा गिरी। अतः उन्हें उसी माल के बदले में आशा से बहुत अधिक रुपये चुकाने पड़े और माल भी सस्ते-मन्दे दामों पर बेचना पड़ा। सैंकड़ों व्यापारी दिवालिया हो गए। इस दुर्घटना पर सर स्टैनले रीड ने लिखा है—"उस नीति के कारण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो सरकार ने विनिमय-दर स्थिर करने के लिए अपनाई थी, विनिमय-दर में अनेक भयंकर उतार-चढ़ाव हुए जिससे व्यापार अस्त-व्यस्त हुआ, सरकार को भारी नुकसान हुआ और सैकड़ों बड़े-बड़े व्यापारी दिवालिया बन गए।" ये सब हानियां भारत मंत्री की प्रेरणा और दवाव के कारण हुईं। सरकार स्वयं भी नहीं जानती थी कि वह २ शि० (स्वर्ण) दर को स्थायी बना सकेगी या नहीं। यद्यपि दादीवा दलाल ने अपनी अल्पमत रिपोर्ट में इसका विरोध किया था पर कमेटी के अन्य सदस्यों ने एक न मानी। वास्तव में कमेटी ने रिपोर्ट लिखते समय देश की परिस्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया था। उन्होंने दर की सिफारिश करते समय चांदी के भावों को अपने सामने रक्खा था। पर वास्तविकता कुछ और थी। रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के बढ़ने का कारण यह था कि रुपये के मूल्य अन्य देशों के मूल्य-स्तर की अपेक्षा अधिक बढ़े हुए थे परन्तु कमेटी इस बात से सहमत न थी। यह सब कुछ तो हुआ पर सरकार ने आगे चलकर भी स्थिति न संभाली। जब सरकार ने देख लिया था कि २ शि० (स्वर्ण) दर स्थायी नहीं बनाई जा सकेगी तब भी रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचती ही रही जिससे भारतीय कोष की हानि बढ़ती ही गई। यदि सरकार चाहती तो रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचना तभी बन्द कर सकती थी। परन्तु सरकार ने इस ओर न सोचा और व्यापारी वर्ग को हानि उठानी पड़ी।

सरकार की उदासीनता
(१९२१-२५)

१९२० में विनिमय-दर को स्थायी बनाने में असफल होकर सरकार उदासीन होकर बैठ गई और विनिमय-दर को मांग और पूर्ति के सहारे छोड़ दिया। १९२१ में व्यापार-संतुलन भारत के विपक्ष में ही रहा परन्तु १९२२ में निर्यात बढ़ने लगे। इस वर्ष वर्षा अच्छी हुई और माल खूब पैदा हुआ। दूसरे, योरप के देशों के पास साधन भी जुट गए और वे माल खरीदने लगे। १९२१ में व्यापाराधिक्य २१ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था जो १९२२ में ९० करोड़ से, १९२४ में १५० करोड़ से, और १९२५ में १५५ करोड़ रुपये से भारत के पक्ष में हो गया। दिसम्बर १९२१ में विनिमय-दर १ शि० ३$\frac{3}{2}$ पें० (स्टर्लिंग) थी। इस दर को ऊंचा करने के लिए सरकार ने मुद्रा-संकुचन किया पर सफलता न मिली। सरकार ने बजट सन्तुलित करने के लिए नए-नए कर लगाए तथा छटनी का काम आरम्भ किया। भारत-मंत्री ने लन्दन में कौंसिल-बिल बेचना बन्द कर दिया ताकि उनका भुगतान चुकाने के लिए रुपया न देना पड़े और दर न गिर जाए। भारत मंत्री इंगलैंड की सरकार से ऋण लेकर अब अपना काम चलाने लगे। देश में मुद्रा-संकोच भी किया गया। इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप दर १९२३ में १ शि० ४ पें० हो गई। सरकार से मांग की जाने लगी कि वह इसी दर को मान्यता दे दे, पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार ने ऐसा न किया। १९२४ में दर १ शि० ६ पें० (स्टर्लिंग) हो गई। अप्रैल १९२५ में स्टर्लिंग और सोने का मूल्य बराबर हो गया। सरकार से मांग की जाने लगी कि वह १ शि० ६ पें० की दर को अवश्य स्थायी कर ले। सरकार ने इस विवाद को निपटाने के लिए १९२५ में एक कमीशन नियुक्त कर दिया।

सारांश

युद्ध आरम्भ होते ही देश के व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में भगदड़ मच गई। व्यापार को धक्का लगा, विनिमय-दर में दुर्बलता आने लगी तथा जनता बैंकों में से जमा-राशि निकालने लगी। नोटों के बदले में लोग सोना चाहने लगे। प्रथम दो महीनों में ही बैंकों में से लगभग ७ करोड़ रुपया निकाला गया। सरकार को इस स्थिति से कुछ दुश्चिन्ता हुई। विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए सरकार ने स्टर्लिंग-ड्राफ्ट बेचे और जनवरी १९१४ से अगस्त १९१५ तक ८७ लाख पौण्ड के ड्राफ्ट बेचे गए। शनैः शनैः सरकार के प्रति जनता का विश्वास लौटने लगा और लोग वापस बैंकों में रुपया जमा करने लगे। दर भी चढ़ने लगी और सामान्य स्थिति संभलने लगी। १९१६ के अन्तिम महीनों में तथा उसके बाद परिस्थिति फिर भयंकर होने लगी। भारत का व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष में रहा—माल धड़ाधड़ निर्यात होने लगा पर विदेशों से पैसा उसी समय नहीं मिल पाता था। इससे सरकार की भारतीय मुद्रा की मांग बढ़ने लगी। विदेशों से सोना-चांदी आना बन्द हो गया। चांदी का अभाव होने से चांदी के भाव बढ़ने लगे और चांदी के भाव बढ़ने से सरकार को रुपयों के टंकन पर कोई लाभ नहीं रहा। अतः सरकार को १ शि० ४ पें० स्थिर रखना दूभर हो गया। चांदी के भाव बढ़ने लगे और साथ-साथ दर भी चढ़ने लगी। १९१९ में दर २ शि० १० पें० हो गई। परिणामतः स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया।

सरकार ने युद्धकालीन विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए निम्न उपाय किए—(१) चांदी की खरीद की, (२) सिक्कों के गलाने पर प्रतिबन्ध लगा दिए, (३) चांदी की मितव्ययिता करने के लिए १ और २½ रुपये के नोट चलाए, (४) सोने का प्रयोग आरम्भ किया, (५) नए नोटों का चलन बढ़ाया, (६) विनिमय-नियंत्रण किया, (७) सरकारी खर्च कम करने की चेष्टा की। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत की स्थिति संभली और हमारा आर्थिक कलेवर टूटते-टूटते बच गया।

युद्ध समाप्त होने पर देश की मौद्रिक स्थिति का अध्ययन करने तथा सरकार को सुझाव देने के लिए १९१९ में सरकार ने बेंबिंग्टन-स्मिथ कमेटी नियुक्त की। कमेटी के सामने कई प्रस्ताव आए। इन सब प्रस्तावों का अध्ययन करके कमेटी ने ये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सिफारिशें कीं—(१) रुपये के सिक्के की तौल में कोई कमी न की जाए, (२) रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग में व्यक्त न करके सोने में व्यक्त की जाए—दर १ रु० = २ शि० (स्वर्ण) रखी जाए, (३) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न रहे, (४) सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन कानूनी मुद्रा बना दिए जाएं, (५) चांदी का आयात करन की जनता को छूट दे दी जाए, (६) पत्र-मुद्रा-कोष का सोना-चांदी देश में ही रखा जाए, (७) रुपये बनाने से सरकार को जो लाभ हो वह स्वर्ण-प्रमाप-कोष में जमा कर दिया जाए। इस प्रकार कमेटी ने रुपय की विनिमय-दर सोने में व्यक्त की और दर ऊंची निर्धारित करने की सलाह दी। कमेटी की इन सिफारिशों से कमेटी के एक सदस्य श्री दादीबा दलाल सहमत न थे। उन्होंने अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखकर २ शि० (स्वर्ण) दर का घोर विरोध किया। वह ऊंची दर नहीं चाहते थे। सरकार ने कमेटी की सभी सिफारिशें मान लीं। १९२० में भारतीय टंकन एक्ट पास करके सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन देश की कानूनी मुद्रा घोषित कर दिए गए। दर २ शि० (स्वर्ण) घोषित कर दी गई। यद्यपि सरकार न २ शि० (स्वर्ण) स्थापित कर दी पर वह इस दर को स्थायी न बना सकी। आगे चलकर इस दर के कारण भारतीय व्यापार एवं उद्योगों में ऐसी उथल-पुथल हुई कि देश के अनेक व्यापारी दिवालिया हो गए।

अन्त में हारकर सरकार ने दर को मांग और प्रदाय के सहारे छोड़ दिया। १९२१ से १९२५ तक सरकार दर के मामले में उदासीन होकर बैठ रही। दर घटती-बढ़ती रही और अप्रैल १९२५ में १ शि० ६ पें० के आसपास आ गई। तभी सरकार ने इसकी व्यवस्था करने के लिए रॉयल कमीशन बैठा दिया।

परीक्षा-प्रश्न

(१) १९१४ से १९२१ तक की भारतीय मुद्रा-प्रणाली का सावधानी के साथ वर्णन कीजिए।

(२) प्रथम महायुद्ध-काल में भारतीय मुद्रा और विनिमय का प्रबन्ध करने के लिए किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? ब्यौरेवार उत्तर दीजिए।

(३) प्रथम महायुद्ध-काल में स्वर्ण-विनिमय पद्धति क्यों और कैसे टूट गई?

(४) १९१९-२५ तक की भारत सरकार की मुद्रा-नीति का वर्णन कीजिए। इस नीति की आलोचना कीजिए तथा अपनी आलोचना का आधार समझाइए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) वेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने २ शि० (स्वर्ण) विनिमय-दर की सिफारिश क्यों की ? इस विनिमय-दर का क्या परिणाम निकला ?

(६) २ शि० (स्वर्ण) विनिमय-दर को स्थायी बनाने में सरकार के असफल प्रयत्नों का क्या परिणाम हुआ ?

(७) जनवरी १९२० के पश्चात् रिवर्स-कौंसिल-बिलों की मांग बढ़ने के क्या कारण थे ? स्पष्ट उत्तर दीजिए ।

(८) वेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी की सिफारिशों का वर्णन कीजिए तथा बतलाइए कि सरकार ने उनका कहां तक पालन किया और उसका परिणाम क्या हुआ ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २२

भारतीय मुद्रा एवं विनिमय का इतिहास (१९२५–३९)

२५ अगस्त, १९२५ को सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष लेफ्टिनेण्ट कर्नल हिल्टन-यंग थे। इस कमीशन में ग्यारह सदस्य थे जिनमें चार भारतीय थे। कमीशन के विचारार्थ निम्न बातें रक्खी गईं :—

(क) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप की कार्य-शैली की जांच एवं देश में कोई उचित मौद्रिक पद्धति स्थापित करने की योजना;

(ख) चलन एवं बैंकिंग पद्धति के समन्वय की रूपरेखा;

(ग) विनिमय-दर को स्थिर एवं स्थायी बनाने का सुझाव।

कमीशन ने उक्त विषयों पर रिपोर्ट तैयार करने से पहिले सब मुद्रा-पद्धतियों का अध्ययन किया। कमीशन ने जो सुझाव और सिफारिशें सरकार को पेश कीं उनको हम तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) देश में निश्चित मुद्रा-प्रणाली स्थापित करने के विषय में;

(२) रुपये की दर स्थिर करने के विषय में;

(३) देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में।

मुद्रा-प्रणाली की सिफारिश करने से पहिले कमीशन के सदस्यों ने उस समय अपनाई जानेवाली मुद्रा-पद्धति का अध्ययन किया। उन्होंने उसमें निम्न दोष बताए :—

(१) यह प्रणाली जटिल है और एक सामान्य अनपढ़ भारतीय की समझ में नहीं आ सकती। इसमें चांदी का सिक्का चांदी के भावों पर आश्रित है। यदि चांदी के भाव ऊंचे होने लगें तो रुपया सिक्के के रूप में न चलकर गलाकर बेचा जाने लगता है।

(२) इसके अन्तर्गत मुद्रा देश की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं घटती-बढ़ती। मुद्रा की मात्रा घटाने-बढ़ाने में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। उसमें भी सरकार मुद्रा का प्रसार तो सरलतापूर्वक कर सकती है, पर मुद्रा-संकोच के लिए रिवर्स-कौंसिल-बिलों पर आश्रित होना पड़ता है। ये बिल भी तभी खरीदे-बेचे जा सकते हैं जब कि व्यापाराधिक्य भारत के प्रतिकूल हो। अतः यह प्रणाली स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) यह प्रणाली लचकदार नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। कानून के अनुसार १२ करोड़ रुपये के नोट हुण्डियों के बल पर चल सकते थे, पर हुण्डियों का मिलना सदैव सम्भव नहीं था। अतः जब कभी किसी विशेष आवश्यकता के समय मुद्रा की मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता हो तो आवश्यकतानुसार मात्रा नहीं बढ़ाई जा सकती। यद्यपि कानून के अनुसार १२ करोड़ रुपये के नोट हुण्डियों के बल पर चलाए जा सकते थे पर इतनी हुण्डी मिलना सदैव सम्भव नहीं था।

(४) मुद्रा-प्रणाली पर दो अधिकारियों के अधिकार हैं। मुद्रा का प्रबन्ध सरकार करती है और साख का प्रबन्ध इम्पीरियल बैंक करता है। इससे देश में साख का प्रबन्ध समुचित रूप से नहीं हो पाता और व्यापारी वर्ग को बड़ी हानि होती है।

(५) इस पद्धति के अन्तर्गत दो कोष रखने पड़ते हैं—(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष, (२) पत्र-मुद्रा-कोष। यद्यपि ये दोनों कोष अलग-अलग रखे जाते हैं परन्तु फिर भी इनके मिल जाने की सदैव शंका बनी रहती है जिससे इनके उद्देश्यों को समझने में लोगों को बड़ा मति-विभ्रम हो जाता है।

(६) वह पद्धति न सरल थी और न निश्चित। सरकार का हस्तक्षेप अधिक होने के कारण सरकार जैसा चाहती इसे घुमा दिया करती, जिससे जनता में इसके प्रति अधिक विश्वास नहीं था।

कमीशन का विश्वास था कि इस प्रणाली की सफलता चांदी के भावों पर निर्भर होने के कारण इसमें न लोच थी और न सरलता थी। जब चांदी का भाव ४३ पें० प्रति औंस या इससे नीचा होता तो चांदी का रुपया सांकेतिक मुद्रा बनकर चल सकता था पर भाव ऊंचा होते ही रुपये का धातु-मूल्य उसके अंकित मूल्य से अधिक हो जाता था और रुपया सिक्का न रहकर धातु के रूप में बिकने लगता, जैसा कि युद्धकाल में हुआ था। कमीशन ने सोचा कि इस प्रणाली के कुछ मुख्य-मुख्य दोषों को दूर करके इसे अपना लिया जाए। कमीशन ने सोचा कि रुपये की विनिमय-दर निश्चित कर दी जाए तथा दोनों कोषों को मिलाकर एक करके एक केन्द्रीय संस्था के अधिकार में रख दिया जाए। परन्तु कमीशन के इस मत से कुछ सदस्य सहमत न थे। अतः कमीशन ने इस प्रणाली को बनाए रखने का विचार छोड़ दिया।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पर विचार

कमीशन ने स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पर विचार करते समय सोचा कि सरकार या अन्य कोई मौद्रिक संस्था रुपये के बदले में उन देशों की मुद्रा क्रय-विक्रय किया करे जो स्वर्ण-प्रमाप अपनाते हों। ऐसा करने में उन्होंने सोचा कि रुपये का सीधा सम्बन्ध सोने से हो जाएगा। यही नहीं, इससे देश की मुद्रा-व्यवस्था में लोच

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आएगी तथा रुपये की दर में स्थायित्व आ जाएगा। पर यह योजना भी कमीशन के कुछ सदस्यों को पसन्द न आई। बताया गया कि यह पद्धति जटिल है तथा इसके अन्तर्गत रुपये की दर चांदी के भावों पर आश्रित है। अतः इन दोषों के कारण कमीशन ने स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का विचार भी छोड़ दिया।

सरकारी प्रस्ताव पर विचार

कमीशन के सामने भारत सरकार के वित्त-विभाग ने देश में स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप स्थापित करने की एक योजना बनाकर पेश की। योजना इस प्रकार थी :—

(क) पत्र-मुद्रा की व्यवस्था तथा सरकारी रुपये का प्रबन्ध इम्पीरियल बैंक को दे दिया जाए।

(ख) सोने के सिक्के तथा पत्र-मुद्रा देश में कानूनी मुद्रा बना दिए जाएं और असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकें।

(ग) रुपये का सिक्का ५० रुपये तक लेन-देन के लिए कानूनी मुद्रा हो।

(घ) सरकार सोने के बदले में सोने के सिक्के दे और इम्पीरियल बैंक सोने का क्रय-विक्रय करे। नोटों के बदले में भी सोने के सिक्के दिए जाया करें।

(च) भारत मन्त्री को वार्षिक राशि भेजने का काम इम्पीरियल बैंक का हो।

(छ) कोष में ३० प्रतिशत से कम सोना न हो, २० प्रतिशत से कम स्टर्लिंग सिक्यूरिटियां न हों और शेष भाग देशी व्यापार-बिलों के रूप में हो।

इस योजना से सरकार का उद्देश्य था कि रुपये के सिक्के को असीमित कानूनी मुद्रा न रखकर उस खतरे को ही मिटा दिया जाए, जिसके कारण चांदी का भाव बढ़ने से रुपया धातु के रूप में बिकने लगता था। इस योजना के अनुसार कोष में चांदी का कोई स्थान न था जिससे उसे समझने में जनता को कोई मति-विभ्रम न हो। कमीशन ने सरकार की इस योजना को न माना। बताया गया कि इस योजना के अनुसार सोने की अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी जिसका प्रबन्ध करना देश की शक्ति से परे है। कमीशन के कुछ सदस्यों ने यह भी कहा कि इस योजना को कार्यान्वित कर लेने से सोने के भाव बढ़ेंगे और चांदी के भाव बहुत गिर जाएंगे। चांदी सस्ती होने से उन लोगों को बहुत हानि होगी जिन्होंने बहुत आशा लेकर चांदी इकट्ठी कर रखी है। उनकी यह सम्पत्ति लगभग आधे मूल्य की रह जाएगी। कमीशन को भय था कि इस योजना से सोने की आवश्यकता बढ़ती ही जाएगी जिसे पूरा करना सरकार को सम्भव नहीं होगा। ऐसे समय में जब कि संसार के अनेक देश सोना संग्रह करने में व्यस्त हैं, भारत में सोने के सिक्के चलाना बुद्धिमानी की बात नहीं कही जा सकती। सोने के सिक्के चलाने से देश का सोना नष्ट होगा और देश की मौद्रिक शक्ति क्षीण हो जाएगी। इन कारणों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से कमीशन ने सरकार की योजना को न माना। उन्होंने स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप देश के हित में नहीं समझा।

हिल्टन-यंग कमीशन की रिपोर्ट

कमीशन ने स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप तथा स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप में से किसी भी पद्धति को न मानकर स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की। उन्होंने कहा कि यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें सोने के सिक्के चलाने की कोई आवश्यकता नहीं पर फिर भी स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के सभी लाभ उपलब्ध हो सकते हैं। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में जो सिफारिशें कीं वे इस प्रकार हैं :—

(क) मुद्रा-पद्धति के विषय में,

(ख) विनिमय-दर के विषय में,

(ग) केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में।

(क) **स्वर्ण-धातु प्रमाप की सिफारिश**—इस विषय में कमीशन ने निम्न-लिखित सिफारिशें कीं :—

(१) देश में सोने के सिक्के न चलाये जाएं। रुपये और नोट विनिमय-माध्यम का काम करें और उनके बदले में सोना दिया जाए।

(२) लोग किसी भी काम के लिए सोना खरीदें; चाहे वे विदेशी भुगतान करने के काम लाएं और चाहे वे उसे अपने सामाजिक कार्यों में लगाएं; सरकार को इससे कोई सरोकार न हो।

(३) केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑव इंडिया) जिसकी सिफारिश कमीशन ने की, निश्चित दर पर जनता से सोना क्रय-विक्रय करे। जनता कितना ही सोना रिजर्व बैंक से खरीदे या उसको बेचे पर ४०० शुद्ध औंस से कम सोना न खरीदा या बेचा जाए।

(४) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानूनी मुद्रा न रखे जाएं। वैसे तो उनका चलन पहिले ही बन्द हो चुका था पर फिर भी ये कानूनी मुद्रा थे। कमीशन ने इनको कानूनी मुद्रा न रखने की सिफारिश की।

(५) देश में 'स्वर्ण-सेविंग्स-सर्टीफिकेट' चलाए जाएं। ये सर्टीफिकेट एक तोले सोने के प्रतिनिधि-रूप पत्र हों और इनकी अवधि ३ या ५ साल हो। ये सर्टीफिकेट लोगों को बेचे जाएं और अवधि समाप्त होने पर सरकार इनका भुगतान चुका दे। इस सिफारिश से कमीशन के कई उद्देश्य थे। एक, जनता में स्वर्ण-धातु-प्रमाप की जानकारी बढ़े; दूसरे, जनता के पास से रुपया निकल-निकलकर सरकार के पास आ जाए; तीसरे, जनता को सरकार के प्रति विश्वास बना रहे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) एक रुपये के नोट चलाए जाएं पर इन नोटों के बदले में चांदी के सिक्के न दिए जाएं।

(७) रुपये का टंकन बन्द कर दिया जाए और तब तक बन्द रहे जब तक कि रुपये की मात्रा उसकी आवश्यकता के अनुपात में हो जाए।

(८) बड़ी-बड़ी राशि के नोटों के बदले में सरकार अपनी इच्छानुसार चाहे तो रुपये दे और चाहे छोटी राशि के नोट दे। इन दोनों सिफारिशों से कमीशन का उद्देश्य रुपये के सिक्कों का प्रचार कम करना और नोटों का प्रचार बढ़ाना था।

(९) पत्र-मुद्रा-कोष और स्वर्ण-प्रमाप-कोष मिलाकर एक कर दिए जाएं और इनका अनुपात कानून पास करके निश्चित कर दिया जाए। इस कोष में सोना और सोने की सिक्यूरिटियां ४० प्रतिशत से कम न हों तथा शेष भाग सरकारी सिक्यूरिटियों और व्यापार-बिलों के रूप में हो। सरकारी सिक्यूरिटियां कोष की एक-चौथाई या ५० करोड़ रुपये, इन दोनों में जो भी कम हो, उसके बराबर हों।

(१०) पत्र-मुद्रा चलाने में आनुपातिक कोष-प्रणाली का पालन किया जाए।

इस प्रकार कमीशन ने देश में एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की सिफारिश की जिसके अन्तर्गत सोना केवल निर्यात के लिए ही नहीं वरन् किसी भी काम के लिए मिल सकता था। इसमें सोने के सिक्के चलाने की व्यवस्था नहीं थी। इसके अन्तर्गत सोने का प्रमाप था पर सोने के सिक्के नहीं थे। इस पद्धति में लोच थी अर्थात् रुपयों और नोटों के बदले में सोना बेचने पर मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की कमी हो सकती थी और इसके विपरीत सोना खरीदकर रिजर्व बैंक (जिसका प्रस्ताव कमीशन ने साथ ही साथ किया था) मुद्रा-प्रसार कर सकता था। इसमें एक लाभ यह भी था कि रुपयों और नोटों के बदले में सोना मिलता था, जिससे सामान्य जनता का इसमें विश्वास था और लोग इसे सरलता से समझ सकते थे। कमीशन के द्वारा प्रस्तावित पद्धति ने देश में स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप स्थापित करने का द्वार खोल दिया। सोने के सिक्के न चलाकर इस प्रणाली द्वारा सोने को नष्ट होने से बचाया जा सकता था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि कमीशन ने जिस स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की, वह स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप से भी अधिक सस्ता, सरल और लोचदार था।

(ख) केन्द्रीय बैंक की सिफारिश—कमीशन की दूसरी महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाए, जो स्वर्ण-धातु-प्रमाप (जिसकी सिफारिश ऊपर दी गई है) का संचालन करे तथा सरकार के बैंक सम्बन्धी काम भी किया करे। अब तक देश के मौद्रिक क्षेत्र में साख और मुद्रा पर दो अधिकारियों के अधिकार थे। साख का प्रबन्ध 'इम्पीरियल बैंक' करता था और मुद्रा का प्रबन्ध 'सरकारी वित्त विभाग' करता था। कमीशन की सिफारिश थी कि साख और मुद्रा दोनों का प्रबन्ध करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक हो। कमीशन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने के पक्ष में नहीं था क्योंकि वह चाहता था कि किसी भी केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कोई भी काम नहीं करना चाहिए। कमीशन ने अलग ही एक रिजर्व बैंक बनाने की सिफारिश की और सुझाव दिया कि वह बैंक हिस्सेदारों का बैंक हो। सरकार ने इस प्रस्ताव को तथावत् मान लिया पर कुछ कारणों से वह उसे उस समय कार्यान्वित न कर सकी। १९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट पास किया गया और बड़े वाद-विवाद के पश्चात् १ अप्रैल, १९३५ को रिजर्व बैंक ऑव इंडिया हिस्सेदारों के बैंक के रूप में जन्मा। ठीक १४ वर्ष तक यह इसी रूप में काम करता रहा। १ जनवरी, १९४९ को इसे राष्ट्रीय संस्था बनाने के लिए इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। (इसका पूर्ण विवरण आगे पढ़िए।)

(ग) विनिमय-दर की सिफारिश (विनिमय-दर वाद-विवाद)—विनिमय-दर की सिफारिश करते समय कमीशन के सामने दो सुझाव थे—एक, विनिमय-दर १ शि० ४ पें० रखी जाए; दूसरा, विनिमय-दर १ शि० ६ पें० रखी जाए। बहुत सोच-विचार के पश्चात् भी कोई किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाता था। इस विषय पर उस समय एक देशव्यापी आन्दोलन सा उठ खड़ा हुआ। उद्योगपति, व्यापारी, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ और सामान्य जनता—सभी अपने-अपने सुझाव देते थे। किसी का दृष्टिकोण कुछ था और कोई कुछ सोचता था। कमीशन के सामने एक अच्छा खासा धर्म-संकट था। पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से सिफारिश की कि रुपये की दर १ शि० ६ पें० के बराबर निश्चित की जाए अर्थात् १ रुपया ८.४७५१२ ग्राम शुद्ध सोने के बराबर हो। १ शि० ६ पें० विनिमय-दर निश्चित करने के पक्ष में कमीशन ने ये तर्क दिए :—

१ शि० ६ पें० के पक्ष में तर्क—(१) इस दर पर देश के मूल्य अन्य देशों के मूल्यों के साथ समायोजित हो चुके हैं। अतः यदि इस दर पर मूल्य परिवर्तन किया गया तो देश की अर्थ-व्यवस्था में बड़ी फेर-बदल होगी और तब देश के मूल्यों को अन्य देशों के मूल्यों के साथ स्थिर बनने में कठिनाई रहेगी। कमीशन ने आंकड़े देखकर समझाया कि १९२२ के अन्त से १९२४ के मध्य तक दर १ शि० ३ पें० के आसपास रही पर इसके पश्चात् मई १९२५ से १ शि० ६ पें० रही। इसलिए इस दर में फेर-बदल नहीं करना चाहिए।

(२) कुछ लोगों का तर्क था कि जून १९२५ में दर १ शि० ६ पें० हुई थी और तभी से भारत के मूल्यों में संसार के मूल्यों के साथ कोई हेर-फेर नहीं हुआ। अतः इससे यह मानना चाहिए कि भारत के मूल्य संसार के मूल्यों की तुलना में नहीं आए वरन् अभी समय आया है जब कि वे तुलना में आने लगेंगे। इसके उत्तर में कमीशन का तर्क था कि यह ठीक है कि जून १९२५ में ही रुपया १ शि० ६ पें० के बराबर हो सका परन्तु जून १९२४ से फरवरी १९२५ तक विनिमय-दर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

काफी आगे बढ़ चुकी थी और लगभग १८ पें० हो चुकी थी। रहा यह कि जून १९२५ में भारत के मूल्यों में कोई अन्तर नहीं हुआ तो इसके लिए कमीशन का तर्क था कि मूल्यों की यह स्थिरता ही इस बात का प्रमाण है कि भारत और संसार के मूल्य समानता में हैं और इसमें कोई परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। अतः १ शि० ६ पें० दर को मान लेना चाहिए।

(३) कमीशन ने समझाया कि मजदूरों की मजदूरी भी इसी दर के हिसाब से वस्तुओं के मूल्यों के साथ समानता में आ गई है। भारत में मजदूर लोग अपनी-अपनी मजदूरी का अधिकांश भाग खाने-पीने की चीजों में खर्च करते हैं। इन्हीं चीजों के भावों के साथ मजदूरी स्थिर हो चुकी है। इसलिए अगर १ शि० ६ पें० को छोड़ और कोई दर रक्खी गई तो मजदूरी और भावों में विषमता आ जाएगी जिससे मजदूरों की हानि होने की बात हो सकती है।

(४) कमीशन ने यह समझाया कि विनिमय-दर और कीमतें काफी समय से स्थायी बनी हुई हैं। इससे यही अर्थ निकलता है कि इन दोनों में आपस में उचित सम्बन्ध पैदा हो गया है। अन्यथा इन दोनों में से किसी एक में कभी भी कुछ फेर-बदल तो होती ही। अतः १ शि० ६ पें० दर ही मान लेनी चाहिए।

(५) कुछ लोगों का कहना था कि १ शि० ६ पें० की दर निश्चित करने से उन ठेकों (Contracts) पर बहुत नुकसान रहेगा जो उस समय तै किए गए थे जबकि विनिमय-दर १ शि० ४ पें० थी। इस विषय में कमीशन ने समझाया कि उस समय से, जब ठेके तै हुए थे, आज तक वस्तुओं के भाव बढ़ते रहे हैं। इसलिए यदि इन ऊँचे भावों को ध्यान में रक्खा जाए तो ठेकेदारों का यह नुकसान ना के बराबर रह जाएगा क्योंकि उन्होंने इन ऊंचे भावों से अपने ठेकों पर काफी लाभ कमा लिया होगा।

कमीशन ने यह भी कहा कि ऐसे ठेके, जिनमें १ शि० ६ पें० दर स्थापित करने से कोई हानि हो सकती है, केवल थोड़े ही होंगे और थोड़े ठेकों के हित के लिए इस दर को न मानना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। अधिकांश ठेके ऐसे हैं जो उस समय तै हुए थे जबकि विनिमय-दर लगभग १ शि० ६ पें० थी इसलिए इन ठेकों पर हानि होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

कमीशन ने इन तर्कों से यह निष्कर्ष निकाला कि बाजार के मूल्यों की दृष्टि से, मजदूरों की मजदूरी की दृष्टि से तथा ठेकों की दृष्टि से १ शि० ६ पें० ही वास्तविक दर है, इसलिए उन्होंने इसी दर की सिफारिश की।

१ शि० ४ पें० के विपक्ष में तर्क—कमीशन के सदस्यों ने १ शि० ४ पें० के विपक्ष में अपने कुछ तर्क दिए। ये तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) १ शि० ४ पें० की दर वास्तविक दर नहीं है। वास्तविक और सच्ची विनिमय-दर वही हो सकती है जिसके आधार पर एक देश के मूल्य अन्य देशों के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्यों की समानता में स्थायी हो जाएं। भारत के मूल्य १ शि० ६ पें० की दर पर अन्य देशों के मूल्यों के साथ स्थिर हो चुके हैं इसलिए यही वास्तविक दर है। कुछ लोगों का तर्क था कि १ शि० ६ पें० को सरकार ने जोड़-तोड़ करके अनेक प्रयत्नों के बाद स्थायी बनाया है। इसलिए यदि इसको छोड़ दिया जाए तो अधिक हानि नहीं होगी। कमीशन ने इसके बदले में जवाब दिया कि रुपये की स्थायी विनिमय-दर स्थापित करने के लिए तो वर्तमान परिस्थिति को देखना चाहिए न कि बीती हुई बातों को। पीछे कुछ भी हुआ हो, आज की परिस्थिति यह है कि मूल्य १ शि० ६ पें० की दर पर स्थायी है।

(२) कमीशन ने बताया कि अगर १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर मान ली जाय तो देश में वस्तुओं के भाव १२½% बढ़ जाएंगे। चीजों के भाव बढ़ने से लोगों को विशेषतः गरीब जनता को बहुत हानि होगी। मजदूरों को भी नुकसान रहेगा क्योंकि चीजों के भाव बढ़ने से उनकी मजदूरी के बदले में कम चीजें मिला करेंगी।

(३) कमीशन ने समझाया कि १ शि० ४ पें० की विनिमय-दर मानने से सरकार को भी हानि होगी क्योंकि तब उन्हें भारत मंत्री को वार्षिक राशि (Home Charges) चुकाने में अधिक रुपये देने पड़ा करेंगे। इस प्रकार सरकार को कोई ६ करोड़ रुपये की वार्षिक हानि उठानी पड़ा करेगी। इसकी पूर्ति के लिए सरकार जनता पर नए-नए कर लगाएगी जिससे जनता को हानि रहेगी तथा व्यापार भी शिथिल पड़ जाएगा। अतः १ शि० ४ पें० की दर देश के हित में नहीं हो सकती।

(४) १ शि० ६ पें० के विरोधियों ने बताया कि संसार में सोने के भाव निकट भविष्य में गिरनेवाले हैं और यदि १ शि० ६ पें० की दर मान ली गई तो इससे भारत के भाव और भी अधिक गिर जाएंगे, इसलिए इस दर को नहीं रखना चाहिए। कमीशन ने इस बात को नहीं माना और कहा कि मुद्रा की विनिमय-दर स्थापित करने के समय हमें ऐसी अनिश्चित बात मानकर नहीं चलना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो मूल्य एक साथ नहीं गिरेंगे वरन् धीरे-धीरे गिरने शुरू होंगे।

(५) कमीशन ने समझाया कि अगर विनिमय-दर १ शि० ४ पें० रक्खी जाए तो चांदी का भाव ४३ पें० प्रति औंस से अधिक होते ही चांदी का रुपया सिक्के के रूप में न चलकर गल-गलकर चांदी के रूप में बेचा जाने लगेगा। परन्तु यदि विनिमय-दर १८ पें० रक्खी जाए तो रुपया तब तक नहीं गलाया जाएगा जब तक कि चांदी का भाव ४८ पें० प्रति औंस से अधिक न हो। अतः रुपया गलाया जाने का खतरा १ शि० ४ पें० में अधिक है।

(६) कुछ लोगों ने तर्क किया कि १ शि० ४ पें० की दर पर एक सावरेन १५ रुपये के बराबर होता है और १ शि० ६ पें० की दर मानने से एक सावरेन १३

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रुपये ५ आने ४ पाई के बराबर होता है अतः लेन-देन के हिसाब में १ शि० ४ पें० ही अधिक उपयुक्त है। कमीशन ने इस तर्क को हंस कर टाल दिया और कहा कि दर निश्चित करने में इन छोटी-छोटी बातों पर नहीं सोचा जा सकता।

कमीशन ने १ शि० ६ पें० के पक्ष में तथा १ शि० ४ पें० के विपक्ष में तार्किक अध्ययन करके १ शि० ६ पें० दर रखने की सिफारिश की।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विरोध—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास कमीशन के भारतीय सदस्य थे। उन्होंने विनिमय-दर के मामले में कमीशन का विरोध किया। अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखते हुए उन्होंने व्यक्त किया कि विनिमय-दर १८ पें० के बजाय १६ पें० रखनी चाहिए। १ शि० ६ पें० के विपक्ष में उन्होंने निम्न तर्क दिए :—

(१) १ शि० ६ पें० वास्तविक और सच्ची दर नहीं है। इसे सरकार ने अपनी तरकीबों से जोड़-तोड़ करके स्थापित किया है। अतः ऐसी दर को नहीं स्थापित करना चाहिए।

(२) १ शि० ६ पें० की दर पर मजदूरी और मूल्यों में कोई समानता नहीं आई है और जब तक कोई असाधारण अधिक उथल-पुथल न होगी तब तक इस दर पर मूल्यों और मजदूरी में समानता नहीं आ सकती इसलिए ऐसा खतरा मोल नहीं लेना चाहिए।

(३) सर पुरुषोत्तमदास ने समझाया कि अगर विनिमय-दर १ शि० ६ पें० रक्खी गई तो भारत के मूल्य १२½% सस्ते हो जाएंगे। इन सस्ते मूल्यों का लाभ विदेशी व्यापारी यहां से सस्ते माल खरीदने में उठाते रहेंगे जिससे भारतीय व्यापार को नुकसान रहेगा। इसलिए इस दर को नहीं अपनाना चाहिए।

(४) भारतीय सदस्य ने कहा कि १ शि० ६ पें० दर रखने से देनदार को नुकसान रहेगा क्योंकि रुपये की दर बढ़ने से अब उसे अपना ऋण चुकाने में अधिक मूल्य देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उन लोगों को भी नुकसान रहेगा जिन्होंने उस समय कोई ऋण लिया हो जब दर १ शि० ४ पें० थी और अब उसे चुका रहा हो क्योंकि पहिले की अपेक्षा अब उसे अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा। १ शि० ६ पें० के कारण १२½% मूल्य सस्ते होने से उत्पादकों को भी हानि होगी।

(५) विरोधी सदस्य ने बतलाया कि यदि १ शि० ६ पें० की दर रक्खी गई और भविष्य में संसार के मूल्य गिरे तो भारत के मूल्य बहुत गिर जाएंगे जिससे भारतीय उत्पादकों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा क्योंकि उनके माल के भाव बहुत गिर जाएंगे।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १ शि० ६ पें० की दर का कड़ा विरोध किया और १ शि० ४ पें० की दर स्थापित करने की सिफारिश की।

उन्होंने १ शि० ४ पें० के पक्ष में कहा—(१) १ शि० ४ पें० वह विनिमय-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दर है जो युद्धकाल से बहुत समय तक चलती रही और जिसको सरकार ने कानून बनाकर स्थापित किया था। अतः यह कानूनी दर है और इसको तब तक नहीं छोड़ना चाहिए जब तक कि उसे निबाहना असम्भव न हो।

(२) १ शि० ४ पें० दर रखने से सरकार को वार्षिक राशि भेजने में हानि अवश्य होगी पर उस हानि की पूर्ति अन्य प्रकार से की जा सकती है। १ शि० ६ पें० दर रखने से वार्षिक राशि भेजने में बचत अवश्य होगी पर इससे हमारे देश के मूल्य सस्ते हो जाएंगे जिससे हमारे उत्पादकों को हानि होगी। १ शि० ४ पें० दर पर निर्यात बढ़ेगा जिस पर निर्यात-कर लगाकर सरकार आय बढ़ा सकेगी।

(३) यह ठीक है कि १ शि० ६ पें० दर रखने के लिए सरकार के पास काफी सोना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि १ शि० ४ पें० को न अपनाया जाए। १ शि० ४ पें० दर रखने में कम सोने की आवश्यकता होगी। सरकार का यह कर्तव्य है कि ऐसी दर रखे जिसमें कम खर्च हो, कम खतरा हो और अधिक लाभ हो। ऐसी दर केवल १ शि० ४ पें० है।

(४) १ शि० ६ पें० दर रखने से देनदार को बहुत कठिनाई होगी। अतः सम्भव है कि जनता का सरकार में विश्वास भी कम हो जाए।

(५) १ शि० ४ पें० की दर युद्ध से पहिले अपनाई जाती रही थी पर युद्धकाल की विषम परिस्थितियों के कारण तोड़नी पड़ी। अब युद्ध समाप्त होने पर अन्य देशों ने अपनी पुरानी दर अपना ली है तो भारत को भी अपनी पुरानी दर अर्थात् १ शि० ४ पें० लौटा लेनी चाहिए।

(६) भारतीय सदस्य ने यह माना कि १ शि० ६ पें० के अन्तर्गत रुपये के सिक्के को गलाने का खतरा तभी है जब चांदी का भाव ४८ पें० प्रति औंस से अधिक हो जाए। पर उनका कहना था कि यदि चांदी का भाव ४३ पें० प्रति औंस से अधिक हो सकता है तो फिर कितना भी आगे बढ़ सकता है। अतः केवल इसी खतरे के कारण विनिमय-दर १ शि० ४ पें० न निर्धारित की जाए यह कोई वास्तविक तर्क नहीं है। विनिमय-दर स्थापित करने में ऐसी बातों पर विचार नहीं करना चाहिए।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने उक्त तर्कों को देते हुए सरकार से आग्रह किया कि विनिमय-दर १ शि० ४ पें० ही निर्धारित की जाए।

वाद-विवाद की समीक्षा

विनिमय-दर वाद-विवाद में कमीशन के सदस्य दो मत रखते थे—एक बहुमत जो १ शि० ६ पें० के पक्ष में था, दूसरा अल्पमत जो १ शि० ४ पें० के पक्ष में था। दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने मतों को सबल करने के लिए अपने-अपने तर्क रखे। दोनों ने एक ही सिद्धान्तों को लिया पर उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समझाया। बहुमत ने समझाया कि १ शि० ६ पें० की दर पर मजदूरी और मूल्य समानता में आ गए हैं, पर इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई आंकड़े नहीं दिए। इसी प्रकार बहुमत यह भी प्रमाणित नहीं कर सका कि अधिकांश ठेके उस समय तै हुए थे जबकि दर १ शि० ६ पें० थी। १ शि० ६ पें० के पक्ष में बहुमत ने सबसे अधिक जोरदार शब्दों में यह कहा था कि "यह दर लगभग एक वर्ष से स्थिर हो गई है इसलिए इसे स्थायी बना देना चाहिए।" परन्तु बहुमत की यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ती क्योंकि एक वर्ष से स्थिर रहनेवाली दर से यह बात पक्की नहीं हो सकती कि मजदूरी और मूल्य समानता में हों। अतः बहुमत की कोई दलील अधिक जोरदार और प्रामाणिक नहीं थी। इसी प्रकार अल्पमत के आंकड़े भी अधूरे थे। उन्होंने सरकार पर आरोप लगाया कि १ शि० ६ पें० की दर जोड़-तोड़ करके स्थापित की गई है पर इस आरोप को सिद्ध करने के लिए उनके पास आंकड़े नहीं थे। अल्पमत ने यह तो कहा कि दर १ शि० ६ पें० करने से मूल्य सस्ते हो जाएंगे और कृषकों को हानि होगी पर उन्होंने यह नहीं समझा कि सस्ते मूल्य होने से उनका उत्पादन-व्यय भी कम हो जाएगा। जो कुछ भी हो, दोनों पक्षों के तर्क अधूरे, अपूर्ण और असंगत थे। दोनों के तर्कों का केन्द्रीय स्थल एक ही था परन्तु उसको समझाने के ढंग अलग-अलग थे। एक प्रसिद्ध मुद्रा-शास्त्री ने व्यक्त किया है—"विनिमय-दर-वाद-विवाद के इस तर्क-युद्ध में दोनों पक्षों ने एक जैसे अस्त्र-शस्त्र लिए पर उनका प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किया।"

रिपोर्ट पर सरकार की प्रतिक्रियाएं

करेंसी एक्ट (१९२७)—सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन की सभी सिफारिशें मान लीं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सबसे पहले मार्च १९२७ में 'करेंसी एक्ट' पास किया। इस एक्ट द्वारा रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० बना दी गई तथा १ रुपया ८.४७५१२ ग्राम सोने के बराबर घोषित कर दिया गया। इसी एक्ट में यह व्यवस्था की गई कि सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानूनी मुद्रा नहीं रहेंगे। अब सावरेन धातु के रूप में बिकने लगे। सरकारी मुद्रालयों को २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से सावरेन खरीदने का आदेश दे दिया गया। इस प्रकार १ सावरेन १३ रु० ५ आ० ४ पा० में बिकता था। इसी एक्ट के द्वारा देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गई:—

(क) सरकार (या केन्द्रीय मौद्रिक संस्था जो देश में स्थापित की जाए) जनता से २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से सोना खरीदे। सोना केवल धातु के रूप में हो पर कम-से-कम ४० तोला हो; इससे अधिक कितना ही सोना सरकार जनता से खरीद सकती थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ख) सरकार (या अन्य कोई मौद्रिक संस्था जो देश में स्थापित की जाए) बम्बई की टकसाल पर २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से जनता को सोना बेचे या अपनी इच्छानुसार १ शि० ५$\frac{११}{१६}$ प्रति रुपया की दर से लन्दन में चुकाए जानेवाले स्टर्लिंग बेचा करे। सोना या स्टर्लिंग जो कुछ भी सरकार बेचे वह ४०० औंस या १०६५ तोले के मूल्य से कम न हो।

यह एक्ट भारतीय मुद्रा के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है क्योंकि इसी के द्वारा सरकार को पहले पहल वैधानिक रीति से सोना क्रय-विक्रय करने का अधिकार दिया गया। वैसे तो इससे पहले भी यदि सरकार चाहती तो विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए सोने की खरीद-बेच कर लिया करती थी, पर उस समय सरकार पर कोई वैधानिक दबाव नहीं था। अब इस एक्ट के द्वारा सरकार पर कानूनी दबाव डाल दिया गया कि वह सोना खरीदे और बेचे। इस एक्ट में सबसे अधिक समझने की बात यह है कि सरकार को उसकी इच्छानुसार सोना या स्टर्लिंग बेचने का अधिकार दे दिया गया था। सोना दे या स्टर्लिंग, यह बात सरकार की इच्छा पर निर्भर थी। अतः यह कहा जा सकता है कि १९२७ के करेंसी एक्ट ने भारत में स्वर्ण-धातु-प्रमाप एवं स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप स्थापित किया। यद्यपि सरकार को सोना या स्टर्लिंग देने का अधिकार था परन्तु व्यवहार में वह सोना न देकर स्टर्लिंग ही दिया करती थी। अतः यह कहना भी ठीक होगा कि इस एक्ट ने एक प्रकार से स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप ही स्थापित किया था। पर चूंकि उस समय स्टर्लिंग सोने से सम्बन्धित था इसलिए इसे स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप भी कह सकते हैं।

इस प्रकार हिल्टन यंग कमीशन ने देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप की सिफारिश की तथा १९२७ के करेंसी एक्ट से स्वर्ण-धातु-प्रमाप एवं स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप पास किया और सरकार ने अपनी करतूतों से उसे केवल स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप ही रहने दिया। सिफारिश कुछ की गई थी, पास कुछ और किया गया था और होता कुछ और ही था।

रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन (१९३१)

१९२७ के पश्चात् हमारे व्यापार में उन्नति होने लगी—आयात-निर्यात बढ़ने लगे। यहां यह कहना कठिन है कि यह सब कुछ १ शि० ६ पें० विनिमय-दर का ही परिणाम था। वास्तव में तो संसार भर के व्यापार में उन्नति होने के कारण ऐसा हुआ था। पर यह सब कुछ अल्पकालीन ही रहा। १९२८ और १९२९ में विनिमय-दर शिथिल पड़ने लगी। सरकार ने ब्याज-दर बढ़ाकर इसे रोकने का प्रयास किया पर सफलता न मिली। फरवरी १९३१ तक ऐसा ही होता रहा। अब सरकार को विनिमय-दर स्थिर रखने की चिन्ता होने लगी। विनिमय-दर स्थायी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रखने के लिए मुद्रा-संकोच किया गया। लगभग १०३ करोड़ के नोट चलन में से वापस खींचे गए। १९३१ में वस्तुओं के मूल्य गिरते गए जिससे जनता में असन्तोष बढ़ता गया। सरकार ने लगान माफ कर दिए पर इससे रुपये की कमी होने लगी और विनिमय-दर पर संकट आता गया। २१ सितम्बर १९३१ को इंगलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। उसी समय भारत के गवर्नर जनरल ने घोषणा की कि अब सरकार सोना या स्टर्लिंग नहीं बेचेगी। इससे जनता में सनसनी फैल गई। उसी समय भारत मंत्री ने रुपये की दर १ शि० ६ पें० (स्टर्लिंग) रखने की घोषणा की। २४ सितम्बर को गवर्नर जनरल ने दुबारा घोषित किया कि सरकार १ शि० ६ पें० की दर पर स्टर्लिंग बेचा करेगी परन्तु अब स्टर्लिंग बेचने पर कुछ नियन्त्रण लगा दिया गया। स्टर्लिंग केवल कुछ खास खास बैंकों को ही बेचा जा सकता था जो इसको केवल व्यापारिक लेन-देन में काम लाते थे। सट्टे के लेन-देन या सोना-चांदी खरीदने के लिए सोना नहीं बेचा जाता था। इस प्रकार हमारे देश में स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप स्थापित हो गया। इस अवसर पर देश में दो विचार-धाराएं उत्पन्न हुईं। एक पक्ष स्टर्लिंग के गठबन्धन का पक्षपाती था और दूसरा इसका विरोधी था। यहां दोनों पक्षों के तर्कों का अध्ययन करना आवश्यक है।

स्टर्लिंग से गठबन्धन के पक्ष में तर्क—(१) अगर रुपये को स्टर्लिंग से न बांधा जाता तो उसको स्वतंत्र छोड़ना पड़ता। स्वतंत्र छोड़ने में रुपये की विनिमय-दर पल-पल में घटती-बढ़ती और इस प्रकार रुपया अस्थिर बन जाता। इसलिए इससे अच्छा यही हुआ कि रुपये को स्टर्लिंग के साथ स्थायी बना दिया गया।

(२) भारत को इंगलैण्ड की सरकार के लिए ३,२०,००,००० पौण्ड की राशि प्रतिवर्ष (Home Charges) भेजनी पड़ती थी। इसलिए यह आवश्यक था कि रुपये का स्टर्लिंग के साथ सम्पर्क बना रहे क्योंकि तभी यह राशि सस्ती दर पर मिल सकती थी अन्यथा न मालूम रुपये की दर कितनी बढ़ती और इस राशि को चुकाने के लिए न मालूम कितने रुपये भुगतान करने पड़ते।

(३) स्टर्लिंग के पक्षपातियों ने कहा कि जब तक भारत देनदार है अर्थात् जब तक भारत पर दूसरे देशों का कर्जा है तब तक भारतीय मुद्रा को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसी अवस्था में रुपये का गठबन्धन करने में कोई बुराई नहीं है।

(४) उन्होंने समझाया कि भारत का अधिकांश लेन-देन इंगलैण्ड या दूसरे उन देशों से है जो स्टर्लिंग पर आश्रित हैं। इसलिए भारत को उस व्यापार में भुगतान लेने-देने की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि रुपये का स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन हो।

(५) रुपये का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से भारत को एक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लाभ यह मिलेगा कि उसका माल स्वर्ण-प्रमाप मानने वाले देशों को खूब निर्यात होने लगेगा। (इसका कारण यह है कि सोने के अनुपात में रुपये का मूल्य कम हो जाएगा। अतः ये लोग भारत से खूब माल मंगाने लगेंगे।)

रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांधने से भारत के जानकार क्षेत्रों में बड़ा असन्तोष हुआ। गठबन्धन के विपक्षियों ने इसके विरुद्ध निम्न तर्क दिए :—

(१) रुपये का गठबन्धन करने से भारत का भाग्य इंगलैंड के साथ बांध दिया गया। जब जब स्टर्लिंग में कोई फेर-बदल होगी तो भारतीय रुपये को भी उसका फल भोगना पड़ेगा। अपना रुपया स्टर्लिंग का दास बन जाएगा। यदि इसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता तो कम-से-कम अपने देश की परिस्थितियों के साथ तो घटता-बढ़ता। दूसरी मुद्रा पर आश्रित होने के कारण उसका अपना अस्तित्व मिट जाएगा।

(२) स्टर्लिंग के गठबन्धन से स्वर्ण-प्रमाप माननेवाले देशों से आनेवाला माल भारत को मंहगा पड़ेगा जिससे हमारे व्यापारियों को और उपभोक्ताओं को कोई कम हानि नहीं होगी।

(३) चूंकि स्टर्लिंग का मूल्य सोने की अपेक्षा कम हो गया है और रुपया स्टर्लिंग पर आश्रित है अतः रुपये का मूल्य सोने की अपेक्षा कम हो जाएगा। ऐसी अवस्था में यह भय है कि देश का सोना कहीं बाहर न जाने लगे। (जो डर था वही बात हुई सरकार देखती रही और करोड़ों रुपये का सोना देश से बाहर चला गया।)

सोने का निर्यात; रिजर्व बैंक की स्थापना; चांदी की बिक्री (१९३१–३९)

सोने का निर्यात (१९३१–३९)—स्टर्लिंग के साथ रुपये के गठबन्धन का परिणाम यह हुआ कि जब-जब स्टर्लिंग के मूल्य में ऊँच-नीच होती तो रुपये की कीमत भी घटती-बढ़ती रहती थी। १९३१ में इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप टूट जाने के पश्चात् स्टर्लिंग का अपमूल्यन हुआ और उसके साथ ही साथ रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी कम हो गया। १९३१ के मध्य में सोने का भाव २१ रुपये १३ आने ३ पाई प्रति तोला था जो उस वर्ष के अन्त तक २९ रु० २ आने हो गया। सोने का भाव बढ़ने से लोग सोना बेचने लगे। एक बात और थी। संसार-व्यापी मंदी के कारण देश में वस्तुओं के भाव बुरी तरह से गिर रहे थे। भाव गिरने से उत्पादकों के पास पैसे का अभाव था और वे इस अभाव को पूरा कर देने के लिए सोना बेचने लगे। सोना देश से बाहर जाने लगा। सितम्बर १९३१ से १९३२ के अन्त तक लगभग ५० करोड़ रुपये का सोना देश से बाहर भेजा गया। १९३५ में सोने का भाव ३६ रु० प्रति तोला हो गया। लोग धड़ाधड़ सोना बेचते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहे। १९३८ के मध्य तक ३५० करोड़ रुपये का सोना भारत से निकलकर बाहर चला गया। सोना क्या गया, भारतीय जनता की युगों की कमाई समाप्त हो गई। इस सोने को वापस लाना असम्भव था। सोना चले जाने से यह बात निश्चित हो गई कि देश में स्वर्ण-प्रमाप कभी स्थापित नहीं किया जा सकेगा। ऐसे समय में जबकि संसार का प्रत्येक देश स्वर्ण-संचय में लगा हुआ था, भारत का सोना विदेशियों के हाथ लुट रहा था। यदि सरकार चाहती तो इस सोने को बाहर जाने से रोक सकती थी अन्यथा स्वयं खरीद सकती थी। उस दशा में कम से कम देश का सोना देश के अन्दर तो रहता। परन्तु उस समय की सरकार विदेशी थी। उसे इस देश की सम्पत्ति में क्या हित होता। यही नहीं, सरकार कहती रही कि सोना बेचने से कोई हानि नहीं है, लोग सोना ऊँचे भाव होने के कारण बेच रहे हैं और उससे उन्हें लाभ हो रहा है। सरकार कहती रही कि देश में सोना बहुत है इसलिए उसमें से यदि थोड़ा सा बाहर चला जाएगा तो कोई हानि नहीं होगी और वह फिर भाव नीचा होने पर खरीदकर लाया जा सकता है। सरकार बराबर कहती रही कि सोना बाहर जाने से देश का व्यापार बना रहा है और विनिमय-दर स्थायी रह सकी है। यही कारण था कि सरकार ने इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठाया। पर वास्तविकता कुछ और थी। देश में वस्तुओं के भाव गिर जाने के कारण उत्पादकों को उनके माल के बदले में कम पैसा मिलता था पर लगान आदि पहले जितना ही देना पड़ता था। अतः उनके पास पैसे की कमी रहती थी और इस कमी से मजबूर होकर लोग सोना बेच रहे थे। वास्तव में सोना खरीदने का सरकार को वह एक सुन्दर अवसर था। पर सरकार ने उस अवसर से लाभ न उठाया। यह सरकार की भूल थी या कहना चाहिए कि उसका स्वार्थ था। विदेशी सरकार अपनी चालबाजियों से युगों से इकट्ठी की हुई देश की सम्पत्ति को दिन-दहाड़े देश से बाहर भेजती रही और देशवासी देखते रहे। जनता के प्रतिनिधियों ने सोने को बाहर जाने से रोकने के लिए सरकार से अपील की। सर चुन्नीलाल मेहता ने सरकार से प्रार्थना की कि सोने को बाहर जाने से रोका जाए पर सर जार्ज स्यूस्टर ने, जो उस समय सरकार के वित्त-सदस्य थे, इसकी किंचित् परवाह न की।

इस प्रकार १ शि० ६ पें० दर होते ही भारत का सोना देश से बाहर चला गया। यह गठबन्धन का ही परिणाम था। यदि ऐसा न किया होता तो देश-वासियों की गाढ़ी कमाई इतनी जल्दी बरबाद न हो जाती। जहां इससे इतनी बरबादी हुई वहां इसने देश को आयात-निर्यात-व्यापार के सम्बन्ध में कुछ सुविधा भी प्रदान की।

स्वर्ण-निर्यात से लाभ—(१) स्वर्ण-निर्यात से देश का व्यापार-संतुलन अनुकूल बना रहा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) भारत को इंगलैण्ड के लिए १ जनवरी सन् १९३२ को १५० लाख का ऋण चुकाना था। स्वर्ण-निर्यात से इस ऋण को चुकाने के लिए यह राशि सरलतापूर्वक मिल गई।

(३) स्वर्ण-निर्यात से रुपये की विनिमय-दर मजबूत बनी रही और स्टर्लिंग की दर को भी काफी सहारा मिला।

(४) सरकार भारत मन्त्री को चुकाई जानेवाली वार्षिक राशि सरलता-पूर्वक चुकाती रही और अब उसे ऋण लेने की आवश्यकता न रही।

(५) इससे हमारे विदेशी व्यापार को बड़ा सहारा मिला। विदेशियों ने हमारा सोना खरीदा जिससे उनकी क्रय-शक्ति बढ़ गई। क्रय-शक्ति बढ़ने से उन्होंने भारतीय माल खरीदा जिससे हमारा निर्यात बढ़ने लगा। सोना बेच-बेचकर भारतीयों की क्रय-शक्ति भी बढ़ गई जिससे उन्होंने आयात करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार देश के आयात-व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला।

(६) स्वर्ण-निर्यात करनेवाले व्यापारियों ने अपना आर्थिक संकट दूर किया। सोना बेचकर जो राशि उन्हें मिली उसे उन्होंने उद्योग-धन्धों में लगाकर उद्योगों की प्रगति की।

स्वर्ण-निर्यात से हानि—(१) देश ने युगों की कमाई खो दी और यह निश्चित कर दिया कि देश में स्वर्ण-प्रमाप कभी भी स्थापित नहीं किया जा सकेगा।

(२) भारत का स्वर्ण-कोष कम हो गया और देश की मौद्रिक शक्ति क्षीण हो गई।

यदि सरकार चाहती तो उस समय अपने आप सोना खरीदकर उसे बाहर जाने से रोक सकती थी। इससे सरकार का स्वर्ण-कोष भी बढ़ जाता और देश का सोना बाहर न जाता। सरकार देखती रही और सोना लुटता रहा।

रिजर्व बैंक की स्थापना (१९३५)—हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी (१९३१) के अनुकूल सरकार ने ६ अगस्त १९३४ को रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट पास किया जिसके अनुसार १ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन-पद्धति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जैसे—

(१) भारतीय चलन-पद्धति, साख-नियन्त्रण एवं पत्र-मुद्रा-संचालन का एकाधिकार एक ही मौद्रिक संस्था के अधीन दे दिया गया।

(२) पत्र-मुद्रा-कोष, स्वर्ण-कोष एवं बैंकिंग-कोष—इन तीनों का केन्द्री-करण कर दिया गया।

(३) रुपये की विनिमय-दर स्थायी रखने की वैधानिक जिम्मेदारी केन्द्रीय बैंक को दे दी गई।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चांदी की बिक्री—सोने का निर्यात तो हुआ ही, चांदी भी बाहर जाने लगी। इसके भी लगभग वे ही कारण थे जो सोने के निर्यात के थे। हिल्टन-यंग कमीशन ने नोटों को रुपयों में बदलने का दायित्व हटा लेने की सिफारिश की थी। अतः चांदी के कोष की अब कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई थी। सरकार ने चांदी निकालना आरम्भ कर दिया और ३१ मार्च १९३४ तक लगभग दो हजार लाख औंस चांदी बेची गई। जुलाई १९३३ में अंतर्राष्ट्रीय रजत समझौता हुआ। इस समझौते के अन्तर्गत अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, मेक्सिको तथा पीरू की सरकारों ने ३५० लाख औंस चांदी प्रति वर्ष खरीदने का वचन दिया। १९३५ में अमरीका ने अनाप-शनाप मात्रा में चांदी खरीदी जिससे चांदी का भाव ३६½ पें० प्रति औंस हो गया। चीन ने जब यह देखा कि चांदी का भाव बढ़ता जा रहा है और उसे चांदी की मुद्रा चलाना कठिन हो रहा है तो उसने रजत-प्रमाप छोड़ दिया। भारत सरकार ने भी इस संकट का अनुमान लगाकर एक-एक रुपये के नोट छापकर रख लिए किन्तु उन्हें चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। अमरीका ने अपनी नीति बदल दी और १९३६ में चांदी का भाव १६ पें० और २२ पें० प्रति औंस के बीच रहा। परन्तु तो भी भारत सरकार समय-समय पर चांदी बेचती ही रही। युद्ध आरम्भ होने पर चांदी बेचने की धूम कम हुई।

विनिमय-दर—पहले कहा जा चुका है कि १९२९-३० में ही संसार के अनेक भागों में वस्तुओं के भाव गिरने आरम्भ हो गए थे। अपना देश भी उनसे अछूता न रहा। यद्यपि १९३३-३४ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ पर १९३५ के पश्चात् स्थिति फिर बिगड़ने लगी। १९३८ में तो निर्यात की कमी और आयात की वृद्धि के कारण विनिमय-दर नीचे गिरती ही गई। सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा विनिमय-दर स्थापित रखने का निश्चय किया। पर अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी दर १ शि० ५$\frac{15}{16}$ पें० से ऊपर नहीं चढ़ी। १९३८-३९ के अन्तिम दिनों में कुछ सुधार हुआ। पर दर १ शि० ५$\frac{31}{32}$ पें० से अधिक नहीं हुई। विनिमय-दर गिराने की मांग तो पहिले से ही की जा रही थी, अब इसके पक्ष में युक्तियां दी जाने लगीं। बताया गया कि प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् अनेक सरकारों ने अपनी-अपनी मुद्रा की दर नीची निर्धारित की थी। अतः भारत की दर भी नीची रखना आवश्यक है। मई १९३८ में कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों ने परस्पर सहयोग करके भारत सरकार से १६ पें० विनिमय-दर करने के लिए प्रस्ताव किया। दिसम्बर १९३८ में स्वर्गीय श्री सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में निम्न आशय का एक प्रस्ताव पास किया गया :—

"१८ पें० विनिमय-दर का देश के व्यवसायी और सामान्य जनता दोनों विरोध करते रहे हैं। किसानों को इससे गहरी चोट रही है। उनकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपज का मूल्य कम हो गया है और विदेशों से आनेवाले माल को अनुचित लाभ मिला है। देश का सोना इसी दर के कारण विदेशों को जाता रहा। देश की भलाई इसी में है कि सरकार विनिमय-दर कम करे और यथा-सम्भव १ शि० ४ पें० कर दे।"

इस प्रस्ताव का सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा। इसी समय १९३९ म युद्ध आरम्भ हो गया और विनिमय-दर का मामला घपले में पड़ गया।

सारांश

अगस्त १९२५ को सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने किसी भी मुद्रा-प्रणाली की सिफारिश करने से पहिले उस समय अपनाई जाने वाली सभी पद्धतियों का अध्ययन किया। उन्होंने स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप, स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप तथा स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप---तीनों पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके तीनों को देश के हित में ठीक न समझा। किसी में लोच कम थी, तो कोई जटिल प्रणाली समझी गई। किसी में सरकारी हस्तक्षेप अधिक था तो किसी को बहुत खर्चीली प्रणाली समझा गया। अतः कमीशन ने इस प्रकार सिफारिशें कीं---(१) देश में सोने के सिक्के न चलाए जाएं, (२) सरकार जनता को निर्दिष्ट दर पर निश्चित मात्रा में सोना बेचे तथा इसी प्रकार उससे निश्चित दर पर निश्चित मात्रा में सोना खरीदे, (३) सावरेन व अर्द्ध-सावरेन कानूनी मुद्रा न रखे जाएं, (४) देश में स्वर्ण-सर्टीफिकेट चलाए जाएं, (५) एक रुपये के नोट चलाए जाएं, (६) रुपये का टंकन बन्द कर दिया जाए और तब तक बन्द रहे जब तक रुपये की मात्रा उसकी आवश्यकता के अनुपात में न आ जाए, (७) पत्र-मुद्रा चलाने में आनुपातिक कोष-प्रणाली का पालन किया जाए। इस प्रकार कमीशन ने देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित करने की सिफारिश की।

कमीशन की दूसरी महत्त्वपूर्ण सिफारिश देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में थी। कमीशन ने १ शि० ६ पें० विनिमय-दर स्थापित करने का प्रस्ताव किया। इस विषय में कमीशन के सदस्यों में बड़ा वाद-विवाद रहा। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जो कमीशन के भारतीय सदस्य थे, १ शि० ६ पें० दर के पक्ष में न थे। उन्होंने अपनी अल्पमत रिपोर्ट लिखकर १ शि० ४ पें० दर की सिफारिश की। इस विषय में उन्होंने अपने तर्क दिए।

सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशें मान लीं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए मार्च १९२७ में करेंसी एक्ट पास किया---इसके अनुसार दर १ शि० ६ पें० स्थापित कर दी गई तथा सोना खरीदने-बेचने का काम सरकार को सौंपा गया। सरकार जनता से २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोले की दर से सोना खरीदती थी पर कम से कम ४० तोला खरीद सकती थी, इससे कम नहीं। इसी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दर पर वह जनता को सोना बेचती थी पर ४०० औंस से कम सोना नहीं बेचा जा सकता था। इस प्रकार १९२७ के एक्ट द्वारा देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित किया गया।

१९२७ के पश्चात् हमारे देश में उन्नति होने लगी—आयात-निर्यात बढ़े। पर १९२८-२९ में विनिमय-दर शिथिल पड़ने लगी। सरकार ने ब्याज-दर बढ़ाकर इसे रोकने का प्रयास किया पर सफलता न मिली। अब सरकार को चिन्ता होने लगी। मुद्रा-संकोच किया गया। १९३१ में वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे जिससे लोगों में असन्तोष होने लगा। सितम्बर १९३१ में इंगलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग किया। उसी समय भारत सरकार ने भी अपने रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग के साथ स्वीकार कर लिया।

रुपये का स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन होने से रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के साथ-साथ घटने-बढ़ने लगा। १९३१ के मध्य में सोने का भाव २१ रु० १३ आने प्रति तोले था जो वर्ष के अन्त तक २९ रु० २ आने प्रति तोले हो गया। दूसरे, उसी समय वस्तुओं के भाव गिर रहे थे जिससे लोगों के पास पैसा कम था। अतः लोग पैसे की पूर्ति के लिए सोना बेचने लगे। १९३८ के मध्य तक ३५० करोड़ रुपये का सोना बिका और बाहर चला गया। सरकार यदि चाहती तो इस सोने को खरीदकर देश में रख सकती थी पर उसने ऐसा न किया। सोना देश से बाहर जाता रहा और सरकार देखती रही।

सोने का निर्यात तो हुआ ही पर चांदी भी बाहर जाने लगी। उधर विनिमय-दर में भी ऊंच-नीच होने लगी। मई १९३८ में कांग्रेस मन्त्रिमंडलों ने परस्पर सहयोग करके भारत सरकार से १६ पें० विनिमय-दर करने का प्रस्ताव किया। पर इसी समय जब इस प्रस्ताव पर विचार हो रहा था तो १९३९ में युद्ध आरम्भ हो गया।

परीक्षा-प्रश्न

(१) हिल्टन-यंग कमीशन ने भारत के लिए कौनसी मुद्रा-पद्धति की सिफारिश की ? भारत सरकार ने इस सिफारिश के बाद कौनसा मुद्रा-प्रमाप अपनाया ? दोनों का भेद दर्शाइए।

(२) शाही कमीशन ने भारत में स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप स्थापित करने की सिफारिश क्यों नहीं की ? कमीशन के उन तर्कों को ध्यान में रखते हुए समझाइए कि क्या १९३१ में रुपये का स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन करना उचित था।

(३) हिल्टन-यंग कमीशन का मुख्य सिफारिशें क्या थीं ? समझाइए और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिखिए कि क्या भारत की मुद्रा-प्रणाली उन सिफारिशों के आधार पर बनाई गई ?

(४) १ शि० ४ पें० प्रति रुपया के विरुद्ध १ शि० ६ पें० प्रति रुपया की विनिमय-दर के पक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) इन्डियन करेंसी एक्ट १९२७ की मुख्य मुख्य धाराओं का उल्लेख कीजिए।

(६) विनिमय-दर वाद-विवाद पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी तैयार कीजिए।

(७) १९३१ के पश्चात् भारत से विदेशों को जो सोना निर्यात हुआ उसका एक विस्तृत ब्यौरा तैयार कीजिए। क्या उससे भारत को कोई लाभ भी मिला ?

(८) १९३१ से १९३९ तक भारतीय मुद्रा पद्धति की विशेष घटनाओं का एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।

(९) हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिश के पश्चात् सरकार ने जो चांदी की बिक्री की थी वह कहां तक वैधानिक थी ? इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २३

युद्धकालीन मौद्रिक घटनाएं

(१९३९-४६)

सितम्बर १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धकाल में भारतीय चलन एवं विनिमय के इतिहास में अनेक नए-नए परिवर्त्तन हुए। युद्ध के फल-स्वरूप हमारी आर्थिक स्थिति पर बड़ा तनाव रहा। हमारे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला, व्यापार-संतुलन हमारे पक्ष में रहा और इंगलैण्ड की सरकार पर हमारा ऋण हो गया। देश की सरकार ने परोक्ष रूप से युद्ध में भाग लिया। इससे देश में मुद्रा की मांग बढ़ती गई और सरकार ने इस मांग को पूरा करने के लिए नोट चलाए। युद्ध से पहले देश भर में १८२ करोड़ रुपये के नोट चलते थे। पर युद्ध समाप्त होने पर देश में चालू नोटों की संख्या १२३३ करोड़ रुपये हो गई। देश में मुद्रा-स्फीति हुई, वस्तुओं के भाव ऊँचे हो गए और जनता को इसके दुष्परिणाम भोगने पड़े। भारत का पौण्ड-पावना इंगलैण्ड की सरकार पर कर्ज हो गया।

युद्ध आरम्भ होते ही देश के मौद्रिक क्षेत्र में भगदड़ सी मच गई। लोग शनः शनैः रुपये इकट्ठे करने लगे और इस प्रकार रुपये की मांग बढ़ने लगी। नोटों को वापस करके लोग रुपये के सिक्के लेने लगे। १५ जून, १९४० से लेकर अगस्त १९४० तक २२ करोड़ रुपये के नोट रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के पास आए जिनके बदले में बैंक ने रुपये चुकाए। रुपये के सिक्कों की बढ़ती हुई मांग को वश में करने के लिए सरकार ने २५ जून, १९४० को एक विज्ञप्ति द्वारा घोषणा की कि कोई भी व्यक्ति अपनी वास्तविक आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के नहीं रख सकता। इस घोषणा से रुपये के सिक्कों की मांग तो कम हुई पर सहायक सिक्कों की मांग बहुत बढ़ने लगी। २० जुलाई, १९४० को सरकार ने एक आदेश निकाला जिसके अनुसार एक रुपये के नोट चलाए गए। फरवरी १९४३ में रिजर्व बैंक ने २ रुपये के नोट चलाए।

फ्रांस के हार जाने के पश्चात् युद्ध की स्थिति और गम्भीर बन गई। नोटों के बदले में रुपयों की मांग बढ़ने लगी और लोग डाकखानों और बैंकों में से अपनी-अपनी जमा-राशि निकालने लगे। देशवासियों को सरकार की मुद्रा-पद्धति में संशय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होने लगा। लोग सरकारी सिक्यूरिटियों तथा डाकखाने के सर्टीफिकेट, जो उनके पास थे, बेचने लगे।

एक रुपये और दो रुपय के नोट चलान के अतिरिक्त सरकार न चांदी के सिक्कों में चांदी की मात्रा कम कर दी। २६ जुलाई, १९४० को एक आदेश निकाला गया जिसके अनुसार चांदी की अठन्नियों और चवन्नियों में चांदी की मात्रा $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{५}{१२}$ कर दी गई। २३ सितम्बर १९४० को एक आज्ञा पत्र और निकाला गया जिसके अनुसार रुपयों में चांदी की मात्रा $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{५}{१२}$ कर दी गई। चांदी के पुराने रुपयों का चलन भी बन्द कर दिया गया। ११ अक्टूबर, १९४० को एक आज्ञा पत्र निकालकर विक्टोरिया के छापेवाले रुपये और अठन्नियां १ अप्रैल, १९४१ तक वापस मांग लिए गए। ४ नवम्बर, १९४१ को एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियां भी बन्द कर दिए गए। ३० सितम्बर, १९४२ तक ये सिक्के सरकारी खजानों और रेलवे स्टेशनों पर लिए जा सकते थे। १ मई, १९४३ से विक्टोरिया और एडवर्ड के छापेवाले रुपये और अठन्नियां वैधानिक नहीं रहे। १ नवम्बर, १९४३ से जार्ज पंचम और जार्ज छठे के छापेवाले वे रुपये और अठन्नियां बन्द कर दिए गए जिनमें $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी का था। ३० दिसम्बर, १९४० से किटकिटी वाले नए रुपय चलाए गए। १९४२-४३ में छोटे-छोटे सिक्कों की भारी कमी अनुभव होन लगी। लोग तांबे के पैसे तथा अन्य छोटे सिक्कों को या तो गलाने लगे और या संचित करने लगे। इस अभाव को दूर करने के लिए बड़े-बड़े स्थानों पर डाक टिकटों का उपयोग किया गया। भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत रेजगारी का संचय दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। बम्बई और कलकत्ते की टकसालों में पैसे ढाले जाने लगे। लाहौर में भी एक टकसाल स्थापित की गई जहां अगस्त १९४२ से सिक्के ढालना आरम्भ हुआ। सरकार ने जनवरी १९४२ में गिलट का २ पैसे का सिक्का चलाया। इकन्नियों और दुअन्नियों में भी गिलट का अधिक अंश मिला दिया गया। १९४३ में छेदवाला नया पैसा चलाया गया। परन्तु लोग इसे अन्य कामों में प्रयोग करने लगे जिससे सरकार को इसे बन्द करना पड़ा। रेजगारी की मांग बढ़ती गई जिसे पूरा करने के लिए सरकार ने भरसक प्रयत्न किए। १९४४ में तो प्रति मास लगभग २१ करोड़ ९० लाख छोटे सिक्के बनाए जाते थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया खेरीज की कमी दूर होती गई।

देश की रक्षा के लिए तथा युद्ध-संचालन के लिए सरकार को रुपये की आवश्यकता होती थी। प्रति दिन भारतीय सेना पर लगभग २५ लाख रुपया व्यय होता था। इसकी पूर्ति के लिए सरकार ने जनता पर नए-नए कर लगाए तथा करों की दरें बढ़ा दीं। १९४० में आय-कर पर अतिरिक्त-कर लगाया गया। डाक की दरें बढ़ा दीं व पोस्ट कार्ड, लिफाफों की कीमतें बढ़ा दी गईं। सन् १९४२ में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अधिक-लाभ-कर की दर ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दी गई तथा अतिरिक्त-कर की दर २५ प्रतिशत से बढ़ाकर ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत कर दी गई। शक्कर, दियासलाई, शराब, अफीम आदि पर चुंगी बढ़ा दी गई। युद्धकाल में इतने अधिक कर लगाए गए कि करों से होनेवाली आय जो १९३९ में ८६ करोड़ रुपये थी, वह १९४५ में ३६० करोड़ रुपये हो गई।

इसके अतिरिक्त सरकार ने जनता से ऋण भी लिया। युद्ध-काल में कुल मिलाकर ३०० करोड़ रुपया जनता से उधार लिया गया।

११, १२ और १४ जनवरी, १९४६ को मुद्रा और बैंकिंग सम्बन्धी तीन आज्ञा पत्र निकाले गए। पहिले आज्ञा पत्र के द्वारा सभी बैंकों और सरकारी कोषों को आदेश दिया गया कि वे १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा ब्यौरा रिजर्व बैंक को भेजें। इसका उद्देश्य यह था कि १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा पता लगाया जा सके। दूसरे आज्ञा पत्र के द्वारा १०० रुपये से ऊपर वाले, ५०० रुपये, १००० रु० और १०,००० रुपये के नोटों का चलन बन्द कर दिया गया।* इसका उद्देश्य यह था कि बड़ी-बड़ी राशि के नोट चलना बन्द हो जाए जिससे लोग काला-बाजार और चोर-बाजारी न कर सकें। तीसरे आज्ञा पत्र द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वे देश के किसी भी बैंक का निरीक्षण करे और यदि आवश्यक समझे तो किसी भी बैंक को ऋण देने व राशि जमा करने से रोक दे। इसका उद्देश्य देश के बैंकों का ठीक-ठीक संचालन करना एवं देश की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ करना था।

विनिमय-नियन्त्रण—युद्धकाल में सरकार ने विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिए। विदेशी मुद्रा अब केवल उन्हीं कार्यों के लिए बेची जाती थी जो युद्ध में सहायक थे। सट्टेखोरी या मुनाफाखोरी के लिए विदेशी-विनिमय नहीं बेचा जाता था। भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत सरकार ने रिजर्व बैंक को अधिकार दे दिया कि वह सोना, सिक्यूरिटीज और विदेशी-विनिमय के खरीद-बेच का प्रबन्ध करे। रिजर्व बैंक ने इस काम के लिए एक विनिमय-नियन्त्रण-विभाग (Exchange Control Department) खोला और ४ सितम्बर, १९३९ को विनिमय-नियन्त्रण का उद्देश्य तथा उपाय समझाने के लिए एक सूचना निकाली जिससे जनता को इसकी जानकारी हो। अब विदेशी विनिमय केवल

---

* इंगलैण्ड ने कानून बनाकर ३० अप्रैल १९४५ से १० पौण्ड और उससे बड़ी राशिवाले नोट बन्द कर दिए थे। आस्ट्रेलिया, बेल्जियम तथा फ्रांस ने भी ऐसा ही किया था। —'कॉमर्स' जून १६, १९४५।

अब फिर भारत सरकार ने १०० रुपये से अधिक राशि के नोट चलाने की व्यवस्था कर ली है। रिजर्व बैंक इन नोटों को फिर चलाने लगा है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उन्हीं लोगों व संस्थाओं को बेचा जाता था जिनको रिजर्व बैंक इसके लिए उपयुक्त समझता था। ऐसे लोगों व संस्थाओं को, जो विदेशी विनिमय खरीद-बेच सकते थे, रिजर्व बैंक ने लाइसेंस दे दिए। अब ये ही लोग रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय खरीद सकते थे। दूसरे लोगों को विदेशी विनिमय इन लाइसेंस रखनेवाले बैंकों से खरीदना पड़ता था। विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अनेक कदम उठाए और ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई नए-नए उपाय काम में लाए जाते रहे। कुछ महत्त्वपूर्ण साधन, जिनके द्वारा युद्धकाल में विनिमय-नियन्त्रण किया गया, इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ने कुछ विदेशी विनिमय बैंकों तथा तालिका-बद्ध बैंकों (Scheduled Banks) को विदेशी विनिमय खरीदने-बेचने का अधिकार देने के लिए लाइसेंस दे दिए। लाइसेंस देने से पहिले इन बैंकों को यह बात समझा दी गई कि वे किन-किन कामों के लिए तथा किस प्रकार विदेशी विनिमय बेचा करें। ये बैंक विदेशी विनिमय तभी बेचा करते थे जब कि विदेशी विनिमय खरीदनेवाला व्यक्ति माल मंगवाने का सबूत दे दिया करता था। इन बैंकों को प्रतिदिन विदेशी विनिमय खरीद-बेच का लेखा रिजर्व बैंक को भेजना पड़ता था।

(२) सरकार ने एक निर्यात-नियन्त्रण योजना (Export Control Scheme) बनाई। इस योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो लोग भारत से बाहर माल भेजें और इस माल के बदले में जिन्हें विदेशी विनिमय (स्टर्लिंग को छोड़कर) मिले वे लोग इस विनिमय को रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना खर्च नहीं कर सकते।

माल के आयात करने पर भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया कि विदेशी विनिमय, विशेषतः दुर्लभ मुद्रा, केवल उसी माल को आयात करने के लिए मिलेगा जिस माल को आयात करनेवाले व्यापारी ने सरकार से आज्ञा लेकर मंगाया हो। यह प्रतिबन्ध २० मार्च १९४० में लगाया गया। परन्तु जैसे-जैसे परिस्थिति अनुकूल होती गई प्रतिबन्ध ढीले कर दिए गए। १९४४-४५ के पश्चात् सरकार ने माल आयात करने का प्रतिबन्ध कुछ ढीला कर दिया जिससे पहिले की अपेक्षा अब अधिक माल बाहर से आने लगा। लोगों के लिए बाहर जाने की सुविधाएं भी बढ़ा दी गईं। पहिले केवल उन्हीं लोगों को विदेशी विनिमय दिया जाता था जो किसी बहुत आवश्यक काम से विदेश जाते थे, परन्तु अब अन्य व्यापारियों और विद्यार्थियों को भी विदेश जाने की सुविधाएं मिलने लगीं।

(३) नवम्बर १९४१ में भारत सरकार ने, भारत में रहनेवाले लोगों के पास जो अमरीका का डॉलर-विनिमय था अपने अधिकार में ले लिया और उसके बदले में उनको रुपये दे दिए गए। सरकार ने भारत में रहनेवाले लोगों से अमरीका की सिक्यूरिटीज भी लेकर अपने अधिकार में कर लीं और उनके बदले

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में रुपये दे दिए। यह काम रिजर्व बैंक के विनिमय-नियन्त्रण विभाग के द्वारा किया गया।

(४) नवम्बर १९४० में प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना किसी भी प्रकार के सिक्के या नोट भारत से बाहर नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार सोना या किसी अन्य प्रकार के जेवर या जवाहिरात भी बाहर नहीं भेजे जा सकते थे। इनको भेजने के लिए भी रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

सितम्बर १९४३ में बाहर से नोट लाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अब कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक या भारत सरकार की आज्ञा के बिना बाहर से, रिजर्व बैंक या भारत सरकार के द्वारा भारत में चलाए गए नोटों या लंका के नोटों या अफगानिस्तान और ईरान के नोटों को छोड़ और दूसरे नोट नहीं ला सकता था। जनवरी १९४४ में भारत में चलनेवाले नोट भी बाहर से लाना बन्द कर दिया गया। रूस के सिक्कों के लाए जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(५) भारत से स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में रुपया भेजना भी बन्द कर दिया गया। अक्तूबर १९४१ में निश्चय कर दिया गया कि भारत में व्यापार करनेवाली कोई भी कम्पनी लाइसेंस लिए बिना अपने लाभों की कोई भी राशि स्टर्लिंग-क्षेत्र से बाहर नहीं भेज सकती। परन्तु १९४३-४४ में डॉलर मिलने लगे और अमरीका की कम्पनियों को भारत से बाहर रुपया भेजने की छूट मिल गई तथा दूसरी और कम्पनियों पर लगे हुए प्रतिबन्ध भी ढीले कर दिए गए।

(६) स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य देशों में जानेवाले यात्रियों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १७ जुलाई १९४३ को भारत सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके द्वारा रिजर्व बैंक से आज्ञा लिए बिना विदेशों को जानेवाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। अब रिजर्व बैंक की आज्ञा लिए बिना कोई भी व्यक्ति बाहर नहीं जा सकता था। परन्तु ये प्रतिबन्ध उन लोगों पर नहीं थे जो ईराक, अरब, पूर्वी अफ्रीका, इंगलैण्ड या भारत की सीमा पर लगे हुए अन्य देशों को जाना चाहते हों।

(७) २८ जुलाई १९४१ को भारत में व्यापार करनेवाली जापानी कम्पनियों और दूसरे जापानी व्यापारियों के विदेशी विनिमय छीनकर सरकारी अधिकार में ले लिए गए। जापानी कम्पनियां और जापानी व्यापारी रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना इनको किसी काम में नहीं ला सकते थे। दिसम्बर १९४१ में जापान के साथ युद्ध आरम्भ होने पर भारत में रहनेवाले जापानियों की सम्पत्ति शत्रु-सम्पत्ति घोषित करके सरकार ने अपने अधिकार में ले ली। सन् १९४२ में जापान के अधिकार में आए हुए देशों, जैसे हांगकांग, मलाया, बोर्नियो आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देशों के रहनेवाले लोगों की भारत-स्थित सम्पत्ति भी सरकारी अधिकार में कर ली गई।

इन सब उपायों के द्वारा भारत ने विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया। इनका उद्देश्य यह था कि विदेशी विनिमय को अन्य कामों से बचा-बचाकर लड़ाई के लिए माल खरीदने के काम में लाया जाय। दूसरा उद्देश्य यह भी था कि विदेशी विनिमय का इस प्रकार प्रबन्ध हो जिससे शत्रु उससे कोई लाभ न उठा सके। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण करने में इस बात का प्रयत्न किया गया कि व्यक्तिगत व्यापार कम-से-कम हो जिससे माल लाने-लेजानेवाले जहाज और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ लड़ाई के काम में लाई जा सकें। अब युद्ध समाप्त होने के बाद भी विदेशी विनिमय पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण है।

मुद्रा-स्फीति एवं मूल्य-वृद्धि

भारतीय मुद्रा के इतिहास में युद्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मद्रा-स्फीति है जिससे देश में वस्तुओं के भाव असीमित गति से बढ़ते गए। युद्धकाल में मुद्रा और साख का इतना अकल्पनीय विस्तार हुआ कि वस्तुओं की मात्रा की तुलना में लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ गई जिससे देश का सामान्य मूल्य-स्तर ऊँचा हो गया। युद्धकाल में सरकार की मुद्रा-नीति अधिक से अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा चलाकर युद्ध-व्यय को पूरा करने की थी। अगस्त १९३९ में कुल मिलाकर १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे, परन्तु १९४७ में नोटों की कुल संख्या १२४३ करोड़ रुपये हो गई। नोट-वृद्धि के साथ साथ देश में मूल्य-स्तर भी बढ़ता गया। अगस्त १९३९ के मूल्य की अपेक्षा जनवरी १९४५ के मूल्य-स्तर में इस प्रकार बढ़ोत्तरी हुई :—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ों में)	अर्थ-सलाहकार का मूल्यांक (१९३९=१००)
१९३९	१७९	१००
१९४०	२३८	१३३
१९४१	२४५	११४
१९४२	३५६	१४५
१९४३	५९३	१९५
१९४४	८८२	२३२
१९४५	१०३४	२५०

इस तालिका के मूल्यांक उन वस्तुओं के हैं जिन पर सरकार का नियंत्रण था और जिनके मूल्य भी सरकार ने नियत कर रक्खे थे। अगर उन वस्तुओं के मूल्यों को लिया जाय जो चोर-बाजार में बिकती थीं तो मूल्यों की बढ़ोत्तरी का प्रतिशत ४०० से भी आगे बढ़ जायगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार नोटों की संख्या बढ़ती गई और साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य भी चढ़ते गए। इन दोनों ही समस्याओं ने देश में मुद्रा-स्फीति का भान कराया। सबसे पहले १९४३ में भारतीय अर्थ-शास्त्रियों ने यह आवाज उठाई कि देश में मुद्रा-स्फीति के चिह्न आ चुके हैं। उन्होंने समझाया कि देश में युद्ध के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ती जा रही है और उत्पादन उसकी अपेक्षा कम है। अर्थ-शास्त्रियों ने संकेत किया कि यह मुद्रा-स्फीति नोटों के बढ़ने के कारण पैदा हो रही है और बड़ी भयानक है। इण्डियन चेम्बर ऑव कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री के अधिकारियों ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। १९४६ में फिर अर्थ-शास्त्रियों ने सरकार को इस ओर सचेत किया और कहा कि मुद्रा-स्फीति के दोष बढ़ते ही जा रहे हैं इसलिए जनता को इन दोषों से बचाने के लिए सरकार को शीघ्र प्रयत्न करने चाहिएं। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने भी इस बात को मान लिया कि देश में मुद्रा-स्फीति है परन्तु उसने इसको दूर करने के कोई उपाय नहीं बताए। रिजर्व बैंक की हिस्सेदारों की ८वीं वार्षिक मीटिंग की रिपोर्ट में कहा गया था कि "देश में मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारण मुद्रा-स्फीति पैदा हो गई है। परन्तु इसको दूर करने के उपाय सोचने से पहिले हमें यह सोचना होगा कि मुद्रा की संख्या क्यों बढ़ रही है। और यदि मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारणों पर विचार करें तो पता लगता है कि उन कारणों को दूर करने में अकेला रिजर्व बैंक कुछ नहीं कर सकता।" इससे अगली रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने स्वीकर किया कि "मुद्रा-स्फीति को जीवन की आवश्यक वस्तुओं जैसे खाना, कपड़ा आदि के उत्पादन में कमी होने के कारण और भी बल मिलता जा रहा है जिससे वस्तुओं के भाव निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।" १९४४ में रिजर्व बैंक ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में बताया कि "मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है तथा नए-नए टैक्स भी लगाए गए हैं। अगर इन दोनों बातों में सरकार को सफलता न मिली तो देश में मूल्य-स्तर गिराना तथा जनता का जीवन-व्यय कम करना असम्भव हो जाएगा।"

मुद्रा-प्रसार का सबसे बड़ा कारण भारत सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत सरकार ने इंगलैण्ड और मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत के बाजारों से अन्न, कपड़ा आदि आवश्यक माल खरीदा। यह माल युद्ध चलाने के लिए खरीदा गया था। इस माल के बदले में इंगलैण्ड की सरकार ने भारत सरकार को नकद रुपया नहीं दिया वरन् यह रुपया इंगलैण्ड में भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां दे दी जाती थीं। इन्हीं सिक्यूरिटियों के बल पर नोट छापकर चलाए जाते और व्यापारियों का भुगतान किया जाता था। इस प्रकार नोटों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती रही। पहले पहल इंगलैण्ड की सरकार ने ४२६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करोड़ रुपये का माल खरीदने के लिए भारत सरकार को ऑर्डर दिए। परन्तु जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया तैसे-तैसे अधिक माल खरीदा जाता रहा और नोटों की संख्या बढ़ती रही।

भारत जितना माल आयात करता था उससे कहीं अधिक माल निर्यात करता था। यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट होती है :—

वर्ष	व्यापाराधिक्य (भारत के पक्ष में) करोड़ रुपयों में
१९३८-३९	+ १७.५९
१९३९-४०	+ ४८.८१
१९४०-४१	+ ४१.९९
१९४१-४२	+ ७९.६०
१९४२-४३	+ ८४.२५
१९४३-४४	+ ९१.३२
१९४४-४५	+ २६.०८

इस अनुकूल व्यापाराधिक्य के बदले में बाहर से न तो माल आ सका और न सोना ही मिला। इसके बदले में तो स्टर्लिंग मिले जिनके आधार पर सरकार ने नोट छापकर व्यापारियों के भुगतान चुकाए। युद्ध काल में सोना-चांदी भी देश से बाहर भेजे गए। फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑव कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री की १४ वीं वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि १९४० में लगभग ३४ करोड़ रुपये का सोना बाहर भेजा गया जिसके बदले में स्टर्लिंग मिले जिनके आधार पर हमारे यहां मुद्रा-प्रसार हुआ।

केन्द्रीय सरकार ने युद्ध-काल में खर्चा भी खूब किया जिससे देश में मुद्रा-प्रसार बढ़ता गया। सरकार ने रक्षा-विभाग पर काफी खर्च किया जो इस प्रकार है—

वर्ष	रक्षा-व्यय (करोड़ रुपयों में)
१९३९-४०	४९.६४
१९४०-४१	७३.६१
१९४१-४२	१०३.९३
१९४२-४३	२६७.१३
१९४३-४४	३९५.८६
१९४४-४५	४५६.६४
१९४५-४६	३९१.३५
१९४६-४७	२४५.३४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार १९३९-४० से १९४६-४७ तक १९८३.५० करोड़ रुपये व्यय किए गए। इसका यह परिणाम हुआ कि देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई। इस खर्चे के लिए सरकार ने जनता से ऋण लिए और भारी-भारी टैक्स भी लगाए। नोट भी छाप छापकर चलाए गए। सरकार ने स्टर्लिंग-सिक्यूरिटीज के आधार पर तो नोट चलाए ही—ट्रेजरी-विलों (Treasury Bills) के आधार पर भी नोट छापे। १९३९-४० में ट्रेजरी-विलों की संख्या, जिनके आधार पर नोट छापे गए थे, ३७ करोड़ रुपए थी परन्तु १९४१-४२ में इनकी संख्या ७५ करोड़ रुपये हो गई तथा १९४२-४३ में इनकी संख्या १३९ करोड़ रुपये तक जा पहुँची।

समस्या को हल करने के लिए सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों से सलाह की। सब वर्गों ने समर्थन किया कि वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हैं और अब उनको रोकना चाहिए। पूंजीवादियों ने उत्पादन-वृद्धि पर जोर दिया और सुझाव दिए कि मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर दी जाए, आवागमन के साधन सुव्यवस्थित किए जाएँ तथा आय-कर में छूट दी जाए और बैंक-दर न बढ़ाई जाए। मजदूर-दल के नेताओं ने मुनाफाखोरी तथा रिश्वतखोरी को कठोरतापूर्वक हटाने की सलाह दी। बैंकों के प्रतिनिधियों ने बैंक-दर बढ़ान पर जोर दिया। परन्तु सभी वर्गों ने इस बात का समर्थन किया कि सरकार अपना व्यय कम करके बजट के घाटे को पूरा करे। सरकार ने इन सब सुझावों को सामने रखकर अनेक प्रयत्न किए। जीवन की आवश्यक वस्तुओं, विशेषतः अन्न और कपड़े पर नियन्त्रण लगा दिए—इनके मूल्य निश्चित कर दिए गए तथा सरकार ही इन वस्तुओं के बेचने का प्रबन्ध भी करने लगी। मुद्रा की बढ़ी हुई संख्या को कम करने के लिए नए-नए कर लगाए। सरकार ने जनता से ऋण लिए। बचत-बैंकों में राशि जमा करने की सीमा बढ़ा दी गई। कम्पनियों के द्वारा बांटे जानेवाले लाभांश सीमित कर दिए। सरकार ने सोना भी बेचा जिससे लोग सोना खरीदकर क्रय-शक्ति सरकार को लौटा दें। विदेशों से माल आयात करने की छूट दे दी गई जिससे लोग माल आयात करें और देश में माल का अभाव दूर हो। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने अपने-अपने खर्चे कम करने के प्रयत्न किए। केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को दी जानेवाली सहायता कम कर दी। राज्य-सरकारों ने कृषि-आय-कर तथा विक्री-कर लगा दिए। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए नई-नई सुविधाएं दी गईं। घोषणा की गई कि नए उद्योगों से कुछ निश्चित समय तक आय-कर नहीं लिया जाय तथा विदेशों से यंत्रादि मँगाने पर उन पर आयात-कर की छूट दे दी गई। इससे नए उद्योग खुलने में सहायता मिली। परन्तु मुद्रा-स्फीति की मूल समस्या हल न हो सकी।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी देश म वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ते रहे। अगस्त १९४५ में अर्थ-सलाहकार का मूल्यांक २४४.१ था जो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नवम्बर १९४६ में बढ़कर २८९.६ हो गया। नवम्बर १९४६ के पश्चात् वस्तुओं के भाव और चढ़े और इतने बढ़ गए कि मार्च १९४७ तक मूल्यांक ३४४ हो गया और अगस्त १९४८ तक ३८३ हो गया। अन्न के भाव सबसे अधिक ऊँचे हो गए। सितम्बर १९४५ में अन्न का मूल्यांक २६४.२ था जो मार्च १९४८ में बढ़कर ४०२ हो गया। अन्न के अतिरिक्त कच्चे-माल के भाव भी बहुत ऊँचे रहे।

युद्ध के पश्चात् भी कुछ समय तक नोटों की संख्या बढ़ती ही रही। ३१ दिसम्बर, १९४५ को कुल ११५४ करोड़ रुपये के नोट थे परन्तु जनवरी १९४६ में इनकी संख्या १२४८ करोड़ रुपये हो गई और जून १९४६ में यही संख्या आगे बढ़कर १२५४ करोड़ रुपये हो गई। परिचलन (Circulation) में भी नोटों की संख्या बढ़ती ही गई। सितम्बर १९४५ में ११४१.८४ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु जून १९४६ में यह संख्या बढ़कर १२४१.९७ करोड़ रुपये हो गई। नीचे लिखी तालिका से यह बात स्पष्ट होती है :—

		(करोड़ रुपयों में)		रिजर्व बैंक के पास
		कुल नोटों की संख्या	चालू नोटों की संख्या	जमा स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां
सितम्बर	१९४५	११६२.७४	११४१.८४	१०४२.३२
अप्रैल	१९४६	१२४५.९५	१२३५.१२	११२४.७
जून	१९४६	१२५४.३३	१२४१.९७	११३५.३२
नवम्बर	१९४६	१२५८.८९	१२०१.२९	११३५.३२
दिसम्बर	१९४६	१२५८.५९	१२१८.७८	११३५.३२
मार्च	१९४७	१२५७.४७	१२४३.०३	११३५.३२

इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि रिजर्व बैंक के कोष म स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों की संख्या, जिनके बल पर युद्धकाल में नोट छापे गए थे, लगभग स्थिर रही परन्तु नोटों की संख्या बढ़ती गई। इसका अर्थ यह निकलता है कि युद्धोत्तर काल में युद्धकाल की भांति स्टर्लिंग के आधार पर नोट नहीं छापे गए वरन् देश में रुपये की आवश्यकता को पूरा करने के लिए व बजट के घाटे को पूरा करने के लिए नोट छापकर चलाए गए। सरकार को काश्मीर की लड़ाई के लिए, हैदराबाद की चढ़ाई के लिए तथा बे-घर लोगों को बसाने के लिए रुपये की आवश्यकता थी और इसलिए नोटों की संख्या बढ़ाई गई। सरकारी कर्मचारियों और मजदूरों के वेतन में वृद्धि होने के कारण भी सम्भवतः कुछ अधिक मुद्रा की आवश्यकता हुई, पर मुद्रा में यह वृद्धि उस समय हुई जब कि उत्पादन में एक-तिहाई कमी हो गई थी। युद्धकाल में विदेशी सरकार की रुपये की कमी को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूरा करने के लिए मुद्रा-प्रसार हुआ तथा युद्धोत्तर काल में भारत सरकार की रुपये की कमी को पूरा करने के लिए नोट चलाए गए इसलिए मुद्रा-प्रसार हुआ।

युद्ध के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट घाट में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए पहिले तो नोट छापे गए तथा बाद में रिजर्व बैंक की रोकड़ राशि में से खर्च किया गया। इससे मुद्रा की संख्या बढ़ती गई। बजट में घाटा होने के कारण थे—अन्न पर असाधारण खर्चा, बे-घर लोगों को बसाने का खर्चा तथा सरकारी खर्चों में बढ़ोत्तरी आदि। केन्द्रीय सरकार के बजटों का घाटा इस प्रकार रहा—

(करोड़ों रुपयों में)

	१९४५-४६	१९४६-४७ संशोधित	१९४७-४८ संशोधित	१९४८-४९ संशोधित
आय	३६०.६७	३३६.१९	१७८.७७	३३८.३२
व्यय	४८४.५७	३८१.४८	१८५.२९	३३९.८७
घाटा	−१२३.९०	−४५.२९	−६.५२	−१.५५

इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारों के बजट भी घाटे में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए मुद्राशक्ति बढ़ाई गई परन्तु उत्पादन न बढ़ाया जा सका।

युद्ध के बाद माल का उत्पादन भी कम होता गया। 'ईस्टर्न एकौनोमिस्ट' द्वारा तैयार किए गए उत्पादन के अंकों से पता चलता है कि १९४३-४४ में औद्योगिक उत्पादन के अंक १२६.८ थे जो १९४६-४७ में १०५ हो गए। अन्न-उत्पादन का तो और भी बुरा हाल रहा। १९३६-३७ व १९३७-३८ में अन्न-उत्पादन के औसत अंक १०० थे जो १९४५-४६ में घटकर ९४ आ गए तथा १९४६-४७ में ९६ और १९४७-४८ में ९७ हो गए। इस प्रकार उत्पादन की कमी होने से बाजार में माल की कमी रही और भाव चढ़ते रहे। औद्योगिक उत्पादन गिरने के कारण थे—सरकार द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विचार, कच्चे माल की कमी, मजदूरों की हड़ताल, मशीनों की खराबी, भारी-भारी टैक्स तथा ऊँची-ऊँची दरों पर मजदूरी का भुगतान, आदि-आदि। १९४६ में उद्योगों ने श्रम-विवादों के कारण १,२०,००,००० पुरुष-दिन खोए और १९४७ में १,७०,००,००० पुरुष-दिन खोए। इस प्रकार उत्पादन तो कम रहा ही परन्तु वितरण की दुर्व्यवस्था के कारण भी महंगाई बनी रही। लोगों ने माल छिपा छिपाकर इकट्ठा किया। सरकार ने संग्रह-विरोधी कानून भी बनाए परन्तु कोई फल न निकला। युद्ध के पश्चात् महात्मा गांधी ने कण्ट्रोल हटाने का आन्दोलन उठाया। अन्न-नीति निर्धारण-समिति ने भी कण्ट्रोल हटा लेने की सिफारिश की। तदनुसार सरकार ने दिसम्बर १९४७ में कण्ट्रोल तोड़ दिए। कण्ट्रोल हटाते ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वस्तुओं के भाव आकाश में चढ़ने लगे और जनता को और भी अधिक कठिनाई रही। अक्तूबर १९४८ में कण्ट्रोल फिर लगा दिए गए परन्तु मूल्य ज्यों के त्यों रहे। यदि सच पूछा जाय तो अन्न की विकट समस्या ने मूल्यों के बढ़ने में काफी सहायता की। देश के विभाजन से तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गई।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों के अनुसार १९४९ के पश्चात् मूल्य-स्तर गिरने का अनुमान लगाया जाता था और आशा की जाती थी कि इस वर्ष के पश्चात् तो अवश्य ही मंदी होगी परन्तु इसी बीच में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा हो गई जिसने मूल्यों के बढ़ने में काफी योग दिया। पूर्व में कोरिया का युद्ध आरम्भ होते ही माल के भाव और अधिक चढ़ने लगे। देश भर में एक प्रकार का आतंक छा गया। अमरीका तथा इंगलैण्ड युद्ध के लिए पुनः शस्त्रीकरण के काम में जुटने लगे। अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में माल संग्रह करने की योजनाएँ बन गईं। ये देश लड़ाई का अनुमान लगाकर कच्चा माल इकट्ठा करने लगे जिससे हमारे देश से इनकी मांग बढ़ गई और माल के भाव अधिक ऊँचे होने लगे। रुपये के अवमूल्यन का भी मूल्य-वृद्धि पर कुछ अनुकूल ही प्रभाव पड़ा।

सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को देखकर मूल्य-स्तर कम करने की ठानी। एक विस्तृत योजना बनाकर मूल्यों को कम करने का प्रयत्न किया गया। इस योजना की मुख्य मुख्य बातें थीं—अन्न के उत्पादन में वृद्धि करके वितरण पर नियन्त्रण रखना, बजट के घाटे पूरे करके संतुलित बचट बनाने का प्रयत्न करना, सरकारी व्यय कम करना, सरकारी आय बढ़ाना, जनता को बचत करने की सुविधाएँ देना तथा कम्पनियों के लाभांश सीमित करना। १९५१-५२ के बजट में बजट बनाते समय ५ करोड़ रुपये का घाटा था जो ३१ करोड़ रुपये के नए प्रस्तावों के बाद बराबर करके बजट में २६ करोड़ रुपये का आधिक्य रक्खा गया। सन् १९५२ का बजट पेश करते समय ज्ञात हुआ कि गत वर्ष बजट में ९२ करोड़ रुपये की बचत हुई। इससे क्रय-शक्ति अवश्य कम हुई। गत १२ वर्षों में इतनी बचत का यह पहिला बजट था। नवम्बर १९५१ में साख-सुविधाएँ कम करके मूल्य गिराने की नीयत से सरकार ने एक नया कदम और उठाया। बैंक-दर ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दी गई तथा रिजर्व बैंक ने खुला-बाजार क्रियाएँ बन्द कर दीं। इससे मुद्रा-प्रसार पर आशानुकूल प्रभाव पड़ा। ये सरकार के अन्तिम उपाय थे जो उसने मूल्य-स्तर को गिराने के लिए किए।

इन उपायों का कुछ चमत्कारी परिणाम निकला। मार्च १९५२ के आरम्भ से ही मूल्यों में संकट का वायुमण्डल छाया। वस्तुओं के भावों में गिरावट आई। लगभग सभी वस्तुओं जैसे अन्न, तेल, गुड़, रूई, पटसन, सोना, चांदी के भाव नीचे आने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि मुद्रा-स्फीति का चक्र समाप्त होकर अवसाद आनेवाला हो। पर कुछ ही समय बाद से स्थिति फिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बदल गई। भाव चढ़ने लगे। आज वस्तुओं के भाव कुछ स्थिर से बन चुके हैं। देशों की अपेक्षा भारत का मूल्यांक ऊँचा ही है। कोरिया में विराम संधि होने के पश्चात् मूल्यों में कमी होने लगी है। अमरीका की ओर से अवसाद की अन्य बातें आने लगी हैं। इधर हमारी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि हुई है। अतः अब तो प्रश्न यह हो चला है कि देश को सम्भावित अवसाद के चंगुल से कैसे बचाया जायगा।

सारांश

युद्ध आरम्भ होते ही देश के औद्योगिक क्षत्र में खलबली मच गई। नोटों को लौटाकर लोग बदले में रुपये के सिक्के चाहने लगे। जून १९४० से लेकर अगस्त १९४० तक २२ करोड़ रुपये के नोट रिजर्व बैंक के पास आए जिनके बदले में बैंक ने रुपये चुकाए। २० जुलाई १९४० को सरकार ने एक रुपये के नोट चलाए। फरवरी १९४३ से बैंक ने दो रुपये के नोट भी चलाए। २६ जुलाई १९४० को चांदी की अठन्नियों और चवन्नियों में से चांदी की मात्रा $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{५}{१२}$ कर दी। २३ सितम्बर १९४० से रुपयों में से भी चांदी की मात्रा $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{५}{१२}$ कर दी गई। ११ अक्तूबर १९४० को आज्ञापत्र निकालकर विक्टोरिया के छापेवाले रुपये बन्द कर दिए गए। १ मई १९४३ से विक्टोरिया तथा एडवर्ड के छापेवाले रुपये वैधानिक नहीं रहे। १ नवम्बर १९४३ से जार्ज पंचम और जार्ज छठे वाले वे रुपये बन्द कर दिए गए जिनमें $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी का था। जनवरी १९४२ में सरकार न दो पैसे का सिक्का चलाया। १९४३ में नया छेद वाला पैसा चलाया गया। १९४० में आय-कर पर अतिरिक्त-कर लगाया गया। डाक की दरें बढ़ा दी गईं। १९४६ में १०० रु० से अधिक राशि के नोट वैधानिक नहीं रहे।

युद्धकाल में सरकार ने विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिए। विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगा दिया। यह काम रिजर्व बैंक अपने विनिमय-नियंत्रण विभाग द्वारा करने लगा। विदेशी विनिमय का लेन-देन करने के लिए कुछ बैंकों को लायसेंस दे दिए गए—केवल वे ही बक विदेशी मुद्रा का लेन-देन कर सकते थे। सरकार न विदेशी मुद्रा तथा देशी मुद्रा के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। २८ जुलाई १९४१ को भारत-स्थित जापानी कम्पनियों के विदेशी विनिमय छीनकर सरकारी अधिकार में ले लिए गए। १७ जुलाई १९४३ को रिजर्व बैंक ने विज्ञप्ति निकालकर बाहर जानेवाले लोगों पर प्रतिबन्ध लगा दिए। स्टर्लिंग-क्षेत्र को छोड़ अन्य स्थानों को राशि भेजना बन्द कर दिया गया। इस प्रकार युद्धकाल में विदेशी विनिमय के लेन-देन पर पूर्ण नियंत्रण रहा।

युद्धकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना मुद्रा-स्फीति है। सरकार युद्धकालीन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए नोट छाप छापकर चलाती रही। अगस्त १९३९ में कोई १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे जो १९४५ में १०३४ करोड़ रुपये के हो गए। इस प्रकार नोटों की सख्या बढ़ती गई और साथ साथ मूल्यस्तर भी ऊंचे हो गए। मुद्रा-प्रसार होने के कई कारण थे—(१) भारत सरकार द्वारा मित्रराष्ट्रों को सहायता देना, (२) अनुकूल व्यापाराधिक्य, (३) रक्षा सम्बन्धी अपार व्यय, (४) सरकार के बढ़ते हुए खर्चे। सरकार न मुद्रा-स्फीति को दूर करने के अनेक प्रयत्न किए—(१) सरकारी व्यय कम करने के प्रयत्न किए गए, (२) नए-नए कर लगाए गए, (३) मूल्य-नियंत्रण किए गए, (४) सरकार माल बेचने का प्रबन्ध करने लगी, (५) चोर-बाजारी को रोकने के कड़े नियम बनाए, (६) बैंक-दर बढ़ाई गई। इन सब उपायों से १९५२ के आरम्भ में मूल्य कुछ गिरे पर कोरिया युद्ध के कारण फिर चढ़ते गए। अब मूल्यों में स्थिरता आने लगी है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) द्वितीय युद्धकालीन भारतीय मुद्रा और विनिमय-पद्धति का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(२) द्वितीय युद्धकाल में मुद्रा और विनिमय का प्रबन्ध करने में सरकार को क्या क्या कठिनाइयां हुईं? सरकार ने इन कठिनाइयों का किस प्रकार सामना किया?

(३) युद्धकाल में विदेशी विनिमय-नियंत्रण कैसे किया गया था? ब्यौरेवार लिखिए।

(४) भारत सरकार की युद्धकालीन मौद्रिक नीति पर आलोचनात्मक लेख तैयार कीजिए।

(५) युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के क्या कारण थे? सरकार ने मुद्रा-स्फीति को वश में करने के क्या-क्या उपाय किए?

(६) युद्धकाल में देश की मुद्रा-प्रणाली में क्या क्या फेर-बदल की गईं? ये फेर-बदल क्योंकर की गई?

(७) निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए :—

(१) मुद्रा-स्फीति
(२) नोटों का युद्धकालीन विमुद्रीकरण
(३) युद्धकालीन विनिमय-नियंत्रण।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २४

पौंड पावने एवं उनका भुगतान

द्वितीय विश्व-युद्ध की हमारे लिए सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि हमारे देश का इंगलैण्ड की सरकार पर करोड़ों रुपये का ऋण हो गया। युद्ध से पूर्व हमारा देश इंगलैण्ड के साम्राज्यवादी ऋण के भार से दबा हुआ था। युद्धकाल में यह सब ऋण चुका दिया गया। भारतवासियों ने भूखे पेट और नंगे शरीर रहकर इंगलैण्ड को करोड़ों रुपयों का माल भेजा तथा इंगलैण्ड की सरकार को युद्ध-व्यय चलाने में सहायता की। जो माल हम भेजते थे उसके बदले में हमारे लेखे में इंगलैण्ड में पौण्ड जमा हो जाते थे। इसी ऋण-राशि को 'पौण्ड-पावना' कहते हैं। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के बल पर नोट चलाने का अधिकार था। युद्धकाल में इंगलैण्ड की सरकार हमारे माल के बदले में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां देती रही और रिजर्व बैंक इनके बल पर देश में नोट छापकर चलाता रहा। इस प्रकार हमारे देश में नियंत्रित मूल्यों पर माल खरीदा गया और पौण्ड-पावने जमा होते रहे। पौण्ड-पावने इस प्रकार बढ़ते गये—

वर्ष	राशि
१९३९-४०	१४५ करोड़ रुपये
१९४०-४१	१४८ ,,
१९४१-४२	२८४ ,,
१९४२-४३	५११ ,,
१९४३-४४	९४८ ,,
१९४४-४५	१४७२ ,,
१९४५-४६	१६८० ,,

१९४७ के अन्त में पौण्ड-पावने लगभग १७०० करोड़ रुपये के आंके गए थे। पौण्ड-पावने इंगलैण्ड में हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति थी जिसके कमाने में देशवासियों को अभूतपूर्व संकट का सामना करना पड़ा। इनके इकट्ठे होने से देश लेनदार अवश्य बन गया पर इससे देश का आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो गया। बंगाल का अकाल और गगनचुम्बी मूल्य-स्तर इसी के दुष्परिणाम थे। ये हमारे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

त्याग और बलिदानों के संग्रह थे। इनका समुचित प्रयोग हमारे कई आर्थिक प्रश्नों को सरलता से हल कर सकता था। युद्धोत्तरकालीन देश के आर्थिक विकास की योजनाएं जो यंत्रों और अन्य पूंजीगत माल के अभाव में अपूर्ण थीं इन पर आस लगाए बैठी थीं। वास्तव में हमारे लिए पौण्ड-पावनों का बड़ा महत्त्व था।

पौण्ड-पावने के भुगतान के विषय में चर्चा युद्धकाल से चलती आई थी। ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन में भाग लेते हुए लार्ड कीन्स ने इन ऋणों के न्यायोचित भुगतान के पक्ष में दलील दी थी। डाक्टर हिक्स ने हमारी इस पूंजी को 'अवक्षणय कोष' कहकर पुकारा था। उनका मत था कि युद्धकाल में भारतवासियों ने नंगे-भूखे रहकर जो त्याग किए, भारतीय उद्योगों के यत्नों की जो घिसावट हुई उन्हीं के परिणामस्वरूप यह पौण्ड-पावने थे जिन पर भारत का न्यायपूर्ण अधिकार था। पर युद्धकाल में ही हमें हमारे पौण्ड-पावनों का भुगतान सम्भव नहीं था क्योंकि इंगलैण्ड उस समय भुगतान करने में समर्थ नहीं था। उसे स्वयं अमरीका का दरवाजा खटखटाना पड़ रहा था। युद्ध समाप्त होने पर पौण्ड-पावनों के भुगतान में इंगलैण्ड की सरकार आनाकानी करने लगी। मिस्टर चर्चिल ने, जो उस समय भी इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री थे, इस पूंजी के भुगतान का घोर विरोध किया। उनकी मुख्य दलीलें इस प्रकार थीं :—

(क) चूंकि भारत की रक्षा के लिए इंगलैण्ड ने प्रयत्न किया था इसलिए इस ऋण में कमी की जानी चाहिए;

(ख) इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति तथा ऋण भुगतान करने की शक्ति घट गई थी इसलिए इन ऋणों में कमी हो जानी चाहिए।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखा जाए तो इन दलीलों में कोई तथ्य नहीं था। ये तो इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों की परम्परागत चालबाजी की तरकीबें थीं। इन्हीं तरकीबों के कारण हमारे पौण्ड-पावनों का भुगतान टलता रहा। भारत सरकार एवं भारतवासियों को भय बना रहा कि कहीं चर्चिल सरकार एक कलम चलाकर हमारी सम्पत्ति का निबटारा न कर दे और हमें अब भी केवल यातनाएँ ही भोगनी पड़ें। परन्तु भारत का भाग्य ! इंगलैण्ड के चुनावों में चर्चिल पार्टी हार गई और वहां के शासन की बागडोर श्रमदल के हाथ लगी। मि० एटली प्रधान मन्त्री हुए। नई सरकार ने हमारे पौण्ड-पावनों का सम्मान-पूर्वक भुगतान चुकाने का निर्णय किया। पर इंगलैण्ड इतनी बड़ी राशि का भुगतान एक साथ ही नहीं चुका सकता था क्योंकि वहां की आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी। दूसरें, भारत को ऐसे पूंजीगत माल की आवश्यकता थी जो इंगलैण्ड में उपलब्ध नहीं था। अतः भारत का काम भी इंगलैण्ड से ही माल मंगाकर पौण्ड-पावना चुका लेने से नहीं चल सकता था। अतः निश्चय किया गया कि इंगलैण्ड की सरकार भारत सरकार से सम्मेल करके शनैः शनैः दोनों की सुविधा-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नुसार इनका भुगतान चुका दे। इसके लिए दोनों सरकारों के बीच में जो समझौते हुए वे इस प्रकार हैं:—

पौण्ड पावनों का भुगतान—१९४७ का समझौता

जनवरी १९४७ में दोनों सरकारों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत को पौण्ड-पावनों के बदले में स्टर्लिंग-क्षेत्र से माल खरीदने का अधिकार मिला। यह समझौता अधिक दिन न चल सका। इसी बीच इंगलैण्ड और अमरीका में एक आर्थिक समझौता हुआ। इससे परिस्थिति बिलकुल बदल गई और इंगलैण्ड को भारत के साथ एक नए सिरे से समझौता करना पड़ा। यह समझौता १४ अगस्त, १९४७ को हुआ। इस समझौते के अनुसार इंगलैण्ड की सरकार ने हमारे पौण्ड-पावनों के दो खाते खोल दिए। खाता नं० १ में ६½ करोड़ पौण्ड जमा किया गया जिनको खर्च करके किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता था। बचा हुआ कोष ११६ करोड़ पौण्ड के बराबर आंका गया और इसे खाता नं० २ में जमा कर दिया गया। खाता नं० २ की राशि केवल पूंजीगत माल खरीदने के काम आ सकती थी। यह भी तय किया गया कि खाता नं० २ की राशि पर साधारण ब्याज-दर से अधिक ब्याज मिलेगा। यह समझौता पत्र-व्यवहार द्वारा आगामी ६ महीनों के लिए बढ़ा दिया गया। भारत को १ करोड़ पौण्ड और मिले। इस विषय में यह बात समझने योग्य है कि एक वर्ष के अन्दर भारत को जो स्टर्लिंग खर्च करने के लिए मिला वह खर्च नहीं हो सका। उसका कारण यह था कि न तो सरकार के पास माल आयात करने की कोई योजना थी और न पूंजीपतियों को इतना समय मिल सका कि वे बाहर से माल मंगा सकते।

जुलाई सन् १९४८ का समझौता

इस समझौते की शर्तें १५ जुलाई को एक साथ भारत और ब्रिटेन में प्रकाशित कर दी गई थीं। समझौते की मुख्य शर्तें यह थीं:—

(क) १ अप्रैल, १९४७ को अविभाजित भारत की सरकार ने इंगलैण्ड द्वारा भारत में छोड़े गए सभी फौजी सामान को अपने अधिकार में ले लिया था। इसका मूल्य उस समय निश्चित नहीं किया गया था वरन् यह बात बाद में निश्चित करने के लिए छोड़ दी गई थी। इसका मूल्य ३७½ करोड़ पौण्ड या ५०० करोड़ रुपये आंका गया किन्तु १० करोड़ पौण्ड या १३३.३ करोड़ रुपयों में यह मूल्य तय हो गया। यह राशि हमारे पौंड-पावनों में से कम कर दी गई।

(ख) समझौते का दूसरा भाग पेंशनों के विषय में है। भारत स्वतन्त्र होने के बाद बहुत से अंग्रेज अफसर रिटायर (retire) हो गए। इनकी पेंशन देने का भार भारत सरकार पर था। समझौते के अनुसार पेंशनों का मूल्य १४ करोड़

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

६५ लाख पौण्ड या १९७ करोड़ रुपये निश्चित किया गया। पेंशन चुकाने के लिए भारत सरकार ने इंगलैण्ड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली जिसके लिए १९७ करोड़ रुपये की राशि पौण्ड-पावनों में कम कर दी गई। यह राशि केन्द्रीय अफसरों की, जो रिटायर्ड हो गए थे, पेंशनों के चुकाने के लिए निश्चित की गई थी। इसके अतिरिक्त भारत ने प्रान्तीय सरकारों के अंग्रेज अफसरों की पेंशन चुकाने के लिए भी २७ करोड़ रुपयों की एक वार्षिकी खरीद ली और यह राशि भी पौण्ड-पावनों में कम कर दी गई। इस प्रकार वार्षिकी के खाते पर कुल २२४ करोड़ रुपये कम किए गए। यह भी निश्चित किया गया कि वार्षिकी के बदले इंगलैण्ड की सरकार भारत सरकार को प्रतिवर्ष एक निश्चित राशि दिया करेगी। यह राशि ६० वर्ष तक हमें मिलती रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि यह एक आर्थिक समझौता ही था—जहां तक पेंशन देने की जिम्मेदारी का प्रश्न है वह तो भारत सरकार ही की है।

(ग) इससे पिछले समझौतों के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौण्ड-पावने लेने का अधिकार मिला था परन्तु इससे केवल ४ करोड़ रुपये की राशि का ही उपयोग किया जा सका। अतः इसमें से १०७ करोड़ भारत और ले सकता था। इसके अतिरिक्त अगले तीन वर्षों के लिए इंगलैण्ड ने इस समझौते के अनुसार १०७ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने देना और स्वीकार किया। अतः कुल मिलाकर जून १९५१ तक हमें २१४ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावनों का उपयोग करने का अधिकार मिला। यह भी निश्चित किया गया कि व्यापार-संतुलन से भारत का जो आधिक्य होगा उसकी राशि का प्रयोग भी माल मँगाने में किया जा सकेगा।

इस समझौते के समय पौण्ड-पावनों की राशि १५५० करोड़ रुपये आंकी गई थी। इसमें से फौजी सामान के १३३ करोड़ रुपये, पेंशनों के २२४ करोड़ रुपये तथा पाकिस्तान के हिस्से के लगभग १२६ करोड़ रुपये निकालकर शेष १०६७ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष रहते थे। इस राशि में से २१४ करोड़ रुपये जून १९५१ तक निकालना तय किया गया। इस प्रकार ८५३ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष समझे गए। निम्न तालिका से यह हिसाब सरलता से समझा जा सकेगा :—

इस समझौते के समय पौण्ड-पावनों का मूल्य			१५५० करोड़ रु०
व्यय—(१) फौजी सामान खरीदने में	१३३	करोड़ रु०	
(२) पेंशनों के लिए वार्षिकी	२२४	,,	
(३) पाकिस्तान का हिस्सा	१२६	,,	४८३ ,,
शेष			१०६७ करोड़ रु०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जून १९५१ तक मिलने को निश्चित की गई राशि

(१) पिछले समझौतों का शेष १०७ करोड़ रु०

(२) इस समझौते की नई राशि १०७ करोड़ रु० २१४ करोड़ रु०

जून १९५१ को वचनेवाली अनुमानित राशि ८५३ करोड़ रु०

इस समझौते के अनुसार तय किया गया कि जून १९५१ तक मिलनेवाली १०७ करोड़ रुपये की नई राशि में से अगले वर्ष में केवल २० करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने डॉलर या अन्य किसी दुर्लभ-मुद्रा में बदले जा सकते थे। यद्यपि एक वर्ष में २० करोड़ रुपये के मूल्य के ६ करोड़ डॉलर आवश्यकता से बहुत कम थे परन्तु एक वर्ष में इससे अधिक राशि इंगलैण्ड दे भी नहीं सकता था।

इस समझौते का भारत में मिश्रित स्वागत हुआ। एक ओर तो कई व्यापारिक संस्थाओं, उद्योगपतियों एवं अर्थ-शास्त्रियों ने इसे भारत के हित में बताया और दूसरी ओर कई अर्थ-शास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने इसे भारत के अहित में कहा। भारत की विधान-सभा में इस समझौते पर काफी वाद-विवाद हुआ। आलोचकों में श्री मनु सूबेदार तथा श्री के० टी० शाह मुख्य थे। कुछ भी हो, भारत को उस समय राशि की आवश्यकता थी और इस समझौते से माल आयात करने के लिए राशि मिल गई।

१९४९ का स्टर्लिंग समझौता

जुलाई १९४९ में स्टर्लिंग प्राप्त करने के सम्बन्ध में लन्दन में फिर बातचीत हुई और एक नया समझौता हुआ। यह समझौता उस समय हुआ जब कि ब्रिटेन के आकाश में भीषण आर्थिक संकट के काले बादल छाए हुए थे। इंगलैण्ड में डॉलर-सम्पत्ति की विशेष कमी थे। इस समझौते के अनुसार भारत को १९४८-४९ में ८ करोड़ १० लाख पौण्ड मिलने का निश्चय हुआ। इसके साथ दोनों अगले वर्षों में अर्थात् जून १९५० के अन्त तक और जून १९५१ के अन्त तक ५ करोड़ पौण्ड प्रतिवर्ष मिलना तय हुआ। इसके अतिरिक्त हमें लगभग ५ करोड़ पौण्ड की राशि मिलनी और तय हुई जो 'ओपन जनरल लाइसेन्स' (११) के अन्तर्गत जुलाई १९४९ के पहिले मँगाए हुए माल के बदले में भुगतान चुकाने के लिए दी गई थी। अब रहा स्टर्लिंग को डॉलर या दुर्लभ-मुद्रा में बदलने का प्रश्न। भारत को केन्द्रीय कोष (Central Reserve) से १४ या १५ करोड़ डॉलर देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ साथ हमारे ऊपर एक जिम्मेदारी भी दी गई। जिम्मेदारी यह कि भारत ने जितने मूल्य का माल डॉलर-क्षेत्रों से १९४८ में मँगाया था, उसका ७५% ही अगले वर्षों में मँगाया जाय अर्थात् अमरीका से होने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वाले १९४८ के आयात में २५% कमी करके ही आयात किया जाय। लेकिन इस बात की छूट दे दी गई कि अंतर्राष्ट्रीय बैंक से उधार लेकर कितना ही माल आयात किया जा सकता था।

इस नए समझौते के अनुसार १९४८-४९ में हमें ८ करोड़ १० लाख पौण्ड मिले जो हमने जुलाई १९४९ से पहिले ही खर्च कर दिए थे और जिनके लिए जुलाई १९४८ वाले समझौते में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस समझौते के अनुसार १९५० और १९५१ में प्रतिवर्ष जून के अन्त तक ५ करोड़ पौण्ड मिलने तय हुए जब कि पिछले समझौते के अनुसार केवल ४ करोड़ पौण्ड प्रतिवर्ष मिलने की ही व्यवस्था की गई थी। १९४८ के समझौते के अनुसार केवल ६ करोड़ डॉलर १९४८-४९ जून तक मिलने की व्यवस्था की गई थी परन्तु नए समझौते के अनुसार १४ या १५ करोड़ डॉलर मिलने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार नया समझौता पुराने समझौते की अपेक्षा अधिक हितकर था। इंगलैण्ड के अखबारों ने तो इस समझौते के समाप्त होने पर इंगलैण्ड की सरकार के विरुद्ध आरोप लगाया था कि भारत सरकार को आशा से अधिक स्टर्लिंग-राशि दे दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परिस्थिति में इससे अच्छा और हितकर समझौता और दूसरा नहीं हो सकता था। परन्तु जो स्टर्लिंग हमें डॉलरों में बदलने के लिए मिले थे उनका मूल्य स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के कारण ३०.५ प्रतिशत कम हो गया। इसी प्रकार यदि बचे हुए पौण्ड-पावनों को डॉलरों में बदलवाया जाय तो उनका मूल्य ३०.५% कम हो जायगा।

१९५२ का समझौता

८ फरवरी, १९५२ के अन्तिम आंकड़ों के अनुसार भारत की कुल स्टर्लिंग पूंजी ५७ करोड़ पौण्ड अर्थात् ७६१ करोड़ रुपये थी। भारत सरकार के वित्त-मन्त्री ने अपने पिछले इंगलैण्ड के दौरे पर, जहां वह कॉमनवेल्थ वित्त-मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने गए थे, इंगलैण्ड की सरकार से एक और समझौता किया जिसकी अवधि ३० जून, १९५७ तक है। इस समझौते के अनुसार भारत अपने पौण्ड-पावनों में से ३० जून, १९५७ तक ३½ करोड़ पौण्ड प्रति वर्ष के हिसाब से निकाल सकेगा। ब्रिटिश सरकार प्रतिवर्ष ३½ करोड़ पौंड स्थिर खाते नं २ में से खाता नं० १ में जमा करेगी। इसके अतिरिक्त नं० २ खाते में से ३१ करोड़ पौण्ड की एक और राशि नं० १ खाते में जमा की जाएगी। यह राशि सुरक्षित राशि के तौर पर होगी तथा इसमें से केवल संकटकालीन स्थिति में ही इंगलैण्ड की सरकार की पूर्व सलाह के साथ राशि निकाली जा सकेगी। १९५७ में इस समझौते की अवधि समाप्त होने पर पुनः वार्ता की जाएगी, जिसमें इस समझौते की अवधि बढ़ाने या इसके स्थान पर दूसरा समझौता करने पर विचार होगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस समझौते की घोषणा से वे समस्त सन्देह तथा भय दूर हो गए जो इंगलैण्ड में चर्चिल सरकार के बन जाने के कारण उत्पन्न हो गए थे। अब इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि हमारे पौण्ड-पावने हमें सम्मानपूर्वक वापिस मिल जाएँगे। पहिले यह भय होता था कि कहीं इंगलैण्ड की सरकार इनको चुकाने से मना न कर बैठे परन्तु अब इस प्रकार का कोई भय नहीं है।

१९५३ की पौण्ड-वार्ता

जुलाई १९५३ में पौण्ड-पावने सम्बन्धी १९५२ के समझौते की पुनरावृत्ति की गई। केन्द्रीय सरकार के वित्त-मन्त्री श्री देशमुख ने घोषित किया है कि अगले वर्षों में पौण्ड-पावनों का भुगतान १९५२ के समझौते के अनुसार ही होता रहेगा। उन्होंने अब ७२५ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने आंके हैं जिनका भुगतान भारत १९५७ तक चुका लेगा। योजना-कमीशन ने पंचवर्षीय योजना में २९० करोड़ रुपये अपने पौण्ड-पावनों में से लेकर व्यय करने की व्यवस्था की है। आशा है शेष पौण्ड-राशि का हमारी सरकार अधिक से अधिक सदुपयोग करेगी।

कुछ भी हो, हमने अपनी स्टर्लिंग सम्पत्ति आशा से कम समय में व्यय कर दी। सारी सम्पत्ति अन्न तथा उपयोग की अन्य वस्तुओं को खरीदने में ही समाप्त हो गई। युद्ध के बाद इन पौण्ड-पावनों पर भारत के आर्थिक कल्याण की एक आशा केन्द्रित थी कि इनसे पूंजीगत माल, जैसे यंत्रादि खरीद-खरीदकर देश की आर्थिक योजनाओं को पूर्ण किया जायगा। परन्तु सारी सम्पत्ति पेट भरने में ही समाप्त हो गई और देश के आर्थिक विकास की योजनाएं केवल अधूरी-सधूरी ही रह गईं। जिन पौण्ड-पावनों को बनाने में देश में मुद्रा-स्फीति हुई, अकाल पड़े, भुखमरी फैली, लोग भूखे रहे और नंगे फिरे, वही पूंजी छुट-पुट में समाप्त हुई और देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने में काम न आई। अभी भी जो शेष है उसका सदुपयोग करने से आर्थिक कल्याण संभव हो सकता है।

सारांश

पौण्ड-पावना हमारे देश के लिए द्वितीय युद्ध की देन है। भारत सरकार ने युद्धकाल में इंगलैण्ड की सरकार को युद्ध चलाने के लिए अन्न, वस्त्र तथा युद्ध सम्बन्धी अन्य माल भेजा। इसके बदले में इंगलैण्ड की सरकार ने उस समय नकद भुगतान न करके भारत के लेखे में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां जमा कर दीं। इंगलैण्ड-स्थित ये स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां ही हमारा पौण्ड-पावना कहलाता है। इंगलैण्ड की सरकार पर भारत सरकार का यह ऋण था, जो युद्धकाल में जमा हो गया था। १९३९-४० में १४५ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने थे, जो १९४७ के अन्त में, युद्ध समाप्त होते-होते १७०० करोड़ रुपये के हो गए। भारत सरकार ने देशवासियों को वस्तुओं से वंचित रखकर इंगलैण्ड को निर्यात किया था जिसके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कारण ये पौण्ड-पावने बने। अतः पौण्ड-पावने भारतवासियों के उन कठिन बलिदानों का परिणाम है, जो उन्होंने युद्धकाल में भूखे और नंगे रहकर किया है।

युद्धकाल में तो इनके भुगतान का प्रश्न ही नहीं था क्योंकि इंगलैण्ड की सरकार उस समय स्वयं भूखी थी। पर युद्ध समाप्त होने पर इनके भुगतान के विषय में वार्त्ताएं आरम्भ हुईं; अनेक प्रकार के वाद-विवाद हुए। कोई कहता था कि इनका भुगतान न किया जाय, कोई कहता था इनमें से कमी कर दी जाय और कोई कहता था कि इनका भुगतान एक साथ न किया जाय। पहिली चर्चिल सरकार इनके भुगतान के पक्ष में नहीं थी। पर हमारे सौभाग्य से चर्चिल सरकार के स्थान पर एटली सरकार आई। उसने इनके भुगतान पर जोर दिया। सबसे पहिले १९४७ में समझौता हुआ और फिर लगभग प्रतिवर्ष समझौते होते रहे। समझौते के अनुसार प्रतिवर्ष पौण्ड-पावनों का भुगतान मिलता रहा है। अन्तिम समझौता १९५२ में हुआ है जो १९५७ तक लागू है। इस समय लगभग ७२५ करोड़ रुपये के मूल्य के पौण्ड-पावने शेष हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'पौण्ड-पावना' से आप क्या समझते हैं? यह राशि किस प्रकार जमा होती गई? इसका भुगतान किस प्रकार हुआ?

(२) "पौण्ड-पावने भारतवासियों के युद्धकालीन बलिदानों का परिणाम था"—इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(३) १९४९ के स्टर्लिंग समझौते पर आलोचनात्मक टिप्पणी तैयार कीजिए।

(४) १९५२ के स्टर्लिंग समझौते की मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करते हुए समझाइए कि उस परिस्थिति में इससे अच्छा समझौता और नहीं हो सकता था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २५

रुपये का अवमूल्यन

डॉलर-संकट को दूर करने के लिए इंगलैण्ड ने सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया—स्टर्लिंग के डॉलर-मूल्य में ३०.५ प्रतिशत की कमी कर दी। जो स्टर्लिंग पहले ४ डॉलर ३ सेंट के बराबर था वह अवमूल्यन के पश्चात् २ डॉलर ८० सेंट के बराबर हो गया। स्टर्लिंग का अवमूल्यन होते ही भारत सरकार ने भी रुपये का अवमूल्यन घोषित कर दिया। रुपये का डॉलर-मूल्य भी ३०.५ प्रतिशत कम कर दिया गया। जो रुपया पहिले ३० सेंट के बराबर था वह अवमूल्यन के पश्चात् २१ सेंट के बराबर रह गया। एक डॉलर का मूल्य ३ रुपये ५ आने से बढ़कर लगभग ४ रुपये १३ आने हो गया। प्रश्न यह है कि अवमूल्यन क्यों किया गया ? अवमूल्यन का एक मात्र उद्देश्य डॉलर के अभाव को दूर करना था। डॉलर-संकट ने अनेक देशों को, विशेषकर स्टर्लिंग-क्षेत्र के प्रदेशों को, बुरी तरह ग्रस रक्खा था। इसी संकट को टालने के लिए ऐसा किया गया था।

डॉलर की समस्या—द्वितीय युद्ध ने संसार के अनेक देशों के आर्थिक कलेवर को छिन्न-भिन्न कर दिया। युद्ध की भीषण बमबारी ने कुछ देशों के उद्योगों को नष्टप्राय कर दिया और कुछ देश धन कमाने की लालसा से युद्ध-सामग्री बनाने के लिए अपने उद्योगों को उन्नत और विकसित करते रहे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द रहा, खाद्य सामग्री आवश्यकतानुकूल न उपजाई जा सकी और नागरिक आवश्यकताओं के लिए उद्योगों में माल बनाना बन्द हो गया। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् सभी देशों ने आर्थिक संगठन और पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया। नए-नए उद्योग स्थापित किए जाने लगे। पर डॉलर के प्रश्न ने एक समस्या खड़ी कर दी। युद्धकाल में अमरीका ने युद्ध-व्यस्त देशों को भरपूर मात्रा में युद्ध-सामग्री बेची। इस माल के बदले में अमरीका को डॉलर या सोना चुकाया गया। अमरीका अपने उद्योग-धंधों को उन्नत करता गया और अन्य देशों में युद्ध के कारण यह उन्नति बन्द रही। युद्ध के पश्चात् अनेक देशों ने अपने-अपने औद्योगिक विकास के लिए अमरीका से आवश्यक सामग्री खरीदी—पूंजीगत माल मंगाया, यन्त्रादि मंगाए, कुशल कारीगर बुलाए और खाद्य पदार्थ भी खरीदे। कुछ समय तक तो इन वस्तुओं के बदले में सोना या डॉलर चुकाए जाते रहे अथवा बदले में माल भेजा जाता रहा। युद्धोत्तर-काल में अमरीका के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

माल की मांग करनेवाले देशों में इंगलैण्ड, भारत, स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देश एवं पश्चिमी योरप के कुछ देश थे। इन सब देशों ने कुछ समय तक तो अपने यहां से माल भेजकर बदले में अमरीका से माल मंगाया। शनैः शनैः अमरीका को भेजे जानेवाले माल की इन देशों में कमी हो गई क्योंकि अमरीका स्वयं समर्थ देश था और आवश्यकता की सभी वस्तुएं वहां के लोगों को प्राप्त रहीं। यदि अन्य देशों में अमरीका को आवश्यकता की वस्तुएँ थीं भी तो उनके भाव बहुत ऊँचे थे। अन्य देशों के पास अमरीका को भुगतान करने के लिए सोना या डॉलर भी नहीं रहे जिनके बदले में वहां से माल मंगाया जाता। अमरीका ने करोड़ों डॉलर इन देशों को उधार और भेंट में दिए पर वह निरन्तर निश्चित अवधि के लिए ऐसा नहीं कर सकता था। दूसरी ओर योरप के अन्य देश इंगलैण्ड और भारत भी अमरीका से यन्त्रादि, कुशल कारीगर एवं खाद्य सामग्री आयात किए बिना नहीं रह सकते थे। तो मूल समस्या यह रही कि अमरीका से उक्त वस्तुएँ लाकर उनका भुगतान करने के लिए डॉलर कैसे प्राप्त किए जाएँ ?

डॉलर का उपार्जन व्यय से कम होने के कारण बाहर के देश अमरीका के माल की खपत में भी कमी करने के लिए विवश थे। उन्होंने डॉलर-क्षेत्र से होने वाले आयातों में कमी करने की भरसक चेष्टा की और कुछ सीमा तक उन्हें सफलता भी मिली। इंगलैण्ड, भारत, तथा स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य अन्य देशों ने १९४९ में १९४८ की अपेक्षा डॉलर क्षेत्र से होनेवाले अपने-अपने आयातों में २५ प्रतिशत की कटौती की थी। पर इसमें अमरीका के सामने भी एक समस्या थी। अमरीका के वे उद्योग-धन्धे जो विदेशी मांग पर निर्भर थे, धीमे पड़ने लगते और उन्हें आशंका थी कि यदि बाहर के देशों से अमरीका के माल की मांग कम हुई तो उन्हें भी अपना उत्पादन कम करना पड़ेगा जिससे वहां बेकारी और मन्दी जैसे रोग हो जाने का भय था। मन्दी और बेकारी के भय को टालने के लिए ही तो अमरीका ने युद्ध समाप्त होने के कई वर्षों तक विपुल डॉलर राशि इन देशों को ऋणरूप में या भेंटस्वरूप दी। परन्तु ऐसा कब तक चल सकता था ? समस्या दोनों ओर की थी—अमरीका की भी और योरपीय तथा स्टर्लिंग-क्षेत्रीय देशों की भी। अमरीका की समस्या अपने निर्यात बढ़ाकर उद्योगों की उत्पादन-शक्ति बनाए रखने की थी और अन्य देशों की समस्या अमरीका से पूंजीगत माल मंगाने के लिए डॉलर प्राप्त करने की थी।

डॉलर की समस्या केवल गत महायुद्ध की ही देन नहीं है। युद्ध से पहिले भी १९३० के आसपास स्टर्लिंग और डॉलर के बीच पारस्परिक विषमता थी। १९३० में इंगलैण्ड का पश्चिमी गोलार्ध के देशों के साथ ११ करोड़ पौण्ड का अभाव था। इसी प्रकार स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देशों का दो करोड़ पौण्ड का अभाव था। कुल मिलाकर स्टर्लिंग क्षेत्र में डॉलर की कमी १३ करोड़ पौण्ड थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्टर्लिंग-क्षेत्र में प्राप्त सोना ११ करोड़ ५० लाख पौण्ड का था। इस प्रकार कुल मिलाकर १ करोड़ ५० लाख पौण्ड के डॉलर की कमी थी। पर उस समय इंगलैण्ड के पास एक साधन था। इंगलैण्ड के अमरीका-स्थित डॉलर-कोष और डॉलर-विनियोग इतने अधिक थे कि तब स्टर्लिंग-क्षेत्र के देश अपनी डॉलर की कमी को इस विनियोगित पूंजी के लाभ से पूरा करते रहे। दूसरे, कुछ देशों की डॉलर की कमी को अमरीका ऋण देकर पूरा करता रहा। १९३० के पश्चात् अमरीका ने यह ऋण देना सहसा ही बन्द कर दिया। स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देशों ने भी १९३० के संकट-काल में अपने अपने स्वर्ण-कोष अमरीका को बेच डाले। इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने तक डॉलर की समस्या हल होती रही।

युद्धकाल में इंगलैण्ड और दूसरे देशों ने अपनी बची-खुची डॉलर-सम्पत्ति और स्वर्ण-कोष बेचकर डॉलर की आवश्यकता पूरी की। जब यह सम्पत्ति समाप्तहो गई तो अमरीका ने पट्टे पर उधार राशि दी। सितम्बर १९४६ तक २०० अरब रुपये से भी अधिक मूल्य के डॉलर इस योजना के अन्तर्गत दिए गए। युद्ध समाप्त होने पर यह सहायता भी बन्द कर दी गई और संसार में डॉलर का संकट फिर सामने आता गया।

वर्ष	डॉलर का अभाव (०००,०००)	
१९४६	२२६	पौण्ड
१९४७	१०२४	,,
१९४८	४२६	,,
१९४९	६७०	,,

इस समस्या को सुलझाने के लिए १९४९ के अन्त तक कॉमनवेल्थ देशों के वित्तमन्त्री अनेक बार लन्दन और अन्य स्थानों पर मिले, विचार-विनिमय किया गया और ये उपाय सोचे गए—एक, इंगलैण्ड तथा स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देश अमरीका और डालर-प्रदेशों को निर्यात करके बदले में आयात करें। परन्तु स्टर्लिंग-क्षेत्र में मूल्य-स्तर ऊंचे होने के कारण डॉलर-प्रदेशीय देशों में निर्यात बढ़ाना सम्भव नहीं था। दूसरा, अमरीका इंगलैण्ड तथा स्टर्लिंग-क्षेत्रीय अन्य देशों को डॉलर उधार दे एवं माल और कुशल कारीगर भेजे। ऐसा किया भी गया। अमरीका ने मार्शल-योजना के अन्तर्गत विपुल डॉलर-राशि योरपीय देशों को दी। भेंट भी दी गई और ऋण भी दिए गए। स्टर्लिंग-क्षेत्रीय देशों में अमरीका ने पूंजी भी लगाई परन्तु ये उपाय दीर्घकलीन और स्थायी नहीं हो सकते थे। तीसरा सुझाव रखा गया कि इंगलैण्ड और स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देश अपना-अपना उत्पादन-व्यय कम करके मूल्य-स्तर नीचे करें। पर इन देशों को मूल्य-स्तर नीचे करना सम्भव नहीं था। चौथा सुझाव दिया गया कि स्टर्लिंग का डॉलर-मूल्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कम करके अवमूल्यन कर दिया जाय। इसी प्रकार जिन-जिन देशों के सामने डॉलर की समस्या हो वे सभी देश अपनी-अपनी मुद्राओं का डॉलर-मूल्य कम कर दें जिससे डॉलर-प्रदेशों में निर्यात बढ़ाकर आयात किया जा सके। पांचवां प्रस्ताव यह रखा गया कि वे सब देश जिन्हें डॉलर का अभाव हो, डॉलर-प्रदेशों के माल आयात करना कम कर दें। इस प्रकार की व्यवस्था कार्यान्वित की गई और भारत सहित अन्य स्टर्लिंग-क्षेत्रीय देशों ने १९४९ में डॉलर-प्रदेशों से होनेवाले आयातों में १९४८ की अपेक्षा २५ प्रतिशत की कमी की। पर इससे भी समस्या हल न हो सकी।

अन्त में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अमरीका के वित्त-मन्त्री श्री जॉन साइन्डर ने मुद्राओं के अवमूल्यन पर जोर दिया। साइन्डर ने बताया कि यदि योरपीय देश एवं स्टर्लिंग-प्रदेश अमरीका के साथ अपना भुगतान संतुलित करना चाहते हैं तो उन्हें अपनी-अपनी मुद्राओं की विनिमय-दरों में आवश्यक समायोजन कर लेना चाहिए। सितम्बर १९४९ में इंगलैण्ड, अमरीका और कनाडा के वित्त-मन्त्रियों की वाशिंगटन में एक कांफ्रेंस हुई। इंगलैण्ड के तत्कालीन वित्त-मंत्री सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने इस कांफ्रेंस से लौटते-लौटते अवमूल्यन की योजना स्वीकार कर ली। १८ सितंबर १९४९ को स्टर्लिंग का डॉलर-मूल्य ३०.५ प्रतिशत कम कर दिया गया। स्टर्लिंग के साथ साथ अन्य देशों और भारत ने भी अपनी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। अवमूल्यन करते ही स्टर्लिंग-क्षेत्रीय देशों के निर्यात अमरीका में बढ़ने लगे और अगले ही वर्ष इन्होंने डॉलर और सोना कमा-कमाकर अपने कोष भरपूर कर लिए। १९५० के अन्त में लन्दन-स्थित डॉलर व स्वर्ण-कोष ३ अरब ४० करोड़ पौण्ड के बराबर थे। परन्तु १९५० के पश्चात् स्थिति में फिर परिवर्तन हुआ और डॉलर की कमी फिर अनुभव होने लगी। १९५१ के अन्त तक तो समस्या बड़ी गम्भीर बन गई। जनवरी १९५२ में कॉमनवेल्थ वित्त-मंत्रियों का एक सम्मेलन इंगलैण्ड में किया गया। इस सम्मेलन में निर्णय किया गया कि स्टर्लिंग-क्षेत्र के वे देश, जिनमें डॉलर की समस्या बहुत जटिल बन चुकी है, डॉलर-प्रदेशीय देशों से अपने-अपने आयात कम करें, अपने घरेलू खर्च कम करें तथा अपने आन्तरिक मूल्य-स्तर नीचे करें। इन सुझावों को सभी सम्बन्धित देशों ने मान लिया। परिणाम-स्वरूप डॉलर का संकट दूर होता सा जान पड़ा। डॉलर की समस्या को स्थाई रूप से हल करने के लिए दिसम्बर १९५२ में कॉमनवेल्थ देशों के प्रधान मंत्रियों का एक सम्मेलन इंगलैण्ड में बुलाया गया। इस सम्मेलन में निश्चय किया गया कि डॉलर-प्रदेशीय देशों के साथ अपनी-अपनी भुगतान विषमता को दूर करने के लिए सम्बन्धित सरकारों को चाहिए कि वे अपने-अपने बजटों को संतुलित करें, उत्पादन बढ़ाएं, स्थानीय व्यय कम करें और डॉलर-प्रदेशों में निर्यात बढ़ाएं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों में मंहगा हो जाता और तब बिलकुल बन्द हो जाता। भारत का ६० प्रतिशत निर्यात स्टर्लिंग-क्षेत्र में होता है। यदि रुपये का अवमूल्यन न किया जाता तो ये निर्यात बन्द हो जाते। अमरीका में तो हमारे माल की खपत पहले ही कम थी। स्टर्लिंग-क्षेत्र में भी हमारे माल की खपत कम हो जाती जिससे देश के व्यापार को धक्का लगता।

(२) दूसरा उपाय यह था कि सरकार रुपये का स्टर्लिंग-मूल्य कम करके रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० बना देती। इससे यह होता कि स्टर्लिंग क्षेत्र से आनेवाले माल के भाव हमारे देश में बढ़ जाते और जनता को बड़ी कठिनाई होती।

(३) तीसरा उपाय था कि रुपये की स्टर्लिंग-दर उतनी ही बनाए रखने के लिए स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का भी अवमूल्यन कर दिया जाता। सरकार ने यही उपाय किया। स्टर्लिंग और रुपये के साथ-साथ कुछ अन्य देशों की मुद्राओं का भी अवमूल्यन किया गया। कनाडा ने भी अपने डॉलर का मूल्य १० प्रतिशत कम कर दिया था।

भारत सरकार को अवमूल्यन करने के लिए इंगलैण्ड, अमरीका अथवा अन्य किसी वाह्य शक्ति ने बाध्य नहीं किया था। यह तो स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र रुपये के लिए स्वतन्त्र नीति थी जिसे सरकार को परिस्थितियों से विवश होकर अपनाना पड़ा। युद्ध के पहिले भारत अमरीका से आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता था। युद्धकाल में भी यही बात थी। युद्धकालीन ६-७ वर्षों में हमने साम्राज्य-डॉलर-कोष में ९२ करोड़ रुपये के डॉलर जमा किए थे। पर युद्ध के पश्चात् पांसा पलट गया। १९४६ में हमें ५ करोड़ रुपये के डॉलरों की कमी पड़ी और १९४७ में यह कमी ८६ करोड़ रुपये की थी। जून १९४९ को समाप्त होनेवाले वर्ष में हमें ६३ करोड़ रुपये के डॉलरों की कमी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए हमने कुछ तो अपने पौण्ड-पावनों को डॉलरों में बदलवाया और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से लिया। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी ऋण लिए गए। पर किसी भी प्रकार से डॉलर की समस्या हल न हो सकी। इसके लिए तो डॉलर कमाने की आवश्यकता थी। डॉलर तभी कमाए जा सकते थे जब कि डॉलर-क्षेत्र में निर्यात बढ़ाया जाता। अतः निर्यात बढ़ाने के लिए रुपये का डॉलर-मूल्य कम कर दिया गया जिससे डॉलर कमाए जा सकें। अवमूल्यन से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए सरकार ने ८ सूत्री योजना बनाई जिसमें निम्न बातें थीं :—

(१) देश की वैदेशिक व्यापार नीति ऐसी रखी जाय जिसमें मुद्राओं की कम से कम आवश्यकता पड़े;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) अमरीका तथा डॉलर-क्षेत्रीय अन्य देशों से कम से कम माल आयात किया जाय;

(३) जो माल दुर्लभ मुद्रा-क्षेत्रों में निर्यात किया जाय उस पर निर्यात-कर लगाकर आय बढ़ाई जाय;

(४) देश में साख-नियन्त्रण करके वस्तुओं के मूल्य-स्तर नीचे करने के प्रयत्न किए जायँ—यदि आवश्यक हो तो इसके लिए सरकारी कानून भी बनाए जायं;

(५) उत्पादन बढ़ाया जाय—लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तथा देहातों में बैंकों की सुविधाएँ बढ़ाई जायं;

(६) जिन लोगों ने युद्धकाल में टैक्स की चोरी की थी उनसे फैसला करके रुपया निकलवाया जाय और फिर उसे उत्पादन कार्यों में लगवाया जाय;

(७) सरकारी व्यय कम कर दिया जाय;

(८) देश में वस्तुओं के भाव नीचे लाए जायं—अन्न, पक्का माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भाव कम से कम दस प्रतिशत कम कर दिए जायं।

इस प्रकार सरकार ने अवमूल्यन से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए सब प्रकार के उपाय किए। अवमूल्यन से हमारे डॉलर-आयात मँहगे हो गए और बदले में अधिक रुपया चुकाना पड़ा। पौण्ड-पावनों को डॉलरों में बदलवाने में भी हमें हानि रही। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लिए हुए ऋणों को चुकाने में भी अधिक रुपये देने पड़ेंगे। आयात मंहगे होने से हमारे मूल्य-स्तरों पर भी प्रभाव पड़ा। ये सब अवमूल्यन के अभिशाप रहे। पर अवमूल्यन न करने से हमारी समस्याएँ और भी जटिल बन जातीं। हमारा निर्यात-व्यापार बिल्कुल ठप्प हो जाता। हमारा माल न अमरीका जाता, न डॉलर-क्षेत्र में बिकता और न स्टर्लिंग-क्षेत्र में ही खपता। न हमारे पास तब सोना रहता और न डॉलर होते। हमारा वैदेशिक व्यापार समाप्त सा हो जाता, उद्योग बन्द हो जाते, बेकारी फैल जाती और व्यवसाय ठप्प हो जाता। इस भीषणता का अनुमान लगाकर रुपये का अवमूल्यन करना अपने हित में सोचा गया।

रुपये का अवमूल्यन तो हुआ पर पड़ोसी पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। भारत के रुपये और पाकिस्तान के रुपये में पारस्परिक विषमता आ गई। भारत के सौ रुपये पाकिस्तान के ६९.५ रुपयों के बराबर हो गए। या यूं कहिए कि पाकिस्तान के सौ रुपये हमारे १४४ रुपयों के बराबर हो गए। भारत सरकार ने इस नई विनिमय-दर को न माना। परिणामतः भारत और पाकिस्तान का पारस्परिक व्यापार अस्त-व्यस्त होने लगा। पाकिस्तान से भारत आने वाला माल जैसे कपास, पटसन, चमड़ा, चावल, गेहूं आना बन्द हो गया और भारत से पाकिस्तान जाने वाला माल जैसे कोयला, कपड़ा, चीनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आदि बन्द हो गया। विनिमय-दर की विषमता के कारण पारस्परिक व्यापार बन्द हो जाने से दोनों देशों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। प्रयत्न किए गए कि किसी भी प्रकार दोनों सरकारें समझौता करके विनिमय-दर की समस्या को सुलझा लें। पर कोई समझौता न हो सका। अन्त में इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में ले जाया गया। कोष के अधिकारियों ने इस प्रश्न पर विचार ही न किया। जनवरी १९५१ तक बात टलती रही। भारत सरकार को अन्न, पटसन और कपास की तीव्र आवश्यकता थी अतः उन्होंने इस स्थिति को बढ़ाना उचित न समझा। अन्त में २६ फरवरी १९५१ को दोनों सरकारों ने कराची में एक व्यापार-समझौता किया जिसके अन्तर्गत भारत ने कोयला, लोहा, सीमेन्ट आदि भेजना निश्चित किया और पाकिस्तान ने चावल, गेहूं, पटसन, कपास और चमड़ा देना स्वीकार किया। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की दर को स्वीकार कर लिया। समझौता ३० जून १९५२ तक के लिए किया गया था। २६ फरवरी १९५१ से रिजर्व बैंक ने अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर के कार्यालयों पर भारतीय रुपये के बदले में पाकिस्तानी रुपये की खरीद-बेच आरम्भ कर दी। रिजर्व बैंक अधिकृत लोगों को १०० रुपयों के बदले में पाकिस्तान के ६९ रु० ६ आ० ६ पा० बेचने लगा तथा १०० रुपयों के बदले में पाकिस्तान के ६९ रु० ८ आ० ३ पा० खरीदने लगा। इसी प्रकार २७ फरवरी १९५१ से 'स्टेट बैंक ऑव पाकिस्तान' अपने करांची, लाहौर, ढाका और चिटगांव के कार्यालयों पर १०० पाकिस्तानी रुपयों के बदले में भारत के १४४ रुपये ९ पाई खरीदने लगा तथा १४३ रुपये १३ आने ३ पाई बेचने लगा। दोनों देशों ने एक दूसरे की विनिमय-दर मान ली और आपस का लेन-देन फिर आरम्भ हो गया। जैसे ही भारत ने पाकिस्तानी दर को स्वीकार किया वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भी पाकिस्तानी दर को मान्यता दे दी। हमने तो अपने हितों की रक्षा में ही पाकिस्तान की दर स्वीकार की थी। अवमूल्यन से भारत को कुछ विशेष फल मिला जिसका वर्णन अगली पंक्तियों में किया गया है।

अवमूल्यन के परिणाम

जैसी कि आशा थी अवमूल्यन के पश्चात् भारत के निर्यात बढ़ने लगे। अवमूल्यन से पहले १९४९ में भारत ने डॉलर-प्रदेशों में ५.९२ करोड़ रुपये का माल भेजा था और वहां से १४ करोड़ रुपये का माल मंगवाया था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् मार्च १९५१ तक ५५ करोड़ रुपये के डॉलर भारत ने कमाए। सूती कपड़ा, मसाले, तम्बाकू, भुड़भुड़, मैंगनीज तथा ऊन का निर्यात खूब बढ़ा। अक्टूबर १९४८ से अगस्त १९४९ तक लगभग ४ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निर्यात किया गया था परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् अगस्त १९५० तक १८ करोड़ रुपये का कपड़ा निर्यात किया गया। जितने मसाले अगस्त १९४९ को समाप्त होनेवाले वर्ष में निर्यात किए गए थे ठीक उसकी दुगुनी राशि के मसाले अगस्त १९५० को समाप्त होनेवाले वर्ष में निर्यात किए गए। भुड़भुड़, मैंगनीज, ऊन तथा चमड़े का निर्यात भी अवमूल्यन के पश्चात् बहुत हुआ। १९५० में हमारे वैदेशिक व्यापार की स्थिति इस प्रकार रही —

(करोड़ रुपयों में)

	१९४९	१९५०	
निर्यात	४४१.३१	५४१.४४	+ १००
आयात	६२८.८२	४९४.२९	−१३४
शेष	−१८७.५२	+ ४६.९५	

१९४९ में भारत के वैदेशिक व्यापार में १८८ करोड़ रुपये की कमी थी। यह कमी १९५० में दूर हो गई और ४७ करोड़ रुपये का आधिक्य रहा। इससे एक बात यह हुई कि १९५० में १९४९ की अपेक्षा १३४ करोड़ रुपये के आयात कम हुए। इस बात में अवमूल्यन सफल रहा। भारत का निर्यात सुलभ और दुर्लभ दोनों ही क्षेत्रों में बढ़ा। १९४९ में सुलभ-मुद्रा-क्षेत्र के देशों के साथ भारत के वैदेशिक व्यापार में १२८ करोड़ रुपये की कमी थी। १९५० में यह कमी पूरी हो गई और ३१ करोड़ रुपये का आधिक्य और रहा। इसी प्रकार दुर्लभ-मुद्रा-क्षेत्र वाले देशों के साथ १९४९ की अपेक्षा १९५० में १७ करोड़ रुपये की बचत रही। अमरीका में भारत का निर्यात १९४९ की अपेक्षा १९५० में ३० करोड़ रुपये अधिक हुआ। १९५० में पिछली कमी पूरी हो गई और २ करोड़ रुपये की बचत और रही। इस प्रकार भारत को पौण्ड भी मिले और डॉलर की समस्या भी उतनी भीषण न रही जितनी अवमूल्यन से पहले थी। पर हमारे आयात मंहगे हो गए और इसलिए कम भी हुए। डॉलर-प्रदेशों तथा पाकिस्तान से आनेवाला अन्न मंहगा पड़ने लगा। पूंजीगत माल आयात करने में भी हमें हानि रही। पाकिस्तानी रुपये को मान्यता देने से पहिले पटसन और कपास के अभाव में हमारे कारखानों को हानि उठानी पड़ी। भुगतान-विषमता तो दूर हो गई पर देश के मूल्य-स्तर में कोई विशेष सुधार न हुआ। आयात मंहगे होने के कारण मूल्य-स्तर और भी बढ़ गए। कहीं नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण, कहीं वर्षा न होने के कारण और कहीं भूचाल के कारण मूल्य और बढ़ने लगे। कोरिया के युद्ध ने,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योरप में पुनः शस्त्रीकरण की योजना ने तथा अमरीका की कच्चे माल को संचय करने की नीति ने परिस्थिति और भी गंभीर बना दी। अक्तूबर १९५० में मूल्यांक ४१४.४ था। कुछ लोगों का तर्क है कि हमारे निर्यात बढ़ाने में अवमूल्यन का हाथ इतना नहीं जितना कोरिया-युद्ध का था। यह ठीक है कि कोरिया के युद्ध से हमारे निर्यात बढ़े हों परन्तु किसी भी एक कारण को उठाकर निर्यात वृद्धि का समूचा श्रेय उसी को नहीं दिया जा सकता। अवमूल्यन के वास्तविक परिणामों को पहचानने के लिए पक्षपातहीन अध्ययन की आवश्यकता है। भुगतान-विषमता को दूर करने में, निर्यात बढ़ाने में, डॉलर कमाने में अवमूल्यन का जो सहयोग रहा वह किसी से छुपाया नहीं जा सकता। अवमूल्यन एक ऐसा कृत्रिम साधन है जिसके द्वारा देश का माल विदेशों में सस्ता बेचकर निर्यात बढ़ाया जा सकता है। सच्चा और स्थायी साधन तो उत्पादन बढ़ाना है और वह भी ऐसा जिसमें लागत-व्यय कम हो। उत्पादन बढ़ाकर ही अवमूल्यन को और अधिक सार्थक बनाया जा सकता है।

सारांश

१९ सितम्बर १९४९ को भारत सरकार ने रुपय का डॉलर के अनुपात में अवमूल्यन घोषित किया। इससे पहले दिन ही इंगलैंड ने स्टर्लिंग का डॉलर-मूल्य कम कर दिया था। इगलैंड के साथ-साथ बीस से अधिक देशों ने अपनी मुद्राओं के मूल्य का समायोजन किया। रुपये का अवमूल्यन इंगलैंड की देखादेखी नहीं वरन् अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर किया गया था। उस समय डॉलर-संकट ने स्टर्लिंग-प्रदेशीय देशों को बुरी तरह ग्रस रखा था। भारत भी डॉलर के अभाव के कारण बुरी तरह विकल था। भारत को अमरीका से खाद्यान्न तथा उत्पादन संबंधी अन्य सामग्री आयात करने की आवश्यकता थी परन्तु उनका भुगतान करने के लिए उसके पास डॉलर नहीं थे। डॉलर कमाने के लिए अमरीका में निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता थी पर अमरीका जैसे सम्पन्न देश में निर्यात करने के लिए उसके पास कोई माल भी न था। दूसरे, माल भी था तो मूल्य ऊंचे थे। अतः समस्या थी कि डॉलर कैसे कमाए जायं ताकि अमरीका से माल मंगाया जा सके। इंगलैंड के सामने तो समस्या और भी भीषण थी क्योंकि युद्ध से निपटने के बाद वहां लोगों के भरण-पोषण एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अमरीकी माल की बहुत ही अधिक आवश्यकता थी। अमरीका के सामने भी प्रश्न था कि वह अपना माल कहां बेचे ताकि उसे उत्पादन न कम करना पड़े और बेकारी न हो। इस दोनों ओर की समस्याओं को सुलझाने के लिए अमरीका सरकार ने इंगलैंड और भारत को विपुल राशि ऋण में दी ताकि ये देश अमरीका से माल मंगा सकें और अमरीका भी अपना उत्पादन जारी रक्खे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर अमरीका सरकार ऋण कब तक दे सकती थी ? अन्त में सोचा गया कि कोई स्थायी हल निकाला जाय। इंगलैंड ने स्टर्लिंग के डॉलर-मूल्य में कमी घोषित कर दी ताकि अमरीका में निर्यात बढ़ें और डॉलर कमाए जा सकें। भारत ने भी ठीक वैसा ही किया ।

अवमूल्यन करने से स्थिति संभली। भारत के निर्यात बढ़ने लगे और डॉलर का अभाव दूर होने लगा। हां, पाकिस्तान सरकार द्वारा पाक रुपये का अवमूल्यन न करने से भारतीय और पाकिस्तानी रुपयों में विषमता आई जिससे पाकिस्तान के साथ भारत के व्यापार को बड़ा धक्का लगा। पर फरवरी १९५१ में भारत ने पाकिस्तानी रुपये की दर को मान्यता दे दी जिससे व्यापार का क्रम चलने लगा। अवमूल्यन से हमारा निर्यात डॉलर-क्षेत्र में बढ़ता रहा है और हम डॉलर कमाते रहे हैं पर अवमूल्यन का पूरा-पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जब कि उत्पादन बढ़ाया जाय ।

परीक्षा-प्रश्न

(१) रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया था ? अवमूल्यन के पश्चात् भारत के व्यापार की क्या स्थिति रही ?

(२) 'रुपये के अवमूल्यन की प्रतिक्रियाओं' पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए ।

(३) भारत और पाकिस्तान के रुपयों के बीच जो विषमता रही, उसके कारण दोनों देशों के पारस्परिक व्यापारिक लेन-देन पर क्या परिणाम हुआ ? यह विषमता कैसे निपटाई गई ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २६

रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न

रुपये के अवमूल्यन के ठीक एक वर्ष पश्चात् उसके पुनर्मूल्यन का प्रश्न भी सामने आने लगा। सरकार व जनता, उत्पादक व उपभोक्ता, व्यवसायी व उद्योग-पति, अर्थशास्त्र के प्रगतिशील व रुढ़िवादी विद्वान्—सभी इस जटिल प्रश्न के विषय में सोचने-विचारने लगे। डा० जॉन मथाई न 'टाटा क्वार्टरली' नामक पत्रिका में जब एक लेख पुनर्मूल्यन संबंधी विषय पर प्रकाशित कराया तो रुपये के पुनर्मूल्यन के प्रश्न ने और भी अधिक जोर पकड़ा। डा० मथाई ने पुनर्मूल्यन के पक्ष में लिखते हुए बताया कि "पुनर्मूल्यन द्वारा हमारे देश के आन्तरिक आर्थिक कलेवर की सुरक्षा होगी पर वाह्य आर्थिक कलेवर को कोई चोट नहीं पहुंचेगी।" उन्होंने देश के अन्तर्गत चढ़ते हुए मूल्यों को रोक कर नीचे लाने के लिए पुनर्मूल्यन पर जोर दिया और कहा कि "मूल्यस्तर केवल आन्तरिक साधनों द्वारा ही नीचे नहीं किए जा सकते, उन्हें गिराने के लिए वाह्य सुविधाओं का—विशेषतः सस्ते आयातों का—सहारा लेना चाहिए।" पुनर्मूल्यन के अन्य पक्षकारों का कहना रहा कि आयात सस्ते करने के लिए तथा इस प्रकार देश को करोड़ों रुपये की क्षति से बचाने के लिए पुनर्मूल्यन करना अनिवार्य है। दूसरी ओर इसके विरोधियों का कहना रहा कि आए दिन देश की मुद्रा के साथ 'बन्दर-नीति' बरत कर संसार के सामने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय नहीं देना चाहिए। आज भी पुनर्मूल्यन के पक्ष और विपक्ष में प्रकार प्रकार की युक्तियां दी जाती हैं। अतः इससे संबंधित कुछ पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है।

पुनर्मूल्यन के परिणामों को तटस्थतापूर्वक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पुनर्मूल्यन किस दिशा में किस मात्रा तक और किसके साथ रहकर करना चाहिए? इस ओर यह संभावनाएं हो सकती हैं :—

(१) स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों, विशेषतः इंगलैंड के पौंड के साथ भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन ;

(२) इंगलैंड अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन चाहे करे या न करे पर रुपये का अविलम्ब पुनर्मूल्यन ;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) भारतीय रुपये का ३०·५ प्रतिशत पुनर्मूल्यन, जिससे रुपये की विनिमय-दर अवमूल्यन से पूर्ववत् सी हो जाए ;

(४) क्या भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन अवमूल्यन की हुई दर से अधिक या सम-दर पर किया जाय ?

पुनर्मूल्यन को देश के वैदेशिक व्यापार, भारत-पाक संबंध, राष्ट्रीय सम्मान आदि विषयों की गम्भीरता के साथ साथ सोचना चाहिए। देश के वैदेशिक व्यापार की दृष्टि से अवमूल्यन से हमें विदेशों से होनेवाले आयात बहुत महंगे पड़े हैं। पुनर्मूल्यन से आयात सस्ते होंगे और उससे देश के मूल्यस्तर कुछ नीचे हो सकेंगे। पुनर्मूल्यन से हमारे निर्यात विदेशों को महंगे पड़ेंगे और हम आज की अपेक्षा उनकी मुद्रा में अधिक कीमत ले सकेंगे। पटसन का माल, भुड़भुड़, मैंगनीज व चाय आदि कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो बहुत अधिक मात्रा में दुर्लभ-मुद्रा-प्रदेशों को हमारे यहां से निर्यात की जाती हैं। पुनर्मूल्यन करने से इस निर्यात पर अधिक डॉलर कमाए जा सकते हैं। अवमूल्यन के पश्चात् हमें पड़ोसी पाकिस्तान से व्यापार में कम लेना और अधिक देना पड़ा है। यदि हम पाकिस्तान के साथ व्यापारिक लेन-देन सुगम बनाना चाहते हैं तो पुनर्मूल्यन इसमें खूब सहायक हो सकता है। पाकिस्तानी १०० रुपये के माल के बदले में हमें अपने १४४ रुपये चुकाने पड़ते हैं। यदि भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन हो तो हमें पाकिस्तान से माल मंगाने पर काफी बचत हो सकती है।

पुनर्मूल्यन के विरोध की युक्तियां

(१) कहा गया है कि पुनर्मूल्यन से हमारे आयात सस्ते होंगे। यदि यह दलील पूर्ण सत्य हो तो कहना ही क्या ! यदि हम पुनर्मूल्यन भी कर दें तो भी यह निश्चित है कि विदेशी निर्यातक हमें सस्ते आयातों का लाभ नहीं उठाने देंगे। वे किन्हीं कृत्रिम साधनों से निर्यात-कर लगाकर हमें सस्ते आयातों का सुअवसर नहीं देंगे। अतः वस्तुओं के सस्ते आयात की संभावना कोरा स्वप्न है जो शायद कभी भी संभव न हो।

(२) कहा जाता है कि पुनर्मूल्यन करने से भारत के निर्यात-व्यापार द्वारा विदेशी मुद्रा कमाई जा सकेंगी। परन्तु बात कुछ और ही है। हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि यदि हमारे निर्यात महंगे रहे तो विदेशी में उनकी मांग कम होने लगेगी। पुनर्मूल्यन के पश्चात् संभव है विदेशी हमारे माल को न खरीदें और हमारा निर्यात ठप्प होने लगे।

(३) पुनर्मूल्यन के समर्थकों का कहना है कि पुनर्मूल्यन के द्वारा भारत-पाक व्यापार में भारत को पाकिस्तान से आयात करने में लाभ रहेगा; पर यह बात भी सन्देहात्मक है। हम अपने रुपये का पुनर्मूल्यन करके पाकिस्तान से आज

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की अपेक्षा सस्ता माल खरीदें—इस बात को क्या पाकिस्तान बैठा-बैठा देखता रहेगा ? क्या पाकिस्तान इस दुधारी तलवार पर कटने-मरने को राजी हो जायेगा ? कदापि नहीं। पाकिस्तान तब अपने निर्यात की कीमत बढ़ा सकता है। ऐसी दशा में पुनर्मूल्यन का हमें लाभ नहीं मिल सकेगा।

यदि पुनर्मूल्यन के वैदेशिक व्यापार पर होनेवाले प्रभावों को हम थोड़े से समय के लिए ताक में रख दें तो भी सरकार के वार्षिक बजट पर इसका पूरा असर पड़ेगा। हमारी सरकार को निर्यात-कर से गत वर्षों में काफी आय हुई है। यदि पुनर्मूल्यन कर दिया गया तो हमारे निर्यात स्वतः ही महंगे हो जायेंगे और इसकी आवश्यकता न रहेगी। इसका अर्थ यह होगा कि करोड़ों रुपये की आय, जो सरकार को इस कर के द्वारा होती है, न मिल सकेगी।

पुनर्मूल्यन के विरोधियों की अन्य ठोस दलीलें

(१) विश्व की डांवाडोल आर्थिक स्थिति को देखते हुए हमें अपनी मुद्रा का मूल्य हर समय नहीं बदलना चाहिए। आज के भारतीय निर्यात संसार में शांति होने पर रुक भी सकते हैं और कम भी हो सकते हैं। यदि कोई अस्थायी लाभ वैदेशिक व्यापार में उठाना भी हो तो निर्यात-कर के शस्त्र द्वारा ही उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। निर्यात-कर को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा कर भी हम कम चला सकते हैं।

(२) यह योजना कि पाकिस्तान को अवमूल्यन न करने से बहुत लाभ हुआ है इसलिए भारत को भी रुपये का पुनर्मूल्यन कर लेना चाहिए, कोई निर्विवाद सत्य नहीं है। योरप में पुनः शस्त्रीकरण की योजना, कोरिया-युद्ध, व विश्व की अधमरी आर्थिक स्थिति के कारण विदेशों में पाकिस्तान के कच्चे माल की सदा मांग रही है। किन्तु भारत की परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। अन्न की समस्या को दूर करने के लिए भारत को भारी-भारी आयात करने पड़ रहे हैं—इस परिस्थिति में रुपये का पुनर्मूल्यन न करना ही हितकर है।

(३) जब रुपये का अवमूल्यन किया गया तब इसी बात को लेकर कि हमारा अधिकांश व्यापार स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों से है, इस काम को बुद्धिमानी का कदम बताया गया था। आज यदि स्टर्लिंग-क्षेत्र के देश पुनर्मूल्यन न करें तो भारतीय मुद्रा का पुनर्मूल्यन इस बात को बताएगा कि या तो अवमूल्यन करते समय हमने अपनी क्षीण बुद्धि का परिचय दिया था और यदि वह ऐसा नहीं था तो स्टर्लिंग-क्षेत्र के साथ अपने व्यापार की अवहेलना करके हम आज अपनी कुंठित बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों से हमारे व्यापारिक संबंध बहुत प्रौढ़ हो चुके हैं इसलिए हमारे एकाकी पुनर्मूल्यन से उन संबंधों को गहरी चोट लगने की संभावना है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) आए दिन किसी अस्थायी आर्थिक स्थिति से साधारण-सा लाभ उठाने की चेष्टा को सफल बनाने के लिए हमें अपनी मुद्रा की विनिमय-दर से खिलवाड़ नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे राष्ट्रीय सम्मान को ठेस लगती है और हमारे भविष्य में किए जानेवाले प्रत्येक 'निश्चय' को सदा 'निर्बल' और 'अस्थायी' शब्दों से दुतकारे जाने की शंका बनी रहती है।

पुनर्मूल्यन के विरोधियों की सबसे अधिक ठोस दलील यह है कि पुनर्मूल्यन से होनेवाला लाभ निर्यात-कर लगाकर भी प्राप्त किया जा सकता है। पर निर्यात-कर लगाकर आय करने की नीति भी कोई स्थायी उपाय नहीं कहा जा सकता। यह कर हमें निर्यात करने में आय दिला सकता है परन्तु इससे हमारे आयात सस्ते नहीं हो सकते। पर इस समय हमें इस बात की आवश्यकता है कि अन्न की कमी पूरी की जाय और देश का उद्योगीकरण किया जाय। यह तभी हो सकता है जब कि हमारे पास उनका भुगतान चुकाने के लिए विदेशी मुद्राएं हों। विदेशी मुद्राएं तभी कमाई जा सकती हैं जब कि हमारा निर्यात बढ़े और निर्यात बढ़ाए रखने के लिए रुपये का पुनर्मूल्यन वांछनीय नहीं है। अतः वर्तमान परिस्थिति में अपने हितों को ठुकराकर ही रुपये का पुनर्मूल्यन किया जा सकता है। फिर, अब तो देश में वस्तुओं के भाव गिरने लगे हैं इसलिए रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न और भी दूर पड़ जाता है। पुनर्मूल्यन के इसी विवादास्पद प्रश्न को लेकर देश के वित्त-मंत्री श्री देशमुख ने घोषित कर दिया है कि—

> "अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं क्योंकि इसी में देश का हित है। किन्तु यह निर्णय अंतिम और स्थायी नहीं है। यदि परिस्थितियों ने हमारे अनुकूल करवट ली तो संभव है हम भविष्य में इस प्रश्न पर विचार करें। पर अभी इस प्रश्न को छूना हितकर न होगा।"

सरकार की इस घोषणा से निकट भविष्य में भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन की संभावना बहुत कम हो गई है। आज जब समस्त संसार में राजनैतिक और आर्थिक दरारें फट रही हैं और संसार के कोने-कोने में स्थिति डांवाडोल है—ऐसी डगमगाती दशा में किसी भी आर्थिक भूकम्प के धक्के से सरकार रुपये के पुनर्मूल्यन की घोषणा कर दे तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

सारांश

रुपये के अवमूल्यन के थोड़े ही दिनों पश्चात् से रुपये के पुनर्मूल्यन का विवाद आरम्भ हो गया। डा० जॉन मथाई ने तो अपने एक लेख द्वारा पट कर दिया कि रुपये के पुनर्मूल्यन से देश के आन्तरिक आर्थिक कलेवर की सुरक्षा होगी और बाह्य आर्थिक कलेवर को भी कोई चोट नहीं पहुंचेगी। उन्होंने कहा कि पुनर्मूल्यन द्वारा देश में बढ़ते हुए मूल्यस्तरों को रोक कर नीचे गिराया जा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकेगा। डा० मथाई के इस कथन से पुनर्मूल्यन के पक्षकारों का जोर बढ़ने लगा।

पुनर्मूल्यन के पक्षपातियों के तर्क—(१) आयात सस्ते होंगे, (२) निर्यात द्वारा अधिक डॉलर कमाए जा सकेंगे, (३) पाकिस्तान के साथ व्यापारिक लेन-देन में लाभ होगा, (४) देश के वैदेशिक व्यापार में वृद्धि होगी, (५) उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, तथा (६) मूल्यस्तर नीचे हो जायेंगे।

पुनर्मूल्यन के विरोध में तर्क—(१) निर्यात घट जायेंगे, (२) आयात करने को डॉलरों का अभाव हो जायगा, (३) भारत की अदूरदर्शिता मानी जायगी, (४) वैदेशिक व्यापार में कमी हो जायगी। पुनर्मूल्यन के विरोधियों का कहना है कि पुनर्मूल्यन से होनेवाला संभावित लाभ निर्यात-कर लगाकर भी प्राप्त किया जा सकता है।

भारत सरकार अभी इस दिशा में कोई कदम उठाने को तैयार नहीं है। वित्त-मंत्री ने स्पष्ट कर दिया है कि अभी इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है पर यदि समय आया तो अवश्य कोई ठोस कदम उठाया जायगा।

परीक्षा-प्रश्न

(१) रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष और विपक्ष में तर्क देते हुए समझाइए कि इस समय पुनर्मूल्यन करना देश के हित में नहीं होगा।

(२) रुपये के पुनर्मूल्यन से आपका क्या तात्पर्य है? क्या इस समय रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिए?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २७

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं

युद्ध के पश्चात् इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि संसार के प्रत्येक देश में वहां के निवासियों का जीवन-स्तर ऊंचा हो और प्रत्येक देश की राष्ट्रीय आय बढ़े। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि संसार के सभी और सभी नहीं तो अधिकांश देश मिलकर काम करें, उनकी आर्थिक एवं मौद्रिक नीतियां एकसी हों तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि उन देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर स्थायी रहे और उनमें कोई असाधारण उतार-चढ़ाव न हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्धकाल में ही कई योजनाएं बनाई गईं। इंगलैंड ने एक योजना बनाई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन-संघ बनाने का प्रस्ताव किया गया। दूसरी योजना अमरीका ने बनाई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व कोष बनाने का सुझाव दिया गया। ये योजनाएं १९४३ में प्रकाशित की गईं। १९४४ में इंगलैंड और अमरीका ने मिलकर एक सम्मिलित योजना तैयार की जिस पर विचार-विनिमय करने के लिए ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर ४४ देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में निश्चित किया गया कि सभी देशों के आर्थिक विकास के लिए दो मौद्रिक संस्थाएं बनाई जायं। उनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष है और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

उद्देश्य—(१) संसार भर के देशों में मौद्रिक एकता स्थापित करना तथा मुद्रा-संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाना ;

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने तथा उन्नत करने की सुविधाएं देना जिससे कोष के सभी तटस्थ देश अपने-अपने आर्थिक साधनों का विदोहन करके देशवासियों को भरपूर काम दे सकें ;

(३) सदस्य-देशों की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर का प्रबन्ध करके स्थायी बनाने का प्रयत्न करना ;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेन-देन में सहायता करना तथा किसी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी सदस्य-देश द्वारा लगाए गए विदेशी विनिमय संबंधी नियंत्रणों को दूर करने का प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अड़चन न हो ;

(५) सदस्य-देशों की भुगतान-विषमताओं को दूर करने के लिए विदेशी मुद्राएं देकर सदस्य-देशों की सहायता करना ;

(६) शीघ्रातिशीघ्र भुगतान-विषमताओं को दूर करने की चेष्टा करना।

इस प्रकार कोष का एकमात्र उद्देश्य सदस्य-देशों को विदेशी विनिमय संबंधी सुविधाएं देना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो और इसके द्वारा सब देश अपना अपना अधिकाधिक विकास कर सकें। कोष का उद्देश्य युद्ध-कालीन ऋणों का भुगतान चुकाने में अथवा युद्ध-ध्वंसित देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता करने का नहीं है।

वे सब देश जिनके प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में भाग लिया था और जिन्होंने ३१ दिसम्बर १९४५ से पहिले कोष का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, कोष के मौलिक सदस्य माने जाते हैं। इसके पश्चात् जो देश सदस्य बनता है वह सामान्य सदस्य कहलाता है। कोई भी सदस्य-देश लिखित सूचना देकर कोष से अपना संबंध विच्छेद कर सकता है। यदि कोई सदस्य-देश कोष के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे तो कोष को अधिकार दिया गया है कि वह उस सदस्य को अलग कर दे। प्रत्येक सदस्य को कोष में कुछ राशि निश्चित कर दी गई है जिसे 'कोटा' (Quota) कहते हैं। प्रत्येक सदस्य-देश को अपने कोटे की राशि कोष में जमा करनी पड़ती है। यह राशि इस भांति जमा करनी होती है :—

(१) कुल 'कोटे' का २५ प्रतिशत या सदस्य-देश के स्वर्ण एवं डॉलर-कोष का १० प्रतिशत—इन दोनों में जो भी कम हो—सोने के रूप में जमा करना पड़ता है।

(२) 'कोटे' का शेष भाग सदस्य-देशों को अपनी-अपनी मुद्राओं या सिक्यूरिटियों में जमा करना होता है।

'कोटे' इस प्रकार निश्चित किए गए हैं :—

अमरीका	..	२,७५,००,००,००० डॉलर
इंगलैंड	..	१,३०,००,००,००० डॉलर
चीन	..	५५,००,००,००० डॉलर
फ्रांस	..	४५,००,००,००० डॉलर
भारत	..	४०,००,००,००० डॉलर
अन्य देश (प्रत्येक)	..	४०,००,००,००० से कम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्येक सदस्य को अपना कोटा बदलवाने का अधिकार है। कोष को भी अधिकार मिला है कि वह पांच वर्ष के बाद सदस्य-देश की अनुमति लेकर उसकी कोटा-राशि में फेर-बदल कर सकता है। कोटे प्रत्येक देश के स्वर्ण-कोष तथा युद्ध-पूर्व के विदेशी व्यापार को ध्यान में रखकर निश्चित किए गए हैं।

प्रबन्ध एवं संचालन——मुद्रा-कोष का प्रबन्ध करने के लिए एक बोर्ड ऑव गवर्नर्स, एक संचालक समिति तथा एक प्रबन्ध-संचालक है। बोर्ड ऑव गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा चुने हुए एक गवर्नर तथा स्थानापन्न-गवर्नर होते हैं जो पांच वर्ष के लिए चुने जाते हैं। परन्तु अवधि समाप्त होने पर इनको फिर चुना जा सकता है। संचालक समिति में १२ संचालक होते हैं जिनमें ५ उन देशों के होते हैं जिनको अधिक से अधिक 'कोटा'-राशि नियत की गई है, २ अमरीकी गणतंत्र द्वारा चुने हुए होते हैं तथा ५ अन्य दूसरे सदस्य-देशों द्वारा चुने हुए होते हैं। संचालक समिति एक प्रबन्ध-संचालक चुनती है जो कोष के दिन प्रतिदिन के काम की देख-भाल करता है। प्रबन्ध-संचालक को मत देने का अधिकार नहीं होता परन्तु आवश्यकता के समय प्रबन्ध-संचालक अपना निर्णायक मत (Casting vote) दे सकता है।

मुद्रा-कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है। कोष का आधा सोना अमरीका में रक्खा गया है तथा ४०% सोना अन्य बड़े 'कोटा' वाले चार देशों में रक्खा गया है और शेष सोना अन्य देशों में रक्खा गया है।

सभी सदस्य-देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं के सम-मूल्य (Par values) निश्चित कर दिए हैं। ये सम-मूल्य (Par values) या तो सोने के अनुपात में निश्चित किए गए हैं और या अमरीका के डॉलरों के अनुपात में रक्खे गए हैं। जब कोई सदस्य-देश कोष में से विदेशी विनिमय या सोना खरीदता या बेचता है तो उसका मूल्य इन्हीं सम-मूल्यों के हिसाब से चुकाया जाता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मुद्राओं की आपस की विनिमय-दर में कोई उतार-चढ़ाव नहीं होते और दर स्थायी बनी रहती है। सदस्य-देशों की मुद्राओं के इन सम-मूल्यों में परिवर्तन भी किया जा सकता है परन्तु यह परिवर्तन मुद्रा-कोष की सलाह से ही हो सकता है। सम-मूल्यों में परिवर्तन करने की निम्न व्यवस्था की गई है:——

(क) कोई भी सदस्य-देश अपनी मुद्रा के सम-मूल्य में १०% तक की फेर-बदल बिना कोष की सलाह से भी कर सकता है।

(ख) यदि इससे अधिक फेर-बदल करनी हो तो उसके लिए कोष से आज्ञा लेने की आवश्यकता होती है। कोष को इस विषय में अपना निर्णय ७२ घंटे के अन्दर दे देना पड़ता है।

(ग) मुद्राओं के सम-मूल्यों में परिवर्तन तभी किया जा सकता है जबकि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भुगतान-विषमता व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अड़चनों को दूर करने के लिए उसकी आवश्यकता हो।

(घ) कोष की सलाह के बिना सम-मूल्य परिवर्तन करनेवाले सदस्य-देश को दण्ड देना पड़ता है।

इस प्रकार सदस्य देशों की मुद्राओं की विनिमय-दर सोने या डॉलरों के आधार पर निश्चित की गई है। सोना ही एक प्रकार से इन देशों की मुद्राओं के मूल्य का माप-दंड (measuring rod) है; अर्थात् सभी मुद्राओं के मूल्य सोने पर आश्रित हैं।

सदस्य-देश मुद्रा-कोष से लेन-देन का काम अपने अपने केन्द्रीय बैंकों, राज्य-कोषों तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं द्वारा करते हैं। कोई भी सदस्य-देश अपनी मुद्रा या सोना देकर बदले में कोष से दूसरे देश की मुद्रा खरीद सकता है परन्तु कोष विदेशी मुद्रा तभी बेचता है जबकि—

(१) कोष को यह विश्वास हो जाय कि खरीदने वाले देश को उसकी वास्तव में आवश्यकता है और वह उसे कोष के आदर्शों की पूर्ति करने में लगाएगा ;

(२) कोष के पास उस विदेशी मुद्रा की कमी न हो।

कोई भी सदस्य-देश एक वर्ष (बारह महीने) में अपने 'कोटा' के २५% से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता तथा वह देश कुल मिलाकर अपने 'कोटा' के २००% से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता।

कोष से ली हुई राशि कोष के उद्देश्यों को छोड़ अन्य किसी काम में नहीं लगाई जा सकती। केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए या विनिमय-दर स्थायी बनाने के लिए ही कोष की राशि काम में लाई जा सकती है।

यदि किसी समय कोष में किसी भी सदस्य-देश की मुद्रा की कमी हो जाय तो कोष उस मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce Currency) घोषित कर सकता है। ऐसा करते समय यह आवश्यक है कि कोष एक रिपोर्ट तैयार करे और सभी सदस्य-देशों को सूचित कर दे कि अमुक मुद्रा अमुक कारणों से 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित कर दी गई है। दुर्लभ मुद्रा घोषित करने के बाद कोष का यह कर्त्तव्य है कि वह उस मुद्रा को प्राप्त करके पूर्ति करने की कोशिश करे। इसके लिए चाहे तो कोष उस सदस्य-देश से, जिसकी मुद्रा 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित की गई है, सोना देकर उसकी मुद्रा खरीद ले और चाहे उससे उधार ले ले। और यदि ऐसा संभव न हो तो अन्य किसी सदस्य-देश से सोने के बदले में 'दुर्लभ मुद्रा' खरीदकर उसकी पूर्ति कर ले जिससे उस मुद्रा की कमी दूर हो जाय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-कोष के उद्देश्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिए सदस्य-देशों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं कि—

(१) वे मुद्रा के लेन-देन पर कोई प्रतिबन्ध और रोक-थाम न लगावें।

(२) वे मुद्रा-संबंधी नीति में किसी प्रकार का पक्षपात न करें ;

(३) वे कोष के आदेशों का पालन करें तथा जो कुछ भी सूचना कोष के अधिकारी मांगे उसे तुरन्त कोष को भेजते रहें ;

(४) वे सम-मूल्य से अधिक या कम दर पर सोना न खरीदें और न बेचें।

परन्तु कोष ने संक्रांति काल (Transitional Period) में विदेशी विनिमय के लेन-देन पर नियंत्रण लगाने की स्वीकृति दे रक्खी है। कोष बनते समय व्यवस्था की गई थी कि कोष बनने के पांच वर्ष तक सदस्य-देश विदेशी विनिमय पर रोक-थाम लगा सकते हैं परन्तु इसके पश्चात् रोक-थाम लगाने के लिए कोष से आज्ञा लेना अनिवार्य होगा। यदि कोई सदस्य-देश कोष बनने के पांच वर्ष के बाद भी कोष की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगायेगा तो कोष को अधिकार होगा कि वह उस सदस्य-देश को कोष में से निकाल दे। कोष ने उक्त अवधि समाप्त होने पर भी सदस्य-देशों को विनिमय-नियंत्रण लगा रखने की स्वीकृति दे रखी है। पर कोष प्रयत्नशील है कि यथा-शीघ्र इस प्रकार के प्रतिबन्ध समाप्त हों जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वतंत्र वहन हो सके। आज की परिस्थिति में विनिमय-नियन्त्रण अनिवार्य समझकर कोष ने ऐसा किया है। इसी व्यवस्था के अनुसार भारत सरकार ने अभी तक विनिमय-संचालन का काम रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को सौंप रखा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का महत्त्व

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों तथा क्रिया-प्रणाली का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कोष का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करना है। कोष का यह उद्देश्य सराहनीय है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उन्नत होने से संसार के भिन्न-भिन्न देशवासियों को भरपूर काम मिल सकता है और तभी उनका रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा हो सकता है। अगर युद्ध-ध्वंसित देशों को आर्थिक उन्नति करनी है तो यह आवश्यक है कि उनके वैदेशिक व्यापार को उन्नत बनाया जाय क्योंकि तभी संसार के करोड़ों नर-नारियों को रोटी-कपड़ा मिल सकता है। यही सब कुछ करने के लिए मुद्रा-कोष प्रयत्नशील है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय-दरों को स्थायी रखने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे संसार के सभी देश आर्थिक उन्नति कर सकें। यह एक ऐसा साधन है जिसमें संसार के अनेक देशों की मुद्राएं जमा रखी गई हैं जिससे देनदार देश अपने लेनदार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देश की मुद्रा खरीदकर उसका भुगतान चुका सके। इसके द्वारा भुगतान चुकाने वाले देशों को सुविधा हो गई है क्योंकि अब उन्हें विदेशी मुद्रा में भुगतान चुकाने के लिए इधर-उधर नहीं भटकना पड़ता। कोष का काम विदेशी मुद्राएं उधार देना नहीं है वरन् विदेशी मुद्राएं बेचना है। विदेशी मुद्रा बेचकर कोष सदस्य-देशों की आवश्यकता पूर्ण करता है जिससे वे अपनी कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकें। अब कोष के बन जाने से संसार के देशों को अधिक समय तक विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि उनकी आवश्यकताएं अब कोष के द्वारा पूरी हो जाया करेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक प्रकार का ऐसा व्यापारी है जो विदेशी मुद्राओं की खरीद-बेच करता है परन्तु अपने लाभ के लिए नहीं वरन् खरीदने और बेचनेवाले देशों की भलाई के लिए। कोष सदस्य-देशों की मुद्राओं के सम-मूल्य को स्थिर रखने का एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय-दर स्थायी बनाई जा सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई कठिनाई न हो।

मुद्रा-कोष ने सोने को एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। प्रत्येक सदस्य-देश ने अपनी-अपनी मुद्रा का सम-मूल्य (Par value) सोने में व्यक्त किया है। इससे सोना सब देशों की मुद्राओं का माप-यंत्र बन गया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संसार में वही स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) आ गया हो जो १९३१ से पहिले अनेक देशों में था। हां, इतना अवश्य है कि कोष का उद्देश्य वही है जो स्वर्ण-प्रमाप का होता है; जैसे (१) संसार की मुद्राओं के बीच आपस की अदल-बदल की सुविधा देना, (२) मुद्राओं के मूल्यों में स्थिरता लाना। इस प्रकार कोष और स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य एक ही से हैं परन्तु इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्ण-प्रमाप किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा था और कोष किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है। अतः यह कह सकते हैं कि कोष ने एक विशेष प्रकार का 'स्वर्ण-प्रमाप' संसार को दिया है जिसके अन्तर्गत सोना मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' है परन्तु सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते हैं।

कोष के मौद्रिक साधन एवं गतिविधि

३० जून १९५३ को कोष में जमा मुद्राओं का मूल्य, जिनमें ब्याजरहित सिक्यूरिटियां तथा नोट भी सम्मिलित थे, ५,९७५ मि० डॉलर था। इसमें से १३३८ मि० के अमेरिकन डॉलर थे। अन्य मुद्राओं में, जो कोष के पास थीं, कनेडियन डॉलर भी उल्लेखनीय हैं जो २२५ मि० अमेरिकन डॉलर के बराबर थे। कोष में उक्त तिथि को १,६९३ मि० डॉलर के बराबर मूल्य का सोना जमा था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९५२-५३ में पांच सदस्य-देशों ने कोष से ६६ मि० डॉलर के मूल्य की मुद्राएं खरीदीं—

पेरेग्वे ने ०.९ मि० डॉलर, टर्की ने १० मि० डॉलर, आस्ट्रेलिया ने ३० मि० डॉलर, फिनलैंड ने ६.५ मि० डॉलर और ब्राजील ने १८.८ मि० डॉलर खरीदे ।

इसके अतिरिक्त इसी वर्ष सात सदस्य-देशों ने सोने और डॉलर के बदले में १८५ मि० डॉलर के बराबर अपनी-अपनी मुद्राओं का पुनः क्रय किया ।

१९५२ के अक्तूबर मास में कोष ने एक नवीन योजना आरम्भ की जिसके अनुसार कोई भी सदस्य-देश ६ महीने अथवा कोष की स्वीकृति पर इससे अधिक अवधि के लिए अस्थायी रूप से मुद्रा का क्रय-विक्रय कर सकता था । योजना के अनुसार सदस्य-देश को अपने 'कोटा' के एक-चौथाई से अधिक मूल्य की मुद्राएं क्रय करने का अधिकार नहीं था। इस योजना का उद्देश्य यह था कि सदस्य-देश अपने भुगतान-संतुलन के क्रम में चालू लेन-देन में विषमता आने पर अल्पकाल के लिए कोष के साधनों से लाभ उठा सकें। इस योजना के अन्तर्गत जनवरी १९५३ में फिनलैंड ने २ मि० डॉलर का क्रय किया । इससे पहिले बेल्जियम भी ५० मि० डॉलर इस योजना के अनुसार कोष से क्रय कर चुका था पर उस समय कोष ने इस योजना को स्थायी रूप से स्वीकार नहीं किया था । अब यह योजना कोष की सामान्य नीति का एक अंग बना ली गई है ।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

जिस समय मुद्रा-कोष की योजना पर ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर विचार हो रहा था तो भारत भी उसमें सम्मिलित था। भारत के प्रतिनिधि मंडल में निम्न व्यक्ति थे:—सर जैरमी रइसमन—वित्त-सदस्य, सर चिन्तामणि द्वारकादास देशमुख, सर थियोडोर ग्रेगरी, सर षण्मुखम् चेट्टी, ए० डी० श्राफ तथा वी० के० मदन। प्रतिनिधि मंडल ने ब्रेटनवुड्स कान्फ्रेंस में ही इस योजना को मान लिया और इसके बाद भारत सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया तथा रुपये का सम-मूल्य भी घोषित कर दिया। भारत ने रुपये का सम-मूल्य ३.८५२ रु० प्रति डॉलर अथवा ०.२६८६०१ ग्राम स्वर्ण प्रति रुपया निश्चित किया।* इस प्रकार भारत मुद्रा-कोष का 'मौलिक सदस्य' बना रहा । मुद्रा-कोष में रूस के सम्मिलित न होने के कारण भारत अब पांच बड़े-बड़े सदस्यों में गिना जाता है

* अब रुपये के डॉलर मूल्य में कमी हो जाने के कारण रुपये का सम-मूल्य १ रु०=२१ सेन्ट=०.१८६६२१ ग्राम स्वर्ण रह गया है । इस दर से सोने का मूल्य १६६.६६७ रुपये प्रति औंस है । यह परिवर्तन सितम्बर १९४९ से हुआ है जब कि रुपये का अवमूल्यन कर दिया था ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि इसका 'कोटा' (Quota) चार देशों को छोड़कर सबसे अधिक है। भारत को मुद्रा-कोष में सम्मिलित होने से निम्न लाभ हैं :—

(१) भारत को मुद्रा-कोष से आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्राएं मिलती रही हैं और रहेंगी, जिनकी भारत को विदेशों से पूंजीगत-माल आयात करने के लिए आवश्यकता होगी। मार्च १९४८ से मार्च १९४९ तक भारत ने कोष से लगभग ९,२०,००,००० डॉलर लिए थे जो भुगतान-संतुलन के काम आए।

(२) कोष के द्वारा उन देशों को जो स्टर्लिंग-क्षेत्र में नहीं हैं भारत की मुद्रा मिलती रहेगी जिससे वे देश भारत से व्यापार बढ़ाते रहेंगे और भारत का माल उन देशों में निर्यात होता रहेगा।

(३) मुद्रा-कोष का 'मौलिक' सदस्य बनने से भारत कोष के नीति-निर्माण में हाथ बंटा रहा है और बंटा सकेगा जिससे उसकी ख्याति बढ़ेगी।

इन उद्देश्यों को लेकर भारत मुद्रा-कोष का सदस्य बन गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिए भारत ने प्रयत्न भी किए हैं। भारत ने कोष से कुल मिलाकर कोई १०,००,००,००० डॉलर लिए हैं। इसके ब्याज में १९५०-५१ में ३८ लाख रुपये कोष को चुकाए गए और १९५१-५२ में ५५ लाख रुपये चुकते किए।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्ध-ध्वंसित देशों के पुनःसंगठन तथा अवनत देशों की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो गया कि संसार के सभी राष्ट्रों में पारस्परिक मौद्रिक सहयोग हो जिससे एक देश दूसरे देश को पूंजी तथा पूंजीगत माल देकर सहायता कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बनाने की योजना स्वीकार की गई।

उद्देश्य—(१) सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति के लिए उत्पादन बढ़ाने में पूंजी का प्रबन्ध करना, युद्ध में बिगड़े हुए देशों के आर्थिक कलेवर को उन्नत बनाने की सुविधाएं देना तथा पिछड़े हुए देशों में उत्पादन के साधनों को बढ़ाने में सहायता करना।

(२) उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से सदस्य देशों को अपनी पूंजी तथा कोष में से राशि उधार देना; एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी लगाने के लिए उत्साहित करना तथा उनके द्वारा दिए गए ऋणों की गारंटी करना।

(३) दीर्घकालीन ऋण देना तथा ऐसे ऋण देने के लिए पूंजीपतियों या देशों की सरकारों को प्रोत्साहित करना जिससे उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिल सके और लोगों का रहन-सहन ऊंचा हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) सदस्य-देशों के बीच आपस में पूंजी का लेन-देन बढ़ाना जिससे पूंजी का अधिक से अधिक उपयोग हो सके और अधिक उपयोगी तथा आवश्यक योजनाएं सबसे पहले पूर्ण की जा सकें।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि युद्धकालीन असाधारण परिस्थिति शीघ्र ही समाप्त हो जाय और सभी देश एक दूसरे की सहायता से उन्नत हो जायं।

बैंक का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति करना है। इसके लिए बैंक एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यदि कोई सदस्य-देश इस प्रकार पूंजी प्राप्त न कर सके तो बैंक अपनी पूंजी तथा कोष में से सदस्य-देशों को राशि उधार देता है।

बैंक की पूंजी

बैंक की अधिकृत पूंजी १०,००,००,००,००० डॉलर है। इसमें से ९,१०,००,००,००० डॉलर उन देशों के लिए निश्चित किए गए थे जो ब्रेटन-वुड्स सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और जिन्होंने उसी समय बैंक का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। शेष पूंजी आगे बननेवाले सदस्यों को निश्चित कर दी गई थी। पूंजी को १०,००० डॉलर के १०,००० अंशों में बांट लिया गया है। बैंक की पूंजी में सदस्य-देशों को अंश निश्चित कर दिए गए हैं जिन्हें 'कोटा' कहते हैं। इस समय बैंक में कुल मिलाकर ५४ देश सदस्य हैं। जर्मनी, जापान तथा जॉरडन १९५२-५३ में ही सदस्य बनाए गए हैं। रूस और पोलैंड इसके सदस्य नहीं हैं। ३० जून १९५३ को बैंक की प्राथित पूंजी ९,०३६ मि० डॉलर थी।

प्रत्येक सदस्य-देश को अपने 'कोटे' का २% भाग बैंक में जमा करना पड़ता है जिसमें २% सोने में तथा १८% सदस्य-देश को अपनी मुद्रा में जमा करना होता है। 'कोटे' का शेष भाग उस समय लिये जाने की व्यवस्था है जब कि बैंक को उसकी आवश्यकता हो।

प्रबन्ध तथा संचालन—बैंक के संचालन के लिए एक 'बोर्ड ऑव गवर्नर्स', कार्य-संचालक एवं कर्मचारी वर्ग हैं। बोर्ड ऑव गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा भेजा हुआ एक सदस्य और एक स्थानापन्न सदस्य (Alternate member) होते हैं। इस बोर्ड की वर्ष में एक बैठक होती है। बैंक के प्रबन्ध के लिए १२ कार्य-संचालक हैं। इनमें से पांच उन सदस्य-देशों के हैं जिनको बैंक की पूंजी में बड़ी-बड़ी राशि के 'कोटे' दिए गए हैं तथा सात दूसरे सदस्य-देशों द्वारा नियुक्त किए गए हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय अमरीका में है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि इसका 'कोटा' (Quota) चार देशों को छोड़कर सबसे अधिक है। भारत को मुद्रा-कोष में सम्मिलित होने से निम्न लाभ हैं :—

(१) भारत को मुद्रा-कोष से आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्राएं मिलती रही हैं और रहेंगी, जिनकी भारत को विदेशों से पूंजीगत-माल आयात करने के लिए आवश्यकता होगी। मार्च १९४८ से मार्च १९४९ तक भारत ने कोष से लगभग ९,२०,००,००० डॉलर लिए थे जो भुगतान-संतुलन के काम आए।

(२) कोष के द्वारा उन देशों को जो स्टर्लिंग-क्षेत्र में नहीं हैं भारत की मुद्रा मिलती रहेगी जिससे वे देश भारत से व्यापार बढ़ाते रहेंगे और भारत का माल उन देशों में निर्यात होता रहेगा।

(३) मुद्रा-कोष का 'मौलिक' सदस्य बनने से भारत कोष के नीति-निर्माण में हाथ बंटा रहा है और बंटा सकेगा जिससे उसकी ख्याति बढ़ेगी।

इन उद्देश्यों को लेकर भारत मुद्रा-कोष का सदस्य बन गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिए भारत ने प्रयत्न भी किए हैं। भारत ने कोष से कुल मिलाकर कोई १०,००,००,००० डॉलर लिए हैं। इसके ब्याज में १९५०-५१ में ३८ लाख रुपये कोष को चुकाए गए और १९५१-५२ में ५५ लाख रुपये चुकते किए।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्ध-ध्वंसित देशों के पुनःसंगठन तथा अवनत देशों की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो गया कि संसार के सभी राष्ट्रों में पारस्परिक मौद्रिक सहयोग हो जिससे एक देश दूसरे देश को पूंजी तथा पूंजीगत माल देकर सहायता कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बनाने की योजना स्वीकार की गई।

उद्देश्य—(१) सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति के लिए उत्पादन बढ़ाने में पूंजी का प्रबन्ध करना, युद्ध में बिगड़े हुए देशों के आर्थिक कलेवर को उन्नत बनाने की सुविधाएं देना तथा पिछड़े हुए देशों में उत्पादन के साधनों को बढ़ाने में सहायता करना।

(२) उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से सदस्य देशों को अपनी पूंजी तथा कोष में से राशि उधार देना; एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी लगाने के लिए उत्साहित करना तथा उनके द्वारा दिए गए ऋणों की गारंटी करना।

(३) दीर्घकालीन ऋण देना तथा ऐसे ऋण देने के लिए पूंजीपतियों या देशों की सरकारों को प्रोत्साहित करना जिससे उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिल सके और लोगों का रहन-सहन ऊंचा हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) सदस्य-देशों के बीच आपस में पूंजी का लेन-देन बढ़ाना जिससे पूंजी का अधिक से अधिक उपयोग हो सके और अधिक उपयोगी तथा आवश्यक योजनाएं सबसे पहले पूर्ण की जा सकें।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि युद्धकालीन असाधारण परिस्थिति शीघ्र ही समाप्त हो जाय और सभी देश एक दूसरे की सहायता से उन्नत हो जायं।

बैंक का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति करना है। इसके लिए बैंक एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूंजी विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यदि कोई सदस्य-देश इस प्रकार पूंजी प्राप्त न कर सके तो बैंक अपनी पूंजी तथा कोष में से सदस्य-देशों को राशि उधार देता है।

बैंक की पूंजी

बैंक की अधिकृत पूंजी १०,००,००,००,००० डॉलर है। इसमें से ९,१०,००,००,००० डॉलर उन देशों के लिए निश्चित किए गए थे जो ब्रेटन-वुड्स सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और जिन्होंने उसी समय बैंक का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। शेष पूंजी आगे बननेवाले सदस्यों को निश्चित कर दी गई थी। पूंजी को १०,००० डॉलर के १०,००० अंशों में बांट लिया गया है। बैंक की पूंजी में सदस्य-देशों को अंश निश्चित कर दिए गए हैं जिन्हें 'कोटा' कहते हैं। इस समय बैंक में कुल मिलाकर ५४ देश सदस्य हैं। जर्मनी, जापान तथा जॉरडन १९५२-५३ में ही सदस्य बनाए गए हैं। रूस और पोलैंड इसके सदस्य नहीं हैं। ३० जून १९५३ को बैंक की प्रार्थित पूंजी ९,०३६ मि० डॉलर थी।

प्रत्येक सदस्य-देश को अपने 'कोटे' का २% भाग बैंक में जमा करना पड़ता है जिसमें २% सोने में तथा १८% सदस्य-देश को अपनी मुद्रा में जमा करना होता है। 'कोटे' का शेष भाग उस समय लिये जाने की व्यवस्था है जब कि बैंक को उसकी आवश्यकता हो।

प्रबन्ध तथा संचालन—बैंक के संचालन के लिए एक 'बोर्ड ऑव गवर्नर्स', कार्य-संचालक एवं कर्मचारी वर्ग हैं। बोर्ड ऑव गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा भेजा हुआ एक सदस्य और एक स्थानापन्न सदस्य (Alternate member) होते हैं। इस बोर्ड की वर्ष में एक बैठक होती है। बैंक के प्रबन्ध के लिए १२ कार्य-संचालक हैं। इनमें से पांच उन सदस्य-देशों के हैं जिनको बैंक की पूंजी में बड़ी-बड़ी राशि के 'कोटे' दिए गए हैं तथा सात दूसरे सदस्य-देशों द्वारा नियुक्त किए गए हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय अमरीका में है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऋण देने की शर्तें—बैंक सदस्य-देशों को निम्न शर्तों पर ऋण देता है :—

(१) जब कि उधार मांगनेवाले सदस्य-देश को अन्य किसी प्रकार से उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त न हो सके, (२) जब कि ऋण मांगनेवाले सदस्य-देश की सरकार उस ऋण की गारंटी करे, (३) जब कि ऋण लेने वाले सदस्य-देश उसे उसी काम में लगाएं जिन कार्यों के लिए ऋण दिया गया है ।

बैंक केवल आर्थिक पुनर्संगठन तथा विकास की योजनाओं के लिए ही ऋण देता है। ऋण लेने से पहिले सदस्य-देश को ऐसी योजनाओं की एक सूची बैंक के पास भेजनी पड़ती है। ऋण देने से पहिले बैंक इस बात की पूरी-पूरी छानवीन कर लेता है कि ऋण लेनेवाला सदस्य-देश ऋण को वापिस भुगतान चुका सकेगा या नहीं। ऋण देने से पहिले बैंक ऋण चाहनेवाले सदस्य-देश की आर्थिक योजनाओं का भली-भांति निरीक्षण कर लेता है। इस काम के लिए वह केवल कागजी कार्यवाही से ही संतुष्ट नहीं होता वरन् अपने प्रतिनिधि भेजकर उन योजनाओं की भली-भांति जांच-पड़ताल करा लेता है । ऋण देने के बाद भी बैंक समय समय पर इस बात की जांच करता रहता है कि जिस काम को ऋण दिया है वह उसी काम में लगाया जा रहा है या नहीं। श्री होर ने, जो बैंक के उपाध्यक्ष थे, अपने व्याख्यान में बतलाया था कि कोई भी ऋण किसी सदस्य-देश को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि (१) उस योजना की जिसके लिए ऋण लिया जा रहा है, ऋण लेने वाले सदस्य-देश के आर्थिक निर्माण में कठिन आवश्यकता ही न हो, (२) वह योजना निश्चित समय में पूर्ण हो जाने योग्य न हो, (३) उस योजना पर विशेषज्ञों की सम्मति न ले ली गई हो । श्री होर ने भारत आकर इस बात को स्पष्ट किया कि "बैंक अधिक उपयोगी तथा अति आवश्यक योजनाओं पर ही सबसे पहिले विचार करता है और यह भी देखता है कि ऋण लेनेवाला सदस्य-देश ऋण लेकर निश्चित समय के पश्चात् उसे लौटा भी सकेगा या नहीं ।"

बैंक की गतिविधि

बैंक ने अपने अब तक के जीवन में अनेक देशों को सहायता दी है—अपनी पूंजी में से ऋण दिए हैं तथा अन्य ऋणों की गारंटी भी की है । इन ऋणों की सहायता से उन सभी देशों में आर्थिक विकास का काम चल रहा है । ३० जून १९५३ तक बैंक ने २९ देशों को १,५९१ मि० डॉलर के मूल्य के ऋण स्वीकृत किए, इसमें से ३१ मि० डॉलर के ऋण या तो चुका दिए गए और या रद्द करा दिए गए। १९५२-५३ में बैंक ने ९ देशों को १० ऋण स्वीकृत किए। गत तीन वर्षों में स्वीकृत ऋणों का ब्यौरा इस प्रकार है :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

	१९५२-५३	१९५१-५२	१९५०-५१
ऋणों की संख्या	१०	१९	२१
ऋण लेनेवाले सदस्य-देशों की संख्या	९	१६	११
	(मिलियन डॉलरों में व्यक्त)		
स्वीकृत ऋण-राशि (वर्ष में)	१७८.६	२९८.६	२९७.१
स्वीकृत ऋणों की कुल राशि	१,५९१	१,४१२	१,११४

ऋण देने में बैंक ने बड़ी उदार नीति से काम लिया है। पर उक्त तालिका में ऋणों की संख्या तथा स्वीकृत ऋण-राशि देखकर पाठकों को भ्रम हो सकता है कि बैंक ऋण देना कम करता जा रहा है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अन्य दो वर्षों की अपेक्षा गत वर्ष ऋण-राशि कम देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि बैंक ऋण देने से अथवा सदस्य-देशों की सहायता करने से हाथ खींच रहा हो। अन्य वर्षों की अपेक्षा गत वर्ष कम ऋण-राशि स्वीकृत करने के दो कारण रहे हैं—

(१) युद्धोत्तर काल में युद्ध-ध्वंसित कुछ देशों ने अपना आर्थिक कलेवर संभाल लिया है जिससे उन्हें बैंक से ऋण लेने की अब आवश्यकता कम हो चली है।

(२) कुछ देशों में विकास योजनाएं, जिनके लिए आरम्भ में बैंक ने ऋण दिए थे, समाप्त हो गई हैं या होनेवाली हैं—अतः उन्हें अधिक ऋण लेने की अब आवश्यकता नहीं रही है। हां, कुछ नई योजनाएं अवश्य हैं पर उनकी जांच-पड़ताल करने में बैंक को अभी समय लगेगा। अतः ऋण-राशि शनैः शनैः कम होती जा रही है।

बैंक ने अब तक यद्यपि १,५९१ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किए हैं पर केवल १,१०३ मि० डॉलर की राशि ऋण-याचकों को दी गई है। जैसे-जैसे ऋण लेने वाले सदस्य-देशों को राशि की आवश्यकता होती है वे बैंक से राशि लेते जाते हैं। बैंक द्वारा दी गई ऋण-राशि का ब्यौरा इस प्रकार है :—

	(मिलियन डॉलरों में)		
	१९५२-५३	१९५१-५२	१९५०-५१
वर्ष में दी गई ऋण-राशि	२२६.८	१८४.८	७७.६
दी गई कुल ऋण-राशि	१,१०३	८७६.५	६९१.७

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि गत तीन वर्षों में गत वर्ष दी गई ऋण-राशि सबसे अधिक है। यही नहीं, बैंक के जीवन-काल में इतनी अधिक राशि का भुगतान बैंक ने पहले नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि बैंक किस द्रुतगति से ऋण देने में सहयोग कर रहा है। गत वर्ष बैंक द्वारा दी गई ऋण-राशि अधिकतर अमेरिका से बाहर व्यय की गई है। यह बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विशेषता है। अब तक दी गई कुल ऋण-राशि अर्थात् १,१०३ मि० डॉलर में से १०१४.५ मि० डॉलर का भुगतान अमरीकी डॉलरों में होना है। इससे ज्ञात होता है कि सदस्य-देशों ने अधिकांश ऋण अमरीकी डॉलरों में लिये हुए हैं। बैंक के स्वीकृत ऋणों में से जो राशि याचकों को वास्तव में दी गई है उसका वितरण इस प्रकार है—

	३० जून १९५३ तक दी गई कुल ऋण-राशि (मिलियन डॉलरों में)
संयुक्त राज्य	७७०.३
केनेडा	७१.४
योरप	१९३.२
लेटिन अमेरिका	६१.०
अफ्रीका	४.३
समीपी पूर्वी गोलार्द्ध	२.५
दूरवर्ती पूर्वी गोलार्द्ध	०·६
	११०३·०

इससे ज्ञात होता है कि बैंक ने संसार के सभी भागों में ऋण देकर आर्थिक विकास की कामना की है। बैंक ने उन सभी कार्यों के लिए ऋण दिए हैं जो ऋण-याचक देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से कृषि, यातायात, विद्युत्-शक्ति, उद्योग तथा बहुमुखी विकास—सभी क्षेत्रों में पूंजी लगाई गई है।

ऋण देने के अतिरिक्त बैंक सदस्य-देशों में अपने विशेषज्ञ भेजकर वहां की आर्थिक योजनाओं की जांच-पड़ताल भी करता है और फिर उसके परिणाम वहां सरकारों की सूचनार्थ भेजता है ताकि प्रत्येक सदस्य-देश को अपने-अपने आर्थिक साधनों का ज्ञान हो सके। ३० जून १९५३ तक बैंक ने १० देशों में अपने विशेषज्ञ भेजकर जांच-पड़ताल कराई। हमारे देश में बैंक के विशेषज्ञों ने हमारी नदी घाटी योजनाओं का अध्ययन करके समय-समय पर सरकार को सम्मति दी है। इसी प्रकार मैक्सिको और चिली में बैंक के विशेषज्ञों ने बड़ा उपयोगी काम किया है।

बैंक ने बांड बेचकर डॉलर तथा अन्य मुद्राएं प्राप्त की हैं ताकि वह सदस्य-देशों की भरपूर सहायता कर सके। १०,००,००,००० डॉलर के बांड सितम्बर १९५१ में तथा ५,००,००,००० डॉलर के बांड मई १९५२ में अमेरिका में बेचकर डॉलर प्राप्त किए। बैंक ने अमेरिका से बाहर भी अपने बांड बेचे हैं। जुलाई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९५१ में ११.६ मि० डॉलर के मूल्य के बांड स्विजरलैंड में बेचे तथा १९५२ में १५०,००,००० केनेडियन डॉलर की सिक्यूरिटियां केनेडा में बेची गईं। जून १९५२ के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मंडी की स्थिति अनुकूल न होते हुए भी बैंक ने गत वर्ष ७१.६ मि० डॉलर के बांड और बेचे। अक्तूबर १९५२ में बैंक ने ६० मि० डॉलर के ३½% वाले १९-साला बांड बेचे जिनमें से एक-तिहाई राशि के बांड अमेरिका से बाहर के विनियोगियों ने खरीदे। यद्यपि बैंक अमेरिका में ही बांड बेच कर और अधिक राशि प्राप्त करना चाहता था पर अमेरिका की मुद्रा-मंडी अनुकूल न होने के कारण ऐसा न कर सका। अतः उसने नवम्बर १९५२ में ५० मि० स्विस फ्रेंक्स (११.६ मि० डॉलर के बराबर) के बांड स्विजरलैंड में और बेचे। गत वर्ष बैंक ने १३.६ मि० डॉलर की सिक्यूरिटियां अपने पास से और बेचीं ताकि सदस्य-देशों की सामाजिक आवश्यकता पूर्ण की जा सकें। इस प्रकार बैंक अब तक ५५६.४ मि० डॉलर के बांड बेच चुका है। इससे ज्ञात होता है कि बैंक सदस्य-देशों को सहायता देने के लिए कितना इच्छुक रहा है।

बैंक को अपने क्रिया-कलापों से खासी आय होती रही है। गत वर्ष बैंक को १८.५ मि० डॉलर की शुद्ध आय हुई जो पूरक कोष में जमा कर दी गई। इस कोष में बैंक के पास लगभग ७६ मि० डॉलर की राशि जमा है। कमीशन से, जो बैंक अदत्त ऋण-राशि पर १% की दर से वसूल करता है, अब तक ३७·२ मि० डॉलर की आय हुई है जो एक विशिष्ट कोष में जमा है। गत वर्ष इस मद से ९.६ मि० डॉलर की आय हुई। इस प्रकार बक के कोष में कुल मिलाकर ११३·७ मि० डॉलर की राशि जमा है।

बैंक प्रयत्नशील है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कारपोरेशन स्थापित किया जाय जो देश-देश की पूंजीगत आवश्यकता पूर्ण करने में सहायता करे। यह प्रस्ताव बैंक की गत वार्षिक मीटिंग में रखा गया पर उस पर अधिक विचार न किया जा सका। आशा है ऐसी संस्था का प्रस्ताव अगले वर्ष विचार के लिए फिर उपस्थित किया जायगा।

बैंक ने अपनी रिपोर्टों में बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि सभी देशों में, विशेषकर अविकसित और अर्धविकसित देशों में ऐसी संस्थाएं स्थापित की जायं जो सरकारी आर्थिक नीति को तोल सकें और देश के आर्थिक विकास के लिए सरकार का मार्ग प्रदर्शन कर सकें। इस सिफारिश के आधार पर कई देशों में इस प्रकार की संस्थाएं स्थापित भी हो चुकी हैं जिनमें ब्राजील की नेशनल बैंक ऑव डेवलपमेंट, ब्रह्म की मिनिस्ट्री ऑव प्लानिंग एण्ड इकनोमिक एण्ड सोशल बोर्ड, लंका की प्लानिंग कमेटी ऑव केबिनेट, कोलम्बिया की नेशनल प्लानिंग कौंसिल, भारत का प्लानिंग कमीशन तथा इराक का डेवलपमेण्ट बोर्ड उल्लेखनीय हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक तथा भारत—भारत ने बैंक से कई ऋण लिये हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) एक ऋण ३,४०,००,००० डॉलर का रेल-मार्गों की उन्नति करने के लिए १८ अगस्त १९४९ को लिया गया। यह ऋण १५ वर्ष की अवधि का है तथा इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन प्रतिवर्ष भारत को देना होगा। इस ऋण का भुगतान अगस्त १९५० से आरम्भ हुआ। इसमें से भारत ने केवल ३२.५ मि० डॉलर ही लिये।

(२) दूसरा ऋण २९ सितम्बर १९४९ को १,००,००,००० डॉलर का कृषि-विकास के लिए लिया गया था। इसकी अवधि ७ वर्ष है तथा इस पर २½% ब्याज तथा १% कमीशन भारत को देना होगा। इसका भुगतान १ जून १९५२ से आरम्भ हुआ। इस राशि में से सरकार ने केवल ७.५ मि० डॉलर ही लिये जो बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए ट्रैक्टर खरीदने के काम आए।

(३) तीसरा ऋण १५ अप्रैल १९५० को १८.५ मिलियन डॉलर का दामोदर-घाटी-योजना के अन्तर्गत बोकारो बिजली-घर बनाने के लिए लिया गया। इस ऋण की अवधि २० वर्ष है तथा इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन प्रतिवर्ष दिया जायगा। इसका भुगतान १ अप्रैल १९५५ से आरम्भ होगा।

(४) चौथा ऋण गत वर्ष देश के लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास के लिए कलकत्ते की इंडियन आयरन एंड स्टील कं० लिमिटेड के नाम स्वीकृत किया गया। यह ऋण ३१.५ मि० डॉलर का है। बैंक के जीवन काल में यह पहला ऋण है जो किसी प्राइवेट व्यावसायिक संस्था को इस प्रकार दिया गया है।

(५) पांचवां ऋण १९.५ मि० डॉलर का दामोदर घाटी योजना के विकास के लिए और लिया गया है। यह ऋण गत वर्ष जनवरी में लिया गया था।

बैंक के पास एक आवेदन-पत्र अभी विचाराधीन है जिसमें बम्बई के पास ट्राम्बे नामक द्वीप में विद्युत्शाला बनाने के हेतु राशि ऋण लेने की मांग की गई है।

इस प्रकार भारत ने बैंक से कुल मिलाकर ११३.५ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत कराए जिनमें से ३.७ मि० डॉलर के ऋण स्वयं ही रद्द करा दिए। अतः १०९.८ मि० डॉलर की राशि ऋण रूप में भारत ने बैंक से ली है। इस प्रकार भारत को बैंक से पर्याप्त सहायता मिली है। गत वर्ष बैंक के एक प्रमुख कर्मचारी ने देश का दौरा करके कहा था—"देश के साधन प्रचुर हैं और इनका विदोहन करने के लिए बैंक और भी ऋण दे सकेगा।" इससे ज्ञात होता है कि भारत के प्रति बैंक की साख बनी हुई है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक का महत्त्व—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने प्रकार की एक अद्भुत संस्था है जो संसार के अधिकांश राष्ट्रों को, जो युद्ध के कारण लुंज हो गए थे, सहायता देती है। सभी राष्ट्रों के आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण के उद्देश्यों को लेकर चलनेवाली यह पहली संस्था है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा निठल्ली पूंजी राष्ट्रों के हित में काम लाई जा सकती है। यह एक प्रकार का ऐसा सुरक्षित पुल है जिसके द्वारा पूंजीपतियों की पूंजी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पहुंचती है। बैंक राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीतिक स्वास्थ्य को बल देनेवाली संस्था है जो स्वास्थ्य युद्ध के कारण बिगड़ गया था।

बैंक एक प्रकार का संघ है जिसमें अनेक राष्ट्र सदस्य हैं और सब सदस्य मिलकर ऋण लेनेवाले सदस्य का भार बांट लेते हैं। लार्ड कीन्स ने इसके विषय में एक बार कहा था—"इस संस्था से मिलनेवाले लाभों को आसानी से नहीं आंका जा सकता। राष्ट्रों के विकास के लिए इससे उन्हें साधन प्राप्त होंगे ; लेनदार तथा देनदार में पारस्परिक सहयोग होगा—भुगतान-संतुलन होगा। इतने बड़े पैमाने पर संसार के प्रश्न को एक साथ लेकर चलनेवाली संस्था आज से पहिले कभी स्थापित नहीं हुई।"

बैंक का भविष्य—बैंक का भविष्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता पर निर्भर है। बैंक तभी सफल हो सकता है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं में पारस्परिक परिवर्त्यता (Convertibility) हो और यह बात कोष की सफलता पर निर्भर है। बैंक की सफलता उसके प्रबन्ध एवं संचालकों की विशेषताओं पर भी निर्भर है, लेनदार देशों की राजकोषीय नीति पर भी निर्भर है एवं युद्धोत्तर काल में सभी राष्ट्रों की ईमानदारी पर भी निर्भर है। प्रत्येक ऋण की जमानत व साख ऋण लेनेवाले सदस्य-देश की भुगतान करने की इच्छा एवं शक्ति ही है। परन्तु यदि उधार लेनेवाला ही अपनी नीयत गिरा दे तो संसार की कोई भी संस्था तथा कितने ही राष्ट्रों का कितना ही सहयोग सफल नहीं हो सकता।

जो कुछ भी परिस्थिति आज है उससे तो यही कहा जा सकता है कि बैंक विश्व के आर्थिक कल्याण की भावना लेकर आया है। संसार में उत्पादन के लिए साधनों की कमी नहीं, जनसंख्या का अभाव नहीं और इच्छा की भी कमी नहीं, कमी केवल पूंजी की है। परन्तु केवल पूंजी भी अकेली सहायता नहीं कर सकती। आवश्यकता तो राष्ट्रों को पारस्परिक सम्पर्क में लाने की है। बैंक का उद्देश्य राष्ट्रों तथा पूंजी दोनों को समीप लाना है। अतः यदि राष्ट्रों ने मिलकर सहयोग किया तो जो कुछ आज आवश्यक है मिलकर रहेगा—स्थायित्व, उन्नति एवं प्रगति, ये ही तीन वस्तुएं शांति स्थापित कर सकती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

युद्ध समाप्त होने पर यह आवश्यक हो गया कि संसार के प्रत्येक देश, विशेषतः युद्ध-ध्वंसित एवं अविकसित देशों का आर्थिक विकास हो और वहां के निवासियों का जीवन-स्तर ऊंचा हो। परन्तु यह तभी हो सकता था जब कि संसार के अधिकांश देशों की आर्थिक एवं मौद्रिक नीतियां एकसी हों और उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न रहें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रेटेनवुड्स नामक स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन करके दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं को जन्म मिला जिसमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य संसार भर के देशों में मौद्रिक एकता स्थापित करना, मुद्रा संबंधी समस्याओं को सुलझाना, मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दरों का प्रबन्ध करके उन्हें स्थायी बनाना, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सहायता करना, विनिमय-नियंत्रणों को दूर करना तथा सदस्य-देशों की भुगतान-विषमताओं को दूर करने के लिए विदेशी मुद्राएं देकर सहायता करना है। कोष में दो प्रकार के सदस्य हैं—(१) मौलिक सदस्य, (२) सामान्य सदस्य। मौलिक सदस्य वे देश माने जाते हैं जिन्होंने ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भाग लेकर सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। प्रत्येक सदस्य-देश को कोष में 'कोटे' निश्चित कर दिए गए हैं। 'कोटे' की राशि सदस्य-देशों को सोने तथा अपनी-अपनी मुद्राओं के रूप में कोष में जमा करनी होती है। 'कोटों' में आवश्यकतानुसार फेर-बदल की जा सकती है। कोष का प्रबन्ध-संचालन करने के लिए एक बोर्ड ऑव गवर्नर्स, एक संचालक समिति तथा एक प्रबन्ध-संचालक है। कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है।

सदस्य-देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं के सम-मूल्य निश्चित कर दिए हैं। ये सममूल्य सोने अथवा डॉलरों में निश्चित किए गए हैं। मुद्राओं का क्रय-विक्रय इन्हीं सम-मूल्यों के आधार पर होता है। सम-मूल्यों में परिवर्तन भी किया जा सकता है तथा ये परिवर्तन सदस्य-देशों की इच्छा से तथा कोषाधिकारियों की स्वीकृति से किए जा सकते हैं।

सदस्य-देश कोष से लेन-देन का काम अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों, राज्य-कोषों तथा अन्य मौद्रिक संस्थाओं द्वारा करते हैं। कोई भी सदस्य-देश अपनी मुद्रा या सोना देकर बदले में कोष से अन्य मुद्रा खरीद सकता है। कोष से ली हुई राशि कोष के उद्देश्यों को छोड़ अन्य किसी काम में नहीं लगाई जा सकती। केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा तथा विनिमय-दरों को स्थायी बनाने के लिए ही कोष की राशि काम में लाई जा सकती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। यदि किसी समय कोष में किसी मुद्रा-विशेष का अभाव हो जाय तो कोष उस मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित कर सकता है। 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित करके कोष उसकी पूर्ति करने के लिए या तो सोने के बदले में उसे खरीदता है या उसे उस देश से, जिसकी मुद्रा वह है, प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

कोष का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करना है। यह एक ऐसी संस्था है कि जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय-दरों को स्थायी रखने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे संसार के सभी देश आर्थिक उन्नति कर सकें। कोष में सोने को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कोष ने एक प्रकार का स्वर्ण-प्रमाप संसार को दिया है जिसके अन्तर्गत सोना मुद्राओं का मूल्य-मापक है परन्तु सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते। कोष में मौलिक सदस्य बनकर भारत की ख्याति तो बढ़ी ही है पर इसे आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्राएं भी मिलती रही हैं जिनकी उसे आवश्यकता है। भारत ने कोष से कुल मिलाकर १०,००,००,००० डॉलर लिये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अवनत तथा युद्ध-ध्वंसित देशों को उनके आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करता है। बैंक के उद्देश्य सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति के लिए उत्पादन-वृद्धि में पूंजी का प्रबन्ध करना, युद्ध में बिगड़े देशों के आर्थिक कलेवर को उन्नत बनाने की सुविधाएं देना, सदस्य-देशों को अपनी पूंजी तथा कोष में से ऋण देना, एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करना एवं उनके द्वारा दिए गए ऋणों की गारन्टी करना तथा सदस्य-देशों में पारस्परिक पूंजी का लेन-देन बढ़ाना है।

बैंक की अधिकृत पूंजी १०,००,००,००,००० डॉलर है। बैंक की पूंजी में सदस्य-देशों को अंश निश्चित कर दिए गए हैं जिन्हें 'कोटा' कहते हैं। प्रत्येक देश को अपने 'कोटे' का २०% भाग बैंक में जमा करना पड़ता है जिसमें से २% सोने में तथा १८% सदस्य-देश की अपनी मुद्रा में जमा करना होता है। कोटे का शेष भाग उस समय लिय जाने की व्यवस्था है जब बैंक को उसकी आवश्यकता हो।

बैंक का संचालन एवं प्रबन्ध बोर्ड ऑव गवर्नर्स एवं कार्य-संचालक करते हैं। बोर्ड में सदस्य-देशों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। बैंक के प्रबन्ध के लिए १२ कार्य-संचालक हैं जिनमें पांच उन देशों के हैं जिनको बैंक में बड़े-बड़े कोटे निश्चित हैं तथा सात दूसरे सदस्य-देशों द्वारा नियुक्त किए गए हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय अमरीका में है।

बैंक सदस्य-देशों को दीर्घकालीन ऋण देता तथा दिलाता है। ऋण देने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की शर्तें इस प्रकार हैं—(१) जब ऋण-याचक को अन्य किसी प्रकार से उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त न हो सके, (२) जब ऋण-याचक सदस्य-देश की सरकार उस ऋण की गारंटी करने पर तैयार हो, (३) जब ऋण लेनेवाले सदस्य-देश उसे उसी काम में लगाएं जिन कामों के लिये ऋण दिया गया है। बैंक केवल आर्थिक पुनर्संगठन तथा विकास की योजनाओं के लिए ही ऋण देता है। ऋण देने से पहिले बैंक ऋण मांगने वाले सदस्य-देश की विकास-योजनाओं का भली प्रकार अध्ययन करके यह छानबीन कर लेता है कि ऋण लेनेवाला ऋण-राशि का भुगतान कर भी सकेगा या नहीं।

बैंक ने अपने अब तक के जीवन में अनेक देशों को सहायता दी है। १९४७ से १९५३ तक बैंक ने ६८ ऋण दिए हैं जिसमें लगभग १५९१ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किए गए हैं। बैंक ने जो ऋण दिए हैं उनसे २५० विकास-योजनाएं चल रही हैं और या पूर्ण हो चुकी हैं। बैंक ने संसार के सभी भागों में ऋण दिए हैं। अब तक बैंक ने २७ देशों को ऋण स्वीकृत किए हैं।

भारत ने बैंक से अब तक पांच ऋण प्राप्त किए हैं—(१) ३,४०,००,००० डॉलर का रेलमार्गों के विकास के लिए, (२) १,००,००,००० डॉलर का कृषि-विकास के लिए, (३) १८.५ मि० डॉलर का बोकारो बिजलीघर के लिए, (४) ३१.५ मि० डॉलर का इस्पात-उद्योग के विकास के लिए तथा (५) १९.५ मि० डॉलर का दामोदर घाटी योजना के लिए। इस प्रकार भारत को बैंक से ११३.५ मि० डॉलर के ऋण मिले हैं जिनमें से ३.७ मि० डॉलर के ऋण रद्द करा दिए गए। इस प्रकार भारत पर अब १०९.८ मि० डॉलर के ऋण शेष हैं।

बैंक अपने प्रकार की एक अद्भुत संस्था है जो ससार के अधिकांश राष्ट्रों को सहायता देती है। सभी राष्ट्रों के आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण के उद्देश्यों को लेकर चलने वाली यह पहली संस्था है। आज की परिस्थिति से यह कहा जा सकता है कि बैंक संसार के आर्थिक कल्याण की भावना लेकर आया है। इसकी सफलता मुद्रा-कोष की सफलता पर निर्भर है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं में पारस्परिक परिवर्त्यता पर निर्भर है, प्रबन्ध एवं संचालन पर निर्भर है तथा लेनदार और देनदार देशों की राजकोषीय नीति पर निर्भर है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की मुख्य-मुख्य विशेषताओं को समझाइए तथा यह भी बताइए कि विदेशी विनिमय-दरों पर कोष का क्या प्रभाव पड़ेगा।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए तथा समझाइए कि कोष ने इन उद्देश्यों को कहां तक निभाया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों और नीतियों पर प्रकाश डालिए।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के विधान एवं उद्देश्यों का वर्णन करते हुए उसका महत्त्व समझाइए।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य क्या हैं ? बैंक ने अपनी उधार-नीति में उन उद्देश्यों को कहां तक पूरा किया है ? सतर्क उत्तर दीजिए।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अब तक जो काम किया है उसका उल्लेख करते हुए समझाइए कि बैंक संसार के आर्थिक विकास की भावना लेकर जन्मा है।

(७) भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से क्या लाभ पहुंचा है ? इस पर एक संक्षित नोट तैयार कीजिए।

(८) "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक एक प्रकार का सुरक्षित पुल है जिस पर होकर व्यक्गित पूंजी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रांगण में पहुंच जाती है।" "यह बैंक एक प्रकार का ऐसा कोष है जो ऋण देने से होने वाले खतरों को सहन कर सकता है।"
उक्त कथनों की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(९) निम्नलिखित पर नोट लिखिए--

(१) सममूल्य
(२) दुर्लभ मुद्रा
(३) बैंक की ऋण-नीति
(४) 'कोटा'।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २८

भारतीय पत्र-मुद्रा का इतिहास

(१८००—१९५३)

(१८६१ से पूर्व)

भारत में पत्र-मुद्रा का इतिहास १९वीं शताब्दी से आरम्भ होता है। इससे पहिले लोगों को पत्र-मुद्रा का ज्ञान तक न था। १८०६ में 'बैंक ऑव बंगाल' स्थापित हुआ और सबसे पहिले इसी बैंक को नोट चलाने का अधिकार दिया गया। १८४० में 'बैंक ऑव बम्बई' बनाया गया तथा इसके बाद १८४३ में 'बैंक ऑव मद्रास' की स्थापना हुई। अब इन तीनों बैंकों को नोट चलाने का अधिकार था। ये तीनों बैंक हिस्सेदारों के बैंक थे परन्तु इनकी पूंजी में सरकार का बहुत हिस्सा था। इसलिए इन बैंकों के प्रबन्ध और संचालन में सरकार का भी हाथ रहता था। इन तीनों बैंकों को यद्यपि नोट चलाने का एकाधिकार मिला हुआ था परन्तु इनके नोट क्रमशः कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में ही चलते थे। ये नोट देश भर के लिए कानूनी मुद्रा न थे और कभी कभी तो सरकार भी इनको नहीं लिया करती थी। प्रत्येक बैंक को नोट चलाने की अधिक से अधिक संख्या निश्चित थी। कोई भी बैंक इस निश्चित संख्या से अधिक नोट नहीं चला सकता था। प्रत्येक बैंक को कुल नोटों के मूल्य का ३३$\frac{1}{3}$% भाग धातु के रूप में अपने-अपने कोष में सुरक्षित रखना पड़ता था। आगे चलकर यह शर्त ढीली कर दी गई और कुल नोटों के मूल्य का केवल २५% भाग ही धातु के रूप में सुरक्षित रखना पड़ता था। प्रत्येक बैंक द्वारा नोट चलाने की कुल राशि तो निश्चित थी परन्तु प्रत्येक बैंक जैसे और जिस राशि के नोट चाहता, चला सकता था। इस प्रकार उस समय भिन्न-भिन्न राशि और भिन्न-भिन्न रूप-रंग के नोट चलते थे।

१८५९ में सबसे पहिली बार भारत सरकार ने नोट-प्रथा को संगठित करने की सोची। भारत सरकार के सबसे पहिले वित्त-सदस्य श्री जेम्स विल्सन ने सरकार के सामने पत्र-मुद्रा संबंधी एक योजना रक्खी। उन्होंने सिफारिश की कि देश की नोट-प्रणाली लोचदार होनी चाहिए। इसके लिए देश को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कई क्षेत्रों में बांट लेना चाहिए और कुल नोटों के मूल्य का $\frac{1}{3}$ भाग रुपयों के रूप में सुरक्षित रखना चाहिए तथा शेष $\frac{2}{3}$ भाग सिक्यूरिटियों में लगा देना चाहिए। परन्तु इस योजना पर विचार भी न हो पाया था कि श्री विल्सन का स्वर्गवास हो गया और योजना कार्यान्वित न हो सकी। श्री विल्सन के बाद श्री सैम्युअल लैंग भारत के वित्त-सदस्य बने। इन्होंने नोट-प्रणाली को अधिक सुरक्षित बनाने की सिफारिश की और कहा कि भारत की नोट-व्यवस्था भी इंगलैंड की नोट-व्यवस्था के आधार पर होनी चाहिए। भारत मंत्री ने इनकी सिफारिश मान ली और १८६१ में 'पेपर करेंसी एक्ट' पास कर दिया गया।

(१८६१—१९१४)

पेपर करसी एक्ट १८६१—भारत के पत्र-मुद्रा के इतिहास में इस एक्ट का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसी एक्ट के द्वारा भारत सरकार ने सबसे पहिले नोट चलाना आरम्भ किया। इस एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :—

(१) भारत सरकार ही अब पत्र-मुद्रा चलाने लगी। अब बैंकों को, जो अब तक नोट चलाते रहे थे, नोट चलाने का कोई अधिकार न रहा। अब सरकार ही अपने पत्र-मुद्रा विभाग द्वारा नोट छापकर चलाती थी।

(२) सुविधा के लिए सारे देश को तीन क्षेत्रों में बांट लिया गया। इन तीनों क्षेत्रों के मुख्य शहर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास थे। इन्हीं तीन केन्द्रों से नोट छापकर चलाए जाते थे। जिस क्षेत्र में जो नोट छापकर चलाए जाते थे वे नोट उसी क्षेत्र में कानूनी मुद्रा होते थे। परन्तु जैसे-जैसे नोटों की संख्या बढ़ती जाती थी नए-नए क्षेत्र बनाए जाते थे। १९१० में चार क्षेत्र और बना लिये गए थे जिनके केन्द्र रंगून, कराची, कानपुर और लाहौर थे।

(३) कम से कम १० रुपये की राशि के नोट चलाए जा सकते थे। इससे अधिक राशि के नोट २०, ५०, १००, ५००, १००० और १०,००० रुपये के होते थे। १८९१ में ५ रुपये की राशि के नोट भी चलाना आरम्भ कर दिया गया।

(४) ४ करोड़ रुपये के मूल्य के नोट सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए जा सकते थे। परन्तु यदि इनसे अधिक नोट चलाने होते थे तो समान मूल्य का कोष रखना पड़ता था। यह कोष चांदी या चांदी के रुपयों में रक्खा जा सकता था।

इस प्रकार भारत की नोट-प्रणाली भी इंगलैंड की नोट-प्रणाली के आधार पर निश्चित की गई। इस प्रणाली में यह बात तो अवश्य थी कि आवश्यकता से अधिक नोट बिना चांदी रक्खे नहीं चलाए जा सकते थे परन्तु

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसमें एक दोष भी था। दोष यह था कि यह प्रणाली लोचदार नहीं थी अर्थात् व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल नोटों की संख्या बिना धातु-कोष रक्खे नहीं बढ़ाई जा सकती थी। यद्यपि इस प्रणाली में नोटों के बदले में सिक्के या धातु मिलने की गारंटी थी परन्तु इसमें लोच नहीं थी। सरकार को भी इन नोटों को चलाने से कोई विशेष लाभ न था क्योंकि सरकार को प्रत्येक नोट के बदले में लगभग समान मूल्य के सिक्के या धातु रखने पड़ते थे। पहिले पहिल तो नोटों का प्रचार कुछ कम रहा परन्तु जैसे-जैसे लोगों में शिक्षा और विश्वास बढ़ता गया नोटों की मांग भी बढ़ती गई। १८९० के पश्चात् तो नोटों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई। अतः १८९१ में ५ रुपये की राशि के नोट भी चलाए जाने लगे। अब तक जो नोट जिस क्षेत्र से छपते थे उसी क्षेत्र के अन्दर वे कानूनी मुद्रा होते थे। परन्तु अब नोटों के चलन का क्षेत्र बढ़ा दिया गया। १९०३ में ५ रुपये के नोट को सारे भारत में कानूनी मुद्रा बना दिया गया और १९१०-११ में १०, ५० और १०० रुपये के नोटों को भी देश भर की कानूनी मुद्रा बना दिया गया। ऐसा करने से अब 'क्षेत्रों' की संख्या भी कम कर दी गई। धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा-कोष में भी परिवर्तन कर दिया गया। अब तक केवल ४ करोड़ रुपये के नोट ही सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए जा सकते थे। १९१३ में यह सीमा बढ़ा दी गई और अब १४ करोड़ रुपये के नोट सिक्यूरिटियों के आधार पर छापकर चलाए जा सकते थे। अब तक नोटों के बदले में जो सिक्यूरिटियां रक्खी जाती थीं वे भारत सरकार की भारत-स्थित रुपये की सिक्यूरिटियां होती थीं परन्तु अब १९०५ से स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां भी रक्खी जाने लगीं। १९१३ से १४ करोड़ की कुल सिक्यूरिटियों में से १० करोड़ रुपये की भारत सरकार की सिक्यूरिटियां होती थीं तथा ४ करोड़ रुपये की स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां होती थीं। पत्र-मुद्रा-कोष की क्रियाओं और उद्देश्यों में भी फेर-बदल कर दिया गया। अब तक इस कोष का कुछ भाग नोटों के बदले में चुकाने के लिए भारत में रक्खा जाता था। परन्तु १८९८ से यह भाग इंगलैंड में सोने के रूप में रक्खा जाने लगा। बतलाया गया कि यह भाग इंगलैंड में चांदी खरीदने के काम लाया जायगा और खरीदी हुई चांदी भारत में रुपये बनाने के काम लाई जाया करेगी। इंगलैंड में भेजा हुआ यह भाग अब 'स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप' का एक अंग बन गया। अब इसका उद्देश्य केवल चांदी खरीदना ही न रहा वरन् विनिमय-दर को स्थायी बनाना भी हो गया। १८९८ में स्वर्ण-नोट-एक्ट (Gold Note Act) पास करके निश्चित किया गया था कि लन्दन में भारत मंत्री कौंसिल-बिल बेचा करेंगे और इन कौंसिल-बिलों का भुगतान भारत सरकार चुकाया करेगी। इस प्रकार कौंसिल-बिल बेचकर भारत-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मंत्री अपने पास सोना इकट्ठा कर लिया करते थे और उस सोने के आधार पर भारत में भारत की सरकार नोट छापकर चला दिया करती थी। वास्तव में तो यह व्यवस्था उस समय भारत में मुद्रा की कमी को दूर करने के लिए की गई थी परन्तु १९०२ में इस व्यवस्था को स्थायी बना दिया गया तथा १९०५ में एक एक्ट बनाकर यह पास कर दिया गया कि लन्दन में रक्खे हुए सोने या सोने के सिक्के के आधार पर भारत में नोट छापकर चलाए जा सकते हैं। अतः पत्र-मुद्रा-कोष का एक भाग अब लन्दन में भी रखा जाने लगा। कोष के इस भाग के दो उद्देश्य बन गए—

(१) भारत के लिए चांदी खरीदने का काम,

(२) विनिमय-दर को स्थायी रखने में सहायता करने का काम।

इस प्रकार लन्दन में रक्खे गए स्वर्ण-कोष के आधार पर (जो कौंसिल-बिल बेचकर मिलता था) भारत में नोट छपाने से देश की नोट-प्रणाली में कुछ लोच आ गई। १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन ने नोट-प्रणाली को और भी अधिक लोचदार बनाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कमीशन ने निम्न सिफारिशें की :—

(१) सिक्यूरिटियों के आधार पर छापकर चलाए जानेवाले नोटों की मात्रा १४ करोड़ रुपये से बढ़ाकर २० करोड़ रुपये कर दी जाय और इसके बाद फिर यह मात्रा और बढ़ा दी जाय।

(२) सरकार को यह अधिकार दे दिया जाय कि वह पत्र-मुद्रा-कोष के सिक्यूरिटी वाले भाग को भारत में या लन्दन में उधार दे सके। भारत में यह भाग प्रेसीडेन्सी बैंकों को उधार दे दिया जाय।

(३) ५०० रुपये के नोट को देश भर में कानूनी मुद्रा बना दिया जाय तथा इसको धातु में बदलने की सुविधाएं बढ़ा दी जायं।

चेम्बरलेन कमीशन ने सोचा था कि इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने से कई लाभ होंगे। सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि इस प्रकार नोटों का प्रचार बढ़ेगा और लोगों को भी इनके लेने-देने में रुचि होगी। दूसरे, सरकार पत्र-मुद्रा-कोष के कुछ भाग को समय पड़ने पर उधार देकर ब्याज कमा सकेगी। तीसरे, सरकार को बिना कोई कानून बनाए ही कोष में से ऋण देने का अधिकार मिला रहेगा। इस तरह सरकार इन सिफारिशों पर विचार कर ही रही थी कि प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया और सरकार कोई निर्णय न ले सकी।

(१९१४—१९१८)

प्रथम महायुद्धकाल में पत्र-मुद्रा के इतिहास में एक संकट आया। युद्ध आरम्भ होने के पहिले वर्ष में परिस्थिति बड़ी डांवाडोल रही। जनता नोटों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को लौटाकर सोने की मांग करने लगी। सरकार ने भी तीन चार दिन में ही लगभग १८,००,००० पौंड सोने का भुगतान किया। अन्त में नोटों के बदले में सोना देना बन्द कर दिया। १९१५ के पश्चात् नोटों की मांग बढ़ने लगी क्योंकि व्यापार बढ़ने लगा था और मुद्रा-मंडी में रुपयों की कमी थी। अतः सरकार अब नोटों की संख्या बढ़ाने लगी। सिक्यूरिटियों के आधार पर छापकर चलाए जानेवाले नोटों की मात्रा अब २० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दी गई। नोटों की संख्या भी बढ़ा दी गई। ३१ मार्च १९१४ को ६,६१२ लाख रुपये के नोट चलते थे जब कि १९१८ में यह संख्या बढ़कर लगभग ९,९७९ लाख रुपये हो गई और ३१ दिसम्बर १९१८ को यही संख्या १८,२९१ लाख रुपये हो गई। १ रुपये और २½ रुपये के नए नोट भी चलाए गए। इस प्रकार प्रथम महायुद्धकाल में पत्र-मुद्रा के इतिहास में तीन विशेष परिवर्तन हुए :—

(१) नोटों की संख्या लगभग तिगुनी हो गई।

(२) पत्र-मुद्रा-कोष में धातु का भाग कम हो गया। यह भाग लगभग ७८% से ४५% रह गया।

(३) पत्र-मुद्रा-कोष में सिक्यूरिटियों का भाग बढ़ गया। यह भाग लगभग २१% से ५४% से हो गया।

(१९१९—१९२५)

युद्ध समाप्त होने के बाद १९१९ में भारतीय मुद्रा-प्रणाली का अध्ययन करने लिए बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी नियुक्त की गई। कमेटी के सदस्य चाहते थे कि भारत की नोट-प्रणाली लोचदार हो, तथा नोट चलाने से पहिले पर्याप्त मात्रा में धातु-कोष भी रक्खा जाय जिससे नोटों के बदले में रुपये देने में कोई कठिनाई न हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) पत्र-मुद्रा-कोष में कुल चालू नोटों का कम से कम ४०% भाग धातु के रूप में रखना चाहिए तथा पत्र-मुद्रा-कोष के सोने का २ शि० प्रति रुपया की दर पर फिर से मूल्यांकन कर लेना चाहिए जिससे नई विनिमय-दर पर सोने का हिसाब लगाया जा सके। [स्मरण रहे कि कमेटी ने २ शि० (स्वर्ण) की विनिमय-दर स्थापित करने की सिफारिश की थी।]

(२) सिक्यूरिटियों के आधार पर चलनेवाले नोटों का मूल्य १२० करोड़ रुपया ही रहे परन्तु इसमें भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों का मूल्य २० करोड़ रुपये से अधिक न हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) पत्र-मुद्रा-कोष का सोना और चांदी भारत में ही रक्खा जाय।

(४) समय पड़ने पर सरकार ५ करोड़ रुपये के नोट और छापकर चला सकती है। ये नोट प्रेसीडेन्सी बैंकों को ऋण के रूप में दे दिए जायं तथा ९० दिन की अवधि वाले निर्यात-बिलों के आधार पर चलाए जायं।

(५) सरकार को यह अधिकार दिया जाय कि वह नोटों के बदले में सोना दे या चांदी के सिक्के दे।

कमेटी की इन सफारिशों से मालूम होता है कि कमेटी ने नोट-प्रणाली को लोचदार बनाने के लिए बड़ी मजबूत सलाह दी थी। पत्र-मुद्रा-कोष का केवल ४०% भाग ही धातु के रूप में रखने की सिफारिश की। इतना ही नहीं, सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए जाने वाले नोटों का मूल्य १२० करोड़ रुपये ही रक्खे जाने का सुझाव दिया तथा इसके अतिरिक्त भी ५ करोड़ रुपये के नोट और चलाने के लिए सरकार को अधिकार देने की सिफारिश की।

इन सिफारिशों के अनुसार मार्च १९२० में एक अस्थायी नियम पास किया गया जिसके अनुसार सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए जाने वाले नोटों का मूल्य १२० करोड़ रुपये ही स्वीकार कर लिया गया। परन्तु इससे काम न चल सका। सरकार ने नोट-प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए मार्च १९२० के अस्थायी नियम को संशोधित करके 'इंडियन पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट' (Indian Paper Currency Amendment Act) पास किया। यह एक्ट १ अक्तूबर १९२० से लागू हुआ। इस एक्ट की मुख्य बातें ये थीं :—

(१) पत्र-मुद्रा-कोष का कम से कम आधा भाग धातु के रूप में रखा जाने लगा। वेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने यद्यपि कोष में ४०% भाग ही धातु के रूप में रखने की सिफारिश की थी परन्तु सरकार ने इससे भी अधिक अर्थात् ५०% भाग धातु में रखने का निश्चय किया जिससे नोटों के बदले में धातु और धातु के सिक्के देने में कोई कठिनाई न हो।

(२) पत्र-मुद्रा-कोष का आधा भाग सिक्यूरिटियों में रखा जाने लगा। कम से कम २० करोड़ रुपये के मूल्य की सिक्यूरिटियां भारत में रखी जायं और शेष भाग इंगलैंड में रहे। इंगलैंड में रखा जानेवाला यह भाग १२ महीने की अवधि से अधिक समय की सिक्यूरिटियों में न रक्खा जाय।

(३) भारत-मंत्री के पास ५ करोड़ रुपये से अधिक मूल्य का सोना न रखा जाय।

(४) इस एक्ट के अन्तर्गत सरकार को अधिकार दिया गया कि वह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निर्यात-बिलों के आधार पर ५ करोड़ रुपये तक के नोट छाप कर चला सकती है। परन्तु ये नोट तभी चलाए जायं जब कि पत्र-मुद्रा-कोष में आधा भाग धातु के रूप में तथा आधा भाग सिक्यूरिटियों के रूप में हो जाय।

पाठकों को याद होगा कि बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने एक सिफारिश की थी कि पत्र-मुद्रा-कोष के सोने का २ शि० प्रति रुपया की दर पर फिर से मूल्यांकन कर लेना चाहिए। परन्तु ऐसा करने में एक कठिनाई होती थी और वह कठिनाई यह थी कि ऐसा करने से पत्र-मुद्रा-कोष का धातु-भाग ५०% से कम मूल्य का हो जाता था। अब तक कोष का सोना १ शि० ४ पें० प्रति रुपया या १५ रु० प्रति सावरेन की दर पर आंका गया था परन्तु २ शि० प्रति रुपया या १० रु० प्रति सावरेन की दर पर आंकने से उसका मूल्य कम हो जाने का भय था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक उपाय सोच लिया गया। सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि पत्र-मुद्रा-कोष में फिलहाल ८५ करोड़ रुपये की सिक्यूरिटियां ही रखी जायं और सरकार अपने आप रुपये की कृत्रिम सिक्यूरिटियां (Created Rupee Securities) बनाकर पत्र-मुद्रा-कोष में जमा कर दिया करे। इस प्रकार सरकार को अपनी सिक्यूरिटियां बनाने का अधिकार भी मिल गया। ये सिक्यूरिटियां सरकार के आइ० ओ० यू० (I.O.U.) होते थे जिनको सरकार अपने आप अपने नाम से जारी कर लिया करती थी जिससे इन पर सरकार को कोई ब्याज नहीं देना पड़ता था।

१९२१ में बम्बई, बंगाल तथा मद्रास की प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक बनाया गया। अब इस बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह कठिन आवश्यकता होने पर देशी बिलों के आधार पर नोट छाप कर चलाया करे। १९२० के 'पेपर करेंसी एक्ट' के अन्तर्गत सरकार को निर्यात-बिलों के आधार पर नोट चलाने का अधिकार दिया गया था।* अब यह अधिकार सरकार से छीनकर इम्पीरियल बैंक को दे दिया गया। १९२३-२४ में मुद्रा-मंडी में मुद्रा की कमी होने लगी। इस कमी को दूर करने के लिए इम्पीरियल बैंक के द्वारा चलाए जानेवाले नोटों का मूल्य ५ करोड़ से बढ़ाकर १२ करोड़ रुपये कर दिया गया। परन्तु इससे भी मुद्रा की कमी दूर न हुई। अतः १९२५ में १९२० का 'पेपर करेंसी एक्ट' संशोधित कर दिया गया। अब सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए जानेवाले नोटों की सीमा ८५ करोड़ रुपये से बढ़ाकर १०० करोड़ रुपये कर दी गई। परन्तु इसमें

* देखिए इसी अध्याय में १९२० के 'पेपर करेंसी एक्ट' की धारा (४)।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारत सरकार द्वारा बनाई गई अपनी 'रुपये की सिक्यूरिटियों' का मूल्य ५० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकता था। (१९२० के 'पेपर करेंसी एक्ट' के द्वारा सरकार को अपनी सिक्यूरिटियां बनाने का अधिकार दिया गया था परन्तु १९२५ में यह अधिकार सीमित कर दिया गया और अब सरकार को ५० करोड़ रुपये से अधिक मूल्य की सिक्यूरिटियां बनाने का अधिकार न था।) १९२५ में पत्र-मुद्रा की स्थिति यह थी :—

कुल चालू नोटों का मूल्य	पत्र-मुद्रा-कोष में धातु-भाग %	कोष में सिक्यूरिटियों का भाग %
१८९.५१ लाख रुपये	५९.३	४०.७

(१९२५—१९३९)

दिसम्बर १९२५ में १ और २½ रुपये के नोट भी बन्द कर दिए गए। १९२६ में हिल्टन-यंग कमीशन ने भारतीय मुद्रा की स्थिति का अध्ययन किया। कमीशन ने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा चलाने का काम एक केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाय। केन्द्रीय बैंक ही नोट छाप कर चलाया करे परन्तु सरकार उन नोटों की गारंटी करे। कमीशन ने सिफारिश की कि स्वर्ण-प्रमाप-कोष व पत्र-मुद्रा-कोष को मिलाकर एक कर दिया जाय तथा दोनों का अलग-अलग अनुपात कानून बनाकर निश्चित कर दिया जाय। पत्र-मुद्रा संबंधी कमीशन की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्न थीं :—

(१) एक रुपये के नोट फिर चलाए जायं परन्तु इन नोटों के बदले में चांदी के रुपये न दिए जाया करें।

(२) दूसरे बड़े-बड़े नोटों के बदले में सरकार अपनी इच्छानुसार चाहे तो रुपये दे या छोटे नोट दे। इससे कमीशन का उद्देश्य यह था कि रुपयों का प्रचार कम हो और नोटों का प्रचार बढ़े।

(३) कमीशन ने नोट चलाने की प्रणाली में भी फेर-बदल करने की सिफारिश की। उनका प्रस्ताव था कि आनुपातिक-कोष प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जायं। पत्र-मुद्रा-कोष में सोना या सोने की सिक्यूरिटियां ४०% से कम न हों और कोष का शेष भाग सरकारी सिक्यूरिटियों और व्यापार-बिलों के रूप में हो। सरकारी सिक्यूरिटियां कुल कोष का एक-चौथाई भाग या ५० करोड़ रुपये—इन दोनों में जो भी कम हो उसके बराबर हों।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कमीशन की इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए १९२७ का 'करेंसी-एक्ट' पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार देश में स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित कर दिया गया। सरकार जनता से निश्चित दर पर सोना खरीदा करती थी परन्तु बेचते समय अपनी इच्छानुसार स्टर्लिंग या सोना दिया करती थी। इसी एक्ट के द्वारा रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० कर दी गई। इसी समय कमीशन की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक बनाने को एक बिल धारा-सभा में लाया गया परन्तु उसे अस्वीकृत कर दिया गया और केन्द्रीय बैंक बनाने की बात टाल दी गई।

१९३१ तक इसी प्रकार स्वर्ण-धातु-प्रमाप चलता रहा। १९३१ में जब इंगलैंड में स्वर्ण-प्रमाप टूट गया तो रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से हो गया। अब देश में स्टर्लिंग-विनिमय-प्रमाप आ गया।

१९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट पास हुआ और १ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक स्थापित किया गया। रिजर्व बैंक बनते ही नोट चलाने का एकाधिकार इस बैंक को दे दिया गया। नोट चलाने के लिए रिजर्व बैंक में एक नोट-विभाग खोला गया। इस विभाग का काम बैंक के बैंकिंग विभाग से बिलकुल अलग है। रिजर्व बैंक २, ५, १०, ५०, १००, ५००, १०००, १०००० रुपये के नोट छाप सकता है। नोट चलाने के बदले में रिजर्व बैंक को रिजर्व बैंक की धारा ३३ के अनुसार एक कोष रखना पड़ता है। इस कोष में सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्यूरिटियां, रुपये तथा रुपये की सिक्यूरिटियां रखने पड़ते हैं। कोष का कम से कम ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के या विदेशी सिक्यूरिटियों* में रखना अनिवार्य है। इसमें से भी कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। कोष का शेष ६०% भाग रुपया, सरकारी सिक्यूरिटियां या देशी बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों में रखना पड़ता है। कोष में जो सोना या सोने के सिक्के होते हैं उनका मूल्य एक रुपया=८.४७५१२ सोने के दानों की दर से मापा जाता है। कोष में जो रुपये होते हैं उनका मूल्य उनके अंकित मूल्य से लगाया जाता है तथा कोष की सिक्यूरिटियों का मूल्य बाजार भाव की दर से लगाया जाता है। कोष में रखे गए सोने या सोने के सिक्कों के $\frac{१}{२}$ भाग को देश में ही बैंक के पास या बैंक की किसी शाखा या बैंक की किसी एजेंसी के पास रखना पड़ता है तथा $\frac{१}{२}$ भाग देश से बाहर भी रखा जा सकता है।

---

* अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बनने से स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां ही नहीं वरन् उन सब देशों की सिक्यूरिटियां रखी जाती हैं जो देश अन्तर्राष्ट्रीय कोष के सदस्य होते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रिजर्व बैंक द्वारा नोट चलाने से लाभ

अब रिजर्व बैंक द्वारा नोट चलाए जाने से भारत की नोट-व्यवस्था में काफी लोच बढ़ गई है। बैंक व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्रों के सम्पर्क में रहता है, इसलिए वह बाजार की मुद्रा की मांग को भली-भांति समझ सकता है और सरकार की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से काम कर सकता है।

रिजर्व बैंक के बनने से पहिले सरकार को दो कोष रखने पड़ते थे—(१) स्वर्ण-प्रमाप-कोष (२) पत्र-मुद्रा-कोष। हिल्टन-यंग कमीशन ने इन दोनों कोषों को मिलाने की सिफारिश की थी। यह सिफारिश रिजर्व बैंक बनने के बाद पूरी कर दी गई। हां, बैंक सरकार को जितने रुपये वापस करता है उसका मूल्य सरकार को उसे चुकाना पड़ता है। इसके लिए सरकार ने १ अप्रैल १९३५ को १० करोड़ रुपये के मूल्य का एक कोष बना लिया था।

रिजर्व बैंक बनने के बाद अब देश की नोट-व्यवस्था पहिले से अधिक लोचदार तो हो ही गई है परन्तु इसी के साथ यह अपने आप घट-बढ़ जानेवाली भी हो गई है। जब बिलों के आधार पर नोट निकलते हैं तो मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और जब बिलों का भुगतान हो जाता है तो मुद्रा की मात्रा अपने आप कम हो जाती है। १९३५ से पहिले स्वर्ण-प्रमाप-कोष का एक भाग चांदी खरीदने के लिए इंगलैंड में रखा जाता था। इससे हमारे देश में चांदी का बाजार उन्नत नहीं हो पाता था। रिजर्व बैंक बनने के बाद अब लन्दन में चांदी खरीदने के लिए कोष रखना बन्द कर दिया गया है। अब संभवतः चांदी हमारे देश में ही खरीदी जाया करेगी। (परन्तु इसकी आशा अब प्रतीत नहीं होती है क्योंकि अब चांदी के सिक्के ही नहीं चलते।)

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI
Acc: No. 3208

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९३५ से १९५०-५१ तक रिजर्व बैंक के नोट विभाग के आंकड़े (लाख रुपयों में)

Liabilities				Assets				
Annual average of Friday figure	Notes in circulation	Notes in Banking Deptt.	Total liabilities (Total Notes issued)	Gold Coins & Bullion	Foreign Securities	Rupee Coins	Rupee Securities	Percentage of gold and sterling securities to total note issue
१९३५-३६	१६४,०६	२७,५८	१९१,६४	४४,४२	६२,०९	५५,५१	२९,६२	·५५·५८
१९३६-३७	१७५,८१	२५,८१	२०१,६२	४४,४२	६९,५७	६४,०१	२३,६२	५६·५४
१९३७-३८	१८६,१५	२५,६१	२११,७६	४४,४२	७९,९२	६०,२३	२७,१९	५८·७२
१९३८-३९	१८२,३६	२८,२८	२१०,६०	४४,४२	६६,९५	६७,११	३२,१६	५२·९१
१९३९-४०	२०९,२२	१८,७९	२२८,०१	४४,४२	७८,६३	६७,५२	७,४४	५३·९७
१९४०-४१	२४१,४१	१७,२६	२५८,६७	४४,४२	१२९,९२	३५,८७	४८,४६	६७·३९
१९४१-४२	३०७,६८	१२,२१	३१९,८९	४४,४२	१६५,००	३५,२८	७५,१९	६५·४७
१९४२-४३	५१३,४४	११,८०	५२५,२४	४४,४२	३१९,११	२२,२३	१३९,३८	६९·२१
१९४३-४४	७७७,१७	१०,५०	७८७,६७	४४,४२	६४३,५२	१४,२८	८५,४५	८७·३४
१९४४-४५	९६८,६९	१०,९३	९७९,६२	४४,४२	८६३,७३	१३,५२	५७,९५	९२·७०
१९४५-४६	११६२,६४	१६,४१	११७९,०५	४४,४२	१०६१,२६	१५,५३	५७,८४	९३·७८
१९४६-४७	१२२२,९६	३२,६१	१२२५,५७	४४,४२	११३३,८८	१९,४३	५७,८४	९३·८५
१९४७-४८	१३०४,३६	४७,१२	१२७४,९५	४४,४२	११३५,३२	३२,३६	६२,८४	९२·५३
१९४८-४९	११६९,३५	२२,०२	१२५३,८६	४२,४८	९०७,४७	४२,९६	२६५,६२	७५·४३
१९४९-५०	११६३,५२	२४,००	११५२,२४	४०,०२	६४७,०४	५०,५३	४१५,३६	५९·५८
१९५०-५१	१२४७,४१	१७,१९	११८०,४०	४०,०२	६२४,७०	५७,२१	४५८,४७	५६·११

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१९३९--१९४५)

द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने के पश्चात् जनता में कुछ सनसनी फैली परन्तु यह सनसनी इतनी भीषण नहीं थी जितनी प्रथम महायुद्ध के समय फैल गई थी। लोग नोटों को देकर बदले में रुपया मांगने लगे। १५ जून १९४० से लेकर अगस्त १९४० तक लगभग २२ करोड़ रुपये के नोट रिजर्व बैंक के पास लौटकर आए जिनके बदले में बैंक ने रुपये चुकाए। परन्तु नोटों के बदले में रुपयों की मांग बढ़ती ही गई। इस परिस्थिति को वश में करने के लिए सरकार ने २५ जून १९४० को एक विज्ञप्ति द्वारा घोषणा कर दी कि कोई भी व्यक्ति अपने पास अपनी आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के नहीं रख सकता। इस घोषणा से नोटों के बदले में रुपयों की मांग तो कम हुई परन्तु सहायक सिक्कों की मांग बढ़ने लगी। २० जुलाई १९४० को सरकार ने एक आर्डिनेंस निकाला जिसके अनुसार सरकार ने १ रुपये के नोट चलाए। फरवरी १९४३ में रिजर्व बैंक ने २ रुपये के नोट चलाए। फ्रांस के हार जाने के बाद स्थिति गम्भीर हो गई। नोटों के बदले में रुपयों की मांग फिर बढ़ गई तथा लोग डाकखानों और बैंकों से अपना-अपना रुपया निकालने लगे। कुछ समय तक रिजर्व बैंक ने नोटों के बदले में रुपये देना बन्द कर दिया। जनवरी १९४६ में सरकार ने दो आर्डिनेंस निकाले। पहिले आर्डिनेंस द्वारा सभी बैंकों और सरकारी खजानों को आज्ञा दी गई कि वे १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा ब्यौरा रिजर्व बैंक को भेजें। इसका उद्देश्य यह था कि १०० रुपये के नोटों की संख्या का पूरा-पूरा पता लग सके। दूसरे आर्डिनेंस द्वारा १२ जनवरी १९४६ से १०० रुपये से ऊपर वाले ५००, १००० तथा १०,००० रुपये के नोटों का चलना बन्द कर दिया गया। इन बड़े-बड़े नोटों के बदले में सरकार अब १००-१०० के नोट देने लगी। घोषणा कर दी गई कि जिन लोगों के पास १०० से ऊंची राशि के नोट हों वे उन्हें निश्चित तिथि तक रिजर्व बैंक से १०० के नोटों में बदलवा लें अन्यथा उस तिथि के पश्चात् वे नोट गैर-कानूनी हो जायेंगे। इसका उद्देश्य यह था कि बड़ी-बड़ी राशि के नोट चलना बन्द हो जाय ताकि लोग काला-बाजार न कर सकें। बड़ी-बड़ी राशि के नोटों से चोर-बाजारी करने में सुविधा होती थी। अब यह सुविधा दूर कर दी गई जिससे चोर-बाजारी कम हो जाय।

द्वितीय युद्धकाल में पत्र-मुद्रा के इतिहास में सबसे बड़ी बात यह हुई कि नोटों की संख्या बहुत बढ़ गई। अगस्त १९३९ में भारत में कुल १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु दिसम्बर १९४७ में नोटों की कुल

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संख्या १२४२.८६ करोड़ रुपये हो गई। युद्धकाल में नोटों की संख्या इस प्रकार बढ़ी :—

		(करोड़ रुपयों में) चालू नोटों की संख्या
अगस्त	१९३९	१७९
अगस्त	१९४१	२७७
अगस्त	१९४२	४७४
जनवरी	१९४३	५९३
जनवरी	१९४४	८५४
जनवरी	१९४५	१०३४
जून	१९४५	११५२
मार्च	१९४६	१२१९
दिसम्बर	१९४७	१२४२

इस प्रकार अगस्त १९३६ और मार्च १९४६ के बीच चलने वाले नोटों की संख्या में लगभग ६७८ प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। ये सब नोट स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के आधार पर चलाए गए थे। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार था कि वह सोने-चांदी के अतिरिक्त कुछ सिक्यूरिटियां रखकर भी नोट चला सकता है। इन सिक्यूरिटियों में कुछ तो भारत सरकार की रुपये की सिक्यूरिटियां होती थीं और कुछ स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां होती थीं। युद्धकाल में भारत की सरकार इंगलैंड की सरकार को माल खरीद-खरीद कर भेजती रही और इंगलैंड की सरकार स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां देकर इस माल का भुगतान चुकाती रही। ये स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां रिजर्व बैंक में जमा होती रहीं और रिजर्व बैंक इनके आधार पर नोट छापकर चलाता रहा। इस प्रकार कोष में बिना सोना-चांदी रक्खे नोट चलाए जाते रहे जिससे नोटों की संख्या अनगिनत मात्रा में बढ़ती गई। इससे देश में मुद्रा-स्फीति हुई और वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे।

(१९४५—१९५३)

युद्ध के पश्चात् भी नोटों की संख्या बढ़ती ही रही। ३१ दिसम्बर १९४५ को कुल ११५४ करोड़ रुपये के नोट छापे गए थे। परन्तु जनवरी १९४६ में इनकी संख्या १२४८ करोड़ रुपये हो गई और जून १९४६ में यही संख्या आगे बढ़कर १२५४ करोड़ तक पहुंच गई। सितम्बर १९४५ में ११४१.८४ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु जून १९४६ में यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संख्या बढ़कर १२४१.९७ करोड़ हो गई। नीचे लिखी तालिका से यह बात स्पष्ट होती है—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल नोटों की संख्या	चालू नोटों की संख्या	रिजर्व बैंक के पास जमा स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां
सितम्बर १९४५	११६२.७४	११४१.८४	१०४२.३३
अप्रैल १९४६	१२४५.९५	१२३५.१२	११२४.७
जून १९४६	१२५४.३३	१२४१.९७	११३५.३२
नवम्बर १९४६	१२५८.८९	१२०१.२९	११३५.३२
दिसम्बर १९४६	१२५८.५९	१२१८.७८	११३५.३२
मार्च १९४७	१२५७.४७	१२४३.०३	११३५.३२

इस प्रकार युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी नोटों की संख्या बढ़ती ही गई। युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बन जाने से पत्र-मुद्रा-कोष में भी फेर-बदल कर दी गई है। पहिले रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के आधार पर देश में नोट छाप कर चलाने का अधिकार था। परन्तु अब इस धारा में संशोधन कर दिया गया है। अब स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के आधार पर ही नहीं वरन् 'विदेशी सिक्यूरिटियों' के आधार पर नोट चलाए जा सकते हैं। 'विदेशी सिक्यूरिटियों' में वे सिक्यूरिटियां गिनी जाती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशों में भुगतान की जानेवाली हों। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट की धारा ३३ के अन्तर्गत नीचे लिखी सिक्यूरिटियां 'विदेशी सिक्यूरिटियां मानी जाती हैं :—

(१) वे सिक्यूरिटियां जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य-देश के केन्द्रीय बैंक की जमानत राशि की साख पर हों अथवा उस देश की किसी अन्य बैंक की सिक्यूरिटियां हों।

(२) वे बिल जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य-देश में चुकाए जानेवाले हों तथा जिन पर दो खरे हस्ताक्षर हों और जो ९० दिन से अधिक अवधि के न हों।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य-देश की सरकारी सिक्यूरिटियां जो ५ साल की अवधि की हों।

वर्तमान पत्र-मुद्रा-प्रणाली बड़ी सरल और सीधी है जिसे प्रत्येक व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। नोट चलाने का एकाधिकार देश के केन्द्रीय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक रिजर्व बैंक ऑव इंडिया को मिला हुआ है। देश भर के लिए रिजर्व बैंक ही नोट छापकर चलाता है। आजकल २, ५, १०, १००, १००० और १०,००० रुपये के नोट चलते हैं। सरकार के वित्त-विभाग ने १ रुपये का नोट भी चला रखा है। यह नोट युद्धकाल में चलाया गया था परन्तु सरकार अब तक इसे चला रही है। १ रुपये के नोट का रिजर्व बैंक से कोई संबंध नहीं है। नोट रिजर्व बैंक के नोट-विभाग द्वारा चलाए जाते हैं। पत्र-मुद्रा-कोष में सोना, चांदी, सोने व चांदी के सिक्के तथा विदेशी सिक्यूरिटियां और भारत सरकार की सिक्यूरिटियां रक्खी जाती हैं। 'विदेशी सिक्यूरिटियां' वे मानी जाती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों की हों। सम्पूर्ण कोष का कम से कम ४०% भाग सोने, सोने के सिक्कों तथा 'विदेशी सिक्यूरिटियों' में रक्खा जाता है और इसमें भी कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रहना अनिवार्य है। कोष का शेष ६०% भाग रुपया, सरकारी सिक्यूरिटियों या सरकार के प्रतिज्ञा-पत्रों में रक्खा जाता है। रिजर्व बैंक को नोट छापकर चलाने का अधिकार रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट की धारा २४ के अन्तर्गत मिला हुआ है।

भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था

भारत की नोट-व्यवस्था में समय समय पर अनेक परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहिले नोट चलाने का काम बंगाल, मद्रास और बम्बई के तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिला हुआ था। परन्तु १८६१ के एक्ट के अनुसार सरकार ने इसे अपने अधिकार में ले लिया। १८६१ के एक्ट के अनुसार नोट चलाने का Fixed Fiduciary System स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत ४ करोड़ के मूल्य के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते थे और यदि इनसे अधिक नोट चलाने होते तो सरकार को अपने पास चांदी का एक संचित कोष रखना पड़ता था। धीरे-धीरे सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जानेवाले नोटों का मूल्य बढ़ाया जाता रहा और प्रथम महायुद्ध काल में कुल मिलाकर १२० करोड़ रुपये के मूल्य के नोट केवल सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा सकते थे। यद्यपि नोट चलाने का काम सरकार का ही था परन्तु समय-समय पर यह भी प्रयत्न किया जाता रहा कि नोट चलाने का काम किसी बैंक को सौंप दिया जाय। उस समय देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था इसलिए इम्पीरियल बैंक ऑव इंडिया को ही इस काम को सौंपने का एक बार छोटा सा प्रयोग किया गया था। १९२४ में इम्पीरियल बैंक ऑव इंडिया को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह १२ करोड़ रुपये के मूल्य तक के नोट देशी बिलों के बल पर चला सकता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

था परन्तु यह योजना सफल नहीं हो सकी। इस प्रकार हमारे देश में नोट चलाने के अनेक सिद्धान्तों और प्रणालियों का प्रयोग किया जाता रहा है। १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया बनने के बाद नोट चलाने का काम इसी बैंक को सौंप दिया गया। अब यही बैंक नोट चलाता है। अब हमारे देश में परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलते हैं। २, ५, १०, १००, १००० और १०,००० रु० के नोट परिवर्तनीय नोट हैं जिनके बदले में रिजर्व बैंक सिक्के देने का वचन देता है। १ रुपये के नोट अपरिवर्तनीय नोट हैं जिन्हें भारत सरकार का वित्त-विभाग छापकर चलाता है। ये नोट द्वितीय महायुद्ध काल में चलाए गए थे और आज भी चलते हैं। इन नोटों के बदले में सरकार सिक्के देने का वचन नहीं देती। प्रतिनिधि रूप कागज के नोट हमारे देश में नहीं चलते। हां, १९२५ में हिल्टन-यंग कमीशन ने ऐसे नोट चलाने की सिफारिश अवश्य की थी। देश में अब नोट चलाने के लिए बैंकिंग सिद्धान्त का पालन किया जाता है जिसके अनुसार देश के केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑव इंडिया) को नोट चलाने का एकाधिकार मिला हुआ है। रिजर्व बैंक अपने नोट-विभाग द्वारा देश में नोट छापकर चलाता है। रिजर्व बैंक के बनने से पहिले देश में करेंसी सिद्धान्त का पालन किया जाता था जिसके अनुसार सरकार नोट चलाती थी। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया अब आनुपातिक-कोष प्रणाली के अनुसार नोट चलाती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से पहिले रिजर्व बैंक को नोटों के बदले में एक संचित कोष रखना पड़ता है जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्यूरिटियां, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटियां रखी जाती हैं। चलाए जानेवाले कुल नोटों के मूल्य के बदले में संचित कोष का कम से कम ४० प्रतिशत भाग सोना, सोने के सिक्कों या विदेशी सिक्यूरिटियों में रखना पड़ता है। इसमें भी हर समय कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। संचित कोष का शेष ६०% भाग रुपया, सरकारी सिक्यूरिटियों या देशी बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों के रूप में रखा जा सकता है। १९४६ से पहिले जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) नहीं बना था, रिजर्व बैंक को अपने संचित कोष में स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां रखकर उसके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो गया तो रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियों के बल पर ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सब सदस्य-देशों की सिक्यूरिटियों के बल पर नोट चला सकता है। अतः हमारे देश की नोट-व्यवस्था लोचदार भी है और उपयोगी भी। चूंकि १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक ऑव इंडिया का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राष्ट्रीयकरण हो गया है इसलिए रिजर्व बैंक द्वारा नोट चलाने का उत्तर-दायित्व अब सरकार का भी उत्तरदायित्व बन गया है। भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं :—

(१) परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय (Convertible and Inconvertible) दोनों प्रकार के नोटों का चलन।

(२) बैंकिंग सिद्धान्त (The Banking Principle of Note issue) का पालन।

(३) 'आनुपातिक-कोष' प्रणाली (The Proportional Reserve Method) के अनुसार नोटों का चलन जिससे देश की नोट-व्यवस्था में लोच (Elasticity) रहती है।

स्वर्ण-प्रमाप-कोष का इतिहास

स्वर्ण-प्रमाप-कोष का जन्म सन् १९०० में हुआ था जब कि फाउलर कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि रुपयों के टंकन से जो लाभ हो उसे अलग एक कोष में रख दिया जाय। कमेटी ने यह भी सिफारिश की थी कि इस कोष का प्रयोग उस समय किया जाय जब कि विनिमय-दर को गिरने से रोकने के लिए सरकार को भुगतान करने की आवश्यकता पड़े।

इस कोष की स्थापना के कुछ समय बाद ही रुपये के टंकन से होने वाला लाभ इंगलैंड भेजा जाने लगा। तब से यद्यपि इसका उद्देश्य तो वही रहा जो पहिले था परन्तु इसका प्रयोग बदल गया। जब कभी भारत का व्यापार-संतुलन भारत के प्रतिकूल होता तो भारत मंत्री लन्दन में कौंसिल-बिल बेचना बन्द कर देता था और इस प्रकार भारत में मुद्रा की मात्रा भी नहीं बढ़ पाती थी क्योंकि न तो कौंसिल-बिल बेचे जाते थे और न उनका भुगतान करने के लिए भारत सरकार को मुद्रा बढ़ाने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार मुद्रा-मंडी में मुद्रा की कमी होने से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता था। इस समय यदि भारत-मंत्री को लन्दन में धन की आवश्यकता पड़ती तो वह इस कोष में से ही अपना काम चला लेता था। इसी समय भारत-सरकार लन्दन में भारत-मंत्री द्वारा चुकाए जाने वाले रिवर्स-कौंसिल-बिल भारत के व्यापारियों को बेचती थी। इसका यह प्रभाव होता था कि देश की मुद्रा-मंडी में मुद्रा की मात्रा और भी कम हो जाती थी। इससे मुद्रा का मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता था। मुद्रा का मूल्य बढ़ने से रुपये की विनिमय-दर भी ऊंची हो जाती थी। इस प्रकार कोष के अब तीन उद्देश्य थे :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) भारत-मंत्री को चुकाई जानेवाली वार्षिक राशि (Home Charges) का भुगतान,

(२) भारत के प्रतिकूल व्यापार-संतुलन का भुगतान,

(३) विनिमय-दर बढ़ाने का साधन,

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, फाउलर कमेटी ने स्वर्ण-प्रमाप-कोष को भारत में रखने की सिफारिश की थी। परन्तु शीघ्र ही वह इंगलैंड में रक्खा जाने लगा और वहां भी उसे सिक्यूरिटियां खरीदने में लगा दिया जाता था। १९०६ में इसमें एक और परिवर्तन किया गया। उस समय देश में रुपये के सिक्कों की कमी थी। अतः पत्र-मुद्रा-कोष में से कुछ भाग निकालकर एक स्पेशल कोष बना दिया गया जो रुपये के सिक्कों के रूप में देश में ही रक्खा जाता था। यह कोष स्वर्ण-प्रमाप-कोष का ही एक भाग बना दिया गया। अतः अब स्वर्ण-प्रमाप-कोष की दो शाखाएं हो गईं—

(१) लन्दन में सोने और सिक्यूरिटियों के रूप में रक्खा जानेवाला भाग,

(२) भारत में चांदी में रक्खा जानेवाला भाग।

इसके पश्चात् यह निश्चय किया गया कि इस कोष में केवल २ करोड़ पौंड ही हों और फिर रुपये के टंकन से होनेवाला लाभ रेलों की उन्नति में लगाया जाय। लेकिन इस निश्चय के थोड़े समय बाद ही एक बड़ा भारी संकट आया। रुपये की विनिमय-दर को स्थायी बनाने के लिए रिवर्स-कौंसिल-बिल बेचने पड़े और इनको चुकाने के लिए इस कोष में से लगभग ८० लाख पौंड निकालने पड़े। इस परिस्थिति के कारण सरकार ने अपना पहिला निश्चय बदल दिया और रुपये के टंकन से होनेवाला लाभ रेलों की उन्नति के लिए देना बन्द कर दिया गया। ३१ मार्च १९१३ को इस कोष में लगभग २,२५,७१,३३३ पौंड थे। अब इस कोष की स्थिति के विषय में जनता सरकार की आलोचना करने लगी। अतः चेम्बरलेन कमीशन ने इस विषय में कुछ सुझाव दिए—(१) इस कोष की कोई सीमा निर्धारित न की जाय वरन् रुपये के टंकन से होने वाला सब लाभ इसमें लगाया जाय; (२) इसका अधिकांश भाग सोने के रूप में भारत में रक्खा जाय; (३) इसकी दूसरी शाखा, जो रुपये के रूप में भारत में रक्खी जाती है, बन्द कर दी जाय; (४) कुल कोष लन्दन में रक्खा जाय; (५) कोष में तुरन्त एक करोड़ पौंड का सोना इकट्ठा किया जाय। यदि कोष में इसकी कमी हो तो इस कमी को पत्र-मुद्रा-कोष में से राशि लेकर पूरा किया जाय।

चेम्बरलेन कमीशन की ये सिफारिशें मान ली गईं। कोष की भार-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तीय शाखा तोड़ दी गई परन्तु कोष का अधिकांश भाग सिक्यूरिटियों के रूप में ही रहा। इसके पश्चात् बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने भी इस पर विचार किया और सिफारिश की कि (१) रुपये के टंकन से होनेवाला सारा लाभ इस कोष में रक्खा जाय; (२) कोष में अधिकांश भाग सोने के रूप में हो; (३) कोष का कुछ भाग सोने के रूप में भारत में रहे; (४) कोष की सिक्यूरिटियां इंगलैंड में ही रक्खी जायं। बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने इस बात को पहिचाना कि जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कोष का कुछ भाग भारत में अवश्य रहे। धीरे-धीरे यह कोष बढ़ता गया और ३१ जुलाई १९२५ को कोष में कुल ४ करोड़ से भी अधिक पौंड थे। १९२५ में हिल्टन-यंग कमीशन ने सिफारिश की कि स्वर्ण-प्रमाप कोष और पत्र-मुद्रा-कोष दोनों को मिलाकर एक कर दिया जाय। अतः १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया बनने के बाद दोनों कोषों को मिलाकर एक कर दिया गया। तभी से यह रिजर्व बैंक ऑव इंडिया के अधिकार में चला आ रहा है। अब स्वर्ण-प्रमाप-कोष के नाम की कोई चीज नहीं है। इसको 'पत्र-मुद्रा-कोष' में मिला दिया गया है और इसी नाम से रिजर्व बैंक के पास है। अब इसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्यूरिटियां, रुपया, देशी सिक्यूरिटियां व सरकारी सिक्यूरिटियां रक्खी जाती हैं। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट की धारा ३६ (१) के अन्तर्गत सरकार पर रिजर्व बैंक के द्वारा लौटाए गए रुपयों के बदले में उनका पूरा मूल्य चुकाने का दायित्व है। इसे पूरा करने के लिए सरकार ने एक कोष १ अप्रैल १९३५ से बना रक्खा है जिसे 'रजत-भुगतान-कोष' कह सकते हैं। इसमें सोना और सिक्यूरिटियां रक्खे जाते हैं तथा इसका मूल्य १०० करोड़ रुपये है।

सारांश

भारतीय पत्र-मुद्रा का इतिहास १९वीं शताब्दी से आरम्भ होता है। सबसे पहिले १८०६ में बैंक ऑव बंगाल को नोट चलाने का अधिकार दिया गया। इसके बाद बंगाल, मद्रास तथा बम्बई—तीनों प्रेसीडन्सी बैंकों को नोट चलाने का काम दे दिया गया। इनके नोट केवल इनकी सीमा के अन्तर्गत ही चलते थे। प्रत्येक बैंक द्वारा चलाए जानेवाले नोटों की सीमा निश्चित थी और इन बैंकों को कुल नोटों के मूल्य का ३३$\frac{1}{3}$% भाग धातु-कोष के रूप में अपने पास रखना आवश्यक होता था। १८५९ में प्रथम बार सरकार ने नोट-व्यवस्था को संगठित करने को सोचा। अतः १८६१ में पेपर करेंसी एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार भारत सरकार न नोट चलाना आरम्भ किया। एक्ट के अनुसार ४ करोड़ रुपये के मूल्य के नोट सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकते थे पर इससे अधिक नोट चलाने के लिए समान मूल्य का धातु-कोष रखना पड़ता था। यह प्रणाली लोचदार नहीं थी। १९१३ में सिक्यूरिटियों की सीमा बढ़ाकर १४ करोड़ कर दी गई जिसमें १० करोड़ रुपये की भारत सरकार की सिक्यूरिटियां तथा ४ करोड़ रुपये की स्टर्लिंग-सिक्यूरिटियां होती थीं। इससे नोट-व्यवस्था में कुछ लोच आ गई। १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन ने नोट-प्रणाली को और भी अधिक लोचदार बनाना चाहा। सिफारिश की गई थी कि सिक्यूरिटियों के बल पर २० करोड़ रुपये के नोट चलाए जायं तथा ५०० रुपये के नोट भी चलाए जायं। परन्तु इन सिफारिशों पर प्रथम युद्ध आरम्भ होने के कारण कोई विचार नहीं किया जा सका।

प्रथम युद्धकाल में पत्र-मुद्रा के इतिहास में संकट आया। सिक्यूरिटियों के बल पर चलाए जानेवाले नोटों की मात्रा १२० करोड़ रुपये कर दी गई। नोटों का प्रसार हुआ और १ रुपया तथा २½ रुपये के नोट चलाए गए। युद्ध समाप्त होने पर नोट-व्यवस्था का अध्ययन बेबिंग्टन स्मिथ कमेटी ने किया। सिफारिश की गई कि पत्र-मुद्रा-कोष का केवल ४०% भाग ही धातु के रूप में रखा जाय। १९२१ में यह सिफारिश मान ली गई।

१९२१ में प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक बनाया गया। इस बैंक को अधिकार दिया गया कि कठिन आवश्यकता होने पर देशी बिलों के आधार पर नोट छापकर चलाए। अब इम्पीरियल बैंक १२ करोड़ रुपये तक के नोट छापकर चला सकता था। दिसम्बर १९२५ में १ और २½ रुपये के नोट भी बन्द कर दिए गए। १९२५ में हिल्टन-यंग कमीशन ने १ रुपये का नोट चलाने तथा आनुपातिक कोष-प्रणाली पर नोट-निर्गमन करने की सिफारिशें कीं। तदनुसार १९२७ में करेन्सी एक्ट पास किया गया। १९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इंडिया एक्ट पास हुआ और १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना की गई। नोट चलाने का काम अब इस बैंक को दे दिया गया। बैंक आनुपातिक कोष-प्रणाली के अनुसार नोट छापकर चलाने लगा, जिससे देश की नोट-पद्धति निखर गई। १९३९ में द्वितीय युद्ध आरम्भ होने से स्थिति बड़ी भयानक हो गई, नोटों का अपार प्रसार हुआ। १ रुपये तथा २ रुपये के नोट चलने लगे। नोट-प्रसार के कारण देश में मुद्रा-स्फीति हुई। जैसे-तैसे युद्ध समाप्त हुआ। पर फिर भी नोटों की संख्या में कोई कमी न हुई। १९४६ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बनने से विदेशी सिक्यूरिटियों के आधार पर नोट छपकर चलने लगे।

आजकल नोट चलाने का काम रिजर्व बैंक करता है। आनुपातिक कोष-पद्धति के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। देश में १), २), ५), १०), १००), १,०००) और १०,०००) के नोट चलते हैं। अतः इस प्रकार देश की नोट-प्रणाली लोचदार भी है और संगठित भी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) १८६१ से लेकर १९१४ तक के पत्र-मुद्रा के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।

(२) भारतीय नोट-व्यवस्था को लोचदार बनाने के लिए चेम्बरलेन कमीशन तथा बेबिंग्टन स्मिथ कमेटी ने क्या-क्या सुझाव दिए ? समझाकर लिखिए।

(३) भारतीय नोट-प्रणाली को उन्नत बनाने के लिए हिल्टन-यंग कमी- शन ने क्या क्या सिफारिशें की थीं ?

(४) १९३५ में रिजर्व बैंक बनने से भारतीय नोट-प्रणाली में क्या-क्या परिवर्तन हुए ? समझाकर लिखिए ।

(५) भारतीय नोट-व्यवस्था पर द्वितीय विश्वयुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा ?

(६) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बनने से पत्र-मुद्रा-कोष में क्या-क्या फेर-बदल करनी पड़ी ?

(७) वर्तमान नोट-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख कीजिए ।

(८) पत्र-मुद्रा-कोष का इतिहास लिखिए । इसे स्वर्ण-प्रमाप-कोष में कब और क्यों मिला दिया गया ?

(९) स्वर्ण-प्रमाप-कोष का संक्षिप्त इतिहास लिखिए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पंचम भाग

भारतीय बैंकिंग का विकास

भारत में आधुनिक बैंकिंग का जन्म एवं विकास; भारतीय मुद्रा-मण्डी में बिलों का प्रभाव; महाजन एवं स्वदेशी बैंकर; व्यापारिक बैंक एवं उनकी कार्य-प्रणाली; विदेशी विनिमय बैंक; औद्योगिक बैंक-व्यवस्था; कृषि-बैंक-व्यवस्था; रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया; इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया; अर्ध-बैंकिंग-संस्थाएं; भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ तथा भारतीय बैंकिंग का भविष्य आदि-आदि।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

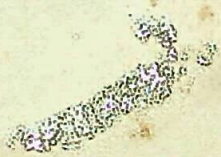

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २९

आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का जन्म एवं विकास

आधुनिक भारत के लिए बैंक और बैंकिंग प्रणाली एक नया विषय नहीं है। भारतवर्ष में बैंकिंग कार्य प्राचीन समय से होता आ रहा है लेकिन आधुनिक ढंग से नहीं। वैदिककालीन लेखों से ज्ञात होता है कि ईसा से दो हजार वर्ष पहले भी भारत में रुपया उधार लेने-देने की प्रथा प्रचलित थी। मनुस्मृति में ब्याज के बदले धन-राशि उधार देने का पर्याप्त संकेत मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इस बात का पता चलता है कि प्राचीन काल में साहूकारी का नियम भारत-वर्ष में था परन्तु उस काल में ब्याज की दर एवं रुपया वसूल करने के नियम आज जैसे न थे। चेक तथा बिलों का प्रयोग भी उस काल में नहीं था। हुंडी का प्रयोग १२वीं शताब्दी के आसपास से होने लगा है जब कि स्वदेशी और विदेशी व्यापार का क्षेत्र बढ़ने लगा और महाजनों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन-राशि भेजने के लिए इसकी आवश्यकता हुई। मुगल काल में तो लेन-देन के रीति-रिवाजों ने विशेष प्रगति की। देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की धातु-मुद्राएं प्रचलित की गईं जिनके द्वारा धन-राशि अदल-बदल करने के अवसर भी मिले और लेन-देन का सुगम साधन भी प्राप्त हुआ। मुगल सम्राटों ने देश के धनी साहूकारों और महाजनों को कर-वसूली के लिए नियुक्त किया और स्थान-स्थान पर कोषाध्यक्ष भी बनाए जिससे इन महाजनों की साख और भी बढ़ी। जन-साधारण अपनी बचत-राशि को इन्हीं महाजनों के यहां जमा करने लगे क्योंकि इस प्रकार उनका धन सुरक्षित रहता था और जमा-राशि पर महाजन ब्याज भी देते थे। आवश्यकता पड़ने पर यही महाजन लोगों को राशि उधार देते थे जिसे एक निश्चित अवधि के पश्चात् लौटाना होता था। उधार राशि पर महाजन ऊंची दर से ब्याज वसूल करते थे। इस प्रकार महाजन आधुनिक बैंकों का वह प्रारम्भिक रूप था जहां राशि जमा की जाती थी और राशि उधार भी दी जाती थी।

परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न चल सकी। १७वीं शताब्दी में अंग्रेजों के आने से व्यापार का ढंग बदला जिससे महाजन परिचित न थे और न वे अंग्रेजी भाषा ही जानते थे। अतः वे अंग्रेजी व्यापार में हाथ न बटा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सके। अंग्रेज व्यापारी भी उनकी लिखावट न समझ सकने के कारण इनका प्रयोग न कर सके। दोनों एक दूसरे की भाषा को न समझने के कारण व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित न कर सके। अतः अंग्रेजों ने अपनी व्यापारिक और मौद्रिक आवश्यकताओं के लिए 'इंगलिश एजेंसी गृह' व 'संयुक्त स्कंध बैंक' स्थापित किए जिनसे महाजनों की प्रतिभा और भी कम हो गई। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के कारण देश में अराजकता फैल गई और इन महाजनों की विपुल धन-राशि, जो राजाओं इत्यादि के यहां थी, डूब गई जिसको पूरा करने के विचार से इन्होंने भी जमा-राशि का भुगतान करने में आनाकानी की। इससे इनकी साख जाती रही और ये जनता के विश्वासपात्र न रहे। लोगों का इनसे लेन-देन बन्द होने लगा। इसके साथ-साथ सन् १८३५ के करेंसी कानून ने भी महाजनों की महत्ता कम कर दी। इस कानून के अनुसार देश भर में 'रजत-प्रमाप' स्थापित करके देश की मौद्रिक व्यवस्था संगठित की गई। चांदी का रुपया प्रमुख सिक्का बना दिया गया। इससे भुगतान लेन-देन के साधन सरल हो गए और महाजनों की आवश्यकता ही विलीन होने लगी। रेल, तार, डाकखाने तथा जहाजों द्वारा व्यापार की नई-नई सुविधाएं मिलती गईं, जिससे महाजनों के व्यापार की जड़ कटने लगी और मुद्रा-क्षेत्र में इनकी बहुत कम आवश्यकता रह गई। फिर भी महाजन-प्रणाली का सर्वथा लोप न हुआ। महाजन 'संयुक्त स्कंध बैंकों' के साथ-साथ सीमित क्षेत्र में ही काम करते रहे। आज भी दोनों संस्थाएं समानान्तर लाइनों पर कार्य कर रही हैं। न तो महाजन ने अपनी पुरानी कार्यशैली को छोड़कर संयुक्त स्कंध बैंकों को ही अपनाया है और न बैंकों ने ही महाजनों को संभाल कर अपने क्षेत्र में लाने का ही प्रयास किया है। इनका संबंध सहानुभूति का न होकर प्रतिस्पर्धा का रहा है। यद्यपि महाजनों की कार्यशैली पुरानी ही चली आ रही है और बैंकों ने भी काफी उन्नति की है, परन्तु देश के अधिकांश क्षेत्र में महाजन 'स्वदेशी बैंकरों' के नाम से बैंकिंग कार्य कर रहे हैं। 'संयुक्त स्कंध' बैंकों का कार्यक्षेत्र विशेषतः शहरों में है और 'स्वदेशी बैंकर' देश के आन्तरिक क्षेत्रों में अपना कार्य करते हैं। देश की कृषि और आन्तरिक व्यापार का प्रबन्ध 'स्वदेशी बैंकरों' के द्वारा होता है और भारतीय मुद्रा-मण्डी का प्रमुख क्षेत्र इन्हीं के हाथ में है।

मिश्रित पूंजीवाले बैंकों का विकास

अंग्रेजों ने अपने व्यापार की सहायता के लिए संयुक्त स्कंध बैंक स्थापित किए थे। परन्तु धीरे धीरे भारतीयों ने भी इस ओर कदम बढ़ाया। सन् १८८१ में सबसे पहले सीमित देनदारी के आधार पर 'अवध कमर्सियल बैंक' स्थापित किया गया। यद्यपि इससे पहले भी इलाहाबाद बैंक और 'अलाएन्स बैंक ऑव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिमला' खुल चुके थे परन्तु ये दोनों बैंक विदेशी प्रबन्ध में थे। भारतीय प्रबन्ध में सीमित देनदारी का सबसे पहला बैंक अवध बैंक ही था। इसके पश्चात् १८९४ में पंजाब नेशनल बैंक और १९०१ में पीपुल्स बैंक ऑव इंडिया स्थापित हुए परन्तु दूसरा बैंक शीघ्र ही १९१३ में बन्द करना पड़ा। बैंकों की सबसे अधिक संख्या १९०६–१३ के बीच में बढ़ी। इस बीच में स्वदेशी आन्दोलन के कारण अनेक नए-नए बैंक खोले गए। देश के प्रसिद्ध बैंक जैसे बैंक ऑव इंडिया, सेन्ट्रल बैंक ऑव इंडिया, बैंक ऑव बड़ोदा आदि इसी बीच में स्थापित हुए परन्तु १९१३ के बाद बैंकों का संकट काल आया जिसमें अनेक बैंक बन्द करने पड़े। १९१३-१७ के बीच लगभग ८७ बैंक बन्द हुए। इस प्रकार बैंक बन्द होने से जनता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। लोगों का बैंकों पर से विश्वास हटने लगा और बैंकिंग के विश्वास पर भारी क्षति हुई। बैंक फेल होने के अनेक कारण थे :—

(१) बैंकों की पूंजी बहुत कम थी और वे जमा-राशि पर ही अवलम्बित रहे। उन्होंने इस जमा-राशि को लम्बे समय के लिए उधार दे दिया जिससे वह समय पर वापिस न आ सकी। अतः जब जमा करनेवालों को इसकी आवश्यकता हुई तो बैंक आवश्यकता पूरी न कर सके और उन्हें अपना काम बन्द करना पड़ा।

(२) बैंकों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा थी। प्रत्येक बैंक अधिक से अधिक राशि प्राप्त करने की लालसा से ऊंची से ऊंची ब्याज-दर देने को तैयार रहता था। ऊंची दर पर ब्याज देने के लिए यह आवश्यक था कि वे अधिक से अधिक लाभ कमाते। इसके लिए लालच के कारण अपनी राशि उन्होंने ऐसे कार्यों में फंसा दी जो सरलता से न निकल सकी और फिर उन्हें राशि के अभाव में अपना व्यवसाय बन्द करना पड़ा।

(३) बैंकों के प्रबन्धक और संचालक अयोग्य और स्वार्थी थे। उनको बैंक के प्रबन्ध करने का अनुभव भी न था। बहुतों ने तो बेईमानी और जालसाजी के कारण बैंकों को डुबो दिया। अंशधारी भी अनपढ़ थे और प्रबन्धकों की जालसाजी को भली प्रकार नहीं जान पाते थे।

(४) बैंक फेल होने का सबसे बड़ा कारण यह था कि उस काल में देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था जो संकटकाल में इनकी सहायता करता। सभी बैंक निरंकुश थे और आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे की सहायता नहीं करते थे।

प्रथम महायुद्ध के द्वितीय अर्द्धभाग में फिर से एक बार बैंकों की लहर आई। अनेक नए-नए बैंक स्थापित हुए। लोगों के पास रुपया था। सभी ने बैंकों में जमा किया और इस प्रकार बैंकों की जमा-राशि भी बढ़ने लगी। इस काल में अधिकतर औद्योगिक बैंक स्थापित हुए जो औद्योगिकों को राशि उधार देते थे। ताता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इण्डस्ट्रियल बैंक इसी समय बनाया गया था। परन्तु १९२२ से लेकर १९३६ तक लगभग ३७५ बैंक फेल हुए। इसी समय में बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएं हुईं। अलाएन्स बैंक ऑव शिमला बन्द करना पड़ा, १९२३ में ताता इण्डस्ट्रियल बैंक भी बन्द हो गया और यह सेन्ट्रल बैंक ऑव इंडिया में मिला दिया गया। १९३६ में ट्रावनकोर में ४० बैंक बन्द हुए। १९३७ के पश्चात् भी परिस्थितियां विशेष सन्तोषजनक नहीं थीं। बैंक-दुर्घटना चलती ही रही। १९३८ में ट्रावनकोर नेशनल एण्ड किलन बैंक बन्द करना पड़ा। यह बैंक दक्षिण भारत का प्रतिनिधि समझा जाता था। इस बैंक के फेल होने से अन्य बैंकों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

प्रेसीडेंसी बैंक एवं इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यापार की सुविधा के लिए बैंक खोलना आरम्भ किया था। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में तीन प्रेसीडेन्सी बैंक स्थापित करने के आज्ञापत्र दिए गए। सबसे पहले १८०६ में बंगाल में बैंक ऑव कलकत्ता स्थापित किया गया। बैंक ऑव बम्बई व बैंक ऑव मद्रास क्रमानुसार १८४० व १८४३ में स्थापित हुए। ये बैंक विदेशी पूंजी से स्थापित किए गए थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कुछ पूंजी लगाकर संचालक समिति पर कुछ संचालक नियुक्त करने का अधिकार ले लिया था। इन बैंकों का उद्देश्य कम्पनी के व्यापार में सहायता करना था। सरकार के बैंकिंग कार्य करना भी इनका एकाधिकार था। इन बैंकों को अपनी सीमा के अन्तर्गत नोट छापकर चलाने का अधिकार भी दिया गया था। परन्तु यह अधिकार १८६१ में सरकार ने इनसे ले लिया। इन बैंकों का उत्तरदायित्व था कि ये सरकारी हित में काम करें और राशि जमा करनेवाले लोगों के हित की भी चिन्ता करें। सरकारी बैंक होने के नाते इन बैंकों का काम खूब चलता था। लोग विश्वास करके अधिक से अधिक राशि इनमें जमा करते थे। कानून के द्वारा इन पर यह पाबन्दी थी कि ये बैंक ६ माह से अधिक अवधि के लिए रुपया उधार नहीं दे सकते थे, न ये बैंक देश के बाहर रुपया लेने-देने का काम कर सकते थे। इन्हें विदेशी विनिमय का लेन-देन करने की आज्ञा भी न थी। इसके अतिरिक्त इन्हें रेहन पर, अचल सम्पत्ति की जमानत पर, दो स्वतन्त्र व्यक्तियों से कम द्वारा लिखे गए प्रण-पत्रों पर और माल पर, जब तक कि वह माल अथवा उससे सम्बन्धित अधिकार-पत्र इनके पास न रख दिए जायं, उधार देना निषिद्ध था। इस प्रकार इनकी कार्य-शैली बहुत सुरक्षित थी जिसमें किसी प्रकार की दुर्घटना की आशंका ही नहीं हो सकती थी। इन बैंकों ने देश के विभिन्न व्यापारिक केंद्रों में शाखाएं स्थापित कीं परन्तु इस समय तक देश में भारतीय संयुक्त स्कंध बैंक स्थापित हो चुके थे और इनका जनता से सम्पर्क भी अच्छा था। अतः प्रस्ताव आने लगे कि देश में तीन सरकारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंकों की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बैंक सरकारी कार्य भली प्रकार कर सकता है इसलिए इन तीनों को मिलाकर एक संयुक्त सरकारी बैंक बना दिया जाय जो सरकारी काम भी करे और देश की दूसरी बैंकों का निरीक्षण भी करता रहे जिससे बैंक दुर्घटना न हो। सन् १८९८ में फाउलर कमीशन ने एक केन्द्रीय बैंक की सिफारिश की। सन् १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन ने भी इस प्रश्न को दोहराया। सन् १९१३-१७ के संकटकाल ने तो इस बात को सिद्ध ही कर दिया कि देश की बैंकिंग प्रणाली सुदृढ़ नहीं है और इसको सुदृढ़ बनाने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की तीव्र आवश्यकता है। इस समय यह भी भय था कि यदि प्रेसीडेन्सी बैंक इसी प्रकार बने रहे और एक केन्द्रीय बैंक स्थापित न किया गया तो कोई भी विदेशी बैंक किसी भी समय भारतीय बैंकों के साथ मिलकर देश की अर्थ-व्यवस्था पर अपना अधिकार जमा लेगा। अतः विवश होकर सन् १९२० में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर १९२१ में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया को जन्म मिला। इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया सरकारी बैंक था और जनता के साथ भी लेन-देन करता था। परन्तु १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया स्थापित हो जाने से इम्पीरियल बैंक एक्ट में आवश्यक संशोधन कर दिया गया जिसके अनुसार आज यह बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति काम करता है और रिजर्व बैंक का एजेंट भी है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है और इम्पीरियल बैंक की शाखा है वहां इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक का एजेंट बनकर सरकारी बैंक का काम भी करता है।

विनिमय बैंकों की स्थापना

भारतीय संयुक्त स्कंध बैंकों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा दिए गए आज्ञा-पत्र के अनुसार स्थापित अन्य बैंकों को छोड़कर देश में कुछ ऐसे बैंक भी स्थापित होने लगे जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में थे परन्तु जो भारत में अपनी शाखा स्थापित करते थे। इन बैंकों का प्रमुख व्यवसाय विदेशी व्यापार में सहारा देना था। चूंकि भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैंड से होता था इसलिए स्वभावतः इंगलैंड की बैंकों की शाखाएं सबसे पहले भारत में स्थापित हुईं। सबसे पहले सन् १८४२ में ओरियण्टल बैंकिंग कारपोरेशन स्थापित हुआ। इसका मुख्य व्यवसाय विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता देना था क्योंकि प्रेसीडेन्सी बैंक और संयुक्त स्कंध बैंक विदेशी व्यापार में खतरा होने के कारण कोई भाग नहीं ले सकते थे। इसके बाद फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड, अमरीका, जापान आदि देशों ने भी भारत में बैंकों की शाखाएं स्थापित कीं। आज देश में दो प्रकार के विनिमय बैंक देखने में आते हैं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) वे बैंक जिनका भारत में सीमित व्यवसाय है और जो उनके कुल व्यवसाय का $\frac{१}{१०}$ भाग है। ऐसे बैंक योकोहामा इस्पीसी बैंक, मितसुई बैंक लि० तथा कानन बैंक लि० हैं जिनके प्रधान कार्यालय जापान में हैं और शाखाएं भारत में काम करती हैं। इंगलैंड का लायड्स बैंक लि० भी इसी श्रेणी में आता है।

(२) बैंक जिनके प्रधान कार्यालय चाहे विदेशों में हैं परन्तु जिनका अधिकांश व्यापार भारत में है। ऐसे बैंक अधिकतर इंगलैंड के बैंक हैं जिन्होंने देश के आन्तरिक भागों में शाखाएं स्थापित कर रखी हैं और जो भारतीय बैंकों के साथ प्रतियोगी बने हुए हैं। ऐसे बैंक ये हैं—चार्टर्ड बैंक ऑव इण्डिया, आस्ट्रेलिया एंड चाइना; नेशनल बैंक ऑव इण्डिया लि०; पी० एंड ओ० बैंकिंग कारपोरेशन तथा इस्टर्न बैंक ऑव इण्डिया लि० आदि।

विनिमय-बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं तथा आयात-निर्यात बिल भी खरीदते-बेचते हैं। इसके अलावा विनिमय-बैंक देश के अन्य बैंकों की भांति जनता की राशि जमा करते हैं और रुपया उधार भी देते हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय-बैंक देश के अन्य बैंकों के भीषण प्रतिद्वन्द्वी बन चुके हैं जो भारतीय जनता से राशि जमा करके विदेशी व्यवसायियों को उधार देते हैं। विदेशी बैंक होने के कारण इनका लाभ भी विदेशों को जाता है और इस प्रकार देशी बैंकों को उनसे भारी क्षति होती है क्योंकि इनका व्यापार इनकी प्रतियोगिता में नहीं पनप पाता। आवश्यकता इस बात की है कि विदेशी बैंकों पर कुछ नियंत्रण हो जिससे इनका कार्यक्षेत्र सीमित रहे और प्रतियोगिता दूर हो।

अव्यवस्थित बैंक-विकास

यद्यपि देश में बैंकों की संख्या तो बड़ी परन्तु उनका विकास बड़ा अव्यवस्थित एवं अनियंत्रित रहा। उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल, बंबई एवं मद्रास में तो बैंकों की संख्या अधिक से अधिक बढ़ती गई परन्तु बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा राज्यसंघों में इनकी भारी कमी रही। सन् १९२१ से १९३६ तक बहुत से शहरों में बैंकों की संख्या दुगनी हो गई। कुछ नगरों में तो इनका सन्तोषजनक विकास हुआ। परन्तु अब भी बहुत से प्रदेश ऐसे थे, जहां बैंकों की अधिक आवश्यकता थी। बैंकिंग-विकास अव्यवस्थित होने के तीन कारण थे :—

(क) बैंकों का जन्म देश में कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के साहस से ही हुआ था। इन व्यक्तियों ने देश भर में बैंकों की आवश्यकता का अध्ययन नहीं किया और केवल ऐसे ही स्थानों पर बैंक स्थापित किए जहां इनका व्यापार चलता था।

(ख) जो बैंक भारत में विदेशी थे उन्होंने भी व्यापारिक केन्द्रों को ही लाभ की दृष्टि से ठीक समझा और उन्हीं स्थानों पर अपनी शाखाएं स्थापित कीं।

(ग) बहुत से बैंकों को तो व्यवस्था और योजना का ज्ञान तक न था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जहां-जहां बड़े-बड़े बैंक अपनी शाखा खोलते थे वहीं-वहीं छोटे-छोटे बैंक भी स्थापित हो जाते थे। ऐसा देखा गया है कि जहां-जहां 'पांच महानों' ने अपनी शाखाएं खोलीं वहीं पर अन्य छोटे-छोटे बैंक खोले गए और जिन शहरों में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया की शाखा खोली गई उन्हीं शहरों में 'पांच महानों' ने भी अपनी शाखाएं जमाई। इस प्रकार बड़े-बड़े नगरों में ही बैंक केन्द्रित हो गए और छोटे-छोटे शहर बैंकिंग सुविधाओं से अछूते ही रहे। इसका अर्थ यह नहीं कि छोटे-छोटे शहरों में बैंकों का कार्य-क्षेत्र न हो अथवा उनको लाभ न होता हो। डा० मुरंजन ने स्पष्ट खोज की है कि 'पांच महान्' में से एक 'बैंक ऑव बड़ोदा' की ६०% शाखाएं ऐसे शहरों में हैं जिनकी जनसंख्या २०,००० से कम है फिर भी यह बैंक अन्य किसी महान् बैंक से कम नहीं है। इसकी सम्पत्ति उतनी ही सुरक्षित है और उसके लाभ में भी कोई कमी नहीं।"

यही नहीं, जमा-राशि की दृष्टि से भी बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीकरण रहा है। अधिकांश जनता बड़े-बड़े बैंकों से लेन-देन रखती थी इसलिए छोटे बैंकों को बहुत कम व्यवसाय मिलता था। सन् १९४१ में ही इम्पीरियल बैंक तथा १६ विनिमय-बैंकों में और 'पांच महीनों' में की हुई जमा राशि देश की सम्पूर्ण जमा-राशि का ८३% थी। इसका एकमात्र कारण यह था कि ये बड़े बड़े बैंक ऐसे धनी और व्यापारिक केन्द्रों में थे जहां जमा-राशि अधिक होती थी, धनी व्यवसायी अधिक थे और अधिक लेन-देन करते थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जनता अपनी राशि सुरक्षित रखने के लिए इन्हीं बैंकों को ठीक समझती हो। अतः छोटे छोटे बैंकों की जमा-राशि कम थी और व्यापार का लेन-देन अधिकतर बड़े बैंकों के ही हाथ में था। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से भी अव्यवस्था और केन्द्रीकरण था तथा जमा-राशि के दृष्टिकोण में भी केन्द्रीकरण था। भौगोलिक दृष्टिकोण की दिशा से तो पिछले कुछ वर्षों में उन्नति हुई है। बैंकों की संख्या ऐसे स्थानों में भी बढ़ी है जहां पहले बैंक न थे। परन्तु अब भी देश की बैंक-व्यवस्था ठीक नहीं कही जा सकती। देश में बैंकों की अब भी बहुत कमी है। सन् १९४५ में देश के २५०० शहरों में से केवल १६५० शहरों में ही बैंक या बैंक की शाखाएं थीं और सम्पूर्ण भारत में केवल ५५६७ बैंक-कार्यालय थे। भारत में ६२,५०० व्यक्तियों के बीच एक बैंक कार्यालय आता है जब कि अमेरीका में ७७५२ व्यक्तियों के बीच एक कार्यालय है, इंगलैंड में ४३६६ व्यक्तियों के बीच एक है और जापान में ९४९१ व्यक्तियों के बीच एक कार्यालय आता है।* इस प्रकार हमारे देश में बैंकों की भारी कमी

* ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की रिपोर्ट पृ० २४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। अगर भारत की ग्रामीण जनता की ओर देखें तो ज्ञात होता है कि बैंकों की सुविधा केवल इने-गिने लोगों तक हीं सीमित है और अधिकांश जनता इस सुविधा से वंचित है। राष्ट्रीय सरकार ने इस प्रश्न को समझकर ग्रामीण भारत में कोषागारों की व्यवस्था करने के लिए ग्रामीण कोषागार-प्रसार-समिति श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में नियुक्त की थी जिसने इस विषय में महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं।

द्वितीय युद्धकालीन बैंकिंग विकास

गत महायुद्ध में बैंकों ने विशेष उन्नति की, अनेक नए-नए बैंक स्थापित हुए तथा बैंकों ने अपनी-अपनी शाखाएं बढ़ाईं। संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक उन्नति भारत बैंक लि० तथा यूनाइटेड कमर्शियल बैंक ने की।* बैंकों की संख्या बढ़ने का विशेष कारण यह था कि लोगों के पास रुपया अधिक था। वे उसका युद्धकालीन कठिनाइयों के कारण उद्योग खोलने में तो उपयोग कर नहीं सकते थे अतः उन्होंने बैंक स्थापित किए अथवा बैंकों में राशि जमा की जिससे बैंकों के आर्थिक साधन बढ़े और उन्होंने नई शाखाएं खोलीं। सन् १९३९ में विनिमय-बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक को सम्मिलित करके तालिका बैंकों की संख्या ५१ थी जो १९४६ में बढ़कर ९३ हो गई और इन सभी की शाखाएं युद्ध से पूर्व १३२८ थी जो १९४६ में ३१०६ हो गई। इसी प्रकार बैंकों की जमा-राशि में भी काफी वृद्धि हुई। १९३५ में ५ और ५½ लाख की पूंजी तथा संचित कोषवाले अतालिकाबद्ध बैंकों की संख्या २३१ थी जो १९४५ में २८८ हो गई। परन्तु ऐसा देखने में आता है कि बड़े-बड़े बैंकों की जमा-राशि तो और अधिक बढ़ी परन्तु छोटे बैंकों की जमा-राशि में कोई विशेष वृद्धि न हुई। सन् १९४१ तक तो, जब तक कि भारत को जापान के बमों से कोई डर न था, बैंकों में बेरोक-टोक वृद्धि हुई परन्तु जापान के हमले के साथ ही बैंकों के लिए भी संकट आया। विशेषकर विनिमय-बैंकों पर से जनता का विश्वास हटने लगा और जमा-राशि में कमी हुई। इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया को इससे विशेष लाभ हुआ। लोग विनिमय-बैंकों से राशि निकाल निकालकर इस बैंक में राशि जमा करवाने लगे। 'पांच महान्' बैंकों की जमा-राशि में भी वृद्धि हुई। ६९% से जमा राशि १९४३ में ८१% हो गई परन्तु १९४५ तक जमा-राशि फिर घटकर ५५% ही रह गई। तालिकाबद्ध बैंकों ने भी काफी उन्नति की। विनिमय-बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक को मिलाकर इन बैंकों की जमा-राशि युद्ध से पूर्व २३८ करोड़ रुपये थी जो १९४६ में बढ़कर १०९७ करोड़ हो गई। जमा-राशि बढ़ने का विशेष कारण यह था कि लोगों के पास अधिक पैसा होने के कारण वे बैंकों में जमा करते थे और लोगों के

* अब भारत बैंक पंजाब नेशनल बैंक में विलीन हो गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पास पैसा भी व्यापार से बराबर आता चला जा रहा था। सरकार ने युद्ध की आवश्यकता पूरी करने के लिए नोट छापे थे। १९४६ में १९३९ की अपेक्षा १०१४ करोड़ रुपये के नोट अधिक छापे गए थे। जमा-राशि में भी एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि लोगों ने स्थिर लेखों की अपेक्षा चालू लेखे अधिक खोले। इसके भी कई कारण थे। स्थिर लेखों की ब्याज-दर चालू लेखों की ब्याज-दर की अपेक्षा कम थी इसलिए लोग चालू लेखा ही खोलना पसन्द करते थे। दूसरे युद्धकाल में सोने-चांदी तथा मकानों की कीमत पल-पल पर घटती-बढ़ती रहती थी। अतः जनता सदैव अपने साधनों को चालू लेखे में जमा रखती थी जिससे समय आने पर आसानी से निकाल सके और सोना-चांदी का भाव नीचा होने पर खरीद सके। यदि स्थिर लेखा खोला जाता तो ऐसा कार्य सरलता से नहीं किया जा सकता था।

युद्धकाल में रुपये की अधिकता होने के कारण बैंकों को रिजर्व बैंक के पास सहायता मांगने के लिए जाने की आवश्यकता न हुई। केवल कुछ ही बैंक ऐसे थे जिनको वर्ष भर में काफी सहायता की आवश्यकता होती थी। रिजर्व बैंक की सहायता, जो उसने अन्य बैंकों को दी, एक वर्ष में १ करोड़ से ४ करोड़ तक ही हो पाई थी। बैंकों के लाभ बढ़े और उन दिनों अनेक प्रकार के कर जैसे आय-कर, अतिरिक्त लाभ-कर थे, तो भी बैंकों के लाभ कुछ कम न हुए।

बैंकों का सहसा ही एक साथ विकास होने के कारण योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों की कमी होने लगी। बड़े-बड़े बैंकों ने तो भारी-भारी वेतन देकर छोटे-छोटे बैंकों से कर्मचारियों को अपनी ओर बुला लिया परन्तु अन्य बैंकों को योग्य कर्मचारियों की अधिक आवश्यकता है। अतः बैंकिंग संघ को शीघ्र ही कर्मचारियों की ट्रेनिंग का प्रबन्ध करना चाहिए। रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री रामाराव ने हाल ही में व्यक्त किया है कि रिजर्व बैंक बैंकिंग कर्मचारियों की शिक्षा के लिए एक शिक्षण-संस्था खोलने वाली है।

युद्धकाल में यद्यपि बैंकों का विकास हुआ, संख्या भी बढ़ी, शाखाएं भी बढ़ गईं और जमा-राशि में भी वृद्धि हुई परन्तु बैंकिंग-विकास में एक भारी दोष रह गया। बैंक ऐसे ऐसे स्थानों पर खुल गए जहां बैंकिंग क्रियाओं की आवश्यकता नहीं थी व शाखाएं ऐसे स्थानों पर खुल गईं जहां पहले से ही काफी संख्या में शाखाएं थीं। इस प्रकार वे प्रतियोगिता का कारण बन गईं, इससे छोटे-छोटे बैंकों को काफी हानि की संभावना हो सकती है। बैंकों ने अधिक लाभ कमाए और भारी-भारी मात्रा में लाभांश बांटे जिससे अंशों में सट्टा होने लगा। बहुत से बैंक तो स्वयं भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवसाय करने लगे जो उन्हें नहीं करना चाहिए था। परिणामस्वरूप १९४७ में बंगाल में बैंकों पर स्थानीय संकट आया। अतालिकाबद्ध बैंकों में से अनेकों ने भुगतान

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बन्द किए। उनके पास आर्थिक साधनों की कमी हो गई और वे अब तक इस रोग से पीड़ित रहे। परन्तु यह संकट बंगाल तक ही सीमित रहा। इसका देश के बैंकिंग कलेवर पर कोई विशेष गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

युद्धोत्तरकालीन बैंकिंग स्थिति

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् बैंकिंग व्यवसाय में कुछ शिथिलता आने लगी। स्थिर-लेखों में जमा-राशि घटने लगी और बैंकों की देनदारी तथा लेनदारी युद्ध-पूर्वकालीन स्तर पर लौटने लगी। तालिकाबद्ध बैंकों की ऋण एवं अग्रिम राशि में भी कमी होने लगी। बैंकों में जमा-राशि का मुख्य कारण देश के विभाजन एवं उसके कारण उत्पन्न हुई विषम परिस्थितियां थीं। विभाजन के पश्चात् बैंकों ने ऋण देना कम कर दिया और वे अधिकांश राशि या तो नकद रूप में रखने लगे अथवा विनियोग करके सुरक्षित रखने लगे। बहुत से बैंकों ने अपने-अपने कार्यालय पश्चिमी पंजाब से उठाकर पूर्वी पंजाब और दिल्ली में स्थापित कर लिए तथा पश्चिमी पंजाब में दी हुई ऋण-राशि भी भारतीय क्षेत्रों में स्थानान्तरित कर दी। विभाजन के कारण बहुत से बैंकों को बहुत हानि उठानी पड़ी क्योंकि उनकी बहुत सी पूंजी पाकिस्तानी क्षेत्रों में फंस गई और निकल न सकी। भारत सरकार ने कुछ बैंकों को सहायता देकर चेष्टा की कि वे फेल न हो जायं। पंजाब स्थित कई बैंकों को इस प्रकार की सहायता दी गई। रिजर्व बैंक को अधिकार दे दिया गया कि वह किसी भी तालिकाबद्ध बैंक को परिस्थिति के अनुसार जितनी अग्रिम राशि देकर सहायता की जा सके, करे। पूर्वी पंजाब तथा देहली बैंकिंग आर्डिनेंस १९४७ निकालकर सरकार को अधिकार दिया गया कि वह किसी भी ऐसे बैंक के विरुद्ध, जिसका प्रधान कार्यालय पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली में हो, होनेवाली कार्यवाही को कम से कम तीन माह तक के लिए स्थगित कर दे। इस प्रकार बैंकों को ऐसा समय और अधिकार मिल गया जिसमें बैंक जमाकर्त्ताओं को उनकी जमा-राशि का १० प्रतिशत अथवा २५० रुपये, इनमें से जो भी कम हो, भुगतान कर सकता था। सरकार ने विभाजन के कारण त्रस्त बैंकों की सहायता और पुनरुद्धार के लिए १ करोड़ रुपये की व्यवस्था की। सरकार ने ऐसा इसलिए किया कि बहुत से बैंकों की सम्पत्ति और लेनदारी पश्चिमी पंजाब में डूब गई पर उनके जमाकर्त्ता भारत संघ में आकर उनसे अपनी-अपनी जमा राशि मांगने लगे। अतः बैंकों को जमाकर्त्ताओं की मांग पूरी करने के लिए सरकार ने उक्त राशि की व्यवस्था की। रिजर्व बैंक ने बिलकुल असहाय और निर्बल बैंकों को बन्द कर दिया और समर्थ बैंकों की सहायता करके उन्हें जीवित रखा।

१९४६ में भारतीय तालिकाबद्ध बैंकों ने भारतीय बैंकिंग संघ की स्थापना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की। इस संघ का उद्देश्य भारतीय बैंकों के अधिकारों की रक्षा करना तथा देश में बैंकिंग व्यवसाय को बढ़ावा देना है। १९४९ में भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट पास किया गया जिसमें रिजर्व बैंक को देश की बैंकों पर नियंत्रण तथा प्रबंध-अधिकार सौंप दिए गए। एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को देश के बैंकिंग व्यवसाय को उन्नत बनाने के लिए विस्तृत अधिकार सौंप दिए गए हैं। यह बैंक समय-समय पर अन्य बैंकों का निरीक्षण करता तथा उन्हें समय पडने पर सहायता करता है।

१९५० में बंगाल के चार बैंकों—कोमिल्ला बैंकिंग कारपोरेशन, कोमिल्ला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बंगाल सेण्ट्रल बैंक—का एकीकरण कर दिया गया। भारत बैंक भी पंजाब नेशनल बैंक में विलीन कर दिया गया। १९५० के पश्चात् देश में बैंकिंग प्रगति अच्छी रही तथा बैंकों की ऋण तथा अग्रिम राशि बढ़ने लगी। १९५० में तालिकाबद्ध बैंकों की संख्या, जो १९४८ में १०० थी, घटकर ९३ रह गई परन्तु उनकी जमा-राशि में लगभग २५ करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी रही। यद्यपि बैंकों की शाखाएं कम हो गईं पर उनकी कार्य-क्षमता बढ़ती गई। अब हमारे देश के बैंक सुदृढ़ नींव पर खड़े हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देश के बैंकिंग कलेवर को सुदृढ़ बनाया जाय।

देश में बैंकिंग का भविष्य

निस्सन्देह देश में बैंकिंग विकास का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि बैंक आर्थिक और मौद्रिक नीतियों का भली प्रकार से पालन करें। युद्धकालीन उन्नति और विकास को स्थायी रखने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि बैंकों का प्रबन्ध योग्य अनुभवी एवं चतुर प्रबन्धकों के हाथ में हो। बैंकों को अल्पकालीन ऋण न देने चाहिएं। व्यवसाय की आवश्यकता को देखते हुए यदि साख ठीक हो तो बैंकों को व्यवसाय की उन्नति में अवश्य भाग लेना चाहिए। प्रथम महायुद्ध के आस-पास बैंकिंग क्षेत्र में एक अभूतपूर्व संकट आया था जिसमें अनेकों बैंक बन्द हो गए और जनता का बैंकों के प्रति विश्वास भी हट गया। परन्तु गत महायुद्ध के पश्चात् ऐसी परिस्थिति की कोई शंका नहीं की जा सकती क्योंकि युद्धकाल में भी बैंकों के विकास पर काफी नियंत्रण रखा गया था तथा अब युद्ध के बाद भी रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए मौजूद है। पहले इस प्रकार का केन्द्रीय बैंक देश में न था जो बैंकिंग संकट को दूर करता। सन् १९४९ में बैंकिंग कम्पनी एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियंत्रित किया जा सकेगा। इन परिस्थितियों में देश का बैंकिंग विकास अधिक शक्तिशाली और स्थायी रह सकेगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

भारत में बैंकिंग कार्य बहुत प्राचीन काल से होता आया है परन्तु आधुनिक ढंग से नहीं। वैदिककालीन लेखों से राशि उधार लेने-देने की व्यवस्था का पर्याप्त संकेत मिलता है। मनुस्मृत्ति में भी इस बात का उल्लेख है कि देश में ब्याज के बदले में राशि उधार देने की प्रथा प्रचलित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो स्पष्ट वर्णन मिलता है कि देश में साहूकारी का नियम था। परन्तु उस काल में ब्याज की दर तथा राशि लेन-देन के नियम आज जैसे न थे। उस समय न आज जैसे चेक आदि थे और न आज जैसी मौद्रिक पद्धति थी। देश के विभिन्न भागों में प्रकार-प्रकार से लेन-देन होता था। मुगल-काल में लेन-देन के रीति-रिवाजों ने विशेष प्रगति की। देश में प्रकार-प्रकार की धातु-मुद्राएं प्रचलित की गईं जिनके द्वारा धन-राशि अदल-बदल करने के अवसर भी मिले और लेन-देन का सुगम साधन भी प्राप्त हुआ। मुगल-सम्राटों ने देश के धनी साहूकारों और महाजनों को कर-वसूली के लिए नियुक्त किया और उन्हें कहीं-कहीं पर अपना कोषाध्यक्ष भी बनाया। इससे इन महाजनों की साख बढ़ी और जनसाधारण अपनी बचत राशि इन्हीं महाजनों के पास जमा करने लगे। आवश्यकता पड़ने पर ये महाजन लोगों को राशि उधार भी देते थे। उधार राशि पर ये लोग ऊंची दर पर ब्याज वसूल करते थे। इस प्रकार महाजन आधुनिक बैंकों का वह प्रारम्भिक स्वरूप था जहां राशि जमा की जाती और उधार भी दी जाती थी।

१७वीं शताब्दी में अंगरेजों के आने से व्यापार का ढंग बदला जिससे महाजन परिचित न थे और न वे अंगरेजी भाषा ही जानते थे। अतः वे अंगरेजी व्यापार में हाथ न बटा सके। अंगरेजों ने अपनी व्यापारिक और मौद्रिक आवश्यकताओं के लिए एजेंसी गृह तथा 'संयुक्त स्कंध बैंक' स्थापित किए जिनसे महाजनों की प्रतिभा और भी कम हो गई। शनैः शनैः भारतीयों ने भी संयुक्त स्कंध बैंक स्थापित करना आरम्भ कर दिया। १८८१ में सीमित देनदारी के आधार पर अवध कमर्सियल बैंक स्थापित किया गया। इसके बाद १८९४ में पंजाब नेशनल बैंक व १९०१ में पीपुल्स बैंक ऑव इण्डिया स्थापित हुए। १९०६–१३ के बीच बैंकों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। पर १९१३ के पश्चात् बैंकिंग संकट आया जिसमें लगभग ८७ बैंक फेल हुए। बैंक फेल होने के कई कारण थे—(१) पूंजी का अभाव, (२) पारस्परिक प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्द्धा, (३) अयोग्य प्रबन्धक एवं संचालक, (४) केन्द्रीय बैंक का अभाव। १९१५ के पश्चात् बैंकों की फिर लहर आई और प्रथम युद्धकाल के उत्तरार्द्ध में अनेक बैंक स्थापित हुए। परन्तु १९२२–३६ में बैंकिंग संकट फिर आया और लगभग ३७५ बैंक नष्ट हुए। कुछ बड़े-बड़े बैंक इसी काल में बन्द किए गए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यापार की सुविधा के लिए कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में तीन प्रेसीडेंसी बैंक स्थापित किए। इनका प्रमुख काम कम्पनी को व्यापार में सहायता करना था। इन बैंकों को १८६१ तक नोट चलाने का अधिकार भी मिला हुआ था। १९२० में इन तीनों बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया बनाया गया। इस बैंक ने १९३५ तक सरकारी बैंक का काम किया पर १९३५ में रिजर्व बैंक बना दिया गया। अब इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक का एजेंट मात्र है।

संयुक्त स्कंध बैंकों को छोड़ देश में कुछ ऐसे बैंक भी स्थापित होने लगे जिनके प्रमुख कार्यालय विदेशों में थे। इनका मुख्य व्यवसाय विदेशी व्यापार में सहारा देना था। इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैंड, अमरीका, जापान आदि देशों ने भारत में बैंकों की शाखाएं स्थापित कीं। ये बैंक विदेशी विनिमय बैंक कहे जाते हैं। इनका काम आयात-निर्यात बिलों का क्रय-विक्रय करना तथा विदेशी विनिमय का लेन-देन करना है। इसके अलावा ये देशनिवासियों से राशि का लेन-देन भी करते हैं।

१९२१ के पश्चात् यद्यपि बैंकों की संख्या बढ़ी परन्तु उनका विकास बड़ा अव्यवस्थित एवं अनियंत्रित रहा। देश के कुछ भागों में संख्या बहुत बढ़ गई पर अन्य भाग बैंकों से बिलकुल अछूते रहे। बैंकों के अव्यवस्थित विकास के कई कारण थे—(१) योजना का अभाव, (२) इने-गिने व्यक्तियों द्वारा ही बैंकों की स्थापना, (३) बड़े-बड़े नगरों में बैंकों का केन्द्रीकरण। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में बैंकों की संख्या बहुत कम है। हमारे यहां ६२,५०० व्यक्तियों के बीच में एक बैंक-कार्यालय आता है जब कि अमरीका में ७,७५२ के बीच एक कार्यालय, इंगलैण्ड में ४,३६६ के बीच एक कार्यालय तथा जापान में ९४९१ व्यक्तियों में एक कार्यालय है।

द्वितीय युद्धकाल में बैंकों ने विशेष उन्नति की। नए-नए बैंक स्थापित हुए तथा बैंकों की शाखाएं भी बढ़ाई गईं। तालिकाबद्ध बैंकों ने काफी प्रगति की। यह सब कुछ तो हुआ पर बैंकिंग विकास में एक भारी दोष रह गया। बैंक ऐसे-ऐसे स्थानों पर खुल गए जहां बैंकिंग क्रियाओं की आवश्यकता नहीं थी व शाखाएं ऐसे स्थानों पर खुल गईं जहां पहले से भी काफी संख्या में शाखाएं थीं। बैंकों में लाभ अधिक होने के कारण लाभांश बहुत बांटे गए जिससे उनके अंशों में सट्टा बढ़ने लगा। बहुत से बैंक तो अन्य व्यवसाय भी करने लगे। परिणामस्वरूप १९४७ में बंगाल के बैंकों पर संकट आया परन्तु रिजर्व बैंक ने सहायता करके उनकी रक्षा की।

युद्धोत्तर काल में बैंकिंग व्यवसाय में कुछ शिथिलता आई जिनके कारण कुछ बैंकों को बड़ी हानि उठानी पड़ी। कई बैंकों की सम्पत्ति पाकिस्तान में रह जाने के कारण उन्हें भुगतान चुकाने में बड़ी आपत्ति रही, पर भारत सरकार ने सहायता करके उन्हें संभाला। विभाजन के कारण जो भाग-दौड़ हुई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उससे पीड़ित होकर लोग बैंकों में से अपनी जमा-राशि निकालन लगे। अनेक बैंकों पर ऐसी मुसीबत पड़ी पर रिजर्व बैंक ने उन्हें संभाला। १९४६ में भारतीय बैंकों को सुदृढ़ बनाने के लिए भारतीय बैंकिंग संघ बनाया गया। १९४९ में बैंकिंग कम्पनी एक्ट बनाकर रिजर्व बैंकों को बैंकों के नियंत्रण एवं संचालन सम्बन्धी अधिकार सौंप दिए गए। अब आवश्यकता इस बात की है कि देश के वर्तमान बैंकिंग कलेवर को सुदृढ़ और सुसंगठित बनाया जाय।

परीक्षा-प्रश्न

(१) देश में आधुनिक बैंकिंग का जन्म और विकास कैसे हुआ? ब्यौरेवार समझाकर लिखिए।

(२) 'प्रेसीडेन्सी' बैंकों से आपका क्या तात्पर्य है? इन बैंकों की स्थापना क्यों की गई थी? इनकी कार्यशैली का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(३) देश में बैंकों के अव्यवस्थित विकास के क्या कारण थे? देश में बैंकों का केन्द्रीकरण क्योंकर पाया जाता है?

(४) द्वितीय युद्धकाल का देश के बैंकिंग कलेवर पर क्या प्रभाव पड़ा? समझाकर लिखिए।

(५) देश के विभाजन से बैंकों पर क्या प्रभाव हुआ? सरकार ने त्रस्त बैंकों की किस प्रकार सहायता की?

(६) भारत में बैंकिंग व्यवसाय के भविष्य पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३०

भारतीय मुद्रा-मण्डी

प्राय: 'मुद्रा-मंडी' उस स्थान को कहते हैं जहां राशि उधार देनेवाले तथा उधार लेनेवाले परस्पर मिलते हैं। यह वह मौद्रिक संगठन है जिसके द्वारा देश में पूंजी तथा साख की प्रदाय होती है। मुद्रा-मंडी की कुशलता इस बात से आंकी जाती है कि देश के व्यवसायियों को उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजी पर्याप्त मात्रा में एवं उचित ब्याज-दर पर मिल जाती है अथवा नहीं। सुसंगठित मुद्रा-मण्डी में व्यवसायियों को आवश्यक साख प्राप्त होती रहनी चाहिए; संचित-राशि उन लोगों को मिलती रहनी चाहिए जो उसका महत्तम उपयोग कर सकें। "बैंक में जमा-राशि से जो लाभ एक व्यक्ति को मिलता है, वही लाभ देश की मुद्रा-मंडी से उसकी साख-व्यवस्था द्वारा समाज को होता है। दोनों से तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकद राशि प्राप्त होती है।" इस दृष्टि से हम मुद्रा-मंडी को 'सामाजिक बैंक' भी कह सकते हैं। इसी कारण से बिल-बाजार, विनिमय-बाजार तथा विनियोग-बाजार का किसी देश की मुद्रा मंडी में विशेष स्थान होता है। मुद्रा-मंडी में व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुकूल मूद्रा का प्रसार तथा संकुचन होता रहना चाहिए। मौद्रिक प्रणाली लोचदार होनी चाहिए। किसी देश की मुद्रा-मंडी का संगठन इस बात से आंका जा सकता है कि वहां के लोगों में बैंकों के द्वारा लेन-देन करने की कितनी प्रथा है। मुद्रा-मंडी में विनियोग के पर्याप्त साधन उपलब्ध होने चाहिएं जिससे लोग अपनी बचत को बैंकों में जमा कर सकें।

मुद्रा-मंडी की प्रमुख क्रिया समाज के भिन्न-भिन्न अंगों को यथोचित मात्रा में आवश्यक साख-सुविधाएं प्राप्त कराना है। इसके द्वारा देश की धन राशि ऐसे हाथों में पहुँचाई जाती है जो इसका अधिकाधिक प्रयोग कर सकें तथा जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में भी वृद्धि हो। मुद्रा-मंडी का यह भी कर्त्तव्य है कि वह देश की मुद्रा-पद्धति को इस प्रकार संचालित करे कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में स्थायित्व आ जाय। यह बात विशेषत: पश्चिमी देशों में पाई जाती है जहां के बैंकों तथा अन्य साख-संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का पूर्ण अधिकार है और बिलों की कटौती तथा पुन: कटौती की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित है। भारत की मुद्रा-मंडी में यह एक बड़ा भारी दोष है जिसका विवेचन हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंग

भारतीय मुद्रा-मंडी को दो विशेष भागों में बांटा जा सकता है–(१) योरपीय तथा केन्द्रीय भाग––इस भाग के अंग रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया, इम्पीरियल बैंक ऑव इंडिया तथा विदेशी विनिमय-बैंक हैं; (२) भारतीय अथवा स्थानीय भाग––इसमें साहूकार, स्वदेशी बैंकर, ऋण कार्यालय, निधि, संयुक्त स्कंध बैंक तथा सहकारी बैंक सम्मिलित हैं।

हमारे देश में 'भारतीय भाग' का विशेष स्थान है। इसी के अंगों से देश की अधिकांश आवश्यकताएं पूरी होती हैं। भारतीय मुद्रा-मंडी के इन दोनों भागों में समीपी सम्पर्क नहीं है। केन्द्रीय भाग को सदैव सरकार ने नियंत्रित किया और दूसरा भाग सदैव नियम और कानून से बाहर ही रहा। इसलिए देश की मुद्रा-मंडी सदैव दोषयुक्त रही और इस दोष के कारण इसकी तुलना पश्चिम की उन्नत मुद्रा-मंडियों से नहीं की जा सकती।

मुद्रा-मंडी में राशि उधार लेनेवाले हैं––(१) सरकार, जो समय-समय पर आवश्यकताओं के लिए जन-ऋण लेती है; (२) कृषक, जो समय आने पर कृषि की आवश्यकता के लिए ऋण लेता है; (३) उद्योगी वर्ग तथा (४) साधारण जनता, जो अपनी निजी तथा सामाजिक आवश्यकताओं के लिए ऋण लेती है। रुपया उधार देनेवाले होते हैं––बैंक, साहूकार, स्वदेशी बैंकर आदि संस्थाएं।

भारतीय मुद्रा-मण्डी के दोष

भारतीय मुद्रा-मंडी का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अन्य मुद्रा-मंडियों की अपेक्षा हमारी मुद्रा-मण्डी के कुछ विशेष दोष हैं जो इस प्रकार हैं :––

(१) **अस्त-व्यस्त कलेवर**––मुद्रा-मंडी के अनेक अंग हैं जिनमें पारस्परिक सहयोग तथा संगठन नहीं है। सहकारी बैंकों का स्वदेशी बैंकरों से कोई सम्बन्ध नहीं तथा व्यापारिक बैंक सहकारी बैंकों को अपना प्रतियोगी मानने लगे हैं। स्वदेशी बैंकर नियमबद्ध नहीं, न वे रिजर्व बैंक से कोई सम्बन्ध रखते हैं और न उनका देश के अन्य बैंकों से ही कोई विशेष सम्बन्ध है।

इम्पीरियल बैंक––जो शक्तिशाली व्यापारिक बैंक है तथा जिसको अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षाकृत विशेष अधिकार है––देश के अन्य बैंकों का प्रतियोगी बन बैठा है। इस प्रकार मुद्रा-मंडी असंगठित तथा अस्त-व्यस्त है। १९३५ तक तो देश में बैंकिंग व्यवस्था के निरीक्षण तथा संगठन के लिए कोई केन्द्रीय बैंक ही न था और अब जब रिजर्व बैंक स्थापित हो गया तो वह भी मुद्रा-मंडी के सभी अंगों को नियन्त्रित करके उन्हें एक पाश में संगठित नहीं कर सका।

(२) **राशि का अभाव**––मंडी में आवश्यकता के अनुकूल पर्याप्त धन-राशि भी नहीं जिससे सभी की मांग पूरी की जा सके। साख-व्यवस्था का संचालन करने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के लिए ऐसी संगठित संस्थाएं भी देश में नहीं हैं जो देश की साख-आवश्यकताओं का पूर्ण अध्ययन कर सकें। साख के दो रूप कर दिए गए हैं—(१) दीर्घकालीन साख, (२) अल्पकालीन साख। मध्यकालीन साख भी देश में प्रचलित होने लगी है। दीर्घकालीन साख देने का कार्य साहूकारों के हाथ में है जिनसे ऊंची-ऊंची ब्याज-दरों पर साख मिलती है। इस कार्य के लिए कोई संगठित संस्थाएं नहीं हैं। बड़े बड़े नगरों में अल्पकालीन साख देने का कार्य व्यापारिक बैंकों के हाथ में है तथा गांवों में सहकारी बैंक इसकी व्यवस्था करने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी स्वदेशी बैंकरों तथा साहूकारों ने मुद्रा-मंडी का विशेष क्षेत्र अपने अधिकार में कर रक्खा है।

आवश्यकतानुसार मंडी में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने का अभी तक कोई सफल तथा संगठित प्रयास नहीं किया गया है और न किया जा रहा है। लोगों में राशि संचित करके रखने की आदत को छुड़वाकर उसे बैंकों में जमा करने का प्रयत्न नहीं किया गया। बैंकों ने इस विषय में छोटी-छोटी राशि के लेखों का महत्त्व ही नहीं समझा है। इंगलैंड में कोई भी व्यक्ति केवल दो पौंड जमा करके भी बैंक में हिसाब खोल सकता है परन्तु यहां पर बैंक अधिक राशि जमा करके हिसाब खोलने में ही अपना महत्त्व समझते हैं। अमेरिकन बैंकों की भांति हमारे यहां भी छोटे-छोटे बचत लेखे खोलने के लिए बचत-बैंकों की शिक्षा व व्यवस्था का प्रबन्ध होना चाहिए।

(३) लोच का अभाव—भारतीय मुद्रा-मंडी में लोच एवं स्थायित्व नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा की मात्रा देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की आवश्यकतानुसार घटाई व बढ़ाई नहीं जा सकती। बैंकों के साधन सीमित हैं। उनका कोष भी सीमित रहता है। अतः वे इस सीमित कोष से देश की बढ़ती हुई मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। देश में चेक-प्रथा भी अधिक प्रचलित नहीं है।

(४) ब्याज-दरों में भिन्नता—मण्डी में ब्याज-दरें भिन्न-भिन्न एवं भारी-भारी हैं। ब्याज-दर समय-समय पर स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न ह। स्वदेशी बैंकर अपनी उधार राशि पर भारी ब्याज वसूल करते हैं। रिजर्व बैंक की 'बैंक-दर' भी मंडी में ब्याज-दरों को नियंत्रित नहीं कर पाती। देश में दीर्घ-कालीन उधार देने के कोई साधन नहीं हैं। जमा राशि पर बैंकों द्वारा जो ब्याज दी जाती है वह भी भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ भिन्न-भिन्न है। इसका प्रधान कारण यह है कि देश की बैंकों में पारस्परिक प्रतियोगिता है तथा देश की बैंकों की क्रियाओं और उधार देने की नीतियों में विषमता है। उन्नत देशों की मुद्रा-मंडियों में बैंक पारस्परिक सहयोग से ब्याज-दर निश्चित करते हैं। इस विषय में हमारी मुद्रा-मंडी के लिए एक सुझाव है। डा० मुरंजन का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहना है कि देश को व्यापार तथा अन्य आर्थिक दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बांट लेना चाहिए और प्रत्येक क्षेत्र को अलग-अलग बैंकों के सुपुर्द कर देना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र की ब्याज-दर की सीमा निर्धारित होनी चाहिए जिससे अधिक ब्याज कोई बैंक वसूल न कर सके।

(५) **ऋण-प्रदायक संस्थाओं का अभाव**—मण्डी में बैंकों की कमी है। लोगों को बैंकिंग व्यवसाय का ज्ञान भी नहीं है और न उन्हें बैंक से लेन-देन करने की आदत ही है। कृषि के लिए साख का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है और जो कृषि-बैंक हमारी मंडी में हैं उनकी संख्या कम है। सहकारी बैंकों के पास उपयुक्त साधन नहीं हैं तथा भूमि-बन्धक बैंक अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। उद्योगों के लिए उधार मिलने का तो देश में कोई संगठित साधन है ही नहीं।

(६) **असंगठित बिल-बाजार**—मुद्रा-मंडी में बिलों की कमी इसका सबसे बड़ा दोष है। अन्य देशों की मुद्रा-मण्डियों की भांति हमारे यहां बिलों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं होता। वहां बैंक बिलों का लेन-देन करते तो हैं परन्तु केवल ऐसे बिलों की कटौती जो मान्य व्यवसाय के तथा उनके द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार हों। इस तरह से बिलों का उपयोग बहुत सीमित रहा है। दूसरे, मण्डी में कटौती की सुविधाएं भी नहीं हैं। १९३५ से रिजर्व बैंक ने कटौती तथा लेन-देन की सुविधाएं देना आरम्भ किया है परन्तु उसका कार्य-क्षेत्र सीमित है।

बिल-बाजार में बिलों की कमी

जैसा कि अभी बताया गया है हमारी मुद्रा-मंडी में संगठित बिल-बाजार की विशेष कमी है। भारतीय बैंक व्यापारिक बिलों का अधिक उपयोग नहीं करते। यह अभाव निम्न कारणों से है:—

(१) भारत के बैंकों ने सदैव सरकारी सिक्यूरिटियों में ही विनियोग किया है जिससे उनकी मौद्रिक स्थिति तरल बनी रहे। इस बात की हमारी मुद्रा-मंडी में आवश्यकता भी रही है क्योंकि हमारे बैंकों के पास नकद राशि का अभाव रहता है। दूसरे, हमारे बैंकों का अधिक विकास भी नहीं हुआ है अतः व्यापारिक बिलों का उपयोग कम होता रहा है। परन्तु अब सरकारी सिक्यूरिटियों से बैंकों की आय कम होती जा रही है और व्यापारिक बिलों से अधिक, तो आशा है कि व्यापारिक बिलों का प्रयोग बढ़ेगा।

(२) बैंक व्यापारिक बिलों का प्रयोग इसलिए भी अधिक नहीं करते कि उनको बिलों के हस्ताक्षरकर्त्ताओं की आर्थिक स्थिति का भला-पूरा ज्ञान नहीं होता और न देश में ऐसी विशिष्ट संस्थाएं हैं जो व्यापारिक बिलों के स्वीकृतकर्त्ताओं की आर्थिक स्थिति की पूरी जानकारी बैंकों को दे सकें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) बहुत से व्यापारिक बिल तो ऐसे होते हैं जिनसे इस बात का कोई संकेत ही नहीं मिलता कि वे व्यवसाय की सहायता के लिए लिखे गए हैं अथवा केवल उधार लेने के उद्देश्य से। हुण्डी को देखकर यह नहीं बताया जा सकता कि यह व्यापार की सुविधा के लिए है अथवा उधार की सहायता के लिए, क्योंकि उसके साथ रेलवे की बिल्टी अथवा भंडार की रसीद नहीं लगाई जाती। ऐसी स्थिति में बैंक इस प्रकार के बिलों में लेन-देन नहीं करते। बैंक अधिकांश व्यापारिक बिलों में ही लेन-देन पसन्द करते हैं परन्तु यह बात बहुत से बिलों में स्पष्ट नहीं होती। अतः बिलों का प्रयोग कम होता रहा है।

(४) बिलों पर मुद्रांक-कर (Stamp Duty) अधिक होने के कारण बिलों का अधिक प्रयोग नहीं होता। मुद्दती हुण्डी का प्रयोग भी इसलिए कम होता रहा है। दर्शनी हुंडी या मांग-बिलों का प्रयोग इसलिए कम होता रहा है कि इनके लाने-लेजाने में समय अधिक लगता है और इस प्रकार उनके द्वारा अल्पकालीन ऋण स्वीकार करने का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। अब १९४० से मुद्रांक-कर में कुछ कमी कर दी गई है पर फिर भी अभी अधिक ही है।

(५) व्यापारिक बिल एक दूसरे से भाषा, लिपि, अवधि, अनुग्रह-दिवस तथा विधि आदि में भिन्न-भिन्न होते हैं जिससे यदि वे खो जायं अथवा उनका अनादरण हो जाय तो उन्हें पहिचानने में अधिक परेशानी होती है। अतः जनता में उनका अधिक प्रयोग नहीं बढ़ पाता।

(६) बैंकों तथा उधार लेनेवालों, दोनों ने ही राशि उधार लेने-देने में लेखा उधार (Cash Credit) विधि को अपनाया है क्योंकि इससे दोनों को ही लाभ है। बैंक आवश्यकतानुसार कभी भी उधार बन्द कर सकता है तथा उधार लेनेवाला केवल उधार ली हुई राशि पर ही ब्याज देता है। इसलिए बिलों द्वारा उधार लेन-देन की राति नहीं अपनाई गई।

(७) पिछले कुछ वर्षों से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कोष-बिलों (Treasury Bills) का अधिक प्रयोग किया है जिनमें विनियोग करना बैंक अधिक तरलता तथा सुरक्षा का काम समझते रहे हैं। अतः व्यापारिक बिलों का प्रचार नहीं हो सका है।

बिल-बाजार का विकास (केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के सुझाव)—(१) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी का विचार है कि देश की बैंकिंग व्यवस्था तब तक संगठित नहीं हो सकती जब तक कि देश में बिल-बाजार विकसित न हो। कमेटी का विचार था कि देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा-मंडी में बिलों को प्रयोग में लाने के लिए अधिक काम कर सकता है। यह बैंक मुद्रा-मंडी के विभिन्न अंगों को संगठित करके बैंकों का सहयोगी बनकर उनको बिलों का उपयोग समझाकर, पुनः कटौती की सुवि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

घाएं देकर तथा स्वदेशी बैंकरों को नियमबद्ध करके बिल-बाजार को उन्नत कर सकता है। केन्द्रीय बैंक यह काम एक और प्रकार से भी करता है कि वह अन्य बैंकों तथा बैंकरों (जो इसके सदस्य हों) के श्रेष्ठ बिल कम कटौती-दर पर क्रय करे तथा उनकी कटौती करे और अन्य प्रकार के बिलों पर अधिक कटौती-दर वसूल करे। इससे श्रेष्ठ बिलों का प्रयोग बढ़ेगा। उत्पादकों तथा व्यापारियों को बताया जाय कि वे अपने बैंक को ठीक-ठीक विवरण देकर अपनी आर्थिक स्थिति का ज्ञान कराते रहें जिससे वे बैंकों में व्यापारिक बिलों के प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकें और बिलों का प्रयोग भी बढ़ा सकें।

(२) देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनुज्ञाधारी भाण्डारगृह स्थापित होने चाहिएं जिससे उनमें माल रखाकर उनकी रसीद व्यापारिक बिलों के साथ लगाई जा सके। अनुज्ञाधारी भाण्डारगृहों की रसीद लगाने से बिलों की साख बढ़ेगी तथा बैंक भी उन पर अच्छी तरह विश्वास के साथ लेन-देन कर सकेंगे।

(३) व्यापारिक बिलों पर से मुद्रांक-कर भी कम कर देना चाहिए जिससे जनता में उनका प्रयोग बढ़े। बिलों के छपे हुए फार्म यदि पोस्टआफिसों तथा बैंकों पर मिलें और बिलों को भारतीय तथा प्रादेशिक भाषाओं में भी लिखा जाये तो भी बिलों का प्रयोग बढ़ेगा।

(४) बिलों की अवधि तथा अनुग्रह-दिवस सम्बन्धी अन्य बातों को भी यदि देश भर में एक समान बना दिया जाय तो देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलेगा।

(५) कृषि को, जो अब तक मुद्रा-मंडी से अछूती रही है, बिल-बाजार क्षेत्र में ले आना चाहिए। कृषि की उपज पर लिखे हुए बिलों की कटौती करने की सुविधा सहकारी बैंकों को देनी चाहिए। सहूकारों तथा स्वदेशी बैंकरों को भी कृषि-बिलों पर सुविधाएं देकर उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि वे स्वदेशी बैंकरों को अपने साथ मिलाकर उनके बिलों की कटौती करने की सुविधाएं दें। इससे कृषि-बिलों को प्रोत्साहन मिलेगा।

(६) प्रान्तीय सरकारें भी इसमें अधिक योग दे सकती हैं। उनको चाहिए कि वे अपने-अपने भण्डार-गृह स्थापित करें जिनमें माल रखने की सुविधा भी मिले तथा जिनकी रसीदों पर बिल लिखकर उधार भी लिया जा सके। इन बिलों का क्रय-विक्रय स्वदेशी बैंकर करें और फिर वे उनकी कटौती व्यापारिक बैंकों या रिजर्व बैंक से करावें।

(७) बैंकों को भी चाहिए कि वे 'लेखा-उधार' के आधार पर ही ऋण न दें वरन् बिलों के प्रयोग बढ़ाकर उनका प्रचार करें, बिलों का क्रय करें, उनकी कटौती करें तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सुविधाएं भी दें।

बैंक-स्वीकृति-बिलों का प्रचार बढ़ाने से भी बिल-बाजार उन्नति कर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता है। अमरीका में प्रथम महायुद्ध तक बिल-बाजार उन्नत नहीं समझा जाता था, परन्तु बैंक-स्वीकृति-बिलों के प्रचार से ही आज अमरीका का बिल-बाजार इतनी उन्नति पर है। 'बैंक-स्वीकृति-बिल' वह बिल समझा जाता है जिसकी स्वीकृति बैंक ने अथवा ऐसी संस्था ने की हो जिसका व्यवसाय बैंक-स्वीकृति-पत्र स्वीकृत करना हो। इस प्रणाली में माल खरीदनेवाला व्यक्ति, जिसके नाम माल बेचने-वाले ने बिल लिखा हो, अपने बैंक से ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि उसका बैंक उस बिल को स्वीकृत कर ले जिससे बिल लिखनेवाला उसको अपने बैंक से शीघ्र ही कटौती करा सके।

भारतीय बैंकों को इस प्रकार के स्वीकृति-बिलों का प्रचार करना चाहिए। जिन-जिन स्थानों पर बैंक की शाखाएं न हों उन स्थानों पर बैंकों को इस कार्य में स्वदेशी बैंकरों से सहायता लेनी चाहिए। परन्तु ऐसा करने से पहले बैंकरों को रिजर्व बैंक द्वारा नियमबद्ध कराना होगा। कृषकों में बैंक-स्वीकृति-बिल का प्रचार करने में कुछ अड़चनें अवश्य होंगी क्योंकि अधिकांश कृषक अशिक्षित हैं। परन्तु इस कार्य में सहकारी बैंक अधिक सहयोग दे सकते हैं।

रिजर्व बैंक क्या करे ?

यह स्वयंसिद्ध सत्य है कि केन्द्रीय बैंक के बिना किसी देश में बिल-बाजार उन्नति नहीं कर सकता। कोई भी बैंक अथवा बैंकर तब तक बिल नहीं खरीदेगा और न कटौती करेगा जब तक कि उसे यह विश्वास न हो कि देश में कोई ऐसी भी संस्था है जहां पर आवश्यकता आने पर वह उन बिलों की पुनः कटौती कराकर राशि प्राप्त कर सकता है। हमारे देश में ऐसी संस्था केवल रिजर्व बैंक ऑव इंडिया है जो देश के अन्य बैंकों को यह विश्वास दिला सकती है कि वे आवश्यकता आने पर उससे रुपया उधार लेकर अपना काम पूरा कर सकते हैं। साख-संगठन का दायित्व रिजर्व बैंक पर है। वह देश के बैंकों को पुनः कटौती की सुविधाएं दे सकता है जिससे बैंक निश्चित होकर बिलों के द्वारा अपना लेन-देन करें। पुनः कटौती की सुविधाओं के बिना बैंकों के वे बिल, जिनकी कटौती करके वे अपनी राशि अल्पकाल के लिए ऋण दे देते हैं, तरल सम्पत्ति में परिणित नहीं हो सकते और न तब तक वे बैंक आनेवाली विपत्तियों से ही बच सकते हैं। इसलिए देश में पुनः कटौती की सुविधाएं होना अत्यन्त आवश्यक है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलों की कटौती से बैंकों की उधार देने की शक्ति और साधन बढ़ जाते हैं, मुद्रा-प्रणाली में लोच आती है तथा मुद्रा का प्रसार तथा संकुचन भी होता रहता है। इसलिए यदि देश की मुद्रा-मंडी को विकसित करने के लिए बिल-बाजार को उन्नत करना है तो रिजर्व बैंक को पुनः कटौती का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी की सिफारिश

मुद्रा-मंडी के विभिन्न अंगों को पारस्परिक रूप से संगठित करने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने 'सार्वदेशिक बैंकिंग संघ' स्थापित करने का सुझाव दिया है। यद्यपि देश में विदेशी विनिमय बैंकों का संघ है परन्तु यह केवल उन तक ही सीमित है। कमेटी का सुझाव है कि ऐसा संघ बनाया जाय, जिसके सदस्य इम्पीरियल बैंक, व्यापारिक बैंक, विनिमय बैंक एवं स्वदेशी बैंकर, सभी हों। स्वदेशी बैंकरों को इसमें सम्मिलित करना अत्यन्त आवश्यक है। संघ पारस्परिक बैंकों का कार्य-निर्धारण करे, छोटे-छोटे बैंकों को मिलाकर बड़े-बड़े बैंक बनावे, बैंकों के कार्य-स्तर में कुशलता लाने का सुझाव रखे, बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के बीच सम्बन्ध स्थापित करे तथा सदस्य-बैंकों की कठिनाइयां सरकार तक पहुंचावे। संघ स्थान-स्थान पर कार्यालय स्थापित करे जो स्थानीय समस्याओं को सुलझावें। इस प्रकार बैंकों में पारस्परिक सहयोग-संगठन होगा। इसी आधार पर सन् १९४६ में एक 'सार्वदेशिक संघ' स्थापित कर दिया गया है, जिसका प्रधान कार्यालय बंबई में है; परन्तु यह केवल तालिकाबद्ध बैंकों के लिए है। इम्पीरियल बैंक को छोड़कर लगभग सभी तालिकाबद्ध बैंक इसके सदस्य हैं। मुद्रा-मंडी के विकास के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो देश में समस्त प्रकार के बैंकों तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाओं को एक पाश में बांधकर बिलों का प्रचार बढ़ावे तथा उनमें सहयोग स्थापित करके उन्हें आवश्यक प्रतियोगिता से बचाती रहे।

सारांश

मुद्रामण्डी उस स्थान को कहते हैं जहां राशि उधार देनेवाले तथा राशि उधार लेनेवाले परस्पर मिलते हैं। यह वह संगठन होता है जिसके द्वारा देश में पूंजी तथा साख की प्रदाय होती है। मुद्रामण्डी की कुशलता तथा सुसंगठन इस बात से आंकी जाती है कि देश के व्यवसायियों को उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजी पर्याप्त मात्रा में तथा उचित ब्याज-दर पर मिल जाती है अथवा नहीं। मुद्रामण्डी की प्रमुख क्रिया समाज के भिन्न-भिन्न अंगों को यथोचित मात्रा में आवश्यक साख-सुविधाएं प्राप्त कराना होता है। इसके द्वारा देश की धन-राशि ऐसे हाथों में पहुंचाई जाती है जो इसका अधिकाधिक प्रयोग कर सकें तथा जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि हो।

भारतीय मुद्रामण्डी को दो भागों में बांटा जा सकता है—(१) योरपीय तथा केन्द्रीय भाग जिसमें रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी विनिमय-बैंक सम्मिलित हैं; (२) भारतीय तथा स्थानीय भाग जिसमें साहूकार, स्वदेशी बैंकर, ऋण-कार्यालय, निधि, संयुक्त स्कंध बैंक तथा सहकारी बैंक सम्मिलित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ह। भारतीय मुद्रामण्डी के इन दोनों भागों में समीपी सम्पर्क नहीं है। साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर सदैव नियम से बाहर तथा स्वतंत्र रहे हैं।

मुद्रामण्डी में राशि उधार लेनेवाले हैं—सरकार, कृषक, उद्योगी वर्ग तथा सामान्य जनता; और राशि उधार देनेवाले हैं—बैंक, साहूकार, स्वदेशी बैंकर तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाएं।

भारतीय मुद्रामण्डी में दोष—(१) अस्त-व्यस्त कलेवर, (२) ऋण-प्रदायक राशि का अभाव, (३) लोच का अभाव, (४) ब्याज-दरों में भिन्नता तथा विषमता, (५) ऋण-प्रदायक संस्थाओं का अभाव, (६) बिल-बाजार का अभाव तथा देश में बिलों का सीमित प्रयोग।

बिल-बाजार में बिलों का कम प्रयोग होने के कई कारण हैं, जैसे—(१) भारतीय बैंकों द्वारा सरकारी सिक्यूरिटियों में विनियोग की प्रथा, (२) बिलों के स्वीकृतकर्त्ताओं की आर्थिक स्थिति का पता लगानेवाली विशिष्ट संस्थाओं का अभाव, (३) व्यापारिक बिलों को पहिचानने में कठिनाई, (४) बिलों पर मुद्रांक-कर की वसूली, (५) देश में बिलों की भाषा, लिपि तथा लेखन-पद्धति में भेद, (६) बैंकों द्वारा बिलों के प्रयोग में उदासीनता, (७) सरकार द्वारा कोष-बिलों का प्रयोग।

किसी भी देश में बिल-बाजार की उन्नति के बिकास के बिना बैंकिंग उन्नति संभव नहीं हो सकती—ऐसा जानकर केन्द्रीय बैंकिंग-जांच-कमेटी ने बिलों का प्रचार बढ़ाने के लिए अनेक सुझाव दिए थे जो इस प्रकार हैं—(१) केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलों की कटौती तथा पुनः कटौती की सुविधाएं, (२) अनुज्ञाधारी भाण्डार-गृहों की स्थापना, (३) व्यापारिक बिलों पर से मुद्रांक-कर की छूट, (४) बिल लिखने में प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग, (५) कृषि-बिलों का प्रयोग तथा बैंकों द्वारा कृषि-उपज पर लिखे गए बिलों की कटौती की सुविधाएं, (६) बैंकों द्वारा बिलों के प्रयोग और प्रचार में सहयोग तथा (७) देश में बैंक-स्वीकृति-बिलों का प्रयोग।

देश में बिलों का प्रयोग बढ़ाकर मुद्रामण्डी को उन्नत बनाने का एकमात्र दायित्व देश के केन्द्रीय बैंक पर होता है। अतः रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को चाहिए कि वह देश में बिलों की कटौती तथा पुनः कटौती की सुविधाएं देकर बिलों का प्रयोग बढ़ाव। देश में एक ऐसा बैंकिंग संघ हो जो देश भर की समस्त बैंकों तथा अन्य ऋण-प्रदायक संस्थाओं को सहयोग में रखकर मण्डी का संगठन करे। वैसे तो हमारे यहां १९४६ में एक बैंकिंग संघ बन चुका है पर उसमें केवल तालिका-बद्ध बैंक ही सदस्य हैं। इस संघ को और अधिक व्यापक बनाना चाहिए। ऐसी एक सिफारिश १९२९ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने भी की थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'मुद्रामण्डी' से आप क्या समझते हैं ? मुद्रामण्डी की कुशलता किन-किन बातों से जानी जा सकती है ? क्या वे गुण भारतीय मुद्रामण्डी में पाए जाते हैं ?

(२) भारतीय मुद्रामण्डी के विभिन्न अंग कौन-कौन से हैं ? इन अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध और सम्पर्क की चर्चा कीजिए।

(३) भारतीय मुद्रामण्डी में कौन-कौन से प्रमुख दोष पाए जाते हैं ? इन दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ? क्या ऐसे प्रयत्न हमारे देश में कभी किए गए हैं ? उनका क्या परिणाम हुआ है ?

(४) हमारे देश में बिलों का अधिक प्रयोग एवं प्रसार न होने का क्या कारण है ? इन कारणों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

(५) देश की मुद्रामंडी में बिलों का प्रचार बढ़ाने के लिए रिजर्व बैंक क्या सहायता कर सकता है ? इस पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

(६) भारत की बिलमण्डी को विकसित बनाने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने क्या-क्या सुझाव दिए थे ? उन सुझावों का क्या परिणाम निकला ?

(७) "किसी देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति उस देश की संगठित मुद्रामण्डी पर निर्भर होती है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३१

स्वदेशी बैंकर

बताया जा चुका है कि भारत में बैंकिंग व्यवसाय का श्रीगणेश स्वदेशी बैंकरों से आरम्भ होता है। 'स्वदेशी बैंकर' से हमारा तात्पर्य उन लोगों से है जो राशि जमा करते हैं, हुण्डियों का लेन-देन करते हैं तथा राशि उधार भी देते हैं। इन लोगों की क्रियाएं तथा कार्य-प्रणाली प्रान्त-प्रान्त में भिन्न-भिन्न हैं तथा ये लोग उत्पादन तथा उपभोग, दोनों कार्यों के लिए उधार देते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के अनुसार "स्वदेशी बैंकर इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया, विदेशी विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंकों को छोड़कर वे सभी लोग होते हैं जो हुण्डियों का व्यवसाय करते हों तथा जनता से राशि का लेन-देन करते हों।" इस परिभाषा के अनुसार एक सामान्य धनी व्यक्ति से लेकर बैंकिंग साझीदारी फर्म, कौटुम्बिक साझीदारी तथा व्यापारी बैंकर जिनकी शाखाएं भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती हैं तथा जो रुपया उधार देते हैं, स्वदेशी बैंकरों की श्रेणी में आ जाते हैं। डॉ० एल० सी० जैन के अनुसार "स्वदेशी बैंकर वे सभी लोग कहलाते हैं जो ऋण देने के साथ-साथ राशि भी जमा रखते हों या हुण्डियों का व्यवसाय करते हों अथवा दोनों ही काम करते हों।" संक्षेप में स्वदेशी बैंकर उन्हीं लोगों को कहते हैं जो हुण्डी का व्यवसाय करते हों, राशि जमा रखते हों एवं रुपया उधार देते हों। साधारणतः ये लोग बैंकिंग तथा व्यापार दोनों ही काम करते हैं और बैंकिंग तथा अन्य प्रकार के व्यवसाय में लगी हुई इनकी पूंजी में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों क्रियाओं के कारण इनको प्रान्त-प्रान्त में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इनको सामान्यतः साहूकार, बनिया, चेट्टी, नानावती, महाजन तथा श्राफ नामों से पुकारा जाता है। स्वदेशी बैंकिंग व्यवसाय एक पारिवारिक व्यवसाय है और समाज में कुछ लोगों का तो यह एक पुस्तैनी काम चला आता है। ये लोग अपने लेखे जनता को नहीं दिखाते। इनके लेन-देन के ढंग गुप्त रहते हैं तथा इनकी ब्याज-दर बहुत ऊंची रहती है। वर्तमान काल में देश के सामाजिक तथा आर्थिक संगठन में इनका विशेष स्थान है क्योंकि ये लोग कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए, देशी व्यापार की सुविधाओं के लिए तथा छोटे-छोटे उद्योगों के लिए भी राशि उधार देते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऋण प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। स्वदेशी बैंकर की क्रियाएं इस प्रकार हाती हैं :—

ऋण देना—इनका प्रमुख व्यवसाय राशि उधार देना होता है। ये अधिकतर व्यापारिक तथा कृषि-कार्यों के लिए ऋण देते हैं परन्तु कभी कभी उपभोग के लिए भी राशि उधार देते हैं। इसलिए ऐसे ऋणों पर वह अच्छी और मजबूत जमानत रखते हैं। ऋणों पर ये बैंकर बैंकों की अपेक्षा अधिक ब्याज-दर वसूल करते हैं। सुरक्षित ऋणों पर इनकी ब्याज-दर ६% से १८% होती है तथा विना जमानती अथवा असुरक्षित ऋणों पर ब्याज की दर अधिक ऊंची होती है जो प्रायः २०% से ५०% तक होती है। इनकी ऋण देने की रीति बिल्कुल भिन्न होती है जिसको हम अत्यन्त सरल और सुविधाजनक कह सकते हैं। ये लोग केवल प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाकर ही रुपया उधार दे देते हैं। अधिक राशि उधार देते समय इस प्रतिज्ञा-पत्र पर दो गवाहों के दस्तखत भी लिए जाते हैं। प्रतिज्ञा-पत्र न लिखवाकर कभी-कभी केवल एक साधारण पर्चा (जिसे वे रुक्का कहते हैं) लिखवा लिया जाता है। कुछ बैंकर कानूनन एक पक्का कागज लिखाते हैं जिस पर सरकारी टिकट लगाई जाती है तथा उस पर ऋण लेने-देने की शर्तें, ब्याज-दर, ऋण भुगतान करने की अवधि आदि अन्य आवश्यक बातें भी लिखी जाती हैं। कुछ बैंकर किसी भी प्रकार का कागज न लिखाकर केवल अपनी वही में उधार लेनेवाले के दस्तखत या अंगूठा निशानी ले लेते हैं। भारी-भारी ऋण घर-मकान या भूमि जायदाद को गिरवी रखकर देते हैं जिसमें एक गिरवी-पत्र (Mortgage Bond) लिखा जाता है। इस पत्र को कानून की दृष्टि में रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्टर कराना आवश्यक होता है।

राशि जमा रखना—बैंकर जनता से राशि जमा करते हैं एवं जमा-राशि पर ब्याज भी देते हैं। जमा-राशि पर इनकी ब्याज-दर सहकारी तथा अन्य संयुक्त स्कंध बैंक की दरों से अधिक होती है, जो प्रायः ३% से ९% तक होती है। बैंकर सदैव ही राशि जमा नहीं रखता परन्तु वे लोग जिनके पास जीवन-रक्षा के साधन नहीं होते अपनी छोटी-छोटी जमा इनके पास सुरक्षा के लिए रख जाते हैं। राशि जमा रखना बैंकर भारी खतरे की बात समझते हैं। यदि कभी राशि जमा भी रखते हैं तो अपने मित्रों की रखते हैं, व्यापारियों की नहीं, क्योंकि वे समझते हैं कि व्यापारियों को राशि की कभी भी आवश्यकता हो सकती है और तब वे खतरे में पड़ जाते हैं।

जो लोग इनके पास राशि जमा करते हैं उनके नाम से राशि उनके लेखों में जमा कर ली जाती है। कभी-कभी कोई बैंकर इस जमा-राशि के बदले रसीद दे देते हैं परन्तु प्रायः ऐसा नहीं किया जाता। यह जमा-राशि नकद के रूप में ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निकाली जाती है, चेक द्वारा नहीं। कोई कोई बैंकर चेक भी चालू करते हैं परन्तु इनका चलन सीमित रहता है।

व्यापारिक बिलों का लेन-देन—बैंकर व्यवसायियों तथा व्यापारिक बैंकों के बीच मध्यस्थ का काम भी करते हैं। ये लोग व्यवसायियों से व्यापारिक बिल ऊंची कटौती-दर पर खरीद लेते हैं और जब इनके पास राशि की कमी होती है तो ये उन बिलों की व्यापारिक बैंकों द्वारा कटौती करा लेते हैं। बम्बई के मुलतानी बैंकरों का तो यह कटौती-व्यवसाय ही प्रमुख व्यापार है जिससे वे लाखों रुपया कमाते हैं। बैंकर हुण्डियों के व्यापार में हुण्डी लिखते हैं और उनकी कटौती करते हैं। ये हुण्डियों का क्रय-विक्रय एवं कटौती भी करते हैं।

कृषि-ऋण—व्यापारिक ऋण के साथ-साथ बैंकर कृषि के लिए भी ऋण देते हैं परन्तु कृषकों से बैंकर प्रायः सीधा सम्पर्क नहीं रखते। इन लोगों को वे साहूकारों तथा छोटे-छोटे व्यापारियों द्वारा सहायता देते हैं। छोटे-छोटे उद्योगियों से इनका सीधा सम्बन्ध होता है। उद्योगियों को ये राशि उधार देते हैं, उनकी राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाते हैं, उनकी हुण्डियों की कटौती करते हैं तथा उनकी राशि भी जमा करते हैं। कृषि के लिए कितना ऋण ये देते हैं इसके कोई भी निश्चित आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु फिर भी जितना ऋण कृषि को मिलता है उसका ९०% इनके द्वारा ही प्राप्त होता है।

अन्य व्यापार—बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त स्वदेशी बैंकर व्यापार करते हैं, दूकानदारी करते हैं, जमीन खरीद लेते हैं और कमीशन तथा सट्टे का व्यापार भी करते हैं। ये गिरवी रखकर भी राशि उधार देते हैं जिससे इन्हें प्रायः मुकदमेबाजी का सामना भी करना पड़ता है। कानपुर में तो ये लोग रूई, अनाज, आटा तथा अन्य ऐसी ही वस्तुओं का व्यापार करते हैं। कुछ लोग चीनी के कारखानों तथा आटे की मिलों के मालिक भी हैं। बंबई की तरफ ये लोग रूई का व्यापार तथा कम्पनियों के अंशों का सट्टा करते हैं।

स्वदेशी बैंकरों की वर्तमान अवस्था

स्वदेशी बैंकरों का कोई नियमित संगठन नहीं है तथा ये लोग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना व्यापार करते हैं परन्तु आजकल कुछ शहरों में इन लोगों ने अपने-अपने संघ और संगठन बना लिए हैं जिनका स्वरूप विशेषतः सामाजिक है, व्यापारिक नहीं; जैसे बम्बई में मारवाड़ी चेम्बर ऑव कामर्स, मुलतानी तथा शिकारपुरी बैंकिंग संघ, श्राफ संघ आदि। ये संघ व्यापार की दृष्टि से कोई भी प्रगति करने का अथवा सुविधाएं देने का प्रयत्न नहीं करते, न ये बैंकिंग व्यापार की समुचित शिक्षा का ही कोई प्रबन्ध करते हैं। इनका व्यापार परम्परागत एवं पारिवारिक होता है जिससे इनको इस व्यापार की शिक्षा घर बैठे ही दैनिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यवहारों से मिल जाती है। इनका संगठन दोषपूर्ण होते हुए भी ये लोग ९०% ग्रामीण एवं व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं क्योंकि इनका ग्रामीण परिस्थिति एवं आवश्यकताओं का अध्ययन पूर्ण होता है। कुछ वर्षों से सहकारी आन्दोलन तथा व्यापारिक बैंकों के विकास के कारण स्वदेशी बैंकरों की अवस्था आज पहले जैसी नहीं रही है। उनकी ब्याज-दर भी कम हो गई है तथा उनके पास जमा की जानेवाली राशि में भी भारी कमी हुई है। कुछ प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों का भी विचार है कि आजकल स्वदेशी बैंकरों की बैंकिंग क्रियाएं कम होती जा रही हैं। उनके विचार से इसके निम्न कारण हैं :—

(१) सहकारी बैंक, संयुक्त स्कंध बैंक तथा इम्पीरियल बैंक इनके कट्टर प्रतियोगी बन गए हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने में ये बैंकर इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता नहीं कर पाते क्योंकि इम्पीरियल बैंक के पास राशि भेजने-मंगाने की विशेष सुविधाएं हैं। सहकारी बैंक भी सरकार की विशेष सहायता होने से जनता के विश्वासपात्र हो गए हैं और इसलिए उनके पास बैंकरों की अपेक्षा अधिक राशि जमा होती है। संयुक्त स्कंध बैंकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। अतः बैंकरों की आवश्यकता लोगों को पहले की अपेक्षा कम होती जा रही है।

(२) देश के व्यापार में वृद्धि होती जा रही है इसलिए बैंकर व्यापार करने लगे हैं और उनकी बैंकिंग क्रियाएं कम होती जा रही हैं।

(३) सट्टे में उन्होंने पिछले दिनों में अधिक लाभ कमाए हैं। इसलिए वे अधिकतर सट्टे का काम करने लगे हैं और बैंकिंग व्यवसाय छोड़ते जा रहे हैं।

(४) आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को अपनाने की अरुचि जो इन बैंकरों में है उसकी वजह से भी इनका व्यापार कम हो रहा है। स्वदेशी बैंकरों की कार्य-शैली पुरानी होती जा रही है और देश में नए-नए बैंकों का जन्म और विकास होने के कारण बैंकर पीछे होते जा रहे हैं। कुछ बैंकरों ने तो अपनी पुरानी बैंकिंग क्रियाओं को छोड़कर नया बैंकिंग व्यवसाय अपना लिया है। वे पास-बुक (Pass Book) व चेक-बुक (Cheque Book) भी ग्राहकों को देने लगे हैं। उनके पास जमा राशि अब चेकों द्वारा निकाली जाती है। ये लोग लेखों में रुपया जमा करने लगे हैं। इस प्रकार से अब कुछ बैंकरों ने बैंकों का रूप धारण कर लिया है। मद्रास में बैंक ऑव चेट्टीनाड लि० १९२९ में अनेक चेट्टी बैंकरों ने मिलकर बनाया था जो मद्रास से बाहर भी शाखाएं स्थापित करके लेन-देन का काम करता है।

बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध

बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। कुछ बैंकर जिनके नाम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यापारिक बैंकों या इम्पीरियल बैंक की स्वीकृत सूची में हैं, इन बैंकों से आवश्यकता आने पर रुपया उधार लेते हैं, मांग-प्रतिज्ञा-पत्रों की उनसे कटौती करा लेते हैं तथा हुण्डियों की कटौती भी कराते हैं। परन्तु ये सब सुविधाएं उनको सीमित मात्रा में ही मिलती हैं और यह सीमा भिन्न-भिन्न बैंकरों के साथ भिन्न-भिन्न होती है। व्यापारिक बैंक बैंकरों के नाम के चेक तथा उनके नाम के रेखांकित चेक भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि बैंकों को उन बैंकरों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। इम्पीरियल बैंक इन बैंकरों के लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजता है परन्तु इनको व्यापारिक बैंक की भांति विशेष सुविधाएं नहीं दी जातीं क्योंकि इनका व्यापार बैंकों की अपेक्षा बहुत कम होता है। बैंकों की ब्याज-दर तथा बैंकरों की ब्याज-दर में बड़ा अन्तर रहता है। बैंकरों का न इन बैंकों से कोई सीधा सम्बन्ध है और न रिजर्व बैंक ने ही इन्हें नियंत्रित किया है। परन्तु जब तक देश की मुद्रा-मंडी के ये दोनों अंग पारस्परिक सम्पर्क में नहीं आयेंगे तब तक देश की साख-व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती। इम्पीरियल बैंक भी इन बैंकरों को कोई विशेष सुविधा नहीं देता। बंगाल बैंकिंग जांच कमेटी ने स्पष्ट किया है कि "इम्पीरियल बैंक कभी कभी बैंकरों की हुण्डियों की कटौती भी नहीं करता। यह ठीक है कि बैंकों तथा बैंकरों में आवश्यक सम्पर्क नहीं परन्तु इसका कारण बैंकों का दोष नहीं। बैंकरों की कार्य-शैली तथा क्रियाओं में कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण उनको बैंकों द्वारा विशेष सुविधाएं नहीं मिलतीं।"

बैंकर प्रणाली के कुछ दोष

स्वदेशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली में अनेक ऐसे दोष हैं जिनके कारण न तो वे आधुनिक बैंकों की भांति कार्य कर सके और न उनके साथ मिलकर ही कार्य कर सके। उन्होंने उद्योगों को तो पर्याप्त मात्रा में साख-सुविधाएं नहीं दीं ही, पर व्यापार को भी अधिक उन्नत नहीं किया; वे स्वयं सट्टेखोरी में लगे रहे जो काम एक बैंकर को कभी नहीं करना चाहिए। उनकी कार्य-प्रणाली में विशेष दोष निम्न हैं :—

(१) जनता से राशि जमा करने की प्रथा को बैंकरों ने अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया जैसा कि आधुनिक बैंक करते हैं। इससे जनता में बचत की आदत नहीं पड़ी और देश की संचित एवं निष्क्रिय राशि उत्पादन के काम में न लाई जा सकी। वे अपनी निजी राशि से ही लेन-देन करते रहे जिससे उनकी ब्याज-दर ऊंची रही तथा उनके लेन-देन के व्यवसाय में भी अनेक दोष आ गए।

(२) बैंकर अपनी पुरानी रीति से ही व्यापार करते रहे। न उन्होंने ठीक-ठीक लेखे बनाए, न उनको जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित किया और न जनमत को ही अपने पक्ष में बनाया। उनका काम पुस्तैनी रहा इसलिए वे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आधुनिक कार्य-शैली को न अपना सके जिससे वे संगठित होकर अन्य बैंकों के साथ काम करते ।

(३) बैंकरों तथा बैंकों में पारस्परिक सम्पर्क भी नहीं है, बल्कि ये एक दूसरे के प्रतियोगी बन बैठे हैं जिसकी वजह से देश की मुद्रा-मंडी के दो अंग हो गए हैं जहां भिन्न-भिन्न ब्याज-दरें हैं तथा भिन्न-भिन्न लेन-देन की रीतियां हैं। बैंकर अकेले-अकेले काम करते हैं, केन्द्रीय बैंक का उन पर कोई नियंत्रण नहीं जिससे शक्ति संचय करके काम किया जा सके।

(४) स्वदेशी बैंकरों ने पूंजी को नए-नए साधनों में विनियोग करने के उपाय नहीं सोचे जिससे वे पूंजीपति मात्र ही बने रहे, बैंकर न बन पाए क्योंकि बैंक का प्रमुख उद्देश्य पूंजी को केवल विनियोग करना ही नहीं वरन् विनियोग के नए-नए सुरक्षित साधन तलाश करना भी है—जिससे साख का आवश्कतानुसार प्रसार एवं सकुंचन हो सके।

(५) बैंकरों ने बैंकिंग क्रियाओं एवं कार्य-शैली का पालन नहीं किया क्योंकि वे बैंकिंग व्यापार के साथ-साथ अन्य व्यापार एवं सट्टेबाजी का व्यवसाय भी करते रहे। इससे उनको किसी भी प्रकार की हानि होने की दशा में उन्हीं को हानि न हुई, इसके अतिरिक्त उनके पास जिन लोगों की राशि जमा थी उनको भी हानि उठानी पड़ी जिसकी वजह से जनता में उनके प्रति अविश्वास हो गया।

किसी भी बैंकिंग व्यवस्था की सफलता तीन बातों पर निर्भर होती है—(१) स्थायित्व, (२) परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तिता, (३) नवीन साधनों को जन्म देने की सामर्थ्य। स्थायित्व से तात्पर्य है कि बैंक अपने को बाह्य खतरों से सुरक्षित रखे और वह सुरक्षित तभी रह सकता है जब कि असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए अपने लाभ में से संचित कोष बनाकर रक्खे। इसी के साथ-साथ बैंकों को व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यापार को घटाने-बढ़ाने का ज्ञान भी होना चाहिए और अपनी पूंजी से महत्तम लाभ लेने के लिए नए-नए साधनों को खोज लेने की शक्ति भी होनी चाहिए। स्वदेशी बैंकरों में केवल पहली ही बात पाई जाती है—उनमें असाधारण परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति तो होती है परन्तु परिस्थिति के अनुसार बदलने तथा नवीन साधनों और स्रोतों को खोज निकालने की सामर्थ्य नहीं होती।

बैंकर उन्नत कैसे हों ?

स्वदेशी बैंकरों के उक्त दोषों को दूर करने के लिए तथा देश की बैंकिंग व्यवस्था में उनको अधिक उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न सुझाव रखे गए हैं। प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों ने, केन्द्रीय जांच कमेटी ने तथा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रिजर्व बैंक ने समय-समय पर सुझाव दिए हैं। यहां हम उन सभी सुझावों का अध्ययन करेंगे।

प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटियों के प्रस्ताव—(१) स्वदेशी बैंकरों को स्थान-स्थान पर रिजर्व बैंक का एजेंट बना देना चाहिए तथा उन्हें सट्टे के खतरे से बचाने के लिए उन पर सट्टा करने का प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(२) इम्पीरियल बैंक तथा व्यापारिक बैंकों को स्वदेशी बैंकरों के व्यापारिक बिल तथा हुण्डियां पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कटौती करने चाहिएं।

(३) स्वदेशी बैंकरों को चाहिए कि वे जनता में अपने प्रति विश्वास पैदा करने के लिए अपना संगठन आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के आधार पर करें। इस काम के लिए यह आवश्यक है कि अपना अन्य व्यवसाय अलग करदें और अपने लेखे भी आधुनिक प्रणाली के अनुसार बनावें जिनका निरीक्षण करने का अधिकार रिजर्व बैंक को हो।

(४) रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह कुछ प्रतिबन्धों के साथ कुछ बैंकरों को अपना सदस्य बना ले। इन सदस्य बैंकरों को कुछ विशेष अधिकार तथा दायित्व दे दिया जाय। ये सदस्य रिजर्व बैंक में अपने कोष का कुछ भाग जमा करें तथा इसके बदले में उन्हें रिजर्व बैंक से बिलों की कटौती करने का अधिकार दिया जाय।

(५) यदि आवश्यकता हो तो रिजर्व बैंक इन बैंकरों को अनुज्ञापत्र देकर अपना सदस्य बनावे और उन्हें अनुज्ञाधारी बैंकरों के अधिकार दे दिए जायं।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के प्रस्ताव—केन्द्रीय कमेटी के सामने बैंकरों को उन्नत करने के अनेक प्रस्ताव आए। कमेटी के सदस्य इस पक्ष में न थे कि बैंकरों को जबरदस्ती नियंत्रण में लाया जाय। उनका विचार था कि इस प्रकार बैंकरों को असुविधा होगी और सम्भव है कि वे फिर इस कार्य को बिल्कुल न करें जिससे देश को—विशेषतः ग्रामीण एवं कृषि-साख को—भयंकर हानि होने की संभावना हो सकती है। इसलिए कमेटी ने निम्न मुख्य प्रस्ताव किए :—

(१) रिजर्व बैंक को इन बैंकरों के लिए कटौती की सुविधाएं देनी चाहिए। ये सुविधाएं ऐसी ही हों जैसी दूसरे बैंकों को दी जाती हैं। कटौती की सुविधा रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बैंकरों को दे जो केवल बैंकिंग क्रियाएं ही करते हों, जो लेन-देन का पूरा-पूरा हिसाब रक्खें व अपनी लेखा-पुस्तकों का विशेषज्ञों द्वारा निरीक्षण करावें और जिनकी लेखा-पुस्तकें रिजर्व बैंक भी देख सके।

(२) रिजर्व बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक इन बैंकरों को स्थान-स्थान पर चेकों का तथा बिलों का संग्रहण करने के लिए अपना एजेन्ट बना लें जिससे इन बैंकरों का मुद्रा-मंडी में स्थान बढ़ जाय।

(३) स्वदेशी बैंकर, जो अन्य कोई भी व्यापार नहीं करते, उनसे रिजर्व बैंक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करे तथा उनका नाम 'स्वदेशी बैंकरों की मान्य सूची' में लिखा जाय और उन्हें बिल लिखने की सुविधाएं दी जायं ।

(४) स्वदेशी बैंकर अपने लेखा रखने की विधि में तथा उनके अंकेक्षण की विधि में विशेष सुधार करें तथा चेकों के उपयोग को बढ़ावें ।

(५) जहां तक हो सके वहां तक स्वदेशी बैंकर एवं अन्य बैंकों का एकीकरण किया जाय ।

(६) स्वदेशी बैंकर मिलकर अपना सहकारी बैंकिंग संघ स्थापित करें जो अपने सदस्यों के बिलों की कटौती करें तथा उनकी पुनःकटौती की सुविधाएं रिजर्व बैंक द्वारा उन्हें प्राप्त करावें ।

(७) जो बैंकर रिजर्व बैंक के सदस्य हों वे रिजर्व बैंक में अपने कोष की कुछ राशि जमा करें परन्तु जिन बैंकरों की जमा-राशि उनकी पूंजी से पांच गुना अधिक न हो वे यदि चाहें तो रिजर्व बैंक में पहिले पांच वर्ष तक राशि जमा न भी करें । इस प्रस्ताव का उद्देश्य यही था कि इस प्रकार से रिजर्व बैंक देश की साख-व्यवस्था को भली प्रकार नियंत्रित कर सकेगा ।

(८) एक 'सार्वदेशिक बैंकिंग संघ' स्थापित किया जाय जिसमें रिजर्व बैंक के सदस्य-बैंकरों को भी सदस्य बनाया जाय । इससे देश की सभी बैंकिंग संस्थाएं पारस्परिक सम्पर्क में आएंगी तथा बैंकरों का स्थान भी ऊंचा होगा ।

कमेटी के कुछ सदस्यों ने अल्पमत में सुझाव दिया कि रिजर्व बैंक निश्चित शर्तों पर बैंकरों को रजिस्टर करे तथा उसके बदले में उनको वे सब सुविधाएं दे जो सुविधाएं अन्य व्यापारिक बैंकों को तथा सहकारी बैंकों को दी जाती हैं। रिजर्व बैंक रजिस्टर्ड बैंकों की राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे तथा उनको बिलों की कटौती की भी सभी सुविधाएं दे ।

रिजर्व बैंक के प्रस्ताव एवं प्रयत्न

उक्त प्रस्तावों के आधार पर रिजर्व बैंक ने बैंकरों को भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में उपयोगी विभाग बनाने के लिए अनेक प्रस्ताव रक्खे जिनमें से मुख्य प्रस्ताव निम्न हैं :—

(१) बैंकर निश्चित अवधि के अन्दर अन्दर अपने बैंकिंग व्यवसाय को अन्य व्यवसाय से अलग कर लें । ऐसा करने पर ही रिजर्व बैंक उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करेगा ।

(२) बैंकरों को अपने व्यापार का कार्य एवं प्रणाली संयुक्त स्कंध बैंकों जैसी ही रखनी चाहिए; विशेषतः इनको राशि जमा करने के व्यवसाय में वृद्धि करनी चाहिए ।

(३) जिन बैंकरों की पूंजी २ लाख रुपये है वे उसे पांच वर्ष के अन्दर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

५ लाख रुपये करने पर रिजर्व बैंक की सदस्य-सूची में सम्मिलित होने के लिए आवेदन भेज सकते हैं ।

(४) यदि उनकी जमा-राशि उनकी पूंजी से ५ गुनी हो जाती है तो उन्हें अपनी जमा-राशि का कुछ अंश रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ेगा।

(५) उनको अपनी लेखा-पुस्तकें भली भांति रखकर विशेषज्ञों से निरीक्षण कराना चाहिए तथा रिजर्व बैंक भी उनका निरीक्षण किया करेगा।

(६) बैंकरों को अन्य तालिकाबद्ध बैंकों की भांति अपने कार्यों का स्थिति-विवरण समय समय पर रिजर्व बैंक के पास भेजना चाहिए तथा प्रकाशित भी करना चाहिए ।

उपरोक्त प्रस्तावों की पूर्ति के पश्चात् ही बैंकर रिजर्व बैंक से मान्य हो सकते थे, एवं सरकारी सिक्यूरिटियों के आधार पर ऋण प्राप्त कर सकते थे तथा उन्हें तालिकाबद्ध बैंकों की भांति राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं भी दी जा सकती थीं ।

यद्यपि बैंक ने इन बैंकरों को निमयबद्ध करके अपने में मिलाने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिल सकी। बैंकरों के हित में, देश की साख-व्यवस्था के हित में तथा बैंकिंग संगठन के हित में भी यह अनिवार्य है कि बैंकरों को किसी भी प्रकार कानून से या मेल से नियमबद्ध किया जाय ।

केवल दो उपाय ?

मुद्रा-मण्डी के इस अस्त-व्यस्त अंग अर्थात् बैंकरों की दोषपूर्ण व्यवस्था से छुटकारा पाने के केवल दो ही उपाय हैं :—

(१) इन्हें अन्य बैंकों की भांति संगठित किया जाय । संगठित करने के दो साधन हैं—कानून बनाकर इन्हें उसमें फंसा दिया जाय परन्तु यह तरीका सफल नहीं हो सकता। बैंकरों की कार्य-प्रणाली ही ऐसी है जिससे इनको कानून में तब तक नहीं बांध सकते जब तक ये खुद ही न चाहें। प्रयत्न किए गए परन्तु सफल न हो सके। दूसरा तरीका इन्हें सम्मेल से बांधने का भी है। रिजर्व बैंक इनसे मेल करे और राजीनामा (सम्मेल-पत्र) द्वारा इनकी कार्य-शैली निर्धारित की जाय ।

(२) देश की बैंकिंग व्यवस्था इतनी पूर्ण, व्यवस्थित तथा संगठित कर दी जाय जिससे लोगों की सभी आवश्यकताएं सरलता से पूर्ण हो सकें और बैंकरों की आवश्यकता ही न हो।

कोई भी उपाय काम में लाया जाय, बैंकरों को नियंत्रित करने की परम आवश्यकता है क्योंकि इनको नियमबद्ध किए बिना देश की बैंकिंग व्यवस्था पूर्ण एवं संगठित नहीं हो सकती और न रिजर्व बैंक देश के साख-नियंत्रण में ही सफल हो सकता है। राष्ट्रीय सरकार ने देशभर के गांवों को कोषागारों की सुविधाओं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का प्रबन्ध करने के लिए जो 'ग्रामीण बैंकिंग प्रसार समिति' बनाई उससे यह स्पष्ट होता था कि या तो इन अस्त-व्यस्त बैंकरों को भविष्य में नियमबद्ध होना पड़ेगा अथवा इनको देश के बैंकिंग क्षेत्र में से बिल्कुल निकाल दिया जायगा। समिति की रिपोर्ट पर अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि देश के बैंकिंग कलेवर को संगठित बनाया जाय और गांवों में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ाई जायं। यदि ऐसा हुआ तो स्वदेशी बैंकरों के दोषपूर्ण लेन-देन से छुटकारा मिल सकेगा।

सारांश

भारत में बैंकिंग व्यवसाय का श्रीगणेश महाजनों और स्वदेशी बैंकरों से आरम्भ हुआ है। स्वदेशी बैंकर वे लोग होते हैं जो जनता की राशि जमा करते, हुण्डियों का लेन-देन करते तथा लोगों को राशि उधार भी देते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी के अनुसार स्वदेशी बैंकर, इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया, विदेशी विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंकों को छोड़कर वे सभी लोग होते हैं जो हुण्डियों का व्यवसाय करते हों तथा जनता से राशि का लेन-देन करते हों। डाक्टर एल० सी० जैन के अनुसार स्वदेशी बैंकर वे सभी लोग कहलाते हैं जो ऋण देने के साथ-साथ राशि जमा रखते हों या हुंडियों का व्यवसाय करते हों। सामान्यतः ये लोग बैंकिंग व्यवसाय तथा व्यापार दोनों ही काम करते हैं और बैंकिंग तथा अन्य व्यापार में लगी हुई इनकी पूंजी में कोई भेद नहीं होता। देश के विभिन्न भागों में इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे, साहूकार, बनिया, चेट्टी, नानावती, महाजन, शाफ आदि। इनके लेन-देन के ढंग गुप्त होते हैं तथा इनकी ब्याज-दर ऊंची होती है।

साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर अलग-अलग व्यक्ति होते हैं और इनकी कार्य-प्रणाली में भी भेद होता है। इन दोनों में इस प्रकार भेद होता है :— (१) साहूकार लोगों से राशि जमा नहीं रखते और न वे हुण्डियों का व्यवसाय ही करते हैं पर बैंकर लोगों से राशि जमा करते, उन्हें ऋण देते तथा हुण्डियों का लेन-देन भी करते हैं; (२) साहूकारों का प्रमुख कार्य व्यापार करना है तथा बैंकिंग व्यवसाय उनका सहायक धंधा माना जाता है पर बैंकरों का मुख्य व्यवसाय बैंकिंग लेन-देन और अन्य व्यापार सहायक धंधा होता है; (३) साहूकार अपने निजी धन से ऋण देता है किन्तु स्वदेशी बैंकर जनता से स्वीकृत जमा-राशि तथा निजी धन—दोनों को ऋण देने के प्रयोग में लाते हैं; (४) साहूकार उत्पादन की अपेक्षा उपभोग संबंधी कार्यों को अधिक ऋण देते हैं पर बैंकर विशेष रूप से व्यापार तथा अन्य छोटे उद्योगों को ऋण देते हैं; (५) साहूकार बिना जमानत तथा बन्धक के ऋण देते हैं पर बैंकर सामान्यतः बिना बन्धक के ऋण स्वीकार नहीं करते।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वदेशी बैंकरों तथा संयुक्त स्कंध बैंकों में भी भेद होता है :—(१) बैंक कानून द्वारा बनते तथा संचालित होते हैं पर बैंकरों पर कानून संबंधी कोई नियंत्रण नहीं होता; (२) बैंक चेकों की सुविधा देते हैं पर बैंकरों में यह चलन नहीं है; (३) बैंक अपनी अंश-पूंजी तथा जमा-राशि में से ऋण देते हैं पर बैंकर विशेषतः अपनी पूंजी में से ही ऋण देते हैं क्योंकि उनकी जमा-राशि बहुत अधिक नहीं होती; (४) बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ इतना समीपी सम्बन्ध नहीं होता जितना बैंकरों का अपने ग्राहकों के साथ होता है; (५) बैंक प्रायः अल्पकालीन ऋण देते हैं पर बैंकर मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण भी स्वीकृत करते हैं; (६) बैंकर राशि के लेन-देन के साथ अन्य व्यापार भी करते हैं पर बैंक कोई भी अन्य व्यापार नहीं कर सकते; (७) बैंकरों की कार्यशैली गुप्त होती है तथा वे ब्याज-दर ऊंची रखते हैं पर बैंकों की ब्याज-दर नीची तथा कार्यप्रणाली प्रकाशित होती रहती है, बैंक अपने स्थिति-विवरण जनता की सूचनार्थ प्रकाशित करते हैं; (८) बैंकर बिना जमानत के भी ऋण दे देते हैं, पर बैंक ऐसा नहीं करते ।

स्वदेशी बैंकरों की कार्यप्रणाली अत्यन्त सरल तथा साधारण होती है । न इनका कोई विशेष कार्यालय होता है और न इनके पास दस-बीस कर्मचारी होते हैं । ये राशि का लेन-देन अपने निवासस्थानों पर ही करते हैं । लेख आदि लिखने के लिए इनके मुनीम होते हैं । ऋण देते समय ये लोग ऋण-याचक से प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लेते हैं और कभी-कभी उस प्रतिज्ञा-पत्र पर दो गवाहों के हस्ताक्षर भी करा लेते हैं । कुछ बैंकर ऋण देने से पहिले ऋण-याचक से कानूनन एक पक्का कागज लिखाते हैं, जिस पर ऋण-राशि, ऋण देने की शर्तें, ब्याज-दर आदि बातें लिखी होती हैं । ऋणों पर ये लोग २० प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक ब्याज वसूल करते हैं । लोगों से राशि जमा करते समय ये बैंकर जमाकर्त्ताओं को रसीद देते हैं । कोई-कोई बैंकर जमाकर्त्ताओं को चेकों की सुविधा भी देते हैं । बैंकर व्यवसायियों तथा व्यापारिक बैंकों के बीच मध्यस्थ का काम भी करते हैं । ये लोग व्यवसायियों से व्यापारिक बिल ऊंची कटौती-दर पर खरीद लेते हैं और जब इनके पास राशि की कमी होती है तो उन बिलों की व्यापारिक बैंकों से कटौती करा लेते हैं । बैंकर प्रायः कृषि-कार्यों को ऋण देते हैं पर व्यापार तथा उपभोग को भी कभी-कभी ऋण स्वीकृत कर देते हैं । बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त ये व्यापार करते हैं, दूकानदारी करते हैं, भूमि का क्रय-विक्रय करते हैं तथा कमीशन और सट्टे का व्यापार भी करते हैं ।

बैंकरों का कोई नियमित संगठन नहीं है तथा ये लोग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना व्यापार करते हैं । कुछ वर्षों से सहकारी आन्दोलन तथा व्यापारिक बैंकों के विकास के कारण बैंकरों की स्थिति बिगड़ सी गई है । इनका बैंकिंग व्यवसाय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब कम होता जा रहा है । इसके कई कारण हैं :—(१) सहकारी बैंक, संयुक्त स्कंध बैंक तथा इम्पीरियल बैंक की इनके साथ प्रतियोगिता, (२) बैंकरों के बैंकिंग व्यवसाय में हानि, (३) बैंकरों का सट्टे के व्यापार के प्रति रुझान, (४) इनकी कार्यशैली की त्रुटियों के कारण जनता का इनमें अविश्वास ।

आजकल बैंकरों में कुछ ऐसे दोष आ गए हैं जिनके कारण इनका बैंकिंग में व्यवसाय कम होता जा रहा है । न इन्होंने आधुनिक बैंकों की प्रणाली ही अपनाई है और न अपने रीति-रिवाजों में कुछ उन्नति की है । बैंकरों में पारस्परिक सम्पर्क भी नहीं है । इनकी कार्यशैली पुरानी तथा दोषपूर्ण है जिससे इनके प्रति जनता का विश्वास उखड़ता जा रहा है । अब आवश्यकता इस बात की है कि इन बैंकरों को नियमबद्ध करके इस प्रणाली को उन्नत बनाया जाय। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटियों ने इस ओर अनेक सुझाव दिए थे । सबका कहना था कि इन बैंकरों को देश के केन्द्रीय बैंक के साथ सम्बद्ध कर देना चाहिए और इनका वही स्थान बना देना चाहिए जो केन्द्रीय बैंक के साथ अन्य बैंकों का होता है। इन सुझावों के अनुसार रिजर्व बैंक ने अनेक बार प्रयत्न किए कि किसी प्रकार ये बैंकर कानून में बंधकर उसके साथ सम्बद्ध हो जायं पर कोई सफलता नहीं मिली। यह निश्चित है कि जब तक इन्हें कानून द्वारा संचालित नहीं किया जायगा ये देश के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते। अब केवल दो उपाय शेष हैं—या तो इन्हें कानून से अथवा सम्मेल से रिजर्व बैंक के नियंत्रण में लाया जाय अथवा देश के बैंकिंग कलेवर को सुदृढ़ बनाकर इन्हें देश के बैंकिंग क्षेत्र से बाहर कर दिया जाय ।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'स्वदेशी बैंकर' से आपका क्या अर्थ है ? भारतीय मुद्रा-मण्डी में स्वदेशी बैंकरों का क्या स्थान है ? समझाकर लिखिए ।

(२) साहूकार तथा स्वदेशी बैंकर का भेद दर्शाते हुए समझाइए कि स्वदेशी बैंकर की कार्यशैली साहूकारों की कार्य-प्रणाली की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और स्पष्ट है।

(३) व्यापारिक बैंक तथा स्वदेशी बैंकरों में क्या भेद है ? स्वदेशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली की मुख्य-मुख्य बातों का विस्तृत उल्लेख कीजिए ।

(४) क्या कारण है कि महाजन लोग ऋण-याचकों से बहुत ऊंची दर पर ब्याज वसूल करते हैं ?

(५) स्वदेशी बैंकरों की वर्तमान स्थिति पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(६) बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों का पारस्परिक सम्बन्ध समझाते हुए बतलाइए कि बैंकों की तुलना में बैंकरों की कार्यशैली में क्या दोष है ?

(७) केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग-जांच कमेटियों ने स्वदेशी बैंकरों को उन्नत बनाने के बारे में जो सुझाव दिए उनका विश्लेषणात्मक उल्लेख कीजिए ।

(८) स्वदेशी बैंकरों को नियमबद्ध करने में रिजर्व बैंक ने क्या-क्या प्रस्ताव रक्खे और क्या-क्या प्रयत्न किए ? उनका उल्लेख कीजिए ।

(९) बैंकरों से देश को महत्तम लाभ प्राप्त करने के लिए क्या उपाय करने चाहिएं ? विस्तारपूर्वक समझाइए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३२

व्यापारिक बैंक

'व्यापारिक बैंक' उनको कहते हैं जो देश के व्यापार एवं उद्योगों की प्रगति के लिए अल्पकालीन ऋण देते हैं। व्यापारिक बैंक सामान्यतः अल्पकाल के लिए लोगों से राशि जमा करते हैं और फिर इस जमा-राशि को व्यापारियों के लिए उधार देते हैं। भारत में यह कार्य केवल व्यापारिक बैंकों तक ही सीमित नहीं है, इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक तथा अन्य स्वदेशीय बैंकर भी यह कार्य करते हैं। इनकी कार्यशील पूंजी का अधिकतर भाग, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, जनता से जमा-राशि के रूप में आता है और कुछ भाग अंश-पूंजी के रूप में भी प्राप्त होता है। भारत में रिजर्व बैंक तालिकाबद्ध बैंकों के साथ, जहां तक ऋणों के लेन-देन का सम्बन्ध है, व्यापारिक बैंक का कार्य करता है। व्यापारिक बैंकों को आजकल नोट-निर्गमन का अधिकार नहीं रहता। वे केवल अल्प-कालीन ऋण एवं साख की पूर्ति करते हैं।

व्यापारिक बैंकों की कार्य-प्रणाली

व्यापारिक बैंकों की तीन प्रमुख क्रियाएं होती हैं—

(१) जनता से जमा-राशि स्वीकार करना;

(२) साख-सृजन तथा ऋण-प्रदाय द्वारा जनता की वित्त-शक्ति का संचार करना; तथा

(३) अन्य कार्य, जैसे एजेंसी की सेवाएं अपने ग्राहकों को देना, ग्राहकों के वित्त की सुरक्षा के लिए सुविधाएं देना, आदि।

यहां केवल यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनका मुख्य कार्य लोगों से भिन्न-भिन्न प्रकार से जैसे स्थिर, चालू तथा बचत लेखों पर राशि जमा करना होता है। ये बैंक राशि उधार देकर, लेखा खोलकर तथा स्थानीय व देशी बिलों की कटौती करके लोगों की वित्त से सहायता करते हैं। बैंक उधार लेनेवालों के माल को अपने गोदामों में रखकर अथवा उन्हीं के गोदामों का अधिकार प्राप्त करके उस माल की साख पर भी उधार देते हैं। लगभग सभी व्यापारिक बैंक अल्पकालीन ऋण देते हैं। परन्तु ये ऋण तरल तथा शीघ्र भुनाए जानेवाली सिक्यूरिटियों पर दिए जाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऋण देने का कार्य व्यापारिक बैंक दो विधियों से करते हैं—एक, वे केवल ऋणयाचक की वैयक्तिक साख पर ऋण देते हैं तथा दूसरे, वे ऋणयाचक की वैयक्तिक साख के अतिरिक्त अन्य दो व्यक्तियों की जमानत पर तथा आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण देते हैं। जो ऋण आनुषंगिक तथा अन्य व्यक्तियों की जमानत के बिना दिए जाते हैं और जिनमें केवल ऋण-याचक की ही वैयक्तिक जमानत होती है उनको बिना जमानती ऋण कहते हैं। जिन ऋणों के लिए बैंक आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की जमानत रखता है उन्हें जमानती ऋण कहते हैं। हमारे देश में केवल ऋणयाचक की वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं दिए जाते। ऋणों की साख बैंक के कार्यक्षेत्र पर निर्भर रहती है। यदि किसी बन्दरगाह में बैंक-कार्यालय है तो उस स्थान का व्यवसाय विशेषतः विदेशी व्यापार का होगा। अतः ऐसे स्थानों पर व्यापारियों को जो ऋण दिए जाएंगे वे वस्तुओं की जमानत पर अथवा वस्तुओं के अधिकार-पत्रों आदि की साख पर दिए जाएंगे। परन्तु विदेशी व्यापार के लिए ऋणों की सुविधाएं देने का काम विदेशी विनिमय बैंक करते हैं तथा व्यापारिक बैंकों को वे सुविधाएं, जो विनिमय बैंकों को प्राप्त होती हैं, प्राप्त न होने से यह कार्य व्यापारिक बैंक पूर्ण रीति से नहीं कर पाते। केन्द्रीय बैंकिंग-जांच समिति ने कहा था कि "भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सुविधाएं देने में व्यापारिक बैंक कोई भी प्रत्यक्ष कार्य नहीं करते।" इससे यह स्पष्ट है कि व्यापारिक बैंक केवल देशी व्यापार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते हैं। जहां पर स्टाक एक्सचेंज का लेन-देन अधिक मात्रा में हो वहां पर व्यापारिक बैंक स्टाक एक्सचेंज की सिक्यूरिटियों की साख पर ऋण देते हैं। इसी प्रकार कृषि-व्यावसायिक क्षेत्र में, जहां पर इस प्रकार की जमानतें प्राप्त नहीं होतीं, वे कृषिजन्य वस्तुओं की साख पर ऋण देते हैं।

व्यापारिक बैंक केवल वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं देते। वैसे तो केवल उन ग्राहकों को, जिनकी साख में बैंक को पूर्ण विश्वास होता है उनके प्रतिज्ञा-अर्थ-पत्रों पर अथवा बिल एवं हुण्डियों पर ऋण मिल जाते हैं; परन्तु अपनी राशि की सुरक्षा के लिए बैंक अन्य दो साखदार व्यक्तियों की जमानत लेकर ऋण देते समय इन पत्रों पर उनके हस्ताक्षर करवा लेते हैं। इसके अतिरिक्त ये अधिविकर्ष एवं लेखा-आधार की भी सुविधाएं देते हैं जिसकी जमानत के लिए वे ग्राहकों से बंधक-अंश, ऋण-पत्र अथवा अन्य जमानतें ले लेते हैं। औद्योगिक आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति भी ये कभी-कभी करते हैं परन्तु औद्योगिक कार्यों को ऋण देने में ये बहुत ही कम हाथ बटाते हैं। इनकी जमा-राशि अल्पकालीन होने के कारण अल्पकालीन ऋणों की सुविधा देना इनके व्यापारिक स्वरूप के अनुसार आवश्यक होता है। यदि वे ऐसा न करें तो किसी भी समय उनकी आर्थिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति खतरे में हो सकती है जिससे उनको अपना व्यापार भी बन्द करना हो सकता है।

व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों की कटौती भी करते हैं। हमारे यहां बिल-बाजार विकसित न होने से यह कार्य सीमित एवं नगण्य परिमाण में ही होता है।

व्यापारिक बैंक कृषि को साख-सुविधाएं नहीं देते क्योंकि किसानों के पास जमानत आदि का अभाव रहता है तथा उनकी भुगतान-शक्ति भी अनेक कारणों से सीमित रहती है। अतः कृषि-साख स्वीकृत करने में व्यापारिक बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। हां, ये थोड़ी-सी साख-पूर्ति केवल कृषि-वस्तुओं के बेचने के सम्बन्ध में करते हैं जो विशेषतः स्वदेशी बैंकरों के अथवा सहकारी बैंकों के माध्यम से ही दी जाती है। कृषि-साख की पूर्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषिज वस्तुओं को बेचने के लिए मण्डियों में सुधार किया जाय क्योंकि देहातों में भांडागार की सुविधाएं बहुत ही अपर्याप्त हैं।

संक्षेप में, व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं में व्यापार के लिए राशि उधार देना, चल एवं स्थिर लेखों में राशि जमा रखना, बिलों द्वारा व्यापार एवं उद्योगों को आर्थिक सहायता देना तथा साख का निर्माण करना आदि इसी प्रकार के अन्य कार्यों का समावेश होता है।

व्यापारिक बैंकों को निम्न क्रियाएं निषिद्ध हैं :—

(१) ग्राहकों को व्यापार-संचालन के लिए स्थाई रूप से पूंजी देना,
(२) स्थायी ऋण स्वीकृत करना,
(३) एक ही ग्राहक को अधिक मात्रा में ऋण देना।

व्यापारिक बैंकों की प्रगति—व्यापारिक बैंकों की शाखाएं एवं कार्यक्षेत्र जनसंख्या की दृष्टि से अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम हैं। जो कुछ भी प्रगति दूसरे महायुद्ध-काल में हुई है वह केवल बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, अहमदाबाद में बैंकों के कार्यालय एवं शाखाएं मिलाकर क्रमशः ३९८, १९३, ९५, ९० तथा ५३ कार्यालय हैं तथा अन्य शहरों में बैंकों की शाखाएं या तो हैं ही नहीं अथवा जहां हैं वहां अपर्याप्त मात्रा में हैं। अब तो बैंक युद्ध के पश्चात् मंदी से बचने के लिए शाखाओं के विस्तार की ओर न देखते हुए अपना-अपना कार्यक्षेत्र ठोस बनाने में प्रयत्नशील हैं, जो भविष्य में किसी भी प्रकार के बैंकिंग संकट से बचने के लिए आवश्यक है।

व्यापारिक बैंकों की कार्य-शैली में त्रुटियां

भारतीय व्यापारिक बैंकों की उन्नति न होने के मुख्य कारण उनकी कार्य-शैली की अनेक त्रुटियां एवं बाह्य परिस्थितियां हैं। उनकी वजह से वे अपना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कार्यक्षेत्र उतना न बढ़ा सके जितना अन्य देशों के बैंकों ने बढ़ाया है। ये त्रुटियां निम्नलिखित हैं :—

(१) ये बैंक अधिकतर पूंजी का विनियोग सरकारी सिक्यूरिटियों के खरीदने में करते हैं जिससे व्यापारिक बिलों का अधिक प्रचार नहीं होने पाता।

(२) भारत में बैंक-स्वीकृति-बिलों (Bank Acceptances) का भी अभाव है। बैंक व्यापारियों को इस प्रकार की सुविधाएं नहीं देते। वे व्यापारियों को अधिक मात्रा में नकद ऋण की सुविधाएं देते हैं जिससे प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों का प्रचार नहीं हो पाता तथा इनकी राशि इस प्रकार के ऋणों में ही समाप्त हो जाती है। इससे बैंकिंग के विकास में भी बाधा आती है।

(३) भारतीय बैंक अपने ग्राहकों को किसी तीसरे व्यक्ति की जमानत के अथवा आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की जमानत के बिना ऋण नहीं देते जैसा कि पाश्चात्य देशों में होता है। इसकी वजह से भी इनकी प्रगति नहीं हो पाती। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में पाश्चात्य देशों की तरह सेड्स (Syeds), डून्स (Dunes) आदि संस्थाएं नहीं हैं जो बैंकों को उनके ग्राहकों की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान करा सकें।

(४) यहां पर 'एक व्यक्ति एक बैंक' (One man one bank) की प्रथा नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य देशों में पाया जाता है। इसकी वजह से बैंकों एवं ग्राहकों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं सम्पर्क में घनिष्ठता नहीं आती। योरपीय देशों में ग्राहक अपने बैंकों को अपनी आर्थिक स्थिति का पूरा विवरण समय-समय पर भेजते रहते हैं जिससे बैंक उन्हें वैयक्तिक साख के ऊपर ऋण देते हैं। परन्तु भारतीय व्यापारी अपनी आर्थिक स्थिति की जानकारी बैंकों को देना पसन्द नहीं करते। इस कारण से ऋणयाचक को उसकी व्यक्तिगत साख पर ऋण देने की प्रथा को बैंक नहीं अपना पाते।

(५) बैंकों ने विदेशी बैंकों की शान-शौकत की नकल की परन्तु उनकी तरह अपनी कार्य-शैली को बनाने का प्रयास नहीं किया। इससे उनकी कार्य-कुशलता तो न बढ़ी पर कार्य-व्यय अवश्य बढ़ गए। इससे वे अपने ग्राहकों को अधिक सुविधाएं भी प्रदान न कर सके और न ग्राहक इनकी ओर आकर्षित ही हुए।

(६) भारतीय बैंकों ने बैंकिंग सिद्धान्तों का भी पूर्ण रूप से पालन नहीं किया। उन्होंने अपनी राशि ऐसे कार्यों में लगाई जिनमें उन्हें नहीं लगानी चाहिए थी, जैसे सट्टेबाजी, चांदी-सोने का सट्टा आदि। इतना ही नहीं, नए-नए बैंकों ने अपनी आर्थिक परिस्थिति अच्छी एवं लाभकर दिखाने की दृष्टि से आरम्भ में ही अच्छे लाभांश दिए तथा संचित-कोष का निर्माण नहीं किया। इससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लाभांश की दर स्थायी रखने में उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और कई बैंकों को तो अपना व्यवसाय भी बन्द करना पड़ा।

(७) योग्य कर्मचारियों तथा योग्य संचालकों एवं व्यावसायिकों के अभाव के कारण बैंकों के प्रति जनता का विश्वास न जम सका।

(८) बैंकों में पारस्परिक सहयोग का अभाव होने के कारण संकट के समय एक दूसरे की समस्या हल करने के लिए आपसी सहयोग एक दूसरे को प्राप्त नहीं होता। इतना ही नहीं, बैंकों में प्रतियोगिता व प्रतिस्पर्धा का बाहुल्य है जिससे ब्याज की दर में कमी होती है और संगठित नीति का भी पालन नहीं किया जा सकता।

(९) देश में अनावश्यक स्थानों पर बैंकों की शाखाएं स्थापित हुई हैं और जहां पर साख-साधनों की अधिक आवश्यकता है वहां पर बैंकिंग सुविधा अपर्याप्त मात्रा में है। इस अव्यवस्थित विकास का कारण उनकी आंग्ल-भाषा में कार्यशैली है जो विदेशी भाषा होने के कारण केवल १०% भारतीय ही समझ पाते हैं एवं जिसकी वजह से ग्रामीण क्षेत्रों में इन बैंकों का विकास न हुआ और स्वदेशी बैंकरों का स्थान महत्त्वपूर्ण बना रहा एवं व्यापारिक बैंकों का अधिक विकास नहीं हुआ। चेक, बिल, साख-पत्र आदि सभी ऐसी भाषा में हैं जिन्हें साधारण भारतीय नहीं समझ पाता और इसलिए वह बैंकों से लेन-देन करने में असमर्थ रहता है।

व्यापारिक बैंकों की बाह्य कठिनाइयां

बैंकों की कार्य-शैली में दोष होने के अतिरिक्त उनकी कुछ ऐसी कठिनाइयां भी हैं जिनके कारण हमारे ये बैंक अधिक उन्नति नहीं कर पा रहे। विशेष कठिनाइयां निम्नलिखित हैं :—

(१) इन बैंकों को देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से पहले सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं से सहयोग एवं प्रोत्साहन नहीं मिला। प्रान्तीय सरकार व स्थानीय सरकारें इन बैंकों से लेन-देन नहीं करती थीं और न अपना रुपया ही जमा करती थीं जिससे इन बैंकों की साख न बढ़ी और जमा-राशि में भी कोई वृद्धि न हुई। विदेशी सरकार ने सदैव ही अपने लेन-देन से योरपीय बैंकों को प्रोत्साहित किया और उनकी साख व जमा-राशि बढ़ाई।

(२) विदेशी सरकार की स्वतंत्र व्यापारिक नीति के कारण देश का लाभदायक व्यवसाय विदेशी विनिमय-बैंकों के एकाधिकार में था। यदि कभी भारतीय बैंक इसमें भाग लेना भी चाहते थे तो वे इन बैंकों की प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाते थे। इसलिए इनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। दूसरे, विदेशी बैंकों के साधन अनेक थे और विदेशों में उनकी शाखाएं होने के कारण उनकी साख इनकी अपेक्षा अधिक थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) विनिमय-बैंकों ने अपना व्यापार केवल आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित न रखते हुए देश के आन्तरिक व्यापारिक केन्द्रों में भी अपनी शाखाएं खोल दीं एवं वे आन्तरिक क्षेत्रों में व्यापारिक सुविधाएं बढ़ाकर भारतीय बैंकों से स्पर्धा करने लगे। ये विनिमय-बैंक सुसंगठित एवं अच्छी आर्थिक स्थिति में होने के कारण जनता को आकर्षित करते थे जिससे इनके पास राशि अधिक परिमाण में आती थी। इस प्रकार विनिमय-बैंकों की प्रतियोगिता में भारतीय बैंक न ठहर सके और उनका व्यापार-क्षेत्र सीमित रह गया। इसके साथ-साथ विदेशी बैंकों के कर्मचारी भारतीय बैंकों के विरुद्ध जनता में भी अविश्वास उत्पन्न कर देते थे जिसके कारण नये बैंक नहीं पनपने पाते थे और न पुराने ही बैंकों का कार्य-क्षेत्र बढ़ पाता था। इतना ही नहीं, विदेशी बैंकों का समाशोधन-गृहों में अधिक प्रभाव होने के कारण भारतीय बैंकों को समाशोधन-गृहों की सदस्यता नहीं मिल पाती थी। इन कारणों से भारतीय बैंकों की प्रगति में अनेक बाधाएं उपस्थित हुईं।

(४) देश के व्यापार का अधिकांश भाग अभारतीयों के हाथ में रहा है। वे सभी अभारतीय बैंकों से लेन-देन करते रहे। भारतीय बैंकों को इस प्रकार से अधिक व्यवसाय नहीं मिल सका। इतना ही नहीं, अभारतीय व्यापारियों के भारतीय एजेंटों को भी बाध्य किया जाता रहा कि वे अभारतीय बैंकों से ही लेन-देन करें। इस प्रकार हमारे बैंक सदैव असुविधा में रहे।

(५) भारतीय व्यापारिक बैंकों को एक ओर इम्पीरियल बैंक से तथा दूसरी ओर 'स्वदेशी बैंकरों' से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इम्पीरियल बैंक की स्थिति विशेष अधिकृत है, यह अर्द्ध-सरकारी बैंक है अतः इसके पास साधन भी अनेक हैं और जनता का विश्वास भी इसमें अधिक है। यह अधिक लेन-देन कर सकता है तथा इसकी जमा-राशि भी अधिक होती है। इसकी प्रतियोगिता अन्य भारतीय बैंक नहीं कर पाते। दूसरी ओर, 'स्वदेशी बैंकर' अपनी निज की राशि से लोगों को विना किसी असुविधा के स्थान-स्थान पर उधार देते हैं, जिससे देश की ग्रामीण जनता इन्हीं लोगों से लेन-देन करती है क्योंकि इनकी कार्य-शैली सरल होती है और उधार लेने में बैंकों की तरह अधिक असुविधा नहीं होती। इस प्रकार व्यापारिक क्षेत्रों में इम्पीरियल बैंक की तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 'स्वदेशी बैंकरों' की प्रतियोगिता के कारण व्यापारिक बैंकों को अनेक असुविधाएं एवं अड़चनें होती हैं।

(६) गत वर्षों में अनेक बैंकों पर आए हुए संकट के कारण जो अनेक बैंक नष्ट हुए उनसे भी बैंकिंग प्रणाली को भारी धक्का लगा। लोगों में बैंकों के प्रति एक प्रकार का अविश्वास सा हो जाने से राशि जमा करना भी कम हो गया तथा लोगों ने बैंक स्थापित करना भी कम कर दिया। इससे बैंकों की उन्नति रुक गई।

(७) देश के बहुत से बैंक अपर्याप्त पूंजी से काम आरम्भ कर देते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं जिससे उन्हें आगे चलकर ऊंची ब्याज-दर देकर जमा-राशि लाने का प्रबन्ध करना पड़ता है और जब अधिक ब्याज-दर देते हैं तो अधिक लाभ कमाने के लिए वे कभी-कभी अपनी राशि ऐसे कार्यों में लगा देते हैं जो आगे चलकर नष्ट हो जाय और जिसमें अधिक खतरा हो। अतः ऐसे बैंक स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, देश की बैंकिंग व्यवस्था पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं। इससे अन्य बैंकों की उन्नति रुक जाती है।

(८) हमारे देश में हिन्दू और मुस्लिम उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम ऐसे हैं जिनकी वजह से बैंकों को ग्राहकों से ऋण-भुगतान के समय अनेक कठिनाइयां होती हैं। गिरवी सम्बन्धी भी अनेक वैधानिक असुविधाएं होती हैं जिनकी वजह से गिरवी पर ऋण देने के लिए बैंक सहज में तैयार नहीं होते।

इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि व्यापारिक बैंकों की उन्नति न होने का एकमात्र और विशेष कारण देश में अन्य बैंकों के साथ प्रतियोगिता है। केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी ने इस परिस्थिति को निम्न शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"भारतीय व्यापारिक बैंकों को एक तरफ 'स्वदेशी बैंकरों' की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है तो दूसरी तरफ उन्हें विदेशी विनिमय-बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक से टक्कर लेनी होती है अतः इस भांति वे आफतों, सन्देहात्मक परिस्थितियों तथा कट्टर प्रतियोगिता में जीवन-निर्वाह करते हैं।"

(रिपोर्ट पृ० सं० ३९०)

व्यापारिक बैंकों की उन्नति के सुझाव

उक्त दोषों और कठिनाइयों का निवारण किए बिना हमारे देश के व्यापारिक बैंक आशातीत उन्नति नहीं कर सकते और जब तक हमारी बैंकिंग प्रणाली उन्नत न होगी, देश की कृषि, व्यापार तथा उद्योग भी उन्नत नहीं हो सकते। बैंकिंग की उन्नति में बाधा उत्पन्न करनेवाले जो अनेक कारण थे उनमें से बहुत से देश के स्वतंत्र होने से दूर हो चुके हैं। देश की समुचित बैंकिंग उन्नति के लिए एवं उनका विकास सुदृढ़ आधार पर आधारित करने के लिए अब देश में बैंकिंग विधान भी १९४९ में स्वीकृत हो चुका है। इसी प्रकार देश-हित में बैंकिंग व्यवस्था का समुचित नियंत्रण करने एवं सरकार की मौद्रिक एवं आर्थिक नीति को पूर्ण रूपेण सफल बनाने के लिए रिजर्व बैंक का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इनके अलावा फिर भी अभी बहुत से दोष ऐसे हैं जिनको दूर करने के लिए निम्न सुझाव उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं :—

(१) व्यापारिक बैंकों के विकास एवं उन्नति के लिए भारतीय सरकार को चाहिए कि वह इन बैंकों को प्रोत्साहन दे। प्रोत्साहन कई प्रकार से दिया जा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता है—करों में सुविधा देकर, अन्य सुविधाएं देकर तथा इनसे लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित करके इनकी साख बढ़ाकर। जिस प्रकार से सरकार ने सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया था उसी प्रकार इस प्रणाली को भी उन्नत करना चाहिए।

(२) बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को समुचित रूप से नियंत्रित किया जाय। विदेशी विनिमय बैंकों को केवल बन्दरगाहों तक ही सीमित रखा जाय, उन पर देश के अन्य भागों से अपनी वर्तमान शाखाएं हटाने के लिए कहा जाय एवं नई शाखाएं खोलने के लिए प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। 'स्वदेशी बैंकरों' को भी कोई योजना बनाकर नियमबद्ध किया जाय जिससे वे इनकी समता में आ जायं और प्रतियोगी न बने रहें। किन्तु इसमें यह ध्यान में रखने की बात है कि इनका नियंत्रण इस सावधानी से होना चाहिए जिससे ग्रामीण साख-सुविधाओं में अड़चन न हो। इसी प्रकार का प्रतिबन्ध व्यापारिक बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को दूर करने के लिए भी आवश्यक है। अच्छा हो कि रिजर्व बैंक इन बैंकों की ब्याज-दरों का नियमन कर दे जिससे अधिक राशि आकर्षित करने के लिए अधिक ब्याज-दर का प्रलोभन न दिया जा सके।

(३) केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी ने सिफारिश की है कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों को नई-नई शाखाएं खोलने का अवसर दिया जाय और शाखा खोलते समय देश का केन्द्रीय बैंक स्वयं उनमें कुछ राशि जमा करे और जब वे समर्थ हो जायं तो राशि धीरे-धीरे निकाल ली जाय। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक बैंकों को राशि भेजने व मांगने की एवं बिलों के पूर्व-प्रापण की सुविधाएं भी दे। इनमें से कुछ सुविधाएं रिजर्व बैंक ने दी भी हैं, जैसे राशि भेजने-मंगाने की सुविधाएं इम्पीरियल बैंक के माध्यम से दी जाती हैं। परन्तु ये सुविधाएं केवल उन्हीं स्थानों पर प्राप्त हैं जहां केन्द्रीय बैंक का कार्यालय हो तथा राशि भेजने-मंगाने का शुल्क भी अधिक है, इसलिए ये सुविधाएं अभी अपर्याप्त हैं।

(४) बैंकों को अपनी कार्यशैली में भी कुछ सुधार करने चाहिएं। यदि सम्भव हो तो आंग्ल-भाषा के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं में कार्य आरम्भ कर देना उचित होगा तथा केवल विदेशी व्यवहारों के लिए ही आंग्ल-भाषा को उपयोग में लाया करें। विशेष प्रकार की असुविधाएं लोगों पर न लादी जायं जिससे लोगों को राशि जमा करने व निकालने में सुविधा हो।

(५) बैंकों को चाहिए कि वे अपने प्रतियोगियों से कुछ लाभ उठाव। 'स्वदेशी बैंकरों' से मितव्ययिता तथा कार्य-सुगमता सीखें तथा विदेशी बैंकों तथा इम्पीरियल बैंक से कार्य-कुशलता सीखी जाय। विदेशी बैंकों को सहयोगी बनाया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाय। बैंक आपस में भी सहयोगी बनकर रहें तथा संकट के समय एक दूसरे की सहायता करें।

(६) बैंकों की शाखाएं बढ़ाने का एक और उपाय है। यदि कोई बैंक किसी ऐसे स्थान पर शाखा स्थापित करना चाहे जहां उस शाखा के लिए भरपूर व्यवसाय न मिल सके तो उस बैंक को किसी बड़े शहर के आसपास जहां उस बैंक की शाखा पहले से हो, एक छोटी शाखा स्थापित करनी चाहिए और उसे सप्ताह के किसी एक या दो दिन खुलवाना चाहिए जब कि पास के बड़ी शाखा वाले कर्मचारी ही उसका काम कर सकें। इस प्रकार शाखा का व्यय भी कम होगा, बैंकिंग सुविधाएं भी बढ़ सकेंगी और लोगों को लाभ भी होगा। इम्पीरियल बैंक ने इसी प्रकार शाखा बढ़ाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है और ऐसी अनेक शाखाएं स्थापित की हैं।

(७) बैंकों को कुशल कर्मचारी नियुक्त करने चाहिएं और जहां तक हो सके ऐसे लोग रक्खे जायं जो बैंकिंग प्रणाली से परिचित हों। इस कार्य में 'स्वदेशी बैंकरों' से अधिक सहायता मिल सकती है। व्यापारिक केन्द्रों में बैंकों के योग्य कर्मचारियों के निर्माण के लिए उनकी शिक्षा का प्रबन्ध सार्वदेशिक बैंक संघ द्वारा किया जाय व ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए वे स्वदेशी बैंकरों को अपना माध्यम बनाएं अथवा यथासंभव उनको अपना अभिकर्त्ता बना लें जिससे स्वदेशी बैंकरों के क्षेत्र में भी इनका कार्य-विस्तार सफलतापूर्वक हो सके।

(८) बैंकों को ग्राहकों की सुविधा का अधिक ध्यान रखना चाहिए। इनको अपनी कार्यशैली का औपचारिक भाग यथासंभव टालना चाहिए तथा कार्य समय ऐसा रखना चाहिए जो लोगों के लिए सुविधाजनक हो। इस विषय में कृषि, व्यापार तथा उद्योग की सामयिक सुविधाओं को भी सामने रखना चाहिए।

(९) जहां तक हो सके बैंकों को देश में 'एक व्यक्ति, एक बैंक' के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। इसके लिए भावी ग्राहकों को यदि उनका लेखा किसी अन्य बैंक में है तो लेखा खोलने से मना करना चाहिए। इस प्रथा को अपनाने से वे लोगों की व्यक्तिगत साख पर ऋण दे सकेंगे तथा इस प्रकार के ऋणों को प्रोत्साहन देकर, बैंक रोक-ऋण प्रथा (cash credit) को क्रमशः कम कर सकेंगे। इनको चाहिए कि विलों का प्रयोग बढ़ावें एवं व्यापारिक बिलों का आहरण अधिक मात्रा में किया करें।

(१०) बैंकों को ध्यान रहे कि प्रतियोगिता के कारण उनकी ब्याज-दर ऐसी न हो जाय जो उलटे हानि का कारण बन जाय। लोगों में जागृति पैदा होनी चाहिए कि वे नई-नई शाखाएं खोलने में योग दें। समर्थ लोग नए नए बैंक भी स्थापित करें। स्थानीय लोगों को ही वहां की शाखा के संचालक पद पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नियुक्त करना चाहिए जिससे उनके कारण जनता में विश्वास पैदा हो। स्थानीय व्यक्ति ही वहां की जनता को राशि जमा करने के लिए उकसा सकते हैं। यदि आवश्यक हो तो स्थानीय जनता को लेन-देन के व्यवहारों में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक रिआयत दी जा सकती है। स्थानीय बैंक भी स्थापित होने चाहिएं। इस प्रकार देश में बैंकिंग प्रणाली का विकास होगा और बैंक संगठित होंगे।

(११) जमाकर्त्ताओं की जमा-राशि को सुरक्षित रखने की बैंकों को विशेष चिन्ता करनी चाहिए। अमरीका की भांति हमारे देश में जमा-राशि की सुरक्षा के लिए जमा-राशि का बीमा करने के लिए जमा-बीमा कम्पनियां होनी चाहिएं। इससे देश के बैंकिंग कलेवर को बल मिलेगा। यद्यपि यह व्यवस्था है तो ठीक, पर इस योजना को कार्यान्वित करना कठिन है जब तक कि देश के बैंकिंग-स्तर में सुधार होकर उसकी विषमता दूर न हो जाय। (अर्थमंत्री द्वारा संसद में दिया गया भाषण—२२ नवम्बर १९५०—The Hindustan Times, 24-11-50)

देश में बैंकिंग संकट तथा उसके कारण

बैंकों पर देश में अनेक बार संकट आया। बड़े-बड़े विशाल बैंक इन संकटों के शिकार बन गए। बैंकों पर संकट आने के कई कारण रहे हैं। कारण कुछ भी हों; १९१३-१५ का संकट-काल बैंकिंग इतिहास में एक भय की वस्तु है। सब संकटों में यह संकट-काल अद्वितीय था। १८२९-३२ में संकट आया, १८५७ में बैंक फेल हुए तथा १८६३-६६ में भी संकट था जिसमें विपुल पूंजी नष्ट हुई; परन्तु १९१३-१५ के संकट-काल में भारतीय बैंकों की परिदत्त पूंजी का ३१ प्रतिशत नष्ट हुआ, तथा बहुत से जमा करनेवाले भी नष्ट हो गए। इसके प्रमुख कारण निम्न बतलाए जाते हैं :—

(१) एकमात्र कारण बतलाया जाता है कि "भारतीय लोग बैंक का प्रबन्ध करने के योग्य नहीं" परन्तु यह बात सर्वथा ठीक नहीं। इस दोषारोपण का करारा जवाब पं० मदनमोहन मालवीय ने दिया था कि "ऐसे संकट सभी देशों पर आए हैं और किसी देश के बैंकिंग उत्थान के लिए बैंकिंग संकट आना अनिवार्य अंग है।" लाला हरिकिशन लाल ने बतलाया कि ऐसे अनेक बैंक हुए हैं जिनका प्रबन्ध व संचालन योरपीय लोगों के हाथ में था तो भी संकट के कारण नष्ट हो गए। ऐसे बैंकों की संख्या लाला जी ने ५० आंकी थी। यह सच है कि बैंकों के नष्ट होने का एक प्रमुख कारण प्रबन्धकों की अयोग्यता भी है परन्तु यह बुराई केवल भारतीयों के साथ ही नहीं थी।

(२) स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप बैंकों की स्थापना ऐसे व्यक्तियों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा हुई थी जिनको इस क्षेत्र का न तो पूर्ण अनुभव ही था और न वे भूतपूर्व बैंकिंग संकटों से परिचित ही थे। इस कारण से इन्होंने बैंकिंग सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं किया।

(३) बैंकों ने जनता को धोखा देने के लिए अपनी अधिकृत पूंजी के बड़े-बड़े आंकड़ों के विज्ञापन किए तथा प्राथित पूंजी और परिदत्त पूंजी को छिपा रखा, जिसका अनुपात अधिकृत पूंजी से बहुत कम था और इस कारण से इन्हें कार्यशील पूंजी के लिए जनता की जमा-राशि पर अवलम्बित रहना पड़ा।

(४) अधिकाधिक राशि को जमा करवाने के लिए इनको राशि पर अधिक ब्याज देना परमावश्यक था। इसी प्रकार इनको अधिक ब्याज देने के लिए अधिक लाभ कमाना भी आवश्यक था। इसलिए इन बैंकों ने अपनी राशि का विनियोग दीर्घकालीन एवं औद्योगिक ऋणों के प्रदाय में किया जिसके फलस्वरूप जब जमा करनेवालों की ओर से मांग हुई तब बैंकों को भुगतान करने में असमर्थता प्रतीत हुई और उन्हें अपना व्यवसाय बन्द करना पड़ा। बैंकों ने अल्पकालीन राशि से दीर्घकालीन औद्योगिक ऋण दिए। दी पीपुल्स बैंक ऑव लाहौर, ताता इण्डस्ट्रियल बैंक तथा अमृतसर बैंक क्रमशः १९१३, १९२३ और १९१४ में विलीन हुए।

(५) जमा-राशि का सट्टेबाजी में विनियोग भी अनेक बैंकों ने किया जो बैंकिंग व्यापार के लिए खतरनाक एवं वर्जित है।

(६) अनेक बैंकों के संचालक एवं प्रबन्धक ऐसे थे जिनको बैंकिंग व्यवसाय का किसी भी प्रकार का न तो ज्ञान ही था और न अनुभव ही। अनेक संचालक एवं प्रबन्धक स्वार्थी भी थे जिन्होंने अपने संचालित बैंकों की राशि से अन्य स्वसंचालित उद्योगों को ऋण-राशि दे रखी थी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने कूटकर्मों एवं बेईमानी से झूठे लेखे दिखाकर अपने बैंकों को मरवा दिया।

(७) अनेक बैंक केवल विश्वास हट जाने के कारण विलीन हुए। किसी न किसी कारण से जनता का विश्वास उनसे उठ गया किन्तु इनमें भी कोई न कोई व्यवस्था की शिथिलिता ही थी।

(८) समुचित बैंकिंग विधान का अभाव था।

(९) देश में बैंकिंग विकास के लिए केन्द्रीय बैंक नहीं था जो देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियन्त्रित करता तथा संकट से डूबते हुए बैंकों को सहायता प्रदान करता।

(१०) अधिकतर बैंकों के अंशधारी बैंकिंग व्यापार से अनभिज्ञ थे। उन्होंने अपने बैंक की समुचित प्रगति की ओर दुर्लक्ष भी किया तथा बैंक की वास्तविक स्थिति जानने का उन्होंने कष्ट नहीं किया। उन्होंने कभी भी बैंकों के प्रबन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया और सारा प्रबन्ध प्रबन्धकों को ही सौंप दिया। इस प्रकार बैंकों पर संकट आया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु संकट का अर्थ सदैव आपत्ति ही नहीं समझना चाहिए। इससे एक विशेष लाभ भी हुआ—देश के सारे कमजोर बैंक नष्ट हो गए और इस प्रकार देश की बैंकिंग व्यवस्था निखर गई। कुरीतियों की भी लगभग समाप्ति हो गई।

पांच महान् बैंक*—निम्न बैंकों को 'पांच महान् बैंकों' के नाम से पुकारा जाता है :—

	स्थापन-तिथि	कार्यालय-संख्या
(१) सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया लि०	१९११	३१२
(२) बैंक ऑव इण्डिया लि०	१९०६	३५
(३) इलाहाबाद बैंक लि०	१९२३	७८
(४) पंजाब नेशनल बैंक लि०	१८९४	२००
(५) बैंक ऑव बड़ौदा लि०	१९०८	३५

सारांश

व्यापारिक बैंक देश के व्यापार एवं उद्योगों की प्रगति के लिए अल्पकालीन ऋण देते हैं। ये बैंक सामान्यतः अल्पकाल के लिए लोगों से राशि जमा करते हैं और फिर उस जमा-राशि को व्यापारियों के लिए उधार देते हैं। व्यापारिक बैंकों की तीन प्रमुख क्रियाएं होती हैं—(१) जनता से जमा-राशि स्वीकार करना, (२) साख-सृजन तथा ऋण प्रदाय द्वारा जनता की वित्त-शक्ति का संचार करना, (३) अपने ग्राहकों को एजेन्सी की सेवाएं देना तथा अपने ग्राहकों के वित्त की सुरक्षा करना। बैंक लोगों से स्थिर, चालू तथा बचत लेखों पर राशि जमा करते तथा ऋण देकर व बिलों की कटौती करके लोगों की वित्त-सहायता करते हैं। ऋण देने का कार्य व्यापारिक बैंक दो विधियों से करते हैं—(१) केवल ऋण-याचक की वैयक्तिक साख पर ऋण देते हैं, (२) ऋण-याचक की वैयक्तिक साख के अतिरिक्त अन्य दो व्यक्तियों की जमानत पर तथा आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण देते हैं। इस प्रकार ऋण दो प्रकार के होते हैं—(१) जमानती ऋण, तथा (२) गैर-जमानती ऋण। ऋणों की साख और जमानत सामान्यतः बैंक के कार्य-क्षेत्र पर निर्भर होती है।

व्यापारिक बैंक अधिकांशतः देशी व्यापार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते हैं। ये बैंक केवल वैयक्तिक साख पर ऋण नहीं देते वरन् अपने

---

*इंगलैंड के पांच महान् बैंक—(१) मिडलैंड बैंक, (२) बर्कले बैंक, (३) लायड्ज बैंक, (४) वेस्टमिन्स्टर बैंक, (५) नेशनल प्रोविंसियल बैंक। इंगलैण्ड के १०,८७४ बैंकिंग-गृहों में से ९७१७ बैंकिंग-गृह इन पांच महान् बैंकों द्वारा संचालित हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साखदार ग्राहकों के प्रतिज्ञा-पत्रों तथा बिलों पर भी ऋण दे देते हैं। बैंक कृषि को साख-सुविधाएं नहीं देते क्योंकि न तो किसानों के पास जमानत आदि का प्रबन्ध होता है और न उनमें ऋण को भुगतान करने की ही शक्ति होती है।

व्यापारिक बैंकों की निषिद्ध क्रियाएं--(१) ग्राहकों को व्यापार-संचालन के लिए स्थाई पूंजी देना, (२) स्थायी रूप से ऋण देना, (३) एक ही ग्राहक को अधिक मात्रा में ऋण देना।

भारतीय व्यापारिक बैंकों की उन्नति न होने के मुख्य कारण हैं--(१) उनकी कार्यशैली की त्रुटियां, (२) उनकी बाह्य कठिनाइयां। कार्यशैली में त्रुटियां इस प्रकार हैं--(१) बैंक अधिकतर सरकारी सिक्यूरिटियों में राशि विनियोग करते हैं जिससे व्यापारिक बिलों का प्रसार और प्रचार नहीं हो पाता, (२) बैंक बैंक-स्वीकृति-बिलों को प्रोत्साहन नहीं देते, (३) ये अपने ग्राहकों को उनकी वैयक्तिक साख पर राशि उधार नहीं देते, (४) ये "एक व्यक्ति, एक बैंक" के सिद्धान्त को पूरा नहीं करते, (५) बैंकों ने राशि विनियोग करने में अनुभव और बुद्धिमानी से काम नहीं लिया है, (६) कर्मचारी तथा व्यवस्थापक योग्य एवं कुशल नहीं हैं, (७) बैंकों में पारस्परिक सहयोग का अभाव रहता है, (८) देश में बैंकों का विकास अव्यवस्थित रीति से हुआ है।

बैंकों की बाह्य कठिनाइयां इस प्रकार हैं--(१) भारत के स्वतंत्र होने से पूर्व सरकारी सहयोग का अभाव, (२) विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता, (३) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता, (४) स्वदेशी बैंकरों की प्रतियोगिता, (४) देश का विदेशी व्यापार अधिकतर अभारतीयों के हाथ में होने के कारण वे अभारतीय बैंकों से ही व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, देशी बैंकों के साथ नहीं, (६) भूतकाल में आए बैंकिंग संकट से जनता का बैंकों के प्रति अविश्वास, (७) हिन्दू-मुसलमान उत्तराधिकारी सम्बन्धी नियम, (८) बैंकों की दोषपूर्ण विनियोग-नीति।

व्यापारिक बैंकों के दोषों और कठिनाइयों को दूर करने के लिए निम्न उपाय हितकर सिद्ध हो सकते हैं--(१) सरकार इन बैंकों को प्रोत्साहन दे, कर में छूट करे तथा इनसे राशि के लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित करे, (२) बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को नियंत्रित किया जाय--विदेशी बैंकों को देश के आन्तरिक भागों में व्यापार करने से रोका जाय तथा स्वदेशी बैंकरों को नियमबद्ध किया जाय, (३) बैंकों को नई-नई शाखाएं खोलने का अवसर दिया जाय--नई शाखाओं में सरकार स्वयं राशि जमा करे और रिजर्व बैंक नई शाखाओं को कुछ विशेष सुविधाएं दे, (४) बैंक भी अपनी कार्यशैली में कुछ सुधार करें--प्रादेशिक भाषाओं में काम-काज करें, (५) बैंकों को मितव्ययी बनना चाहिए तथा जनता से समीपी सम्पर्क स्थापित करना चाहिए, (६) बैंकों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में कर्मचारी कुशल तथा अनुभवी हों, (७) बैंक जनता की सुविधाओं का ध्यान रखकर अपनी कार्यशैली के औपचारिक भाग का यथासंभव परित्याग करें, (८) बैंक यथासभंव जर्मनी की 'एक व्यक्ति, एक बैंक' वाली प्रणाली का पालन करें, (९) बैंक प्रतियोगिता को छोड़कर सहयोगी बनकर काम करें, (१०) जमा-राशि की बीमा प्रणाली का प्रचार किया जाय।

देश में बैंकों पर अनेक बार संकट आए हैं जिनमें बड़े-बड़े विशाल बैंक शिकार बन गए। बैंकिंग संकट के अनेक कारण रहे हैं—(१) भारतीय प्रबन्धक अयोग्य और अनुभवहीन थे, (२) बैंकों की विनियोग-नीति दोषपूर्ण थी, (३) बैंकों ने बैंकिंग व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यापार आरम्भ कर दिया था, (४) बैंकिंग विधान नहीं था, (५) केन्द्रीय बैंक का अभाव रहा, (६) बैंकों के अंशधारी अज्ञान थे और वे बैंकों के कारनामों को समझने की चेष्टा नहीं करते थे, (७) सहसा ही किसी दुर्घटना के कारण बैंकों पर से जनता का विश्वास हट जाने से बैंकों पर संकट आते रहे।

देश के पांच महान् बैंक हैं—सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया, बैंक ऑव इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, पंजाव नेशनल बैंक तथा बैंक ऑव बड़ोदा।

परीक्षा-प्रश्न

(१) व्यापारिक बैंक से आप क्या समझते हैं? व्यापारिक बैंकों की प्रमुख क्रियाओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।

(२) व्यापारिक बैंकों की कार्यप्रणाली का वर्णन करते हुए उसके मुख्य-मुख्य दोषों पर प्रकाश डालिए।

(३) भारतीय बैंक अपने ग्राहकों को जो विभिन्न सुविधाएं देते हैं उनका उल्लेख कीजिए और वतलाइए कि वे सुविधाएं व्यापारी वर्ग के लिए कहां तक उपयोगी हैं।

(४) भारतीय व्यापारिक बैंकों की कार्यशैली में कौन-कौन से दोष और त्रुटियां पाई जाती हैं? उनका समाधान किस प्रकार हो सकता है?

(५) भारतीय व्यापारिक बैंकों की वाह्य कठिनाइयों का सविस्तार वर्णन करते हुए उनको दूर करने के उपायों का उल्लेख कीजिए।

(६) व्यापारिक बैंकों की उन्नति के सुझाव देते हुए वतलाइए कि रिजर्व बैंक उनकी कहां तक सहायता कर सकता है।

(७) देश में बैंकिंग-संकट होने के क्या कारण रहे हैं? उनका निवारण किस प्रकार किया जा सकता है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(८) "व्यापारिक बैंकों का अन्तिम उद्देश्य अंशधारियों को लाभ पहुँचाना होता है।" इस कथन की सत्यता पर विचार प्रकट कीजिए।

(९) भारतीय बैंकों की प्रमुख क्रियाएं कौन-कौन सी हैं? देश के बैंकिंग कलेवर का विकास तथा संगठन करने के लिए कौन से सुधार आवश्यक हैं?

(१०) "एक व्यक्ति, एक बैंक" के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इस सिद्धान्त का पालन करने से हमारे बैंकों को क्या लाभ मिल सकता है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३३

विदेशी विनिमय बैंक

भारत में कुछ ऐसे बैंक भी स्थापित हैं जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं पर उनकी शाखाएं हमारे देश में काम करती हैं। ये शाखाएं अधिकतर ऐसे स्थानों पर हैं जहां से आयात-निर्यात का व्यापार अधिक होता है। परन्तु कुछ शाखाएं देश के आन्तरिक भागों में भी स्थापित हो गई हैं जो अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति उनकी प्रतियोगिता में जनता से राशि के लेन-देन का काम करती हैं। इन विदेशी बैंकों का प्रमुख कार्य विदेशी व्यापार सम्बन्धी लेन-देन करना है, जैसे विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना तथा विदेशी विनिमय बिलों द्वारा आयात व निर्यात करनेवालों को आर्थिक सुविधाएं प्रदान करना। कुछ लोग ऐसे बैंकों को 'विनिमय बैंक' के नाम से पुकारते हैं क्योंकि इनका प्रमुख व्यापार विदेशी विनिमय से सम्बन्ध रखता है। श्री वी० टी० ठाकुर ने इन बैंकों को 'विदेशी बैंकों' की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि विनिमय का लेन-देन करना केवल इन्हीं बैंकों का काम नहीं है और न किसी विदेशी विनिमय में ही लेन-देन इनका एकमात्र कार्य है; दूसरे भारतीय व्यापारिक बैंक भी विदेशी विनिमय का काम कर सकते हैं और ये विदेशी बैंक व्यापारिक बैंकिंग का कार्य भी कर सकते हैं और कर रहे हैं, इसलिए इनको 'विनिमय बैंक' कहकर पुकारना ठीक नहीं जान पड़ता। हम यहां इनको 'विदेशी विनिमय बैंक' के नाम से पुकारेंगे। विदेशी विनिमय बैंक विनिमय के व्यापार के अतिरिक्त ऋण देते हैं, साख-पत्र जारी करते हैं, राशि विनियोग करते हैं, राशि जमा भी करते है, और एजेंसी का काम भी करते हैं। इनका कार्य समय आने पर विदेशी व्यापार की आर्थिक सहायता करना भी है और इसीलिए ये भारतीय बैंकों से कुछ अलग समझे जाते हैं। वर्तमान विदेशी विनिमय बैंकों को हम उनके व्यापार की दृष्टि से दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) ऐसे बैंक जो विदेशी बैंकों की एजेन्सी हैं और भारत में काम करते हैं परन्तु भारत में जिनका व्यवसाय सीमित है और उनके कुल व्यवसाय का १/२ भाग ही है, जिसमें भारत की जमा-राशि उनकी कुल जमा-राशि की एक-चौथाई है। ऐसे बैंक अमेरिकन एक्सप्रेस कंपनी, योकोहामा स्फीसी बैंक, मितसुई बैंक हैं। इंगलैण्ड का लायड्ज बैंक इसी श्रेणी में आता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) ऐसे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय चाहे विदेशों में हैं परन्तु जिनका अधिकांश व्यवसाय भारत में है और जिनकी कुल जमा-राशि का २५ प्रतिशत से अधिक भाग भारत की जमा-राशि है। ऐसे बैंक निम्न हैं—चार्टर्ड बैंक ऑव इंडिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना; नेशनल बैंक ऑव इण्डिया; मरकैन्टाइल बैंक ऑव इण्डिया; ग्रिण्डले एण्ड कम्पनी; ईस्टर्न बैंक लि० आदि।

लगभग सभी देशों ने, जिनका व्यापार भारत से है, अपने-अपने बैंक इस देश में स्थापित कर रक्खे हैं। केवल बेल्जियम और इटली ही ऐसे दो देश हैं जिनका व्यापार भारत से चलता है परन्तु जिनके विनिमय बैंक हमारे देश में नहीं हैं।

भारतीय व्यापारिक बैंक और विदेशी व्यापार

ऐसा देखने में आता है कि विदेशी विनिमय बैंकों ने भारत के विदेशी व्यापार में एकाधिकार रक्खा है और भारत के बैंकों ने इस ओर अधिक भाग नहीं लिया। इसके कारण स्पष्ट हैं—इम्पीरियल बैंक, जो भारत का सबसे अधिक बलवान् व्यापारिक बैंक है और जो अपने साधनों के अनुरूप विनिमय का व्यवसाय कर सकता था, १९३५ तक नियमबद्ध था और यह काम नहीं कर सका। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद विदेशी विनिमय व्यापार करने की इसे स्वतंत्रता दी गई, फिर भी इम्पीरियल बैंक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। दूसरे व्यापारिक बैंकों के पास इतने साधन नहीं थे कि वे भिन्न-भिन्न देशों में शाखाएं स्थापित करते। विदेशी विनिमय बैंकों के पास अधिक साधन हैं और वे इस कार्य को भली प्रकार कर सकते हैं। यदि भारत के बैंक भी इस काम को करते तो विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता में टिक नहीं सकते थे। भारत के बैंकों की बाहर के देशों में इतनी शाखाएं भी नहीं हैं जिनके द्वारा विदेशी विनिमय व्यवसाय किया जा सके। इन बैंकों के पास जितनी पूंजी एवं जमा-राशि है, वह देशी व्यापार के लिए ही पर्याप्त हो पाती है। अतः इस प्रकार विदेशी व्यापार में विदेशी विनिमय बैंकों का ही एकाधिकार रहा और भारत के बैंक पीछे रह गए। अब सूचिबद्ध बैंकों ने विदेशी विनिमय का कार्य आरम्भ कर दिया है। सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया ने १९३६ में इंगलैण्ड में सेन्ट्रल एक्सचेन्ज बैंक ऑव इंडिया स्थापित की परन्तु १९३८ में वह बार्कले बैंक लन्दन में विलीन कर दी गई। १९४६ में बैंक ऑव इंडिया ने इस कार्य के लिए लन्दन में एक शाखा स्थापित कर दी है तथा १९४९-५० से इस बैंक ने जापान में भी व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया है। युनाइटेड कमर्सियल बैंक ने इंगलैण्ड तथा मलाया में शाखाएं स्थापित की हैं और अमरीका में भी शाखाएं स्थापित करने पर विचार कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय बैंकों के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हाथ में ही यह व्यापार केन्द्रित रहे जिससे लाखों रुपयों की अदृश्य आय कमाई जा सके। अब प्रश्न यह होता है कि भारत के बैंकों ने अभी तक विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए विदेशों में शाखाएं स्थापित क्यों नहीं कीं? इस कार्य में बैंकों को निम्न असुविधाएं रही हैं :—

(१) भारतीय बैंकों को विदेशी मुद्रा-मंडियों में अपनी साख जमाने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता है जिससे वे विदेशों में अधिक व्यवसाय खींच सकें। परन्तु इन बैंकों की पूंजी बहुत कम है जिससे इनको विदेशों में व्यवसाय नहीं मिल सकता।

(२) भारतीय बैंकों के आर्थिक साधन बहुत कम रहे तथा उनका आन्तरिक व्यापार-क्षेत्र बहुत अधिक रहा। इस कारण विदेशी विनिमय व्यापार की अपेक्षा उनके साधनों का भारत में ही अधिक लाभदायक उपयोग होता रहा, अतः भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यापार को नहीं अपनाया।

(३) यदि भारतीय बैंक विदेशों में शाखाएं स्थापित भी करते तो कुछ समय तक ये हानि पर ही चलाने होते और यह हानि वर्दाश्त करना इन बैंकों की सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतः भारतीय बैंक इस काम को नहीं कर सके।

(४) विदेशी विनिमय का कार्य करने के लिए कुशल कर्मचारियों तथा विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। परन्तु जहां भारतीय व्यापार के लिए ही कुशल कर्मचारी प्राप्त नहीं होते वहां विदेशी विनिमय के विशेषज्ञ भारत में प्राप्त होना असंभव था।

(५) यह भी निश्चित है कि यदि भारतीय बैंक विदेशों में शाखाएं भी खोलें तो इनको वहां जमा-राशि प्राप्त नहीं हो सकती जैसे कि विदेशी बैंकों को हमारे देश में प्राप्त हो जाती है। इसका कारण भारतीय बैंकिंग की कार्यक्षमता विदेशी बैंकों की तुलना में कम होना एवं विदेशियों में राष्ट्रीय भावना का अधिक तीव्रता से काम करना रहा। इसका भारतीयों में आज भी अभाव है।

(६) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत में होने से वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मंडियों से बिलकुल अलग ही रह जायेंगे जिससे उनको अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक परिस्थिति का ज्ञान भी न हो सकेगा और न उन्हें आयात-निर्यात बिल क्रय-विक्रय और संग्रहण के लिए ही मिल सकेंगे। विदेशी बैंकों के प्रधान कार्यालय लन्दन आदि केन्द्रों में हैं जहां से उनको ये सब सुविधाएं मिल सकती हैं।

(७) विदेशी बैंकों की कट्टर प्रतियोगिता।

विदेशी विनिमय बैंकों की क्रियाएं

विदेशी विनिमय बैंकों की क्रियाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है :

(क) भारत के आयात-निर्यात में सहायता देना—भारत के बन्दरगाहों से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विदेशी बन्दरगाहों तथा विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों तक माल लाने-लेजाने में आर्थिक सहयोग देना।

(ख) भारत के बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों तथा आन्तरिक नगरों से बन्दरगाहों तक माल लाने-लेजाने में सुविधा प्रदान करना।

(ग) विदेशी व्यापार में सुविधा देने के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बैंक अन्य सभी प्रकार का बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों की कार्यशैली

इन बैंकों की कार्यशैली का अध्ययन हम इनकी क्रियाओं के आधार पर करेंगे—

(क) भारत के आयात-निर्यात में सहायता देने की पद्धति इस प्रकार है—जब कोई भारतीय व्यापारी इंगलैण्ड को माल निर्यात करे तो वह आयातक के नाम विदेशी विनिमय-बिल लिखकर (जिसके साथ बीजक गोप-लेखे तथा जहाजी रसीद भी लगानी होगी) भारत में किसी विनिमय बैंक को (जिसकी शाखा इंगलैण्ड में भी हो) देकर राशि प्राप्त कर लेगा। यह विनिमय बैंक इस बिल को अपनी इंगलैण्ड की शाखा को भेज देगा। बिल दो प्रकार का लिखा जा सकता है—(१) भुगतान-बिल, (२) स्वीकृति बिल। यदि यह भुगतान-बिल हुआ तो विनिमय-बैंक इंगलैंड में आयात करनेवाले व्यापारी से बिल का भुगतान ले लेगा। यदि बिल स्वीकृति बिल हुआ तो व्यापारी उसे स्वीकार करके विनिमय-बैंक को लौटा देगा। विनिमय-बैंक उसे बिल की अवधि तक अपने पास रखकर निश्चित तिथि पर उसका भुगतान ले सकता है अथवा उसकी मुद्रा-मंडी में उसी समय कटौती करा सकता है। इस प्रकार निर्यात करने-वाले को तुरन्त राशि मिल जायेगी तथा विनिमय-बैंक भी इंगलैण्ड में राशि प्राप्त कर लेगा। यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब कि विनिमय-बैंक की शाखा भारत तथा इंगलैण्ड दोनों स्थानों में हो।

इसी प्रकार यदि किसी भारतीय व्यापारी ने माल आयात किया तो निर्या-तक आयातक के नाम विनिमय-बिल लिखकर इंगलैण्ड में किसी विनिमय-बैंक को दे देगा। वह बैंक उसको भारत-स्थित अपनी किसी शाखा को भेज देगा। यह शाखा भारतीय आयातक से भुगतान कराके (यदि बिल भुगतान-बिल है) अथवा स्वीकृत कराके जहाजी रसीद आदि व्यापारी को दे देगा जिनकी सहायता से उसे माल मिल जायगा। अवधि के पश्चात् बैंक उसका भुगतान व्यापारी से ले लेगा।

यदि माल भारत में किसी ऐसी व्यापारिक संस्था ने मंगाया है जिसकी शाखा इंगलैंड में भी है तो निर्यातक इंगलैण्ड के विनिमय-बैंक के नाम बिल लिखकर उससे वहीं पर स्वीकृत कराके उसकी लन्दन-मुद्रा-मंडी में ही कटौती करा लेगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लन्दन-स्थित बैंक उस बिल को स्वीकृत करके जहाजी रसीद आगोप-पत्र तथा बीजक आदि तीनों विपत्र भारत में अपनी शाखा को भेज देगा। भारत-स्थित शाखा आयातक से राशि वसूल करके इन विपत्रों को उसे दे देगी और यह संग्रहीत राशि उस बिल की अवधि समाप्त होने से पहले ही इंगलैण्ड भेज दी जायगी।

(ख) भारत के बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों तथा आन्तरिक नगरों से बन्दरगाहों तक माल लाने-लेजाने में सुविधा प्रदान करन की पद्धति इस भांति है—इनको यह कार्य करना इसलिए संभव होता है कि इन्होंने अपनी शाखाएं केवल बंदरगाहों अथवा आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित न रखते हुए देश के व्यापारिक केन्द्रों में भी खोल रखी हैं—उदाहरणार्थ, जब नागपुर का कोई व्यापारी लंदन से आयात करता है तो उसके नाम लिखा गया विनिमय-बिल चार्टर्ड बैंक की नागपुर शाखा को भेज दिया जायगा जहां पर उसे जहाजी रसीद आदि मिल जायेंगे तथा वह भुगतान भी कर देगा। इसी प्रकार यदि उसे निर्यात करना है तो वह अपना लंदन के व्यापारी अथवा बैंक पर आहरित किया हुआ विनिमय बिल स्थानीय शाखा को देकर अपना भुगतान वहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इनकी शाखाएं होने से व्यापारी का आयात-निर्यात होने में व्यय भी कम होता है तथा सुगमता भी होती है क्योंकि उनको वहीं रहते हुए आयात-निर्यात एवं विदेशी विनिमय की सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं और बन्दरगाहों तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(ग) अन्य सभी प्रकार के बैंकिंग व्यवसाय करने की पद्धति—भारतीय जनता से राशि जमा करके, ऋण देकर तथा एजेंसी का काम करके ये बैंक इम्पीरियल बैंक तथा देश की व्यापारिक बैंकों के कट्टर प्रतियोगी बन बैठे हैं। भारतीय बैंकों की अपेक्षा इनके साधन अधिक तथा अनेक होने के कारण लोगों का इनमें गहरा विश्वास है और इसलिए इनकी जमा-राशि भी अधिक है। ये देश के आन्तरिक व्यापार में भी सहायता करते हैं। देहली के कपड़े का व्यापार, कानपुर का चमड़े का व्यापार तथा बंगाल के जूट व्यापार को इनसे अधिक सहायता मिलती है। मारवाड़ी बैंकरों से ये बहुत लाभ कमाते हैं। पहिले ये बैंक सोने-चांदी के आयात-निर्यात में बड़ी सहायता करते थे परन्तु यह काम अब बहुत कम हो गया है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय बैंकों ने देश में अपने अनुकूल स्थिति पैदा कर ली है। इस समय देश में पन्द्रह विदेशी विनिमय बैंक हैं। इतने बैंक स्थापित हो जाने का एकमात्र कारण यही है कि भारत सरकार की ओर से 'खुला-द्वार नीति' (Open Door Policy) रही और विदेशी बैंक आते रहे। परन्तु इस समय इसके विषय में कड़ी आलोचना है। इसलिए संभव है अब अन्य बैंक न आने पावें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विनिमय बैंकों के दोष एवं उनके विरुद्ध शिकायतें

इनकी कार्यशैली एवं क्रियाओं के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं। कहा जाता है कि उन्होंने अपना व्यवसाय केवल विदेशी विनिमय के लेन-देन तक ही सीमित न रखते हुए अन्य क्षेत्रों में भी बढ़ाया जिसके कारण भारतीय बैंक उन्नति न कर सके। इतना ही नहीं, इन्होंने भारतीय बैंकों से पूर्णतया प्रतियोगिता की। सेन्ट्रल बैंकिंग जांच कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटियों ने विनिमय बैंकों के दोषों पर पूर्ण प्रकाश डाला है जो नीचे दिए जाते हैं :—

(१) विनिमय बैंकों के संचालक तथा प्रबन्धक विदेशी हैं परन्तु उनका व्यापार भारत में है। ये बैंक स्थिति-विवरण तो प्रकाशित करते हैं परन्तु भारतीय तथा अभारतीय व्यापार को उसमें अलग-अलग नहीं दिखाते और इस प्रकार वास्तविक स्थिति का भलीभांति ज्ञान नहीं हो पाता। इससे भारतीय जमा-राशि की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकती। यद्यपि भारतवासी इन बैंकों में अधिक राशि जमा करते हैं परन्तु उनको कोई विशेष अधिकार नहीं दिया जाता। बैंकों की सम्पत्ति पर भी उनका कोई विशेष अधिकार नहीं होता, चाहे बैंक किसी अन्य कारण से संकट-ग्रस्त हो गया हो।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं जहां से उनकी नीति का निर्माण एवं संचालन होता है, जो भारतीयों के हित में कभी नहीं हो सकी और न उससे भारत का विदेशी व्यापार ही पनपने पाया क्योंकि वे भारतीय स्थिति से पूर्णतया परिचित नहीं थे। भारतीयों का इन बैंकों की संचालन नीति में भी कोई हाथ नहीं रहा।

(३) विनिमय बैंक भारत की जमा-राशि से विदेशी व्यापार करते हैं। इस प्रकार भारत की दोहरी हानि होती है—पहले तो जमा राशि के कारण, जो हमारे बैंकों में जमा न होकर इनमें जमा की जाती है जिससे हमारे बैंकों को राशि नहीं मिलती; दूसरे, उस राशि से जो लाभ होता है वह भी विदेशी बैंकों को मिलता है और भारतीय उससे वंचित रह जाते हैं। इसका यह भी परिणाम हुआ कि विदेशी व्यापार भारतीयों के हाथ से निकलकर विदेशियों के हाथ चला जा रहा है क्योंकि विदेशी बैंकों ने विदेशियों को ही सुविधाएं दी हैं, भारतीयों को नहीं।

(४) विदेशी व्यापारी उधार स्वीकार करने के लिए जब इन बैंकों से भारतीय व्यापारियों की आर्थिक परिस्थिति के बारे में जांच करते रहे तो इन बैंकों ने भारतीयों की आर्थिक स्थिति के बारे में गलत और उल्टी रिपोर्ट भेजी और विदेशियों के विषय में ठीक-ठीक। इससे भारतीयों का विदेशी व्यापार टूट गया। कुछ विदेशी बैंकों ने गलत रिपोर्ट जान-जानकर भेजी तथा कुछ बैंक भारतीयों के विषय में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ठीक-ठीक परिस्थिति ज्ञात करने में असफल भी रहे क्योंकि इन बैंकों के संचालक विदेशी होने के कारण भारतीयों के निकट सम्पर्क में नहीं आ पाते थे। भारत के व्यापारियों को माल मंगाने पर 'स्वीकृति-बिलों' पर माल नहीं मिलता था वरन् उनको 'भुगतान-बिलों' पर ही माल मिल सकता था। इससे भारतीय व्यापारी उधार माल नहीं मंगा सकते थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि विदेशी बैंक इनकी आर्थिक स्थिति के बारे में ठीक-ठीक रिपोर्ट नहीं भेजते थे। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकों को अपने बिलों को इन बैंकों से कटौती कराने के लिए साख या जमानत देनी होती थी। परन्तु विदेशियों के बिलों की कटौती उनकी ही साख पर कर दी जाती रही।

(५) विदेशी बैंकों का यह भी एक कार्य होता है कि वे अपने ग्राहकों को समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मंडियों की तथा अन्य आवश्यक सूचना देते रहें परन्तु विदेशी बैंक विदेशियों को तो यह सूचना देते रहे और भारतीयों को नहीं। इससे भारतीयों को कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ी। भारतीयों को उनसे साख-पत्र लेने में बैंक के पास कुछ राशि जमा करानी होती है परन्तु विदेशी व्यापारी बिना जमा कराए ही प्राप्त कर लेते हैं। इससे भी भारतीयों को बड़ी हानि रही।

(६) विदेशी विनिमय-बैंकों ने देश के अन्य व्यापारों—जैसे, जहाजी कम्पनियों तथा आगोप कम्पनियों को भी नहीं पनपने दिया। जो भारतीय इन बैंकों से लेन-देन करते हैं उनको बाध्य किया जाता है कि वे अपना माल विदेशी जहाजों में ले जायं तथा विदेशी कम्पनियों से ही अपने माल का अभिगोपन करावें। इस प्रकार की सस्ती पिछले कुछ दिनों से कम हो गई है। साथ ही साथ भारत में भी आगोप कम्पनियां स्थापित हो गई हैं जिनसे माल का गोप कराया जाता है।

(७) विदेशी बैंकों ने भारतीय मुद्रा-मंडी को दो भागों में बांट दिया है—एक, देशी मुद्रा-मंडी जिसमें भारतीय बैंक सम्मिलित हैं; तथा दूसरी, विदेशी मुद्रा-मंडी जिसमें ये बैंक काम करते हैं। इसी कारण देश की मुद्रा-मंडी को नियंत्रित नहीं किया जा सका क्योंकि इन दोनों अंगों में बहुत प्रतियोगिता रहती है जिसके कारण भारतीय अंग नहीं पनप पाता।

(८) यद्यपि विदेशी बैंक एक लम्बे समय से देश में काम कर रहे हैं परन्तु अभी तक भारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त नहीं किया गया और न भारतीयों को बैंकिंग की शिक्षा देने का ही कोई प्रबन्ध किया गया। सदैव ही अभारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त किया गया जिससे भारतीयों को इस प्रकार से हानि ही रही।

(९) कुछ प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों का विचार ह और बंगाल प्रान्तीय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंकिंग कमेटी ने तो कहा भी है कि विनिमय बैंक भारतीय बैंकों के कट्टर प्रतियोगी बन चुके हैं। धीरे-धीरे विनिमय बैंक भारतीय व्यापारिक बैंकों की सीमा पर पहुंचते जा रहे हैं और जो काम व्यापारिक बैंक करते थे वे भी अब उसी कार्य को करने लगे हैं। भारत में उनका लेन-देन दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। वे सदैव इस बात की कोशिश करते हैं कि भारतीय बैंक 'समाशोधन-गृहों' में न भरती किए जायं तथा विदेशी व्यवसाय भी उनके हाथ न लगने पावे। 'विनिमय-बैंक-संघ' में भी भारतीय बैंकों को सदस्य नहीं बनाया जाता।

(१०) विदेशी बैंकों के विरुद्ध यह भी शिकायत की जाती है कि उन्होंने भारतीय व्यापारियों को समय-समय पर ऊंची विनिमय-दर पर विदेशी विनिमय बेचा है और ऐसा विशेषतः उन देशों के विदेशी विनिमय पर किया है जिन देशों के विदेशी बैंक हमारे देश में नहीं हैं।

(११) विदेशी बैंक भारतीयों की जमा-राशि से विदेशी व्यापार करके विदेशियों को आर्थिक सहायता देते रहते हैं जिससे देशी व्यापार व उद्योग को हानि होती है तथा देशी पूंजी विदेशियों के हाथों में चली जाती है (केन्द्रीय समिति के सामने पोखनवाला की गवाही)।

(१२) विदेशी विनिमय बैंकों ने विदेशी व्यापार को भारतीयों के हाथ से निकालकर विदेशियों को देने में भी अनेक अनुचित कार्यों का उपयोग किया, जिससे विदेशी व्यापार में भारतीयों का भाग केवल १५ प्रतिशत ही रह गया।

(१३) आयात-निर्यात विनिमय-बिल का लेखन स्टर्लिंग अथवा विदेशी मुद्रा में होने के कारण उनकी कटौती केवल विदेशी मुद्रा-मंडी में ही होती है जिससे यहां की मुद्रा-मंडी को इन विनिमय-बिलों से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता और न बिल-मंडी का ही विकास होता है। यदि ये आयात-निर्यात विनिमय-बिल भारतीय मुद्रा में लिखे जायं तो भारतीय आयातकर्त्ताओं को अवश्य ही लाभ होगा, जिसके न होने से अभी तक यह लाभ केवल विदेशियों को मिलता है।

विदेशी बैंकों ने क्या दिया ?

उक्त सभी दोषों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि विदेशी विनिमय बैंकों ने देश में बैंकिंग व्यवस्था को जागृत किया। उन्होंने देशवासियों में विश्वास उत्पन्न करके उनको बैंकों में राशि जमा करना सिखाया। प्रथम महायुद्धकाल में जब कि विनिमय-दर ऊंची जा रही थी और भारतीय बैंकों के पास साधनों की भी कमी थी तो इन बैंकों ने ही युद्ध की आवश्यकताओं के लिए निर्यात किए गए माल को बैंकिंग सुविधाएं दीं। विदेशी बैंकों के द्वारा ही भारत का विदेशी व्यापार बढ़ता गया। १८९३ में भी जब रुपये का स्वतंत्र टंकन बन्द कर दिया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गया तो इन बैंकों ने ही विदेशी विनिमय क्रय-विक्रय करना जारी रखा। यह सब कार्य इन्होंने ऐसी विषम परिस्थिति में किया, जब देश में न तो कोई उत्तम श्रेणी के भारतीय बैंक ही थे, न जनता को बैंकों में विश्वास ही था और न विदेशी व्यापार के लिए विशेष आर्थिक सुविधाएं ही प्राप्त थीं।

अब देश में कुछ ऐसे बैंक हैं जो विदेशी व्यापार को सुविधा देने का काम भलीभांति कर सकते हैं। परन्तु यह काम तभी हो सकता है जब देशी बैंकों को इनकी प्रतियोगिता से बचाया जाय, विदेशी बैंकों पर कुछ नियम बनाकर प्रतिबंध लगाए जायं तथा अपने बैंकों को कुछ सुविधाएं दी जायं और भारतीयों में भी राष्ट्रीय भावना का जागरण हो जिससे वे भारतीय व्यापारियों को तथा भारतीय बैंकों को प्रोत्साहन देने के हेतु उनके पास ही अपनी राशि जमा कराकर आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनावें।

विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता से देश के व्यापारिक बैंकों को बचाने के लिए इस समय तीन उपाय हो सकते हैं—(१) वर्तमान विदेशी बैंकों के व्यापारिक कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जायं, (२) भविष्य में अन्य विदेशी बैंकों की स्थापना को अनुज्ञा-पत्र देने की पद्धति द्वारा नियंत्रित किया जाय, (३) भारतीय व्यापारिक बैंकों को इस क्षेत्र में लाया जाय। केन्द्रीय बैंकिंग-जांच-कमेटी ने सर्व-सम्मत्ति से यह सिफारिश की कि विदेशी विनिमय-बैंकों के लिए अब तक भारत में जो 'खुला-द्वार नीति' रही उसका अन्त करना चाहिए जिससे कोई भी विदेशी बैंक भारत में शाखा जमाने में स्वतंत्र न रहे। कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि जर्मनी, इटली, जापान तथा कनेडा की भांति हमारे देश में भी अनुज्ञा-पत्र नियम होना चाहिए जिसके अनुसार अनुज्ञा-पत्र (Licence) द्वारा इन बैंकों का संचालन हो। अनुज्ञा-पत्र स्वीकार करने न करने का अधिकार देश की केन्द्रीय संस्था को दिया जाना चाहिए। कमेटी का विचार था कि अनुज्ञा-पत्र से देश में इन बैंकों में जमा करनेवाले लोगों की रक्षा होगी। इन बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण भी बढ़ेगा तथा विदेशी बैंकों को किसी विशेष क्रिया को करने न करने की बात भी स्पष्ट हो जायगी। अधिकांश सदस्यों का मत था कि वर्तमान विनिमय बैंकों को तो अनुज्ञा-पत्र जारी कर ही देना चाहिए। परन्तु कमेटी के कुछ विदेशी विशेषज्ञों ने इसका विरोध किया कि अनुज्ञा-पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है और जितने भी विदेशी बैंक भारत में हैं उनके पास पर्याप्त साधन हैं इसलिए उनको देश में बैंकिंग व्यवसाय करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

केंद्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशें

कमेटी के बहुमत ने विनिमय बैंकों के दोषों को दूर करने के लिए कुछ उपाय सुझाए जो नीचे दिए जाते हैं :—

(१) विनिमय-बैंकों तथा इन्श्योरेंस कम्पनियों को मिलकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किन इन्श्योरेंस कम्पनियों के गोप-लेख बैंकों को स्वीकृत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होंगे जिससे भारत की इन्श्योरेंस व्यवस्था उन्नति करे। यदि आवश्यकता हो तो बैंक उन्हीं कम्पनियों से समय-समय पर कुछ लेखा-सूचना अथवा स्थिति-विवरण की भी मांग कर सकता है।

(२) कमेटी ने विनिमय-बैंक संघ को सुझाव दिया है कि वह भारतीय व्यापारिक बैंकों को भी प्रविष्ट करे और सदस्य बनावे। यह भी सिफारिश की है कि जब कभी संघ विनिमय-व्यापार-सम्बन्धी नियमों में कुछ संशोधन करे तो भारतीय व्यापारियों की भी सलाह ले जिससे उनको आवश्यक सूचना मिलती रहे और वे उन्हीं के अनुसार कार्य कर सकें।

(३) कमेटी ने सुझाव दिया कि प्रत्येक विनिमय-बैंक की शाखा पर एक सलाहकार समिति स्थापित कर देनी चाहिए जो ऋण देने की समस्या पर शाखा को सलाह दे कि किसको और किन शर्तों पर ऋण देना चाहिए। यद्यपि सलाहकार समिति की यह सलाह मानने के लिए बैंक बाध्य न हो और न उसे बाध्य किया जाय फिर भी इन समितियों द्वारा भारतीयों और बैंकों के विदेशी प्रबन्धकों में अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सकेगा और तब यह शिकायत भी न रहेगी कि विदेशी प्रबन्धक विदेशियों के साथ ऋण देने में विशेष व्यवहार करते हैं।

(४) सिफारिश की गई कि विदेशी बैंक भारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त करें और उन्हें बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा देने का प्रबन्ध, जैसा कि इम्पीरियल बैंक करता है, करें।

(५) कमेटी की यह भी सिफारिश थी कि विदेशी बैंक अपनी कार्यशैली में भारतीयों को अधिक सुविधाएं देने की दृष्टि रक्खें अर्थात् वे भारतीयों की इच्छानुसार निर्यातकर्त्ताओं को देशी मुद्रा में विनिमय बिल लिखने की सुविधाएं दें जो भारत में कटौती किए जा सकेंगे तथा जिससे भारतीय बिल-बाजार भी विकसित हो सकेगा। इसी प्रकार आयातकर्त्ताओं के विनिमय-बिलों को खरीदने के साथ-साथ उनको स्वीकृत भी किया करें जिससे उनकी कटौती लंदन मुद्रा-मंडी में हो सकेगी तथा भारतीयों को वहां की सस्ती ब्याज-दरों का लाभ मिल सकेगा। इतनी ही नहीं, इस प्रकार की स्वीकृति एवं सुविधाएं भारतीय व्यापारियों को बिना किसी प्रकार की जमानत के मिलनी चाहिएं।

कमेटी के बहुमत ने सिफारिश की ताकि विदेशी बैंकों को अनुज्ञा-पत्र जारी कर दिए जायं तथा आगे बननेवाले बैंकों को अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने में विशेष ध्यान रक्खा जाय। इस प्रस्ताव को मनु सूबेदार तथा सरकार ने इस प्रकार रक्खा। उन्होंने सुझाया है कि अनुज्ञा-पत्र जारी करना तथा उनका नवकरण करना रिजर्व बैंक का ही अधिकार होना चाहिए और इस अधिकार का प्रयोग करने में रिजर्व बैंक को बड़ी सावधानी से आर्थिक व राजनैतिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने की शर्तें ऐसी होनी चाहिएं जिससे भारतीय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनता, बैंक तथा अन्य सभी संस्थाओं को लाभ हो। उनका विचार है कि केवल उन्हीं बैंकों को भारत की जनता से जमा-राशि लेने का अधिकार होना चाहिए जो भारत में जन्मी हों तथा जिनके संचालक भी भारतीय हों।

अल्पमत ने निम्न शर्तें निर्धारित की थीं जिनके अनुसार अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत होने चाहिएं :—

अनुज्ञा-पत्र उन शर्तों पर स्वीकार किया जाना चाहिए जिससे हमारे देश का व्यापार विदेशियों के हाथ में जाने से रुके; देश का पैसा विदेशियों के हाथ में न जाय, हमारी बैंकिंग व्यवस्था भी सुरक्षित रहे तथा देश का आर्थिक विकास भी हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्न शर्तों की सिफारिश की गई :—

(१) अनुज्ञा-पत्र की पहली शर्त जमा-राशि के विषय में हो। विदेशी बैंकों को अपनी कार्यशील पूंजी का आधा भाग बाहर से लाना चाहिए। भारत में केवल उतनी ही जमा-राशि लेनी चाहिए जितनी भारत के विदेशी व्यापार को सहायता देने के लिए आवश्यक है। बैंकों की भारत की जमा-राशि पर बैंकों को सरकार के लिए टैक्स देना चाहिए और भारतीय जनता से केवल उसी समय जमा लेनी चाहिए जब कि उसके संचालक भी भारतीय हों।

जमा-राशि पर प्रतिबन्ध लगाने के विषय में कमेटी का बहुमत पक्ष में नहीं था क्योंकि उनका विचार था कि उस प्रकार जमा-राशि पर रोक लगाने से देश की बैंकिंग प्रणाली पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा तथा बैंकिंग सुविधाएं भी कम होंगी।

(२) अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने की दूसरी शर्त यह होनी चाहिए कि विदेशी बैंक बन्दरगाह के शहरों को छोड़कर देश के आन्तरिक भागों में अपनी शाखाएं स्थापित न करें।

बहुमत इसके पक्ष में भी न था। उनका विचार था कि उन व्यापारियों को अधिक हानि होगी जो शहरों में रहते हुए बाह्य देशों से सीधा सम्बंध करके इन बैंकों से लाभ उठाते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी बैंकों पर सीमा से अधिक प्रतिबन्ध हो जायेंगे, ऐसा उनका विचार था।

(३) यह भी शर्त सुझाई गई कि किसी भी विदेशी बैंक को भारतीय बैंक को खरीदने या अन्य किसी प्रकार से उसका प्रबन्ध अपने अधिकार में लेने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। इस बात के लिए यह सुझाव रक्खा गया कि प्रत्येक भारतीय बैंक को भारतीय तथा अभारतीय सदस्यों की अलग-अलग पुस्तिका रखनी चाहिए और जब कभी कोई भारतीय किसी अभारतीय को अपने अंश बेचे तो संचालकों को पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। यह भी आवश्यक हो कि ऐसा बैंक समय-समय पर सदस्यों की सूची बनाकर अधिकारियों के पास भेजा करे।

(४) प्रस्ताव किया गया कि विनिमय बैंकों को प्रन्यासी-व्यवसाय (Trustee Business) में भाग नहीं लेना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से भारतीय रुपया उनके हाथ में चला जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) विनिमय बैंकों को अनुज्ञा-पत्र देने की एक शर्त यह हो कि मैनेजर तथा एक अन्य पदाधिकारी को छोड़कर शेष सभी कर्मचारी भारतीय होने चाहिएं। यह शर्त समयानुसार ढीली भी की जा सकती है।

(६) अनुज्ञा-पत्रधारी बैंकों को अपने सभी विवरणों, रिपोर्टों, स्थिति-विवरणों तथा भारतीय व्यापार सम्बन्धी अन्य सभी कागजों की एक-एक प्रतिलिपि अनुज्ञा-अधिकारी को भेज देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भी यदि अधिकारी अन्य कोई सूचना मांगे तो ऐसी सूचना तत्काल भेजनी चाहिए।

(७) अनुज्ञा-पत्र स्वीकार करने की एक शर्त यह भी होनी चाहिए कि ऐसा अनुज्ञा-पत्रधारी बैंक किसी अराष्ट्रीय क्रिया में या आन्दोलन में भाग नहीं लेगा और किसी भी झगड़े के विषय में भारतीय कानून को मानेगा। कोई दो या इससे अधिक अनुज्ञाधारी बैंक किसी प्रकार का गुट्ट नहीं बनायेंगे।

(८) यदि कोई अनुज्ञाधारी विनिमय-बैंक समाशोधन-गृह में प्रवेश लेना चाहे तो उसका पूर्ण अधिकार रिजर्व बैंक को होना चाहिए कि वह चाहे तो प्रवेश स्वीकार करे अथवा नहीं। इसी प्रकार पुनःकटौती की तथा अन्य सुविधाओं की स्वीकृति के लिए भी केन्द्रीय बैंक को ही अधिकार होना चाहिए। १९३५ के भारत सरकार कानून के अनुसार यह मान लिया गया है कि भारत में अंगरेजी बैंकों पर वे सब प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं जो इंगलैण्ड में भारतीय बैंकों पर लगा रक्खे हैं। १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून के अनुसार विदेशी बैंकों पर कुछ नियंत्रण लगा दिए गए हैं। धारा ११(२) के अनुसार उन पर पूंजी तथा संचित कोष विषयक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं तथा धारा २२(१) के अनुसार उन्हें रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

विदेशी विनिमय-बैंकों पर कितने ही प्रतिबन्ध लगाए जायं, यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय बैंक भी विदेशी व्यापार को सुविधा देने का कार्य आरम्भ करें। यह बात केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने भी स्वीकार की है कि विदेशी व्यापार की आर्थिक सुविधाओं के लिए भारत को अब विदेशी बैंकों पर आश्रित नहीं रहना चाहिए क्योंकि विदेशी व्यापार की उन्नति के लिए विदेशी बैंकों से ही समस्या हल नहीं हो सकती। देश का अपना भी एक बैंक होना चाहिए। इस बात का प्रमाण इस तरह मिलता है कि भारत में इंगलैण्ड के बैंक होते हुए भी, अमरीका, जापान, फ्रांस, हालैंड आदि देशों ने भी अपने-अपने बैंक स्थापित किए। इसका कारण यही था कि सभी देश अपने बैंकों द्वारा ही विदेशी व्यापार उन्नत करना चाहते थे। केन्द्रीय जांच-कमेटी तथा विदेशी विशेषज्ञों का कहना है कि बड़े-बड़े भारतीय व्यापारिक बैंकों को अपने-अपने ग्राहकों की सुविधाओं के लिए विदेशों में यदि वे शाखाएं न खोल सकें तो अन्य बैंकों तथा ऐसी ही अन्य संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। कमेटी ने यह भी सिफारिश की है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कि इम्पीरियल बैंक को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए—यह बैंक विदेशी विनिमय का कार्य अच्छी तरह से कर सकता है। रिजर्व बैंक को भी यह प्रयत्न करना चाहिए कि किसी भी प्रकार से इम्पीरियल बैंक इस कार्य में भाग ले। कमेटी के ६ सदस्यों की तो राय थी कि सरकार को फौरन एक विनिमय-बैंक स्थापित कर देना चाहिए। उनका विचार पूर्ण रूप से सरकारी विनिमय-बैंक स्थापित करना था क्योंकि वे समझते थे कि देश में विदेशी विनिमय-बैंकों का ऐसा एकाधिकार हो गया है कि उसको सरकारी बैंक ही दूर कर सकता है।

कुछ लोगों का यह भी विचार था कि 'सम्मिलित बैंक' स्थापित किए जायं। भारत उन देशों से मिलकर जिनके साथ भारत का व्यापारिक लेन-देन है, विदेशी बैंक स्थापित करे। इनकी पूंजी सम्मिलित पूंजी हो और प्रबन्ध भी सम्मिलित हो और लाभ भी बराबर-बराबर बांटा जाय। कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया परन्तु बताया कि ऐसे बैंक सहयोग से ही स्थापित हो सकते हैं, कानून से नहीं। परन्तु श्री सरकार ने इस प्रस्ताव को अव्यावहारिक बतलाया क्योंकि इस प्रकार जितनी पूंजी की आवश्यकता होगी उतनी पूंजी भारतवासी नहीं दे सकेंगे।

इस प्रकार अनेक प्रस्ताव आते रहे हैं परन्तु इस ओर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अब भी विदेशी विनिमय-बैंकों का ही देश में आधिपत्य है। अब चूंकि राष्ट्रीय सरकार है और रिजर्व बैंक का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है तो ऐसी आशा है कि भारतीय बैंकों की विदेशी विनिमय क्षेत्र में कुछ प्रगति होगी। अप्रैल १९५२ तक विदेशों में भारतीय बैंकों के कार्यालय इस प्रकार थे :—

देश	अतालिकाबद्ध बैंकों के कार्यालय	तालिकाबद्ध बैंकों के कार्यालय
पाकिस्तान	७९	१६
अदन	—	—
ब्रिटिश अफ्रीका	—	—
बर्मा	८	—
लंका	३	—
फ्रेंच इण्डिया (चन्द्रनगर को निकाल कर)	३	—
जापान	२	—
मलाया	१२	—
थाइलैण्ड	२	—
इंगलैण्ड	३*	—
योग	११२	१६

*यूनाइटेड कमर्सियल बैंक ने इंगलैण्ड में अपना कार्यालय १९५३ में स्थापित किया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

व्यापारिक बैंकों के साथ साथ भारत में कुछ ऐसे बैंक भी हैं जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं पर जिनकी शाखाएं हमारे देश में काम करती हैं। ये शाखाएं अधिकतर ऐसे स्थानों पर हैं जहां से आयात-निर्यात का व्यापार अधिक होता है परन्तु कुछ शाखाएं देश के आन्तरिक भागों में भी स्थापित की गई हैं जो अन्य देशी व्यापारिक बैंकों की भांति उनकी प्रतियोगिता में जनता से राशि का लेन-देन करती हैं। इन बैंकों का प्रमुख कार्य विदेशी व्यापार में सहायता करना होता है। इन बैंकों को विदेशी विनिमय बैंक कहा जाता है। विदेशी विनिमय बैंक विनिमय-व्यवसाय के अतिरिक्त लोगों को ऋण देते हैं, साख-पत्र निर्गमित करते हैं, राशि विनियोग करते हैं, जनता से राशि जमा करते हैं तथा एजेन्सी का काम भी करते हैं। व्यापार के दृष्टिकोण से विदेशी बैंकों को दो भागों में बांटा जा सकता है—(१) ऐसे बैंक जो विदेशी बैंकों के एजेन्ट हैं और जिनका भारत में व्यापार सीमित है, (२) ऐसे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं परन्तु जिनका अधिकांश व्यापार भारत में है और जिनकी कुल जमा-राशि का $\frac{1}{3}$ से भी अधिक भाग भारत की जमा-राशि है।

विदेशी विनिमय बैंकों ने भारत के विदेशी व्यापार में एकाधिकार रक्खा है और भारत के बैंकों ने इस ओर अधिक भाग नहीं लिया। इम्पीरियल बैंक, जो सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक माना जाता है, कानून से १९३५ तक विदेशी विनिमय का व्यवसाय कर ही नहीं सकता था। इसके पश्चात् भी उसने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी कार्य करने में निम्न असुविधाएं थीं—(१) भारतीय बैंकों के पास विदेशी विनिमय का व्यवसाय करने के लिए पर्याप्त पूंजी नहीं रही, (२) इनके आर्थिक साधन बहुत कम रहे तथा इनका देशी व्यवसाय बहुत अधिक रहा जिससे इन्होंने विदेशी विनिमय के लेन-देन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी, (३) इन बैंकों के पास कुशल कर्मचारियों तथा विशेषज्ञों की कमी थी, (४) भारतीय बैंकों को विदेशों में जमा-राशि प्राप्त करना कठिन था, (५) विदेशी बैंकों की कट्टर प्रतियोगिता रही, (६) इन बैंकों को विदेशी मण्डियों का भरपूर ज्ञान नहीं था।

विदेशी विनिमय बैंकों की क्रियाओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) भारत के आयात-निर्यात में सहायता देना, (२) भारत के बन्दरगाहों से आन्तरिक नगरों तथा नगरों से बन्दरगाहों तक माल लाने ले-जाने में सुविधा प्रदान करना, (३) अन्य बैंकिंग कार्य करना। अन्य कार्यों में विदेशी विनिमय-बैंक भारतीय जनता से राशि जमा करते, ऋण देते तथा एजेंसी का कार्य भी करते हैं।

विनिमय-बैंकों की कार्यशैली एवं क्रियाओं के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहा जाता है कि इन बैंकों ने अपना व्यवसाय केवल विदेशी विनिमय के लेन-देन तक ही सीमित न रखते हुए अन्य क्षेत्रों में भी बढ़ाया जिसके कारण भारतीय बैंक उन्नति न कर सके। इन बैंकों के विरुद्ध मुख्य-मुख्य शिकायतें इस प्रकार हैं—(१) विदेशी विनिमय-बैंकों के संचालक एवं प्रबन्धक विदेशी होने के कारण भारतीय व्यापारियों के साथ सौतेला व्यवहार करते हैं, (२) ये बैंक भारत में जमा-राशि प्राप्त करते तथा उससे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देते हैं, (३) ये बैंक भारतीय बैंकों के साथ प्रतियोगिता करके उन्हें नीचा लाने की चेष्टा करते रहते हैं, (४) इनमें विशेषतः विदेशी लोग ही कर्मचारी तथा अफसर रक्खे जाते हैं जिससे भारतीयों को कोई अवसर नहीं मिलता, (५) इन बैंकों ने विदेशी व्यापार को भारतीयों के हाथों से निकालकर विदेशियों को दे दिया है, आदि-आदि।

कुछ भी हो, यह मानना पड़ेगा कि विदेशी विनिमय बैंकों ने देश की बैंकिंग व्यवस्था को जागृत किया और देशवासियों में विश्वास की भावना उत्पन्न करके बैंकों में राशि जमा करना सिखाया। इन बैंकों ने विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की सुविधाएं देकर देश के विदेशी व्यापार को भी उन्नत बनाया है। अब हमारे देश में ऐसे भारतीय बैंक हैं जो विदेशी व्यापार को सुविधा देने का काम भली-भांति कर सकते हैं पर उन्हें विदेशी प्रतियोगिता से बचाने की आवश्यकता है। इस प्रतियोगिता से बचाने के लिए तीन उपाय किए जा सकते हैं—(१) वर्तमान विदेशी बैंकों के व्यापारिक कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जायं, (२) भविष्य में अन्य विदेशी बैंकों की स्थापना को अनुज्ञा-पत्र देने की पद्धति द्वारा नियंत्रित किया जाय, (३) भारतीय व्यापारिक बैंकों को विदेशी विनिमय के कार्यक्षेत्र में लाया जाय।

इस विषय में केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने ये सुझाव दिए थे—(१) विनिमय-बैंकों को तथा इन्श्योरेंस कम्पनियों को मिलकर निश्चय कर लेना चाहिए कि किन कम्पनियों के गोप-लेख बैंकों को स्वीकृत होंगे जिससे भारत की इन्श्योरेंस कम्पनियां उन्नति कर सकें, (२) विनिमय-बैंक संघ भारतीय बैंकों को भी प्रविष्ट करे, (३) प्रत्येक विनिमय-बैंक की शाखा पर एक सलाहकार समिति स्थापित की जाय जो ऋणादि देने के प्रश्न पर विचार करके बैंक को सुझाव दे, (४) विदेशी बैंकों को चाहिए कि भारतीयों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त करें, (५) विदेशी बैंक अपनी कार्यशैली सरल और साधारण बनावें, (६) बैंकों को अनुज्ञा-पत्र जारी कर दिए जायं।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के अल्पमत ने सिफारिश की कि विदेशी बैंकों को अनुज्ञा-पत्र देने से पूर्व कुछ शर्तें लगा देनी चाहिएं। अल्पमत का कहना था कि लाइसेन्स (अनुज्ञा-पत्र) देते समय बैंकों की जमा-राशि, ऋण-नीति, प्रन्यासी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यवसाय, भारतीय कर्मचारियों की शिक्षा तथा कार्यक्षेत्र सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा देने चाहिएं और अनुज्ञा-पत्र देने तथा रद्द करने का अधिकार रिजर्व बैंक को होना चाहिए।

वैसे तो १९४९ के बैंकिंग कानून के अनुसार विदेशी बैंकों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं पर फिर भी यह आवश्यक है कि भारतीय बैंक भी विदेशी विनिमय का लेन-देन करें। यदि भारतीय बैंक अभी विदेशों में शाखाएं खोल सकें तो उन्हें विदेशी बैंकों से सम्बन्ध स्थापित करके विदेशी विनिमय का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। भारत उन देशों से मिलकर, जिनके साथ भारत का व्यापारिक लेन-देन है, 'सम्मिलित बैंक' स्थापित कर सकता है। अब भी विदेशी व्यापार पर विदेशी बैंकों का ही आधिपत्य है। सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया, बैंक ऑव इण्डिया तथा यू० को० बैंक ने विदेशों में कुछ शाखाएं स्थापित की हैं। पर अब भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना शेष है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) विदेशी विनिमय-बैंक कौन-कौन से कार्य करते हैं? आयात-निर्यात में इनकी कार्यशैली का वर्णन कीजिए।

(२) भारत में विदेशी व्यापार में विदेशी विनिमय बैंकों का क्या स्थान रहा है? इन बैंकों से भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को क्या देन मिली है?

(३) भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में विदेशी विनिमय बैंकों का क्या स्थान है? इन बैंकों से देश की बैंकिंग व्यवस्था को क्या हानि हुई है?

(४) भारतीय व्यापारिक बैंकों ने विदेशी विनिमय-व्यापार क्यों नहीं अपनाया? इस सम्बन्ध में उनके साथ क्या अड़चन और असुविधाएं थीं?

(५) भारत-स्थित विनिमय बैंकों के विरुद्ध क्या शिकायतें कही जाती हैं? इन शिकायतों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

(६) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने भारत-स्थित विदेशी बैंकों को नियंत्रित करने के लिए क्या-क्या सुझाव दिए थे? सविस्तार वर्णन कीजिए।

(७) देश के विदेशी व्यापार को विनिमय बैंक किस प्रकार सहायता देते हैं? उनकी कार्यशैली में सुधार करने के लिए कुछ सुझाव दीजिए।

(८) "भारतीय बैंकिंग कलेवर में विनिमय-बैंक अनियंत्रणीय एवं असंविलीयन भाग हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

(९) भारतीय व्यापारिक बैंकों को विदेशी विनिमय का कार्य करने के लिए किन-किन सुविधाओं की आवश्यकता है? ये सुविधाएं उन्हें किस प्रकार मिल सकती हैं?

(१०) भारतीय व्यापारिक बैंकों को विदेशी विनिमय का व्यवसाय करने के लिए किस प्रकार प्रोत्साहित किया जा सकता है? सविस्तार लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३४

औद्योगिक बैंक

औद्योगिक बैंक वे बैंकिंग संस्थाएं होती हैं जो उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनकी वित्त-सहायता करती हैं। जिस प्रकार व्यापारिक बैंक उद्योगों को कर्मवाहक पूंजी देते हैं उसी प्रकार औद्योगिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन एवं स्थिर पूंजी देते हैं। औद्योगिक बैंक दीर्घकालीन ऋण देने के लिए लोगों से लम्बे काल के लिए ही राशि जमा करते हैं। ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों के अंश या स्कंध बेचकर अथवा उनके अंशों तथा स्कंधों का अभिगोपन करके भी उनकी सहायता करते हैं।

भारत में औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता—सभी मानते हैं कि देश की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति के लिए देश का औद्योगीकरण करना आवश्यक है क्योंकि उद्योगों की उन्नति हुए बिना देश में उपलब्ध साधनों का पूर्ण एवं उचित उपयोग नहीं हो सकता। पर हमारे देश में उद्योगों के लिए पर्याप्त वित्त-सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। इसी कारण नैसर्गिक साधनों की अधिकता होते हुए भी भारत का औद्योगिक विकास पर्याप्त रूप में नहीं हो पाया। अतः देश में उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए औद्योगिक बैंक एवं अन्य ऐसी ही विशिष्ट संस्थाएं होना चाहिए।

उद्योगों की वित्त-आवश्यकताएं प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) स्थायी सम्पत्ति जैसे भूगृहादि, यंत्रादि खरीदने के लिए; (२) कर्मवाहक पूंजी जैसे कच्चा माल खरीदने के लिए, वेतन चुकाने के लिए, आदि। माल बेचने में भी राशि की आवश्यकता होती है। हमारे देश में उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए उचित साधनों एवं संस्थाओं का बहुत अभाव है। नए उद्योगों को स्थापित करने के साधन तो हमारे देश में नहीं के बराबर हैं।

सन् १९१९–२२ तथा १९४३ से आगे के समय को छोड़कर, जबकि देश में मुद्रा-स्फीति के कारण राशि का बाहुल्य रहा, उद्योगों को धन-राशि का भारी अभाव रहा है। कृषक वर्ग जिनके पास राशि आई वे या तो इकट्ठा करते रहे या पास-पड़ोसवालों को उधार देते रहे। मध्यम श्रेणी के लोग अपनी बचत-राशि बैंकों में जमा करते हैं अथवा उससे सरकारी सिक्यूरिटियां खरीद लेते हैं। यदि सच कहा जाय तो उद्योगों में राशि न लगाए जाने का एक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुख्य कारण यह है कि देश में औद्योगिक बैंक या अन्य ऐसी संस्थाएं नहीं हैं जो इस छोटी-छोटी राशि को मध्यम वर्ग से इकट्ठा करके उद्योगों में विनियोग कर सकें अथवा उन्हें ऋण दे सकें।

व्यापारिक बैंक एवं उद्योगों की वित्त-सहायता

देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में कोई विशेष योग नहीं दिया है और जो कुछ सहायता दी भी है वह अपर्याप्त है। इसके अनेक कारण हैं :—

(१) व्यापारिक बैंकों ने यद्यपि अनेक बार उद्योगों के अंश तथा ऋण-पत्र खरीदकर उन्हें जनता को हस्तान्तरित करना चाहा परन्तु अपनी अल्पकालीन व्यवसाय-नीति के कारण न कर सके। उन्होंने उद्योगों के अंशों या ऋण-पत्रों का अभिगोपन तक नहीं किया। इम्पीरियल बैंक ने भी, जो सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक माना जाता है, यह कार्य नहीं किया। उसे तो ६ माह से अधिक अवधि पर राशि उधार देना भी मना है। अन्य बैंकों ने भी इसी प्रकार उद्योगों को सहायता न दी।

(२) व्यापारिक बैंकों को जब व्यापार तथा उद्योग दोनों को ही आर्थिक सहायता देनी थी तो उनके लिए यही उचित था कि अल्पकाल के लिए व्यापार को ही सहायता देते। अतः उद्योग उनकी इस सहायता से वंचित रहे।

(३) भारत के व्यापारिक बैंक व्यक्तिगत साख या उधार लेनेवालों की वैयक्तिक जमानत पर ऋण नहीं देते। अतः उन्होंने उद्योगों को सहायता न देकर अपनी राशि व्यापारियों को साख-सुविधाएं देने में विनियोग कर दी।

(४) कुछ उद्योगों को इन बैंकों से सहायता मिलती भी परन्तु ये बैंक उन उद्योगों की सम्पत्ति तथा अन्य साधनों का मूल्यांकन करना चाहते थे और मूल्यांकन करने के लिए इनके पास कुशल विशेषज्ञ नहीं थे जो उद्योगों की सम्पत्ति का मूल्यांकन कर सकते।

(५) व्यापारिक बैंकों ने जो कुछ सहायता दी है वह सब उन्होंने अपनी अल्पकालीन जमा-राशि में से दी है और समय-समय पर उसका नवकरण भी किया है परन्तु जब बैंकों की जमा-राशि कम हो गई तो उन्हें सहायता भी कम करनी पड़ी। इस प्रकार इनकी सहायता सदैव अनिश्चित ही रहती है। कुछ व्यापारिक बैंक तो ऐसे भी हैं जो उद्योगों को राशि उधार देना बड़ा भारी खतरा समझते रहे हैं।

(६) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के कुछ सदस्यों तथा अन्य प्रश्नकर्त्ताओं का विचार है कि इम्पीरियल बैंक के उच्च पदाधिकारी अभारतीय होने के कारण अभारतीयों को ही ऋण देते हैं और भारतीय उद्योग इससे वंचित रह जाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(७) व्यापारिक बैंकों की जमा-राशि अल्पकालीन होती है, अतः वे उद्योगों को लम्बे समय के लिए उधार नहीं दे सकते । यद्यपि बंबई और अहमदाबाद की ओर जमा-राशि की प्रथा का उद्योगों ने भी पालन किया—उद्योगों ने भी लोगों से राशि जमा की और औद्योगिक कार्यों में लगाई—परन्तु यह राशि भी अल्पकालीन एवं अनिश्चित ही थी, अतः इसमें भी उद्योगों को सदैव खतरा ही बना रहता था ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को कुछ भी सहायता नहीं दी और जो कुछ देते भी हैं वह सन्तोषजनक नहीं । यह ठीक है कि व्यापारिक बैंकों को केवल उन्हीं सिक्यूरिटियों पर राशि उधार देना चाहिए जो सुरक्षित हों और शीघ्र ही रोकड़ राशि में भुनाई जा सकें । परन्तु यह बात हमारे उद्योगों में नहीं मिलती । अतः उद्योगों की वित्त-सहायता का हमारे देश में कोई प्रबन्ध नहीं । जर्मनी, जापान तथा अमरीका आदि देशों में तो विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंक हैं जो उद्योगों को राशि उधार देते हैं । हमारे देश में भी यह सुविधा दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है :—

(१) देश के व्यापारिक बैंक ही जर्मन बैंकों की भांति उद्योगों को सहायता दे सकते हैं ।

(२) उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंक स्थापित किए जा सकते हैं ।

जर्मन बैंकिंग प्रणाली—जर्मनी में व्यापारिक बैंक ही उद्योगों की सहायता करते हैं । वह प्रणाली इस भांति है :—

(क) व्यापारिक बैंक में किसी उद्योग का एक चालू लेखा रहता है जिसमें लेन-देन लिखा जाता है । इस लेखे का संतुलन नित्यप्रति नहीं होता वरन् अर्धवार्षिक रीति से होता है । इसी लेखे में उधार की रकम लिखी जाती है और इसी में जमा होनेवाली राशि भी लिखी जाती है ।

(ख) जर्मनी के व्यापारिक बैंक उद्योगों के अंश खरीदकर उनको प्रारम्भिक पूंजी दे देते हैं और उसके बाद ये अंश जनता को बेच दिए जाते हैं । इस प्रकार उद्योगों का स्वामित्व अंशधारियों के नाम हस्तान्तरित कर दिया जाता है । हानि-भय कम करने की दृष्टि से कई-कई बैंक मिलकर 'कन्सोरटियम' बनाते तथा उद्योगों की सहायता करते हैं । प्रत्येक बैंक औद्योगिक संस्था के अंश खरीद लेता है । अंश खरीदने पर भी उनकी राशि लम्बे समय के लिए विनियोगित नहीं रहती क्योंकि बैंक थोड़े समय के बाद ही इन अंशों को जनता में बेच डालते हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ग) राशि उधार देनेवाला बैंक अपना एक प्रतिनिधि औद्योगिक संस्था की प्रबन्ध संचालक समिति पर भेजता है जो उस संस्था के क्रिया-कलापों पर दृष्टि रखता है कि कहीं रकम नष्ट तो नहीं की जा रही है।

अन्य मार्ग—(क) बैंक कुछ निश्चित राशि के ऐसे अंशों का निर्गमन करें, जिनकी राशि से केवल उद्योगों को ही आर्थिक सहायता दी जावे।

(ख) बैंको को चाहिए कि वे औद्योगिक संस्थाओं को वित्त-सहायता वैधानिक साख पर भी दिया करें, जिससे उनको कार्यशील पूंजी मिलती रहे क्योंकि वे तरल संपत्ति की सिक्यूरिटी नहीं दे सकते।

(ग) बैंकों को चाहिए कि वे अच्छी उद्योग-संस्थाओं द्वारा निर्गमित अंशों अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन भी करें। परन्तु इस कार्य को सावधानी से करने की आवश्यकता है अन्यथा इनकी जमा-राशि नष्ट हो सकती है।

हमारे देश के व्यापारिक बैंक उक्त कार्यों को भली प्रकार अपना सकते हैं। सबसे पहले तो बड़े-बड़े बैंकों को ही इसमें भाग लेना चाहिए। बैंकों को यह भी आवश्यक है कि एक बार राशि उधार देकर उस संस्था के विश्वासपात्र बन जायं तथा उस पर अपनी देखरेख व नियंत्रण रखें। इस कार्य में इम्पीरियल बैंक को सबसे पहले हाथ बटाना चाहिए।

औद्योगिक बैंकों की स्थापना

देश के उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए तथा नये-नये उद्योग स्थापित करने के लिए औद्योगिक बैंकों की ही आवश्यकता है जिनके पास पर्याप्त मात्रा में साधन हों व जो उन साधनों को दीर्घकालीन कार्यों में विनियोग कर सकें। ऐसे बैंक हों जिनकी परिदत्त पूंजी अधिक हो तथा जिनकी जमा-राशि भी दीर्घकालीन हो। यदि उन्हें और अधिक राशि की आवश्यकता हो तो वे ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त कर सकें। औद्योगिक बैंकों को अल्पकालीन जमा-राशि के आवागमन तथा व्यापारिक बैंकिंग क्रियाओं से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

प्रस्तावित औद्योगिक बैंकों को चाहिए कि वे केवल एक ही उद्योग में अथवा एक ही उद्योग-संस्था में राशि विनियोग न करें। उन्हें तो राशि भिन्न-भिन्न उद्योगों में तथा भिन्न-भिन्न उद्योग-संस्थाओं में विनियोग करनी चाहिए जिससे उनका खतरा बंट जाय और एक ही संस्था या एक ही उद्योग के नष्ट होने से उनकी राशि डूब न जाय। अंशों तथा स्कंध का अभिगोपन करने का काम भी बैंक को ले लेना चाहिए। परन्तु इस कार्य के लिए बैंक को विशेषज्ञों की सहायता लेनी चाहिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसके अतिरिक्त इन बैंकों को जनता की निठल्ली राशि निकालकर लाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। भारतीय पूंजी गतिशील नहीं, लोचदार नहीं और न पर्याप्त ही है। अतः इन बैंकों को जनता से लम्बे समय के लिए राशि लेकर उद्योगों में जुटानी चाहिए।

हमारे देश में पहिले कुछ औद्योगिक बैंक स्थापित हुए थे। सबसे पहले ताता इण्डस्ट्रियल बैंक ने कार्य आरम्भ किया। और भी अन्य बैंक स्थापित हुए परन्तु उन्होंने उक्त नियमों का पालन नहीं किया; अतः उन्हें अपना कार्य बन्द करना पड़ा।

प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन (प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन एक्ट १९५१)

केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों ने उद्योगों की सहायता के लिए प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन स्थापित करने की सिफारिशें की थीं। उनका कहना था कि "औद्योगिक विकास का कार्य प्रान्तों का उत्तरदायित्व है तथा प्रत्येक प्रान्त वहां के लोगों से आसानी से राशि निकलवाकर प्रान्तीय सीमा में स्थित उद्योगों की सरलता के साथ सहायता कर सकता है, इसलिए प्रान्तीय कारपोरेशन इस क्षेत्र में अधिक कार्य कर सकते हैं। इन कारपोरेशनों को अंश बेचकर अधिक से अधिक राशि जनता से प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु जनता से सभी आवश्यक राशि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः प्रान्तीय सरकारों को भी इसमें कुछ भाग देना चाहिए। इससे जनता में कुछ विश्वास बढ़ेगा। अंश-पूंजी के अतिरिक्त यदि और भी पूंजी की आवश्यकता हो तो ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त की जा सकती है। सरकार यदि इन ऋण-पत्रों के ब्याज की गारण्टी करे तो जनता उनको शीघ्र ही खरीद सकती है और यदि आवश्यकता हो तो दीर्घकाल के लिए जमा-राशि लोगों से ली जा सकती है। परन्तु इसमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि यह जमा-राशि अल्पकालीन न हो।"

जांच-कमेटियों ने यह भी सिफारिश की कि "कारपोरेशन जिन उद्योगों को राशि उधार दें उनकी संचालक समिति पर अपना एक प्रतिनिधि भेज सकते हैं जो उस उद्योग-संस्था की कार्यशैली को देखता रहे तथा कारपोरेशन के अधिकारियों को सूचना देता रहे जिससे सरकार को इसके विषय में पूरा-पूरा ज्ञान रहे। प्रस्तावित कारपोरेशनों को अपनी-अपनी नियमावली तैयार कर लेनी चाहिए जिसके अनुसार ये उद्योगों को राशि उधार दें। परन्तु इसी नियमावली पर प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। राशि उधार देते समय कारपोरेशनों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन उद्योगों को राशि उधार दी जा रही है वे जनता के भी किसी उपयोग के हैं या नहीं, प्रान्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की उत्पादन-वृद्धि में कुछ योग दे रहे हैं या नहीं, जन-संख्या के लिए रोजगार के साधन भी हैं या नहीं और आगे भी इस राशि से उन्नत हो सकेंगे या नहीं। इन सब बातों को भली प्रकार जानने के लिए प्रस्तावित कारपोरेशनों को विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक है। अधिकांश में राशि नये उद्योगों को कुछ अचल पूंजी खरीदने के लिए तथा उद्योगों को अपना विस्तार करने के लिए देनी चाहिए। कर्मवाहक पूंजी तो उद्योगों को व्यापारिक बैंकों से ही उधार लेनी चाहिए जिससे कारपोरेशन तथा व्यापारिक बैंकों में प्रतियोगिता न हो।"

उक्त सिफारिशों को दृष्टिगत रखते हुए तथा इनको कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने २८ सितम्बर १९५१ को प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन एक्ट पास किया। एक्ट में प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन की स्थापना के विषय में निम्न व्यवस्था की गई है :—

उद्देश्य—अपने-अपने प्रान्त में मध्यमश्रेणी एवं निम्नश्रेणी की उद्योग-संस्थाओं तथा कुटीर-उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से अर्थ-सहायता करना।

कार्य—एक्ट के अन्तर्गत प्रस्तावित कारपोरेशनों को निम्न कार्य करने का अधिकार दिया गया है :—

(१) औद्योगिक कम्पनियों को बीस वर्ष की अवधि के लिए ऋण देना तथा उनके ऋण-पत्र भी खरीदना,

(२) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा २० साल की अवधि पर अन्य स्रोतों से लिए हुए ऋणों की गारण्टी करना,

(३) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित अंशों, स्कंधों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना (पर यदि इस प्रकार कोई अंश या ऋण-पत्र खरीदने पड़ें तो उनको सात वर्ष के अन्दर-अन्दर बेच देना)।

प्रस्तावित कारपोरेशन को सरकारी सिक्यूरिटियों, सोने-चांदी अथवा अन्य किसी प्रकार की चल या अचल जमानत लिए बिना ऋण देने का अधिकार नहीं दिया गया है। कारपोरेशन अपने ही अंशों की साख पर कोई ऋण नहीं दे सकते। किसी भी एक औद्योगिक कम्पनी को अपनी परिदत्त पूंजी का १० प्रतिशत या १० लाख रुपये—इसमें से जो भी कम हो—से अधिक राशि उधार देने का अधिकार नहीं है। यदि कोई कम्पनी कारपोरेशन से ऋण लेकर उसका उचित प्रयोग न करती जान पड़े तो कारपोरेशन उसी समय राशि वापस ले सकता है।

पूंजी—वैसे तो प्रान्तीय सरकार को अधिकार है कि वह प्रस्तावित कारपोरेशन स्थापित करते समय उसकी पूंजी निर्धारित करे पर एक्ट के अनुसार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार तथा रिजर्व बैंक को और लेने पड़े।* ये अंश उक्त विभिन्न संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य किसी के नाम हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते। गत वर्षों में ये अंश विभिन्न संस्थाओं के पास इस प्रकार रहे—

	३० जून, १९५०	३० जन, १९५१	३० जून, १९५२	३० जन, १९५३
१. केन्द्रीय सरकार	२,०००	२,०००	२,०००	२,०००
२. रिजर्व बैंक	२,०५५	२,०५४	२,०५४	२,०५४
३. तालिकाबद्ध बैंक	२,४८०	२,४७५	२,४३५	२,४३५
४. इंश्योरेंस कम्पनियां तथा अन्य संस्थाएं	२,५२३	२,५२८	२,५६८	२,५६८
५. सहकारी बैंक	९४२	९४३	९४३	९४३
योग	१०,०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००

दिसम्बर १९४९ से कारपोरेशन के अंश 'ट्रस्ट्री सिक्यूरिटी' घोषित कर दिए गए हैं। कारपोरेशन को बौण्ड बेचकर राशि प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त है। इस अधिकार के अनुसार कारपोरेशन ने अब तक ५.८१ करोड़ रुपये के बौण्ड बेचे हैं। ५.३० करोड़ रुपये के बौण्ड १९४९-५० में बेचे गए तथा ५१ लाख रुपये के बौण्ड १९५१-५२ में बेच डाले गए। इस प्रकार अब कारपोरेशन की कुल देनदारी में ४९% अंश-पूंजी तथा ५१% बौण्ड राशि है। कारपोरेशन को जनता से राशि जमा करने का अधिकार भी प्राप्त है पर अब तक उसने जमा-राशि स्वीकृत नहीं की है।

कारपोरेशन की कुल देनदारी, जिसमें संभाव्य दायित्व (Contingent Liability) भी सम्मिलित है, उसकी परिदत्त पूंजी के पांचगुने से अधिक नहीं हो सकती, जमा-राशि जो दीर्घकाल के लिए स्वीकृत की जाय, किसी भी समय १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कारपोरेशन की अंश-पूंजी तथा इस पर २½% प्रतिवर्ष लाभांश की न्यूनतम दर की गारण्टी केन्द्रीय सरकार ने की है। लाभांश किसी भी स्थिति में ५% प्रतिवर्ष से अधिक नहीं दिया जा सकता। इस दर पर भी लाभांश तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि संचित-

*पाकिस्तान औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन में पाकिस्तान की सरकार ने कुल पूंजी का ५१ प्रतिशत अपने हाथ में रक्खा है।

इंगलैण्ड में जो दो औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन हैं उनमें इंगलैण्ड की सरकार का कोई हिस्सा नहीं है पर बैंक ऑव इंगलैण्ड ने दोनों में कुछ अंश ले रक्खे हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन

केन्द्रीय बैंकिंग-जांच कमेटी के श्री मनु सूबेदार और अन्य सदस्यों ने एक अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन की स्थापना का सुझाव रखा था। उन्होंने बताया कि राष्ट्रीय उद्योगों की सहायता प्रान्तीय कारपोरेशनों के द्वारा ठीक-ठीक नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे उद्योगों के लिए एक सार्वदेशिक संस्था ही होनी चाहिए। यह संस्था देश की निठल्ली पूंजी को अच्छी तरह गतिशील बना सकती है तथा प्रान्तीय वित्त-कारपोरेशनों से मिलकर सहयोग के साथ काम कर सकती है। सार्वदेशिक संस्था को विशेषज्ञों की सलाह आसानी से प्राप्त हो सकती है क्योंकि वह उसे प्राप्त करने में जितना व्यय कर सकती है उतना प्रान्तीय संस्थाएं नहीं कर सकतीं। उनका कहना था कि सार्वदेशिक संस्था को केन्द्रीय सरकार की सहायता रहेगी अतः उसके पास साधनों की कमी भी नहीं रहेगी। उसका क्षेत्र विस्तृत होगा और इसलिए असाधारण परिस्थिति के कारण उस पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं होगा।

औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन १९४८—उक्त सिफारिशों को ध्यान में रख कर तथा देश के उद्योगों की पूंजी संबंधी समस्याओं को हल करने के विचार से सार्वदेशिक वित्त-कारपोरेशन स्थापित कर दिया गया है। कारपोरेशन १ जुलाई १९४८ से काम कर रहा है। कारपोरेशन का प्रमुख उद्देश्य "भारतीय औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन आर्थिक सहायता देना है, विशेषकर उन परिस्थितियों में जबकि उनको साधारण बैंकिंग सुविधाएं प्राप्त न हों और पूंजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत भी दुर्लभ हों।"

पूंजी—कारपोरेशन की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपये है जिसमें पांच-पांच हजार रुपये के २०,००० अंश हैं। अंशों की मूल राशि तथा १½ प्रतिशत लाभांश की न्यूनातिन्यून दर की गारंटी भारत सरकार ने दी है। अभी तक २०,००० अंशों में से केवल १०,००० अंश ही निर्गमित किए गए हैं जो ५ करोड़ की राशि के हैं। १ करोड़ रुपये के अंश रिजर्व बैंक ने, १ करोड़ के भारत सरकार ने तथा ३ करोड़ के अंश तालिकाबद्ध बैंकों, इन्श्योरेन्स कम्पनियों, ट्रस्टों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं को दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

तालिकाबद्ध बैंकों को	२५०० अंश	१½ करोड़ रुपये
इन्श्योरेन्स कम्पनियों को	२५०० ,,	१½ करोड़ रुपये
सहकारी बैंकों को	१००० ,,	½ करोड़ रुपये

तालिकाबद्ध बैंकों तथा इन्शोरेंस कम्पनियों ने अपने-अपने हिस्से के अंश पूरे ले लिए पर सहकारी बैंक अपना हिस्सा न खरीद सके। अतः शेष अंश भारत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार तथा रिजर्व बैंक को और लेने पड़े।* ये अंश उक्त विभिन्न संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य किसी के नाम हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते। गत वर्षों में ये अंश विभिन्न संस्थाओं के पास इस प्रकार रहे—

	३० जून, १९५०	३० जन, १९५१	३० जून, १९५२	३० जन, १९५३
१. केन्द्रीय सरकार	२,०००	२,०००	२,०००	२,०००
२. रिजर्व बैंक	२,०५५	२,०५४	२,०५४	२,०५४
३. तालिकाबद्ध बैंक	२,४८०	२,४७५	२,४३५	२,४३५
४. इंश्योरेंस कम्पनियां तथा अन्य संस्थाएं	२,५२३	२,५२८	२,५६८	२,५६८
५. सहकारी बैंक	९४२	९४३	९४३	९४३
योग	१०,०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००

दिसम्बर १९४९ से कारपोरेशन के अंश 'ट्रस्ट्री सिक्यूरिटी' घोषित कर दिए गए हैं। कारपोरेशन को बौण्ड बेचकर राशि प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त है। इस अधिकार के अनुसार कारपोरेशन ने अब तक ५.८१ करोड़ रुपये के बौण्ड बेचे हैं। ५.३० करोड़ रुपये के बौण्ड १९४९-५० में बेचे गए तथा ५१ लाख रुपये के बौण्ड १९५१-५२ में बेच डाले गए। इस प्रकार अब कारपोरेशन की कुल देनदारी में ४९% अंश-पूंजी तथा ५१% बौण्ड राशि है। कारपोरेशन को जनता से राशि जमा करने का अधिकार भी प्राप्त है पर अब तक उसने जमा-राशि स्वीकृत नहीं की है।

कारपोरेशन की कुल देनदारी, जिसमें संभाव्य दायित्व (Contingent Liability) भी सम्मिलित है, उसकी परिदत्त पूंजी के पांचगुने से अधिक नहीं हो सकती, जमा-राशि जो दीर्घकाल के लिए स्वीकृत की जाय, किसी भी समय १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कारपोरेशन की अंश-पूंजी तथा इस पर २½% प्रतिवर्ष लाभांश की न्यूनतम दर की गारण्टी केन्द्रीय सरकार ने की है। लाभांश किसी भी स्थिति में ५% प्रतिवर्ष से अधिक नहीं दिया जा सकता। इस दर पर भी लाभांश तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि संचित-

*पाकिस्तान औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन में पाकिस्तान की सरकार ने कुल पूंजी का ५१ प्रतिशत अपने हाथ में रक्खा है।

इंगलैण्ड में जो दो औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन हैं उनमें इंगलैण्ड की सरकार का कोई हिस्सा नहीं है पर बैंक ऑव इंगलैण्ड ने दोनों में कुछ अंश ले रक्खे हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कोष परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय, और जितनी राशि केन्द्रीय सरकार ने गारण्टी के रूप में दी है, वह कारपोरेशन केन्द्रीय सरकार को भुगतान न कर दे। जब संचित कोष परिदत्त पूंजी के बराबर हो जाय तो अंशों पर ५% लाभांश देने के पश्चात् जो लाभ होगा वह केन्द्रीय सरकार को मिलेगा। गारण्टी किए गए लाभांश का भुगतान करने के लिए कारपोरेशन को ११.२५ लाख रुपये की प्रतिवर्ष आवश्यकता होती है। ३० जून १९५२ तक कारपोरेशन की आय कम रही और वह उक्त राशि लाभांश में न दे सका। अतः भारत सरकार ने अपनी गारंटी पर २६,८९,१२६ रुपये व्यय करके लाभांश पूरा किया। १ जुलाई १९५२ से ३० जून १९५३ तक कारपोरेशन की आय अच्छी रही और उसने भारत सरकार की सहायता के बिना ही गारण्टीड लाभांश चुका दिया। पांच वर्षों में यह पहला ही अवसर था जबकि कारपोरेशन को लाभांश देने में सरकार की सहायता नहीं लेनी पड़ी। अब कारपोरेशन को सरकार की उक्त राशि चुकानी शेष है।

प्रबन्ध-संचालन—कारपोरेशन का प्रबन्ध-संचालन एक संचालक समिति के अधीन है जिसमें १२ संचालक होते हैं। इनमें से ३ भारत सरकार द्वारा मनोनीत, २ रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत, ६ अन्य अंशधारियों द्वारा चुने हुए एवं १ प्रबन्ध-संचालक सरकार द्वारा नियुक्त किया हुआ होता है। संचालक समिति की सहायतार्थ एक कार्यकारिणी सभा है जिसमें प्रबन्ध-संचालक (प्रधान), २ सदस्य मनोनीत संचालकों में से तथा २ सदस्य निर्वाचित संचालकों में से चुने जाते हैं। यदि संचालक समिति ठीक-ठीक कार्य न करे तो भारत सरकार को उसे भंग करके प्रबन्ध अधिकार अपने हाथ में ले लेने का अधिकार है।

कारपोरेशन का प्रमुख कार्यालय दिल्ली में है तथा इसके अन्य कार्यालय बंबई तथा मद्रास में हैं। कानपुर में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था है पर अभी तक उस ओर से ऋणों के अधिक आवेदन-पत्र न आने के कारण वहां कार्यालय नहीं खोला जा सका है।

कार्यक्षेत्र—कारपोरेशन का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक एवं विस्तृत रक्खा गया है जिससे वह औद्योगिक संस्थाओं की अधिकाधिक सहायता कर सके। कारपोरेशन के निम्न कार्य निर्धारित किए गए हैं :—

(१) सीमित देनदारी की कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को अधिकाधिक २५ वर्षों की अवधि पर ऋण स्वीकृत करना।

(२) औद्योगिक कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना और यदि इस प्रकार अभिगोपन करने से कोई भी अंश व ऋण-पत्र न बिक सकें तो उन्हें स्वयं ले लेना पर सात वर्ष की अवधि के अन्दर बेचकर राशि प्राप्त कर लेना।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) कम्पनियों द्वारा बेचे जानेवाले ऋण-पत्रों की मूल राशि एवं ब्याज की गारण्टी करना तथा गारंटी के बदले कमीशन वसूल करना।

(४) यदि किसी उद्योग को विदेशी मुद्रा में ऋण लेने की आवश्यकता पड़े तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्य स्रोतों से ऋण प्राप्त करना।

(५) ऋण-याचक कम्पनियों की संचालक-सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजना और देखना कि वे कम्पनियां ऋण-राशि का दुरुपयोग तो नहीं कर रही हैं।

(६) जनता से कम से कम पांच साल की अवधि पर राशि जमा करना पर यह जमा राशि परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष के दूने से अधिक न हो।

(७) ऋण लेनेवाली किसी भी औद्योगिक कम्पनी को समय समय पर औद्योगिक तथा तांत्रिक सलाह देना एवं सलाह देने के लिए सलाहकार समितियां नियुक्त करना।

(८) किसी भी एक औद्योगिक कंपनी को ५० लाख रुपये से अधिक राशि के ऋण स्वीकृत न करना। (इस सीमा को बढ़ाकर १ करोड़ रुपये तक करने का एक प्रस्ताव गत संसद—फर्वरी १९५२—में रक्खा गया था जिस पर विचार किया गया और स्वीकृति दी गई। अब ऋण देने की महत्तम सीमा १ करोड़ रुपये है।)

ऋण देने की शर्तें—कारपोरेशन की नीति निम्न शर्तों पर वित्त-सहायता देना है—

(१) औद्योगिक कम्पनियों की अचल सम्पत्ति, जैसे भूमि, भूगृहादि एवं यंत्रादि के प्रथम बन्धक (First Mortgage) पर ऋण दिया जाता है। विशेषतः अचल सम्पत्ति खरीदने के लिए ही ऋण दिया जाता है।

(२) कच्चे माल या पक्के माल की साख पर कारपोरेशन ऋण नहीं देता क्योंकि ऐसा ऋण देना व्यापारिक बैंकों का काम है और कारपोरेशन का उद्देश्य बैंकों से प्रतियोगिता करना नहीं है।

(३) दिए हुए ऋणों की कम्पनियों के संचालकों या प्रबन्धकों द्वारा उनकी व्यक्तिगत हैसियत से गारंटी कराई जाती है जिससे वे राशि व्यय करने का प्रबन्ध ठीक-ठीक करें और इसके लिए उनका उत्तरदायित्व रहे।

(४) कम्पनियों के प्रबन्ध पर दृष्टि रखने के लिए तथा अन्य जानकारी के लिए दो संचालक कारपोरेशन की ओर से कम्पनी की संचालक समिति पर नियुक्त किए जाते हैं।

(५) जब तक कम्पनी ऋण का भुगतान नहीं कर देती, लाभांश-दर ६% प्रतिवर्ष के हिसाब से सीमित रहती है; परन्तु यह दर दोनों पक्षों के सम्मेल से अदली-बदली भी जा सकती है।

(६) ऋण वापस करने की अवधि, कम्पनी के व्यापार की प्रकृति तथा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके भविष्य को दृष्टि में रखकर निश्चित की जाती है। एक्ट के अन्तर्गत कारपोरेशन २५ वर्ष की अवधि पर ऋण दे सकता है पर अब तक जो ऋण कारपोरेशन ने दिए हैं उनकी अवधि १५ साल है।

(७) ऋण का भुगतान किश्तों में किया जा सकता है। किश्तों की राशि सम्मेल से निश्चित की जाती है परन्तु किश्त साधारणतः बराबर राशि की होती है।

(८) जिस सम्पत्ति की साख पर कारपोरेशन ऋण देता है वह सम्पत्ति अग्नि, विद्रोह, साम्प्रदायिक उपद्रवों से सुरक्षित रखने के लिए किसी उच्च कोटि की इन्श्योरेंस कम्पनी से गोप करानी होती है।

(९) ऋण देने के पश्चात् कारपोरेशन का यह कर्तव्य होता है कि वह इस बात को देखे कि राशि का उपयोग ठीक-ठीक हो रहा है या नहीं। इस काम की जांच के लिए निरीक्षक नियुक्त किए जाते हैं।

(१०) यदि कोई कम्पनी ऋण लेकर ऋण की शर्तों को पूरा न करे अथवा भुगतान करने में गड़बड़ करे अथवा अन्य किसी प्रकार से अनुचित कार्यवाही करे तो कारपोरेशन को अधिकार होता है कि वह उस कम्पनी को अपने प्रबन्ध-संचालन में ले ले। गत वर्ष कारपोरेशन ने एक कम्पनी को इसीलिए अपने अधिकार में ले लिया था कि वह ऋण की शर्तों का पालन नहीं कर रही थी।

कारपोरेशन ने सबसे पहले ५½% प्रतिवर्ष ब्याज की दर पर ऋण देना आरम्भ किया था। तिस पर भी यदि कोई कम्पनी मूल राशि और ब्याज का निश्चित समय पर भुगतान करती रहती थी तो उसे ½% की छूट मिलती थी। फरवरी १९५२ में यह दर बढ़ाकर ६% कर दी गई और गत वर्ष इसे बढ़ाकर ६½% कर दिया गया है। आलोचकों का कथन है कि ६½% ब्याज-दर बहुत ऊंची है अतः कारपोरेशन को इसे कम कर देना चाहिए। कारपोरेशन के प्रबन्ध-संचालक लाला श्रीराम का कहना है कि वर्तमान परिस्थितियों में दर नीची नहीं की जा सकती क्योंकि पहले ही कारपोरेशन को २७ लाख रुपये की राशि, जो सरकार ने गारण्टी में दी है, भुगतान करना है।

गति-विधि—कारपोरेशन ने ३० जून १९५३ को पांचवां वर्ष पूरा किया। ३० जून १९५३ को समाप्त होनेवाले वर्ष में उद्योगों की धनराशि की मांग बहुत अधिक रही। कुल ७४ आवदेन-पत्र आए जिनमें ८,२५ लाख रुपये की मांग की गई थी जबकि चौथे वर्ष में केवल ५४ आवदेन-पत्र आए थे और उनमें ७,३० लाख रुपये की ही मांग थी। गत वर्ष अधिकांश आवदेन-पत्र उन कम्पनियों के आए जो अपना व्यापार विस्तृत करना चाहते थे या अपनी उत्पादन-शैली का वैज्ञानीकरण करना चाहते थे। कारपोरेशन ने अधिक संख्या में आवेदन-पत्रों को अपूर्ण कहकर रद्द कर दिया। अतः गत वर्ष १.४४ करोड़ रुपये के ही ऋण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वीकृत किए जा सके। १९५३ के ३० जून तक जो ऋण स्वीकृत किए गए वे इस प्रकार हैं :—

	स्वीकृत ऋण-राशि	स्वीकृत ऋणों की देय-राशि
३० जून १९४९ को	३.४२	१.३३
३० जून १९५० को	७.१९	३.४२
३० जून १९५१ को	९.५८	५.६६
३० जून १९५२ को	१४.०३	७.२५
३० जून १९५३ को	१५.४७	९.२७

इस तालिका से ज्ञात होता है कि कारपोरेशन ने जितनी राशि के ऋण औद्योगिक कम्पनियों को स्वीकृत किए उतनी पूर्ण राशि कम्पनियों ने कारपोरेशन से ली नहीं। जून ३०, १९५१ को स्वीकृत ऋण-राशि और देय-राशि का अन्तर ३.९२ करोड़ रुपये का था जो १९५२ के जून में ६.७८ करोड़ रुपये हो गया। इसका यह अर्थ है कि कम्पनियों ने ऋण स्वीकृत तो करा लिए पर उतनी राशि ली नहीं। इसके कई कारण हैं। कुछ कम्पनियों ने ऋण स्वीकृत करा लिए पर फिर उनकी आर्थिक स्थिति ठीक हो जाने के कारण उन्हें राशि की आवश्यकता न रही। कुछ कम्पनियों ने आर्थिक वायुमंडल बदल जाने के कारण और ऋण-भार लेना ठीक न समझकर स्वीकृत ऋणों की संपूर्ण राशि कारपोरेशन से नहीं ली। कुछ कम्पनियों को आवश्यक मात्रा में कच्चा माल तथा यंत्रादि उपलब्ध न होने के कारण कारपोरेशन से ऋण की समूची राशि की आवश्यकता न हुई। कुछ कम्पनियों ने ऋण सम्बन्धी शर्तें ही पूरी नहीं कीं जिनके कारण कारपोरेशन ने उन्हें और राशि नहीं दी। कुछ भी हो, इस स्थिति से कारपोरेशन के अधिकारियों में बड़ा असन्तोष है। कारपोरेशन की एक वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि "यदि कम्पनियां ऋण स्वीकृत कराके समूची स्वीकृत राशि नहीं लेतीं तो इससे कारपोरेशन को बड़ी हानि होगी। कारपोरेशन ऋण स्वीकृत करके उतनी राशि सदैव तरल रूप में इसलिए रखता है कि न मालूम कब ऋण-याचक कम्पनी मांग कर बैठे। पर जब राशि की मांग नहीं होती तो कारपोरेशन को बड़ी हानि होती है क्योंकि न तो वह उस राशि को किसी और को उधार दे सकता है और न उसका विनियोग ही कर सकता है।"*

३० जून १९५३ को ४१ आवेदन-पत्र, जिनमें ५,२२ लाख रुपये की मांग की गई थी, कारपोरेशन के विचाराधीन थे जबकि गत वर्ष इसी दिन केवल १७ आवेदन-पत्र ही विचाराधीन थे और उनमें केवल २,०३ लाख रुपये की मांग की गई थी। इससे ज्ञात होता है कि उद्योगों में कारपोरेशन से ऋण लेने के विषय में उत्सुकता रही है और अधिक से अधिक कम्पनियां उससे लाभ उठाना चाहती हैं। यही

* कारपोरेशन द्वारा प्रकाशित पांचवीं वार्षिक रिपोर्ट से उद्धृत।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं, कारपोरेशन ने गत वर्ष जो कमाई की उससे भी कारपोरेशन की बढ़ती हुई गति-विधि का संकेत मिलता है। चौथे वर्ष में कारपोरेशन का शुद्ध लाभ केवल ९.२५ लाख रुपये था जिसमें गारंटीड लाभांश का वितरण भी सम्भव नहीं हो सका और सरकार को गारण्टी पूरी करनी पड़ी। गत वर्ष कारपोरेशन का लाभ बढ़कर १४.९४ लाख रुपये हो गया जिसमें से गारण्टीड लाभांश भी बांट दिया गया और संचित-कोष में २.५ लाख रुपये जमा कर दिए गए। गत वर्ष कारपोरेशन को सरकार से सहायता की कोई आवश्यकता न रही। इस समय कारपोरेशन का संचित-कोष ५.५ लाख रुपये है।

कारपोरेशन ने विभिन्न उद्योगों को जो ऋण दिए हैं वे इस प्रकार हैं:—

उद्योग	(लाख रुपयों में) ३० जून १९५२ तक स्वीकृत ऋण	३० जून १९५३ तक स्वीकृत ऋण
वस्त्रोद्योग सम्बन्धी यंत्रोद्योग ..	६४.००	६४.००
मिकेनिकल इंजीनियरिंग ..	६८.००	७३.००
इलेक्ट्रिल इंजीनियरिंग ..	१,१४.५०	१,२६.५०
सूती वस्त्रोद्योग ..	२,०४.७५	२,६९.७५
ऊनी वस्त्रोद्योग ..	३५.००	३५.००
नकली रेशमोद्योग ..	५०.००	५०.००
रसायन उद्योग ..	१,८६.००	१,९७.७५
सीमेन्ट ..	९०.००	९०.००
सिरेमिक एण्ड ग्लास ..	१,१९.००	१,१९.००
तेल उद्योग ..	२.५०	६.००
विद्युत्-शक्ति ..	१७.५०	४२.५०
धातु उद्योग ..	३५.००	३५.००
लोहा तथा इस्पात ..	५०.५०—	६८.००
एल्यूमीनियम ..	५०.००	५०.००
चीनी उद्योग ..	१,१५.००	१,१५.००
खान व्यवसाय ..	३०.००	३०.००
कागजोद्योग ..	७४.००	७४.००
कार तथा ट्रेक्टर उद्योग ..	५०.००	५०.००
विविध ..	४७.७०	५१.२०
योग	१४,०३.४५	१५,४६.७०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि सूती वस्त्रोद्योग ने कारपोरेशन से सबसे अधिक राशि के ऋण लिए हैं। ये सभी ऋण ५½%, ६% तथा ६½% की ब्याज-दरों पर दिए गए हैं। कारपोरेशन ने देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों को दृष्टि में रखते हुए सहायता दी है। प्रान्तानुसार सहायता इस प्रकार दी गई :—

प्रान्तों के नाम	३० जून १९५२ को स्वीकृत ऋणों का ब्यौरा		३० जून १९५३ को स्वीकृत ऋणों का ब्यौरा	
	कम्पनियों की संख्या	ऋणि-राशि (लाखों में)	कम्पनियों की संख्या	ऋण-राशि (लाखों में)
आसाम	..	..	..	..
बंबई	२९	४१५.००	२७	४२७.५०
बिहार	७	८३.००	५	८३.००
मध्य प्रदेश	४	२९.७५	३	३९.७५
पंजाब	४	२०.००	४	२७.५०
मद्रास	६	१२१.५०	६	१२६.५०
उड़ीसा	२	५९.००	२	५९.००
उत्तर प्रदेश	९	५४.७०	७	५४.७०
पश्चिमी बंगाल	१६	२५०.००	१७	३०१.७५
राजस्थान	३	५०.००	२	६०.००
सौराष्ट्र	४	१४०.००	३	१४०.००
मध्य भारत	१	३.५०	१	३.५०
ट्रावनकोर-कोचीन	३	६५.५०	३	६५.५०
मैसूर	५	७१.००	७	९८.००
हैदराबाद	१	४०.००	२	६०.००
योग	९४	१४,०३.४५	८९	१५,४६.७०

कारपोरेशन को अधिकार है कि वह औद्योगिक कम्पनियों द्वारा निर्गमित २५ साल की अवधिवाले ऋण-पत्रों की गारण्टी करे पर कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण वह ऐसा नहीं कर पाया है। ऋण देनेवाली कम्पनियां प्रायः ठीक समय पर किश्तों और ब्याज का भुगतान करती रही हैं। गत वर्ष केवल एक कम्पनी ने भुगतान करने में गड़बड़ की थी जिसे कारपोरेशन ने एक्ट के अनुसार अपने प्रबन्ध-संचालन में ले लिया है।

कारपोरेशन के एक्ट में संशोधन—१९५२ में अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कारपोरेशन एक्ट में संशोधन करने की आवश्यकता हुई। संशोधित एक्ट

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के अनुसार कारपोरेशन के अधिकार बढ़ा दिए गए हैं। अब कारपोरेशन को केन्द्रीय सरकार की आज्ञा लेकर अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अथवा अन्य किसी ऐसी ही विदेशी संस्था से विदेशी मुद्रा में ऋण लेने का अधिकार मिल गया है। भारत सरकार को भी अधिकार दिया गया है कि वह इस प्रकार कारपोरेशन के द्वारा लिए हुए ऋणों की गारण्टी करे। इस अधिकार को पाकर कारपोरेशन ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से कोई ८०,००,००० डॉलर का एक ऋण लेने के लिए बातचीत आरम्भ कर दी है। संशोधित एक्ट के अनुसार कारपोरेशन अब किसी भी एक कम्पनी को अधिक से अधिक १ करोड़ रुपये तक के ऋण दे सकता है जबकि इससे पहिले वह केवल ५० लाख रुपये तक के ऋण ही दे सकता था। इस अधिकार के मिलने से आशा है कि कारपोरेशन उद्योगों की दीर्घकालीन वित्त-आवश्यकताओं को भली प्रकार पूर्ण कर सकेगा। कारपोरेशन अब जहाजी कम्पनियों को भी ऋण स्वीकृत कर सकता है।*

कारपोरेशन की कठिनाइयां—कारपोरेशन के प्रबन्ध-संचालक लाला श्रीराम ने गत वर्षों में कारपोरेशन की कुछ कठिनाइयों की ओर जनता एवं सरकार का

---

* संशोधित एक्ट के अनुसार कारपोरेशन के क्रियाकलापों में निम्नलिखित पांच मुख्य व्यवस्थाएं कर दी गई हैं :—

(१) कारपोरेशन भारत सरकार की आज्ञा लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है और उस पर भारत सरकार की गारंटी करा सकता है।

(२) कारपोरेशन को अधिकार मिला है कि वह रिजर्व बैंक से सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर अल्पकालीन, अधिक से अधिक ९० दिन की अवधि पर, ऋण ले सकता है। यही नहीं, वह अपने द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों की साख पर भी बैंक से १८ महीनों की अवधिवाले अधिक से अधिक ३ करोड़ रुपये तक के ऋण ले सकता है।

(३) भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक कारपोरेशन में खरीदे हुए अपने अंशों पर तब तक लाभांश नहीं लेंगे जब तक उन लाभांशों के लेखे पर ५० लाख रुपये की राशि विशिष्ट संचित कोष में स्थानान्तरित न हो जाय।

(४) कारपोरेशन किसी भी एक औद्योगिक कम्पनी को १ करोड़ रुपये तक के ऋण स्वीकृत कर सकता है। (इससे पहले वह केवल ५० लाख रुपये तक के ऋण स्वीकृत कर सकता था।)

(५) कारपोरेशन जहाजी कम्पनियों को भी ऋण स्वीकृत कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि जहाजी कम्पनियां भी इसके अनुसार औद्योगिक कम्पनियां घोषित कर दी गई हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ध्यान आकर्षित किया था। अपनी रिपोर्ट में लालाजी ने जो कठिनाइयां बताईं वे इस प्रकार हैं :—

(१) कारपोरेशन के पास विभिन्न औद्योगिक कम्पनियों के जो आवेदन-पत्र आते रहे हैं उनमें उन योजनाओं का पूरा वर्णन नहीं दिया जाता जो ऋण-याचक उद्योग ऋण-राशि लेकर पूर्ण करना चाहते हैं। इस अभाव के कारण कारपोरेशन के अधिकारियों और विशेषज्ञों को आवेदन-पत्रों पर पूर्ण विचार करने का क्षेत्र नहीं मिल पाता और न आवेदकों की भावी योजनाओं का ही पता लग पाता है।

(२) अनेक आवेदन-पत्रों के साथ जो योजनाएं आती हैं वे पूर्ण नहीं होतीं और न विशेषज्ञों की सलाह से ही बनी हुई होती हैं। उन पत्रों में उल्लिखित अपूर्ण योजनाओं के विषय में न साफ-साफ जानकारी दी जाती है और न यह बतलाया जाता है कि उस योजना की पूर्ति के लिए कौन-कौन से साधनों की आवश्यकता होगी। इससे कारपोरेशन की योजनाओं के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती और तब याचित ऋण स्वीकृत करने में कठिनाई भी होती है।

(३) अनेक ऐसी कम्पनियां ऋणों के लिए आवेदन-पत्र भेज देती हैं जिनके पास न पर्याप्त साधन होते हैं और न पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूंजी ही होती है। यदि कारपोरेशन ऐसी कम्पनियों को ऋण दे भी दे तो वे कम्पनियां अपने पास साधनों का अभाव होने के कारण उस ऋण-राशि का भरपूर प्रयोग नहीं कर सकतीं और तब कारपोरेशन की राशि भी खतरे में पड़ जाती है।

(४) अनेक ऐसी कम्पनियां होती हैं जो ऋण ले लेने पर भी वैधानिक कार्य-वाही पूर्ण नहीं करतीं और न करने का प्रयत्न ही करती हैं। इससे कारपोरेशन की राशि उलझ जाती है और उसका समुचित समय पर उचित प्रयोग नहीं हो पाता।

(५) अनेक ऐसी कम्पनियों ने ऋणों के लिए आवेदन-पत्र भेजे हैं जिनकी भूमि-गृहादि तथा यंत्रादि के स्वामित्व का निर्धारण करना संभव नहीं है। यदि उनकी भूमि पर मैनेजिंग एजेंट का स्वामित्व था तो गृहादि पर कम्पनी का, जिससे उन्हें बन्धक (Mortgage) रखने में कारपोरेशन को बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है।

(६) कई कम्पनियों ने कारपोरेशन से ली हुई राशि का समुचित प्रयोग नहीं किया और न उनके व्ययादि का कोई ब्यौरा रक्खा। इससे कारपोरेशन को अपनी ऋण-राशि के उपयोग का सच्चा ज्ञान नहीं हो सका।

(७) जिन कम्पनियों ने कारपोरेशन से ऋण लिए हैं उन्होंने स्वीकृत ऋणों की पूरी राशि नहीं उठाई है जिससे कारपोरेशन को कोष रखने में बड़ी अनिश्चितता रहती है तथा कारपोरेशन यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसे कितनी राशि नकद रूप में अपने पास रखनी चाहिए। कारपोरेशन को इससे ब्याज की हानि भी होती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उक्त कठिनाइयां वास्तव में कारपोरेशन के कार्यक्षेत्र में बड़ी बाधाएं रही हैं और इसी कारण वह बहुत सी कम्पनियों को ऋण नहीं दे सका है। परन्तु फिर भी कारपोरेशन ने अपने पांच वर्षों के जीवन में पर्याप्त कार्य किया है। हमारे देश में जहां न पूंजी-मण्डी है और न संगठित मुद्रा-मण्डी ही है, पांच वर्षों में १५½ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत करना प्रशंसनीय कार्य है। अनेक उद्योगों को और विभिन्न प्रान्तों में जिस समायोजन के साथ ऋण स्वीकृत किए गए हैं उससे ज्ञात होता है कि कारपोरेशन के अधिकारियों ने समूचे देश को एक समान दृष्टि से उन्नत बनाने की कल्पना की है। कारपोरेशन के कार्य को बढ़ावा देने के लिए औद्योगिक कम्पनियों को चाहिए कि वे उक्त कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न करें और कारपोरेशन को अधिकाधिक सहायता और सहयोग दें।

कारपोरेशन की आलोचना—कारपोरेशन की कार्य-शैली एवं ब्याज-दर के विषय में तरह-तरह की आलोचना की जाती है। कहा जाता है कि कारपोरेशन ने ऋण स्वीकृत करने में पक्षपात की नीति का पालन किया है। इसी प्रकार यह दोषारोपण भी किया जाता है कि कारपोरेशन ने अभी तक कम्पनियों के अंशों एवं ऋण-पत्रों की गारण्टी और अभिगोपन करने का काम आरम्भ नहीं किया है। आलोचकों का कहना है कि कारपोरेशन की ब्याज-दर बहुत ऊंची है और वह प्रतिवर्ष उसे ऊंची करता जा रहा है। कारपोरेशन सर्वप्रथम ५½% ब्याज प्रतिवर्ष लेता था पर फर्वरी १९५२ में यह दर बढ़ाकर ६% कर दी और गत वर्ष इसे और बढ़ाकर ६½% कर दिया गया। कारपोरेशन की यह नीति उद्योगों को सुविधा देने की तो क्या, और मंहगी दर पर सहायता देकर हतोत्साह कर देने की है। अखिल भारतीय ऐसी संस्था को ब्याज-दर नीची करनी चाहिए, न कि ऊंची। ६½% ब्याज-दर पर दीर्घकालीन ऋण लेना उद्योगों को लाभप्रद नहीं हो सकता है।* ब्याज-दर नीची करने के लिए गत वर्ष काफी विवाद रहा। इसके उत्तर में लाला श्रीराम ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में स्पष्ट कर दिया है कि "कारपोरेशन को ब्याज-दर नीची करना अभी निकट भविष्य में सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि अभी उसे सरकार द्वारा गारण्टी के लेखे पर दी गई राशि लौटानी है।" आलोचकों का यह भी कहना है कि कारपोरेशन प्रतिवर्ष अपना व्यय बढ़ाता जा रहा है। कारपोरेशन का प्रबन्ध-व्यय १९५०-५१ में ५ लाख रुपये था जो अब बढ़कर ७ लाख रुपये हो चुका है। इस प्रकार अपना व्यय बढ़ाकर वह ऊंची ब्याज-दर से उसे पूरा करना चाहता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि ऊंची ब्याज-दर होने के कारण ही नए उद्योग कारपोरेशन से राशि उधार लेने नहीं आते। अतः कारपोरेशन को चाहिए कि वह ब्याज-दर नीची करके नए

---

* The Hindustan Times, September 23, 1953.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उद्योगों को सहायता देकर प्रोत्साहित करे। इन आलोचनाओं को लेकर गत वर्ष भारतीय संसद में काफी तूफान मचा। अंततोगत्वा संसद ने कारपोरेशन के क्रियाकलापों की जांच-पड़ताल कराने के लिए श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक कमेटी बना दी जिसकी रिपोर्ट सरकार तक तो पहुंच चुकी है। वर्तमान स्थिति को देखकर तो यही कहा जाता है कि कारपोरेशन ने देश के औद्योगिक क्षेत्र में एक भारी कमी को पूरा किया है। कारपोरेशन के प्रबन्ध-संचालक लाला श्रीराम ने सिफारिश की है कि देश में एक "औद्योगिक विकास कारपोरेशन" और बनाया जाय जो नए उद्योगों को सहायता देकर देश के औद्योगिक विकास में सहायता करे। सरकार ऐसा कारपोरेशन बनाने की घोषणा भी कर चुकी है।

सारांश

औद्योगिक बैंक वे बैंकिंग संस्थाएं कहलाती हैं जो उद्योगों के लिए दीर्घ-कालीन ऋण देकर उनकी सहायता करती हैं। चूंकि ये बैंक दीर्घकालीन ऋण देते हैं इसलिए वे लोगों से लम्बी अवधि के लिए राशि जमा करते हैं। ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों के अंश तथा ऋण-पत्र बेचकर अथवा उनका अभिगोपन करके भी उनकी सहायता करते हैं।

उद्योगों को सामान्यतः दो कार्यों के लिए राशि की आवश्यकता होती है—(१) स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए, (२) कर्मवाहक पूंजी रखने के लिए जिससे आवश्यकतानुसार कच्चा माल खरीदा जा सके, मजदूरों की मजदूरी चुकाई जा सके तथा दिन-प्रतिदिन के अन्य व्यय पूरे किए जा सकें। स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए राशि अंश बेचकर प्राप्त की जाती है तथा कर्मवाहक पूंजी बैंकों से ऋण लेकर अथवा ऋण-पत्र बेचकर भी प्राप्त की जा सकती है। हमारे देश में उद्योगों को वित्त-सहायता देने के लिए साधनों एवं संस्थाओं का बहुत अभाव है। न हमारे यहां पर्याप्त पूंजी है और न औद्योगिक वित्त-संस्थाएं हैं जो जनता से राशि जमा करके उद्योगों की वित्त-सहायता कर सकें। देश के व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में कोई विशेष योग नहीं दिया है और जो कुछ भी सहायता दी है वह अपर्याप्त है। व्यापारिक बैंकों ने अनेक कारणों से उद्योगों की वित्त-सहायता नहीं की है—जैसे (१) व्यापारिक बैंकों की जमा-राशि अल्पकालीन होने के कारण वे उसे दीर्घकालीन ऋणों में उद्योगों को नहीं दे सकते; (२) उनकी जमा-राशि व्यावसायिक क्षेत्रों में विनियोग करने के लिए ही प्रर्याप्त रही है जिससे वे उद्योगों में कोई योग नहीं दे सके; (३) उद्योगों की सम्पत्ति आदि का, जिसकी साख पर ऋण दिए जाते, मूल्यांकन करना सदैव संभव नहीं था; (४) इम्पीरियल बैंक ने, जो सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक माना जाता है,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस ओर कोई कदम नहीं उठाया और इसलिए इसकी देखादेखी अन्य बैंकों ने भी इस ओर कोई कार्य नहीं किया; (५) व्यापारिक बैंक उद्योगों में राशि विनियोग करना भारी खतरे की बात समझते रहे हैं।

जर्मनी, जापान, अमरीका, तथा इंगलैण्ड की भांति हमारे देश में विशिष्ट प्रकार की औद्योगिक वित्त-संस्थाएं नहीं हैं जो उद्योगों की वित्त-सहायता कर सकें। यह काम हमारे देश में दो प्रकार से हो सकता है—एक, देश के व्यापारिक बैंक जर्मन बैंकों की भांति उद्योगों को सहायता दें। दूसरे, उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंक स्थापित किए जायं। बैंक कुछ ऐसे अंशों का निर्गमन करें जिनकी राशि से केवल उद्योगों को ही सहायता दी जा सके। उन्हें चाहिए कि वे स्थायी सम्पति खरीदने तथा पुनःसंस्थापन के उद्देश्य से निर्गमित किए जानेवाले अंशों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन भी करें। यह काम सबसे पहिले बड़े-बड़े व्यापारिक बैंकों को आरम्भ करना चाहिए।

व्यापारिक बैंक तो उक्त काम करें ही, पर साथ ही साथ देश में औद्योगिक बैंक भी स्थापित किए जायं। ये बैंक ऐसे हों जिनके पास पर्याप्त साधन हों और उन्हें दीर्घकालीन ऋणों में विनियोग करने की क्षमता भी हो। प्रस्तावित बैंकों को चाहिए कि वे केवल एक ही उद्योग में समूची राशि विनियोग न करें वरन् अनेक उद्योगों में विनियोग करके खतरा बांटते रहें। विनियोग करने में विकेन्द्रीकरण की नीति का पालन करना चाहिए। उन्हें जनता से दीर्घकाल के लिए राशि जमा करनी चाहिए तथा ऋण-पत्र बेचने का भी काम लेना चाहिए।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी तथा प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों ने उद्योगों की सहायता के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन स्थापित करने की सिफारिशें की थीं। इन सिफारिशों को दृष्टिगत रखते हुए १९४८ में अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन स्थापित कर दिया गया तथा १९५१ में प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार रूपरेखा निर्धारित कर दी गई है जिसके आधार पर प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने प्रान्तों में वित्त कारपोरेशन स्थापित करेंगी। मद्रास, बंगाल तथा पंजाब में इस प्रकार के कारपोरेशन स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य प्रान्तों में योजनाएं जारी हैं और शीघ्र ही ऐसी संस्थाएं स्थापित हो जायंगी।

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन १ जुलाई १९४८ से कार्य कर रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन आर्थिक सहायता देना है। कारपोरेशन की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपये है जिसमें से ५ करोड़ रुपये परिदत्त पूंजी रक्खी गई है। पूंजी में केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, तालिकाबद्ध बैंक, इन्श्योरेंस कम्पनियां तथा सहकारी बैंक हिस्सेदार हैं। जनता को इसके अंश नहीं बेचे गए हैं। कारपोरेशन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनता से राशि जमा कर सकता है पर वह १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती। कॉरपोरेशन ने ३० जून १९५३ तक ५८० लाख रुपये के बौण्ड बेचे हैं। कॉरपोरेशन की अंश पूंजी तथा अंशों पर २½% लाभांश की न्यूनतम दर की गारंटी सरकार ने की है। २½% से अधिक लाभांश उस समय तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि संचित कोष परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय।

कॉरपोरेशन का प्रबन्ध-संचालन एक समिति के अधीन है जिसमें १२ सदस्य हैं। इनमें से ५ संचालकों तथा १ प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक करते हैं। शेष ६ संचालक वैधानिक अंशधारियों द्वारा चुने जाते हैं।

कॉरपोरेशन का कार्यक्षेत्र इस प्रकार है---(१) उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देकर सहायता देना, (२) औद्योगिक कंपनियों के अंशों तथा ऋणपत्रों का अभिगोपन करना, (३) कम्पनियों द्वारा बेचे गए ऋणपत्रों की मूल राशि एवं ब्याज की गारन्टी करना, (४) किसी भी देशी औद्योगिक कंपनी को विदेशी मुद्रा में ऋण दिलाने की व्यवस्था करना, (५) जनता से दीर्घकालीन राशि जमा करना, (६) उद्योगों को तांत्रिक सलाह देना, (७) औद्योगिक कंपनियों के विकास कार्यक्रमों पर वित्त सहायता का प्रबन्ध करना।

कॉरपोरेशन किसी भी कंपनी को ऋण देकर उसकी संचालक समिति पर अपने दो प्रतिनिधि भेजता है जो कंपनी के प्रबन्ध तथा ऋण राशि के व्यय पर जांच पड़ताल रखते हैं। ऋण प्रायः १५ साल की अवधि को दिए जाते हैं तथा ऋण राशि ६ माही किश्तों में भुगतान करनी होती है। ३० जून १९५३ तक कॉरपोरेशन ने १५.४७ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किए जिनमें से केवल ५.६० करोड़ रुपये की राशि ही वितरित की गई। शेष राशि अभी ऋण लेनेवालों ने नहीं उठाई है। कॉरपोरेशन ने जून १९५३ तक न अंशों का अभिगोपन किया और न ऋणपत्रों की गारन्टी की। इसका कारण कॉरपोरेशन की अपनी विशेष परिस्थितियां रही हैं। १९५३ के आरम्भ में कॉरपोरेशन की ऋण-नीति के संबंध में भारतीय संसद में बड़ा तूफान मचा। अन्त में श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई जिसने कॉरपोरेशन की जांच-पड़ताल की है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) भारत में उद्योगों को आर्थिक सहायता किस प्रकार प्राप्त होती है? क्या आप सोचते हैं कि हमारे देश में उद्योगों के लिए वित्त-सहायता का समुचित प्रबन्ध है? यदि नहीं तो आप क्या सुझाव देंगे? ब्यौरेवार लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों को वित्त-सहायता देने में क्या योग दिया हैं ? क्या यह सहायता सन्तोषजनक कही जा सकती है ? यदि नहीं तो क्यों ?

(३) औद्योगिक वित्त व्यवस्था के लिए जर्मन बैंकिंग प्रणाली में कौन-कौन सी मुख्य बातें हैं ? क्या इन बातों को हमारे व्यापारिक बैंक अपना सकते हैं ? एक रूपरेखा तैयार कीजिए।

(४) हमारे देश में औद्योगिक बैंकों की क्या आवश्यकता है ? ये बैंक किस आधार पर और किस प्रकार स्थापित होने चाहिएं ?

(५) प्रान्तीय औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशन एक्ट १९५१ पर एक विस्तृत टिप्पणी तैयार कीजिए।

(६) अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशन के विषय में निम्न बातों का उल्लेख कीजिए :—

(१) पूंजी
(२) प्रबन्ध
(३) ऋण-नीति
(४) कार्य एवं स्वीकृत किए गए ऋण।

(७) कॉरपोरेशन की जिन कठिनाइयों की ओर लाला श्रीराम ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में संकेत किया था उनका वर्णन ब्यौरेवार कीजिए।

(८) कॉरपोरेशन की ऋण-नीति की आलोचना करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए। भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में कॉरपोरेशन का क्या स्थान है ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३५

सहकारी बैंक

कृषि-साख की आवश्यकता—भारतीय कृषक सदैव से ही निर्धन एवं ऋण-ग्रस्त रहा है। उत्पादन के लिए आवश्यक धनराशि का अभाव होने के कारण वह अपने खेतों के लिए न अच्छे खाद-बीज ला सकता है, न उन्नत यंत्रों का प्रयोग कर सकता है और न अच्छे हल-बैल ही रख सकता है। परिणामतः भारत की भूमि कृषि के लिए सर्वोत्तम होते हुए भी यहां की उपज अन्य देशों की प्रति बीघा उपज से बहुत कम है। जब कृषक के पास कृषि करने के लिए आवश्यक साधन नहीं होते तो उसे ऋण लेकर अपना काम चलाना होता है। इससे वह ऋणग्रस्त बन जाता है और उसका काम करने का उत्साह भी मारा जाता है। शनैः शनैः वह इतना ऋणग्रस्त बन जाता है कि जितना ऋण वह मरते समय छोड़ता है वह उसकी संतान से भी आजीवन भुगतान नहीं हो पाता। हमारे देश में कहावत है कि "भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है और आजीवन ऋणग्रस्त ही रहता है।" इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारे देश में कृषकों को उनकी आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में और उचित ब्याज-दर पर ऋण देने की सुविधाएं एवं संस्थाएं नहीं हैं। कृषक ग्रामीण महाजनों और बोहरों से ऋण लेता रहा है जो ऊंची-ऊंची ब्याज-दर पर ऋण देकर तथा अन्य प्रकार से भी तरह-तरह की बेईमानी करके उसे चूसते रहे हैं। अस्तु हमारे देश में न कृषि-साख संस्थाएं रही हैं और न व्यापारिक बैंकों ने ही कृषि-कार्यों को ऋण दिया है। फलतः कृषिप्रधान भारत देश के कृषकों की आर्थिक स्थिति शोचनीय एवं दयनीय रही है। सहकारी बैंकों का जन्म भारत में कृषकों की इस स्थिति को दूर करने, उन्हें ऋणों के भार से मुक्त करने तथा उन्हें सस्ती ब्याज-दरों पर आर्थिक सहायता देकर महाजनों के चंगुलों से छुड़ाने के लिए हुआ।

सहकारी बैंक क्या है ?

अन्य बैंकों की भांति हमारे देश में सहकारी बैंक जनता से लेन-देन का काम करते हैं परन्तु व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों में कुछ मूल भेद है। सहकारिता ऐसा संगठन है जिसके अनुसार कुछ लोग अपनी आर्थिक आवश्य-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कताओं की पूर्ति करने के लिए समान अधिकारों के साथ मिलकर काम करते हैं। इस संगठन से गरीब और निर्बल स्वावलम्बन, बचत तथा विनियोग के सिद्धान्तों को लेकर एक दूसरे की सहायता करके आर्थिक उन्नति करते हैं। सहकारी बैंकिंग प्रणाली में कुछ साधनहीन लोग आपस में मिलकर चंदा इकट्ठा करके, अंश खरीदकर अथवा अन्य लोगों से उधार लेकर एक कोष बना लेते हैं जिसमें से समय-समय पर सदस्यों को राशि उधार देकर उनकी सहायता की जाती है। राशि मुख्यतया उत्पादन-कार्यों के लिए ही उधार दी जाती है। सहकारी कोष को 'सहकारी बैंक' कहते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य सदस्यों से थोड़ी थोड़ी राशि अंश-पूंजी के रूप में अथवा जमा राशि के रूप में लेना तथा उसमें से समय-समय पर उत्पादन-कार्यों के लिए ऋण देकर उनकी सहायता करना है। इस कार्य-शैली के निम्नलिखित मुख्य लाभ हैं :—

(१) पारस्परिक सहयोग से काम करने के कारण आत्मविश्वास बढ़ता है एवं नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है।

(२) इनकी कार्यवाहक पूंजी इतनी छोटी-छोटी राशियों में आती है कि जिसको देश के अन्य बैंक स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार देश की निठल्ली राशि का उपयोग होकर मुद्रा एवं साख की गतिशीलता बढ़ती है तथा बहुमुखी आर्थिक उन्नति भी होती है।

(३) साधनहीन व्यक्तियों को सस्ती ब्याज-दरों पर उत्पादन के लिए ऋण मिलता है और इस प्रकार निष्क्रियता की समस्या का भी हल होता है।

(४) सदस्य सहकारी बैंकों के लेखे किसी भी समय देख सकते हैं, जिससे इनकी कार्य-शैली में सदस्यों का विश्वास बना रहता है।

(५) इस प्रणाली से ग्रामीण जनता में बचत करने की लगन पैदा होती है।

भारत में ऐसे सहकारी बैंक केवल कृषकों को ही वित्त-सहायता देने के लिए स्थापित किए गए थे। सहकारिता द्वारा कृषकों को सहायता देने का मौलिक उद्देश्य यह है कि गरीब किसानों को आवश्यकतानुसार सस्ती ब्याज-दर पर शीघ्र ही ऋण प्राप्त हो सके। हमारे देश में सहकारी बैंकिंग संस्थाएं ऐसे लोगों ने बनाई हैं जिनके पास साधनों की कमी है। अतः भारतीय सहकारी संस्थाओं के पास आवश्यकता के अनुकूल पूंजी नहीं होती। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से सहकारी बैंकों को तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) प्राइमरी सहकारी साख-समितियां—
  (क) ग्रामीण सहकारी साख-समितियां,
  (ख) नगर सहकारी साख-समितियां;
(२) केन्द्रीय सहकारी समितियां (बैंक);
(३) प्रान्तीय सहकारी बैंक।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इनका विवरण करने के पूर्व यहां यह आवश्यक है कि हम सहकारी बैंकों तथा व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं के विशेष भेदों को जान लें।

सहकारी बैंक तथा व्यापारिक बैंक

(१) व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंक दोनों ही यद्यपि राशि जमा करने और राशि ऋण देने का काम करते हैं तो भी दोनों के सिद्धान्तों तथा क्रियाओं में मौलिक अन्तर है। व्यापारिक बैंकों का कार्य कुछ लोगों से राशि उधार लेकर ऐसे लोगों को उधार देना है जो उनका महत्तम प्रयोग कर सकें। व्यापारिक बैंक राशि उधार देनेवालों तथा राशि उधार लेनेवालों के बीच में एक मध्यस्थ का काम करता है परन्तु सहकारी बैंक केवल अपने ही सदस्यों को ऋण देता है। व्यापारिक बैंक लोगों की बचत जमा-राशि के रूप में रखता है और फिर उसी जमा-राशि को देश के उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के लिए उधार देता है परन्तु सहकारी बैंक व्यापार एवं उद्योग की उन्नति की अपेक्षा अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति के लिए रुपया उधार देता है।

(२) व्यापारिक बैंक अच्छी जमानत पर ही राशि उधार देता है। यदि किसी जमा करनेवाले की आर्थिक स्थिति अच्छी रही तो उसको अधिविकर्ष (Overdraft) के द्वारा उसकी जमा-राशि से अधिक राशि भी दे देता है। इस प्रकार व्यापारिक बैंकों की क्रिया धनी को अधिक धनी तथा गरीब को अधिक गरीब बनाती है, सभी लोगों को समाज में ऊंचा उठाने की प्रेरणा नहीं करती क्योंकि केवल धनी ही अच्छी और मजबूत जमानत देकर ऋण ले सकते हैं, गरीब नहीं। इसके विपरीत सहकारी बैंक गरीबों की ही सहायता के लिए है। कुछ विद्वानों का तो यह कहना है कि सहकारी बैंक 'गरीबों का बैंक' व 'साधनहीन लोगों का बैंक' होता है। सहकारी बैंक साधनहीन लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। सहकारी बैंक केवल उधार देनेवालों और उधार लेनेवालों के बीच मध्यस्थ का काम ही नहीं करता वरन् लोगों को स्वावलम्बन और बचत करना भी सिखाता है। श्री एम०पी० फ्रांसिस का कहना है कि "सहकारी बैंक साख देने की नीति में प्रजातंत्रीय भावना भरता है, साधनहीन लोगों के दुःख दूर करता है तथा कृषि और उद्योग को उन्नति की ओर ले जाता है। सहकारी बैंक पारस्परिक सहयोग सिखाता है तथा उत्तरदायित्व का ज्ञान कराता है।" *

(३) व्यापारिक बैंक एक ऐसा संयुक्त स्कंध बैंक है जिसमें अंशधारी को उसके प्रबन्ध में कोई विशेष कार्य नहीं करना पड़ता, केवल प्रबन्धक व संचालक ही

* "The Cooperative Banks democratise credit, relieve distress, create wealth and turn to good account industrial and agricultural credit." *M. P. Francis.*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रबन्ध करते रहते हैं। परन्तु सहकारी बैंक का प्रत्येक सदस्य, प्रत्येक अंशधारी अपने उत्तरदायित्व को समझता है। वही पूंजीपति है, वही उधार लेनेवाला है, वही उधार देनेवाला है और वही अंशधारी है।*

(४) व्यापारिक बैंक ऋण-राशि के प्रयोग करने के उद्देश्य से कोई सरोकार नहीं रखता परन्तु सहकारी बैंक ऋण देने के साथ साथ इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि ऋण उत्पादन के काम में आ रहा है या नहीं। सहकारी बैंक की पूंजी थोड़ी होती है इसलिए वह ऋण के भुगतान पर बहुत जोर देता है। यहां इस बात का विशेष ख्याल रखा जाता है कि उधार डूब न जाय।

(५) सहकारी बैंक सदस्यों तथा उधार लेनेवालों के समीप रहता है और व्यापारिक बैंक उनसे दूर, क्योंकि सहकारी बैंकों का विशेषतः उनके सदस्यों के साथ ही लेन-देन होता है और व्यापारिक बैंकों में हर किसी के साथ लेन-देन हो सकता है।

(६) व्यापारिक बैंकों का संचालन भारतीय कम्पनी एक्ट १९१३ तथा भारतीय बैंकिंग एक्ट १९४९ के अनुसार होता है, परन्तु सहकारी बैंकों का संचालन भारतीय सहकारी समिति एक्ट १९०४ द्वारा होता है।

प्राइमरी सहकारी साख-समितियां

दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर एक प्राइमरी साख-समिति बना सकते हैं। साख-समिति बनाने की स्वीकृति सहकारी एक्ट १९०४ के अन्तर्गत सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार से लेनी होती है। यह समिति किसी एक गांव अथवा किसी एक क्षेत्र के लिए एक ही होती है। उस गांव या क्षेत्र में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति उसका सदस्य बन सकता है। समिति के सदस्यों की देनदारी असीमित (unlimited) होती है जिससे सभी सदस्य अपना-अपना उत्तरदायित्व समझ सकें और बाहरवाले भी उसमें विश्वास रख सकें। सदस्यों से प्रवेश-शुल्क लेकर, उनको अंश बेचकर अथवा उनसे राशि जमा रखकर समिति की पूंजी प्राप्त की जाती है। आवश्यकता आने पर सरकार से ऋण लेकर अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंकों से ऋण लेकर भी पूंजी प्राप्त की जा सकती है।

अपने सदस्यों को उत्पादन व कृषि-कार्यों के लिए ही समितियां राशि उधार देती हैं। परन्तु यह बात सदैव ही संभव नहीं हो सकती कि केवल उत्पादन के लिए

---

* A Cooperative Bank resembles a piece of active machinery in which every spring, every wire is alive and knows and consciously performs its duties being endowed with the capacities of rendering discriminatory service according to merits of each case watching and checking the other parts.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही उधार दिया जावे, अन्य कार्यों के लिए बिल्कुल नहीं; क्योंकि इस प्रकार सदस्यों की आवश्यकताएं अधूरी रह जाती हैं और फिर यह भय बना रहता है कि वे कहीं महाजन के चंगुल में न फंस जायं। अतः समिति आवश्यकतानुसार सदस्यों की सामाजिक आवश्यकताओं के लिए तथा पुराने ऋणों के भुगतान के लिए भी ऋण देती है। साधारणतः ऋण उधार लेनेवालों की व्यक्तिगत साख पर दिए जाते हैं। उधार लेनेवाला ऋण का भुगतान सुविधानुसार किश्तों में करता है।

प्रत्येक समिति को अपने लाभ में से कुछ राशि संचित कोष में रखना होता है। यदि समिति में अंशधारी हैं तो लाभ का $\frac{1}{4}$ भाग संचित कोष में रखना होता है अन्यथा सम्पूर्ण लाभ ही संचित कोष में रखना आवश्यक है। रजिस्ट्रार की स्वीकृति से लाभ का १०% जनहित (Charity) में व्यय किया जा सकता है। समिति को लेन-देन का पूरा-पूरा ब्यौरा रखना पड़ता है और समय-समय पर निरीक्षकों द्वारा उसका निरीक्षण कराना होता है। निरीक्षक रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

समिति का प्रबन्ध व संचालन दो कमेटियों के हाथमें होता है—(१) साधारण कमेटी, जिसमें समिति के सभी सदस्य होते हैं; (२) प्रबन्ध कमेटी, जिसमें साधारण कमेटी के चुने हुए कुछ सदस्य होते हैं जो समिति का प्रबन्ध करते हैं। साधारण कमेटी समिति की नीति तथा नियम निर्धारित करती है तथा प्रबन्ध कमेटी समिति का प्रबन्ध करती है।

गत महायुद्ध से पूर्व 'अवसाद' (Depression) के कारण प्राइमरी साख-समितियों की परिस्थिति बड़ी भयंकर सी रही परन्तु आगे चलकर कुछ सुधरी। १९२९-३० से १९३९-४० तक समितियों के द्वारा दिए जानेवाले ऋणों में भारी कमी हो गई। लेकिन द्वितीय महायुद्ध ने परिस्थिति बदल दी। १९३८-३९ में समितियों की वीतकाल ऋण-राशि (Overdues) लगभग ११ करोड़ रुपये थी जो १९४५-४६ में लगभग ६ करोड़ रह गई। समितियों की संख्या, सदस्यता तथा जमा-राशि में वृद्धि हुई। परन्तु समितियों द्वारा दी जानेवाली ऋण-राशि में कमी हो गई क्योंकि मूल्यस्तर बढ़ जाने के कारण कृषकों के पास अधिक रुपया आता रहा और उन्हें समितियों से ऋण लेने की आवश्यकता ही नहीं रही। समितियों के दिए गए ऋण वापिस आने लगे जिससे समितियों की आर्थिक परिस्थिति अच्छी हो गई।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

प्राथमिक सहकारी साख-समितियों के साधन उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत कम होते हैं। अतः इनकी सहायता के लिए ही केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन किया गया है। किसी तहसील, जिला या किसी विशेष

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्षेत्र की प्राइमरी सहकारी साख-समितियों के ऊपर एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है जिसका प्रधान कार्यालय किसी विशेष केन्द्र पर स्थापित किया जाता है। साधारणतः केन्द्रीय सहकारी बैंक जिले का एक बैंक होता है। कुछ केन्द्रीय सहकारी बैंक अपने-अपने जिलों में शाखाएं भी खोल लेते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं—

(१) जिनमें केवल प्राइमरी सहकारी साख-समितियां ही सदस्य बनाई जायं—इन्हें 'यूनियन' कहते हैं;

(२) जिनमें प्राइमरी समितियां भी सदस्य हों तथा अन्य व्यक्ति भी सदस्य बनाए जा सकें—इन्हें केन्द्रीय सहकारी बैंक कहते हैं।

यूनियन (Union) एक प्रकार से प्राइमरी समितियों का एक संघ है, जिसका प्रबन्ध प्राइमरी समितियों के द्वारा चुने हुए संचालकों द्वारा होता है। यह संघ प्राइमरी समितियों का निरीक्षण व उनकी देख-भाल करता है तथा समय आने पर उनको ऋण भी देता है।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों का जन्म १९१२ के पश्चात् हुआ। इनका प्रधान उद्देश्य प्राइमरी समितियों को धन-राशि देकर सहायता करना है। ये बैंक तहसील या जिले के एक विशाल क्षेत्र में काम करते हैं। इसलिए इनके पास साधन अनेक और अधिक होते हैं जिनके द्वारा ये प्राइमरी समितियों की भली प्रकार सहायता कर सकते हैं। प्राइमरी समितियों की सहायता करने के अतिरिक्त ये अन्य प्रकार का बैंकिंग कार्य भी करते हैं जैसे राशि जमा करना, बिलों का संग्रहण करना आदि-आदि। किसी-किसी प्रान्त में तो ये बैंक अचल सम्पत्ति की जमानत पर लोगों को ऋण भी देते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक अंश बेचकर, लोगों से राशि जमा करके, प्राइमरी समितियों (जो इसकी सदस्य हों) से उनके संचित कोष जमा करके अर्द्ध-सहकारी संस्थाओं जैसे विश्वविद्यालयों, म्यूनिसिपैल्टियों तथा जिला बोर्डों से उनकी अतिरेक राशि (Surplus Fund) जमा करके तथा इम्पीरियल बैंक और अन्य व्यापारिक बैंकों से भी ऋण लेकर पूंजी इकट्ठी करते हैं। प्राइमरी समितियों के ऋण स्वीकार करने से पहले ये अपने निरीक्षकों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति की पूरी-पूरी जांच करा लेते हैं। जमा करनेवाले व्यक्तियों की मांग पूरी करने के लिए ये कुछ राशि तरल रूप (Liquid form) में सदैव अपने पास कोष में रखते हैं।

गत महायुद्ध काल में इन बैंकों की आर्थिक स्थिति संगठित हो गई है यद्यपि इनकी संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं जान पड़ती। इनकी पूंजी तथा जमा-राशि में पर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु प्राइमरी समितियों ने पिछले दिनों में इनसे कोई ऋण नहीं लिये हैं। अतः इन्होंने अपनी व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएं बढ़ा दी हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों के सदस्यों में आज-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल प्राइमरी सहकारी समितियों की संख्या बढ़ती जा रही है और व्यक्तियों की संख्या कम होती जा रही है। युद्धकाल में तो इन केन्द्रीय बैंकों ने "अधिक अन्न उपजाओ" तथा वस्तुओं के वितरण में भी अधिक योग दिया था।

प्रान्तीय सहकारी बैंक

प्रान्तीय सहकारी बैंक देश के सहकारी बैंकिंग कलेवर के शीर्ष बैंक (Apex Bank) का काम करता है। प्रान्तीय सहकारी बैंक प्रान्त भर के केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन करता है तथा उनकी क्रियाओं की भली भांति देखभाल करता है। ये बैंक समय-समय पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं। एक प्रकार से ये बैंक गांव-गांव की प्राइमरी साख-समितियों तथा देश की मुद्रा-मंडी के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं। प्राइमरी समितियों से प्रान्तीय बैंक सीधा लेन-देन नहीं करते वरन् केन्द्रीय बैंकों से ही इनका लेन-देन रहता है। जिन स्थानों पर केन्द्रीय सहकारी बैंक नहीं हैं, प्रान्तीय बैंक स्वयं प्राइमरी समितियों से लेन-देन करते हैं। बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश, विहार तथा आसाम में प्रान्तीय बैंक प्रान्त की केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा अन्य व्यक्तियों को भी अपना सदस्य बनाते हैं। परन्तु बंगाल तथा पूर्वी पंजाब में केवल केन्द्रीय सहकारी बैंक ही प्रान्तीय सहकारी बैंकों के सदस्य हो सकते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों को अपनी पूंजी अंश बेचकर, जमा-राशि द्वारा तथा इम्पीरियल बैंक और व्यापारिक बैंकों से ऋण लेकर प्राप्त होती है। केन्द्रीय सहकारी बैंक भी अपनी-अपनी अतिरेक राशि (Surplus Fund) इसमें जमा करते हैं। प्रान्तीय सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं, केन्द्रीय सहकारी बैंक प्राइमरी सहकारी समितियों को ऋण देते हैं और प्राइमरी समितियां सदस्यों को उधार देती हैं। प्रान्तीय सहकारी बैंकों को केन्द्रीय बैंकों के ऊपर निरीक्षण या अनुशासन का कोई अधिकार नहीं होता, केवल ऋण देकर ही उनके सिलसिले में थोड़ा बहुत आवश्यक निरीक्षण किया जा सकता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों के ऊपर रिजर्व बैंक ऑव इंडिया है जो समय-समय पर विशेष कटौती-दर (Discount Rate) पर राशि देकर सहायता करता है।

इस प्रकार ऋण देने का काम चार सीढ़ियों में होता है —

(१) प्रान्तीय बैंक को इम्पीरियल बैंक एवं व्यापारिक बैंक ऋण देते हैं;
(२) केन्द्रीय बैंकों को प्रान्तीय बैंक ऋण देते हैं;
(३) सहकारी साख-समितियों को केन्द्रीय बैंक ऋण देते हैं; तथा
(४) व्यक्तियों को सहकारी साख-समितियां ऋण देती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीय महायुद्ध काल में इन प्रान्तीय बैंकों की आर्थिक स्थिति भी विशेष सुदृढ़ हो गई है क्योंकि इस काल में जमा-राशि में तो विशेष वृद्धि हुई और दूसरी ओर ऋण अधिक नहीं दिए गए। इतना ही नहीं, बल्कि जो अदत्त ऋण थे उनका भी भुगतान इसी काल में हुआ। इसका यह प्रभाव हुआ कि इनके विनियोगों में काफी उन्नति हुई जो इसकी युद्धकालीन उन्नति का लक्षण है।

भूमि-बन्धक बैंक

बतलाया जा चुका है कि सहकारी बैंक कृषकों को दीर्घकालीन ऋण नहीं देते जिससे वे भूमि खरीद सकें, कृषि-यंत्र खरीद सकें, अपनी भूमि को उन्नत कर सकें तथा अपने पुराने ऋणों का भुगतान कर सकें। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसान को दीर्घकालीन ऋण देने का काम भूमि-बन्धक बैंक करते हैं। भूमि-बन्धक बैंक "वे बैंकिंग संस्थाएं हैं जो भूमि को बन्धक (mortgage) रखकर दीर्घकाल के लिए कृषकों को ऋण देते हैं।" ऐसे बैंक सहकारिता के सिद्धान्त पर भी स्थापित किए जा सकते हैं तथा व्यापारिक बैंकों की भांति भी। परन्तु सहकारी भूमि-बन्धक बैंक आदर्श संस्था समझी जाती है। इसमें भी कभी-कभी बाहर के लोगों को (जो इस बैंक से उधार न लें) सदस्य बना लिया जाता है जिससे अधिक पूंजी प्राप्त हो सके तथा अच्छे-अच्छे संचालक व प्रबन्धक भी मिल सकें।

इन बैंकों की कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) अंश बेच कर, राशि जमा करके तथा ऋण-पत्र बेचकर प्राप्त की जाती है। ऋण लम्बे समय के लिए (४० साल की अवधि तक के लिए) दिए जाते हैं। ऋण देते समय सबसे महत्त्वपूर्ण बात उस भूमि का मूल्यांकन करना है जो उस ऋण के बदले में बन्धक रखी जा रही है। बैंक उस भूमि का मूल्यांकन अपने विशेषज्ञों द्वारा करवाते हैं। ऋण का भुगतान किसान किश्तों में करता है। ब्याज-दर ६% से ९% तक ली जाती है।

हमारे देश में इन बैंकों का आरम्भ १९२९ से समझना चाहिए जब कि मद्रास में एक भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किया गया था। यद्यपि १९२० में पंजाब में भी झांग (Jhang) नामक स्थान पर एक ऐसा बैंक स्थापित किया गया था परन्तु वह अधिक समय तक काम न कर सका। रिजर्व बैंक ने अपनी "सहकारिता समीक्षा" (Cooperative Review 1939-1946) नामक पुस्तिका में लिखा है—"इतनी भारी ग्रामीण जनसंख्या होते हुए भी भारत में भूमि-बन्धक बैंकों को अधिक सफलता नहीं मिली है। पंजाब में जहां सबसे पहले ऐसा बैंक बनाया गया था, इसकी कोई उन्नति नहीं हुई। अन्य प्रान्तों—जैसे उत्तर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रदेश, मध्य प्रदेश, अंजमेर, उड़ीसा तथा बंगाल—म भी भूमि-बन्धक बैंकों का काम सन्तोषजनक नहीं रहा। केवल मद्रास में इन बैंकों ने कुछ उन्नति की है।

अवसाद के काल में इन बैंकों ने कुछ उन्नति की, क्योंकि मूल्यस्तर गिर जाने के कारण भूमि का भी मूल्य कम हो गया था और कृषकों को ऋण लेने की आवश्यकता हुई। परन्तु गत दस वर्षों से तो कृषकों के पास रुपये की बिल्कुल कमी नहीं रही। जितना रुपया कृषकों ने पहिले उधार लिया था उसका अवधि से पहले ही भुगतान होने लगा। परिणामस्वरूप बैंकों की पूंजी निठल्ली पड़ी रही और किसानों को उसकी आवश्यकता नहीं रही। पहिले कृषक अपने पुराने ऋणों को भुगतान करने के लिए उन बैंकों से ऋण लिया करते थे। परन्तु अब कृषकों पर ऋण ही नहीं रहे जिनका भुगतान करने के लिए अब वे इन बैंकों से ऋण लें।

भूमि-बन्धक बैंकों की सफलता इस बात पर निर्भर है कि ऋण देते समय बन्धक रखी जानेवाली भूमि का मूल्यांकन ठीक-ठीक होता है या नहीं, ऋण लेनेवाला किश्तों का भुगतान क्रमशः करता है या नहीं। कृषि-कमीशन, प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने भी इस बात की सिफारिश की है कि भूमि-बन्धक बैंक सहकारी सिद्धान्तों पर ही स्थापित होने चाहिएं। इनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिए जिससे ऋण लेनेवालों का सम्पर्क बैंकों के साथ निकटवर्ती रह सके। इन बैंकों का प्रबन्ध तथा संचालन भी ऐसे लोगों को सौंपना चाहिए जो योग्य हों तथा जो अपने संबंधियों को ही ऋण न दें पर बैंक के हित में ही काम करें। बैंकों को दृढ़ संचित-कोष बनाना चाहिए और तब तक लाभांश नहीं बांटना चाहिए जब तक कि उनका संचित-कोष इकट्ठा न हो जाय। बैंकों को अपनी कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) अंशों द्वारा या ऋण-पत्रों द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए—विशेषतः ऋण-पत्रों द्वारा ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि वे इन बैंकों के ऋण-पत्रों के ब्याज की गारन्टी करें जिससे लोगों में उनके प्रति विश्वास पैदा हो तथा वे उन्हें खरीदें। यदि आवश्यकता आवे तो समय-समय पर प्रांतीय सरकारों को ऋण देकर भी इनकी सहायता करनी चाहिए। बैंकों को राशि जमा रखने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए और यदि लोगों में बचत की भावना पैदा करने के लिए इसकी आवश्यकता भी समझी जावे तो जमा-राशि लम्बे समय के लिए रखनी चाहिए, थोड़े समय के लिए नहीं। दिए जानेवाले ऋणों की अवधि तथा उन पर ब्याज-दर, उधार लेनेवाले की आर्थिक परिस्थिति तथा उसके भुगतान करने की सामर्थ्य को देखकर निश्चित करनी चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए ऋण नहीं देने चाहिएं जो ऋण लेनेवाले की आर्थिक भलाई के न हों। यदि कोई ऋण लेकर उसे ठीक प्रकार उपयोग में न लावे तो तत्काल ही उससे ऋण वापिस ले लेना चाहिए। भूमि-बन्धक बैंकों को अधिकार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मिलने चाहिएं कि ऋण के भुगतान न होने पर वे बिना अदालत की सहायता के ही बन्धक भूमि को अपने स्वामित्व में कर सकें या बेच सकें। इन सब उपायों से ही भूमि-बन्धक बैंक सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं।

सहकारी बैंकिंग प्रणाली में दोष

कृषि-कमीशन, प्रान्तीय बैंकिंग जांच-कमेटियों तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने देश की सहकारी बैंकिंग प्रणाली में कुछ दोषों का संकेत किया है जो इस प्रकार हैं :—

(१) भारत के सहकारी संगठन का मुख्य दोष यह है कि "सहकारी आन्दोलन जनता की आवश्यकता के फलस्वरूप विकसित न होते हुए सरकारी नीति के एक भाग के रूप में विकसित हुआ" जिसके कारण यह जनता का वांछित स्तर तक हितवर्धक न हो सका। आज भी सामान्य जनता, जो सहकारी समितियों की सदस्य है, इसके महत्व को नहीं जानती। इस विषय में टाउन्सहेन्ड समिति (मद्रास) ने लिखा है कि "सहकारिता सम्बन्धी अज्ञान, जो जनता ने ही नहीं अपितु इसके कर्मचारियों ने भी प्रकट किया, आश्चर्यजनक है।" इसी प्रकार आसाम बैंकिंग जांच-कमेटी ने लिखा है कि "ग्रामीण सहकारी समिति के सदस्यों को केवल इतना ज्ञान है कि यह एक बैंक है, जिसका किसी न किसी प्रकार से सरकार से सम्बन्ध है तथा जहां से उन्हें साहूकारों अथवा महाजनों की अपेक्षा कम ब्याज-दर पर राशि मिलती है तथा जिसके भुगतान की कोई जल्दी नहीं होती।"

(२) प्राइमरी साख-समितियों ने अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों के अन्तर को भली भांति नहीं समझा है जिससे वे दीर्घकाल के लिए भी ऋण देती रहीं जब कि इनका उद्देश्य केवल अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण देना है और इस प्रकार इन्हें इन दीर्घकालीन ऋणों की राशि प्राप्त करने में असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

(३) इनकी प्रथा के अनुसार सदस्यों को ऋण लेते समय बड़ी असुविधा रहती है। उन्हें आवेदन-पत्र देकर अनेक कार्यवाही करनी होती हैं और तब उन्हें ऋण मिलता है। इन असुविधाओं से बचने के लिए किसान साहूकार से ऋण लेना पसन्द करता है जहां उसे पहुंचते ही ऋण मिल जाता है। समितियों को अपने लेन-देन की क्रियाएं सरल बनानी चाहिए जो कृषकों की समझ में भली प्रकार आ सकें, और उन्हें उनसे कोई असुविधा न हो।

(४) बैंकों में कर्मचारी प्रथा (Official control) अधिक होती जा रही है, जिससे सदस्य अपने आपको बैंक से अलग समझने लगे हैं। वास्तव में सदस्य और बैंक एक ही बात और एक ही अंग होने चाहिएं परन्तु यह भावना मिटती जा रही है और सदस्य अपने आपको बैंक से अलग समझने लगे हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पारस्परिक सहयोग तथा उत्तरदायित्व कम होता जा रहा है। इसका विशेष कारण यह है कि लोगों में शिक्षा की कमी होने के कारण वे सहकारिता के उद्देश्य को भली भांति नहीं समझ पाए हैं।

(५) बैंकों के संचालक तथा प्रबन्धक बैंक सम्बन्धी कार्यों से अपरिचित होने के कारण उनका ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर पाते। कुछ प्रबन्धक तो अपने परिचितों को ऋण दे देते हैं और भुगतान न करनेवालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही भी नहीं करते। इससे बैंकों की आर्थिक स्थिति पर बड़ा धक्का लगता है।

(६) बैंकों के हिसाब-किताब ठीक-ठीक नियमानुसार नहीं रक्खे जाते हैं, न उनका ठीक-ठीक प्रकार से निरीक्षण ही किया जाता है और न हिसाब-विशेषज्ञों ही को इस काम के लिए नियुक्त किया जाता है। इससे बैंकों की राशि का दुरुपयोग होने लगा है।

(७) अधिकतर साख-समितियों तथा बैंकों की आर्थिक स्थिति अभी तक नाजुक थी परन्तु गत महायुद्ध के पश्चात् से अब सुदृढ़ हो गई है परन्तु फिर भी सहकारिता आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं को अधिकाधिक जमा-राशि एकत्र करने की जरूरत है जिससे वे उसकी सरकारी सहायता के ऊपर ही अवलंबित न रहें। इस आर्थिक कमजोरी के कारण वे महाजनों तथा स्वदेशी बैंकों की प्रतियोगिता सफलता से नहीं कर सके एवं स्वदेशी बैंकों को इनसे लेशमात्र भी डर नहीं है।

(८) कुछ प्रान्तों में तो सहकारी बैंकों द्वारा दिए गए ऋणों पर अधिक ब्याज-दर वसूल की जाती रही है क्योंकि प्राइमरी समितियों के पास तो पंजी की कमी रही। फलस्वरूप उन्होंने केन्द्रीय बैंकों से ऋण लिये, जहां उन्हें ब्याज-दर अधिक देनी पड़ी। इसलिए उन्होंने भी सदस्यों से अधिक ब्याज वसूल किया।

(९) सहकारिता आन्दोलन की कमजोरी का एक कारण यह भी है कि सहकारी विभाग के कर्मचारी आन्दोलन का विकास एवं अपनी सफलता दिखाने के लिए बिना सहकारिता की शिक्षा दिए सहकारी समितियों की स्थापना करते हैं तथा आर्थिक संगठन को विशेष महत्त्व नहीं देते। फलस्वरूप सहकारी समितियां विलीन हो जाती हैं जिससे जनता का विश्वास इस आंदोलन में नहीं जम पाता।

(१०) इस आन्दोलन की एक त्रुटि यह भी है कि समितियों तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय बैंकों के बीच ऋणों के लेने-देने के लिए कागजी घुड़दौड़ होती है। अर्थात् पुराने ऋणों को अदा करने के लिए नये ऋण दिए जाते हैं जिससे वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता और अधिकारी भी इस बात को नहीं समझ पाते। इससे समितियों की आर्थिक स्थिति कमजोर होती जाती है।

इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी सहकारिता आन्दोलन ने बहुत कुछ सावधानी से कार्य किया है; किसानों को कम ब्याज-दर पर ऋण दिया है जिससे इस आन्दोलन से धीरे-धीरे देश में आर्थिक क्रान्ति हो रही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहकारी बैंक उन्नत कैसे हों ?

यदि देश की सहकारी समितियों तथा बैंकों से कुछ विशेष लाभ उठाना है तो उनकी वर्तमान कार्यशैली में कुछ परिवर्तन करके उन्हें उन्नत करना होगा। उन्नत बनाने के निम्न उपाय काम में लाए जा सकते हैं :—

प्राइमरी साख-समितियों को चाहिए कि वे केवल अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण ही दें। दीर्घकालीन ऋण देने के लिए भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किए जाने चाहिएं। बैंकों के कर्मचारियों, प्रबन्धकों तथा संचालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। सार्वदेशिक सहकारी शिक्षा-केन्द्र हों जहां पर सहकारी बैंकों के होनेवाले कर्मचारियों की शिक्षा का प्रबन्ध हो। इन कर्मचारियों को चाहिए कि विशेष रूप से सदस्यों में सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार करें। रजिस्ट्रारों को चाहिए कि वे किसी भी समिति की स्थापना की स्वीकृति देते समय सतर्क रहें और तब तक स्वीकृति न दें जब तक कि यह पता न ले लें कि लोगों में उस स्थान पर सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार ह। प्राइमरी साख-समितियों पर इस बात का कड़ा निरीक्षण होना चाहिए कि वे अपना-अपना हिसाब रक्खें। हिसाब निरीक्षण के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किए जाने चाहिएं। इस काम को केन्द्रीय यूनियनों (Central Unions) के सुपुर्द कर देना चाहिए।

प्राइमरी समितियों तथा बैंकों को अधिक से अधिक राशि जमा रखना चाहिए। उनको चाहिए कि अतिरेक राशि (Surplus Fund) के दिनों में लोगों से राशि जमा करा लें ताकि वह आवश्यकता के समय काम आती रहे। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों को समितियों के लिए थोड़ी ब्याज-दर पर उधार देना चाहिए जिससे समितियां भी कम ब्याज-दर पर लोगों की सहायता कर सकें। एक प्रान्त के सभी केन्द्रीय सहकारी बैंकों में पारस्परिक सहयोग होना चाहिए जिससे प्रान्त भर में एकसी नीति निर्धारित हो सके।

सहकारी बैंकों को भी ऋण देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे कार्यों के लिए ऋण दिया जाय जिससे उत्पादन बढ़े तथा रुपया उधार लेनेवाले की आर्थिक उन्नति हो।

सहकारिता आयोजन समिति की सिफारिशें*—सहकारिता आन्दोलन के दोषों को दूर करने तथा सहकारी बैंकों को देश के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए सहकारिता आयोजन समिति ने जो सुझाव दिए थे वे इस प्रकार हैं :—

(१) "सहकारी समितियों की जड़ सम्पत्ति को, जहां तक संभव हो सके, तरल रखना चाहिए तथा उनके अधिकारों और स्वत्वों का समायोजन सदस्यों

* The Co-operative Planning Committee Report 1946 —pp. 72-73

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की भुगतान-क्षमता के अनुकूल हो जाना चाहिए जिससे समितियां अपनी सामान्य कार्यशैली भली भांति निभा सकें।"

(२) "सहकारी साख-समितियों का संगठन असीमित देनदारी के आधार पर होना चाहिए जिससे उनके सदस्यों में सामूहिक भावना उत्पन्न हो और वे सावधानी के साथ कार्य करना सीखें। असीमित देनदारी होने से समितियों को पर्याप्त मात्रा में राशि मिलना सरल होगा और उस स्थिति में अधिकांश राशि अंश-पूंजी के रूप में प्राप्त की जा सकेगी।"

(३) "समितियों को अपने सदस्यों की सभी प्रकार की अल्पकालीन वित्त-आवश्यकताएं पूर्ण करते रहना चाहिए। उत्पादन कार्यों के लिए मध्य-कालीन ऋण भी दिए जायं पर वे ऋण पूंजी तथा संचित कोष को मिलाकर राशि से अधिक न हों। मध्यकालीन ऋण देने के लिए राशि अन्य स्रोतों से भी प्राप्त की जा सकती है।"

(४) "ऋण समान्यतः व्यक्तिगत साख पर ही दिए जाने चाहिए तथा साख-क्षमता का निर्धारण सदस्यों की भुगतान-शक्ति पर निर्भर रहना चाहिए। मौसमी आवश्यकताओं के लिए ऋण देते समय समितियों को सदस्यों की फसल पर वैधानिक अधिकार प्राप्त होना चहिए, जो दिए हुए ऋण की जमानत के रूप में रहे। वन्धक जमानत उसी समय ली जाय जब कि ऋण दीर्घकालीन हो और वह बड़ी राशि का हो।"

(५) "समितियों को चाहिए कि वे सदस्यों को ऋण स्वीकृत करने में कम से कम विलम्ब करें। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य को ऋण-राशि की महत्तम सीमा निश्चित कर दी जाय जिससे उसका आवेदन-पत्र आने पर जांच-पड़ताल की विशेष आवश्यकता न हो। सुव्यवस्थित समितियों को चाहिए कि वे यथासंभव नकद ऋण तथा चलद साख की सुविधाएं अपने सदस्यों को दें। समि-तियों के कुछ अधिकारियों को अधिकार मिल जाने चाहिएं कि वे आवश्यकता के समय कुछ ऋण सदस्यों को स्वीकृत करें ताकि ऋण देने में अधिक विलम्ब न हो।"

(६) "स्वीकृत किए गए ऋणों की राशि उसी समय देनी चाहिए जब उसकी वास्तविक आवश्यकता पड़े क्योंकि वर्ष में केवल एक या दो दिन ही ऋण वितरित करने से सहकारी अर्थ-व्यवस्था में लचक नहीं रहती जिससे कृषकों को महाजनों के पास जाकर ऋण लेने की आवश्यकता होने लगती है।"

(७) "समितियों को स्वीकृत ऋणों पर ६½% से अधिक दर पर ब्याज नहीं लेना चाहिए। इसके लिए सरकार को चाहिए कि वह उन समितियों को जिनका व्यापार कम है राशि देकर सहायता करे।"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(८) "केन्द्रीय सहकारी बैंकों को अपना संगठन समुचित बैंकिंग पद्धति के अनुसार चलाना चाहिए ताकि वे सस्ती ब्याज-दरों पर नकद राशि प्राप्त कर सकें।"

(९) "सहकारी समितियों को चाहिए कि वे रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठावें ताकि मौसमी कृषि-कार्यों तथा फसल को बिकाने में ऋण की सुविधाएं देने में उन्हें सरलता रहे और वे विशेष रियायती ब्याज-दरों पर ऋण स्वीकृत कर सकें।"

(१०) "सहकारी साख-समितियों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनकी साख-क्रियाएं मार्केटिंग समितियों के साथ जोड़ देनी चाहिएं। इस ओर मद्रास प्रान्त में पालन की जानेवाली 'नियंत्रित साख-व्यवस्था' का पालन करना अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।"

(११) "समितियों को निश्चय करके देखते रहना चाहिए कि स्वीकृत ऋणों का समुचित उपयोग हो रहा है या नहीं और इस कारण उन्हें सदस्यों की आवश्यकताओं के लिए ऋण-राशि मुद्राओं में न देकर उन वस्तुओं में देना चाहिए जिनकी सदस्यों को आवश्यकता हो। सदस्यों की पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समितियों को क्रय-संघों तथा उपभोक्ता-भाण्डारों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना चाहिए।"

(१२) "ऋणों का भुगतान हो रहा है या नहीं, इस ओर समितियों को अधिक सतर्क रहना चाहिए। जहां पर सदस्य जान-बूझकर भुगतान न करते हों वहां समितियों को सख्ती से काम लेना चाहिए। मौसमी आवश्यकताओं को दिए गए ऋणों का भुगतान फसल समाप्त होने पर अवश्य ले लेना चाहिए। मध्यकालीन ऋण तीन वर्ष और अधिक से अधिक पांच वर्ष के होने चाहिएं।"

समिति ने उक्त सिफारिशों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सहकारी साख-समितियां कृषकों की वित्त-आवश्यकताओं को अच्छी तरह पूर्ण कर सकती हैं और इसलिए सहकारिता आन्दोलन का संगठित रूप से प्रसार होना चाहिए।"

इसी प्रकार की सिफारिशें गाडगिल उपसमिति ने, जो १९४४ में कृषि-नीति-कमेटी द्वारा नियुक्त की गई थी, की थीं। गाडगिल उपसमिति ने लिखा था कि "भारतीय गांवों की आर्थिक समस्याओं, विशेषकर कृषि-वित्त समस्या को सुलझाने में सहकारी समितियां अमूल्य योग प्रदान कर सकती हैं।"

रिजर्व बैंक एवं सहकारी बैंक

रिजर्व बैंक अपने जन्म से ही सहकारी बैंकों के प्रति सहयोग एवं सहायता की सद्भावनाएं रखता आया है। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धाराओं १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि-कार्यों तथा फसल बेचने के लिए आवश्यक वित्त-सुविधाएं बिना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जमानती ऋण देकर देता है। धारा १७ (२) (ब) के अनुसार उक्त सहायता अब तक नौ महीने की अवधि के लिए दी जा सकती थी पर १९५२ से यह अवधि बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है। अब सामान्यतः १२ महीने की अवधि पर उक्त सहायता दी जाती है पर कुछ फसलों जैसे गन्ना के लिए यह अवधि १५ महीने ही है। धारा १७ (४) (अ) तथा १७ (४) (स) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को रियायती दरों पर ऋण देकर सहायता करता है और यह सहायता भी १५ महीने की अवधि तक दी जाती है। धारा १७ (२) (अ) के अनुसार बैंक अब तक तालिकाबद्ध बैंकों को व्यापारिक कार्यों के लिए लिखे गए बिलों की कटौती करके सहायता करता था पर अब यह सहायता सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी है। एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा भूमि-बन्धक बैंकों को विशेष प्रकार की सिक्यूरिटियों जैसे सरकारी सिक्यूरिटियों तथा अन्य स्वीकृत ऋण-पत्रों की साख पर ऋण देने का अधिकार है। धारा १७ (२) (ब), १७ (४) (स) तथा १७ (४) (द) के अन्तर्गत बैंक ने युद्धोत्तर-काल में सन्तोषजनक मात्रा में सहकारी बैंकों की सहायता की है। इस ओर बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को जो सहायता दी वह इस प्रकार है :—

(लाखों में)

प्रांतीय सहकारी बैंक	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१५ फर्वरी १९५२ तक
मद्रास	..	१५.०	९१.८	१५६.०	२२४.५	२९०
बंबई	१.०	..	६.५	६६.०	२१६.०	५३५
उत्तर प्रदेश	०.५	१.८	४.४	०.७	२.५	१२
मध्य प्रदेश	..	..	..	३४.६	५३.१	२१
उड़ीसा	..	..	..	१३.४	२६.७	१५
पश्चिमी बंगाल	..	..	..	..	१५.०	२५
योग	१.५	१६.८	१०२.७	२७०.७	५३७.८	८९८

उक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को जो ऋण-सुविधाएं दीं उनका महत्तम लाभ मद्रास तथा बंबई के प्रांतीय सहकारी बैंकों ने ही उठाया। बैंक ने मद्रास और बंबई के सहकारी भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों में अपना भाग १०% से बढ़ाकर २०% तक कर लिया और इस प्रकार कृषकों को दीर्घकालीन ऋण मिलने में सुविधाएं दी गईं।

रिजर्व बैंक ने १९५१ में कृषि की वित्त समस्या पर विचार करने के लिए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विशेषज्ञों की एक कान्फ्रेंस आयोजित की थी। इस कान्फ्रेंस में कृषि के लिए दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन ऋण देने, बैंक एवं सहकारी बैंकों में तालमेल बनाने एवं सहकारिता आन्दोलन को उन्नत बनाने के प्रश्नों पर विचार किया गया। कान्फ्रेंस की सिफारिशों पर बक के कृषि साख विभाग में विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई गई है जो विभाग को कृषि साख सम्बन्धी विषयों पर सुझाव देती है। उक्त कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक ने निम्न सुविधाएं देने की व्यवस्था की है :--

(१) रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (२) (अ) के अन्तर्गत सहकारी बैंकों को बैंक से अपने बिलों की पुनः कटौती कराने का अधिकार दे दिया गया है।

(२) सामयिक कृषि-कार्यों तथा फसल को बेचने की सुविधाएं देने के लिए दिए गए ऋणों की अवधि ९ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है।

ग्रामीण बैंकिंग जांच-कमेटी की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को राशि के स्थानान्तरण की सुविधाएं देना भी स्वीकार कर लिया है। वैसे तो ये सुविधाएं बैंक सदैव से देता रहा है पर अब वह रियायती दरों पर ये सुविधाएं देने लगा है। पहिले रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों के लिए राशि स्थानान्तरित करने में ५००० रुपये पर $\frac{१}{२}$ % और इससे अगली राशि के स्थानान्तरित करने पर $\frac{१}{४}$% कमीशन लिया करता था पर अब यह कमीशन क्रमशः $\frac{१}{४}$ % और $\frac{१}{८}$ % कर दिया गया है। साथ ही प्रान्तीय सहकारी बैंकों पर पहिले जो शर्तें लगाई जाती थीं वे अब ढीली कर दी गई हैं; जैसे--

(१) प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा रिजर्व बैंक की किसी एजेंसी में लेखा रखने का प्रतिबन्ध तोड़ दिया गया है।

(२) पहिले रिजर्व बैंक के एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय में राशि स्थानान्तरित कराने में १०,००० रुपये न्यूनतम सीमा थी जो अब १,००० कर दी गई है।

(३) अब राशि स्थानान्तरित कराने में दोनों स्थानों पर सहकारी बैंक के कार्यालय होना आवश्यक नहीं है। अब प्रान्तीय बैंक किसी भी स्थान से किसी भी स्थान पर, जहां रिजर्व बैंक की एजेंसी है, राशि स्थानान्तरित कर सकता है।

उक्त सुविधाओं के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने सहकारिता आन्दोलन में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं एवं कर्मचारियों को तत्सम्बन्धी शिक्षा देने की योजना भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत बैंक कोऑपरेटिव ट्रेनिंग कॉलेज पूना में ६ माह और १ साल के दो कोर्स आरम्भ करनेवाला है जिनमें विभागीय तथा अन्य लोगों को सहकारिता की ट्रेनिंग दी जाया करेगी। ६ माह का कोर्स तो २ अप्रैल १९५२ से आरम्भ भी हो चुका है। इस कॉलेज का व्यय रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया उठायेगा।

रिजर्व बैंक सहकारी साख-समितियों को कोई प्रत्यक्ष ऋण स्वीकार नहीं करता। कुछ लोगों का मत है कि बैंक की यह नीति अच्छी नहीं है; उसे सहकारी बैंकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। पर जब तक सहकारिता आन्दोलन भली प्रकार संगठित नहीं हो जाता, बैंक सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सहकारी बैंक अपना कार्य संगठित करें और रिजर्व बैंक द्वारा दी गई वर्तमान सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठाकर सिद्ध कर दें कि उन्हें बैंक के साथ प्रत्यक्ष संबंध की आवश्यकता है।

सरकार तथा सहकारी बैंक

प्रान्तीय सरकारें भी सहकारी बैंकों को सहायता देती रही हैं। यह सहायता दो प्रकार से दी जाती रही है—(१) वैधानिक सहायता, जिसके अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन के विकास हेतु प्रकार-प्रकार के विधान बनाए गए हैं; (२) आर्थिक सहायता देकर तथा उनके पास अपनी राशि जमा करके। प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी बैंकों को जो ऋण दिए वे इस प्रकार हैं:—

वर्ष	सरकारी ऋण (लाखों में)
१९४५-४६	७४.०२
१९४६-४७	२३४.१२
१९४७-४८	२३६.८०

प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी बैंकों को जो सहायता दी वह इस प्रकार है:—

प्रान्त	१९४६-४७	१९४७-४८
उत्तर प्रदेश	३६८,४१९	८८४,३९२
बंबई	२३७,२९४	२०४,३९२
पश्चिमी बंगाल	२०००,०००	अप्राप्य
पूर्वी पंजाब	१५१,०९३	८३,६७१
मध्य प्रदेश	७६,१५३	७९,७९४
बिहार	७३,७९०	१९८,४६८
मद्रास	७३,५००	१४१,८००
उड़ीसा	१७,७४३	२९,५३३

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार तथा कृषि अर्थ व्यवस्था—हमारे देश में उक्त उपायों के अतिरिक्त यह भी आवश्यकता है कि सरकार भी कृषि को आर्थिक सहायता दे। इस बात को भूमि-सुधार-एक्ट १८७१, १८७३ और कृषक-ऋण-एक्ट १८८४ पूर्ण करते हैं। इन एक्टों के अन्दर प्रान्तीय सरकारों को कृषि सम्बन्धी कामों के लिए—जैसे, खाद बीज दिलवाना, पशु खरीदवाना तथा भूमि में अन्य कोई सुधार कराने के लिए—रुपया उधार देने का एक्ट (विधान) बनाने का अधिकार प्राप्त है। भूमि-सुधार-एक्ट के अन्तर्गत ऋण केवल उन्हीं कार्यों के लिए दिए जा सकते हैं जिनसे भूमि में स्थायी सुधार हो तथा रुपये उधार लम्बी अवधि के लिए दिए जाते हैं।

इन ऋणों की अवधि, जो कृषि सुधार के लिए दिए जाते हैं, एक्ट के अनुसार अधिक से अधिक ४० वर्ष है परन्तु वास्तव में अभी तक २० वर्ष से अधिक अवधि के लिए नहीं दिए गए हैं। दूसरी बात इस एक्ट के अनुसार तथा कृषक-ऋण-एक्ट के मुताबिक यह है कि कृषकों को उनकी अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिए—जैसे, बीज खरीदना, खाद खरीदना, पशुधन खरीदना आदि कामों के लिए—ऋण दिए जाते हैं जिनकी अवधि १ से २ वर्ष तक अक्सर होती है। इस प्रकार इन ऋणों द्वारा सरकार अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष पूर्ति कृषकों को आर्थिक सहायता देकर करती है। इन ऋणों को तकावी ऋण कहते हैं।

इस तरह के ऋण भारतवर्ष में औसतन ३५ करोड़ रुपये सालाना के दिए जाते रहे हैं जो भारत की वृहतता को देखकर बहुत ही कम है। इसके अलावा इनकी वितरण किए जाने की प्रणाली में भी कई त्रुटियां हैं जो कृषकों को बहुत असुविधा-जनक सिद्ध हुई हैं और जिनके कारण वह महाजन से ऋण लेना अधिक पसन्द करता है।

सरकारी ऋणों में त्रुटियां—(१) सरकार द्वारा जो तकावी ऋण दिए जाते हैं उन पर अधिक ब्याज वसूल किया जाता है। इस ब्याज की दर प्रायः ६½% वार्षिक होती है। सरकार को इतना अधिक ब्याज लेना नहीं चाहिए। जब सहकारी बैंक इससे कम ब्याज-दर पर ऋण देते हैं तो इन्हें अधिक आकर्षक बनाने के लिए ब्याज-दर कम होना चहिए।

(२) इन ऋणों के लेने के लिए आवेदन-पत्र देने के साथ-साथ और कई औपचारिक कार्यवाहियां करनी पड़ती हैं जो कृषकों को पसन्द नहीं आतीं—जैसे आवेदन-पत्र पटवारी की सिफारिश करवाकर भेजना पड़ता है जिन्हें पटवारी विना कुछ आर्थिक लाभ के नहीं भेजता। इसके साथ-साथ तहसील के कर्मचारियों को भी उनकी भेंट देनी पड़ती है जिससे ऋण प्राप्त होने से पहले ही उसे कुछ राशि व्यर्थ में खर्च करनी पड़ती है और अगर किसी के पास इतनी राशि खर्च करने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के लिए नहीं है तो उसे ये ऋण प्राप्त नहीं हो सकते। इसके लिए सरकार को ऐसे कर्मचारी रखने चाहिए जिनमें राष्ट्रीयता की भावना तथा समाज-सेवा और देश की उन्नति की और भविष्य की चिन्ता हो।

(३) ऋण की राशि आवेदन-पत्र देने के कई महीने पश्चात् प्राप्त होती है जिससे किसान को उस समय पर राशि नहीं मिलती जब कि उसे राशि की जरूरत होती है और जितनी राशि वह मांगता है उतनी मिलती भी नहीं। इस प्रकार उसकी आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति नहीं होती।

(४) ऋणों का निश्चित तारीख पर भुगतान करना आवश्यक होता है वर्ना सरकारी कर्मचारी निर्दयता के साथ रुपया वसूल करते रहे हैं जिसके भुगतान के लिए या तो उसे महाजन से मुंहमांगे ब्याज-दर पर राशि लेनी पड़ती है या सम्पत्ति बेचनी पड़ती है।

(५) इसके साथ ही कभी-कभी जमानत देने का भी समुचित रूप से पालन करना पड़ता है और जिनके पास जमानत देने के लिए कोई सम्पत्ति नहीं है वे ये ऋण नहीं ले सकते।

(६) किसानों के अशिक्षित होने के कारण वे इन ऋणों के बारे में विशेष जानकारी नहीं रखते और उन्हें सरकार की तरफ से भी ऐसा ज्ञान नहीं कराया जाता।

इन त्रुटियों पर सिंचाई कमीशन (Irrigation Commission), पंजाब भू-आगम-समिति (Punjab Land Revenue Committee) तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-समिति आदि ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इन ऋणों का वितरण किसानों को तब ही आकर्षक हो सकता है जब कि इसकी वितरण क्रियाएं थोड़े समय में ही हों जिससे कृषक को आवश्यकता के समय राशि मिल सके। इसके लिए दुर्भिक्ष कमीशन (Famine Commission) ने १९वीं शताब्दी में ही ऐसा प्रस्ताव किया था कि इनका वितरण कृषि विभाग द्वारा किया जाय, न कि आगम विभाग द्वारा। १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग समिति ने यह सुझाव दिया था कि दुर्भिक्षकालीन सहायता भी कृषकों को दी जानी चाहिए तथा ऋणों का वितरण यथासंभव शीघ्रता से किया जाय। अतः ये ऋण सहकारी समितियों के द्वारा वितरित होने चाहिएं।

कृषि साख कॉरपोरेशन की सिफारिश—गाडगिल कमेटी ने देश में कृषकों को साख-सुविधाएं बढ़ाने के लिए कृषि साख कॉरपोरेशन स्थापित करने के सुझाव दिए थे। उनकी सिफारिश थी कि "प्रान्त-प्रान्त में एक-एक कृषि साख कॉरपोरेशन स्थापित किया जाय जिसकी शाखाएं और उपशाखाएं प्रान्त भर में फैल जायं। प्रस्तावित कॉरपोरेशन की अधिकांश पूंजी—कम से कम ५०%—प्रान्तीय सरकारें लगाएं तथा शेष पूंजी अन्य साख संस्थाओं द्वारा दी जाय। कॉरपोरेशन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की पूंजी प्राप्त करने के लिए अंश बेचे जायं और ये अंश व्यापारिक बैंकों, सहकारी बैंकों तथा अन्य साख-संस्थाओं द्वारा खरीदे जायं। प्रस्तावित कॉरपोरेशन का प्रबन्ध-संचालन एक बोर्ड के अधीन हो जिसमें सरकार द्वारा मनोनीत तथा अंशधारी संस्थाओं द्वारा भेजे गए संचालक हों। सरकार संचालक मनोनीत करते समय कृषि तथा सहकारिता से सम्बन्ध रखनेवाले विशेषज्ञों को ही मनोनीत करे। दैनिक प्रबन्ध के लिए सरकार एक अफसर नियुक्त करे जो कॉरपोरेशन के लेन-देन का संचालन करता रहे। कॉरपोरेशन दीर्घकालीन, मध्य-कालीन तथा अल्पकालीन—सब प्रकार के ऋण स्वीकृत किया करें। कॉरपोरेशन ऋण स्वीकृत करने में कृषकों से व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्ध रखें और कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए ऋण दें। जिन स्थानों पर सहकारी बैंक उन्नत न हों वहां ये कॉरपोरेशन उन्हें सहायता देकर प्रगति दें और जहां सहकारी बैंक अपना कार्य भली प्रकार करते हों वहां कॉरपोरेशन ऋण देने के लिए अपना अलग क्षेत्र निर्धारित करें। पर यह ध्यान रक्खा जाय कि कॉरपोरेशन सहकारी बैंकों तथा अन्य कृषि-साख-संस्थाओं के साथ प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्द्धा न करें वरन् सहयोग के साथ कार्य करें।" कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि "जिस प्रांत में सहकारी बैंकों ने अपना अच्छा क्षेत्र बना लिया हो और वे कृषकों की आवश्यकता पूर्ण करते हों वहां कॉरपोरेशन स्थापित करने पर कोई जोर न दिया जाय।" "कॉरपोरेशन चालू ऋणों पर ६½% तथा विकास के लिए लिये गए ऋणों पर ४% से अधिक ब्याज वसूल न करें।" कमेटी ने प्रान्तीय कॉरपोरेशनों के अतिरिक्त 'सार्वदेशिक कृषि साख कॉरपोरेशन' स्थापित करने की सिफारिश भी की थी।*

सहकारिता आयोजन समिति के सुझाव†—सहकारिता आयोजन समिति ने भी उक्त प्रश्न पर विचार किया था। उसका सुझाव था कि गाडगिल कमेटी की सिफारिश के अनुसार प्रान्त-प्रान्त में कृषि-साख कॉरपोरेशन स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है वरन् जो सहयोग और सहायता प्रस्तावित कॉरपोरेशनों को सिफारिश की गई है वह सब सहकारी बैंकों को मिलनी चाहिए जिससे उनके साधन बढ़ें और वे कृषकों की अधिक सेवा कर सकें। इस विषय में आयोजन समिति ने निम्न तर्क दिए :—

(१) "प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य सहकारी साख संस्थाओं ने पिछले अनेक वर्षों से कृषि-साख-क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है। अतः उन्हीं को इस विषय में प्रोत्साहन देना आवश्यक है न कि नई प्रकार की और साख

---

* The Agricultural Finance Sub-committee (President Prof. D. R. Gadgil) Report—pp. 32—50.

† The Cooperative Planning Committee Report—pp. 72-73.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संस्थाएं खोलना। फिर एक बात और भी है। प्रस्तावित कॉरपोरेशन जब सहकारी साख संस्थाओं के माध्यम द्वारा ही कृषकों से लेन-देन करेंगे तो फिर क्यों न सहकारी संस्थाओं को ही उन्नत और विकसित बनाया जाय ?"

(२) "गाडगिल कमेटी देश के अधिक से अधिक कृषकों को महाजनों और बोहरों के पाश से निकालकर साख-संस्थाओं के सम्पर्क में लाने की इच्छुक है—और इसीलिए उसने कॉरपोरेशन स्थापित करने का सुझाव दिया है। इसके लिए यह अच्छा है कि देश में अधिक से अधिक संख्या में सहकारी साख-संस्थाएं बढ़ाई जायं। यदि ऐसा किया गया तो कृषक स्वयमेव ही महाजनों से निकलकर साख-संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित कर लेंगे और तब गाडगिल कमेटी की दुश्चिंता स्वतः ही दूर हो जायगी।"

(३) "कृषि साख-कॉरपोरेशन के संचालक बोर्ड में ऋण लेनेवालों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न होने के कारण उसके प्रबन्ध-संचालन पर तथा उसकी ऋण-नीति पर केवल ऋणदाताओं का ही आधिपत्य हो जायगा।"

उक्त कारणों को देते हुए आयोजन-समिति ने देश में सहकारिता आन्दोलन को ही बढ़ावा देने की सिफारिश की। समिति ने कृषि-साख-कॉरपोरेशन बनाने का विरोध किया और सुझाव दिया कि उसके स्थान पर प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ही संगठित बनाया जाय। सरकार जो सहायता कॉरपोरेशनों को दे वह प्रान्तीय बैंकों को दी जाय ताकि ये बैंक उन सब कार्यों को निभा सकें जिनके लिए कॉरपोरेशन स्थापित करने की बात सोची जा रही है।

गाडगिल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों तथा रिजर्व बैंक से सलाह मांगी कि प्रान्तों में कॉरपोरेशन स्थापित करना कहां तक उपादेय होगा। रिजर्व बैंक ने इस सुझाव को अव्यावहारिक घोषित करते हुए योजना की अवहेलना की और कहा कि भारत की स्थिति अन्य देशों की स्थिति से भिन्न होने के कारण वहां जैसी विशिष्ट साख-संस्थाएं अपने देश में सफल नहीं हो सकतीं। कुछ प्रान्तीय सरकारों के सुझाव आए कि कॉरपोरेशन, यदि स्थापित किए गए तो, सहकारी बैंकों के प्रतियोगी बन जायंगे और तब सहकारिता आन्दोलन को बड़ा धक्का लगेगा। आसाम सरकार ने सुझाव भेजा था कि कृषि-साख-कॉरपोरेशन, जैसा कि गाडगिल कमेटी ने सिफारिश की है, स्थापित किए जायं पर वे प्रान्तीय सहकारी बैंकों को कम ब्याज पर ऋण देने की सुविधाएं दें।

कुछ भी हो, इस बात की देश में महती आवश्यकता है कि कृषकों के लिए उचित ब्याज-दर पर आवश्यक मात्रा में ऋण-राशि देने का समुचित प्रबन्ध हो। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को, रिजर्व बैंक को एवं सहकारी बैंकों को मिलकर एक ऐसा संगठन तैयार करना चाहिए जो कि देश में कृषि की वित्त-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

भारत में सहकारी बैंकों का जन्म कृषकों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें महाजनों और बोहरों के चंगुल से मुक्त करने के लिए हुआ। सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसके अन्तर्गत कुछ लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए समान अधिकारों के साथ मिलकर काम करते हैं। इस संगठन से गरीब और निर्बल स्वावलम्बन, बचत तथा विनियोग के सिद्धान्तों को लेकर पारस्परिक सहायता करके आर्थिक प्रगति करते हैं। इस कार्यप्रणाली से कई लाभ मिलते हैं—(१) पारस्परिक सहयोग से आत्मविश्वास बढ़ता है; (२) विनियोग की भावना आती और साख की गतिशीलता बढ़ती है; (३) साधन-हीन लोगों को साधन प्राप्त होता है; (४) बचत करने की आदत को प्रोत्साहन मिलता है।

सहकारिता द्वारा कृषकों को सहायता देने का मौलिक उद्देश्य यह है कि गरीब किसानों को आवश्यकतानुसार सस्ती ब्याज दर पर शीघ्र ही ऋण प्राप्त हो सके। सहकारी बैंक ऐसे लोगों ने बनाया है जिनके पास साधनों का अभाव है पर जो इस अभाव को दूर करने के लिए पारस्परिक सहयोग से काम कर सकते हैं। अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से सहकारी बैंकों को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) प्राइमरी साख समितियां, (२) केन्द्रीय सहकारी समितियां (बैंक), (३) प्रान्तीय सहकारी बैंक।

सहकारी बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही राशि जमा करने तथा राशि ऋण देने का काम करते हैं परन्तु तो भी दोनों के सिद्धान्तों एवं क्रियाओं में मौलिक अन्तर हैं। ये अन्तर इस प्रकार हैं—(१) व्यापारिक बैंक राशि जमाकर्ताओं तथा ऋण लेनेवालों के बीच मध्यस्थ का काम करता है, पर सहकारी बैंक केवल अपने ही सदस्यों को ऋण देते हैं; (२) व्यापारिक बैंक जमानत पर ऋण देते हैं, उनकी क्रिया धनी को और धनी तथा गरीब को और गरीब बनाती है, पर सहकारी बैंक साख-नीति में प्रजातंत्रीय भावना भरता है—यह पारस्परिक सहयोग सिखाता है तथा उत्तरदायित्व का ज्ञान कराता है; (३) व्यापारिक बैंक के प्रबन्ध-संचालन में उसके अंशधारी का विशेष हस्तक्षेप नहीं होता पर सहकारी बैंक का प्रत्येक सदस्य उसके प्रति उत्तरदायी होता है; (४) व्यापारिक बैंक ऋण राशि के प्रयोग करने के उद्देश्य से कोई सरोकार नहीं रखता पर सहकारी बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि दिया हुआ ऋण उत्पादन के काम में आ रहा है या नहीं; (५) सहकारी बैंक उधार लेनेवालों के समीप रहता ह और व्यापारिक बैंक उनसे दूर; (६) व्यापारिक बैंकों का संचालन भारतीय कम्पनी एक्ट तथा बैंकिंग कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत होता है पर सहकारी बैंकों का संचालन सहकारी समिति एक्ट के द्वारा होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दस या इससे अधिक व्यक्ति मिलकर प्राइमरी साख समिति बना सकते हैं। समिति के सदस्यों की देनदारी असीमित होती है। सदस्यों से प्रवेश-शुल्क लेकर उनको अंश बेचकर अथवा उनसे राशि जमा रखकर समिति पूंजी प्राप्त करती है। समिति अपने सदस्यों को उत्पादन व कृषि कार्यों के लिए राशि उधार देती है। प्रत्येक समिति को अपने लाभ में से कुछ राशि संचित कोष में रखना होता है। समिति का प्रबन्ध-संचालन दो कमेटियों के हाथ में होता है--(१) साधारण, (२) प्रबन्ध। गत युद्ध के पूर्व समितियों की परिस्थितियां बड़ी भयंकर रहीं। परन्तु आगे चलकर सुधर गईं। युद्धकाल में समितियों द्वारा दिए गए ऋण वापस आने लगे और उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

प्राइमरी साख समितियों की सहायतार्थ केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन किया जाता है। किसी तहसील, जिला या किसी विशेष क्षेत्र की प्राइमरी समितियों के ऊपर एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है। केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रायः दो प्रकार के होते हैं--(१) जिनमें केवल प्राइमरी समितियां ही सदस्य होती हैं—इन्हें यूनियन कहते हैं; (२) जिनमें प्राइमरी समितियों के साथ-साथ अन्य लोग भी सदस्य होते हैं—इनका प्रधान उद्देश्य प्राइमरी समितियों को धनराशि देकर सहायता करना होता है। इसके अतिरिक्त ये अन्य प्रकार की बैंकिंग क्रियाएं भी करते हैं। युद्धकाल में इन बैंकों ने 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन तथा वस्तुओं के वितरण में अधिक योग दिया था।

प्रान्तीय सहकारी बैंक देश के सहकारी बैंकिंग कलेवर के शीर्ष बैंक का काम करते हैं। प्रान्तीय बैंक प्रान्त भर के केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन करता तथा उनकी देखभाल करता है। ये बैंक समय समय पर अन्य सहकारी बैंकों को ऋण भी देते हैं। प्राइमरी समितियों से ये बैंक सीधा लेन-देन नहीं करते वरन् केन्द्रीय बैंकों से ही इनका लेन-देन होता है। जिन स्थानों पर केन्द्रीय प्राइमरी बैंक नहीं हैं वहां प्रान्तीय बैंक स्वयं प्राइमरी समितियों से लेन-देन करते हैं। इनकी पूंजी अंश बेचकर, जमा-राशि द्वारा तथा अन्य बैंकों से ऋण लेकर प्राप्त होती है। युद्धकाल में इन बैंकों की स्थिति सुदृढ़ हो गई थी।

सहकारी बैंकिंग प्रणाली के दोष--(१) सहकारी आन्दोलन जनता की आवश्यकता के किनारे किनारे विकसित न होकर सरकारी नीति के भार में पनपा है, अतः यह जनता के उतने समीप नहीं जितना होना चाहिए था; (२) प्राइमरी साख समितियां दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन ऋणों के अन्तर को नहीं समझ सकीं, फलतः उनकी राशि दीर्घकालीन ऋणों में उलझती रही; (३) सहकारी बैंकों की ऋण देने की प्रथा बड़ी जटिल रही है; (४) बैंकों में सरकारी कर्मचारी प्रथा बढ़ती रही है जिससे जनता इन बैंकों को अपने से भिन्न और दूर समझती रही है; (५) बैंकों के संचालक अयोग्य एवं अनुभवहीन रहे हैं; (६) बैंकों का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हिसाब-लेखा नियमानुसार नहीं रक्खा गया है ; (७) बैंकों की वित्तीय स्थिति बड़ी नाजुक रही है ; (८) देश में सहकारिता शिक्षा का अभाव रहा है जिससे लोगों में सहकारी बैंकों से लेनदेन बढ़ाने की हौंस नहीं पनपने पाई है।

देश में सहकारिता आन्दोलन की जांच-पड़ताल करने तथा उसमें सुधार करने के लिए सुझाव देने के लिए सरकार ने सहकारिता आयोजन समिति बनाई थी। इस समिति ने सहकारी बैंकों को उन्नत बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए जो इस प्रकार हैं—(१) समितियों की जड़ सम्पत्ति को तरल रखना चाहिए; (२) इनका संगठन असीमित देनदारी के आधार पर होना चाहिए; (३) इन्हें ऋण सामान्यतः व्यक्तिगत साख पर देने चाहिएं; (४) समितियों को ऋण स्वीकार करने में शीघ्रता करनी चाहिए; (५) स्वीकृत किए गए ऋणों की राशि उसी समय देनी चाहिए जब उसकी वास्तविक आवश्यकता पड़े; (६) समितियों को नीची दर पर ऋण देने चाहिएं; (७) केन्द्रीय सहकारी बैंकों को अपना संगठन समुचित बैंकिंग पद्धति के अनुसार करना चाहिए; (८) समितियों को चाहिए कि वे रिजर्व बैंक द्वारा दी गई सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठाएं; (९) समितियों को देखते रहना चाहिए कि ऋण लेनेवाले ऋण राशि का ठीक-ठीक उपयोग कर रहे हैं या नहीं; (१०) ऋणों के भुगतान के विषय में समितियों को बहुत सावधान रहना चाहिए। कमेटी का विश्वास है कि भारतीय गांवों की आर्थिक समस्या विशेषकर कृषि-वित्त-समस्या को सुलझाने में सहकारी समितियां अमूल्य योग प्रदान कर सकती हैं।

रिजर्व बैंक सदैव से ही सहकारी बैंकों के प्रति सहयोग एवं सद्भावना रखता आया है। एक्ट की धाराओं १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि कार्यों तथा फसल बिक्री के लिए बिना जमानत के ऋण देता है। ये ऋण १५ महीने की अवधि तक के लिए दिए जाते हैं। धारा १७ (४) (ब) तथा १७ (४) (स) के अनुसार बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को १५ महीने के अवधि के लिए रियायती दरों पर ऋण देता है। बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों को राशि के स्थानान्तरण की सुविधाएं भी देता है। बैंक ने बैंकिंग पद्धति के आधार पर हिस्सा देने के लिए एक संस्था बनाई है जहां सहकारिता की ट्रेनिंग दी जाती है।

भूमि-बन्धक बैंक वे बैंकिंग संस्थाएं हैं जो भूमि को बन्धक रखकर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देती हैं। ऐसे बैंक सहकारिता के आधार पर भी स्थापित किए जा सकते हैं तथा व्यापारिक बैंक की भांति भी बनाए जा सकते हैं। इन बैंकों की पूंजी अंश बेचकर, ऋणपत्र बेचकर तथा दीर्घकालीन राशि जमा करके प्राप्त की जाती है। ये बैंक कृषकों को दीर्घकालीन—४० साल तक के लिए—ऋण देते हैं। इनकी ब्याज-दर ६% से ९% तक होती है। इन बैंकों की सफलता इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बात पर निर्भर होती है कि ऋण देते समय बन्धक रखी जानेवाली भूमि का मूल्यांकन ठीक ठीक होता है या नहीं तथा ऋण लेनेवाला किश्तों का भुगतान ठीक-ठीक करता है या नहीं। इन बैंकों का प्रबन्ध-संचालन ऐसे लोगों के हाथ में होना चाहिए जो केवल अपने सम्बन्धियों को ही ऋण न दें पर बैंक के हित में कार्य करें। सिद्धान्ततः इन बैंकों को अधिकार मिल जाना चाहिए कि ऋण भुगतान न होने पर वे बिना अदालत की सहायता के बन्धक भूमि को अपने स्वामित्व में कर सकें या बेच सकें।

कृषि कार्यों के लिए कृषकों को वित्त सहायता देने के हेतु गाडगिल कमेटी ने देश में और प्रान्त-प्रान्त में कृषि साख कॉरपोरेशन स्थापित करने की सिफारिश की थी पर सहकारिता आयोजन समिति ने इन सिफारिशों को न मानकर केवल सहकारी बैंकों के विकास पर ही जोर दिया। ठीक भी है, कृषकों को विश्वास-पात्र बनाकर उनमें सहयोग और सहकारिता की भावना भरकर उनकी वित्त-समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र मार्ग सहकारी बैंकों का विकास है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) सहकारिता का मूल आदर्श क्या है? इस आदर्श को सामने रखते हुए सहकारी बैंक कृषकों की वित्त-समस्या किस सीमा तक हल कर सकते हैं?

(२) सहकारी बैंकों तथा व्यापारिक बैंकों के मूल भेद समझाते हुए बतलाइए कि व्यापारिक बैंक कृषकों की वित्त-सहायता क्यों नहीं कर पाते।

(३) भारतीय कृषि क्षेत्र में सहकारी बैंकों का क्या स्थान है—इस पर एक स्थूल नोट तैयार कीजिए।

(४) प्राइमरी साख समितियों के संगठन तथा कार्य-शैली का वर्णन कीजिए। इन समितियों को आर्थिक सहायता देने का हमारे देश में क्या प्रबन्ध है?

(५) भारतीय सहकारी बैंकिंग क्षेत्र में केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों का क्या स्थान है? प्रान्तीय सहकारी बैंकिंग संस्था के संगठन पर प्रकाश डालिए।

(६) भारतीय सहकारी बैंकिंग व्यवस्था तथा उसके लेन-देन के दोषों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें दूर करने के सुझाव दीजिए।

(७) सहकारिता आयोजन समिति ने सहकारी बैंकिंग व्यवस्था को उन्नत करने के जो सुझाव दिए उनका विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।

(८) 'भूमि-बन्धक बैंक' से आपका क्या तात्पर्य है? भारतीय भूमि-बन्धक बैंकों के विकास का वर्णन करते हुए उनके दोषों को समझाइए। उन दोषों को दूर करने के सुझाव भी दीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(९) रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों को सहायता देने की जो व्यवस्थाएं की हैं उनका उल्लेख कीजिए।

(१०) सरकार द्वारा कृषकों को जो वित्त-सहायता दी जाती है उसका वर्णन करते हुए उसके दोषों और त्रुटियों की ओर संकेत कीजिए।

(११) 'कृषि-साख कॉरपोरेशन' स्थापित करने के विषय में गाडगिल कमेटी की सिफारिशों का उल्लेख कीजिए। सहकारिता आयोजन-समिति ने इन सिफारिशों पर जो विचार प्रकट किए उनका भी उल्लेख कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३६

रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया

भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का प्रश्न बहुत काल से चलता आ रहा था। १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया था। इसी समय प्रो० कीन्स ने देश-देश में केन्द्रीय बैंक बनाने की योजना प्रकाशित की थी परन्तु हमारी विदेशी सरकार ने उस समय कोई ठोस कदम न उठाया। १९२० में ब्रूसेल्स नामक स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ और उसमें प्रस्ताव पास किया गया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं उन्हें शीघ्र ही ऐसे बैंक स्थापित कर लेने चाहिएं। १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक बनाने की सिफारिश की जो देश में साख और मुद्रा दोनों का नियंत्रण कर सके। यद्यपि १९२१ में इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया स्थापित हो चुका था और वह सरकारी बैंक एवं बैंकों के बैंक के रूप में भी काम करता था पर हिल्टन यंग कमीशन ने इसी बात पर जोर दिया कि केन्द्रीय बैंक इम्पीरियल बैंक से अलग होना चाहिए जो सरकारी बैंक हो, बैंकों की देख-भाल करे और नोट छापकर चलाने का भी प्रबन्ध करे। कमीशन का मत था कि इन अधिकारों को लेकर ही केन्द्रीय बैंक देश में साख-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर सकता है। विशेषज्ञों का भी विचार था कि देश की बैंक-व्यवस्था तथा साख-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए एक अधिकृत बैंक की आवश्यकता है जिसको विशेषाधिकार देकर मौद्रिक इकाई के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यों में स्थिरता एवं स्थायित्व लाया जा सके। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सभी पश्चिमी देशों ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे। भारत में भी इसकी विशेष आवश्यकता थी। अतः १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के नाम से केन्द्रीय बैंक बना दिया गया।

रिजर्व बैंक बनाने की आवश्यकता

देश में रिजर्व बैंक स्थापित करने के अनेक कारण थे। कुछ बातें ऐसी थीं जिनका प्रबन्ध एवं नियंत्रण केवल रिजर्व बैंक ही कर सकता था। वे बातें निम्न थीं—

(१) भारतीय मौद्रिक इकाई अर्थात् रुपये के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी। रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता तभी आ सकती है जब कि रुपये की प्रदाय देश में उद्योग और व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। यदि व्यवसाय की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यकता से कम या अधिक रुपये की प्रदाय रही तो रुपये का मूल्य क्रमानुसार ऊंचा या नीचा रहेगा और उसमें अस्थिरता आने लगेगी। अतः रिजर्व बैंक से आशा थी कि नोट निर्गमन करने तथा सिक्यूरिटियों के क्रय-विक्रय का एकाधिकार मिल जाने से वह रुपये की प्रदाय व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुकूल घटा-बढ़ा सकेगा और इस प्रकार उसके मूल्य में स्थिरता पैदा हो सकेगी।

इसी प्रकार रुपये के बाह्य मूल्य अर्थात् विनिमय-दर में भी स्थिरता तभी आ सकती है जब कि आवश्यकतानुसार विदेशी विनिमय लोगों को मिलता रहे। रुपये की बाह्य स्थिरता अधिकांश में आन्तरिक स्थिरता पर ही निर्भर होती है। इसलिए सोचा गया कि जब आन्तरिक स्थिरता आ जायगी तो बाह्य स्थिरता भी लाई जा सकती है। दूसरे, रिजर्व बैंक को सोना तथा स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय का अधिकार मिल जाने से ऐसी आशा की जाती थी कि रिजर्व बैंक विनिमय-दर में भी स्थिरता ला सकेगा।

(२) रिजर्व बैंक से आशा थी कि इसके द्वारा देश के उस कोष में, जो अब तक भिन्न-भिन्न बैंक अपने-अपने पास रखते थे, केन्द्रीकरण होगा। अब तक बैंक अपने पास कुछ कोष रखते थे परन्तु इस कोष से कोई कार्य हल नहीं हो सकता था। यदि किसी बैंक को कभी आवश्यकता भी होती तो दूसरा बैंक रुपये से उसकी सहायता नहीं करता था। अतः यह कोष भिन्न-भिन्न बैंकों के पास रखा ही रहता था। अब यह सोचा गया कि रिजर्व बैंक बनने से देश के भिन्न-भिन्न बैंक अपनी-अपनी एक निश्चित कोष-राशि रिजर्व बैंक में रखा करेंगे जिससे कोषों का केन्द्रीकरण होगा। रिजर्व बैंक इस केन्द्रित कोष से समय-समय पर और स्थान-स्थान पर बैंकों की आवश्यकता पूरी करेगा। इस तरह से उन कोषों का, जो रिजर्व बैंक न होने कारण बेकार हैं, महत्तम प्रयोग होगा, उनमें गतिशीलता आवेगी और लोच भी पैदा होगी, रुपये का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकेगा। इससे हमारे बैंकिंग कलेवर में सुव्यवस्था आवेगी।

(३) देश की साख-नीति का समुचित और न्यायपूर्ण प्रबन्ध करने के लिए भी देश में रिजर्व बैंक की आवश्यकता थी। साख-नीति का समुचित प्रबन्ध उसी समय हो सकता है जब कि मुद्रा और साख की प्रदाय व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल घटाई-बढ़ाई जा सके जिससे मुद्रा-मण्डी और व्यवसाय-क्षेत्र में असन्तुलन और विषमता न रहने पावे। अब तक साख-नियंत्रण का काम इम्पीरियल बैंक करता था और नोट छापने का एकाधिकार सरकार के हाथ में था। इस प्रकार की दोहरी नीति से साख-नियंत्रण के कार्य में बाधा आती थी। अतः ऐसा सोचा गया कि रिजर्व बैंक स्थापित करके दोनों काम—साख-नियंत्रण एवं नोट-निर्गमन—उसी के अधीन कर दिए जायं। साख-नियंत्रण के समुचित प्रबन्ध के लिए रिजर्व बैंक को निम्न अधिकार दिए गए हैं :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(क) नोट-निर्गमन का एकाधिकार दे दिया गया है जो कि साख-नियंत्रण का प्रमुख साधन है;

(ख) बैंकों से उनकी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% जमा लेने का भी अधिकार मिला है जिससे बैंकों पर और उनकी साख-व्यवस्था पर निरीक्षण रक्खा जा सके;

(ग) सरकारी कोष की राशि भी बैंक में जमा रहेगी जिससे साख-व्यवस्था शीघ्र ही प्रभावित बनाई जा सके;

(घ) बिलों की पुनःकटौती (Re-discounting) करने का भी अधिकार मिला है (जिस दर पर रिजर्व बैंक बिलों की पुनःकटौती करता है उसे 'बैंक-दर' कहते हैं);

(ङ) साख-नियंत्रण के लिए बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह समय समय पर आवश्यकतानुसार खुले बाजार में 'सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय' कर सकता है (Open Market Operations);

(च) रिजर्व बैंक समाशोधन गृह का काम भी करता है जिससे बैंकों के लेखे रिजर्व बैंक की दृष्टि में बने रहें (Clearing House System);

(४) देश में अब तक ऐसी कोई संस्था न थी जो बैंकों, मुद्रा-मण्डियों व स्वदेशी बैंकरों के क्रिया-कलापों के शुद्ध-शुद्ध न्यायपूर्ण अंक जनता की सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करती। अतः इस कार्य के लिए भी रिजर्व बैंक की विशेष आवश्यकता थी।

(५) ऐसी संस्था की भी आवश्यकता थी जहां सरकारी राशि सुरक्षित रखी जा सकती और जो सरकारों—केन्द्रीय और प्रान्तीय—के लेखों पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने का प्रबन्ध करती, सरकारों के लिए विदेशी विनिमय खरीदती और सरकार के लेखे पर राशि लन्दन भी भेजती तथा सरकार को समय सयय पर मौद्रिक विषयों पर सलाह भी देती। रिजर्व बैंक की स्थापना से इस कमी को दूर करने की आशा थी।

(६) रिजर्व बैंक की इसलिए भी आवश्यकता थी कि वह देश की बैंकिंग प्रणाली का भली भांति नियंत्रण करेगा जिससे देश का बैंकिंग कलेवर सुदृढ़ और संगठित बन सके। स्वदेशी बैंकरों को, जो अब तक सरकार के नियंत्रण से बाहर थे, नियंत्रण में लाने के लिए भी रिजर्व बैंक को उपयुक्त समझा गया। यह भी सोचा गया कि देश के आन्तरिक व्यापार की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति देश का केन्द्रीय बैंक ही भली प्रकार कर सकता है।

(७) आशा की जाती थी कि रिजर्व बैंक द्वारा भारतीय कृषि की मौद्रिक आवश्यकताएं पूरी हो जायंगी। रिजर्व बैंक में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि-साख विभाग स्थापित किया गया है जिसके द्वारा प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कृषकों तक मौद्रिक सहायता पहुंचाने का आयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक अन्य साधनों द्वारा भी कृषि को सहायता देता है जिसका वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(८) इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक की इसलिए भी आवश्यकता थी कि अन्य सभी देशों ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे और अन्य राष्ट्रों के साथ मौद्रिक दौड़ में चलने के लिए भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की आवश्यकता थी। न्यूजीलैंड, टर्की, मैक्सिको तथा चीन में भी केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके थे।

उक्त सभी आशाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से १९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार अप्रैल १९३५ से रिजर्व बैंक स्थापित कर दिया गया। रिजर्व बैंक स्थापित करने से पहिले काफी वाद-विवाद रहा कि बैंक अंशधारियों का बैंक हो अथवा सरकारी बैंक। दोनों के पक्ष-विपक्ष में युक्तियां रखी गईं परन्तु अन्त में इस उद्देश्य को लेकर कि किसी भी मौद्रिक संस्था में राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए वरन् ऐसी संस्था को तो जनता के नियंत्रण में रखना चाहिए, रिजर्व बैंक को अंशधारियों का बैंक ही बनाया गया। अंशधारियों के रिजर्व बैंक ने लगभग चौदह वर्ष काम किया। भारत के स्वतंत्र होते ही रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठा और इस सिद्धान्त के अनुसार कि देश में राष्ट्रीय सरकार है और राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में रहकर केन्द्रीय बैंक को साख-नियंत्रण तथा मौद्रिक प्रबन्ध करना चाहिए, रिजर्व बैंक का १ जनवरी सन् १९४९ से राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

राष्ट्रीयकरण क्यों और कैसे ?

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न तो उसके जन्म से ही चलता आया था। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों पर जब भारतीय धारासभा में विचार हुआ तो विपक्षी दल राष्ट्रीयकरण का समर्थक था परन्तु किसी भी प्रकार १९३५ में इस बैंक की स्थापना वैयक्तिक अंशधारियों के बैंक के रूप में हुई। १९४६-४७ में केन्द्रीय विधान सभा में जब बजट पर बहस हो रही थी तब विपक्षी दल के नेता श्री शरच्चन्द्र बोस ने इस प्रश्न को उठाया। उक्त सुझाव का उत्तर देते हुए अर्थमन्त्री सर आर्ची-बाल्ड रोलैंड्स ने कहा—"मुझे इस विषय में संशय नहीं है कि निकटतम भविष्य में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जायगा। इसका राष्ट्रीयकरण अब तक क्यों नहीं हुआ, इसका कारण मेरे विचार से यह था कि विधान सभा रिजर्व बैंक जैसी संस्था को, जिसका भारत के आर्थिक जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, एक अनुत्तरदायी कार्य-कारिणी के हाथ में देने को तैयार नहीं थी। केन्द्रीय धारासभा में बैंक के राष्ट्रीय-करण का प्रस्ताव फरवरी १९४७ में पुनः लाया गया, परन्तु अर्थ-सदस्य के विश्वास दिलाने पर कि सरकार इस पर पूर्ण विचार करेगी और जब यह कार्य देशहित में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहायक होगा तो सरकार को इसका राष्ट्रीयकरण करने में तनिक भी संकोच न होगा, प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। इसके पश्चात् १९४७-४८ के बजट को धारासभा में पेश करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि अब राष्ट्रीय सरकार है और देश स्वतंत्र है इसलिए केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर ही देना चाहिए। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न युक्तियां थीं जिनके कारण रिजर्व बैंक को राष्ट्रीय संस्था बना दिया गया :—

(१) अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था और उन देशों में सरकार की आर्थिक तथा मौद्रिक नीति को केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कार्य रूप में लाया जाता था। भारत में भी यह तभी किया जा सकता था जब कि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण होता।

(२) भारत में जनसाधारण के जीवनस्तर को ऊंचा बनाने के लिए यह आवश्यक था कि आय में वृद्धि हो तथा आर्थिक विषमता दूर हो। ऐसा करने के लिए युद्धोत्तर आर्थिक योजनाओं की आवश्यकता थी और आर्थिक योजना तभी सफल बनाई जा सकती थी जब कि केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीयकृत होता और सरकार की नीति के साथ सहयोग देता।

(३) कुछ थोड़े से कार्यों को छोड़कर, जो केन्द्रीय सरकार को दिए गए हैं, प्रान्तों को पूर्ण स्वतंत्रता होती है। ऐसी परिस्थिति में सम्भव था कि विभिन्न प्रान्तीय सरकारें विभिन्न आर्थिक नीति का अनुसरण करतीं और युद्धोत्तरकालीन आर्थिक योजनाएं सफल न हो पातीं। अतः केन्द्रीय सरकार यह चाहती थी कि ऐसा न हो और कम से कम केन्द्रीय बैंक और केन्द्रीय सरकार की आर्थिक नीति में तो पूर्ण सहयोग रहे। यह तभी हो सकता था जब केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीयकृत होता। अतः रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

(४) गत वर्षों में, विशेषतया युद्ध-काल में, रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति सन्तोष-जनक नहीं रही थी। नोटों का अत्यधिक प्रसार हुआ था और वस्तुओं के दाम बढ़ते रहे परन्तु रिजर्व बैंक ने इसको रोकने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। अतः सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण से यह दोष दूर किया जा सकेगा।

(५) रिजर्व बैंक अभी तक "स्वदेशी बैंकरों को नियंत्रित नहीं कर पाया था। यद्यपि बैंक ने अनेक योजनाएं भी बनाईं और प्रयत्न भी किए परन्तु वह असफल रहा। अतः सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण करने से, हो सकता है, ऐसी परिस्थितियां बन जायं जिससे भारतीय मुद्रामण्डी का भी यह दोष दूर किया जा सके।

(६) किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था का राजनीति से घनिष्ठ संबंध होता है। जिस प्रकार आर्थिक परिस्थिति के अनुसार राजनीति में आवश्यक परिवर्तन करने होते हैं उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक और मौद्रिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नीतियों में फेरबदल करना आवश्यक हो जाता है। अतः देश स्वतंत्र होने के पश्चात् इस बात की आवश्यकता समझी जाने लगी कि मौद्रिक नीत के संचालक—रिजर्व बैंक और सरकार—में पूर्ण तालमेल रखा जाय। इसलिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे सरकारी विभाग बना दिया गया।

(७) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति से देश की बेरोजगारी की समस्या भी प्रभावित होती है। युद्ध के पश्चात् बेरोजगारी बढ़ने का भय था (यह भय अब सही उतर रहा है) जिसे दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नीति सरकार की इच्छानुसार होती। अतः केन्द्रीय बैंक को सरकारी स्वामित्व एवं संचालन में ले आया गया।

(८) युद्ध के कारण लगभग सभी देशों के आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो गए थे और अनेक प्रकार की नई-नई समस्याएं देश-देश के सामने आ चुकी थीं। इन समस्याओं को समुचित रूप से हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से देश की आगामी आर्थिक नीति का निर्धारण करना आवश्यक था। अतः रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया जिससे वह सरकार का प्रतिनिधित्व करते हुए विदेशों के साथ सहयोग प्राप्त कर सके। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हो चुकी थी जिनसे संबंध स्थापित करने तथा लेन-देन करने के लिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था क्योंकि तभी वह सरकारी नीति के साथ-साथ उन संस्थाओं से सम्पर्क रख सकता था।

(९) ऐसी अनेक बातें थीं जिन पर रिजर्व बैंक को देश की अन्य बैंकों से प्रकार-प्रकार की सूचना प्राप्त करना आवश्यक होता था। प्राइवेट बैंक होने से उसे यह सूचना प्राप्त करने में कुछ कठिनाई होती थी अतः ऐसा सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण से उसे कुछ विशेष स्थान मिलेगा और तब वह इच्छानुसार बैंकों से कोई भी आवश्यक सूचना प्राप्त करता रहेगा।

उक्त कारणों को लेकर रिजर्व बैंक को १ जनवरी १९४९ से 'राष्ट्रीय मौद्रिक एवं बैंकिंग संस्था' बना दिया गया। अंशधारियों के अंश सरकार ने ले लिये और १०० रु० के एक अंश के बदले में ११८ रु० १० आने की कीमत देना स्वीकृत हुआ। १०० रुपयों के बदले में तो ३% वार्षिक दर के सरकारी बौण्ड दे दिए गए और शेष राशि का नकद भुगतान कर दिया गया। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट १९३४ में भी आवश्यक संशोधन कर दिए गए और प्रथम जनवरी १९४९ से बैंक राष्ट्रीय संस्था बन गई।

रिजर्व बैंक का विधान

राष्ट्रीयकृत संस्था के रूप में—रिजर्व बैंक का प्रबन्ध, संचालन एवं स्वामित्व अब केन्द्रीय सरकार के हाथ में है। केन्द्रीय सरकार बैंक के गवर्नर की नियुक्ति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करती है तथा उसकी सलाह से समय-समय पर जनहित को दृष्टि में रखते हुए बैंक को आदेश देती है और इन आदेशों की पूर्ति के उद्देश्य को सामने रखकर बैंक का केन्द्रीय बोर्ड बैंक का संचालन करता है। केन्द्रीय बोर्ड के आदेशों का पालन करते हुए बैंक के गवर्नर को बैंक का प्रबन्ध करने का अधिकार है। केन्द्रीय बोर्ड में निम्न व्यक्ति होते हैं :—

(१) एक गवर्नर व दो डिप्टी गवर्नर—इनको केन्द्रीय सरकार पांच वर्ष के लिए नियुक्त किरती है परन्तु पांच वर्ष के बाद उनको फिर भी नियुक्त किया जा सकता है। इनका वेतन केन्द्रीय सरकार की सलाह से केन्द्रीय बोर्ड निश्चित करता है। डिप्टी गवर्नरों को केन्द्रीय बोर्ड की बैठक में भाग लेने का अधिकार तो होगा परन्तु वोट देने का अधिकार नहीं है। यदि गवर्नर की अनुपस्थिति में डिप्टी गवर्नर कार्य-संचालन करे तो उस समय उसको वोट देने का अधिकार होगा लेकिन यह अधिकार उसी समय समझा जायगा जब कि इस आशय का एक लिखित प्रमाण-पत्र डिप्टी गवर्नर को गवर्नर ने दे दिया हो।

(२) चार संचालक—ये संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा चारों स्थानीय बोर्डों में से मनोनीत किए हुए होते हैं (स्थानीय बोर्डों का विवरण आगे देखिए)।

(३) छः संचालक और होते हैं जिनको भी केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इनमें से प्रत्येक दो बारी-बारी से एक, दो, तीन वर्ष के बाद अलग होते जाते हैं।

(४) एक सरकारी अफसर होता है जो सरकार द्वारा केन्द्रीय बोर्ड पर नियुक्त किया जाता है। यह अफसर सरकार की इच्छानुसार कितने ही समय तक काम कर सकता है।

इस प्रकार केन्द्रीय बोर्ड में कुल १४ व्यक्ति होते हैं। निश्चित अवधि समाप्त होने पर सरकारी मनोनीत संचालक फिर दुबारा भी मनोनीत किए जा सकते हैं। केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त बैंक के प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय बोर्ड हैं। स्थानीय बोर्ड कलकत्ता, बंबई, मद्रास तथा दिल्ली में हैं। सीमा की दृष्टि से सारे देश को चार प्रदेशों में विभाजित कर लिया गया है। ये प्रदेश उत्तरी प्रदेश, दक्षिणी प्रदेश, पूर्वी प्रदेश तथा पश्चिमी प्रदेश हैं जो रिजर्व बैंक एक्ट के प्रथम परिशिष्ट में दिए गए हैं। इन्हीं चार प्रदेशों के लिए स्थानीय बोर्ड हैं। प्रत्येक बोर्ड में पांच सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति सरकार करती है। ये सदस्य आपस में अपने में से बोर्ड का सभापति चुन लेते हैं। सदस्य केवल चार वर्ष तक ही पद पर रहते हैं परन्तु अवधि समाप्त होने के बाद इनको फिर नियुक्त किया जा सकता है। स्थानीय बोर्ड आवश्यक मामलों पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह भी देता है तथा केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार कार्य करता है।

केन्द्रीय बोर्ड की बैठक बुलाना गवर्नर के अधिकार में है परन्तु कोई भी तीन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संचालक मिलकर भी गवर्नर से बैठक बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। वर्ष भर में ६ बैठकें बुलाना अनिवार्य है परन्तु तीन महीनों में एक बैठक अवश्य ही होनी चाहिए।

रिजर्व बैंक की पूंजी ५ करोड़ रुपये है। बैंक के कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में हैं। इसकी एक शाखा लन्दन में भी है जो अप्रैल १९४६ में खोली गई थी। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से बैंक अन्य किसी स्थान पर भी शाखा खोल सकता है।

बैंक में मुख्य विभाग निम्न हैं :—

(१) बैंकिंग विभाग—यह विभाग बैंकों से व्यवहार रखता है तथा सरकारी कार्य में सहायता भी करता है, जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजना और सरकार को सलाह देना। बैंकों का निरीक्षण करना भी इसका काम है। बैंकों की मांग तथा काल देनदारी की क्रमशः ५% और २% राशि इसी विभाग में जमा रहती है।

(२) नोट विभाग—इस विभाग का कार्य नोट जारी करना तथा नोटों के बदले में सिक्के आदि का परिवर्तन करना है।

(३) कृषि-साख विभाग—इस विभाग का कार्य कृषि-साख की समस्याओं के विशेषज्ञ नियुक्त करके रखना है जिससे समय समय पर आवश्यकतानुसार केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं और अन्य बैंकिंग संस्थाओं को कृषि-साख सम्बन्धी सुविधाएं दी जा सकें।

(४) विदेशी विनिमय विभाग—यह विभाग विनिमय-दर स्थायी रखने के लिए विदेशी विनिमय की खरीद-बेच करता है।

(५) शोध एवं अंक विभाग—यह विभाग मुद्रा-शोध का काम करता है। मुद्रा-मण्डी, बैंकिंग तथा उत्पादन एवं लाभांश सम्बन्धी अंक इकट्ठे करके प्रकाशित करना भी इसका विशेष कार्य है।

रिजर्व बैंक की क्रियाएं

क्रियाओं की दृष्टि से बैंक के कार्य दो भागों में बांटे जा सकते हैं। कुछ तो ऐसे कार्य हैं जो बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण करने होते हैं तथा कुछ क्रियाएं ऐसी हैं जो एक्ट की धारा १७ के अन्तर्गत बैंक को करनी अनिवार्य हैं।

(१) केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट के तीसरे अध्याय में केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं का वर्णन है। ये क्रियाएं निम्न हैं :—

(क) सरकारी बैंकिंग कार्य करना—बैंक सरकार का राजकोषीय एजेन्ट है। बैंक केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत दूसरी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकारों की राशि जमा रखता है, उनके लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजता है, उनके लेखे पर भुगतान करता है, विदेशी विनिमय का काम करता है तथा उनके अन्य आवश्यक बैंकिंग कार्य करता है। सरकार के जन-ऋण का प्रबन्ध भी यही बैंक करता है। सरकार के लेखे में राशि इसी बैंक में जमा की जाती है परन्तु सरकारी राशि बैंक में बिना ब्याज के जमा रहती है। इसके अतिरिक्त बैंक समय-समय पर सरकार को मुद्रा-नीति, बैंकिंग नीति तथा विनियोग-नीति पर सलाह भी देता रहता है।

(ख) **बैंकों का बैंक**—रिजर्व बैंक देश के अन्य 'बैंकों का बैंक' है अर्थात् जिस प्रकार लोगों की राशि बैंकों में जमा रहती है और वे उनसे उधार लेते हैं उसी प्रकार बैंकों की कुछ निश्चित राशि इस बैंक में जमा रहती है और वे समय आने पर इससे उधार भी लेते हैं। रिजर्व बैंक का कार्य देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी संगठित करना है। रिजर्व बैंक से सीधा संबंध रखनेवाले बैंकों को रिजर्व बैंक का सदस्य बनना पड़ता है जिनका नाम एक्ट के दूसरे परिशिष्ट में लिख लिया जाता है। ऐसे बैंकों को 'तालिकाबद्ध' बैंक कहते हैं। इन तालिकाबद्ध बैंकों को बैंक में अपनी मांग-देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% जमा करना पड़ता है। जब तालिकाबद्ध बैंकों पर कोई संकट आता है और इन्हें राशि की आवश्यकता होती है परन्तु राशि प्राप्ति के अन्य सभी स्रोत सूख जाते हैं और कोई साधन नहीं होता तो ये बैंक रिजर्व बैंक के पास ऋण लेने आते हैं और रिजर्व बैंक जमा की हुई केन्द्रित राशि ऐसे संकट-काल में इन्हीं की सहायता में लगाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक विपत्ति का साथी बनकर इन बैंकों की सहायता करता है और इस प्रकार देश में साख बनी रहती है।

(ग) **नोट निर्गमन करना**—देश की मुद्रा और साख-नीति पर नियंत्रण रखने के लिए बैंक को नोट जारी करने का एकाधिकार भी दे दिया गया है। नोट जारी करने का काम बैंकिंग कार्य से बिलकुल अलग है और यह कार्य नोट-विभाग द्वारा किया जाता है। धारा २४ के अनुसार बैंक को २J, ५J, १०J, ५०J, १००J के नोट छापने का एकाधिकार मिला है। (युद्धकाल से पहिले १०००J व १०,०००J के नोट भी छपते थे परन्तु १९४६ में ये नोट बन्द कर दिए गए। अब अप्रैल १९५४ से ये फिर चालू कर दिए गए हैं।) इसके अतिरिक्त बैंक केन्द्रीय सरकार से एग्रीमेन्ट करके निश्चित अवधि के लिए सरकार द्वारा जारी किए नोट भी अपने कार्यालय से जारी कर सकता है। नोट विभाग को नोट छापने के बदले में धारा ३३ के अनुसार कुछ कोष रखना होता है। यह कोष स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु, विदेशी सिक्यूरिटियों, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटियों के रूप में रखा जा सकता है, परन्तु कम से कम सम्पूर्ण कोष का ४०% भाग स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु या विदेशी सिक्यूरिटियों में रखना अनिवार्य है और कम से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कम ४० करोड़ रुपये मूल्य की स्वर्ण धातु या स्वर्ण सिक्के अनिवार्य रूप से कोष में होने चाहिएं। शेष ६०% कोष रुपया, सरकारी सिक्यूरिटियों या देश में ही भुगतान किए जानेवाले बिलों या प्रामिजरी नोट्स (प्रतिज्ञापत्रों) के रूप में रखा जा सकता है। कोष के स्वर्ण सिक्कों तथा स्वर्ण धातु का मूल्य एक रुपये के ८.४७५१२ अच्छे स्वर्ण के दानों से नापा जाता है। रुपया उसके अंकित मूल्य से मापा जाता है और सिक्यूरिटियां बाजार मूल्य की दर से मापी जाती हैं। स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु, जो नोट विभाग में कोष के रूप में रखी जाती हैं, का $\frac{1}{5}$ भाग देश में बैंक की किसी शाखा एवं बैंक की किसी एजेंसी के पास रखना अनिवार्य है वह $\frac{3}{5}$ भाग देश से बाहर भी रखा जा सकता है।

नोट विभाग की 'विदेशी सिक्यूरिटियां' वे मानी जाती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों में भुगतान की जानेवाली हों। इनमें एक्ट की धारा ३३ के अनुसार निम्न सम्मिलित हैं :-

(१) वे सिक्यूरिटियां जो किसी भी उक्त देश की केन्द्रीय बैंक के नोट विभाग की जमा-राशि की साख पर हों अथवा उस देश की किसी अन्य बैंक की सिक्यूरिटियां हों;

(२) वे बिल जो उक्त किसी भी देश में भुगतान के हों, जिन पर दो खरे हस्ताक्षर हों और जो ९० दिनों से अधिक अवधि के न हों;

(३) उक्त किसी भी देश की सरकारी सिक्यूरिटियां जो ५ साल की अवधि की हों।

(घ) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४०के अनुसार रुपये के बाह्य मूल्य की स्थिरता जमाने के लिए बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। यह क्रय-विक्रय केवल अधिकृत व्यक्तियों के साथ ही किया जा सकता है और केवल बंबई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली के कार्यालयों द्वारा ही हो सकता है। क्रय-विक्रय २,००,००० रुपये से कम मूल्य का नहीं किया जा सकता तथा ऐसी दर पर किया जा सकता है जिसे सरकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की शर्तों को सामने रखकर निश्चित कर दे। 'अधिकृत व्यक्ति' वे लोग अथवा संस्थाएं कहलाती हैं जिनको विदेशी विनिमय नियंत्रण कानून १९४७ के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकार दे दिया गया हो।

(ङ) अन्य केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं—उक्त केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक देश का शीर्ष बैंक होने के कारण अन्य काम भी करता है जैसे, राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएं देना, समाशोधन गृह के रूप में कार्य करना, आर्थिक एवं मौद्रिक विषयों पर सरकारों को, बैंकों को तथा अन्य संस्थाओं को मांगने पर सलाह देना और आर्थिक मामलों पर शोधपूर्ण अंक प्राप्त करके जनता की सूचनार्थ प्रकाशित करना। धारा ५८ के अनुसार रिजर्व बैंक समाशोधन गृह का काम करता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) सामान्य बैंकिंग क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं के अतिरिक्त एक्ट की धारा १७ के अनुसार रिजर्व बैंक को निम्न कार्य और करने होते हैं :—

(क) केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों, स्थानीय सरकारों, बैंकों तथा अन्य लोगों और संस्थाओं के लेखे पर बिना ब्याज के राशि जमा करना और उनके लेखे पर राशि संग्रहण करना।

(ख) भारत में भुगतान किए जानेवाले व्यावसायिक व्यवहारों के बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय तथा कटौती करना; परन्तु ऐसे बिलों पर तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर दो खरे हस्ताक्षर होने चाहिएं जिनमें से एक हस्ताक्षर तालिकाबद्ध बैंक के प्रतिनिधि का हो; बिलों व प्रतिज्ञा-पत्रों की अवधि ९० दिनों से अधिक न हो।

(ग) भारत में भुगतान किए जानेवाले कृषि-सम्बन्धी बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय और कटौती करना; परन्तु ऐसे बिलों या प्रतिज्ञा-पत्रों पर दो खरे हस्ताक्षर हों जिनमें से एक हस्ताक्षर किसी तालिका-बद्ध बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के प्रतिनिधि के हों और जो ९ माह से अधिक अवधि के न हों।

(घ) तालिकाबद्ध बैंकों को विदेशी विनिमय बेचना तथा उनसे खरीदना, परन्तु १,००,००० रुपये से कम मूल्य का विदेशी विनिमय नहीं खरीदा-बेचा जा सकता।

(ङ) भारत से बाहर अन्य किसी ऐसे देश में जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो, भुगतान किए जानेवाले बिलों का क्रय-विक्रय तथा कटौती करना; परन्तु ये बिल ९० दिन की अवधि के होने चाहिएं और इनका क्रय-विक्रय तथा कटौती केवल तालिकाबद्ध बैंक के साथ ही हो सकती है।

(च) स्थानीय सरकारों, तालिकाबद्ध बैंकों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा लंका की प्रमुख मुद्रा-संस्थाओं को ९० दिन की अवधि के ऋण तथा पेशगी राशि देना।

(छ) केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को ९० दिन की अवधि के ऋण स्वीकार करना।

(ज) अपने कार्यालयों तथा अपनी एजेन्सियों पर भुगतान होने वाले मांग-पत्र (Demand Draft) जारी करना।

(झ) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की किसी भी अवधि की सिक्यू-रिटियां क्रय-विक्रय करना।

(ञ) स्वर्ण सिक्का, स्वर्ण धातु एवं विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ट) रुपया, सिक्यूरिटियां, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित करना, लाभांश संग्रह करना तथा ऋण-पत्रों के भुगतान लेना। बैंकों के समाशोधन गृह का काम भी करना।

(ठ) भारत से बाहर अन्य किसी देश की सरकार की सिक्यूरिटियां खरीदना-बेचना; परन्तु खरीदते समय १० वर्ष से अधिक अवधि की सिक्यूरिटियां नहीं खरीदी जा सकतीं।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-देश के किसी भी केन्द्रीय बैंक के साथ लेखा खोलना तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ लेन-देन करना।

(ढ) किसी भी तालिकाबद्ध बैंक व किसी भी देश की प्रमुख मुद्रा-संस्था जो उस देश के कानून से मान्य हो, से बैंक के कार्य के लिए जमानत पर अधिक से अधिक १ माह को रुपया उधार लेना; परन्तु जो रुपया तालिकाबद्ध बैंक से उधार लिया जाय वह बैंक की पूंजी से अधिक नहीं होना चाहिए।

(ण) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, बैंक आर्डीनेंस एक्ट १९४५ तथा इण्डियन बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अनुसार कार्य करना।*

(त) मौद्रिक शोध करना तथा अंक संग्रह करके प्रकाशित करना।

रिजर्व बैंक की निषिद्ध क्रियाएं

रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १९ के अंतर्गत बैंक को निम्न कार्यों से रोका गया है। बैंक निम्न क्रियाएं नहीं कर सकता :—

(१) कोई निजी व्यापार या उद्योग खोलना या किसी व्यवसाय या उद्योग में भाग लेना ;

(२) किसी भी कम्पनी या बैंक के अंश खरीदना या उन अंशों पर राशि उधार देना ;

(३) अचल सम्पत्ति पर कोई भी राशि उधार देना अथवा अपने कार्यालयों की सम्पत्ति छोड़कर कोई भी अचल सम्पत्ति खरीदना ;

(४) चालू लेखे पर ब्याज देना ;

(५) उक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त ऋण देना अथवा अग्रिम राशि देना।

तालिकाबद्ध बैंक एवं अतालिकाबद्ध बैंक

देश के बैंकों से सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने बैंकों को दो विभागों में बांट लिया है—(१) तालिकाबद्ध बैंक तथा (२) अतालिकाबद्ध बैंक। तालिकाबद्ध बैंक वे बैंक कहलाते हैं जो एक्ट की धारा ४२ के अनुसार

*इण्डियन बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ का पूर्ण विवरण तथा रिजर्व बैंक की तत्सम्बन्धी क्रियाओं के लिए अध्याय ३९ देखिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक्ट की दूसरी तालिका में लिखे हुए हैं। केवल उन्हीं बैंकों का नाम इस तालिका में लिखा जाता है जो भारत के किसी प्रान्त में व्यवसाय करते हों, जिनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष मिलाकर ५,००,००० रुपये से कम न हो और जिनके विषय में रिजर्व बैंक को यह विश्वास हो कि वे जमा करनेवालों के हित में ही व्यवसाय करते हैं। जिन बैंकों के नाम इस तालिका में सम्मलित नहीं हैं उन्हें अतालिकाबद्ध बैंक कहते हैं। प्रत्येक तालिकाबद्ध बैंक को एक्ट की धारा ४२ (१) के अनुसार अपनी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। इसी के साथ-साथ प्रत्येक ऐसे बैंक को केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के लिए दो संचालकों, प्रबन्धकों अथवा अन्य उत्तरदायी कर्मचारियों के हस्ताक्षरों सहित निम्न आशय की एक विवरण-पत्रिका प्रति सप्ताह अनिवार्य रूप से भेजनी होती है। पत्रिका में यह विवरण होना आवश्यक है :—

(१) मांग-देनदारी तथा काल-देनदारी की राशि,
(२) बैंक नोट तथा सरकारी नोटों की भारत स्थित राशि,
(३) रुपयों तथा अन्य सिक्कों में भारत स्थित राशि,
(४) उधार दी हुई अग्रिम राशि, ऋण राशि तथा कटौती किए हुए बिलों की राशि,
(५) बैंक की रोकड़ राशि।

उक्त विवरण-पत्रिका न भेजने पर बैंकों को १०० रुपये प्रतिदिन दण्ड देना होता है। तालिकाबद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक से कुछ विशेष सुविधा मिलती है। रिजर्व बैंक इन बैंकों को समय-समय पर राशि उधार देता है, इनकी राशि का स्थानान्तरण करता है तथा इनके बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय एवं कटौती करता है। रिजर्व बैंक इन बैंकों की राशि निःशुल्क या कम व्यय-राशि पर एक स्थान से दूसरे स्थानों पर भेजता है। राशि स्थानान्तरण की जो सुविधाएं तालिकाबद्ध बैंकों को मिलती हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक के कार्यालयों एवं शाखाओं में उसके लेखे से १०,००० रु० तक की राशि निःशुल्क स्थानान्तरण की जाती है।
(२) किसी भी स्थान से जहां रिजर्व बैंक की एजेंसी हैं तथा तालिकाबद्ध बैंक का कार्यालय, उपकार्यालय, शाखा अथवा शोध्य-कार्यालय (Pay office) है उस स्थान से, उस बैंक के रिजर्व बैंक स्थित प्रधान लेखे में ५,००० रु० तक की राशि का स्थानान्तरण सप्ताह में एक बार निःशुल्क किया जाता है।
(३) तालिकाबद्ध बैंक रिजर्व बैंक स्थित प्रधान लेखे में राशि स्थानान्तरण की अन्य सुविधाएं $\frac{1}{2}$ रु० % की दर पर दी जाती हैं; परन्तु इसका न्यूनतम शुल्क एक रुपया लिया जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) रिजर्व बैंक अथवा उसके एजेंट के कार्यालयों में स्थित लेखों में राशि का स्थानान्तरण इन दरों पर होता है—५,००० रु० तक $\frac{1}{6}$ रु० %, जिसमें न्यूनतम शुल्क एक रुपया होता है; ५,००० रु० से ऊपर $\frac{1}{8}$ %, जिसमें न्यूनतम शुल्क ३ रु० २ आना होता है।

तालिकाबद्ध बैंक तालिका से बाहर निकाले भी जा सकते हैं जब कि उनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष मिलाकर ५,००,००० रुपये से कम हो गया हो अथवा जिसने बैंकिंग कार्य बन्द कर दिया हो और या जो बैंक ठीक प्रकार से कार्य न कर रहा हो। रिजर्व बैंक यदि किसी बैंक का भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ की धारा ३५ के अन्तर्गत निरीक्षण करके उसके कार्यों से संतुष्ट न हो तो भी उसे तालिका से बाहर निकाल सकता है। १९५२-५३ में दो नये बैंक तालिका में सम्मिलित किए गए तथा चार बैंक तालिका से बारह निकाले गए। निकाले जानेवाले बैंक आस्ट्रेलेशिया बैंक लि०, बैंक ऑव कम्यूनिकेशन्स (एक विनिमय बैंक), महालक्ष्मी बैंक लि० तथा त्रिपुरा मॉडर्न बैंक लि० हैं। ३१ मार्च १९५३ को तालिकाबद्ध बैंकों के कार्यालयों की संख्या २७०१ थी।

अतालिकाबद्ध बैंकों से भी रिजर्व बैंक सम्बन्ध रखता है, उनको समय-समय पर सलाह देता है और उनके कार्यों की जांच-पड़ताल भी करता है। ऐसे अतालिकाबद्ध बैंकों को, जो इण्डियन कम्पनी एक्ट १९१३ के अन्तर्गत बने हुए हों, भारत में बैंकिंग व्यापार करते हों और जिनकी परिदत्त पूंजी तथा संचित कोष ५०,००० रुपये या उससे अधिक हो, रिजर्व बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने के व्यय में कुछ सुविधाएं देता है। जून १९४६ तक ऐसे अतालिकाबद्ध बैंक जिनको यह सुविधा प्राप्त थी, ८२ थे। १९४५ से यह नियम भी हो गया है कि अतालिकाबद्ध बैंक भी रिजर्व बैंक में लेखा खोल सकते हैं। परन्तु—

(१) उनको रिजर्व बैंक द्वारा निश्चित न्यूनातिन्यून राशि बैंक में जमा करनी होगी—यह राशि १०,००० रुपये से कम नहीं होगी;

(२) उनके लेखे चालू लेखे नहीं समझे जायेंगे, परन्तु पारस्परिक समाशोधन कार्य कर सकेंगे।

इण्डियन बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ ने तो रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों के और भी समीप ला दिया है। धारा ३५ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सभी बैंकों का निरीक्षण करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक अब देश की सभी बैंकों का निरीक्षक, प्रबन्धक, नियंत्रक तथा रक्षक है और रिजर्व बैंक तथा अन्य सभी बैंकों का पारस्परिक उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है।

रिजर्व-बैंक एवं स्वदेशी बैंकर

हमारे देश की साख-व्यवस्था में स्वदेशी बैंकरों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश के कृषक एवं छोटे उद्योगी इन्हीं बैंकरों से ऋण लेकर अपना काम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चलाते हैं। उन्हें साख की सुविधा देने के लिए देश में अन्य ऐसी सस्थाएं नहीं हैं जो उन्हें सरलता से उनकी इच्छानुसार राशि उधार दे सकें। यदि ऐसी संस्थाएं हैं भी तो वे अभी विकसित नहीं हुई हैं। कहने का अर्थ यह है कि स्वदेशी बैंकर देश की मुद्रा-मण्डी में एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं परन्तु संचालित एवं नियंत्रित करने के लिए देश में कोई ऐसा विधान नहीं है जो इनकी ऋण देने की रीतियों, व्याज-दरों एवं भुगतान लेन-देन की प्रणाली को नियमबद्ध कर सके। रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही उसे यह कार्य सौंपा गया कि किसी भी प्रकार वह स्वदेशी बैंकरों को बांधकर नियमबद्ध कर दे जिससे उनकी व्याज-दर असाधारण न रहे और मुद्रा-मण्डी भी संगठित बनाई जा सके। सबसे पहले १९३७ में एक योजना तैयार की गई जिसमें सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के प्रस्तावों के आधार पर नये सुझाव रखे गए कि अन्य बैंकों की भांति स्वदेशी बैंकरों को भी रिजर्व बैंक से बिलों की कटौती की सुविधा मिलनी चाहिए परन्तु ये बैंकर भारतीय कम्पनी एक्ट के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखें। बैंकरों से कहा गया कि वे ठीक प्रकार नियमपूर्वक हिसाब रक्खें और हिसाब की जांच समय-समय पर बैंक के अधिकारियों से करावें। योजना के अनुसार बैंक को उनके बैंकिंग कार्य का निरीक्षण करने का अधिकार मिलना था और बैंकरों को भी अधिकार मिलना था कि वे अपने नाम रिजर्व बैंक की लेखा-पुस्तक में पांच वर्ष तक लिखा सकते हैं परन्तु उनको बैंक में राशि जमा करने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जा सकता जब तक कि उनकी मांग-देनदारी और काल-देनदारी दोनों मिलाकर उनकी व्यापार में लगी पूंजी से पांच गुना या उससे अधिक न हो। योजना के अनुसार केवल उन्हीं बैंकरों का नाम बैंक की पुस्तकों में लिखा जाना था जिनकी पूंजी कम से कम १२ लाख रुपये हो। यह योजना केवल पांच साल के लिए निश्चित की गई। इस योजना के अनुसार इन बैंकरों को बिलों की कटौती की वे सब सुविधाएं मिलनी थीं जो तालिकाबद्ध बैंकों को प्राप्त होती हैं। इस योजना का केवल यही उद्देश्य था कि बैंकरों को इस प्रकार नियमबद्ध कर दिया जाय कि वे मनमानी व्याज वसूल न कर सकें। परन्तु बैंकरों ने यह योजना स्वीकार न की। उन्होंने सट्टा छोड़ना तो निश्चय किया परन्तु केवल बैंकिंग व्यापार तक ही सीमित रहना उन्हें स्वीकार न था। १९४१ में बैंक ने 'बम्बई श्राफ एसोसिएशन' से प्रश्न किया कि बैंकिंग व्यापार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अपने प्रधान व्यापार को छोड़कर उस (बैंक) से सम्बन्ध रखने के लिए कितने बैंकर तैयार हो सकते हैं। एसोसिएशन ने यह सुझाव रखा कि अगले पांच वर्षों में शनैः शनैः बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यापार अलग किए जा सकेंगे और सही हिसाब भी रखकर बैंक द्वारा उसका निरीक्षण भी कराया जा सकेगा परन्तु एसोसिएशन ने ऐसे बैंकरों की संख्या

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के ठीक-ठीक आंकड़े बैंक को नहीं बताए । रिजर्व बैंक ने इस योजना को भी कार्यान्वित करना ठीक न समझा क्योंकि कृषकों के हित में बैंक तत्काल ही बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यापार बैंकरों से अलग कराना चाहता था। साथ ही साथ यह भी आवश्यक था कि बैंकरों की अधिकांश संख्या उसे स्वीकार करे परन्तु सभी बैंकर ऐसा नहीं करना चाहते थे और अधिकांश बैंकरों को नियमबद्ध किए बिना योजना के सही और वांछित परिणाम नहीं निकल सकते थे । अतः रिजर्व बैंक ने यह काम पूरा करने के लिए कोई भी कानून बनाने की सलाह सरकार को न दी।

परन्तु अब इस बात की तीव्र आवश्यकता है कि बैंकरों को नियमबद्ध कर ही दिया जाय । ऐसा होने पर रिजर्व बैंक व्यापार-बिलों में भी खुला-बाजार क्रियाएं कर सकेगा जैसे अब सरकारी सिक्यूरिटियों में करता है; देश में बिल-बाजार का विकास होगा। परन्तु निस्सन्देह इस कार्य की पूर्ति एक कठिन बात है । रिजर्व बैंक भी इस बात को स्वीकार कर चुका है कि बैंकरों को किसी नियमविशेष में नहीं जकड़ा जा सकता ।

अब उपाय यह हो सकता है कि किसी प्रकार रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरों से समझौते के साथ इस कार्य को पूरा करे । बैंक अपनी शर्तें कुछ कम और ढीली करे तथा बैंकर भी नियंत्रण के अन्तर्गत आने का प्रयास करें । तभी यह काम पूरा हो सकता है । इस काम को पूरा करने की आज आवश्यकता भी है क्योंकि तभी बैंक सफलतापूर्वक देश की साख-व्यवस्था को संगठित कर सकता है । अब बैंक का राष्ट्रीयकरण हो रहा है । राष्ट्रीयकरण से पहिले भी बैंक से आशा थी कि मुद्रा-मण्डी संगठित हो सकेगी । अतः रिजर्व बैंक को इस ओर शीघ्र कोई ठोस कदम उठाना चाहिए ।*

रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण—रिजर्व बैंक देश के हित में मुद्रा और साख का समुचित प्रबन्ध कर सके इसलिए तालिकाबद्ध बैंकों को उसके पास अपनी-अपनी मांग-देनदारी और काल-देनदारी का क्रमशः ५% और २% कोष के रूप में रखना होता है । रिजर्व बैंक मान्य बिलों की कटौती एवं पुनः कटौती सम्बंधी अपनी बैंक-दर समय-समय पर प्रकाशित करता रहता है । इसी दर से मुद्रा-मण्डी की ब्याज-दरों का नियमन होता है । अब देखना यह है कि बैंक किस प्रकार और किस मात्रा में देश में साख-नियंत्रण करता है ।

साख-नियंत्रण के लिए बैंक-दर का साधन देश में सबसे पहिले इम्पीरियल बैंक ने प्रयुक्त किया परन्तु इम्पीरियल बैंक की देश के अन्य व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना रहने के कारण, भारतीय मुद्रा-मण्डी के अस्त-व्यस्त रहने के कारण तथा उसके विभिन्न अंगों में असहयोग रहने के कारण इम्पीरियल

*विशेष अध्ययन के लिए पीछे "स्वदेशी बैंकर" शीर्षक अध्याय पढ़िए ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक की दर अधिक प्रभावशाली न हो सकी। दूसरे, इम्पीरियल बैंक अपनी दर को अपने लाभ की दृष्टि से प्रयोग करता था। तीसरे, देश में साख-नियंत्रण का कोई वैधानिक उत्तरदायित्व इम्पीरियल बैंक पर न था वरन् मौद्रिक क्षेत्र के दायित्व बंटे हुए थे। सरकार मुद्रा का प्रबंध करती थी तो इम्पीरियल बैंक साख का प्रबन्ध करता था। चौथे, देश में कार्य करनेवाले विदेशी विनिमय बैंकों का अन्य देशों की मुद्रा-मण्डियों से सीधा सम्पर्क रहने के कारण वे अपनी मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशी मुद्रा-मण्डियों से कर लेते थे और इम्पीरियल बैंक से उन्हें बहुत कम सरोकार रहता था। उक्त कारणों से इम्पीरियल बैंक बैंक-दर को प्रभावी न बना सका। रिजर्व बैंक स्थापित होने पर साख-नियंत्रण का दोहरा शासन समाप्त हो गया। मुद्रा का प्रबन्ध तथा साख-संचालन, दोनों ही अधिकार एवं दायित्व वैधानिक रूप से रिजर्व बैंक के कंधों पर आ पड़े। रिजर्व बैंक भी आशातीत मात्रा में साख-नियंत्रण न कर सका। वास्तव में तो केन्द्रीय बैंक की साख-नियंत्रण की शक्ति एवं सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि राशि की मांग करनेवाले लोग किस सीमा तक बैंकों पर आश्रित रहते हैं और फिर किस सीमा तक वे बैंक अपनी राशि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहते हैं। हमारे देश में ये दोनों ही बातें अपूर्ण एवं अपर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। न तो जनता ही अधिक सीमा तक बैंकों से लेन-देन करती है और न बैंक ही पूर्णरूपेण केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहते हैं। बैंक अपनी-अपनी मांग-देनदारी तथा काल-देनदारी का जो वैधानिक अनुपात आजकल रिजर्व बैंक के पास रखते हैं वह बहुत कम होता है। फलतः साख-सृजन के लिए अधिकतर बैंक केन्द्रीय बैंक पर आश्रित न रहकर अपने पास रक्खे हुए कोष से ही काम निकाल लेते हैं। अतः रिजर्व बैंक की बैंक-दर को अपना करिश्मा दिखाने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। मुद्रा-मण्डी की परिस्थिति अच्छी होने के कारण बैंक रिजर्व बैंक के पास बहुत कम आए जिससे रिजर्व बैंक अपनी बैंक-दर से उनके द्वारा साख-नियंत्रण न कर सका। १९३५ में बैंक-दर ३% निर्धारित की गई थी जो १९५१ तक उतनी ही बनी रही। इस बीच में रिजर्व बैंक को बैंक-दर में घटा-बढ़ी करके साख-नियंत्रण करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। १९५१ में जब बैंक ऑव इंगलैंड ने अपनी बैंक-दर ३½% से ४% की तो रिजर्व बैंक ने भी दर बढ़ाकर ३½% कर दी। इससे यह अनुमान होता है कि रिजर्व बैंक को बैंक-दर जैसे साख-नियंत्रण के अस्त्र को प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिला। हां, एक बात अवश्य हुई कि मुद्रा-मण्डी में जो सामयिक मुद्रा की दुर्लभता हो जाती थी और उसके कारण ब्याज-दरों में जो परिवर्तन होते थे वे नहीं हुए और बैंक-दर यथाविधि बनी रही। यह बात इसी चीज को प्रमाणित करने में सहायक हो सकती है कि मुद्रा-मण्डी पर रिजर्व बैंक का प्रभाव अवश्य रहा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साख-नियंत्रण का दूसरा अस्त्र जो रिजर्व बैंक को विधान द्वारा प्राप्त है, वह है 'खुला-बाजार क्रियाओं' का । बैंक अपनी दर को प्रभावशाली बनाने के लिए स्टॉक एक्सचेंज में जाकर विधान द्वारा प्रमाणित सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय कर सकता है। परन्तु उसकी क्रय-विक्रय की यह शक्ति सीमित रही है। वह केवल मान्य सिक्यूरिटियों का ही क्रय-विक्रय कर सकता है । दुर्भाग्य से हमारे देश में न तो संगठित मुद्रा-मण्डी ही रही है और न उन्नत बिल-बाजार ही रहा है। देश में न तो बिलों का भारी प्रयोग होता है और फिर यहां ऐसे स्टॉक एक्सचेंज भी नहीं हैं जैसे इंगलैंड तथा अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में हैं जिससे केन्द्रीय बैंक की खुला-बाजार क्रियाओं का साख के लेन-देन पर विशेष प्रभाव पड़ सके अतः खुला-बाजार क्रियाओं द्वारा रिजर्व बैंक आशातीत मात्रा में साख-नियंत्रण नहीं कर पाया है ।

साख-नियंत्रण के लिए रिजर्व बैंक को कुछ और अधिकार भी दिए गए हैं —जैसे, जनता से प्रत्यक्ष लेन-देन करना, बैंकों को ऋण देने से रोकने के आदेश देना तथा बैंकों पर निरीक्षण रखना आदि—पर अभी तक बैंक ने इन साधनों का उल्लेखनीय प्रयोग नहीं किया है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ के अनुसार तो रिजर्व बैंक को देश में अन्य बैंकों पर देखभाल करने तथा उनकी ऋण-नीति को संचालित करने के अनेक विशेषाधिकार दिए गए हैं,* पर उन्हें प्रयोग करने का बैंक को अभी अवसर प्राप्त नहीं हो सका है। हां, रिजर्व बैंक का नैतिक प्रभाव साख-नियंत्रण में सफल हो सकता है पर उसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि बैंक का देश के अन्य बैंकों के साथ घनिष्ठ संबंध हो।

रिजर्व बैंक एवं बिल-बाजार की नवीन योजना

भारतीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने १९३१ में बिल-बाजार के प्रश्न पर विचार करते हुए भारतीय बैंकिंग प्रणाली को बिल-बाजार के पूर्ण विकसित न होने का दोषी ठहराया था। उस समय तक रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं हुई थी और इम्पीरियल बैंक ही बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करता था । क्योंकि इम्पीरियल बैंक स्वयं एक व्यापारिक बैंक था इसलिए देश के अन्य व्यापारिक बैंक उसके साथ प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की भावना लेकर अपने बिलों की कटौती उससे नहीं कराते थे। अतः उस समय तक बैंकिंग क्षेत्र में व्यापारिक बिलों का विशेष प्रयोग नहीं होता था और बिल-बाजार में सरकारी सिक्यूरिटियों का ही प्राधान्य रहता था। बिलों का विशेष रूप से प्रयोग न होने का एक कारण और भी था। उस समय बैंकों से नकद रूप में लेन-देन करने में लेनदार तथा बैंक, दोनों ही को बड़ी सुविधा रहती थी जिससे वे बिलों का प्रयोग असुविधाजनक एवं अनावश्यक

*रिजर्व बैंक के विशेषाधिकार के लिए देखिए अध्याय ३९।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समझते थे। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् स्थिति कुछ बदली। पिछले कुछ दिनों से तो इस बात पर पर्याप्त जोर दिया जाने लगा है कि सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुद्रा-प्रसार का आधार 'बिल' होने चाहिएं। बैंकों की जमा-राशि कम हो जाने के कारण, मूल्यस्तर ऊंचे होने के कारण, आयात बढ़ने के कारण तथा बैंकों के पास सरकारी सिक्यूरिटियों की मात्रा कम हो जाने के कारण बैंकों के पास व्यापार की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राशि का अभाव बढ़ता जा रहा था। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि बिलों का प्रयोग बढ़ाकर तथा बिल-बाजार को विकसित करके उक्त कठिनाई को दूर किया जाय। अतः रिजर्व बैंक ने कुछ बड़े-बड़े तालिकाबद्ध बैंकों के अधिकारियों से परामर्श करके बिल-बाजार को विकसित करने की एक योजना १६ जनवरी १९५२ को तैयार करके प्रकाशित की। योजना की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत बैंक तालिकाबद्ध बैंकों को उनके मांग प्रतिज्ञा-पत्रों की जमानत पर ऋण दिया करेगा। इस प्रकार दिए गए ऋण दो प्रकार के होंगे—एक वे जो प्रतिज्ञा-पत्रों की जमानत पर दिए जायंगे और जिनको ऋण लेनेवाला अपनी इच्छानुसार कभी भी ले सकेगा और लौटा भी सकेगा। दूसरे वे जो ऋण लेनेवाले को ९० दिन की अवधि पर दिए जायंगे।

(२) उक्त ऋण बैंक-दर से ½% कम दर पर दिए जाया करेंगे। (ऐसी सिफारिश केन्द्रीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने की थी जो इस योजना के अन्तर्गत कार्यान्वित हुई।)

(३) उक्त ऋणों के लिए जो बिल या पत्र लिखे जायंगे उन पर जो मुद्रांक-कर लगेगा उसका आधा व्यय बैंक स्वयं बर्दाश्त करेगा तथा शेष आधा ऋण-याचक को देना होगा। (इस प्रकार की एक सिफारिश भी केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने की थी जो अब पूर्ण हुई। उन्होंने मुद्रांक-कर कम करने का सुझाव दिया था जो १९४० में पूरा कर दिया गया।)

प्रबन्धादि सुविधा के लिए यह योजना आरम्भ में केवल उन्हीं बैंकों के साथ लागू की गई है जिनकी जमा-राशि १० करोड़ रुपये से अधिक हो। एक बार में लिये जानेवाले ऋण की न्यूनातिन्यून सीमा २५ लाख रुपये निश्चित की गई है। अर्थात् उक्त योजना के अनुसार एक बार में २५ लाख रुपये से कम राशि का ऋण नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक बिल, जिसकी साख पर ऋण दिया जायेगा, उस पर मिलनेवाले ऋण की कम से कम सीमा १ लाख रुपये निर्धारित की गई है।

उक्त योजना को बिलों के प्रसार एवं प्रचार करने में काफी सफलता मिली है। १० मई १९५२ को इस योजना के अन्तर्गत २९.६ करोड़ रुपये के ऋण दिए हुए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

थे और ३० जून १९५२ को उक्त ऋणों की राशि ७४ करोड़ रुपये थी। इससे ज्ञात होता है कि इस योजना से बिलों का प्रचार बढ़ा और उनकी साख पर ऋण लिये जाने लगे। १६ जनवरी १९५२ को इस योजना की घोषणा करते समय इसको अस्थायी ही बताया गया था पर अब इसे स्थायी बना दिया गया है। योजना को कार्यान्वित करने में आनेवाली अनेक आरम्भिक कठिनाइयां पार हो चुकी हैं। अब आशा है कि इससे देश में बिलों का प्रयोग बढ़ेगा और बिल-मण्डी विकसित होगी।*

रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख व्यवस्था

१९३४ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट पास करते समय ही यह बात सोच ली गई थी कि देश के केन्द्रीय बैंक को कृषि-साख का कार्य विशेष रूप से करना होगा। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस बैंक में कृषि-साख विभाग का निर्माण किया गया। कृषि-साख विभाग निम्न उद्देश्यों को लेकर बनाया गया :—

(१) कृषि-साख व्यवस्था के विशेषज्ञ नियुक्त करना, कृषि-साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करना तथा समय-समय पर केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को, प्रान्तीय सहकारी बैंकों को तथा अन्य कृषि संस्थाओं को सलाह देना, और उनका मार्ग प्रदर्शन करना।

(२) अपनी क्रियाओं द्वारा प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य ऐसी संस्थाओं का कार्य संगठन करना।

इस विभाग ने कृषि-साख सम्बन्धी काफी शोध की है और अनेक देशों से तत्सम्बन्धी सामग्री इकट्ठी कर रक्खी है। बैंक ने १९५१ में कृषि-साख समस्या पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की एक कान्फ्रेंस आयोजित की थी। इस कान्फ्रेंस की सिफारिशों पर कृषि-साख विभाग में कृषि-साख के विशेषज्ञों की एक समिति बनाई गई है जो साख विभाग को कृषि-साख सम्बन्धी विषयों पर सुझाव देती है। आस्ट्रेलिया के केन्द्रीय बैंक की भांति इस विभाग के पास कोई ऐसा कोष नहीं है जिसमें से वह कृषकों की सीधी सहायता कर सके। यह विभाग केवल परामर्श-दाता तथा शोधकर्ता है, ऋणदाता नहीं। अतः इस विभाग से कृषि-साख क्षेत्र में कोई ठोस कार्य नहीं हो पाया है।

समय-समय पर प्रकाशित होनेवाली रिपोर्टों में कृषि-साख विभाग ने सरकार के सामने सुझाव रक्खे कि कृषकों को साख सुविधाएं देने के लिए साहूकारों तथा स्वदेशी बैंकरों को, जो हमारे देश में कृषि-साख के सबसे बड़े विधाता हैं, नियमबद्ध करना चाहिए तथा सहकारी आन्दोलन का पुनर्निर्माण करना चाहिए। बैंक ने

*For details of the scheme see Reserve Bank of India Bulletin—March 1952, pp. 212-214.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महाजनों के द्वारा कृषि उत्पत्ति को बेचने में कृषक को आर्थिक सुविधाएं पहुंचाने का प्रबन्ध किया। सन् १९३८ में बैंक ने स्वीकृत महाजनों के द्वारा कृषकों को उनकी कृषि उत्पत्ति की साख पर पेशगी रुपया उधार देने के लिए लिखे गए कृषि बिलों को तालिकाबद्ध बैंकों द्वारा थोड़ी दर पर ही कटौती करना स्वीकार किया जिससे कटौती की बचत का लाभ कृषकों को मिल सके और वे अपना माल बेचने तक आवश्यक धनराशि प्राप्त कर सकें। रिजर्व बैंक ने यह निश्चय किया कि तालिकाबद्ध बैंक बैंक की कटौती-दर से २% अधिक लिया करेंगे और महाजन २% अधिक मिलाकर राशि कृषकों को उधार दिया करेंगे परन्तु तालिकाबद्ध बैंकों ने इसका विरोध किया क्योंकि वे महाजनों को कृषकों के लिए निश्चित दर पर धनराशि देने के लिए विवश नहीं कर सकते थे। दूसरे, इस प्रकार तालिकाबद्ध बैंकों में परस्पर प्रतियोगिता का वातावरण उत्पन्न होने का भय था। अन्त में बैंक ने इस योजना को स्थगित कर दिया। रिजर्व बैंक ने दूसरा कदम सहकारी आन्दोलन के साथ उठाया। एक योजना बनाई गई कि सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से राशि उधार लेकर कृषकों को सुविधा दें परन्तु केवल एक ही प्रान्तीय सहकारी बैंक ने इस योजना से लाभ उठाया। १९४२ में रिजर्व बैंक ने यह योजना बनाई कि एक्ट की १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) धाराओं के अनुसार कृषि-साख की सुविधाएं दी जायं। इन धाराओं के अन्तर्गत बैंक ने कृषि उत्पत्ति के विक्रय के लिए अपनी कटौती दर से १% कम पर सहकारी बैंकों को धन देना तय किया जिससे वे कृषकों को भी थोड़ी दर पर राशि उधार दे सकें परन्तु सहकारी बैंकों ने इससे पूरा-पूरा लाभ न उठाया और केवल एक ही प्रान्तीय सहकारी बैंक ने २% पर बैंक से धन लिया और फिर भी ५% पर गरीब कृषकों को उधार दिया। रिजर्व बैंक एक्ट की १७ (४) (द) धारा अभी तक कृषि-साख के हित में कार्यान्वित नहीं हो सकी है क्योंकि नियमानुसार इसका उपयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक कि देश में अनुज्ञाधारी भांडार-गृह न हों। इस अभाव की पूर्ति के लिए बैंक ने एक आज्ञा-पत्र निकाला कि देश में अनुज्ञाधारी भाण्डार गृह बनाए जायं जहां कृषि उत्पत्ति संग्रह की जाय, उसका अंशक किया जाय और समय-समय पर उसका निरीक्षण भी किया जाय। पर अभी तक देश में ऐसे भाण्डार गृह स्थापित नहीं हो सके हैं।

भारत सरकार ने १९४९-५० में ग्रामीण भारत के लिए बैंकों की व्यवस्था करने के विषय में जांच-पड़ताल करने के लिए एक कमेटी बनाई थी जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। फर्वरी १९५१ में रिजर्व बैंक ने कृषि-साख के साधनों एवं सुविधाओं में बढ़ावा करने के लिए एक कान्फ्रेंस की जिसमें कृषि-साख सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए गए। ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी तथा उक्त कांफ्रेंस की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ने जो कार्यवाही की वह इस प्रकार है :—बैंक ने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१ सिम्तवर १९५१ से व्यापारिक बैंकों, सहकारी बैंकों तथा स्वदेशी बैंकरों द्वारा रिजर्व बैंक के अथवा इम्पीरियल बैंक के एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय पर राशि स्थानान्तरण करने में कमीशन की दर कम कर दी है। पहिले राशि स्थानान्तरण करने में ५,००० रुपये पर $\frac{१}{६}$% और इससे अगली राशि पर $\frac{१}{३}$% कमीशन लिया जाता था पर अब यह कमीशन क्रमशः $\frac{१}{३}$% तथा $\frac{१}{६}$% कर दिया गया है। उक्त कांफ्रेंस की सिफारिशों पर नवम्बर १९५१ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया ताकि बैंक कृषि-साख की अधिक सुविधाएं देने में समर्थ हो सके। एक संशोधन के अनुसार एक्ट की धारा १७ (२) (अ) के अन्तर्गत बिलों के आहरण, क्रय-विक्रय तथा कटौती कराने में सहकारी बैंकों को वे सब अधिकार दे दिए गए हैं जो व्यापारिक बैंकों को मिले हुए थे। दूसरे संशोधन के अनुसार एक्ट की धारा १७ (२) (ब) के अन्तर्गत सहकारी बैंकों को कृषि कार्यों के लिए दिए जानेवाले ऋणों की अवधि ९ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है।

कृषि-साख क्षेत्र में बैंक ने सहकारी बैंकों को अनेक सुविधाएं दी हैं जिनका विस्तृत वर्णन अध्याय ३५ में दिया गया है।

कृषि-साख के क्षेत्र में प्रभावकारी सहायता के लिए दो बातें और शेष हैं—(१) बैंक का कृषि-साख विभाग केवल परामर्शदाता ही न रहे वरन् उसके पास आस्ट्रेलिया के केन्द्रीय बैंक की भांति कोई कोष भी रखा जाय जिसमें से वह कृषकों तक राशि पहुंचा सके; (२) देश में अनुज्ञाधारी भाण्डार गृह स्थापित किए जायं जिससे एक्ट की धारा १७ (४) (द) प्रयोग हो सके। यदि भाण्डार गृह न हो सकें तो उस धारा में परिवर्तन करके उसके अन्तर्गत व्यवस्थित ऋण अन्य अधिकार-प्रलेखों की जमानत पर भी दिए जा सकें जिससे उस धारा का समुचित प्रयोग हो सके।

रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय-नियंत्रण—द्वितीय युद्धकाल में भारत सरकार ने भारत सुरक्षा नियम के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के लेन-देन पर नियंत्रण लगाने का अधिकार प्राप्त किया। सरकार ने इस कार्य को रिजर्व बैंक को सौंप दिया और बैंक ने इस दायित्व को निभाने के लिए विनिमय-नियंत्रण विभाग खोला। कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था रिजर्व बैंक से आज्ञा लिये बिना विदेशी विनिमय का लेन-देन नहीं कर सकता था। इस संबंध में बैंक ने कुछ नियम बना रक्खे थे जिनके अनुसार विनिमय का नियमन होता था। यह स्थिति युद्ध समाप्त होने के बाद ३१ मार्च १९४७ तक चलती रही। उसके पश्चात् विनिमय-नियंत्रण के लिए सरकार ने विदेशी विनिमय-नियंत्रण कानून १९४७ पास कर दिया। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय में होनेवाले सट्टे को रोकना है। अब केवल अधिकृत बैंक ही विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय कर सकते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रिजर्व बैंक इन 'अधिकृत व्यक्तियों' की नियुक्ति करता है और उन्हें विनिमय का लेन-देन करने के लिए अनुज्ञा-पत्र देता है। बैंक केवल उन्हीं कार्यों के लिए विदेशी विनिमय बेचता है जो सरकार के द्वारा आयात-निर्यात नीति के अन्तर्गत निश्चित किए जाते हैं। 'अधिकृत व्यक्तियों' को बैंक में विदेशी विनिमय का लेखा समय-समय पर भेजना होता है ताकि बैंक को विदेशी विनिमय के आय-व्यय का ज्ञान हो सके। रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४० के अन्तर्गत बैंक को विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने का अधिकार प्राप्त है।*

रिजर्व बैंक का स्थिति-विवरण

बताया जा चुका है कि रिजर्व बैंक का काम मूलतः दो विभागों में बंटा हुआ है—(१) बैंकिंग विभाग, (२) नोट निर्गमन विभाग। बैंकिंग विभाग बैंक की उन क्रियाओं से सरोकार रखता है जो बैंकों तथा सरकारी लेनदेन से सम्बन्ध रखती हैं। बैंक-दर तथा 'खुला-बाजार क्रियाओं' का काम भी इसी विभाग द्वारा होता है। नोट-विभाग नोट निर्गमित करने तथा नोट-परिवर्तन क्रिया से संबंध रखता है। दोनों विभाग अलग अलग देनदारी, लेनदारी एवं सम्पत्ति पर निर्भर हैं जिससे एक की देनदारी दूसरे की देनदारी से न मिलकर स्थिति स्पष्ट कर दे। नीचे दोनों विभागों के स्थिति-विवरण दिए जाते हैं :—

नोट-विभाग का स्थिति-विवरण

देनदारी		लेनदारी तथा सम्पत्ति	
नोट :—		(अ) स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्ण-धातु	
(१) परिचलन में ..	..	(१) भारत-स्थित ..	..
(२) बैंकिंग विभाग में ..	..	(२) विदेश-स्थित ..	..
		(ब) विदेशी सिक्यूरिटियां ..	..
		(स) रुपये के सिक्के ..	..
		(द) भारत सरकार की सिक्यूरिटियां ..	..
		(य) बिल तथा अन्य व्यावसायिक विपत्र ..	..
योग ..	..	योग ..	..

*विदेशी विनिमय-नियंत्रण का विस्तृत ब्यौरा पीछे 'विनिमय-नियंत्रण' नामक अध्याय में दिया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंकिंग विभाग का स्थिति-विवरण

पूंजी एवं देनदारी			सम्पत्ति एवं लेनदारी		
परिदत्त पूंजी	..	..	नोट	..	..
संचित कोष	..	..	रुपये के सिक्के	..	..
जमा-राशि			अन्य सहायक सिक्के	..	..
(१) केन्द्रीय सरकार की	..		क्रीत तथा कटौती किए हुए बिल		
(२) अन्य सरकारों द्वारा	..		(१) आन्तरिक	..	
(३) बैंकों द्वारा	..		(२) सरकारी	..	
(४) अन्य लोगों द्वारा	..		(३) विदेशी	..	
		..			..
देय बिल B/P	..	..	विदेश-स्थित जमाराशि	..	..
अन्य देनदारी	..	..	सरकारों को दिए गए ऋण	..	..
			अन्य ऋण	..	..
			विनियोग	..	..
			अन्य सम्पत्ति	..	..
योग	..	..	योग	..	..

द्वितीय युद्ध एवं रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया

द्वितीय युद्ध से रिजर्व बैंक के क्रिया-कलापों में अनेक भारी भारी परिवर्तन हुए। युद्ध आरम्भ होते ही सरकार को राशि के आयात-निर्यात को रोकने की आवश्यकता हुई। यह भार सरकार ने रिजर्व बैंक को सौंपा और उसे अधिकार दे दिया गया कि वह सिक्कों, धातुओं, सिक्यूरिटियों तथा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का नियंत्रण करके उनके लेनदेन का नियमन करे। बैंक ने विदेशी विनिमय का नियमन करने के लिए 'अधिकृत व्यक्तियों' की नियुक्ति की और व्यापारिक बैंकों को, जो इस प्रकार का व्यवसाय करना चाहते थे, आवश्यक सुविधाएं दीं। जैसा कि बताया जा चुका है बैंक ने विनिमय-नियंत्रण विभाग खोला और ज्यों ज्यों युद्ध गम्भीर बनता गया तैसे तैसे इस विभाग का कार्यक्षेत्र एवं अधिकार बढ़ते गए। १९४८ के पश्चात् जब कि भारत का भुगतान-संतुलन बिगड़ गया और देश में विदेशी विनिमय का अकाल पड़ने लगा तो रिजर्व बैंक की स्थिति बड़ी गम्भीर बन गई पर जैसे-तैसे उसने इस परिस्थति को संभाला।

रिजर्व बैंक के साथ दूसरी युद्धकालीन घटना मुद्रा-स्फीति की हुई। सरकार की आवश्यकताओं के लिए उसे नोटों की मात्रा अपार सीमा में बढ़ानी पड़ी। १९३९-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

४० में कोई १९० करोड़ रुपये के नोट चलते थे जो कि १९४५-४६ में १३०० करोड़ रुपये के हो गए। इस प्रकार देश में भयंकर मुद्रा-स्फीति हुई और इंगलैंड पर स्टर्लिंग ऋण इकट्ठा होता गया। मुद्रा-स्फीति बैंक के हाथों द्वारा हुई यद्यपि उसमें उसका कोई दोष न था।

युद्धकाल में सरकार ने जनता से बहुत भारी-भारी मात्रा में जो ऋण लिए उनका प्रबन्ध-संचालन रिजर्व बैंक को ही करना पड़ा। इतना ही नहीं, बैंक को सरकारी सिक्यूरिटियों के मूल्यों में स्थिरता एवं स्थायित्व बनाए रखने के अनेक अटूट प्रयत्न करने पड़े। बैंक ने सरकार की 'सस्ती राशि नीति' का भी संचालन किया। मार्च १९३९ में भारत सरकार का कुल जन-ऋण कोई ५०० करोड़ रुपये था जो मार्च १९४६ में लगभग २००० करोड़ रुपये हो गया। बैंक ने युद्ध-काल में हमारे पौण्ड-पावनों को भी स्थिर रखने में पर्याप्त योग दिया।

बैंक के युद्धकालीन जीवन के विषय में सबसे बड़ा दोष यह लगाया जाता है कि उसने सरकारी नीति का साथ देकर देश में मुद्रा-स्फीति की और वस्तुओं के भाव ऊंचे करने में सरकार का सहयोग दिया। पर यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मुद्रा-स्फीति में रिजर्व बैंक का उतना दोष नहीं है जितना भारत सरकार का। बैंक ने तो अनेक बार सरकार का ध्यान देश में बढ़ते हुए मूल्यस्तरों की ओर आकर्षित किया पर उस समय की सरकार ने उसकी बातों पर कोई ध्यान न दिया।

रिजर्व बैंक की युद्धोत्तरकालीन समस्याएं

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी रिजर्व बैंक को अनेक असाधारण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। ये परिस्थितियां इस प्रकार हैं :—

(१) **मुद्रा-स्फीति**—युद्धोत्तरकाल में भी मुद्रा-स्फीति होती रही और जून १९४८ तक मुद्रा का प्रसार होता गया। अगस्त १९४६ के पश्चात् सिक्यूरिटियों के मूल्यों में एकदम अवसाद आया जिसे संभालने के लिए बैंक को खुला-बाजार क्रियाएं करनी पड़ीं। बैंक की उन खुला-बाजार क्रियाओं से बैंकों को राशि प्राप्त करने में काफी योग मिला जिससे मुद्रा की सामयिक आवश्यकताओं की कमी पूरी होती गई। बैंक ने बैंकों से सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदीं जिससे बैंकों को ऋण देने के लिए राशि प्राप्त होती रही। बैंकों ने १९४८-४९ की अपेक्षा १९४९-५० में कोई १० करोड़ रुपये के अधिक ऋण दिए और आगे भी ऋणों की मात्रा बढ़ती ही रही। इस प्रकार बैंक ने सरकारी सक्यूरिटियों को संभाला तथा बैंकों को राशि की सुविधाएं भी दीं।

(२) **विभाजन की समस्या**—१९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप रिजर्व बैंक पर अनेक नए दायित्व आ गिरे। जुलाई १९४८ तक, जब तक कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पाकिस्तान का केन्द्रीय बैंक न बन गया, रिजर्व बैंक को भारत और पाकिस्तान के केन्द्रीय बैंकों के रूप में कार्य करना पड़ा। उस समय उसे दोनों सरकारों की राशियों का प्रबन्ध करना पड़ा तथा उसने दोनों देशों के जन-ऋण का भी संचालन किया। पाकिस्तान का केन्द्रीय बैंक बनने पर रिजर्व बैंक की सम्पत्ति का विभाजन हुआ और १५३ करोड़ रुपये के मूल्य के स्टर्लिंग, सोना तथा भारत सरकार की सिक्यूरिटियां पाकिस्तान बैंक को हस्तान्तरित करनी पड़ीं। पाकिस्तान में भारत सरकार के जो नोट चलते थे उनके बदले में ८२ करोड़ रुपया बैंक को पाकिस्तान बैंक में और देना पड़ा। रिजर्व बैंक ने यह सब कुछ लेनदेन इस प्रकार सावधानी के साथ किया कि देश की मुद्रा एवं साख व्यवस्था पर कोई उलटा प्रभाव न पड़ा।

(३) **बैंकिंग संकट**—देश के विभाजन से अनेक भारतीय बैंकों पर, जिनके कार्यालय पाकिस्तान में थे, संकट आया और उन्हें अपनी सम्पत्ति का स्थानान्तरण करने की आवश्यकता हुई। रिजर्व बैंक ने उन सब बैंकों को यथाशक्ति सहायता करके उन्हें पाकिस्तान से अपनी सम्पत्ति ले आने में योग दिया। १९४८ में बंगाल के बैंकों पर संकट आया। बैंक ने उन बैंकों को यथा-समय सहायता देकर उनको डूबने से बचाया; कई बैंकों का विलीनीकरण कराया और इस प्रकार देश को बैंकिंग संकट की पुनरावृत्ति से बचा लिया।

(४) **मुद्रा की दुर्लभता**—१९४८ के पश्चात् देश की मुद्रामण्डी में मुद्रा की दुर्लभता होने लगी और देश का भुगतान-संतुलन प्रतिकूल होने लगा। दिसम्बर १९४८ और अगस्त १९४९ के बीच में विदेशी मुद्रा का अभाव बहुत बढ़ गया और रिजर्व बैंक के विदेशी मुद्रा के कोष में कोई २१९ करोड़ रुपये की कमी आ गई। इस बीच में उत्पादन तो बढ़ा नहीं पर आयात पर प्रतिबन्ध ढीले हो जाने के कारण माल की मात्रा बढ़ने लगी। लोगों ने भविष्य में माल के अभाव का अनुमान लगा कर एक साथ माल खरीदना आरम्भ कर दिया जिससे उनको राशि का अभाव होने लगा। बैंकों में से जमा-राशि निकाली जाने लगी और व्यवसाय में चारों ओर मुद्रा की दुर्लभता अनुभव होने लगी। लोगों की बचत कम होने लगी और इस कारण मुद्रामण्डी में मुद्रा की मात्रा भी कम होने लगी। इस भीषण परिस्थिति को रिजर्व बैंक ने बड़ी सावधानी के साथ हल किया। रिजर्व बैंक ने तालिकाबद्ध बैंकों से सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदना आरम्भ कर दिया जिससे मण्डी में मुद्रा की मात्रा बढ़े। इतना ही नहीं, बैंक ने तालिकाबद्ध बैंकों तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मान्य सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण देना आरम्भ कर दिया। १४ जनवरी १९४९ को बैंक द्वारा उक्त संस्थाओं की स्वीकृत ऋण-राशि २३ करोड़ रुपये थी। रिजर्व बैंक ने बैंकों को सट्टेखोरी के लिए राशि उधार देने से रोकने की चेष्टा की। सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन होते ही बैंक ने व्यापारिक बैंकों को आदेश दे दिए कि वे सट्टेबाजी को बिलकुल राशि उधार न

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दें । इस प्रकार बैंक ने अवमूल्यन के पश्चात् देश के मूल्यस्तर को बढ़ने से रोकने के प्रयत्न किए ।

(५) **साख-नियंत्रण**—१९५१ में बैंक ने साख-नियंत्रण की ओर दो ठोस कदम उठाए । एक, नवम्बर में बैंक ने अपनी कटौती दर ३% से बढ़ाकर ३½% कर दी । (बैंक-दर में फेर-बदल करके साख-नियंत्रण करने का यह पहिला ही अवसर था । नवम्बर १९३५ से बैंक-दर ३% पर टिकी हुई थी । १९५१ में प्रथम बार इसे बढ़ाकर साख-संकुचन करने का प्रयत्न किया गया ।) दूसरे, बैंक ने व्यापारिक बैंकों को सूचित कर दिया कि वह अब उनसे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, सामान्यतः सरकारी सिक्यूरिटियां नहीं खरीदा करेगा वरन् उन सिक्यूरिटियों की जमानत पर ऋण दिया करेगा । ऐसा रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को प्रभावी बनाने के लिए किया था । बैंक-दर बढ़ाते ही साख-संकुचन होने लगा । इम्पीरियल बैंक ने अपनी दर २½% से ३% कर दी और फिर ३½% तक बढ़ा दी । विनिमय बैंकों ने अपनी दर में ½% की बढ़ोत्तरी की तथा अन्य बैंकों ने भी अपनी अपनी ब्याज की दर ¼% और ½% बढ़ा दी । बैंकों ने ऋण स्वीकृत करने में सावधानी बर्तनी आरम्भ कर दी तथा ऋण-राशि में भी कमी की । बैंक दिए हुए ऋणों को वापस मांगने लगे तथा ऋणों पर आनुषंगिक सिक्यूरिटियों की मात्रा बढ़ाने पर जोर देने लगे । इस प्रकार मुद्रामण्डी में चारों ओर मुद्रा-संकुचन होने लगा । रिजर्व बैंक ने बैंकों को ऋण देने में सख्ती करने तथा सावधानी वर्तने के लिए कोई आदेश नहीं दिया था पर फिर भी बैंक-दर बढ़ते ही इस प्रकार का वायुमण्डल छा गया । इससे ज्ञात होता है कि मुद्रा-मण्डी पर अब रिजर्व बैंक का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है ।

रिजर्व बैंक ने बैंकों से उनकी सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी सिक्यूरिटियां न खरीदकर उनकी साख पर ऋण देने की घोषणा की थी । इससे बैंक-दर को काफी बल मिला । बैंक-दर बढ़ाने से अगले ६ सप्ताहों में ही रिजर्व बैंक ने अन्य बैंकों को सरकारी सिक्यूरिटियों की जमानत पर कोई १७ करोड़ रुपये के ऋण दिए । इससे मुद्रा की सामयिक कमी भी दूर होती गई और बैंक-दर का दबदबा भी बढ़ गया ।

बैंक का आलोचनात्मक अध्ययन

रिजर्व बैंक के विधान एवं उसकी क्रियाओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि उसका आलोचनात्मक विवेचन किया जाय । कुछ लोगों की बैंक के विरुद्ध आलोचना है कि वह पिछले अठारह वर्षों में देश की साख-पद्धति की भली प्रकार व्यवस्था न कर सका और न बिल बाजार को ही विकसित और संगठित कर सका । और भी अनेक दोष लगाए जाते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कि बैंक न स्वदेशी बैंकरों को नियमबद्ध कर सका, न युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति को रोक सका और न कृषि-साख व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर सका । यह ठीक है, पर यदि निष्पक्ष भाव से बैंक की क्रियाओं पर तथा देश की उन परिस्थितियों पर जिनमें होकर बैंक को कार्य करने का असवसर मिला, सोचें तो ज्ञात हो जायगा कि बैंक ने पूरी सावधानी और शक्ति के साथ सन्तोषजनक कार्य किया है और जो भी क्रियाएं बैंक न कर सका अथवा करने में असफल रहा, उसका दोष केवल बैंक पर नहीं थोपा जा सकता । उसका दोष तो हमें बैंक के एक्ट पर लगाना होगा अथवा उस समय की विदेशी सरकार पर लगाना होगा। यह माना जा सकता है कि बैंक देश की साख-व्यवस्था को उतना संगठित नहीं कर सका जितनी आशा थी पर इसके कई कारण हैं--(१) तालिकाबद्ध बैंक मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक में जमा करके अतिरिक्त राशि अपने कोष में रखते रहे और जब जब मुद्रामण्डी में राशि की आवश्यकता हुई इन्होंने इसी राशि में से लोगों को उधार दिया जिससे इन्हें रिजर्व बैंक के पास जाने की आवश्यकता ही नहीं हुई और वह आशातीत साख-नियंत्रण न कर सका। अगर तालिकाबद्ध बैंकों को अधिक राशि बैंक में रखनी पड़ती तो वे मुद्रा-मण्डी को बिना इस बैंक की सुविधा पाए, यह सुविधा नहीं दे सकते थे और इस प्रकार साख-नियंत्रण का काम भी पूरा हो जाता। यह दोष रिजर्व बैंक का नहीं वरन् हम इसे एक्ट की कमी ही कह सकते हैं। (२) 'स्वदेशी बैंकर', जो देश की मुद्रा-मण्डी के प्रमुख प्रणेता हैं, नियमबद्ध नहीं । इसलिए जब कभी रिजर्व बैंक ने बैंक-दर द्वारा साख-नियंत्रण करना चाहा तभी इन स्वदेशी बैंकरों के अनियंत्रित होने के कारण सफल न हो सका। रिजर्व बैंक ने इन बैंकरों को नियमबद्ध करने के भी प्रयत्न किए और योजनाएं बनाईं परन्तु इन बैंकरों का देश में ऐसा जाल सा बिछा हुआ है कि बैंक सफल न हो सका। (३) इसके अतिरिक्त देश में व्यावसायिक बिलों का भी प्रयोग नहीं । 'स्वदेशी बैंकर' विशेषतः अपनी निजी राशि से व्यापार करते हैं और मनमानी ब्याज वसूल करते हैं । ब्याज-दर स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न होती है और इतनी भारी होती है कि देश के अन्य बैंकों की ब्याज-दरों से इनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। जब ये बैंक ही मुद्रा-मण्डी की ब्याज-दरों को नियंत्रित नहीं कर पाते तो रिजर्व बैंक, जिसका मुद्रा-मण्डी के इन बैंकरों से कोई सीधा सम्बन्ध न हो, किस पर साख-नियंत्रण कर सकता है ?

इसी प्रकार आलोचना की जाती है कि रिजर्व बैंक मुद्रामण्डी को भी आशातीत सीमा में सुदृढ़ और संगठित न कर सका। मुद्रामण्डी का संगठन इस बात पर निर्भर होता है कि देश के बैंक ऋण तथा बिलों की पुनःकटौती कराने के लिए रिजर्व बैंक पर कितने आश्रित हैं और मुद्रामण्डी के अन्य छोटे अंग जैसे बैंकर ऋण लेने तथा कटौती कराने के लिए बैंकों पर कितने आश्रित हैं। यदि ये सब एक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दूसरे पर अच्छी तरह आश्रित रहें तो मुद्रामण्डी का संगठन भली भांति किया जा सकता है। परन्तु भारत की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है। रिजर्व बैंक का जन्म ही ऐसे समय में हुआ जब कि देश में अवसाद का युग था रुपये की अधिकता थी और ब्याज-दर भी नीची थी। बहुत से तालिकाबद्ध बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में राशि थी जिसके परिणामस्वरूप वे सदैव से ही स्वतंत्र तथा निरंकुश रहे (हां, कभी-कभी असाधारण परिस्थितियों में इन्होंने रिजर्व बैंक से सहायता ली परन्तु वह बहुत थोड़ी थी) इसलिए ऋण लेने के लिए या बिलों की पुनःकटौती के लिए उन्हें रिजर्व बैंक पर आश्रित रहने की आवश्यकता ही नहीं हुई। छोटे छोटे बैंकरों ने जिन्हें रिजर्व बैंक से सहायता की आवश्यकता हुई, बड़े बड़े तालिकाबद्ध बैंकों से सहायता ले ली। अतः उन्हें रिजर्व बैंक की आवश्यकता ही नहीं हुई और बैंकों के इस पारस्परिक लेन-देन के कारण वह मुद्रामण्डी को संगठित करने में असफल रहा।

कहा जाता है कि रिजर्व बैंक की बैंक-दर भी अधिक प्रभावशाली नहीं रही। यह ठीक है। पर यह तो आज लगभग सभी देशों में देखने को मिलता है। भारत में एक विशेष अड़चन और है—जैसा कि पहिले कहा गया है, देश में ब्याज-दर भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रहती है; कहीं बहुत ऊंची, कहीं अधिक नीची। इसलिए जब कभी बैंक-दर से काम लेने का अवसर भी आया तो बैंक-दर देश की भिन्न-भिन्न दरों की अपेक्षाकृत कहीं अधिक ऊंची थी तो कहीं अधिक नीची। परिणाम यह निकला कि बैंक-दर देश भर की ब्याज-दर को समानता में नहीं ला सकी।* इसका एकमात्र दोष फिर 'स्वदेशी बैंकरों' और उनकी क्रियाओं पर लगाया जा सकता है, बैंक पर नहीं। रिजर्व बैंक की 'खुला-बाजार क्रियाएं' भी सन्देहात्मक हैं। यह सच है कि बैंक सोने और विदेशी सिक्यूरिटियों के आधार पर नोट जारी कर सकता है लेकिन इसकी युद्धकृत क्रियाओं के अनुभव से ज्ञात होता है कि ऐसा किसी असाधारण परिस्थिति में ही किया जा सकता था और किया गया। बैंक की 'खुला-बाजार क्रियाओं' को यदि प्रभावशाली बनाना है तो आवश्यक है कि एक्ट में आवश्यक संशोधन किया जाय कि बैंक चल सम्पत्ति जैसे सौदागरी का सामान तथा उस सामान की रसीद और बीजक पर ऋण और अग्रिम राशि दे सके। हां, उस समय एक प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि बैंक ऐसा अन्य बैंकों की प्रतियोगी संस्था बनकर न करे वरन् राष्ट्र के हित के लिए कठिन आवश्यकता के समय ही करे।

उक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसी कठिनाइयां थीं जिनके

---

* १९५१ में बैंक ने जो दर बढ़ाई उससे मुद्रामण्डी पर काफी प्रभाव पड़ा और चारों ओर साख-संकुचन का वायुमण्डल छा गया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कारण बैंक की 'बैंक-दर' तथा 'खुला-बाजार क्रियाएं' सफल नहीं बनाई जा सकीं। ये कठिनाइयां थीं--देश में ब्याज-दर की विभिन्नताएं, असंगठित मुद्रामण्डी, असंगठित और अनियंत्रित बैंकर। रिजर्व बैंक ने सम्भवतः यह सोच रक्खा था कि थोड़े से तालिकाबद्ध बैंकों द्वारा ही देश की साख-व्यवस्था को संगठित कर सकेगा परन्तु यह उसकी भूल थी। बैंक को चाहिए कि तालिकाबद्ध बैंकों की संख्या बढ़ावे। इस संख्या को बढ़ाने के लिए एक्ट की ४२वीं धारा को ढीला करने की आवश्यकता है, तभी तालिकाबद्ध बैंकों की संख्या बढ़ाई जा सकेगी।* इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि बैंक ने मुद्रामण्डी पर विशेष रूप से काबू पाया है। मुद्रामण्डी में से मुद्रा की आर्तव कठिनाई को दूर करके अनेक वर्षों तक ब्याज-दर को एक समान स्थायी बनाए रखा और इसका प्रभाव मण्डी की अन्य ब्याज-दरों पर भी अच्छा हुआ। वे केवल नीची ही न हुईं वरन् उनकी भारी विभिन्नता भी दूर हो सकी। रिजर्व बैंक की कार्य-प्रणाली ने देश के आर्थिक इतिहास में एक नए युग का प्रादुर्भाव किया। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के जन-ऋण बड़ी कुशलता के साथ नीची दरों पर प्राप्त किए और सरकार को समय-समय पर मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी अमूल्य राय दी। देश के बैंकों को बड़ा भारी सहारा दिया और देश में बैंकिंग सुविधाएं भी बढ़ाने में योग दिया। यह सत्य है कि बैंक दो बड़े आवश्यक कार्य न कर सका जैसे बिल-मण्डी का विकास तथा बैंकरों को नियमबद्ध करना। परन्तु इसके लिए केवल बैंक को ही दोषी ठहराना उचित नहीं जान पड़ता। मुद्रा-स्फीति का दोष भी बैंक पर लगाना ठीक नहीं होगा। यह तो उस समय की सरकार का ही कार्य था। उस समय परिस्थिति भी असाधारण थी। संसार के अनेक देशों के केन्द्रीय बैंक इसी प्रकार सरकारी नीति के साथ चले और यही भारत में भी हुआ। यह मानना पड़ेगा कि बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था में कम उपयोगी और महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् तथा बैंकिंग कम्पनी एक्ट बनने के पश्चात् तो इसने देश की बैंकिंग व्यवस्था को और भी अधिक संगठित बनाने के प्रयत्न किए हैं। भविष्य में इससे और भी अनेक आशाएं की जाती हैं।

सारांश

देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के विषय में वैसे तो १९१३ से ही विचार चल रहा था पर वास्तव में केन्द्रीय बैंक का जन्म रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के रूप में १९३५ में हुआ। रिजर्व बैंक स्थापित करने के कई कारण

---

* बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ से तो सभी बैंक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से रिजर्व बैंक के नियंत्रण में आ चुके हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

थे—(१) भारतीय मौद्रिक इकाई अर्थात् रुपये के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग संस्था की आवश्यकता थी; (२) देश के उस कोष का, जो भिन्न-भिन्न बैंक अपने पास रखते थे, केन्द्रीकरण करना आवश्यक था; (३) देश की साख-नीति का समुचित और न्यायपूर्ण प्रबन्ध करने के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी; (४) देश की मुद्रा-मण्डियों व स्वदेशी बैंकरों के क्रिया-कलापों के शुद्ध-शुद्ध न्यायपूर्ण अंक जनता की सुविधा के लिए प्रकाशित करने के लिए एक पक्षपातविहीन संस्था की आवश्यकता थी; (५) सरकारी कोष सुरक्षित रखने तथा सरकार के लेखों पर राशि का स्थानान्तरण करने के लिए केन्द्रीय बैंक आवश्यक था; (६) देश के बैंकों का नियंत्रण करने के लिए 'बैंकों के बैंक' का होना आवश्यक समझा जाने लगा था; (७) भारतीय कृषि की मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी; (८) अन्य राष्ट्रों के साथ मौद्रिक दौड़ में चलने के लिए भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित करना आवश्यक समझा गया था। उक्त कारणों और आशाओं को लेकर रिजर्व बैंक बनाया गया।

१९३५ में तो रिजर्व बैंक अंशधारियों का बैंक बनाया गया था परन्तु १ जनवरी १९४९ से इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण करने के कई कारण थे—(१) अन्य देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था; (२) युद्धोत्तरकालीन आर्थिक आयोजनों को सफल बनाने के लिए राष्ट्रीयकृत केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी; (३) केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक नीतियों में ताल-मेल बनाए रखने के लिए राष्ट्रीयकृत केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी जो ताल-मेल के माध्यम के रूप में काम करता; (४) अंशधारियों के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक का कार्य सन्तोषप्रद नहीं था, न वह स्वदेशी बैंकरों को संगठित कर पाया था और न मुद्रामण्डी को ही संभाल पाया था; (५) राजनीति तथा अर्थ-व्यवस्था में ताल-मेल बनाए रखने के लिए राष्ट्रीयकृत संस्था की आवश्यकता थी; (६) देशवासियों के जीवन-स्तर को उठाने तथा देश की बेरोजगारी को दूर करने के लिए ऐसे केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता थी जो सरकारी नीति के साथ-साथ काम करता; (७) अंशधारियों के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक में ऐसे अनेक दोष आ गए थे जिन्हें देश के हित में दूर करना आवश्यक था। अतः रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण करते समय अंशधारियों के अंश सरकार ने ले लिए और १०० रुपये के एक अंश के बदले में ११८ रु० १० आने की कीमत देना स्वीकृत हुआ। १०० रुपयों के बदले में तो ३% वार्षिक दर के सरकारी बॉण्ड दे दिए गए तथा शेष राशि का नकद भुगतान कर दिया गया।

बैंक का विधान—बैंक का प्रबन्ध-संचालन एवं स्वामित्व अब सरकार के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हाथ में है। सरकार बैंक के गवर्नर की नियुक्ति करती है। बैंक का प्रबन्ध गवर्नर की सलाह से केन्द्रीय बोर्ड करता है। केन्द्रीय बोर्ड में एक गवर्नर, दो उप-गवर्नर, चार संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थानीय बोर्डों में से मनोनीत, छः संचालक सरकार द्वारा मनोनीत तथा एक सरकारी अफसर होता है। इसके अतिरिक्त चार स्थानीय बोर्ड हैं जो कलकत्ता, बंबई, मद्रास और दिल्ली में स्थित हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में ५ सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति सरकार करती है। बैंक की पूंजी ५ करोड़ रुपये है। इसकी शाखाएं बंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में हैं। एक शाखा लन्दन में भी खोली हुई है। बैंक में पांच विभाग हैं—(१) बैंकिंग विभाग, (२) नोट-विभाग, (३) कृषि-विभाग, (४) विदेशी विनिमय विभाग, (५) शोध एवं अंक विभाग।

बैंक की क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं में बैंक निम्न काम करता है—(१) सरकारी बैंकिंग कार्य करना; (२) बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करना; (३) नोट निर्गमित करना; (४) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना; (५) समाशोधन गृह का काम करना। सामान्य बैंकिंग क्रियाओं में बैंक के कार्य इस प्रकार हैं—(१) बिना ब्याज के राशि जमा करना; (२) व्यावसायिक बिलों की कटौती तथा पुनःकटौती करना; (३) बिलों का क्रय-विक्रय करना; (४) ऋण देना; (५) आभूषणादि सुरक्षित रखना; (६) विदेशी सिक्यूरिटियों का क्रय-विक्रय करना; (७) मौद्रिक शोध करना तथा अंक संग्रह करके प्रकाशित करना; (८) अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित रखना।

बैंक की निषिद्ध क्रियाएं—(१) कोई निजी व्यापार नहीं कर सकता; (२) किसी भी कम्पनी या बैंक के अंश नहीं खरीद सकता; (३) अचल सम्पत्ति पर राशि उधार नहीं दे सकता; (४) चालू लेखे पर ब्याज नहीं दे सकता; (५) वैधानिक परिस्थितियों के अतिरिक्त ऋण नहीं दे सकता।

देश के बैंकों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बैंक ने सभी बैंकों को दो भागों में बांट लिया है—(१) तालिकाबद्ध बैंक, (२) अतालिकाबद्ध बैंक। तालिकाबद्ध बैंक ये बैंक कहलाते हैं जो एक्ट की धारा ४२ के अनुसार एक्ट की दूसरी तालिका में लिखे हुए हैं। जिनके नाम इस तालिका में नहीं हैं उन्हें अतालिकाबद्ध बैंक कहते हैं। प्रत्येक तालिकाबद्ध बैंक को अपनी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास जमा करना होता है। इसके बदले में रिजर्व बैंक इन्हें राशि के स्थानान्तरण संबंधी कुछ सुविधाएं देता है।

रिजर्व बैंक स्थापित करते समय आशा थी कि वह देश में बिखरे हुए स्वदेशी बैंकरों और महाजनों को नियमबद्ध कर सकेगा। बैंक ने इस ओर कई बार प्रयत्न किए पर वह उन्हें नियम में न बांध सका। आज भी स्वदेशी बैंकर नियमबद्ध नहीं हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देश में साख-नियंत्रण करने के लिए बैंक अपनी कटौती दर तथा 'खुला-बाजार क्रियाओं' से काम लेता रहा है पर मुद्रामण्डी के असंगठित होने के कारण वह आशातीत मात्रा में साख-नियंत्रण नहीं कर सका है। अब १९४९ से बैंकिंग कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनेक ऐसे अधिकार दिए गए हैं जिनके द्वारा वह देश की बैंकिंग संस्थाओं पर नियंत्रण रखते हुए साख का प्रबन्ध कर सकेगा। देश में बिल-बाजार को विकसित करने के लिए बैंक ने १६ जनवरी १९५२ को एक नवीन योजना प्रकाशित की थी जिसके अनुसार उसने एक्ट की धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत तालिकाबद्ध बैंकों को बिलों के आधार पर ऋण देने की नई सुविधाएं देना स्वीकार किया है। यह योजना सफलता के साथ कार्य कर रही है। आशा है, इससे देश की मुद्रामण्डी में बिलों का प्रचार बढ़ेगा।

देश में कृषि-साख व्यवस्था के लिए सरकार को तथा अन्य संस्थाओं को परामर्श देने तथा शोध करके अंक प्रकाशित करने के लिए बैंक में एक कृषि-साख विभाग है। यह विभाग सरकार तथा अन्य संस्थाओं को कृषिसंबंधी सलाह देता है। बैंक ने कृषि-साख के लिए विशेष प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध कर रक्खा है। वह केवल कृषकों को सहायता देने के लिए तालिकाबद्ध बैंकों तथा सहकारी बैंकों को सस्ती दरों पर ऋण स्वीकृत करता है। ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशों के अनुसार बैंक ने कृषि-साख के लिए राशि के स्थानान्तरण की सुविधाएं दे रक्खी हैं। पर, इस ओर और अधिक काम की आवश्यकता है। बैंक के कृषि-साख विभाग के पास एक कोष होना चाहिए जिसमें से वह कृषि-साख स्वीकृत करने की व्यवस्था कर सके।

युद्धकाल में विनिमय-नियंत्रण का भार रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय विभाग पर था। इस संबंध में बैंक ने कुछ नियम बना रखे थे जिनके अनुसार वह 'अधिकृत लोगों' से ही विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता था। 'अधिकृत लोगों' को वह अनुज्ञा-पत्र जारी करता था। युद्ध के पश्चात् विदेशी विनिमय नियंत्रण एक्ट १९४७ पास किया गया जिसके अनुसार देश में विनिमय-नियंत्रण का काम बैंक के अधिकार में ही है।

द्वितीय युद्धकाल में बैंक को कई नवीन बातों का सामना करना पड़ा—(१) विनिमय-नियंत्रण किया; (२) मुद्रा-स्फीति का सामना किया; (३) जन-ऋण का प्रबन्ध किया; (४) सरकारी सिक्यूरिटियों के मूल्यों में स्थायित्व उत्पन्न किया। युद्धोत्तरकाल में भी बैंक के सामने कई समस्याएं आईं जैसे—(१) मुद्रा-स्फीति, (२) देश के विभाजन के फलस्वरूप बैंक की सम्पत्ति का बंटवारा, (३) विभाजन के फलस्वरूप बैंकिंग संकट, (४) मुद्रा की दुर्लभता, (५) साख-नियंत्रण का कठिन प्रश्न—बैंक-दर में वृद्धि आदि आदि। बैंक ने इन सब बातों का सावधानी के साथ सामना किया और देश के मौद्रिक कलेवर को टूटते-टूटते से बचा लिया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक के विरुद्ध प्रकार-प्रकार के आरोप लगाए जाते हैं पर यह कहना अनुचित न होगा कि बैंक ने देश की विषम परिस्थितियों में जो कुछ किया है वह कम बात नहीं है। अब राष्ट्रीयकरण के पश्चात् से इसके साथ अनेक आशाएं लगी हुई हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) रिजर्व बैंक क्यों और कैसे बनाया गया था ? क्या अब तक उसने उन सब आशाओं को पूर्ण किया जिनको लेकर वह बनाया गया था ?

(२) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण क्यों और कैसे किया गया ? राष्ट्रीयकृत रिजर्व बैंक के विधान की मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख कीजिए।

(३) रिजर्व बैंक की क्रियाओं का वर्णन कीजिए। उसकी केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं तथा निषिद्ध क्रियाओं का उल्लेख कीजिए।

(४) 'तालिकाबद्ध बैंक' से आप क्या समझते हैं ? रिजर्व बैंक ने इन बैंकों पर क्या प्रतिबंध लगा रखे हैं तथा उनके बदले में इन्हें क्या क्या सुविधाएं देता है ?

(५) रिजर्व बैंक ने देश के स्वदेशी बैंकरों तथा महाजनों को नियंत्रण में लाने के लिए क्या क्या उपाय किए और उनमें उसे कितनी सफलता मिली ? ब्यौरेवार लिखिए।

(६) साख-नियंत्रण करने के लिए रिजर्व बैंक के पास कौन कौन साधन उपलब्ध हैं ? उन साधनों का उसने किस सीमा तक प्रयोग किया है और उसमें उसे कितनी सफलता प्राप्त हुई है ?

(७) देश में मुद्रा-मण्डी में बिलों का प्रचार बढ़ाने के लिए रिजर्व बैंक की नवीन योजना का वर्णन कीजिए। उसमें बैंक को कितनी सफलता प्राप्त हुई है ? ब्यौरेवार लिखिए।

(८) कृषि-साख की सुविधाएं देने के लिए रिजर्व बैंक के पास क्या क्या साधन हैं ? इस क्षेत्र में बैंक ने क्या क्या सुविधाएं दे रक्खी हैं ? विस्तारपूर्वक लिखिए।

(९) रिजर्व बैंक के स्थिति-विवरण का एक काल्पनिक निदर्शन तैयार कीजिए।

(१०) युद्धकाल में तथा युद्धोत्तरकाल में रिजर्व बैंक ने जिन जिन विषम परिस्थितियों का सामना किया उनका ब्यौरेवार वर्णन कीजिए। उन परिस्थितियों में बैंक को कितनी सफलता प्राप्त हुई ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३७

इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् इस बात की तीव्र आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि देश में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिए। १८३६ से लेकर १९१९ तक यह प्रश्न अनेक बार दुहराया गया परन्तु तत्कालीन सरकार की लापरवाही तथा उदासीनता के कारण इसको कार्यान्वित नहीं किया जा सका। अन्त में बम्बई, बंगाल तथा मद्रास के तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर १९२० में 'इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया एक्ट' पास किया गया जिसके फलस्वरूप २७ जनवरी १९२१ में वर्तमान इम्पीरियल बैंक का जन्म हुआ। इम्पीरियल बैंक का देश के बैंकिंग इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसी के जन्म के साथ साथ देश की बैंकिंग सुविधाओं में उन्नति का श्रीगणेश हुआ तथा इसी के द्वारा सबसे पहले केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं की नींव पड़ी। इम्पीरियल बैंक स्थापित करने के दो मुख्य उद्देश्य थे :—

(१) सरकारी राशि को जमा रखना तथा सरकार के लेखे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजना और सरकार को समय समय पर सलाह देना आदि।

(२) देश के बैंकों पर देख-भाल रखना तथा देश में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ाना।

बैंक का विधान (१९३४ के संशोधित कानून के अनुसार)

बैंक की अधिकृत पूंजी ११½ करोड़ रुपये है जो २,२५,००० अंशों में है। प्रत्येक अंश ५०० रुपये का है। अधिकृत पूंजी का आधा भाग परिदत्त पूंजी है और संचित कोष की राशि लगभग ७ करोड़ रुपये है।

प्रादेशिक सत्ता बनाए रखने की दृष्टि से तथा बैंक को बैंकिंग क्षेत्र में चतुर्मुखी शक्ति प्रदान करने की सुविधा के कारण पुराने प्रेसीडेन्सी बैंकों के कार्यालयों पर तीन स्थानीय बोर्ड बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में स्थापित किए गए हैं। ये बोर्ड उन कार्यालयों के क्षेत्र में आनेवाले अंशधारियों के द्वारा चुने हुए सदस्यों से बने हैं परन्तु उनका प्रबन्ध सेक्रेटरी एवं कोषाध्यक्ष के अधीन है। स्थानीय बोर्ड में सात सदस्य होते हैं एवं ये बोर्ड स्थानीय कार्यों की देख-रेख करते हैं।

बैंक के संचालन एवं प्रबन्ध का कार्य केन्द्रीय बोर्ड के अधीन है। स्थानीय बोर्ड

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by-eGangotri

केन्द्रीय बोर्ड के अधीन हैं। केन्द्रीय बोर्ड बैंक की नीति-निर्धारण का काम करता है और साप्ताहिक विवरण की जांच-पड़ताल भी करता है। बैंक का वास्तविक प्रबन्ध बैंक के प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध-संचालक के द्वारा होता है जो केन्द्रीय बोर्ड द्वारा कम से कम पांच वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते हैं। १९३४ में जब रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए रिजर्व बैंक एक्ट पास किया गया तो साथ ही साथ इम्पीरियल बैंक एक्ट (१९२१) में भी आवश्यक संशोधन कर दिए गए थे। तदनुसार केन्द्रीय बोर्ड में निम्न सदस्य होते हैं :—

(१) स्थानीय बोर्डों के सभापति, उप-सभापति तथा कार्य-मंत्री,
(२) प्रत्येक स्थानीय बोर्ड के सदस्यों में से चुना हुआ एक सदस्य,
(३) केन्द्रीय बोर्ड द्वारा नियुक्त किए गए प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध-संचालक,
(४) केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत दो जन-व्यक्ति,
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक अफसर जिसे केन्द्रीय बोर्ड की बैठक में केवल जाने का अधिकार है परन्तु मत देने का अधिकार नहीं है।

यहां सबसे बड़ी विशेषता यह है कि केन्द्रीय बोर्ड का कोई स्थायी रूप से स्थान नहीं है। कलकत्ता तथा बम्बई में बारी-बारी से केन्द्रीय बोर्ड की बैठक होती हैं।

इम्पीरियल बैंक की एक शाखा लंदन में है जो विनिमय बैंकों के विदेशी बिलों की कटौती करती है।

१९३५ से पहिले, जब कि देश में रिजर्व बैंक नहीं था, इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाओं में से निम्न दो मुख्य कार्य किया करता था :—

(१) सरकारी बैंक का कार्य,
(२) बैंकों के बैंक का कार्य।

सरकारी कार्य करने के अधिकार के बदले में केन्द्रीय सरकार इस पर उस समय अपना विशेष अधिकार समझकर नियंत्रण रखती थी। सरकार तब स्थानीय बोर्डों के मंत्री नियुक्त करती थी, हिसाब निरीक्षक नियुक्त करती थी और समय समय पर आवश्यक आदेश भी दिया करती थी। उस समय यह बैंक कई प्रकार से सरकार के अधीन था। परन्तु रिजर्व बैंक बन जाने से उक्त दोनों कार्य इस बैंक से हटकर रिजर्व बैंक पर चले गए हैं। अतः इस बैंक पर से सरकार के उक्त अधिकार भी समाप्त हो गए हैं। अब यह बैंक उन स्थानों में, जहां बैंक के कार्यालय नहीं हैं परन्तु इसके कार्यालय हैं, रिजर्व बैंक के एजेन्ट की हैसियत से काम करता है।

इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैंक से सम्मेल

१९३५ में रिजर्व बैंक बनने पर इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक का एजेन्ट बना दिया गया और निश्चय किया गया कि जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है पर इम्पीरियल बैंक की शाखा है वहां इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से काम करेगा । इस निश्चय को वैधानिक रूप देने के लिए ५ अप्रैल १९३५ को दोनों बैंकों में एक समझौता हुआ जो रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की तृतीय तालिका में दिया गया है।

५ अप्रैल १९३५ का समझौता—सम्मेल सर्वप्रथम दस वर्ष के लिए किया गया। सम्मेल के अनुसार इस इम्पीरियल बैंक ने रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी लेखे पर जितनी राशि का लेन-देन किया उसमें से पहिले २५० करोड़ रुपयों पर उसे १ आना प्रतिशत (अर्थात् $\frac{1}{16}$ रु०%) प्रतिवर्ष की दर से कमीशन दिया गया तथा शेष राशि पर $\frac{1}{32}$ आना प्रतिशत (अर्थात् $\frac{1}{32}$ रु०%) प्रतिवर्ष कमीशन मिला। इस सम्मेल में यह भी व्यवस्था की गई कि इस सम्मेल की अवधि समाप्त होने पर एक नया सम्मेल पांच वर्षों के लिए फिर किया जायगा और उसमें इम्पीरियल बैंक को मिलनेवाले कमीशन की दर फिर निश्चित की जायगी। तदनुसार प्रथम समझौता अप्रैल १९४५ में समाप्त हो गया और नया समझौता २ मई १९४५ को पांच वर्षों के लिए किया गया।

२ मई १९४५ का समझौता—यह समझौता २ मई १९४५ को ३१ मार्च १९५० तक के लिए किया गया। इस समझौते के अनुसार बैंक को इस प्रकार कमीशन मिला :—

(१) प्रथम १५० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{16}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया;

(२) द्वितीय १५० करोड़ रुपयों पर (अर्थात् १५० से ३०० करोड़ रुपयों पर) $\frac{1}{32}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया;

(३) ३०० करोड़ से ऊपर अगले ३०० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{16}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया ;

(४) ६०० करोड़ से ऊपर की राशि पर $\frac{1}{32}$ रु०% प्रतिवर्ष कमीशन दिया गया।

यह समझौता मार्च १९५० में समाप्त होना था अतः १८ अक्टूबर १९५१ को ही नया समझौता तय कर लिया गया।

१८ अक्टूबर १९५१ का समझौता—यह समझौता १ अप्रैल १९५० से लागू है और ३१ मार्च १९५५ तक चलेगा। इस समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक को इस प्रकार कमीशन दिया जायगा :—

(१) प्रथम १५० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{16}$ रु०% प्रतिवर्ष की दर से ;

(२) १५० करोड़ रुपये से ऊपर अगले ३०० करोड़ रुपयों पर $\frac{1}{32}$ रु०% प्रतिवर्ष की दर से ;

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) ३०० करोड़ रुपये से ऊपर शेष राशि पर $\frac{1}{16}$ रु० % प्रतिवर्ष की दर से।

यदि किसी वर्ष में इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी लेखे पर १२०० करोड़ रुपये से अधिक राशि का लेन-देन करेगा तो १२०० करोड़ रुपयों से ऊपर की राशि पर उसे $\frac{1}{16}$ रु० % प्रतिवर्ष की दर से कमीशन दिया जायगा।*

इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं ?

कुछ लोगों का प्रश्न होता है कि १९३४ में रिजर्व बैंक क्यों बनाया गया और इम्पीरियल बैंक को ही, जो उस समय गत १४ वर्षों से केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं भी करता रहा था, केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बना दिया गया ? प्रश्न तो उचित और स्वाभाविक है पर ऐसा करने में निम्न असुविधाएं थीं :—

(१) केन्द्रीय बैंक की कार्य-प्रणाली बिलकुल सुरक्षित होनी चाहिए और उसकी सम्पत्ति भी यथासंभव तरल होना आवश्यक है। परन्तु ये दोनों बातें उस केन्द्रीय बैंक के साथ सम्भव नहीं हो सकतीं जो व्यापारिक क्रियाएं भी करता हो। ठीक यही बात इम्पीरियल बैंक के साथ थी। यह बैंक व्यापारिक बैंक था और यदि इसको पूर्णतया केन्द्रीय बैंक बना दिया जाता तो इसकी कार्य-शैली सुरक्षित नहीं रह सकती थी। फिर भी यदि इसे केन्द्रीय बैंक बनाया जाता तो इसका व्यापारिक बैंकिंग व्यवसाय इससे अलग करना पड़ता पर ऐसा करना ठीक नहीं था क्योंकि उस समय देश में यही एक सुदृढ़ और सुरक्षित व्यापारिक बैंक था।

(२) यदि इसके व्यापारिक कार्य इससे अलग किए जाते तो देश में बैंकिंग व्यवस्था कमजोर पड़ जाती क्योंकि बैंकिंग सुविधाएं देनेवाला यही एक ऐसा संगठित बैंक था जिसकी शाखाएं दूर दूर तक थीं।

(३) केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' होता है और उसे समय समय पर बैंकों की सहायता करनी होती है। इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंक था जिसमें जनता की राशि जमा थी। तो इसे केन्द्रीय बैंक बनाने से जनता की जमा-राशि तथा बैंकों की जमा-राशि, दोनों में तनाव हो जाता और तब इम्पीरियल बैंक 'बैंकों के बैंक' की हैसियत से सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकता था अपितु वह व्यापारिक बैंक का प्रतियोगी बन जाता। यदि इम्पीरियल बैंक को दोनों क्रियाएं—केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं तथा व्यापारिक क्रियाएं—करने का अधिकार दे दिया जाता तो इसकी शक्ति अपार हो जाती और देश के अन्य बैंकों को इसकी प्रतियोगिता के

* Reserve Bank of India Bulletin—November 1951 pp. 816-817.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कारण हटना ही पड़ता। 'बैंकों के बैंक' को बैंकों से जमा की हुई राशि में से अन्य लोगों को राशि उधार नहीं देना चाहिए अन्यथा देश का बैंकिंग कलेवर टूट जाने का भय रहता है। यही भय इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने में था।

(४) यह भी सोचा गया कि इम्पीरियल बैंक को दो विभागों में बांट दिया जाय—(१) निर्गमन विभाग तथा (२) बैंकिंग विभाग। निर्गमन विभाग को केन्द्रीय बैंकिंग क्रियाएं तथा नोट जारी करने का कार्य दे दिया जाय और बैंकिंग विभाग अन्य क्रियाएं करे। परन्तु इस उपाय से भी समस्या हल नहीं हो सकती थी क्योंकि दोनों विभाग अन्त में एक ही नियंत्रण में रहते और एक ही नियंत्रण और प्रबन्ध में रहने के कारण फिर वही असुविधाएं हो जातीं।

(५) इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाने के लिए आवश्यक था कि उसके लाभांश वितरण पर नियंत्रण किया जाता पर इस प्रकार का नियंत्रण उसके अंशधारी नहीं चाहते थे।

(६) इम्पीरियल बैंक ने १९३५ तक अपने चौदह वर्षों के जीवनकाल में केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने को दायित्व नहीं निभाया। वह अन्य बैंकों का प्रतियोगी होने के कारण सच्चे रूप में बैंकों का बैंक नहीं बन सका। व्यापारिक बैंक इम्पीरियल बैंक के पास सहायता के लिए जाने में अपनी मानहानि समझते रहे और इम्पीरियल बैंक ने भी उन्हें बिलों की कटौती की पूरी पूरी सुविधाएं नहीं दीं। दूसरे, न तो इम्पीरियल बैंक की बैंक-दर इतनी प्रभावशाली थी और न सभी बैंक इसके पास अपनी राशि जमा करते थे जिसकी वजह से न तो वह बैंकों का भली प्रकार नियंत्रण कर पाता था और न साख की उचित व्यवस्था ही संभाल पाता था। संक्षेप में बात यह है कि इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंक के रूप में कार्य करता रहा पर उसने केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कोई विशेष कार्य नहीं किया। अतः उसे केन्द्रीय बैंक बनने का गौरव प्राप्त न हो सका।

(७) इम्पीरियल बैंक विदेशी प्रबन्ध-संचालन में होने के कारण अपनी अराष्ट्रीय नीति की वजह से भारतीयों की सहानुभूति प्राप्त न कर सका। भारतीय व्यापारियों के साथ वह सौतेला व्यवहार करता था जिससे वह भारतीयों का विश्वासपात्र न बन सका और उसे केन्द्रीय बैंक न बनाया गया।

उक्त कारणों की वजह से हिल्टन यंग कमीशन ने इम्पीरियल बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक बनाना उचित न समझा और एक नई संस्था बनाने की ही सिफारिश की।

इम्पीरियल बैंक की क्रियाएं

१९३५ तक, जब रिजर्व बैंक नहीं बना था, यही बैंक 'सरकारी बैंक' था और यह 'बैंकों के बैंक' का कार्य भी करता था। सरकारी बैंक होने के नाते यह सरकारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रुपया जमा रखता था, सरकारी रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजता था, जन-ऋण का काम करता था तथा अन्य सरकारी लेखों पर जमा तथा भुगतान भी करता था। 'बैंकों का बैंक' होने के कारण देश के अनेक बैंक इसमें राशि जमा कर सकते थे और समय आने पर उधार भी ले सकते थे। परन्तु रिजर्व बैंक बन जाने से ये दोनों क्रियाएं अब इम्पीरियल बैंक के अधीन नहीं हैं। अब बैंक की क्रियाएं निम्न हैं :—

(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित तथा अन्य स्थानीय सरकारों के ऋण-पत्रों एवं अन्य सिक्यूरिटियों पर सीमित देनदारीवाली कम्पनियों के ऋणपत्रों पर, माल अथवा माल के अधिकार-पत्रों पर (जो बैंक में जमा की जावें) स्वीकृति-बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर तथा सीमित देनदारीवाली कम्पनियों के पूरे भुगतान किए गए अंशों (fully paid up shares) की साख पर राशि उधार देना।

(२) ऋणपत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां बेचना।

(३) स्थानीय सरकार की स्वीकृति से कोर्ट ऑव वार्ड्स (Court of Wards) को, सामयिक कृषि क्रियाओं को तथा अन्य कार्यों को राशि उधार देना। (परन्तु कृषि क्रियाओं को ९ माह से अधिक समय के लिए और अन्य कार्यों को ६ माह से अधिक समय के लिए राशि उधार नहीं दे सकता।)

(४) विनिमय बिलों को लिखना, क्रय-विक्रय करना, स्वीकार करना तथा कटौती करना, देश से बाहर भी उधार लेना तथा राशि जमा करना।

(५) सम्पत्ति पर राशि उधार लेना तथा अन्य प्रकार की कोई भी बैंकिंग क्रिया करना।

(६) सोना-चांदी क्रय-विक्रय करना तथा आभूषण और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं सुरक्षित करना।

(७) चल और अचल सम्पत्ति जो बैंक के अधिकार में हो या आवे उसे बेचना।

(८) लोगों की राशि जमा करना व लोगों को उधार देना।

(९) साख-पत्र जारी करना तथा कृषि को सहायता देने के लिए देश से बाहर के लिए भी केवल ९ माह की अवधि के बिल खरीदना तथा देश के बाहर के अन्य कार्यों के लिए केवल ६ माह की अवधि के बिल खरीदना और लिखना।

(१०) अन्य कोई भी कार्य करना जो एक्ट द्वारा स्वीकृत किया गया हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इम्पीरियल बैंक का विशेष स्थान

आज इम्पीरियल बैंक का देश की बैंकिंग व्यवस्था में विशेष स्थान है। व्यापारिक बैंक होने के अतिरिक्त यह रिजर्व बैंक का एजेंट भी है। जिन जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं हैं परन्तु इम्पीरियल बैंक की शाखा हैं, वहां इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के एजेंट की हैसियत से काम करता है और वे सब सरकारी क्रियाएं, जो केन्द्रीय बैंक के अधीन हैं, इम्पीरियल बैंक को ही करनी होती हैं—सरकारी राशि भी जमा रहती है, सरकारी लेखे से भी लेनदेन होता है तथा राशि एक स्थान से दूसरे स्थान को भी भेजी जाती है। अतः इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों की अपेक्षा विशेष स्थान रखता है। रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक का एक सम्मेल है जिसके अनुसार रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक आपस में कार्य करते हैं। समझौते की शर्तें रिजर्व बैंक एक्ट की तीसरी तालिका में दी गई हैं। चूंकि इम्पीरियल बैंक में सरकारी लेनदेन होता है इसलिए इम्पीरियल बैंक पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं जिनके अनुसार बैंक निम्न क्रियाएं नहीं कर सकता :—

(१) केवल कृषि को सहायता देने के अतिरिक्त बैंक छः माह से अधिक अवधि के लिए राशि उधार नहीं दे सकता। केवल कृषि के लिए ही ९ माह तक के लिए उधार दिया जा सकता है। कोर्ट ऑव वार्ड्स को छोड़कर बैंक अचल सम्पत्ति या अधिकार-पत्रों पर ऋण नहीं दे सकता।

(२) व्यक्तिगत साख पर कटौती नहीं कर सकता तथा अग्रिम राशि भी नहीं दे सकता जब तक कि कोई दो व्यक्ति इस प्रकार की कटौती तथा उधार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न ले लें।

(३) केवल उन्हीं सिक्यूरिटियों की कटौती कर सकता है और उन्हीं सिक्यूरिटियों की साख पर राशि उधार दे सकता है जिन सिक्यूरिटियों को प्रन्यासों (Trusts) ने अपने विनियोग के लिए स्वीकृत कर रक्खा हो।

(४) रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना बैंक कोई नई शाखा नहीं खोल सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि एक अलग इम्पीरियल बैंक एक्ट बनाकर इम्पीरियल बैंक को क्यों संचालित किया जा रहा है ? इसको भी देश के अन्य बैंकों की समानता में ला देना चाहिए। परन्तु सरकार ने अभी तक इस बात को नहीं माना है क्योंकि सरकार का विचार है कि देश में अन्य ऐसा कोई बैंक नहीं है जिसकी इतनी अधिक शाखाएं हों जितनी इस बैंक की। इसलिए इम्पीरियल बैंक को ही रिजर्व बैंक के एजेंट बनने का विशेष अधिकार उचित है। इस विशेषाधिकार के कारण ही इम्पीरियल बैंक की जमा-राशि अन्य बैंकों की अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। इस कारण इम्पीरियल बैंक देश के बैंकों का प्रतियोगी कहा जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इम्पीरियल बैंक ने क्या दिया ?

इम्पीरियल बैंक के इतिहास के अध्ययन करने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि भारतीय बैंकिंग क्षेत्र में इस बैंक ने क्या किया है ? परन्तु यह समझने से पहिले इसकी भी आवश्यकता है कि बैंक से क्या क्या आशाएं थीं और इन आशाओं को बैंक कहां तक पूरी कर सका। केन्द्रीय बैंक का रूप लेकर जन्म लेनेवाले बैंक से जनता, सरकार तथा अन्य सभी को बड़ी बड़ी आशाएं थीं। सोचा गया था कि बैंक देश में बैंकिंग सुविधाओं की वृद्धि करेगा। नई नई शाखाएं खुलेंगी जिससे जनता में बैंकों के प्रति विश्वास होगा और वह बैंकिंग क्रियाओं में भाग लेगी। यह भी आशा थी कि लोगों को बैंकों में तथा उनकी शाखाओं में काम करने को मिलेगा और इस तरह लोग बैंकिंग प्रणाली में कुशल होंगे, जिससे देश का बैंकिंग स्तर ऊंचा हो सकेगा।

बैंक में लेनदेन करनेवालों को आशा थी कि सरकारी राशि जमा होने के कारण बैंक को राशि की कमी नहीं रहेगी जिससे वह समय समय पर मुद्रा-मण्डी में राशि की कमी को दूर करके ब्याज-दर को नीची कर सकेगा। ब्याज-दर नीची होने से कृषि, व्यापार तथा उद्योग की उन्नति में सहायता मिलेगी। देश की पूंजी में लाभदायक वितरण होगा, गतिशीलता आएगी, लोच होगा तथा पूंजी का महत्तम उपयोग भी होगा। बैंक की शाखा लंदन में खुलने से देश का बैंकिंग कलेवर लंदन मुद्रामंडी के सम्पर्क में आएगा। इसी के साथ साथ यह भी आशा थी कि देशी व्यापार में बैंक से काफी सुविधा मिलेगी।

सरकार ने भी सोचा था कि सरकारी कोषों में पड़ी रहनेवाली निठल्ली राशि इस बैंक के द्वारा अधिक उपयोगी बनाई जा सकेगी। सरकार को स्थान स्थान पर राशि भेजने की आवश्यकता न होगी, सब काम बैंक ही किया करेगा, सरकारी जन-ऋण का कार्य भी सुचारु रीति से चलता रहेगा। बैंकों को भी आशा थी कि वह उनका नेतृत्व कर सकेगा व उनका मार्ग-प्रदर्शन करेगा। समय-समय पर बैंक इससे ऋण ले सकेंगे तथा देश की बैंकिंग प्रणाली में सहयोग होगा, संगठन बढ़ेगा और कटौती की सुविधाएं भी मिलेंगी।

ये सब आशाएं वास्तव में बड़ी महान् थीं और निस्सन्देह इनमें से कुछ पूरी हुई हैं। इम्पीरियल बैंक ने शनैः शनैः देश के आन्तरिक भागों में अनेक शाखाएं खोली हैं और सदैव प्रयत्न किया है कि बैंकिंग प्रणाली संगठित हो और सभी को बैंकिंग सुविधाएं उपलब्ध हो सकें। गत दस वर्षों में ही शाखाओं की संख्या १५० से अधिक हो गई है जो संपूर्ण विनिमय-बैंकों की शाखाओं के दुगने से भी अधिक है और भारतीय बैंकों की शाखाओं के $\frac{1}{5}$ से भी अधिक है। १९३४ से लेकर १९४५ तक इस बैंक की शाखाएं २०२ से ४३३ हो गईं। बैंकों को भी इस बैंक ने समय समय पर प्रशंसनीय सुविधा दी है। एलायन्स बैंक ऑव शिमला को जी खोलकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहायता दी परन्तु परिस्थिति इतनी खराव थी कि वश में न की जा सकी। एला-यन्स बैंक ऑव शिमला के वन्द होने पर ताता इण्डस्ट्रियल बैंक और बंगाल नेशनल बैंक पर संकट आया तो उसे टालने का भी भरसक प्रयत्न बैंक ने किया। १९३६ में जव सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया के कलकत्ता और बम्वई कार्यालयों पर संकट के आसार दिखाई दिए तो इस बैंक ने उस संकट को सफलतापूर्वक दूर किया। व्या-पारियों ने भी इस बैंक से समय समय पर राशि उधार लेकर पूरा पूरा लाभ उठाया। प्रान्तीय सहकारी बैंकों को भी आपस के समीप सम्पर्क में लाने का प्रयत्न इसने किया और इस कार्य में भी सफलता प्राप्त की। सरकार ने जन-ऋण का भली प्रकार प्रवन्ध किया। विदेशी विनियोगियों ने भी इससे लाभ उठाया तथा विदेशी विनिमय वैंकों ने इस वैंक से समय समय पर राशि उधार ली। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि वैंक ने 'स्वदेशी वैंकरों' के विषय में कुछ न किया और न यह वाजार की व्याज-दर को उतनी नीची ला सका जितनी आवश्यकता थी।

इम्पीरियल वैंक ने वहुत कुछ आशाएं पूरी कीं और आज रिजर्व वैंक भी वन चुका है फिर भी इस वैंक का अपना स्थान है। इसकी जमा-राशि अन्य वैंकों की अपेक्षा-कृत वहुत अधिक है और लोगों का विश्वास भी इस वैंक में वहुत अधिक है। वैंक साप्ताहिक स्थिति-विवरण प्रकाशित करता है जिससे इसकी साख और भी बढ़ती है। देश की अन्य बैंकों ने सदैव भारी भारी राशि इसमें जमा की और इस बैंक ने भी अवसर आने पर सहायता की।

इम्पीरियल बैंक पर आक्षेप

सभी कुछ सेवाएं करते हुए भी, यदि गहराई से सोचा जाय तो मालूम होता है कि इम्पीरियल वैंक में कुछ ऐसे दोष भी हैं जिनके कारण देश के वैंकों को भारी क्षति हुई है। विशेष दोष निम्न हैं:—

(१) वैंक की अधिकांश पूंजी विदेशी रही है और प्रवन्ध भी अभारतीय रहा है। भारतीयों का उसमें विशेष स्थान नहीं है। (यद्यपि पिछले दिनों में विदेशी पूंजी को शनैः शनैः स्थानापन्न किया गया है परन्तु अव भी विदेशियों को ही विशेष स्थान मिला हुआ है।) सन्तोष है कि सरकार ने भी अब केन्द्रीय बोर्ड पर निर्वाचन आरम्भ कर दिया है।

(२) बैंक के ऊंचे ऊंचे पदाधिकारी भी अभी अभारतीय ही हैं। भारतीयों को न उन पदों पर नियुक्त किया जाता है और न उन्हें ऊंची शिक्षा का अवसर दिया जाता है। यद्यपि प्रवन्ध-संचालक ने घोषणा की थी कि भारतीयों को विशेष स्थान दिया जायगा परन्तु अभी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

(३) अभारतीय प्रवन्ध होने के कारण बैंक से राशि उधार लेने में भार-तीयों को कठिनाई होती है। प्रवन्धक विशेषकर अपने देशवालों को ही राशि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उधार देते हैं। इस प्रकार भारतीय राशि द्वारा बैंक अभारतीय व्यापार की उन्नति करने का साधन बन गया है।

(४) बैंक व्यक्तिगत साख पर उधार देने की प्रथा का पालन करता रहा है और इसने बिलों के प्रयोग को बढ़ाने के लिए कटौती को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया है। अतः देश की बिल-मंडी में कोई उन्नति नहीं हो सकी है।

(५) बैंक रिजर्व बैंक का एजेंट होने के कारण तथा अपनी पुरानी बलवान् परिस्थिति के कारण अन्य बैंकों की अपेक्षाकृत देश के लोगों से अधिक जमा-राशि प्राप्त कर लेता है। अतः यह बैंक एक प्रकार से भारतीय बैंकों का प्रतियोगी बन बैठा है। यद्यपि इस प्रतियोगिता के कारण जनता को लाभ ही हुआ है क्योंकि उन्हें सस्ती दरों पर राशि उधार मिल सकती है परन्तु देश के नवजात बैंकों को इससे हानि ही हुई है। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि बैंक भारत से जमा-राशि लेकर विदेशों में भेज देता है परन्तु इसमें अधिक तथ्य नहीं जान पड़ता।

उक्त सभी दोषों के कारण इम्पीरियल बैंक के प्रति जनता में काफी क्षोभ रहा है। कुछ लोगों का विचार है कि इम्पीरियल बैंक एक्ट को पूर्णतया संशोधित कर देना चाहिए और कुछ लोग कहते हैं कि इस पर अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगाने चाहिएं परन्तु इसमें संदेह नहीं कि बैंक ने देश में जागृति तो की है और स्थान स्थान पर बैंकिंग सुविधाएं देने का प्रबन्ध भी किया है। ऐसी अवस्था में ऐसा करना ठीक नहीं होगा। हां, दोषों को दूर करने के प्रयत्न करने चाहिएं जिससे भारतीय पदाधिकारी नियुक्त किए जायं और विदेशी पूंजी के स्थान पर भारतीय पूंजी बदली जा सके।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

उक्त दोषों के कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भारत सरकार के सामने आ चुका है। रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करते समय इस बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी संसद के सामने लाया गया। कुछ सदस्यों का तो कहना था कि इम्पीरियल बैंक विदेशी स्वामित्व व विदेशी प्रबन्ध-संचालन में होने के कारण भारत का प्रथम नंबर का शत्रु है जिसमें विदेशी पूंजी है, अभारतीय पदाधिकारी हैं और जो देश के बैंकों का कट्टर प्रतियोगी है। परन्तु उस समय इस प्रश्न को टाल दिया गया। तत्कालीन वित्त-मंत्री ने कहा था कि "तांत्रिक समस्याओं को देखते हुए विनियोग-मण्डी एवं तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति पर राष्ट्रीयकरण के जो दुष्परिणाम होंगे उनको दृष्टि में रखते हुए वर्तमान स्थिति में सरकार इस बैंक का राष्ट्रीयकरण करना ठीक नहीं समझती।" वित्त-मंत्री ने आश्वासन दिया कि सरकार इम्पीरियल बैंक के दोषों को दूर करने की चेष्टा करेगी। १९५०-५१ का बजट पेश करने के पश्चात् बजट पर बहस करते हुए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रश्न को फिर दोहराया गया पर उस समय भी यह कहकर टाल दिया गया कि देश की साख-व्यवस्था एवं बैंकिंग की उन्नति की दृष्टि से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण देश के हित में नहीं हो सकता। १९५० के अन्त में जब भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून को संशोधित किया जा रहा था तो इस प्रश्न को फिर लाया गया। पर उस समय भी वित्त-मंत्री ने कहा "मुझे पूर्ण विश्वास है कि इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न देश के आर्थिक हितों में नहीं हो सकता।" उन्होंने कहा कि "इम्पीरियल बैंक की पूंजी अब भारतीयों के हाथों में आती जा रही है और उसके कर्मचारियों का भी भारतीयकरण हो रहा है। अतः ऐसा कोई भी कार्य, जो शीघ्रतापूर्वक किया जायगा, हमारे हितों में घातक होगा।" वित्त-मंत्री का विश्वास है कि भारत के बैंकिंग कलेवर में इम्पीरियल बैंक एक आवश्यक अंग है। अतः ऐसा कोई भी कार्य नहीं होना चाहिए जिससे उसकी उपयुक्तता में हानि हो, विशेषकर अब जब कि हम अपने देश के बैंकिंग कलेवर को सुदृढ़ एवं संगठित करना चाहते हैं।*

इस प्रकार इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न स्थगित कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि इस बैंक के दोषों को दूर करके उससे अधिकाधिक लाभ उठाया जाय।

बैंक का भविष्य—ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि इम्पीरियल बैंक हमारे देश के बैंकिंग कलेवर का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण अंग है अतः इसे तोड़ने या अन्य किसी प्रकार से पंगु करने की बजाय सुदृढ़ और संगठित करना चाहिए ताकि वह देश की बैंकिंग व्यवस्था में अधिक उपयोगी बन सके। रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा है कि इम्पीरियल बैंक का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है और इसके द्वारा देश के व्यापार एवं उद्योग को पर्याप्त लाभ पहुंचाया जा सकता है पर इसको सुधारने तथा अधिक उपयोगी बनाने के लिए निम्न उपाय करने चाहिएं :—

(१) कमेटी का कहना है कि इम्पीरियल बैंक को रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी राशि रखने तथा सरकार के लेखे पर लेनदेन करने का जो विशेषाधिकार मिला हुआ है वह अन्य बैंकों के हितों में अच्छी बात नहीं है। इससे अन्य व्यापारिक बैंकों में इम्पीरियल बैंक के प्रति प्रतिस्पर्द्धा आती है तथा वे अपने को हीन समझने लगते हैं। अतः इस विषय में या तो इम्पीरियल बैंक के इस एकाधिकार पर सरकार का कड़ा नियंत्रण होना चाहिए अथवा इसके विशेषाधिकार ले लेने चाहिएं। वैसे तो इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया एक्ट १९२० के अन्तर्गत सरकार को बैंक का प्रबन्ध-संचालन करने में विशेष अधिकार प्राप्त थे पर १९३४ म रिजर्व बैंक बनने पर एक्ट में जो संशोधन किए गए उनसे सरकार का हस्तक्षेप

* The Hindustan Times—Nov. 24, 1950—Speech by the Finance Minister.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कम कर दिया गया। कमेटी की सिफारिश है कि सरकार को इम्पीरियल बैंक के प्रबन्ध-संचालन में जो अधिकार १९३४ से पूर्व प्राप्त थे, वे सब फिर से ले लेने चाहिएं। इस विषय में सरकार को निम्न अधिकार लेने चाहिएं :—

(क) बैंक के प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति सरकार की स्वीकृति से की जाय तथा जिस व्यक्ति पर सरकार को विश्वास न हो उसे अलग कर दिया जाय।

(ख) बैंक के कार्यवाहक व्यक्ति उनकी योग्यता के आधार पर रक्खे जायं न कि किसी राजनैतिक दलबन्दी के आधार पर।

(ग) सरकार का प्रतिनिधित्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड पर अधिक प्रभावी बनाया जाय।

(घ) सरकार के मनोनीत संचालकों को बैंक की सब सभाओं में सम्मिलित होने तथा वोट देने का अधिकार हो।

(ङ) सरकारी नीति संबंधी निर्णय के पूर्ववत् अधिकार सरकार अपने हाथ में ले ले।

कमेटी ने स्पष्ट लिखा है कि सरकार बैंक के प्रबन्ध पर नियंत्रण अवश्य बढ़ावे पर बैंक की दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं में कोई हस्तक्षेप न करे और न उक्त अधिकारों से अधिक अधिकार अपने हाथ में ले।*

(२) इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की तालिका २ के उपनिमय ५१ को, जिसके अनुसार बैंक के कार्यवाहक को अंशधारियों की ओर से मतदान (proxy) करने का अधिकार है, रद्द कर दिया जाय और इसके स्थान पर भारतीय बैंकिंग कम्पनी एक्ट १९४९ की धारा १२ को लागू कर दिया जाय जिससे प्रत्येक वैयक्तिक अंशधारी की मतदान शक्ति कुल मतदान शक्ति के ५% तक ही सीमित रहे।

(३) कमेटी ने दुःख प्रकट करते हुए लिखा है कि "इम्पीरियल बैंक का, जिसके पास सरकारी कोष रखने का अधिकार हो, प्रबन्ध-संचालन अभारतीय अफसरों के द्वारा किया जाय।" अतः रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि शीघ्रातिशीघ्र बैंक के उच्च पदों पर भारतीय अधिकारी नियुक्त किए जायं और बैंक भारतीयों को यथासंभव ट्रेनिंग देने की व्यवस्था करे। यद्यपि बैंक ने सरकार को विश्वास दिलाया है कि १९५५ के अन्त तक बैंक के उच्च पदों का भारतीयकरण हो जायेगा परन्तु तो भी यह आवश्यक है कि सरकार इस ओर सतर्क देख-भाल करती रहे।

(४) बैंक राशि स्थानान्तर करने में जो शुल्क लेता है उसे कम करे।

---

* The Rural Banking Enquiry Committee Report, p. 96.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

५००० रुपये तक तथा इससे अधिक राशि के स्थानान्तर के शुल्क क्रमशः $\frac{१}{१६}$ रु० % से $\frac{१}{३२}$ रु० % तथा $\frac{१}{३२}$ रु० % से $\frac{१}{६४}$ रु० % कर दे।

(५) बैंक अपने कार्यालयों की संख्या बढ़ावे, साथ ही वह स्थानीय प्रमुख कार्यालय भी स्थापित करे जिससे स्थानीय कार्यक्षमता को प्रोत्साहन मिले। यदि ऐसा किया गया तो बैंक के स्थानीय एवं केन्द्रीय बोर्डों में सब प्रदेशों का प्रतिनिधित्व हो सकेगा।

उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करके इम्पीरियल बैंक की स्थिति सुदृढ़ एवं संगठित बनाई जा सकती है और बैंक का भविष्य उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

सारांश

इम्पीरियल बैंक का जन्म १९२० में बंगाल, बंबई तथा मद्रास के प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर हुआ। बैंक ने २७ फर्वरी १९२१ से कार्य आरम्भ किया। बैंक दो उद्देश्यों को लेकर बनाया गया था--(१) वह सरकारी राशि जमा करेगा तथा सरकारी लेखे पर राशि का लेनदेन करता रहेगा, (२) वह 'बैंकों के बैंक' के रूप में कार्य करता रहेगा।

बैंक की अधिकृत पूंजी ११$\frac{१}{२}$ करोड़ रुपये है जो ५००-५०० रुपये के २,२५,००० अंशों में विभाजित है। अधिकृत पूंजी का $\frac{१}{२}$ भाग परिदत्त पूंजी है। बक के तीन स्थानीय बोर्ड बंबई, कलकत्ता तथा मद्रास में हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में सात सदस्य होते हैं। बैंक का प्रवन्ध-संचालन केन्द्रीय बोर्ड के अधिकार में है जिसमें स्थानीय बोर्डों के सभापति, उपसभापति, प्रत्येक स्थानीय बोर्ड से चुना हुआ एक सदस्य, सरकार द्वारा मनोनीत दो जन-व्यक्ति, सरकार द्वारा नियुक्त एक अफसर तथा केन्द्रीय बोर्ड के द्वारा नियुक्त प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध-संचालक होते हैं।

बैंक वैसे तो व्यापारिक बैंकिंग संस्था है पर रिजर्व बैंक के एजेंट के रूप में काम करता है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक के कार्यालय नहीं हैं पर इम्पीरियल बक के कार्यालय हैं वहां इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेंट की हैसियत से सरकारी राशि जमा करता तथा सरकारी लेखे पर लेनदेन करता है। इस काम में बक को रिजर्व बैंक से कमीशन मिलता है। कमीशन दोनों बैंकों के समझौते में तय कर लिया गया है।

१९३४ में जब रिजर्व बैंक की स्थापना हुई तो प्रश्न उठाया गया कि इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक क्यों न बना दिया जाय पर उस समय इसे कई कारणों से केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया गया--(१) यह बैंक व्यापारिक बैंकिंग व्यवसाय भी करता था। अतः यदि इसे केन्द्रीय बैंक बनाया जाता तो इसका व्यापारिक बैंकिंग व्यवसाय इससे हटाना पड़ता पर इस समय देश में यही एक संगठित बैंक था और इसका व्यापारिक व्यवसाय तोड़ना हितकर न था। (२) इसे केन्द्रीय बैंक बनाने से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पहिले इसके लाभांश-वितरण का नियंत्रण करना आवश्यक था पर इस बात के लिए बैंक के अंशधारी तैयार नहीं थे। (३) बैंक ने १९३५ तक अपने १४ वर्षों के जीवनकाल में केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने का दायित्व नहीं निभाया। (४) बैंक व्यापारिक बैंकों का बैंक बनना तो दूर रहा, उनसे प्रतियोगिता करता रहा। (५) इम्पीरियल बैंक का स्वामित्व तथा संचालन विदेशी हाथों में था अतः वह केन्द्रीय बैंक बनने के योग्य नहीं समझा गया।

बैंक की क्रियाएं—(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित तथा अन्य स्थानीय सरकारों के ऋणपत्रों पर, कम्पनियों के ऋणपत्रों पर, माल अथवा माल के अधिकार-पत्रों पर राशि उधार देना ; (२) ऋणपत्र तथा अन्य सिक्यूरिटियां बेचना ; (३) सामयिक कृषिकार्यों को राशि उधार देना; (४) विनिमय-बिल लिखना, क्रय-विक्रय करना, स्वीकारना, कटौती करना, तथा उनकी साख पर ऋण देना; (५) सम्पत्ति पर राशि उधार देना; (६) सोने-चांदी का क्रय-विक्रय करना तथा उन्हें सुरक्षित रखना ; (७) अधिकार में आई हुई चल और अचल सम्पत्ति बेचना; (८) लोगों से राशि जमा करना ; (९) साख-पत्र निर्गमित करना; (१०) अन्य बैंकिंग क्रियाएं करना।

बैंक के निषिद्ध कार्य—(१) कृषि को छोड़ अन्य कामों के लिए ६ माह से अधिक अवधि के लिए राशि उधार न देना; (२) व्यक्तिगत साख पर कटौती न करना; (३) ट्रस्टी सिक्यूरिटियों को छोड़ अन्य सिक्यूरिटियों की कटौती न करना; (४) रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना कोई नई शाखा न खोलना।

बैंक के विरुद्ध आक्षेप—(१) बैंक की पूंजी विदेशी है तथा प्रबन्ध भी अभारतीय है; (२) बैंक के ऊंचे पदाधिकारी भी अभारतीय हैं; (३) बैंक भारतीय व्यापारियों के साथ सौतेला व्यवहार करता है; (४) बैंक व्यक्ति-साख पर राशि उधार नहीं देता; (५) बैंक रिजर्व बैंक का एजेंट होने के कारण विशेषाधिकार रखता है और फिर अन्य बैंकों के साथ प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्द्धा करता है। इन आक्षेपों के कारण बार-बार बैंक के राष्ट्रीयकरण की आवाज लगाई जाती है। अनेक बार भारतीय संसद में इस बात की मांग की गई कि इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय, पर भारत सरकार ऐसा करने को तैयार नहीं है। अतः इस प्रश्न को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया है।

बैंक को भविष्य में अधिक संगठित एवं उपयोगी बनाने के लिए ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने जो सिफारिशें कीं वे इस प्रकार हैं—(१) सरकार बैंक के प्रबन्ध-संचालन में और अधिक व्यापक नियंत्रण रक्खे; (२) बैंक पर भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ की धारा १२ लागू की जाय ; (३) बैंक के कर्मचारियों का भारतीयकरण हो; (४) बैंक राशि के स्थानान्तरण में जो शुल्क लेता है वह कम करे; (५) बैंक अपनी शाखाएं बढ़ावे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न .

(१) इम्पीरियल बैंक का जन्म किन उद्देश्यों को लेकर किया गया था ? क्या उसने उन उद्देश्यों को पूर्ति की ? इस बैंक को देश का केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया ?

(२) इम्पीरियल बैंक के वर्तमान विधान एवं क्रियाओं का सविस्तार उल्लेख कीजिए। इसकी निषिद्ध क्रियाएं कौन कौन सी हैं ?

(३) इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैंक से क्या संबंध है ? दोनों बैंकों के वर्तमान समझौते की शर्तों का उल्लेख कीजिए।

(४) इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध जो आक्षेप लगाए जाते हैं उनका क्रमशः सविस्तार वर्णन कीजिए । उन आक्षेपों में जो तथ्य है उस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(५) भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में इम्पीरियल बैंक का क्या स्थान है ? उसके उस विशेष स्थान से देश के अन्य बैंकों पर क्या प्रभाव हुआ है ?

(६) इम्पीरियल बैंक ने भारतीय बैंकिंग कलेवर को क्या देन दी है ? क्या उसने उन सब आशाओं को पूर्ण किया है जिनको लेकर वह बैंक बनाया गया था ?

(७) ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने इम्पीरियल बैंक के भविष्य के विषय में जो सुझाव दिए उनका सविस्तार वर्णन कीजिए।

(८) इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में अपने तर्क देते हुए एक छोटा सा नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३८

अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं

आधुनिक बैंकों तथा स्वदेशी बैंकरों के अतिरिक्त, जिनका वर्णन पिछले अध्यायों में किया गया है, देश में कुछ ऐसी संस्थाएं भी हैं जिनका काम या तो केवल राशि जमा करना है अथवा राशि उधार देना है। इन संस्थाओं को अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं कहा जाता है। ये संस्थाएं लोगों की बचत के सुरक्षित साधन हैं अथवा उनकी वित्त-सहायता के स्रोत हैं। ऐसी संस्थाएं विशेषतः डाकखानों के बचत बैंक, बंगाल के ऋण-कार्यालय तथा मद्रास के चिट-कोषागार हैं।

डाकखाने के बचत-बैंक—देश की मुद्रामंडी में डाकखाने के बचत-लेखों का एक विशेष स्थान है क्योंकि देश की कुछ जनता को यहां पर भी बैंकिंग सम्बन्धी कुछ सुविधाएं मिलती हैं। डाकखाने का यह विभाग लोगों से बचत-लेखे पर राशि जमा करता है तथा राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं भी देता है, पोस्टल सार्टीफिकेट बेचकर विनियोग की सुविधाएं देता है तथा पोस्टल आर्डर द्वारा राशि एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की व्यवस्था करता है। डाकखाने के बचत बैंक सबसे पहिले १८७० में स्थापित हुए थे, परन्तु शनैः शनैः इनका प्रसार होता गया और आज ये लगभग सारे देश में पाए जाते हैं। डाकखानों के सभी प्रधान कार्यालयों तथा अन्य बड़ी बड़ी शाखाओं पर बचत-बैंक का लेन देन किया जाता है। इनका मुख्य उद्देश्य मध्यम तथा निम्न श्रेणियों के लोगों को अपनी आय में से बचत करके राशि सुरक्षित रखने की सुविधाएं देना है। कृषकों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने इन बैंकों का विशेष उपयोग नहीं किया है। जमा करनेवाले इन लेखों में राशि जमा करते हैं जिसके बदले में उन्हें पास बुक दी जाती है जिसमें राशि का विवरण लिखा होता है। ये बैंक पास बुक के द्वारा ही लोगों को राशि जमा करने तथा राशि निकालने की सुविधाएं देते हैं। इनमें अन्य बैंकों की भांति चेकों का प्रयोग नहीं होता। जमा-राशि पर जमाकर्त्ताओं को सामान्य दर पर ब्याज भी दिया जाता है। इस प्रकार यह विभाग अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा जनता में बचत एवं विनियोग की प्रवृत्ति का सृजन करते हैं तथा इस प्रकार ये सरकारी कर्मचारियों में अधिक लोकप्रिय हैं।

उन स्थानों पर जहां व्यापारिक बैंकों की शाखाएं नहीं हैं, इन विभागों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन बैंकों में ब्याज-दर व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा थोड़ी अधिक होती है। २०० रुपये से कम राशि पर १½% ब्याज-दर होती है तथा इससे अधिक राशि पर २% की दर से ब्याज दिया जाता है। सम्मिलित लेखों पर ब्याज-दर १½% होती है। डाकखानों के बचत-बैंकों की ब्याज-दर इस प्रकार रही हैं:—

१८७०–७९	..	३$\frac{3}{4}$ प्रतिशत
१८७९–८०	..	४$\frac{1}{2}$,,
१८८०–९४	..	३$\frac{3}{4}$,,
१८९४–१९०५	..	३$\frac{1}{2}$,,
१९०५–३३	..	३ ,,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९३३–३६	..	२½ प्रतिशत
१९३६–३८	..	२ ,,
१९३८–४३	..	१½ ,,
१९४३–..	..	२०० रुपये से कम राशिपर १½% और उससे अधिक राशि पर २%

सरकारी एजेंसी होने के कारण डाकखाने की बचत-बैंकों में जनता का पूरा विश्वास होता है और इसलिए वह उनमें राशि जमा करना सुरक्षित समझती है। मार्च १९४९ में कुल मिलाकर २६,७६० डाकखाने थे जिनमें से ९४६५ डाकखानों में बचत-बैंकों का लेन-देन होता था।* निम्न तालिका से ज्ञात होगा कि डाकखानों के बचत-बैंक अधिकांश संख्या में मद्रास, बंबई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के क्षेत्रों में स्थित हैं।

स्थाई डाकखानों की संख्या (३१ मार्च १९४८)

क्षेत्र	प्रधान कार्यालय	सहायक कार्यालय	शाखाएं	योग	बचत-बैंकों का लेनदेन करनेवाले डाकखानों की संख्या
आसाम	८	१६०	२६८	४३६	२१०
बिहार	१७	४३८	११२५	१५८०	६९१
बंबई	२४	७६९	३०४१	३८३४	२०३३
मध्य प्रदेश	२१	४६१	१७०९	२१९१	१०७१
मद्रास	३८	१०८२	४१६५	५२८५	२८४०
उड़ीसा	५	११२	४२३	५४०	१९३
पंजाब	१३	३०४	१६६१	१९७८	४४०
दिल्ली	१	३०	..	३१	—
उत्तर प्रदेश	४५	८७५	१९४०	२८६०	१०९१
पश्चिमी बंगाल	१६	३९८	१०९१	१५०५	८८१
योग	१८८	४६२९	१५४२३	२०२४०	९४५०

३१ मार्च १९४९ को कुल मिलाकर २६,७६० डाकखाने थे जिनमें से २२,०४४ ग्राम्य क्षेत्रों में स्थित थे। डाकखानों में बचत-बैंक का विभाग खोलने में सरकार की नीति प्रायः यह रही है कि किसी भी डाकखाने में, जहां कम से कम १२ लेखे खुल जायं वहीं बचत बैंक विभाग स्थायी रूप से बना दिया जाय। ३१ मार्च १९४९ को डाकखानों की बचत-बैंकों की संख्या ९४६५ थी जिनमें से ६४०१ ग्राम्य क्षेत्रों में स्थित थे।

*ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की रिपोर्ट से प्राप्त।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्राम्य क्षेत्रों में बचत-बैंकों का प्रबन्ध प्रायः ऐसे गांवों में था जिनकी जनसंख्या २००० या इससे अधिक थी। ग्रामीण डाकखानों की बचत-बैंकों की संख्या और उनकी प्रगति का आभास निम्न तालिका से मिलता है :—

	१९४३	१९४९	बढ़ोत्तरी
बचत-बैंकों सहित ग्रामीण डाकखानों की संख्या ..	५,५१२	६,४०१	८८९
उक्त डाकखानों में लेखों की संख्या ..	७,२१,४६२	११,९६,४३४	४,७४,९७२
उक्त लेखों में जमा शेष राशि की मात्रा ..	१७,७१,११,५५०	६३,१४,३८,७७८	४५,४३,२७,२२
प्रति लेखे के पीछे औसत जमा-राशि ..	२४५	५२८	२८३

उक्त आंकड़ों से पता लगता है कि डाकखानों के बचत-बैंकों की प्रगति बड़ी उत्साहवर्द्धक एवं सन्तोषप्रद रही है। यदि थोड़ा भी प्रयत्न और किया जाय तो डाकखानों की ये अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं देशवासियों की बचत जमा करके अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। डाकखानों के बचत-बैंकों की प्रगति इस प्रकार रही है *—

(लाख रुपयों में)

वर्ष	जमा-राशि	ब्याज	वर्ष के अन्त में देय-राशि (Outstanding Amount)
१९३८–३९	४४,६१	१,४२	८१,८८
१९४५–४६	७४,४२	१,७०	१,१५,०४
१९४६–४७	८९,४५	२,२३	१,४२,३५
१९४७–४८			
१ अप्रैल से १४ अगस्त	३७,६८	१,००	१,४६,८२
१५ अगस्त से ३१ मार्च	४५,७९	१,२२	१०,१२
१९४८–४९	८३,२६	२,४१	२९,९१
१९४९–५०	८६,०१	२,९५	४५,०९
१९५०–५१	९७,८०	३,२७	६१,३६
१९५१–५२	१,०३,९८	३,५७	७४,१८
१९५२–५३	१,०९,१८	८	८८,३०

*रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया द्वारा करेंसी तथा फायनेंस पर प्रकाशित वार्षिक रिपोर्ट—१९५२-५३ पृ० १७६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इन अंकों से ज्ञात होता है कि डाकखानों की बचत-बैंकों ने युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् भी कितनी उन्नति की। युद्धकाल में तो डाकखानों में डिफेंस सेविंग्ज लेखों में भी राशि जमा की जाती थी। इन लेखों में जमा-राशि की प्रगति इस प्रकार रही :—

वर्ष	ब्याज सहित जमा-राशि*	लेखों में से निकाली गई राशि	वर्ष के अन्त में देय राशि
१९४५–४६	१,९९	२	१०,५०
१९४६–४७	४९	६	१०,९३
१९४७–४८			
१ अप्रैल से १४ अगस्त	..	४,९१	६,०२
१५ अगस्त से ३१ मार्च	..	३,१६	–३,१६†
१९४८–४९	..	९१	–४,०७†
१९४९–५०	..	३९	–४,४६†
१९५०–५१	..	१७	–४,६३†
१९५१–५२	..	७	–४,७०†
१९५२–५३	..	४	–४,७४†

डाकखाने के बचत-बैंकों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बैंकिंग जांच कमेटियों ने विचार किया था तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के कुछ सदस्यों ने भी अपने सुझाव दिए थे। ये सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) डाकखाने के बचत-बैंकों की संख्या सरकार को बढ़ानी चाहिए। इस कार्य में गांव के अध्यापकों की सहायता ली जा सकती है।

(२) एक बचत-बैंक से दूसरे बचत-बैंक को राशि भिजवाने तथा लेखा बदलवाने की सुविधा सरलतापूर्वक दी जानी चाहिए।

(३) लेन-देन का हिसाब-किताब प्रादेशिक भाषा में होना चाहिए जिससे प्रत्येक सामान्य व्यक्ति उसे सरलतापूर्वक समझ सके। शाम के समय

*१ जुलाई १९४६ से इन लेखों में राशि जमा करना बन्द कर दिया गया था।

†१५ अगस्त १९४७ के पश्चात् से इन लेखों में से प्रतिवर्ष राशि निकाली ही जाती रही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी इन बैंकों को खोलने की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे लोग सारे दिन नौकरी पर रहने के बाद शाम को इनसे लेन-देन कर सकें।

(४) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के सदस्य श्री मनु सूबेदार ने सुझाव दिया था कि सप्ताह में एक से अधिक बार भी राशि निकालने की सुविधा मिलनी चाहिए तथा लेखा खोलते समय प्रारम्भिक जमा-राशि की मात्रा कम होनी चाहिए।

(५) बचत की आदत को प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज की दर बढ़ानी चाहिए जिससे जनता इनमें राशि जमा करने को आकर्षित हो।

बचत-लेखे की सुविधा के अतिरिक्त डाकखाना सेविंग्ज सार्टीफिकेट भी बेचता है। लोग इन सार्टीफिकेटों को खरीदकर अपनी बचत राशि का विनियोग करते हैं। गत महायुद्ध काल में डाकखाने ने इस प्रकार के सार्टीफिकेट बहुत अधिक मात्रा में बेचे। डाकखाना लोगों को सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदने-बेचने का काम भी करता है।

डाकखाने की बीमा योजना

डाकखाने का विभाग सरकारी कर्मचारियों को, जिनकी आय बहुत कम होती है, जीवन-बीमा की सुविधाएं भी देता है। डाकखाने के द्वारा आजीवन बीमा व एन्डाऊमेंट बीमा भी कराया जा सकता है। बीमा कम से कम १०० रुपये तथा अधिक से अधिक २०,००० रुपये तक का कराया जा सकता है। कोई भी कर्मचारी २०,००० रुपये तक की राशि के लिए आजीवन तथा एन्डाऊमेंट, दोनों प्रकार के बीमा करा सकता है। बीमा कराते समय बीमा करानेवाले के विषय में डाकखाने का विभाग पूरी पूरी जांच-पड़ताल कर लेता है। प्रव्याजि की प्रथम राशि नकद देनी होती है तथा फिर प्रव्याजि की राशि बीमा करानेवाले के मासिक वेतन में से कटती रहती है और डाकखाने में जमा होती रहती है। डाकखाने के द्वारा बीमा कराने की इस योजना को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से सरकार ने प्रयोगस्वरूप १ सितम्बर १९४९ से दो वर्षों तक सुविधा दी थी कि बीमा करानेवालों को उनके बीमा-लेखों के प्रदत्त मूल्य के ९०% तक उन्हें ऋण मिल सकता था। इससे यह योजना सरकारी कर्मचारियों में बहुत लोकप्रिय बन गई। डाकखाने में इस काम को करने के लिए एजेंटों तथा अन्य मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं होती इसलिए इनका व्यय कम होता है और ये इन्श्योरेंस कम्पनियों की अपेक्षा कम प्रव्याजि-दर पर बीमा कर लेते हैं। १९४९-५० में कोई ७४३९ बीमा कराए गए जिनमें २.२ करोड़ रुपयों की राशि का बीमा किया गया। इनमें से ११ लाख

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रुपये के ४०२ बीमा आजीवन बीमा थे तथा शेष राशि के ७,०३७ बीमा एन्डाऊमेंट बीमा थे। ३१ मार्च १९५० को कुल मिलाकर २०.६ करोड़ रुपये के ९५,५१८ बीमा निर्गमित थे। ऋण योजना के अन्तर्गत, जो १ सितम्बर १९४९ से आरम्भ की गई थी, १९४९-५० में ५६६ बीमा करानेवालों को ३,४०,००० रुपये अग्रिम रूप में दिए गए थे। १९४९-५० में डाकखाने के इस विभाग को ७० लाख रुपये प्रव्याजि के रूप में मिले। बीमा कोष की स्थिति इस प्रकार थी :—

३१ मार्च १९३९	..	११.८ करोड़ रुपये
३१ मार्च १९४९	..	११.७ ,,
३१ मार्च १९५०	..	८.५ ,,

इस कोष में से कुल मिलाकर कोई १ करोड़ रुपये का भुगतान किया गया।*

उक्त क्रियाओं के अतिरिक्त डाकखाना कम बचतवाले लोगों को विनियोग की सुविधाएं भी देता रहा है। सार्टीफिकेट आदि बौण्ड बेचकर वह जनता में विनियोग का प्रचार करता है। डाकखाने द्वारा निर्गमित सार्टीफिकेट तथा बौण्ड इस प्रकार हैं :—

(१) पंचवर्षीय कैश सार्टीफिकेट जो प्रथम युद्धकाल में चलाए गए और जून १९४७ में बन्द कर दिए गए।

(२) दसवर्षीय डिफेंस सेविंग्ज सार्टीफिकेट जो १९४० में चलाए गए और अक्टूबर १९४३ में बन्द कर दिए गए।

(३) नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट जो अक्टूबर १९४३ से चल रहे हैं।

नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट—सर्वप्रथम अक्टूबर १९४३ में नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट १२ वर्ष की अवधि के चलाए गए थे परन्तु इन्हें अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए १९४८ में ५ वर्ष तथा ७ वर्ष की अवधिवाले सार्टीफिकेट भी चला दिए गये। १२-वर्षीय सार्टीफिकेट ४$\frac{1}{2}$ प्रतिशत सामान्य ब्याज-दर पर ५, १०, ५०, १००, ५००, १००० तथा ५००० रुपये के मूल्य के चलाए जाते हैं। ५-वर्षीय सार्टीफिकेट ५, १०, १००, १००० तथा ५००० रुपये के चलते हैं और इन पर ३% ब्याज मिलता है। इसी प्रकार सातवर्षीय सार्टीफिकेट पर ३$\frac{1}{2}$% ब्याज दिया जाता है। कोई भी एक व्यक्ति २५,००० रुपये से अधिक मूल्य के सार्टीफिकेट नहीं खरीद सकता जिसमें ५ रुपये वाले सार्टीफिकेट १२५ रुपये से अधिक राशि के नहीं खरीद सकता। कर्मचारियों के प्राविडेंट फंड की राशि कितनी ही मात्रा में इन सार्टीफिकेटों को खरीदकर विनियोग की जा सकती है। पंचवर्षीय और सातवर्षीय सार्टीफिकेटों को कभी भी भुनाया जा सकता

* Reserve Bank of India Bulletin—December, 1951.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है परन्तु १२-वर्षीय सार्टीफिकेटों को, जो जून १९४७ के पश्चात् खरीदे गए हों, एक वर्ष के पश्चात् ही भुनाया जा सकता है। सार्टीफिकेट लेनेवाला व्यक्ति इनको एक डाकखाने से दूसरे डाकखाने पर स्थानान्तरित करवा सकता है। ये सार्टीफिकेट नाबालिग के नाम से भी खरीदे जा सकते हैं।

ट्रेजरी सेविंग्ज डिपोजिट सार्टीफिकेट—फर्वरी १९५१ से सरकार ने ये सार्टीफिकेट और चलाए हैं जिन पर ३½% ब्याज दिया जाता है। इन्हें खरीदने के लिए राशि रिजर्व बैंक में, इम्पीरियल बैंक में अथवा सरकारी खजाने में जमा करनी होती है। इन पर जो ब्याज मिलता है वह प्रति वर्ष चुकता किया जाता है। इन सार्टीफिकेटों को हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता परन्तु लेने के एक वर्ष के पश्चात् कटौती देकर इन्हें भुनाया जा सकता है। इन सार्टीफिकेटों में कोई भी एक व्यक्ति २५,००० रुपये, दान संस्था १,००,००० रुपये तथा अन्य प्रकार की संस्थाएं ५०,००० रुपये तक विनियोग कर सकती हैं। जनता में इनका बड़ा प्रचार हुआ है और ३१ अक्टबर १९५१ को १५ करोड़ रुपये के सार्टीफिकेट बिके हुए थे।

डाकखानों द्वारा बेचे जानेवाले विभिन्न सार्टीफिकटों की बिक्री का ब्यौरा इस प्रकार रहा है :—

नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेटों का ब्यौरा (लाखों में)

वर्ष	प्राप्त राशि	भुगतान राशि	शुद्ध प्राप्ति	वर्ष के अंत में देय राशि
१९४५–४६†	२३,२१	१०	२३,११	५१,३०
१९४६–४७†	२१,७६	२,४४	१९,३२	७०,६२
१९४७–४८†				
१ अप्रैल से १४ अगस्त†	७,१८	२,८२	४,३६	७४,९८
१५ अगस्त से ३१ मार्च	१३,२२	४,०१	९,२१	९,२१
१९४८–४९	२२,७०	६,८५	१५,८५	२५,०६
१९४९–५०	२३,७९	८,२६	१५,५३	४०,५९
१९५०–५१	२३,७१	६,३७	१७,३४	५७,९३
१९५१–५२	२४,६०	६,७३	१७,८७	७५,८०
१९५२–५३	२५,९०	७,४३	१८,४७	९४,२७

†इनमें हैदराबाद सरकार के नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट भी सम्मिलित हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

डाकखाने के कैश सार्टीफिकेटों का ब्यौरा* (लाखों में)

वर्ष	प्राप्त राशि	भुगतान राशि	शुद्ध प्राप्ति	वर्ष के अंत में देय राशि
१९३८–३९	१४,७१	१५,३५	–६४	५९,५७
१९४५–४६	६,६७	३,७२	२,९५	३८,७६
१९४६–४७	४,९७	४,५१	४६	३९,२२
१९४७–४८				
१ अप्रैल से १४ अगस्त	१,०६	२,५९	–१,५३	३७,६९
१५ अगस्त से ३१ मार्च	..	३,०७	–३,०७	–३,०७†
१९४८–४९	..	४,४२	–४,४२	–७,४९†
१९४९–५०	..	३,८८	–३,८७	–११,३६†
१९५०–५१	..	४,५४	–४,५४	–१५,९०†
१९५१–५२	..	४,३९	–४,३९	–२०,२९†
१९५२–५३	..	२,८९	–२,८९	–२३,१८†

*इनको १६ जून १९४७ से बेचना बन्द कर दिया गया।

†१५ अगस्त १९४७ के बाद के अंक केवल भुगतान ही भुगतान प्रदर्शित करते हैं।

डाकखाने के डिफेंस सेविंग्ज सार्टीफिकेटों का ब्यौरा* (लाखों में)

वर्ष	प्राप्त राशि	भुगतान राशि	शुद्ध प्राप्ति	वर्ष के अंत में देय राशि
१९४५–४६	..	५०	–५०	५,९२
१९४६–४७	..	७४	–७४	५,१८
१९४७–४८	..			
१ अप्रैल से १४ अगस्त	..	३९	–३९	४,७९
१५ अगस्त से ३१ मार्च	..	३९	–४०	–४०†
१९४८–४९	..	३५	–३५	–७५†
१९४९–५०	..	२७	–२७	–१,०२†
१९५०–५१	..	७७	–७७	–१,७९†
१९५१–५२	..	७७	–७७	–२,५६†
१९५२–५३	..	५५	–५५	–३,११†

*१ अक्टूबर १९५३ से इनके स्थान पर १२-वर्षीय नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट बिकने लगे हैं।

†१५ अगस्त १९४७ से बाद के अंक केवल भुगतान ही भुगतान प्रदर्शित करते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दसवर्षीय ट्रेजरी सेविंग्ज डिपोजिट सार्टीफिकेटों का ब्यौरा* (लाखों में)

वर्ष	प्राप्त राशि	भुगतान राशि	शुद्ध प्राप्ति	वर्ष के अंत में देय राशि
१९५०–५१	५,३१	—	५,३१	५,३१
१९५१–५२	१३,१०	२	१३,०८	१८,३९
१९५२–५३	७,५५	३०	७,२५	२५,६४

*ये सार्टीफिकेट १ अक्टूबर १९५१ से आरम्भ किए गए हैं ।

उक्त आंकड़े रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित वार्षिक रिपोर्ट में से तैयार किए गए हैं ।†

ऋण-कार्यालय

बंगाल में ऋण-कार्यालयों का विशेष स्थान है। इन कार्यालयों को भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड करना होता है। कार्यालयों का प्रबन्ध अधिकतर बंगालियों के हाथ में है। सबसे पहिला ऋण-कार्यालय १८६५ में स्थापित किया गया था। ऋण-कार्यालय लोगों से राशि जमा करते हैं और सारा कार्य इनकी जमा-राशि पर अवलम्बित होता है । कुछ कार्यालय तो ऐसे हैं जो जमा-राशि लेने के लिए अपने अपने एजेंट रखते हैं जो जनता को प्रोत्साहन देकर राशि लाकर इनमें जमा करते हैं। कार्यालय जमीदारों तथा कृषकों के लिए भूमि को बन्धक रखकर, आभूषणों को बन्धक रखकर तथा व्यक्तिगत साख पर भी राशि उधार देते हैं। व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं के लिए ये बहुत कम उधार देते हैं, प्रायः कृषि को अथवा उपभोग को ही उधार देते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इनके विषय में निम्न सिफारिशें की हैं‡ :—

(१) बड़े बड़े तथा संगठित कार्यालयों को, जो व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएं करते हों, किसी बैंकिंग कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत ले आना चाहिए तथा छोटे छोटे कार्यालयों के लिए एक 'बंगाल ऋण-कार्यालय एक्ट' बनाना चाहिए ।

(२) नये बननेवाले कार्यालयों को परिदत्त पूंजी २५,०००) तथा प्रार्थित

†रिजर्व बैंक ऑव इंडिया द्वारा करेंसी तथा फायनेंस पर प्रकाशित वार्षिक रिपोर्ट १९५२–५३ पृ० १७५

‡केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी रिपोर्ट पृ० १९५–१९८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूंजी ५०,०००) रखनी चाहिए। प्रार्थित पूंजी अधिकृत पूंजी का कमसे कम $\frac{1}{5}$ भाग होना चाहिए। जिन कार्यालयों के पास इससे कम पूंजी हो उनको सरकारी कोष में २५,०००) तथा अपनी परिदत्त पूंजी का अन्तर जमा करना चाहिए।

(३) ऋण-कार्यालयों को अपने ही अंशों की जमानत पर रुपया उधार नहीं देना चाहिए।

(४) उनको स्थिति-विवरण में विस्तारपूर्वक लेखा-विवरण देना चाहिए तथा उनका निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण कराना चाहिए।

(५) इनकी देखभाल करने के लिए बंगाल सरकार को एक अफसर नियुक्त करना चाहिए।

(६) इनको लाभ का १०% संचित कोष में रखना चाहिए और इस कोष को डाकखाने की बचत-बैंक में जमा करना चाहिए।

श्री एन० आर० सरकार ने एक सुझाव रक्खा कि इन कार्यालयों को व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएं अपने हाथ में ले लेनी चाहिए तथा सरकार को इनकी सहायता के लिए एक कॉरपोरेशन स्थापित करना चाहिए जो कार्यालयों की सम्पत्ति की साख पर उन्हें ऋण देकर सहायता करे। परन्तु सरकार ने अभी किसी भी सिफारिश को कार्यान्वित नहीं किया है।

निधियां तथा चिट-कोषागार

मद्रास प्रान्त में विशेष प्रकार की अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं 'निधियां' हैं। ये सब भारतीय कम्पनी एक्ट में रजिस्टर्ड हैं। ये संस्थाएं जनता से राशि जमा रखती हैं। बहुत सी ऐसी संस्थाओं ने तो अंश-पूंजी भी बना रखी है जो प्रत्येक माह किश्तों में जमा करनी होती है तथा जिसको अंशधारी निकाल भी सकते हैं। इनका उद्देश्य बचत प्रोत्साहित करना, सदस्यों को पुराने ऋणों से मुक्त कराना तथा जमानत और साख पर राशि उधार देना है। अगर इनके पास अधिक रुपया हो तो ये अन्य लोगों को भी, जो इनके सदस्य नहीं होते, ऋण देती हैं। इनकी व्याज-दर साधारण होती है। परन्तु कोई सदस्य या अन्य व्यक्ति अवधि के अन्दर अन्दर ऋण का भुगतान न करे तो उससे अधिक ब्याज वसूल किया जाता है। मद्रास बैंकिंग कमेटी की रिपोर्ट से पता लगता है कि कुछ ऐसी संस्थाओं का प्रबन्ध बहुत ठीक है परन्तु कुछ का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं।

चिट-कोषागार ऐसी छोटी छोटी संस्थाएं हैं जिनका मुख्य उद्देश्य सदस्यों को बचत करना सिखाना है। ये सस्थाएं केवल सदस्यों को ही रुपया उधार देती हैं तथा सदस्यों की हीं राशि जमा रखती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इन संस्थाओं के विषय में भी विचार किया तथा निम्न सिफारिशें कीं* :—

(१) वे निधियां जो बैंकिंग क्रियाएं करती हों तथा उन्हें भली प्रकार समझती भी हों बैंकिंग कम्पनी एक्ट में रजिस्टर्ड हो जानी चाहिएं जिससे बैंकिंग व्यवस्था संगठित हो।

(२) अन्य छोटी छोटी संस्थाओं के लिए 'निधि तथा कोषागार' एक्ट बनाना चाहिए। इस एक्ट में केवल वे ही निधियां तथा कोषागार रजिस्टर्ड होने चाहिएं जो अपने मुख्य कार्य के अतिरिक्त अन्य व्यापार न करें, जो लेन-देन का पूरा पूरा हिसाब रक्खें और निरीक्षकों द्वारा उनका निरीक्षण करावें। कोषागारों के प्रवर्त्तकों को अनुज्ञा-पत्र मिलने चाहिएं—परन्तु ये अनुज्ञा-पत्र केवल उन्हीं लोगों को दिए जाने चाहिएं जो इस कार्य की उचित योग्यता रखते हों।

उक्त बैंकिंग संस्थाओं के अतिरिक्त और भी ऐसी संस्थाएं हैं जो बैंकिंग क्रियाओं से मिलता-जुलता कार्य करती हैं और जिनमें जनता की राशि जमा रहती है, जैसे इन्श्योरेंस कम्पनियां। ऐसी कम्पनियों का हमारे देश में काफी प्रचार हो चला है। एक प्रकार से सरकारी खजाने भी कृषकों को तकावी ऋण देकर राशि उधार देने का काम करते हैं।

सारांश

सहकारी बैंकों, स्वदेशी बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त देश में ऐसी संस्थाएं भी काम करती हैं जिनका काम लोगों से राशि जमा करना तथा उन्हें ऋण देना होता है। इन संस्थाओं को 'अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं' कहा जा सकता है। इनमें डाकखाने के बचत-बैंक, बंगाल के ऋण-कार्यालय तथा मद्रास की निधियां एवं चिट-कोषागार उल्लेखनीय हैं। डाकखाने के बचत बैंकों में लोगों की राशि जमा रहती है। सरकारी एजेंसी होने के कारण लोगों को इनमें विश्वास होता है तथा वे इनमें अपनी राशि जमा करना सुरक्षित समझते हैं। जमाकर्त्ता अपनी राशि जमा करके बदले में पासबुक प्राप्त करते हैं जिसके द्वारा राशि निकाली भी जा सकती है। जमा-राशि पर जमाकर्त्ताओं को साधारण ब्याज भी मिलता है। यहां से राशि सप्ताह में केवल एक बार ही निकाली जा सकती है। ये बैंक मध्यम श्रेणी के लोगों में, विशेषतः सरकारी कर्मचारियों में, अधिक लोकप्रिय हैं। इन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए बैंकिंग जांच कमेटियों ने इस प्रकार सुझाव दिए थे—(१) इनकी संख्या बढ़ाई जाय, (२) इनमें राशि के स्थानान्तरण की सुविधाएं

*केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी रिपोर्ट पृ० १९८–२००

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी दी जायं, (३) लेन-देन का हिसाब-किताब प्रादेशिक भाषाओं में किया जाय, (४) ब्याज-दर बढ़ाई जाय, (५) सप्ताह में एक से अधिक बार राशि निकालने की सुविधा भी दी जाय। डाकखानों के बचत-बैंक अधिकतर बंबई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के क्षेत्रों में स्थित हैं। डाकखाने सरकारी कर्मचारियों के लिए जीवन-बीमा करने का काम भी करते हैं।

बंगाल के ऋण-कार्यालय भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होते हैं। ये कार्यालय लोगों से राशि जमा करते तथा कृषकों व अन्य लोगों को भूमि की बन्धक पर तथा आभूषणों की जमानत पर ऋण देते हैं। ऋण प्रायः उपभोग के लिए दिए जाते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इन कार्यालयों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए थे।

मद्रास प्रान्त में निधियां तथा चिट-कोषागार नाम की अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं पाई जाती हैं। निधियां भारतीय कम्पनी एक्ट में रजिस्टर्ड होती हैं। ये निधियां लोगों से राशि जमा करतीं तथा उन्हें ऋण भी देती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य लोगों में बचत प्रोत्साहित करना है। चिट-कोषागारों में केवल सदस्यों की राशि ही जमा होती है और उन्हें ही ऋण दिया जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी के सामने इनका प्रश्न भी आया था और उसने इनके सुधार के भी कुछ उपाय सामने रक्खे थे।

परीक्षा-प्रश्न

(१) हमारे देश में अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं कौन-कौन सी हैं? इनकी क्रियाओं का वर्णन कीजिए।

(२) डाकखाने के बचत-बैंकों की कार्यप्रणाली का वर्णन करते हुए उनके विकास एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालिए। उनको किस प्रकार और उपयोगी बनाया जा सकता है?

(३) बंगाल के ऋण-कार्यालय किन उद्देश्यों को लेकर जन्मे हैं? उनको किस प्रकार अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है?

(४) मद्रास प्रान्त में पाई जानेवाली अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाओं—निधियों तथा चिट-कोषागारों—की कार्यशैली समझाइए।

(५) निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए—

(१) पोस्टल कैश सार्टीफिकेट
(२) राष्ट्रीय सेविंग्ज सार्टीफिकेट
(३) पास-बुक
(४) चिट-कोषागार।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ३९

भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९

देश के बैंकिंग क्षेत्र में बैंकिंग कम्पनी कानून की आवश्यकता आरम्भ से ही अनुभव की जा रही थी क्योंकि देश की बैंकिंग व्यवस्था को समुचित एवं सुव्यवस्थित रीति से संचालित करने के लिए कोई स्वतंत्र कानून न था। १९३०-३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इस बात की सिफारिश की थी कि देश में बैंकिंग कानून होना चाहिए। पर उस समय सरकार ने कोई स्वतंत्र कानून न बनाकर १९३६ में भारतीय कम्पनी कानून (१९१३) में ही कुछ ऐसी धाराएं जोड़ दीं जो बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्ध रखती थीं। १९३६ के पश्चात् अनेक ऐसे अवसर आए जब कि रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने भारत सरकार का ध्यान बैंकिंग कानून बनाने की ओर आकर्षित किया पर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने से सरकार कोई ठोस कदम न उठा सकी। १९४५ में एक बार बैंकिंग कम्पनी बिल विधान सभा के सम्मुख लाया गया पर तत्कालीन विधान सभा का विलयन हो जाने के कारण उस पर कोई विचार नहीं किया जा सका। १९४६ में फिर बैंकिंग कम्पनी बिल धारा सभा के सामने लाया गया पर वह जनवरी १९४८ में वापस ले लिया गया। इसके पश्चात् २२ मार्च १९४८ को एक बैंकिंग कम्पनी बिल धारा सभा के सामने पेश किया गया जो १७ फरवरी १९४९ को पास होकर १६ मार्च १९४९ से 'भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून' के नाम से कार्यान्वित किया गया। इस कानून में कुल मिलाकर ५६ धाराएं हैं जो देश की बैंकिंग कम्पनियों को भिन्न भिन्न प्रकार से संचालित करती हैं। इस कानून के द्वारा बैंकों में राशि जमा करनेवालों की बैंकों की बेईमानी तथा लापरवाही से होनेवाली हानि से रक्षा होगी तथा बैंकिंग संकट से पूंजी नष्ट होने का भय भी नहीं रहेगा।

यह कानून सरकारी बैंकों को छोड़ भारत-स्थित सभी बैंकिंग कम्पनियों पर लागू होता है (धारा ३)। कानून की धारा ५ (ब) में बैंकिंग व्यवसाय का अर्थ और परिभाषा स्पष्ट कर दी गई है। इस धारा के अनुसार "बैंकिंग व्यवसाय उसे कहते हैं जिसमें उधार देने तथा विनियोग करने के उद्देश्य से जनता से राशि जमा की जाय और फिर वह उनकी मांग पर चेक द्वारा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश द्वारा भुगतान की जाय ।" कोई कम्पनी बैंकिंग व्यवसाय तब तक नहीं कर सकती जब तक कि वह अपने नाम के साथ बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग शब्दों का प्रयोग न करे (धारा ७) । बैंकों की कार्य-सूची धारा ६ में विस्तृत रूप से दी गई है । धारा ७ के अनुसार कोई भी बैंक माल के क्रय-विक्रय के व्यापार नहीं कर सकता और न वह दूसरों के नाम से ही माल की खरीद-बेच कर सकता है। धारा १० में बैंकों का प्रबन्ध प्रबन्ध-एजेंटों (Managing Agents) द्वारा करना निषिद्ध है तथा कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति नहीं कर सकता, जो दिवालिया हों, जो उस कम्पनी से किसी भी प्रकार का कमीशन तथा लाभ के रूप में पारिश्रमिक लेते हों, जो अन्य किसी कम्पनी के प्रबन्धक हों व जो किसी अन्य प्रकार का व्यापार करते हों ।

अनुज्ञा-पत्र सम्बन्धी व्यवस्था

कानून की धारा २२ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया से अनुज्ञा-पत्र प्राप्त किए बिना व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकता । पुराने बैंकों को कानून लागू होने से ६ माह के अन्दर अनुज्ञा-पत्र ले लेना अनिवार्य होता है तथा नये बननेवाले बैंक तब तक व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकते जब तक कि वे अनुज्ञा-पत्र प्राप्त न कर लें । अनुज्ञा-पत्र स्वीकृत करने से पूर्व रिजर्व बैंक उस कम्पनी की पुस्तकों की जांच कर सकता है और निम्न बातों के विषय में पड़ताल कर सकता है :—

(१) कम्पनी अपने जमाकर्त्ताओं को उनकी जमा-राशि भुगतान करने के योग्य है अथवा नहीं,

(२) कम्पनी का प्रबन्ध जमाकर्त्ताओं के हित में हो रहा है अथवा नहीं,

(३) जो कम्पनियां भारतीय प्रान्तों को छोड़कर अन्य स्थानों में रजिस्टर्ड हैं तो उन स्थानों पर भारतीय बैंकों के विरुद्ध किसी प्रकार के वैधानिक प्रतिबन्ध तो नहीं हैं तथा भारत-स्थित वे कम्पनियां भारत में भारतीय कानून का पालन करती हैं या नहीं ।*

यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक से उक्त शर्तों पर अनुज्ञा-पत्र प्राप्त भी कर ले परन्तु भविष्य में उन शर्तों के अनुसार कार्य न करे तो रिजर्व बैंक उसका अनुज्ञा-पत्र रद्द कर सकता है ।

---

* सितम्बर १९५२ में रिजर्व बैंक ने 'बैंको नेशनल अल्ट्रामेरिनो' नामक एक विदेशी बैंक को भारत में व्यवसाय आरम्भ करने के लिए अनुज्ञा-पत्र इसलिए नहीं दिया था कि उस बैंक के देश में भारतीय बैंकों के साथ अच्छा सलूक नहीं होता था ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नवीन का लिय

कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की लिखित स्वीकृति प्राप्त किए बिना किसी नये स्थान पर कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता और न शाखा का स्थानान्तरण (उसी शहर, नगर या गांव को छोड़कर) अन्य स्थानों पर कर सकता है। इस प्रकार की स्वीकृति देते समय रिजर्व बैंक को उस बैंक की आर्थिक स्थिति, व्यवसाय, जमाकर्त्ताओं का हित तथा जन-साधारण की भलाई ध्यान में रखने होंगे (धारा २३)*

पूंजी विषयक धाराएं

कानून में बैंकों की न्यूनातिन्यून पूंजी तथा संचित कोष के विषय में भी कुछ शर्तें निर्धारित की गई हैं। जो बैंक देश के एक प्रान्त से अधिक प्रान्तों में अपना व्यवसाय करें उनको कम से कम ५ लाख रुपये के मूल्य की परिदत्त पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है (धारा ११)। यदि उनका व्यवसाय बंबई या कलकत्ते में किसी एक स्थान पर अथवा दोनों स्थानों पर हो तो पूंजी और कोष मिलाकर १० लाख रुपये के मूल्य के बराबर रखना अनिवार्य है। जो बैंक भारत से बाहर अन्य किसी देश में रजिस्टर्ड हैं परन्तु भारत में व्यवसाय करते हैं उन्हें १५ लाख रुपये की पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है और यदि उनका व्यवसाय बंबई और कलकत्ते में भी हो तो उन्हें २० लाख रुपये की पूंजी और कोष रखना अनिवार्य है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०]

इस संशोधन से रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं पर भी नियंत्रण करने का अधिकार मिल गया है।

१९५२-५३ में रिजर्व बैंक ने निम्न चार बैंकों को भारत से बाहर विदेशों में शाखाएं खोलने की अनुमति दी थी :—

(१) यूनाइटेड कमर्सियल बैंक लि०
(२) सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया लि०
(३) बैंक ऑव इण्डिया लि०.
(४) बैंक ऑव बरोदा लि०

[रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट १९५२-५३]

---

* भारत में अथवा विदेशों में शाखा खोलने से पूर्व तथा भारत-स्थित अथवा भारत के बाहर भी स्थित वर्तमान शाखाओं का स्थान-परिवर्तन करने से पहिले रिजर्व बैंक से पूर्वानुमति लेना अनिवार्य है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कानून की धारा १२ के अनुसार किसी भी बैंक की प्रार्थित पूंजी उसकी अधिकृत पूंजी के ५०% से कम नहीं हो सकती और इसी प्रकार उसकी परिदत्त पूंजी उसकी प्रार्थित पूंजी के ५०% से कम नहीं हो सकती। बैंक अपनी पूंजी केवल सामान्य अंश बेचकर ही प्राप्त कर सकता है अथवा ऐसे पूर्वाधिकारी अंश (Preference Shares) बेचकर प्राप्त कर सकता है जो १ जुलाई १९४४ से पहिले बेचे गए हों। धारा १२ (iii) के अनुसार अंशधारियों को अपने अंशों के अनुपात में मत देने का अधिकार होता है परन्तु किसी भी अंशधारी का मत सम्पूर्ण अंशधारियों के अधिकारों के ५% से अधिक नहीं हो सकता।

संचित कोष की व्यवस्था

वैसे तो रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट की धारा ४२ के अनुसार प्रत्येक तालिकाबद्ध बैंक को अपनी मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% कोषरूप में रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है परन्तु इसके साथ ही बैंकिंग कम्पनी कानून की धारा १८ के अनुसार प्रत्येक अतालिकाबद्ध बैंक को भी इतना ही कोष रिजर्व बैंक के पास अथवा अपने पास या दोनों के पास प्रतिक्षण रखना अनिवार्य है। बैंकों को इस आशय का एक विवरण भी प्रत्येक माह के अन्तिम १ शुक्रवार को रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ता है। कानून की धारा २५ के अनुसार प्रत्येक बैंक को तिमाही के अन्तिम दिन अपनी मांग तथा काल-देनदारी का कम से कम $\frac{3}{4}$ भाग भारत के विभिन्न प्रान्तों में रखना होगा, देश से बाहर नहीं।*

धारा १४ के अनुसार कोई भी बैंक अपनी शेष अदत्त पूंजी की जमानत पर कोई ऋण आदि भार नहीं ले सकता।

धारा १५ के अनुसार कोई भी बैंक अपने पूंजी-प्रधान व्यय (Capitalised expenditure) को लोप किए बिना कोई लाभांश (Dividend) नहीं बांट सकता। पूंजी-प्रधान व्यय में भिन्न भिन्न मद जैसे प्रारम्भिक व्यय, संगठन-व्यय, कमीशन आदि सम्मिलित किए गए हैं।

धारा १६ के अनुसार कोई भी बैंक ऐसे व्यक्ति की संचालक-समिति पर नियुक्ति नहीं कर सकता जो किसी अन्य बैंक का भी संचालक हो।

---

* मांग तथा काल-देनदारी का $\frac{3}{4}$ भाग सिक्यूरिटियों, आयात-निर्यात बिलों आदि के रूप में भारत के बाहर भी रक्खा जा सकता है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०]

इस संशोधन से बैंकों को अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग विदेशों में भी रखने की आज्ञा दे दी गई है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धारा १७ के अनुसार प्रत्येक बैंक को अनिवार्य होगा कि वह लाभांश वितरण से पहिले लाभ का कम से कम २०% भाग संचित कोष में जमा करे और जब तक यह कोष परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय कोष में जमा करता ही रहे। २०% कोष में जमा करने से पहिले लाभांश वितरण नहीं किया जा सकता।

धारा १९ के अनुसार कोई भी बैंक ट्रस्टी कार्य के अतिरिक्त, सुरक्षा-जमा-व्यवस्था (Safe Deposit Vaults) के अतिरिक्त तथा रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया की पूर्व स्वीकृति के अतिरिक्त बैंकिंग व्यवसाय के आवश्यक कार्यों को छोड़ अन्य किसी उद्देश्य से सहायक कम्पनी स्थापित नहीं कर सकता।

धारा २० के अनुसार कोई बैंक अपने ही अंशों की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता तथा किसी अपने संचालक को भी जमानत के बिना ऋण नहीं दे सकता। बैंक किसी ऐसे साझीदारी व्यापार अथवा कम्पनी को ऋण नहीं दे सकता जिसमें बैंक का कोई भी संचालक साझीदार अथवा अंशधारी हो।

धारा २३ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना नया कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता, पुराने कार्यालय को एक नगर की सीमा से बाहर अन्य स्थान पर स्थापित नहीं कर सकता।

धारा ४४ के अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक से लिखित प्रमाण-पत्र प्राप्त किए बिना स्वेच्छा से अपना व्यवसाय बन्द नहीं कर सकता और ऐसी अनुमति उसे तभी प्राप्त हो सकती है जब रिजर्व बैंक को यह विश्वास हो जाय कि वह अपने लेनदारों का भुगतान करने की क्षमता और साधन रखता है।

धारा ४५ के अनुसार बैंक मिलकर एकीकरण की योजना तब तक नहीं बना सकते जब तक कि न्यायालय उस योजना को स्वीकृत न कर दे। न्यायालय ऐसी योजना तब तक स्वीकृत नहीं कर सकता जब तक कि रिजर्व बैंक उसे इस आशय का प्रमाण-पत्र न दे दे कि आयोजित एकीकरण जमाकर्त्ताओं के हित में घातक नहीं होगा।*

उक्त प्रतिबन्धों के अतिरिक्त धारा ८ के अनुसार कोई भी बैंक माल के क्रय-विक्रय का व्यवसाय अपने लिए अथवा औरों के लिए नहीं कर सकता। कोई भी बैंक धारा १० के अनुसार प्रबन्ध-एजेंट नियुक्त नहीं कर सकता और न अन्य

---

* रिजर्व बैंक को बैंकों की एकीकरण योजना सम्बन्धी अन्तिम निर्णय देने का अधिकार दे दिया गया है तथा यह निर्णय सम्बन्धित बैंकों को पालन करना अनिवार्य है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५० नई धारा (४४ अ)]

इस संशोधन के द्वारा निर्बल बैंकों का एकीकरण सुविधाजनक बना दिया गया है। इस कार्य के लिए अब न्यायालय पर जाना अनिवार्य नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कोई ऐसा व्यक्ति ही नियुक्त कर सकता है जो पागल हो, दिवालिया हो या जिसने कभी किसी भी अपराध में दण्ड पाया हो। बैंक का प्रबन्ध ऐसे प्रबन्धकों तथा संचालकों द्वारा नहीं किया जा सकता जो किसी अन्य कम्पनी के संचालक हों, जो कोई अन्य व्यवसाय करते हों या जो कम्पनी का प्रबन्ध करने के लिए पांच साल से अधिक अवधि का सम्मेल करें अथवा जो कम्पनी के लाभ में से कमीशन लेते हों। नया बैंक रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र लिए बिना व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकता तथा पुराने बैंक को ६ मास के अन्दर अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना अनिवार्य होता है। कोई भी बैंक अपने नाम के पीछे बैंक, बैंकर तथा बैंकिंग शब्द लगाए बिना व्यवसाय नहीं कर सकता।

कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के अधिकार

बैंकिंग कानून ने रिजर्व बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था का नियंत्रण तथा संगठन करने की दृष्टि से अनेक विशेषाधिकार दिए हैं जो इस प्रकार हैं :—

धारा १८ के अनुसार रिजर्व बैंक देश के सभी बैंकों की मांग-देनदारी का ५% तथा काल-देनदारी का २% अपने कोष में जमा रख सकता है। प्रत्येक बैंक को इस आशय का एक विवरण रिजर्व बैंक के कार्यालय में प्रत्येक माह के अन्तिम शुक्रवार को भेज देना आवश्यक होगा।

धारा २१ में रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया है कि वह किसी समय भी बैंकों को ऋण देने से रोक सकता है। जिस समय बैंक को यह ज्ञात हो जाय कि देश के बैंकों को ऋण देने की नीति देश के हित में नहीं है तो रिजर्व बैंक एक नीति निर्धारित करेगा जो सभी बैंकों को पालन करनी होगी। उस समय रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को आदेश दे सकता है कि अमुक उद्देश्यों के लिए ही ऋण दिया जाय या अमुक ब्याज-दर ही वसूल की जाय। यह आदेश बैंकों को पालन करने होंगे।

धारा २२ (२) में रिजर्व बैंक को अनुज्ञा-पत्र जारी करने का महत्त्वपूर्ण अधिकार मिलता है। कोई भी बैंक तब तक व्यवसाय नहीं कर सकता जब तक कि वह रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र प्राप्त न कर ले। पुराने बैंकों को एक्ट लागू होने की तिथि से ६ माह समाप्त होने तक अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना होगा तथा नए बैंकों को व्यवसाय आरम्भ करने से पहिले ही अनुज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अनुज्ञा-पत्र देने से पहिले बैंक निम्न बातों पर विचार करेगा :—

(१) उस बैंक की पुस्तकों का निरीक्षण करके यह पता लगाया जायगा कि वह बैंक, यदि आवश्यकता हो तो, अपनी सभी जमा-राशि का भुगतान करने की सामर्थ्य रखता है या नहीं (जून १९५२ तक १६८ बैंकों का निरीक्षण किया गया);

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) उस बैंक की कार्य-प्रणाली जमा करनवालों के हितों की अवहेलना तो नहीं कर रही है।

धारा २२ (४) में रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार मिला है कि यदि कोई बैंक धारा २२ (२) की (१) व (२) उप-धाराओं के अनुसार रिजर्व बैंक को संतुष्ट न कर सके तो रिजर्व बैंक उस बैंक का अनुज्ञा-पत्र रद्द कर सकता है ।*

धारा २३ में रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह देश में बैंकों की संख्या तथा बकों के कार्यालयों के विषय में सतर्क रहे। कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना नया कार्यालय स्थापित नहीं कर सकता । इस स्वीकृति के देने के पहिले रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ३५ के अनुसार उस बैंक का निरीक्षण करके यह पता लगायगा कि उस बक का पुराना इतिहास, आर्थिक स्थिति तथा जमा-राशि सन्तोषजनक है या नहीं । रिजर्व बैंक को उस समय यह ज्ञात करने की आवश्यकता होती है कि नया कार्यालय खोलने से उस बक की आर्थिक स्थिति, पूंजी तथा बैंक के साधनों म कोई हानि तो नहीं होगी और जनता के हितों को कोई खतरा तो नहीं है ।

धारा ३५ के अनुसार रिजर्व बैंक अपनी खुशी से अथवा केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार किसी भी बैंक की लेखा पुस्तकों व अन्य विवरणों का किसी समय भी निरीक्षण कर सकता है परन्तु निरीक्षण करने के पश्चात् उसकी रिपोर्ट उस बैंक को देनी होगी । ऐसे बैंक के, जिसका निरीक्षण किया जा रहा है, प्रवन्धकों तथा संचालकों का यह कर्तव्य होगा कि वे रिजर्व बैंक के निरीक्षक की मांग पर सभी प्रकार के हिसाब-किताव पेश करें। इस धारा के अनुसार रिजर्व बैंक को देश के किसी बैंक का निरीक्षण करने से यदि सन्तोष न हो तो वह केन्द्रीय सरकार के आदेश से उसे बन्द करने की आज्ञा भी दे सकता है [धारा ३५ (४) (ब)]। जून १९५२ तक ८३ बैंकों का निरीक्षण किया गया।

धारा ३६ में रिजर्व बैंक की विशेष क्रियाओं तथा विशेष अधिकारों का ही वर्णन है । रिजर्व बैंक इस धारा के अनुसार—

(१) किसी भी बैंक को या सभी बैंकिंग कंपनियों को कोई विशेष प्रकार का

---

*रिजर्व बैंक ने मार्च १९५० से बैंकों का निरीक्षण करना आरम्भ किया और जन १९५२ तक २५१ बैंकों का निरीक्षण किया। इनमें से १६८ बैंकों का निरीक्षण धारा २२ के अन्तर्गत किया गया और ८३ बैंकों का निरीक्षण धारा ३५ के अन्तर्गत किया गया। इनके अतिरिक्त ११ बैंकों का निरीक्षण धारा ३७ (२) के अन्तर्गत, ५ बैंकों का निरीक्षण धारा ४४ (अ) के अन्तर्गत और २५ बैंकों का निरीक्षण धारा ४५ के अन्तर्गत किया गया।

[रिजर्व बैंक का सूचना-पत्र, अगस्त १९२५]

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लेनदेन करने से रोक सकता है, या अन्य किसी प्रकार की सलाह दे सकता है;

(२) धारा ४५ के अनुसार होनेवाले किसी भी एकीकरण क्रिया (Amalgamation) में मध्यस्थ बनकर सहायता कर सकता है (जून १९५२ तक २५ बैंकों का निरीक्षण किया गया);

(३) रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १५ (३) के अन्तर्गत किसी भी बैंकिंग कम्पनी को ऋण देकर सहायता कर सकता है);

(४) इस एक्ट की धारा ३५ के अन्तर्गत किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उस बैंक को आदेश दे सकता है—

(क) उस बैंक के संचालक निरीक्षण-रिपोर्ट पर विचार के लिए एक बैठक करें,

(ख) निरीक्षण-रिपोर्ट में दिए गए सुझावों का निश्चित समय तक पालन किया जाय;

(५) बैंकिंग कम्पनियों के विलयन सम्बन्धी अधिकार भी रिजर्व बैंक को दे दिए गए हैं जिसके अनुसार यदि रिजर्व बैंक धारा ३९ के अन्तर्गत निस्तारक (Official Liquidator) नहीं है तो वह ऐसे निस्तारण सम्बन्धी कोई भी लिखा-पढ़ी का परीक्षण कर सकता है तथा जो चाहे सलाह दे सकता है। इसके अतिरिक्त दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने का विशेषाधिकार भी बैंक को दे दिया गया है।

[बैंकिंग कम्पनी (संशोधन) कानून १९५०]

इन विशेष अधिकारों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक को बैंकों से समय समय पर स्थिति-विवरण तथा अन्य प्रकार की आवश्यक सूचना प्राप्त करने का भी विशेष अधिकार मिला है:—

(१) धारा २० (२) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक में एक ऐसा मासिक विवरण भेजना पड़ेगा जिसमें उन सब ऋणों का वर्णन होगा जो उस कम्पनी ने ऐसी कम्पनियों को दिए हों जिनमें वह बैंकिंग कम्पनी या उसके संचालक किसी प्रकार से भी हिस्सेदार हों।

(२) धारा २४ (३) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक में एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमें धारा २४ (१) के अन्तर्गत लिखी सम्पत्ति तथा मांग और काल-देनदारी का वर्णन हो।

(३) धारा २५ (२) के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक में एक ऐसा मासिक विवरण भेजना होगा जिसमें २५ (१) के अन्तर्गत लिखी सम्पत्ति और देनदारी का वर्णन हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) धारा २६ के अनुसार प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को आवश्यक है कि वह वर्ष समाप्त होने के पश्चात् रिजर्व बैंक में एक ऐसा विवरण भेजे जिसमें उन लेखों का वर्णन हो जिनका लेन-देन पिछले दस साल से न हुआ हो।

(५) धारा २७ में रिजर्व बैंक किसी समय भी आवश्यकता होने पर किसी बैंक से किसी भी प्रकार की सूचना मांग सकता है। रिजर्व बैंक इस सूचना को जनता की भलाई के लिए प्रकाशित भी कर सकता है।

(६) यदि किसी प्रकार भी बैंकिंग कम्पनियों की पूंजी तथा कोष के मूल्यांकन में कोई गड़वड़ हो तो रिजर्व बैंक का निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जायगा।

उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि बैंकिंग एक्ट के द्वारा रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों का संचालन करने के लिए भारी शक्ति दे दी गई है--रिजर्व बैंक बैंकों की ऋण-नीति निर्माण करता है, उनको कोई लेन-देन करने से रोक सकता है, किसी भी प्रकार की कोई भी सूचना किसी भी समय मांग सकता है, उनका निरीक्षण कर सकता है तथा किसी भी बैंक को काम बन्द करने की आज्ञा दे सकता है। रिजर्व बैंक के गवर्नर को किसी विशेष समय भी इस एक्ट को ३० दिन के लिए निषिद्ध करने का भी अधिकार है। इस एक्ट के बनने से रिजर्व बैंक को देश के सभी बैंकों पर पूरा पूरा अधिकार है--इसके द्वारा बड़े बड़े शहरों में बैंक-कार्यालयों की भीड़ न होगी और न बैंक थोड़ी पूंजी से ही व्यवसाय कर सकेंगे। अब बैंक कोई भी ऐसा काम न कर सकेंगे जो जनहित के विरुद्ध हो।

बैंकिंग कानून से लाभ

(१) बैंकिंग कानून बनने से देश के जमाकर्त्ताओं की बैंकों की बेईमानी तथा असावधानी से होनेवाली हानि से रक्षा होगी तथा ऐसे बैंकों के विरुद्ध वैधानिक कार्रवाई करके उन्हें दण्डित किया जा सकेगा। बैंकों का समाज-सेवा तथा जमाकर्त्ताओं के हित के लिए नियमन तथा नियंत्रण होता रहेगा।

(२) अभी तक देश के बैंकों पर जो संकट आते रहे हैं और उनके कारण देश की पूंजी की जो अपरिमित हानि होती रही है उसकी इस कानून से रक्षा होगी तथा देश का बैंकिंग कलेवर सुदृढ़ एवं संगठित बनेगा।

बैंकिंग कानून से देश के बैंकिंग इतिहास में एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है जिससे देश की बैंकिंग प्रणाली का एक सबसे बड़ा दोष दूर हो गया है।

बैंकिंग कानून के अन्तर्गत बैंकों का संगठन एवं संचालन करने के लिए रिजर्व

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बैंक को अपरिमित अधिकार दिए गए ह । देश का अभी तक जो अव्यवस्थित बैंकिंग विकास हो रहा था उसे इस कानून से बल मिलेगा तथा बैंकिंग संकट का भय नहीं रहेगा । रिजर्व बैंक को बैंकों के निरीक्षण सम्बन्धी जो अधिकार दिए गए हैं उनकी वजह से बैंक कोई भी ऐसा काम न कर सकेंगे जो जनहित अथवा जमा कर्त्ताओं के हितों में हानिकारक हों ।

कानून की कमियां

कानून में उक्त गुण होते हुए भी कुछ ऐसी कमियां शेष रह गई हैं जो प्रत्यक्ष रूप से देश के बैंकिंग कलेवर को पूर्णरूपेण संगठित नहीं बनातीं । यह कानून उन छोटे छोटे बैंकों पर लागू नहीं होता जिनकी पूंजी तथा कोष ५ लाख रुपये से कम है । देश के स्वदेशी बैंकरों पर भी, जिनके हाथों में देश की लगभग ७० प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, यह विधान लागू नहीं होता । इस कानून में देश की असंगठित मुद्रामण्डी तथा बिल-बाजार को संगठित करने की कोई व्यवस्था नहीं है । यह कानून सहकारी बैंकों पर भी लागू नहीं होता । ऐसी स्थिति में जब कि सहकारी बैंक व्यापारिक बैंकों के साथ कार्य करते हों तो उन बैंकों पर भी ऐसे कानून का लागू होना न्यायसंगत जान पड़ता है ।

कानून से स्पष्ट जान पड़ता है कि इसमें एकक-बैंकिंग पद्धति का विशेष रूप से पालन किया गया है जब कि भारत जैसे विशाल देश में शाख-बैंकिंग पद्धति की आवश्यकता है जिससे देश की विभिन्न ब्याज-दरों में समता तथा समानता आ सके, व्यवस्था-व्यय कम हो सके तथा बैंकों की कार्यक्षमता भी बढ़ सके ।

बैंकों के नष्ट होने का कारण पर्याप्त सम्पत्ति का अभाव न होकर सम्पत्ति की तरलता का अभाव रहा है । अतः कानून में सम्पत्ति के अनुपात की अपेक्षा सम्पत्ति की तरलता के लिए विशेष आयोजन करने की आवश्यकता थी । पर इस प्रकार का कोई वैधानिक प्रतिबन्ध इस कानून में नहीं दिया गया है ।

उक्त त्रुटियों की ओर रिजर्व बैंक का ध्यान आकर्षित हो चुका है और आशा है कि वह इन कमियों की पूर्ति अपने अनुभव से करता रहेगा । चूंकि रिजर्व बैंक को विधान के अन्तर्गत अनेक अधिकार प्राप्त हुए हैं इसलिए आशा है कि वह उन अधिकारों का देश की मुद्रामण्डी तथा बैंकिंग व्यवस्था के हित में समुचित रीति से प्रयोग करता रहेगा ।

सारांश

देश में बैंकिंग कम्पनी कानून की आवश्यकता आरम्भ से ही अनुभव की जा रही थी । १९३०-३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने देश में एक संगठित बैंकिंग कानून की सिफारिश की थी पर उस समय इस विषय में कोई ठोस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कदम नहीं उठाया जा सका। अन्त में, फर्वरी १९४९ को बैंकिंग कम्पनी कानून पास हुआ और वह १६ मार्च १९४९ से देश में लागू कर दिया गया। इस कानून में ५६ धाराएं हैं जो देश को बैंकिंग कम्पनियों को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में संचालित करती हैं। यह कानून सहकारी बैंकों को छोड़कर भारत-स्थित सभी बैंकों पर लागू होता है पर स्वदेशी बैंकरों पर यह लागू नहीं होता।

कानून में बैंकिंग व्यवसाय की परिभाषा देते हुए बैंकों की कार्य-सूची दे दी गई है तथा उनको निषिद्ध क्रियाओं का उल्लेख भी कर दिया गया है। बैंकों पर अनुज्ञा-पत्र सम्बन्धी तथा अन्य अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं जिससे वे जमा-कर्त्ताओं के हितों के विरुद्ध कोई काम न कर सकें। कानून में बैंकों की पूंजी विषयक तथा संचित कोष सम्बन्धी धाराओं का उल्लेख भी किया गया है। देश के बैंकों पर नियंत्रण रखने के लिए रिजर्व बैंक को इस कानून में अपरिमित अधिकार दे दिए गए हैं। इन अधिकारों से रिजर्व बैंक देश के बैंकों का निरीक्षण करता तथा उन्हें आवश्यकतानुसार सहायता भी करता है।

इस कानून के बनने से देश के बैंकिंग इतिहास में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव होता है। इससे देश का बैंकिंग कलेवर सुदृढ़ होगा तथा देश को बैंकिंग संकटों से सुरक्षा होगी परन्तु इस कानून में देश की मुद्राभण्डी तथा विलभण्डी को संगठित करने एवं स्वदेशी बैंकरों को नियंत्रित करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। यह इसका सबसे बड़ा दोष है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानन १९४९ के बनने से देश के बैंकिंग कलेवर पर क्या प्रभाव हुआ ह तथा क्या प्रभाव होने की संभावना है? अपने उत्तर को सतर्क बनाकर लिखिए।

(२) भारतीय बैंकिंग कानून १९४९ की सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा महत्व-पूर्ण स्थलों का उल्लेख कीजिए।

(३) बैंकिंग कम्पनी कानन के अन्तगत बैंकों की जो कार्य-सूची दी गई है उसका उल्लेख करते हुए बैंकों की निषिद्ध क्रियाओं का वर्णन कीजिए।

(४) देश की बैंकिंग व्यवस्था को संचालित एवं नियंत्रित करने के लिए रिजर्व बैंक को कानन द्वारा जो अधिकार दिए गए हैं उनका उल्लेख कीजिए।

(५) भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून १९४९ म निम्न विषयों पर जो व्यवस्था की गई है उसका वर्णन कीजिए :—

(१) बैंकों को नई शाखाएं खोलने के विषय में,

(२) बैंकों द्वारा ऋण देने के विषय में,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) वैंकों की पूंजी तथा संचित कोष के विषय में ।

(६) बैंकिंग कानून के द्वारा वैंकों पर क्या क्या प्रतिबन्ध लगाए गए हैं ? उनका उल्लेख करते हुए महत्त्व समझाइए ।

(७) "वैंकिंग कानून द्वारा देश में होनेवाले वैंकिंग संकटों की पुनरावृत्ति नहीं हो सकेगी"—इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

(८) वैंकिंग कम्पनी कानून की मुख्य मुख्य त्रुटियों की ओर संकेत कीजिए । क्या आपकी राय में इस कानून द्वारा देश का वैंकिंग कलेवर सुदृढ़ बन सकेगा ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४०

भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप

स्वतंत्र भारत में बैंकिंग व्यवस्था का भावी स्वरूप देश की आर्थिक एवं मौद्रिक परिस्थितियों के अनुकूल निर्धारित करना होगा। इस विषय में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि बैंकरों को योग्य, चतुर एवं अनुभवी प्रबन्धकों एवं संचालकों के प्रबन्ध में दिया जाय तथा बैंक राशि उधार देने में बैंकिंग के कठिन सिद्धान्तों का पालन और अनुसरण करे। जनतंत्र भारत की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ तथा सुसंगठित बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार ने आरम्भ से ही बड़े ठोस कदम उठाए हैं। १ जनवरी १९४९ को देश के केन्द्रीय बैंक—रिज़र्व बैंक ऑव इण्डिया—का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जिससे देश की प्रमुख और केन्द्रीय बैंकिंग संस्था राष्ट्रीय सरकार का एक अंग बनकर सरकारी नीति के किनारे किनारे देश के आर्थिक आयोजन और इस प्रकार देश के आर्थिक विकास में योग दे सके। १६ मार्च १९४९ से बैंकिंग कम्पनी एक्ट कार्यान्वित कर दिया गया है जिसके अनुसार देश की बैंकिंग व्यवस्था कुछ वैधानिक नियमों के अन्तर्गत फल-फूल सके। एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनेक विशेषाधिकार दे दिए गए हैं जिनके द्वारा वह देश के बैंकों का समय समय पर निरीक्षण कर सकता है, जनहित में उन्हें कोई भी अवांछनीय काम करने से रोक सकता है और इस प्रकार जमाकर्त्ताओं के हितों की रक्षा कर सकता है। उक्त उपायों द्वारा देश के बैंकों की बैंकिंग संकट से रक्षा होगी और बैंकों के प्रति अब तक जो अविश्वास चला आ रहा था वह दूर होकर उनके प्रति विश्वास जमेगा।

देश के भावी बैंकिंग कलेवर के विषय में सामान्यतः दो विचारधाराएं हमारे सामने आती हैं—(१) देश के बैंकों का और इस प्रकार देश की समूची बैंकिंग व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय; (२) देश के बैंकों को बलिष्ठ एवं अधिक उपयोगी बनाने के लिए उनमें से निर्बल संस्थाओं को हटाकर सबल संस्थाओं में विलीन कर दिया जाय अर्थात् बैंकों का एकीकरण किया जाय। इस प्रकार संक्षेप में दो प्रश्न हैं—राष्ट्रीयकरण या एकीकरण। राष्ट्रीयकरण के पक्षपातियों का कहना है कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने से वे सरकार का एक अविच्छेद अंग बन जायंगे और उन्हें मनमानी करने का अवसर नहीं मिलेगा। इसी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वर्ष संसद में एक सदस्य ने आवाज बुलन्द करके मांग की थी कि देश की बैंकिंग व्यवस्था का शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रीयकरण किया जाय। राष्ट्रीयकरण की आवाज भावुक व आवेशपूर्ण मस्तिष्क की मांग भले ही हो पर वर्तमान स्थिति में इसे देश के हित में नहीं कहा जा सकता। किसी भी व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करने से पूर्व दो बातें विचारनी आवश्यक होंगी :—

(१) क्या वह व्यवसाय राष्ट्रीयकृत होने से अधिक उन्नति कर सकेगा और तथ क्या उससे राष्ट्र को अधिक लाभ हो सकेगा ?

(२) क्या तव उसके संचालक एवं प्रवन्धक राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न हुए केन्द्रीकरण से उस व्यवसाय का कुछ भला कर सकेंगे ?

यदि इन दोनों कसौटियों को सामने रखकर बैंकिंग व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव पर विचार किया जाय तो देश के भिन्न भिन्न बैंकों की भिन्न भिन्न परिस्थितियां सामने आती हैं। रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न तो हल हो चुका है और इसकी देश में आवश्यकता भी थी। इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी सरकार के सामने कई वार आ चुका है। यह बैंक एक वलिष्ठ व्यापारिक बैंक है जिसकी शाखाएं देश भर में जाल के समान फैली हुई हैं। इस बैंक ने, कहना न होगा कि, विदेशी पूंजी तथा प्रवन्ध से देश की अधिक समय तक सेवा की और देश में व्यापारिक बैंकिंग व्यवस्था की जड़ मजवूती से जमा दी। फिर भी आज जव इसके राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार किया जाता है तो यही कहा जाता है कि पहिले इसका भारतीयकरण कर दिया जाय अतः इस बैंक की पूंजी एवं प्रवन्ध का भारतीयकरण करना निश्चित कर लिया गया है। यदि विदेशी विनिमय बैंकों का, जिनकी पूंजी तथा प्रवन्ध विदेशी हैं, राष्ट्रीयकरण करने के विषय में सोचा जाय तो उसमें एक कठिनाई की आशंका होती है कि वे बैंक इस प्रस्ताव के विरुद्ध भरसक आन्दोलन करेंगे और हो सकता है कि तव वे देश छोड़कर चले भी जायं। इससे भारत को विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए विदेशी बकिंग विशेषज्ञों से वंचित रहना पड़ेगा। अभी तक देशी बैंकों ने भी विदेशी विनिमय व्यापार पूर्णरूपेण नहीं संभाला है। अतः हमारे विदेशी व्यापार को हानि की सम्भावना हो सकती है। जहां तक अन्य भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न है, यह बात निश्चित है कि जिन बैंकों ने अपने जीवन वर्ष संकट और तूफानों में व्यतीत किए हैं उन्हें राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव कभी भी रुचिकर नहीं होगा। तव सम्भव है कि देश सदैव के लिए व्यक्ति-श्रम एवं व्यक्ति-चेष्टा खो वैठे और भविष्य में लोग कभी अपने श्रम और पूंजी से काम न लें। कुछ भी हो, हमें बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवाज को देश की वास्तविक स्थिति को पहिचानकर समझना चाहिए। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य देश के बैंकों को सरकारी स्वामित्व एवं संचालन में लाकर वलिष्ठ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बनाने और इस प्रकार उन्हें जनहित में कार्य करने के लिए प्रेरित करके उनके प्रति जनता में विशेष विश्वास उत्पन्न करने का है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न बातों की आवश्यकता होगी :—

(१) सरकार के पास पर्याप्त पूंजी की मात्रा, जिससे वह बैंकों का स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर सके;

(२) सरकार के पास योग्य, अनुभवी एवं ईमानदार बैंकिंग विशेषज्ञों का होना।

यदि उक्त दोनों बातें सरकार के पास हों तो बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके उन्हें अवांछनीय कार्य करने से रोककर जनहित के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी सरकार के पास न पर्याप्त पूंजी है और न ईमानदार एवं अनुभवी व्यक्ति ही हैं जो राष्ट्रीयकृत बैंकों का कार्यभार संभाल सकें। क्या हुआ, जो अंशधारियों की पूंजी को लेकर सरकार ने उन्हीं लोगों से कार्य चलाया जो आज इन बैंकों के सरताज बने बैठे हैं। उस स्थिति में राष्ट्रीयकृत बैंक न बलिष्ठ बन सकेंगे और न उनके प्रति जनता का विश्वास होगा। इसके विपरीत, निजी साहस और सम्पत्ति को और हतोत्साह कर दिया जायगा। सरकारी कर्मचारियों की कार्यकुशलता के विषय में और उनकी ईमानदारी के बारे में रोज रोज काले कारनामे सुनाई पड़ते हैं। तो क्या ये लोग बैंकिंग व्यवस्था को चला सकेंगे जिसमें विशेषरूपेण ईमानदारी और अनुभव की आवश्यकता है? अतः वर्तमान परिस्थितियों में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न हितकर नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, वर्ष दो वर्ष पश्चात् वांछित स्थिति आ जाय, पर आज तो इसके लिए समय उचित नहीं कहा जा सकता। जहां तक बैंकों के कार्यों पर नियंत्रण का प्रश्न है, बैंकिंग कम्पनी एक्ट के द्वारा उन पर अब काफी नियंत्रण हो गया है। उक्त एक्ट में रिजर्व बैंक को जो विशेषाधिकार मिले हैं उनके द्वारा वह देश के बैंकों को कस कर जनहित के लिए प्रेरित करता रहा है और कर सकेगा। अतः राष्ट्रीयकरण द्वारा उनके प्रबन्ध-संचालन पर और अधिक तंगी की आवश्यकता अभी नहीं जान पड़ती। हां, सबसे बड़ा प्रश्न बैंकों को बलिष्ठ बनाकर उन्हें जनता का विश्वासपात्र बनाने का है। इसके लिए राष्ट्रीयकरण के स्थान पर अभी एक और उपाय हो सकता है कि बैंकों का एकीकरण किया जाय। यदि बैंकों को बलिष्ठ बनाना है, उनको संकट से बचाकर रखना है, तो आवश्यकता है कि इधर-उधर अस्त-व्यस्त साधनों को जोड़-समेटकर संगठित किया जाय; उनके लिए योग्य, अनुभवी और ईमानदार प्रबन्धक रखे जायं, जिनको अच्छे-अच्छे वेतन दिए जायं और जिन्हें उनके कार्य का पारितोषिक दिया जाय। राष्ट्रीयकरण से चाहे सरकार का स्वामित्व और प्रबन्ध हो जावे पर कमजोर और अयोग्य बैंक दूर होना संभव नहीं होगा। इसके लिए तो एकीकरण की नीति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही सुलभ उपाय हो सकता है। कई कई बैंक परस्पर मिला दिए जायं। इससे बैंकिंग विशेषज्ञों का अभाव दूर होगा और बैंकों में दृढ़ता आएगी। सरकार ने और रिजर्व बैंक ने एकीकरण की नीति को मान्यता दी है, ऐसा प्रतीत होता है। पिछले दिनों एकीकरण के कई उदाहरण सामने आ चुके ह। भारत बैंक को पंजाब नेशनल बैंक में मिलाकर विलीन कर दिया गया। बंगाल के चार बैंकों को मिलाकर एक बना दिया गया। इस प्रकार के और भी मामले विचाराधीन हैं। बैंकिंग कम्पनी एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा बैंकों पर नियंत्रण रखकर तथा एकीकरण की नीति का पालन करके राष्ट्रीयकरण से होनेवाले सभी लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं और राष्ट्रीयकरण के मार्ग में जो कठिनाइयां और असुविधाएं हैं उनसे भी मुक्ति मिल सकती है। अतः आज के आर्थिक वायुमण्डल में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवाज न लगाकर बैंकों के एकीकरण की आवाज लगाना अधिक हितकर होगा।

ग्रामीण भारत में बैंकों की व्यवस्था

जनतंत्र भारत की भावी बैंकिंग व्यवस्था के विषय में दूसरा गम्भीर प्रश्न ग्रामीण भारत में बैंकों की व्यवस्था का है। इस प्रश्न पर विचार करके सरकार को सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने ८ नवम्बर १९४९ को सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी नियुक्त की थी। कमेटी ने देश के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या के अनुसार बैंकों की संख्या का इस प्रकार चित्र प्रस्तुत किया है* :—

देश	वर्गमील क्षेत्रफल (हजारों में)	जनसंख्या (लाखों में)	बैंक कार्यालयों की संख्या	प्रति दस लाख व्यक्तियों में बैंक कार्यालयों की संख्या	एक बैंक कार्यालय द्वारा प्रभावित औसत क्षेत्रफल
इंगलैण्ड	८९	५०	११,४६१	२२९	८
संयुक्त राज्य (अमेरिका)	३६७४	१४७	१८,९७५	१२९	१९४
केनेडा	३६९०	१३	३,३२३	२५६	१११०
आस्ट्रेलिया	२९७५	८	३,५९९	४५०	८२७
भारत	१२२०	३३७	५,५५८	१६	२२०

*ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी रिपोर्ट पृ० २४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि हमारे देश में ६२,५०० व्यक्तियों के बीच में एक बैंक-कार्यालय है । भारत जैसे विशाल देश में बैंकों की संख्या का यह चित्र वास्तव में बड़ा दुराशाजनक है । जिस देश की ८५% जनसंख्या कृषि पर अवलम्बित हो, जहां पर ७,००,००० से भी अधिक गांव हों और जहां का समूचा आर्थिक कलेवर गांवों और गांववासियों पर अवलम्बित हो, उस देश की बैंकिंग व्यवस्था में गांवों को भुलाना एक पहिए की गाड़ी चलाने के समान होगा। गांवों में बैंकिंग व्यवस्था का प्रबन्ध करना सरकार के सामने एक मूल प्रश्न है। ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने इस ओर निम्न सिफारिशें की हैं जिनके आधार पर गांवों में बैंकों का भावी स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है :—

(१) सुदृढ़ और संगठित व्यापारिक बैंक गावों में अपनी अपनी शाखाएं खोलें। यदि उन्हें एक साथ ही गांवों में जाकर कार्य करना संभव न हो तो पहिले ताल्लुकों तथा बड़े बड़े कस्बों में कार्यालय स्थापित करके गांववासियों से सम्पर्क बढ़ा लें और फिर शनैः शनैः गांवों तक पहुँचने की चेष्टा करें ।

(२) इम्पीरियल बैंक, जो देश का समर्थ व्यापारिक बैंक माना जाता है, तहसीलों, कस्बों तथा मण्डियों में अपनी शाखाएं स्थापित करें।

(३) गांवों में बैंकों के विकास के लिए वहां तक यातायात के अच्छे साधनों का होना आवश्यक है, अतः गावों में सड़कें बनाने तथा गांवों को सड़कों द्वारा समीपवर्ती नगरों से मिलाने का प्रबन्ध सरकार करे।

(४) गांवों में जो बैंक कार्य करें वे अपना हिसाब किताब प्रादेशिक भाषाओं में रखें। अशिक्षित गांववासियों से लेन-देन करने में बैंक उनके हस्ताक्षर लेने आदि के पचड़े में न पड़कर उनकी अगूंठा-निशानी की व्यवस्था करें और उस पर गांव के किसी सम्माननीय व्यक्ति की जमानत करा लें। यदि हो सके, तो बैंक अपने-अपने ग्राहकों के जन्मजात चिह्नों की पहिचान कर लें जिससे उन्हें उनके साथ लेन-देन करने में कठिनाई न हो ।

(५) गांवों में जो बैंक बनें वे अपनी संचालक समिति पर गांव के दो-चार व्यक्तियों को निर्वाचित कर लें जिससे उनके द्वारा बैंकिंग व्यवसाय का प्रचार हो, जनता में बैंक के प्रति विश्वास हो और गांववासियों में बैंक के प्रति अपनत्व उत्पन्न हो ।

(६) बैंक के कर्मचारी गांववासियों के साथ नम्रता का व्यवहार करें और ग्राहकों को अधिक से अधिक सुविधाएं दें।

(७) गांवों की प्रस्तावित बैंक खेरीज का लेन-देन करें तथा फटी-टूटी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्राओं के बदलने तथा मुद्राओं के पारस्परिक परिवर्तन आदि की सुविधाएं भी गांववासियों को दें।

(८) डाकखानों के बचत-बैंक अधिक से अधिक संख्या में गांवों में खोले जायं।

(९) गावों में चलते-फिरते बैंक भी चालू किए जायं।

(१०) सरकार गांवों में कार्यालय खोलनेवाले बैंकों को सुरक्षा-संबंधी सुविधाएं देने की व्यवस्था करे।

(११) सहकारी बैंकिंग व्यवस्था को प्रोत्साहित किया जाय।

कमेटी की उक्त सिफारिशों को कार्यान्वित करके भारतीय गांवों में बैंकों की सुविधाएं बढ़ाई जा सकती हैं। कार्य आरम्भ भी हो चुका है। पिछले दिनों कई प्रान्तों में चलने-फिरनेवाले बैंक कार्य करने लगे हैं। डाकखाना विभाग ने भी बचत-बैंकों की संख्या बढ़ाई है। आशा है, भारत में भावी बैंकिंग विकास में गांवों का महत्त्व भुलाया नहीं जायगा।

बैंकिंग शिक्षा का आयोजन

देश की भावी बैंकिंग व्यवस्था में ऐसे बैंकों की आवश्यकता है जो समर्थ और बलिष्ठ हों। ऐसा तब हो सकता है जब कि उन बैंकों का प्रबन्ध-संचालन योग्य, अनुभवी एवं ईमानदार व्यक्तियों के हाथ में हो। हमारे देश में अब तक जो बैंक नष्ट हुए उनमें से अधिकांश कुप्रबंध एवं संचालकों के स्वार्थ के कारण हुए। देश की जनता में जहां बैंकिंग भावना और आदत नहीं है वहां बैंकिंग व्यवसाय के विशेषज्ञों का भी बड़ा अभाव है। भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यापार नहीं अपनाया, इसका एक कारण देश में बैंकिंग विशेषज्ञों का अभाव कहा जाता है। ऐसा क्यों है? हमारे यहां बैंकिंग की शिक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। शिक्षा तो क्या, १९४९ तक बैंकों के संचालन के लिए कोई विधान भी न था। अब विधान बन गया है। शिक्षा की भी आवश्यकता है। यह कमी भी पूर्ण होनी चाहिए। रिजर्व बैंक ने इस ओर ध्यान दिया है।* इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑव बैंकर्स की २६वीं वार्षिक मीटिंग में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री रामाराव ने स्पष्ट कर दिया है कि बैंक शीघ्र ही एक ऐसा कॉलेज खोलनेवाला है जिसमें बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा दी जायगी। इंगलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया में ऐसी संस्थाएं हैं जो बैंकों के प्रबन्धकों, संचालकों तथा अन्य कर्मचारियों को बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा देती हैं। इसी प्रकार की एक संस्था भारत में स्थापित की जायगी जहां बैंकों के प्रबन्धकों और कर्मचारियों को बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी पुस्तकों, पत्र-विपत्रों

*कामर्स, २९ अगस्त १९५३ पृ० ३९०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तथा विलेखों का व्यावहारिक ज्ञान कराया जायगा। श्री रामाराव ने कहा कि उक्त कॉलेज के साथ एक 'सुप्त बैंक' (Dummy Bank) भी चलाया जायगा जिसमें शिक्षार्थियों को बैंक सम्बन्धी दैनिक व्यवहारों का ज्ञान कराया जायगा। रिजर्व बैंक ने उक्त कॉलेज खोलने सम्बन्धी एक योजना बनाकर उस पर बैंकों तथा विशेषज्ञों के विचार मंगा लिए हैं। योजना को अन्तिम रूप देने के लिए एक कमेटी नियुक्त कर दी गई ह जो प्रस्तावित स्टाफ ट्रेनिंग कॉलेज बनाने पर विचार कर रही है। कॉलेज का सारा व्यय रिजर्व बैंक उठायेगा। इस प्रकार की संस्था बनने पर देश के बैंकिंग क्षेत्र का एक बहुत भारी अभाव पूरा होगा और तब बैंकिंग व्यवसाय का वैज्ञानिकन भी किया जायगा। आशा है, योजना शीघ्र ही कार्य करने लगेगी।

बैंक का भविष्य

भारत में बैंकिंग व्यवसाय का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। लम्बा-चौड़ा देश है, असंख्य जनसंख्या है, प्रचुर प्राकृतिक साधन हैं और स्वतंत्र शासन है। आवश्यकता है आर्थिक कलेवर को संवारकर बनाने की। आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो चुकी है। ऐसी स्थिति में देश का भावी बैंकिंग विकास बड़ी सावधानी से करना होगा। गांवों में बैंकों की संख्या बढ़ाकर, बैंकों का एकीकरण करके तथा देश में बैंकिंग शिक्षा का प्रबन्ध करके देश के बैंकिंग कलेवर को लोकप्रिय, हितकारी तथा वैज्ञानिक बनाया जा सकेगा।

परीक्षा-प्रश्न

(१) देश के भावी बैंकिंग विकास की दृढ़ता के लिए आप बैंकों का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं अथवा एकीकरण ? अपने उत्तर को कारण सहित लिखिए।

(२) गांवों में बैंकों की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए ? ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने इस ओर क्या-क्या सिफारिशें की हैं ?

(३) भारत में बैंकिंग की व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए। हमारे देश में इस ओर क्या किया गया है ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

षष्ठ भाग

राजस्व के सिद्धान्त

राजस्व का अर्थ एवं प्रादुर्भाव; राजस्व एवं व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन
का भेद; राजस्व का वर्गीकरण; सरकारी आय-व्यय के
विभिन्न स्रोत एवं साधन; कर तथा उसके भेद और
लक्षण; महत्तम सामाजिक हित का मूल
सिद्धान्त; आदर्श कर-प्रणाली के लक्षण;
कर-आयोजन के आदर्श;
कर का भार; जन-ऋण;
आदि आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४१

राजस्व का स्वरूप एवं क्षेत्र

राजस्व का प्रादुर्भाव

आज से कुछ समय पूर्व ऐसा माना जाता था कि देश में लोगों को उनके आर्थिक क्षेत्रीय कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सरकार का कर्तव्य केवल यह समझा जाता था कि वह देश में शान्ति रक्खे, जनता की वाह्य आक्रमणों से रक्षा करे और न्याय, सड़क इत्यादि का प्रबन्ध कर दे। इससे आगे आर्थिक क्षेत्र में सरकार को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप केवल अनावश्यक ही नहीं अपितु अनुचित भी समझा जाता था। उस समय कहा जाता था कि मनुष्य समाज का एक अंग है अतः वह जो कोई काम अपने हितार्थ करेगा उससे समाज को अवश्यमेव लाभ पहुँचेगा। पर इस प्रकार की विचारधारा आगे चलकर बदलती गई। इस विचारधारा के अनुसार काम करते-करते वर्तमान 'पूंजीवाद' को जन्म मिला और समाज में आर्थिक स्वतंत्रता के दोष उत्पन्न होने लगे। इन दोषों को दूर करने के लिए सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई। शनैः शनैः सरकारी हस्तक्षेप इतना अधिक बढ़ता गया कि आधुनिक काल में देश के आर्थिक पुरोगम को व्यवस्थित रीति से चलाने के लिए सरकार की अनिवार्य आवश्यकता होने लगी है। आज तो सरकार से यह आशा की जाती है कि वह समाज के आर्थिक कार्यों में सक्रिय सहयोग दे और अपनी नीति बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनावे। मन्दी तथा बेकारी को दूर करने के लिए अनिवार्य रूप से सरकार का सहयोग मांगा जाता है। यही नहीं, देश में नागरिक जीवन और उसके साथ साथ समाज की अर्थ-व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के लिए सरकार की व्यवस्था होती है। जनता की सुरक्षा तथा देश में शान्ति बनाए रखने के लिए सरकार फौज, पुलिस, न्यायालय, जेलखाने तथा सरकारी कार्यालयों का प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार रेल, जहाज, सड़क आदि बनवाने तथा उन्हें चलाने, मुद्रा-व्यवस्था करने, डाक व तार का प्रबन्ध करने एवं नहरें खुदवाने का काम सरकार करती है। कहना न होगा कि शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य-साधनों की व्यवस्था एवं कृषि-उद्योग की उन्नति में भी सरकार कुछ न कुछ काम करती ही है। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक क्षेत्र में आज सरकार का हस्तक्षेप कितना अधिक बढ़ गया है। इन सब कार्यों के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्पादन के लिए सरकार को साधनों की आवश्यकता होती है। सरकार इन आवश्यक साधनों को किस प्रकार प्राप्त करती है और प्राप्त करके जनता के हित में उनका किस प्रकार उपयोग करती है? इन प्रश्नों को हमें राजस्व के अध्ययन का विषय समझना चाहिए। राजस्व में हम सरकार की आय और व्यय सम्बन्धी विषय का अध्ययन करते हैं कि सरकार, चाहे वह केन्द्रीय हो, प्रान्तीय हो अथवा स्थानीय हो, किस प्रकार आय प्राप्त करती है और किन किन कार्यों पर किस प्रकार व्यय करती है। जहां हम अर्थशास्त्र में व्यक्ति-समूह की आय एवं व्यय सम्बन्धी चर्चा करते हैं वहां राजस्व में सरकार के आय एवं व्यय सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

राजस्व का अर्थ

भिन्न भिन्न लेखकों ने 'राजस्व' का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से लगाया है परन्तु उन सभी परिभाषाओं में एक मूल बात मिलती है कि राजस्व सरकारी आय के विभिन्न साधनों का एवं उन साधनों से प्राप्त आय के व्यय का अध्ययन मात्र है। बेस्टेबल लिखता है कि "राजस्व राष्ट्र की सरकारों—केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय—के आय-व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा वित्तीय प्रशासन व नियंत्रण से सम्बन्ध रखता है।"* श्रीमती हिक्स के अनुसार राजस्व के अध्ययन में उन पद्धतियों एवं प्रणालियों का विश्लेषण किया जाता है जिनके अनुसार सरकारें जनसाधारण के हितार्थ धनराशि एकत्रित करके उनके महत्तम सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करती हैं।† इस परिभाषा में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि सरकारों के आय-व्यय के प्रसाधनों का अध्ययन ही राजस्व का मूल विषय है। आर्मिटेज स्मिथ के शब्दों में "राजस्व के अन्तर्गत सरकारी व्यय एवं उसके स्वभाव और सिद्धान्तों का अध्ययन करना होता है।"‡ फिण्डले शिराज का कथन है कि "सरकारी आय-व्यय के सिद्धान्तों का अध्ययन ही राजस्व का मुख्य विषय है।" डाल्टन ने लिखा है कि "राजस्व के अन्तर्गत सरकारी सत्ताओं के आय-व्यय तथा उनके समायोजन का अध्ययन किया जाता है।" कार्लप्लेन का विश्वास है कि "राजस्व वह विज्ञान है जिसमें राजनीतिज्ञों द्वारा राज्य की समस्त

---

* Lutz, Harley Leist : Public Finance, 1936, p. 3.

† "The main content of public finance consists of the examination and appraisal of the methods by which governing bodies provide for the collective satisfaction of wants and secure the necessary funds to carry out their purposes." —*Mrs. Hicks*

‡ Armitage Smith : Principles and Methods of Taxation. pp. 14-15.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाओं को पूरी तौर पर निभाने के हेतु आवश्यक मात्रा में भौतिक साधन प्राप्त करने और उन्हें व्यय करने की क्रियाओं का अध्ययन किया जाय।" इन सब लेखकों के अनुसार राजस्व का मूल अर्थ सरकारों के आय-व्यय से है और सरकारों का अर्थ केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-सत्ताओं से लगाया जाता है। कुछ भी हो, राजस्व का वर्तमान क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक बनता जा रहा है। आज इसके अन्तर्गत आर्थिक प्रशासन, जैसे बजट बनाकर प्रस्तुत करना, लेखा परीक्षण करना तथा अंकेक्षण करना भी सम्मिलित किया जाता है। अतः वर्तमान स्थिति में राजस्व का अर्थ केवल सरकारी आय और व्यय से ही नहीं समझना चाहिए वरन् इसके अन्तर्गत जन-कार्यों के संचालन के लिए प्रसाधनों की व्यवस्था, उनका संरक्षण एवं वितरण भी सम्मिलित करना आवश्यक है। इन अर्थों में राजस्व के अध्ययन में निम्न बातें सम्मिलित की जा सकती हैं:—

(१) सरकारी आय तथा उसके विभिन्न साधन एवं स्रोत—कर लगाने के सिद्धान्त;

(२) सरकारी व्यय तथा उसके सिद्धान्त;

(३) वित्तीय प्रशासन अर्थात् बजट बनाना, प्रस्तुत करना, स्वीकृत कराना एवं लेखाओं का निरीक्षण-अंकेक्षण कराना;

(४) जन-ऋण अर्थात् सरकारों द्वारा जनता से ऋण लेना तथा ऋण संबंधी विभिन्न सिद्धान्त।

राजस्व-शास्त्र के यही चार विभाग हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्व के ये चारों विभाग एक दूसरे से पृथक् हैं। विश्लेषण और विवेचना की दृष्टि से इनको अलग अलग कर दिया गया है पर वैसे एक का दूसरे से बड़ा घनिष्ठ और समीपी सम्पर्क है। अतः ये चारों विभाग मिलकर राजस्व का मूल विषय हैं।

राजस्व का महत्त्व

राजस्व का महत्त्व दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। ज्यों-ज्यों सरकार का कार्यक्षेत्र विस्तृत होता जाता है त्यों त्यों राजस्व का कलेवर और महत्त्व भी व्यापक और विस्तृत बनते जाते हैं। एक समय था जब कि सरकार का एकमात्र कार्य जनता की रक्षा करके देश में शान्ति स्थापित करना माना जाता था परन्तु अब तो सरकार का उत्तरदायित्व बढ़ता ही जा रहा है। शिक्षा की व्यवस्था करना, बेकारी को दूर करना, स्वास्थ्य और चिकित्सा के साधनों का प्रबन्ध करना, वृद्धावस्था में लोगों को राशि देकर सहायता करना आदि काम सरकार के कंधों पर डाले जा रहे हैं। यही नहीं, सरकार व्यवसाय और वाणिज्य का प्रबन्ध-संचालन भी करने लगी है। आर्थिक आयोजन-नियोजन सरकारी नीति के प्रमुख अंग बनते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जा रहे हैं। इन सब कार्यों को पूरा करने के लिए सरकार को धन की आवश्यकता होती है और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह आय के नये नये स्रोत ढूंढ़ निकालने लगी है। अतः राजस्व का क्षेत्र और महत्त्व बढ़ते जा रहे हैं। अंगरेजी में कहावत है कि "Money makes the mare go"। इसी प्रकार हिन्दी में कहा जाता है कि "पैसा नहीं है पास तो मेला लगे उदास"। समाज में धन का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति को, परिवार को, संस्था को और समाज को अपने अपने कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सरकार को, चाहे वह केन्द्रीय हो चाहे प्रान्तीय अथवा स्थानीय हो, उन्नत हो अथवा नीची हो, अपने कार्यों और कर्तव्यों की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। आज कोई भी सरकार पैसे के बिना जनता की सेवा नहीं कर सकती। आज किसी भी राष्ट्र की शक्ति का ज्ञान उसकी फौज और पुलिस से उतना नहीं लगाया जा सकता जितना कि वहां की सरकार के बजट से हो सकता है। किसी भी देश की सरकार की कार्यक्षमता, कार्यकुशलता और उसके कार्यों और दायित्वों की सीमा उसकी आय एवं कोष पर निर्भर कही जाती है। शिराज ने तो यहां तक लिख डाला है कि "राज्य का राजस्व ही राज्य है और प्रत्येक उपक्रम का श्रीगणेश वित्तकोष पर आधारित होता है।"* इस कथन से राजस्वशास्त्र के वर्तमान महत्त्व का आभास मिलता है। डाल्टन ने लिखा है कि "राजस्व वह विषय है जो अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच की सीमा पर स्थित है।" इस प्रकार आज की राजनीति में राजस्व का बहुत बड़ा हाथ है। सरकार का कोई भी उपक्रम, कोई भी योजना और कैसा भी आयोजन-नियोजन तब तक प्रारम्भ और पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि वह सरकार आवश्यक अर्थ-कोष की व्यवस्था न कर ले और फिर वित्त-व्यवस्था करके उसका समुचित रीति से व्यय न करे। आगे चलकर डाल्टन ने यहां तक कहा है कि "राजस्व सरकार द्वारा समाज की महत्तम सुख-सुविधा का शास्त्र है।" राष्ट्र के विकास सम्बन्धी तथा निर्माण-कारी योजनाओं के लिए सरकार को राजस्व के आय-व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रयोग आज अनिवार्य हो चुका है। देश देश में गरीबों और अमीरों के बीच की गहरी खाई को पाटने के लिए, राष्ट्र की कल्याणकारी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए तथा देश में सुख-शान्ति के लिए आज प्रत्येक सरकार आय की व्यवस्था करती है, नये नये कर लगाए जाते हैं, प्रकार प्रकार के शुल्क वसूल किए जाते हैं तथा जनता से ऋण लेकर भी राशि प्राप्त की जाती है। यही नहीं, सरकार दिन-दिन आय के नये स्रोत और साधन खोजती जा रही है। व्यय की अनेक नई मदें निकलती

* Findlay Shirras : Science of Public Finance, Volume I pp. 2-3

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं और व्यय करने के नये नये सिद्धान्त खोजे जाने लगे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान मुद्रा के युग में राजस्वशास्त्र का महत्त्व राजनीति को चीरकर आगे बढ़ गया है और इसके जाने बिना किसी भी सरकार की कैसी भी राजनीति पूर्ण सफल नहीं हो सकती।

राष्ट्रीय योजना समिति ने देश के क्रमवद्ध एवं आयोजित विकास के कार्यक्रम में राजस्व का उचित महत्त्व निर्धारित करते समय लिखा था—"राजस्व शब्द का उपयोग सरकार द्वारा की जानेवाली आय, जिसमें कर एवं सरकारी कोष सम्मिलित हों, के लिए ही नहीं वरन् जनता के हितार्थ आकस्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने तथा अधिक सम्पत्ति उत्पादन करने के लिए समाज की सामूहिक साख के लिए होना चाहिए, जिसमें समाज के प्रत्येक अंग का जीवनस्तर ऊंचा बनाया जा सके।" यदि इन शब्दों में राजस्व का महत्त्व समझा जाय तो इसका उपयोग देश की एकता एवं स्वतंत्रता को बनाए रखने, उपलब्ध साधनों का महत्तम विदोहन करने तथा जनसाधारण के भौतिक एवं मानसिक विकास करने में पर्याप्त सहयोग दे सकता है। पर यह सब सरकार की आय-व्यय सम्बन्धी नीति तथा वित्तीय प्रशासन पर निर्भर है। "आज की समस्या धन-उत्पादन की नहीं वरन् धन के वितरण की है।"* यदि इस विचारधारा को सत्य माना जाय तो सामाजिक विषमता को कम करने तथा राष्ट्रीय धन का संतुलित वितरण करने में राजस्वशास्त्र का काफी उपयोग किया जा सकता है और आजकल की सरकारें अपनी अपनी कर-प्रणालियों तथा व्यय-सिद्धान्तों द्वारा ऐसा करने में लगी भी हैं। ऊंचे ऊंचे कर सामाजिक विषमता को दूर करने के उपाय माने जाने लगे हैं। कहा गया है कि हाल ही में संसद द्वारा पास किया गया भारतीय सम्पदा-कर एक्ट हमारे देश में बढ़ती हुई आर्थिक विषमता को दूर करने का एक नया शस्त्र है। राजस्वशास्त्र का वर्तमान महत्त्व इस बात में निहित है कि इसके सिद्धान्त का अनुसरण करके सरकार समाज के सामान्य आर्थिक जीवन को नियमित कर सकती है तथा देश में प्राप्य सम्पत्ति को जनता में यदि समानरूपेण नहीं, तो यथार्थ रूप में पुनः वितरित कर सकती है। इसी में जनसाधारण का कल्याण निहित है। अतः राजस्व सरकार द्वारा लोक कल्याण की एक कुंजी है, राष्ट्र के न्यायोचित विकास का मार्ग है और सरकार द्वारा उसके कर्तव्यों और दायित्वों को पूरा करने का एक सुगम साधन है।

राजस्व का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

राजस्व सामान्यतः अर्थशास्त्र का ही एक अंग माना जाता है परन्तु यह बात नितान्त सत्य नहीं है। डाल्टन का कथन है कि "राजस्व अर्थशास्त्र और

* The Socialist Point of View by Ashoka Mehta.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राजनीति की सीमा पर स्थित है।" इसके अनुसार राजस्व का राजनीति से उतना ही सम्बन्ध जान पड़ता है जितना अर्थशास्त्र से। यही नहीं, गणितशास्त्र एवं अंकशास्त्र से भी राजस्व का कुछ परिचय अवश्य है। अतः यहां यह देखना है कि राजस्व का अन्य शास्त्रों के साथ क्या मूल संबंध है।

राजस्व एवं अर्थशास्त्र—राजस्व और अर्थशास्त्र दोनों सामाजिक विज्ञान हैं परन्तु यह समझना भूल होगी कि दोनों का अध्ययन एकसा और एक ही साथ हो। आजकल राजस्व का क्षेत्र और महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया है कि इसका अध्ययन स्वतंत्ररूपेण विस्तारपूर्वक करना समझा जाने लगा है। फिर भी, राजस्व का मूलाधार अर्थशास्त्र है। अतः राजस्व के सिद्धान्तों को समझने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है। राजस्व के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के मूलभूत नियमों को जाने बिना निर्धारित नहीं किए जा सकते। उदाहरणार्थ, सरकार को नया कर लगाने से पहिले उसके आर्थिक परिणामों को ठीक प्रकार सोच लेना आवश्यक होता है। उसे कर लगाने से पूर्व उत्पादन, वितरण, उपभोग एवं संचय पर उसके सम्भावित प्रभावों को सोच लेना आवश्यक होता है। इन सब बातों के समझने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्त जानना अनिवार्य होता है। नया कर लगाने से पहिले सरकार के वित्त मंत्री को 'मांग की लोच' तथा 'मांग के नियम' का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार जन-ऋण के लेन-देन में वित्त मंत्री को मुद्रा, बैंकिंग एवं साख के सिद्धान्तों का ठोस ज्ञान होना परमावश्यक है। वेस्टेबल लिखता है कि "राजस्व के विद्यार्थी को अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लेना बड़ा आवश्यक है।" एक विशेषज्ञ ने तो लिखा है कि "अर्थशास्त्र और राजस्व, दोनों सहोदर हैं—अर्थशास्त्र कनिष्ठ और राजस्व अनुज।"

राजस्व एवं राजनीति—डाल्टन के इस मत पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है कि राजस्व अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है। इसके अनुसार राजस्व का राजनीति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। देश की आर्थिक नीति एवं राजस्व-व्यवस्था वहां के राजनैतिक वायुमण्डल, राजनैतिक संस्थाओं एवं जनता की राजनैतिक चेतनता पर निर्भर होती हैं। सरकार को कोई नया कर लगाने से पूर्व उसके परिणामों को समझना आवश्यक होता है और इसके लिए देश के राजनैतिक कलेवर को जानना अत्यन्त आवश्यक है। एक समाजवादी सरकार धनिकों पर अधिक से अधिक कर लगाकर धन वसूल करना चाहेगी, तो उसकी राजस्व-नीति उसी प्रकार की होगी जैसा उनका राजनैतिक वातावरण होगा। अतः राजनीति के विद्यार्थी को राजस्व का ज्ञान होना उतना ही आवश्यक है जितना उसे गणित एवं देश की भौगोलिक स्थिति के बारे में समझना।

राजस्व एवं अंकशास्त्र—राजस्व का अंकशास्त्र से भी विशेष संबंध है। अंकशास्त्र में आंकड़ों के आधार पर अनुमान लगाकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और फिर उनसे सापेक्ष संबंध निर्धारित किया जाता है। राजस्व सही और वैज्ञानिक आंकड़ों के किनारे किनारे चलता है। आंकड़ों के बिना राजस्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं हो सकता। सरकार किन किन स्रोतों से कितनी कितनी आय प्राप्त करती है और किन किन साधनों पर कितना व्यय करती है, इस सबका सापेक्ष और सम्पूर्ण अध्ययन आंकड़ों की सहायता से ही हो सकता है। इसी प्रकार बजट तैयार करने में आंकड़ों की सहायता ली जाती है। बजट में आय-व्यय संबंधी जो अनुमान लगाए जाते हैं वे अंकशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार तैयार होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि राजस्व का अंकशास्त्र से अविच्छेद्य संबंध है और अंकशास्त्र की विभिन्न प्रणालियों और सूत्रों की राजस्व के अध्ययन में अनिवार्य आवश्यकता होती है।

राजस्व एवं व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन का भेद
(Distinction between Public Finance and Private Finance)

राजस्वशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहिले राजस्व एवं व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन का भेद जाना जाय। दोनों प्रकार की वित्त-व्यवस्थाओं के सिद्धान्त मूलरूप में यद्यपि एक जैसे जान पड़ते हैं किन्तु उनके उद्देश्य और प्रकृति में मौलिक भेद है। व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में जहां केवल व्यक्तिविशेष की, उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति के सम्बन्ध में, वित्तीय क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है वहां राजस्व के अन्तर्गत सरकार की उत्पादक क्रियाओं, जिनके द्वारा वह जनता की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे, का अध्ययन किया जाता है। दोनों प्रकार की वित्त-व्यवस्थाओं में मूल भेद इस प्रकार है :—

(१) **आय-व्यय के समायोजन में भेद**—व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन के अन्तर्गत मनुष्य अपनी आय के अनुसार व्यय करता है। जहां तक बन पड़ता है, वह उतना ही व्यय करता है जितनी उसकी आय होती है। यही नहीं, वह अपनी आय में से कुछ भाग व्यय करके शेष राशि बचत के रूप में भविष्य के लिए संचय करता जाता है। कहते हैं कि "तेते पांव पसारिए, जेती लांबी सौर"। अंगरेजी में भी एक कहावत है कि "Cut your coat according to the cloth" इन सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य अपनी आय के अनुसार अपने व्यय का समायोजन करता है। परन्तु राजस्व का सिद्धांत इसके बिल्कुल विपरीत है। सरकार पहिले व्यय का अनुमान लगाती है और फिर अनुमानित व्यय के अनुसार आय के स्रोत और साधन निकाले जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सरकार अपने व्यय के अनुसार अपनी आय का समायोजन करती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु दोनों ही वित्त-व्यवस्थाओं में ऐसा करना सदैव संभव नहीं होता। दोनों में अनेक प्रकार की ऐसी व्यावहारिक बाधाएं आती हैं जो व्यक्ति और सरकार, दोनों को उक्त सिद्धान्तों के विरुद्ध चलने पर विवश कर देती हैं। कभी कभी मनुष्य को भी अपनी देनदारी और व्यय का अनुमान लगाकर आय के नये साधन खोजने होते हैं। मनुष्य के साथ कोई कोई व्यय इतने आवश्यक होते हैं कि उनमें किसी भी प्रकार की काट-छांट करना सम्भव नहीं होता और तब विवश होकर उन्हें पूरा करने के लिए मनुष्य अपनी आय बढ़ाने पर विवश हो जाता है। इसी प्रकार कभी कभी सरकारें भी अपने व्यय का अपनी आय के अनुसार समायोजन करने पर विवश हो जाती हैं। कभी कभी सरकार के बजट में व्यय की अपेक्षा आय अधिक हो जाती है तो वह उस अतिरेक आय को व्यय करने का निश्चय करती है।

(२) **व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन एवं राजस्व में अवधि का अन्तर**—सरकार प्रायः एक वर्ष की अवधि के लिए आय-व्यय का ब्यौरा तैयार करके बजट तैयार करती है परन्तु व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में मनुष्य किसी निश्चित अवधि के लिए अपनी आय-व्यय का ब्यौरा तैयार नहीं करता। व्यक्तिविशेष के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह किसी निश्चित अवधि के लिए बजट बनावे और आय-व्यय का संतुलन करे। हां, कुछ लोग अपने मासिक वेतन की आय का हिसाब लगाकर अपने व्यय का समायोजन करते हैं पर कोई भी व्यक्ति एक वर्ष के लिए वित्त-व्यवस्था का प्रोग्राम तैयार नहीं करता। ऐसे कुछ इने-गिने ही परिवार होते हैं जिनके मुखिया अपना वर्ष भर का हिसाब-किताब लगाते हों।

(३) **वित्त-व्यवस्थाओं के उद्देश्यों में अन्तर**—व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करता है कि जहां तक हो सके वह अपनी आय से कम व्यय करे ताकि कुछ राशि भविष्य के लिए बचाई जा सके। इस उद्देश्य से वह कभी कभी अपने निर्धारित व्यय की मदों में कमी करने का प्रयत्न भी करता है। कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो भविष्य की चिन्ता न करके वर्तमान में खाते-पीते और मौज करते हैं। इसके विपरीत, सरकार अपना हित इस बात में समझती है कि उसकी जनता अधिकाधिक सुखी रहे। इसके लिए वह आय से अधिक भी व्यय कर सकती है। आजकल तो सरकारें भी भविष्य के लिए व्यवस्था करने में काफी प्रयत्नशील रहने लगी हैं। वे समाज-सुरक्षा, निर्माण-कार्यों तथा अन्य विकास-योजनाओं पर इतना अधिक व्यय करने लगी हैं कि जिसका लाभ उन्हें तुरन्त ही न मिलकर अनेक वर्षों पश्चात् मिलता है। अतः सरकारें भी भविष्य के लिए चिन्तित रहने लगी ह परन्तु वे वर्तमान में भी अपनी जनता के सुखों के प्रति उदासीन नहीं रहतीं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिविशेष अपनी आय से कम व्यय करके बचत करता जाता है, पर यदि कभी सरकार अपने बजट में आय अधिक करके व्यय कम करे तो उसके 'आधिक्य बजट' (Surplus Budget) से जनता में असन्तोष रहता है कि 'सरकार जनहित में अपनी कुल आय को व्यय नहीं करती।' अतः सरकारें आय-व्यय का संतुलित समायोजन करती हैं या आय बढ़ाने के लिए अपने बजटों में घाटा दिखाती हैं। व्यक्तिविशेष के बजट में बचत एक भली बात समझी जाती है तो सरकारी बजट में बचत सरकार की अकर्मण्यता और कर्महीनता प्रदर्शित करती है।

(४) **साधनों और स्रोतों में अन्तर**—सरकार और व्यक्तिविशेष, दोनों के आय के साधनों और स्रोतों में भी अन्तर होता है। सरकार आवश्यकता होने पर विदेशों से ऋण ले सकती है और अपने देश की जनता से भी ऋण ले सकती है। इस प्रकार सरकार आन्तरिक तथा बाह्य, दोनों प्रकार के ऋण ले सकती है। पर व्यक्ति केवल अपने मित्रों व संबन्धियों से ही अर्थात् आन्तरिक ऋण ले सकता है। उसके साथ बाह्य ऋण नाम की कोई वस्तु नहीं होती। सरकार को अपनी आय बढ़ाने में कुछ भी देर नहीं लगती। वह कर लगाकर, शुल्क बढ़ाकर अपनी आय बढ़ा सकती है। पर व्यक्ति को अपनी आय बढ़ाना उतना सरल नहीं होता। न वह कर लगा सकता है और न उसके पास शुल्क नाम का कोई स्रोत होता है। सरकार के पास मुद्रा-प्रसार करके धन की आवश्यकता पूर्ण करने का एक मार्ग खुला रहता है। पर व्यक्ति इस प्रकार का कोई काम नहीं कर सकता। यदि वह नोट छापने लगे तो उसके लिए जेलखाने के द्वार खुले रहते हैं।

(५) **व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन गुप्त रहता है**—सरकारें अपने आय-व्यय के अनुमानित आंकड़े जनता की सूचना और जानकारी के लिए प्रकाशित करती हैं। राजस्व का मर्म ही प्रचार एवं प्रसार है। सरकारी वित्त-व्यवस्था में वित्त-मंत्री प्रतिवर्ष बजट तैयार करके उसका अधिक से अधिक विज्ञापन करता है। सरकारी वित्त-योजनाओं का जितना अधिक प्रचार होता है उतनी ही अधिक सरकार की साख बढ़ती है। किन्तु व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वित्तीय स्थिति गुप्त रखना चाहता है। वह प्रयत्न करता है कि उसकी वास्तविक अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक स्थिति का ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति को न लगने पावे। अपनी साख बनाए रखने के लिए व्यक्ति अपनी वास्तविक स्थिति का पता दूसरों को नहीं देना चाहता। वह सोचता है "बंधी मुट्ठी लाख की, खुल गई तो खाक की।"

(६) **सरकारी आय-व्यवस्था अधिक लोचदार होती है**—सरकार की आय के साधन अधिक लोचदार होते हैं। सरकारें अपनी आय, व्यय तथा अन्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आर्थिक योजनाओं में बड़े से बड़े परिवर्तन भी बड़ी सरलतापूर्वक कर सकती हैं। पर व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में यह बात नहीं होती। व्यक्तिविशेष अपनी आय-व्यय में मौलिक परिवर्तन उतनी सरलता से नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय बढ़ाना चाहता है पर कितने व्यक्ति ऐसा कर पाते हैं ? कभी कभी तो ऐसे अवसर आते हैं कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अपनी आय नहीं बढ़ा पाता और अपना व्यय कम नहीं कर सकता।

(७) **व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में सीमान्त उपयोगिता का बड़ा महत्त्व है**—उपभोग के सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय इस प्रकार व्यय करना चाहता है कि वह उस व्यय के क्रम में अपने धन की प्रत्येक इकाई से एकसी सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से वह विभिन्न वस्तुएं खरीदते समय उन वस्तुओं की सापेक्ष उपयोगिताओं पर विचार कर लेता है। सरकार को अपनी आय व्यय करते समय उक्त सिद्धान्त का पूर्ण-रूपेण पालन करना सम्भव नहीं होता। यद्यपि वित्त-मंत्री बजट बनाते समय व्यय की मदों को बड़ी विवेकपूर्ण रीति से निर्धारित करता है पर फिर भी सम-सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त सरकारी व्यय के क्रम में उतना प्रयुक्त नहीं हो सकता जितना व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन में।

(८) **राजस्व में एक नवीन विशेषता**—सरकार को अपने कुछ विभागों के लिए विशेष व्यय करना पड़ता है, जैसे सुरक्षा-विभाग—कभी-कभी तो सरकार अन्य विभागों के व्ययों में कमी करके सुरक्षा-विभाग पर अधिकतम व्यय करती है (अनेक सरकारों के बजटों में प्रायः ऐसा ही देखने में आता है)। व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था में यह बात नहीं होती। यद्यपि व्यक्तिविशेष भी अपनी कुछ मदों को काट-छांटकर अन्य मदों पर अधिक व्यय करने लगता है पर फिर भी वह इस बात का अधिक ख्याल रखता है कि व्यय की सारी मदों पर इस प्रकार राशि व्यय करे कि उसकी सारी आवश्यकताएं तृप्त हो जायं और उपयोगिता भी महत्तम मिल सके।

उक्त बातों के कारण सरकारी अर्थ-प्रबन्धन व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था से भिन्न माना जाता है। ठीक भी है, दोनों वित्त-व्यवस्थाओं के सिद्धान्तों, आय-व्यय के उद्देश्यों, स्रोतों और साधनों में मूल भेद होने के कारण दोनों अलग अलग ही हैं।

सारांश

बहुत पहिले लोगों की कुछ ऐसी धारणा थी कि देश की जनता को आर्थिक एवं वित्तीय क्षेत्रों में स्वतंत्रता होनी चाहिए और सरकार का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। पर शनैः शनैः यह धारणा बदलती गई।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आज आर्थिक क्षेत्र के सभी पहलुओं में सरकार का हस्तक्षेप और छाप है। फौज, पुलिस, न्यायालय, जेलखाने, रेल, जहाज, तार, सड़क, नहरें, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में आज सरकार का कुछ न कुछ कर्त्तव्य अनिवार्य समझा जाता है। इन कार्यों के संपादन और संचालन में सरकार को कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। सरकार इन आवश्यक साधनों को किस प्रकार प्राप्त करती है और फिर जनहित में उनका किस प्रकार उपयोग करती है?—इन प्रश्नों का अध्ययन ही राजस्व का मूल विषय है। राजस्व में सरकार और व्यय सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार 'राजस्व' सरकारी आय के विभिन्न साधनों का एवं उन साधनों से प्राप्त आय के व्यय-स्रोतों का अध्ययन-विश्लेषण है। वैसे तो विभिन्न लेखकों ने प्रकार प्रकार से 'राजस्व' का अर्थ व्यक्त किया है पर उन सब अर्थों का मूल सार 'सरकारों के आय-व्यय के साधनों, स्रोतों और उद्देश्यों' से है। आज तो राजस्व का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है। इसके मुख्य विभाग चार हैं—(१) सरकारी व्यय एवं उसके उद्देश्य और स्रोत; (२) सरकारी आय एवं उसके साधन और सिद्धान्त; (३) वित्तीय प्रशासन; (४) जन-ऋण। ये चारों विभाग मिलकर राजस्वशास्त्र का निर्माण करते हैं।

'राजस्व' का महत्त्व इसके क्षेत्र के साथ साथ बढ़ता जा रहा है। ज्यों ज्यों संसार के आर्थिक पहलू जटिल और पेचीदे बनते जाते हैं त्यों त्यों सरकार उनमें अपना हस्तक्षेप बढ़ाती जाती है। समाज में धनोत्पादन एवं धन-वितरण के क्रमों का समुचित प्रबन्ध करने के लिए सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता होने लगी है और उसके साथ साथ राजस्वशास्त्र का क्षेत्र और महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है।

'राजस्वशास्त्र' कोई संकुचित, सीमित या मर्यादित विषय नहीं है। डाल्टन का कथन है कि "राजस्व अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है।" इस प्रकार राजस्व का अर्थशास्त्र और राजनीति से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं, अंकशास्त्र और समाजशास्त्र से भी राजस्व की बड़ी जान-पहिचान है।

राजस्व और व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन के उद्देश्यों, सिद्धान्तों और साधनों में मल अन्तर होने के कारण इन्हें अलग अलग वित्त-व्यवस्थाओं का रूप दिया जाता है। दोनों वित्त-व्यवस्थाओं में इन बातों पर मूल भेद है—(१) आय-व्यय के समायोजन में भेद; (२) दोनों व्यवस्थाओं की अवधि में भेद; (३) उद्देश्यों में अन्तर; (४) साधनों और स्रोतों में अन्तर; (५) आय-व्यय की गतिविधि तथा क्रियाओं में अन्तर आदि आदि।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'राजस्व' से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान युग में इसका क्या महत्त्व है ?

(२) राजस्व का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ? इस पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

(३) 'राजस्व' की वैज्ञानिक परिभाषा तैयार करते हुए उसका विभिन्न शास्त्रों से सम्पर्क स्थापित कीजिए।

(४) सरकारी अर्थ-व्यवस्था एवं व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्धन के मल भेद समझाकर लिखिए।

(५) राजस्व के वर्तमान महत्त्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(६) वर्तमान युग में आर्थिक क्षेत्र में सरकार का हस्तक्षेप किस सीमा तक सहन किया जा सकता है ? इस पर अपना मत प्रकट करते हुए संक्षेप में नोट लिखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४२

सरकारी व्यय-व्यवस्था

अर्थशास्त्र में जितना महत्त्व 'उपभोग' का है, राजस्वशास्त्र में उतना ही महत्त्व 'सरकारी व्यय' का है। अर्थशास्त्र में उपभोग को आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य और अन्त माना जाता है। इसी प्रकार सरकार के आय एवं वित्तीय प्रशासन का उद्देश्य सरकारी व्यय समझा जाता है। पर इस विषय में एक बात और है। सरकारी व्यय सरकार की आर्थिक क्रियाओं का अन्त ही नहीं वरन् समाज-सेवा और जनहित का एक साधन भी है। किसी भी सरकार को अपनी जनता का अत्यधिक हित करने के लिए अपनी आय को इस प्रकार व्यय करना चाहिए कि उसके द्वारा जन-जन को लाभ पहुंचे और समाज की उन्नति हो। व्यय करने के क्रम में सरकार के वित्तीय अधिष्ठाता को सरकारी व्यय की प्रकृति, उसके उद्देश्यों और सिद्धान्तों को भली भांति समझ लेना आवश्यक होता है। यहां हम उन्हीं सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे।

यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि राजस्वशास्त्र के अन्तर्गत सरकारी व्यय का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं अध्ययन कोई बहुत पुराना विषय नहीं है। पहिले सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित होने के कारण सरकारी व्यय के स्रोत सीमित ही होते थे। सरकारों की आय कम होने के कारण व्यय का कम होना भी स्वाभाविक था। यही कारण है कि गत शताब्दी में इस विषय के जानकारों ने सरकारी व्यय-व्यवस्था पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना आज के विशेषज्ञ देने लगे हैं। आज तो सरकारी व्यय सरकार की क्रियाओं का लक्ष्य ही माना जाता है। समाजोन्नति का माप सरकारी व्यय की व्यवस्था समझी जाने लगी है। आज सरकारी व्यय का मुख्य ध्येय सामाजिक जीवन को सुरक्षित और सुसंगठित बनाना तथा आर्थिक एवं अन्य दृष्टिकोण से समाज की प्रगति करना माना जाता है। वर्तमान शताब्दी में उक्त उद्देश्यों को लेकर ही सरकारी व्यय का स्वरूप बढ़ता रहा है। ऐसा क्योंकर हुआ? इसके लिए पाठक अभी देखेंगे कि सरकारी व्यय क्यों बढ़ता है।

सरकारी व्यय में वृद्धि के कारण

वर्तमान शताब्दी में देश देश की सरकारों के बजटों में व्यय-राशि की जो मात्रा बढ़ती रही है उसके कारणों पर यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि सिद्धान्ततः सरकारी व्यय में वृद्धि होने के कारण निम्न हैं :—

(१) जनसंख्या में वृद्धि—सरकारी व्यय में वृद्धि होने का एक मूल कारण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनसंख्या का बढ़ना है। ज्यों ज्यों देश की जनसंख्या बढ़ती है त्यों त्यों वहां की सरकार को उस बढ़ती हुई जनसंख्या की सुख-सुविधा के लिए प्रकार प्रकार के साधन जुटाने और बढ़ाने की आवश्यकता होती है—पुलिस-फौज बढ़ानी होती है, शिक्षा-चिकित्सा का प्रसार करना होता है तथा उत्पादन-वितरण के प्रति भी उसका दायित्व बढ़ जाता है। इन बढ़ते हुए दायित्वों को निभाकर बढ़ते हुए लोगों के कल्याण में सरकार का व्यय बढ़ जाता है।

(२) **वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि**—वस्तुओं के मूल्य-स्तर बढ़ने से जिस प्रकार व्यक्तिविशेष का जीवन-व्यय बढ़ जाता है उसी प्रकार सरकारी व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। मूल्य बढ़ने पर सरकार को अपने कर्मचारियों का वेतन बढ़ाना पड़ता है अथवा मंहगाई का भत्ता देना पड़ता है, जन-कल्याण के कार्यों पर अधिक राशि की आवश्यकता होती है तथा सरकारी विभागों को अपनी आवश्यक समग्री खरीदने पर अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इन सब कारणों से सरकार का व्यय बढ़ जाता है।

(३) **राष्ट्रीय आय एवं रहन-सहन के स्तर में वृद्धि**—कहा जाता है 'धनी जनता, धनी राष्ट्र'। जब किसी राष्ट्र में धन बढ़ने लगता है तो वहां के निवासियों के रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा होने लगता है। ऐसी स्थिति में लोगों का अपना व्यक्तिगत व्यय तो बढ़ ही जाता है पर साथ ही साथ सरकार को भी अपनी शौकीन जनता के लिए अच्छी अच्छी सड़कों, बाग-बगीचों आदि सार्वजनिक मनो-विनोद एवं कल्याण के साधनों पर अधिक व्यय करना आवश्यक हो जाता है। इस संबंध में दो सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं— (१) समाज के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय में जितनी अधिक बढ़ोत्तरी होगी, सरकारी व्यय भी उतना ही अधिक बढ़ने लगेगा; (२) देश या समाज में आय की जितनी विषमता होगी सरकारी व्यय का क्षेत्र वैसा ही विस्तृत होगा। इन दोनों सिद्धान्तों को मिलाकर ऐसा भी कहा जा सकता है कि "किसी राष्ट्र में धन की जितनी अधिक बढ़ोत्तरी हो और वहां के समाज में जितनी अधिक असमानता और विषमता हो, सरकारी व्यय का क्षेत्र उतना ही व्यापक और विस्तृत होगा।"

(४) **युद्ध व युद्ध-निवारण**—युद्ध करने तथा उसको दूर करने के कारणों से भी सरकार का व्यय बढ़ जाता है। सरकारी व्यय न केवल युद्ध जीतने के लिए वरन् उसे रोकने या दूर करने के कारण भी बढ़ता जाता है। भूलने की बात नहीं है कि गत युद्धकाल में युद्धव्यस्त देशों की सरकारों के व्यय कितने अधिक बढ़ गए थे। आज जब युद्ध नहीं है तो भी उसे रोकने की तैयारियों में हर देश में काफी खर्च हो रहा है। भारत सरकार युद्ध रोकने के लिए कितना व्यय करती है यह उसके सैनिक बजट से ज्ञात किया जा सकता है। केन्द्रीय सरकार के कुल बजट का लगभग ५० प्रतिशत सैनिक विभाग पर व्यय होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५) **दोषपूर्ण अर्थ-व्यवस्था एवं स्वार्थपूर्ण नागरिक प्रशासन**---दोषपूर्ण नागरिक प्रशासन एवं वित्त-व्यवस्था के कारणों से भी सरकार का व्यय बढ़ जाता है। सरकारी विभागों की अधिकता के कारण, विभागों में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी रखने से तथा विभागों में अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक सामग्री खरीदने से सरकारी व्यय में वृद्धि होने लगती है। ये सब बातें दोषपूर्ण प्रशासन के कारण होती हैं। हमारे देश में केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों का वर्तमान बढ़ता हुआ व्यय इसी कारण का परिणाम है ।

(६) **प्रजातंत्र का भार**---वर्तमान शताब्दी में देश देश की जनता में राजनैतिक जागृति की भावना उठ खड़ी हुई है। प्रजातांत्रिक आदर्शों के नारे बुलन्द होते रहे हैं तथा राजनैतिक दलों की संख्या बढ़ती रही है। सरकारों को भी इन विभिन्न दलों के विचारों का सम्मान करना आवश्यक होता रहा है। इस सम्बन्ध में सरकारों के दायित्व बढ़ते जा रहे हैं---गृह-निर्माण, बेकारी-निवारण, स्वास्थ्य-बीमा, वृद्धावस्था-पेंशन, अनाथ-विधवावृत्ति आदि कार्यों में सरकारों को अधिक काम करना पड़ा है । अतः प्रजातंत्र के इस भार को ढोने में सरकारी व्यय बढ़ते गए हैं। इस प्रकार जनता की सुविधाएं तो बढ़ी हैं पर 'प्रजातंत्रीय शासन' राष्ट्रों को मंहगा रहा है ।

सरकारी व्यय बढ़ना कोई बुरी बात नहीं पर वह उचित, उत्पादक एवं कल्याणकारी होना चाहिए। समाज की उन्नति-प्रगति को ध्यान में रखकर, देशवासियों की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को दृष्टिगत रखकर तथा भावी सन्तान की सुख-सुविधाओं के स्थायी साधनों को विचार कर जो व्यय किया जाय वह सार्थक, हितकर एवं श्रेयस्कर होता है। इस संबंध में सरकारी व्यय के सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है।

सरकारी व्यय के नियम

प्रो० फिण्डले शिराज ने सरकारी व्यय-व्यवस्था को संचालित एवं नियमित करने के कुछ नियमों का उल्लेख किया है ।* ये नियम इस प्रकार हैं :—

(१) **महत्तम सामाजिक लाभ का नियम**---सरकार का उद्देश्य समाज का कल्याण करना होता है। अतः सरकारी व्यय के क्रम में सरकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि जो कुछ भी राशि वह व्यय करे उससे समाज को महत्तम लाभ हो। सरकारी कोष का प्रयोग किसी व्यक्ति-विशेष, वर्ग-विशेष अथवा गुट-विशेष की सुख-सुविधा के लिए नहीं वरन् समूचे समाज के महत्तम कल्याण के लिए होना चाहिए। प्रो० शिराज ने लिखा है "सरकारी व्यय से महत्त्वपूर्ण सामाजिक लाभ, जैसे अत्यधिक उत्पादन, समाज की आन्तरिक अशान्ति एवं बाह्य आक्रमणों से

* The Science of Public Finance by Findlay Shirras Chapter iv—pp. 76-78

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रक्षा एवं आय की विषमता में कमी होना चाहिए। दूसरे शब्दों में सरकारी व्यय उस दिशा में होना चाहिए जिसमें जनता का अधिक से अधिक कल्याण हो और इस प्रकार सरकारी व्यय से महत्तम लाभ प्राप्त हो सके।" सरकारी व्यय का उद्देश्य अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित प्राप्त करना होना चाहिए।

(२) **मितव्ययिता का नियम**—समाज के महत्तम कल्याण के लिए व्यय करने में सरकार को मितव्ययी होना चाहिए। मितव्ययिता का अर्थ कृपणता नहीं है। सरकार को अपना कोष अपव्यय और क्षय नहीं करना चाहिए। सरकार को अपना कोष व्यय करने में उसी भांति सावधानी से काम लेना चाहिए जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्यों पर व्यय करने में रखता है। यह ठीक है कि सरकारी व्यय लाभकारी होता है पर वह हानिकारक भी हो सकता है। अतः हानिकारक व्यय को रोकना भी मितव्ययिता होगी। व्यय करते समय सरकार को देखना चाहिए कि उससे लोगों की बचत पर उलटा प्रभाव तो नहीं पड़ रहा है। यदि किसी भी सरकारी व्यय से लोगों की बचत करने की इच्छा-शक्ति व साधन नष्ट हो तो ऐसा व्यय सरकार को नहीं करना चाहिए।

(३) **स्वीकृति का नियम**—कोई भी सार्वजनिक व्यय करने से पूर्व उसकी स्वीकृति अधिकृत-अधिकारियों से अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। अस्वीकृत व्यय सरकार के किसी भी विभाग या कर्मचारियों को नहीं करना चाहिए। यही नहीं, अपितु जितनी राशि व्यय करने की स्वीकृति हो उससे अधिक एक इकाई भी व्यय नहीं करना चाहिए। और भी, जिस कार्य के लिए राशि व्यय करने की स्वीकृति मिली हो उसी कार्य पर व्यय करना चाहिए। इस विषय में एक बात और भी है—व्यय करने से पूर्व उसकी स्वीकृति होनी ही चाहिए, साथ ही साथ व्यय करने के पश्चात् उसका अंकेक्षण भी अवश्य कराना चाहिए कि व्यय करने में नियमों का पालन किया गया है या नहीं। सरकार के बड़े से बड़े अधिकारी को भी उचित अधिकारियों की स्वीकृति बिना कोई भी राशि व्यय नहीं करना चाहिए।

(४) **आधिक्य का नियम**—सरकारी व्यय के क्रम में सरकार को अपने आय-व्यय में उचित सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। न तो आय बढ़ाकर आवश्यकता से कम व्यय करना चाहिए और न भारी भारी व्यय बढ़ाकर घाटे का बजट बनाना चाहिए। जहां तक हो सके आय-व्यय का संतुलित सामञ्जस्य लाना चाहिए। शिराज का विश्वास है कि "सरकार को सामान्य नागरिकों की भांति अपनी जीविका कमाना और व्यय करना चाहिए। व्यक्तिगत व्यय की भांति संतुलित बजट के सिद्धान्त को मानना चाहिए। कुछ लोग घाटे के बजट के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार मितव्ययिता आती है। पर इस विषय में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इस प्रकार का मत व्यक्त किया गया था—"वह देश जो घाटे के बजट की नीति को मानता है, चिकने रास्ते पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चलता है जो सर्वनाश की ओर ले जाता है । उस दुर्घटना से बचने के लिए कोई भी त्याग बड़ा नहीं है ।"* ग्लेडस्टन ने एक बार लिखा था "भविष्य के नाश, क्रान्ति एवं गड़बड़ी से बचने के लिए आय एवं व्यय में संतुलन रखना परमावश्यक है ।" † स्थायी एवं सुदृढ़ वित्तीय प्रणाली की नींव पवित्र आशाओं पर नहीं किन्तु आय और व्यय, दोनों को मिलाने पर आधारित होती है ।

(५) **लोच का नियम**––सरकारी व्यय में लोच अवश्य होनी चाहिए अर्थात् आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार व्यय में आवश्यक परिवर्तन करना सम्भव होना चाहिए । व्यय बढ़ाना तो बड़ा सरल है, पर लोच की आवश्यकता व्यय कम करने में अधिक प्रयुक्त होनी चाहिए । यदि व्यय बढ़ाया जाय तो एक साथ ही नहीं वरन् शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए । इसी प्रकार व्यय कम करने में आवेश से काम नहीं लेना चाहिए । छंटनी करके व्यय कम करने से असन्तोष फैलने का भय रहता है । अतः वह सावधानी के साथ करना चाहिए ।

(६) **प्रभाव का नियम**––सार्वजनिक व्यय करते समय यह देख लेना चाहिए कि उससे देश में उत्पादन एवं वितरण पर कोई विपरीत प्रभाव न हो । सरकारी व्यय के द्वारा देश में उत्पादन संबंधी क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिए और वितरण में संतुलन होना चाहिए । सरकारी व्यय की शैली इस प्रकार रखी जाय कि उसके द्वारा धन के वितरण की असमानता एवं विषमता दूर हो ।

उक्त नियमों का पालन करते हुए सरकारी व्यय के द्वारा समाज को महत्तम लाभ पहुँचाया जा सकता है तथा देश की उत्पादक एवं वितरक शक्तियों को प्रोत्साहित करके आर्थिक विषमता दूर की जा सकती है ।

सरकारी व्यय का वर्गीकरण

राजस्वशास्त्र के विभिन्न लेखकों ने सरकारी व्यय का प्रकार-प्रकार से वर्गीकरण किया है । किसी ने सामाजिक हित को आधार मानकर व्यय के वर्ग बनाए हैं तो किसी ने सरकार के कर्तव्यों के आधार पर सरकारी व्यय का वर्गीकरण किया है । यदि किसी ने सरकारी आय के आधार पर व्यय के भेद किए हैं तो किसी ने कुछ और आधार मानकर उनका विश्लेषण कर दिया है । जो कुछ भी हो, सभी वर्गों के अपने-अपने लक्षण हैं। यहां उन वर्गों का संक्षेप में अध्ययन करेंगे ।

सामाजिक हित के आधार पर किया गया वर्गीकरण––कॉहन तथा प्लेहन नामक राजस्वशास्त्रियों ने सरकारी व्यय से समाज को होनेवाले हित के आधार

---

* अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन, ब्रुसेल्स, १९२० की रिपोर्ट पर आधारित ।

† ग्लेडस्टन के एक अभिभाषण से उद्धृत (राजस्व एवं भारतीय वित्त-व्यवस्था से संकलित)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर सरकारी व्यय का वर्गीकरण किया है। इस आधार पर सरकारी व्यय को चार भागों में बांटा गया है:—

(१) ऐसा व्यय जिससे राष्ट्र के सभी नागरिकों को समान लाभ मिलता है, जैसे सुरक्षा एवं सड़कों आदि पर किया गया व्यय;

(२) ऐसा व्यय जो सार्वजनिक तो कहा जाय पर जिसके द्वारा समाज के किसी वर्ग-विशेष को ही लाभ पहुंचे, जैसे वृद्धावस्था-वृत्ति, अनाथ-विधवाओं को दी जानेवाली सहायता;

(३) ऐसा व्यय जो सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर किया जाय और जिससे सभी लोगों को कुछ न कुछ लाभ मिले पर कुछ लोगों को विशेष लाभ मिले, जैसे न्यायालयों पर किया गया व्यय;

(४) ऐसा व्यय जिससे उन्हीं लोगों को लाभ पहुंचे जो सरकार को उन सेवाओं अथवा वस्तुओं का पूरा-पूरा मूल्य चुकाते हों, जैसे सरकारी उद्योग, रेल, तार, डाकखाने आदि।

सरकारी कर्तव्यों के आधार पर किया गया वर्गीकरण—एडम्स ने सरकारी व्यय को सरकार के कर्त्तव्यों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया है:—

(१) सुरक्षा एवं संरक्षण व्यय—जैसे पुलिस, फौज, न्यायालय, जेलखानों, पागलखानों, अनाथालयों, स्वास्थ्य-चिकित्सा आदि पर किया गया व्यय;

(२) व्यावसायिक व्यय—जैसे रेल, बिजली, व्यवसाय-उद्योग के नियंत्रण, नियमन तथा प्रोत्साहन पर किया गया व्यय;

(३) विकास संबंधी व्यय—जैसे शिक्षा, मनोरंजन, सड़क, नहर, बन्दरगाह आदि पर किया गया व्यय।

सेलिग्मैन तथा वेस्टेबल जैसे विशेषज्ञों ने एडम्स के उक्त वर्गीकरण की कड़ी आलोचना करते हुए लिखा है कि उक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत यह कहना सरल नहीं है कि अमुक व्यय संरक्षण-व्यय है अथवा विकास संबंधी व्यय। उदाहरणार्थ, रेल पर किए व्यय को संरक्षण-व्यय में सम्मिलित किया जाय या व्यावसायिक व्यय में, क्योंकि रेल-मार्ग दोनों ही कार्यों में उपयोगी हैं। सुरक्षा में भी रेलें आवश्यक हैं और व्यवसाय में तो आवश्यक हैं ही।

सरकार को होनवाली आय के आधार पर किया गया वर्गीकरण—प्रो० निकलसन ने सरकारी व्यय से सरकार को प्राप्त होनेवाली आय के आधार पर सरकारी व्यय का वर्गीकरण किया है। इस आधार पर सरकारी व्यय के चार वर्ग किए गए हैं:—

(१) वह व्यय जिससे सरकार को किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आय नहीं होती, जैसे निर्धनों एवं असहायों की सहायतार्थ किया गया व्यय तथा युद्ध-व्यय;

(२) वह व्यय जिससे सरकार को प्रत्यक्ष रूप में तो कोई आय नहीं होती पर अप्रत्यक्ष रूप से आय बढ़ने में सहायता मिलती है, जैसे शिक्षा पर किया गया व्यय;

(३) वह व्यय जिससे सरकारी आय में आंशिक सहायता मिलती है, जैसे सिंचाई के लिए नहरों पर किया गया व्यय;

(४) वह व्यय जिससे सरकार को व्यय के बराबर आय होती है या कभी कभी अधिक आय भी हो जाती है, जैसे रेल, सड़क तथा डाकखानों पर किया गया व्यय।

वैसे तो सरकारी व्यय पर कोई भी ऐसा कारण नहीं है जिससे सरकार की आय में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता नहीं मिलती हो पर निकलसन ने इस आधार को अधिक संकीर्ण बनाकर व्यय का वर्गीकरण कर दिया है।

उत्पादक एवं अनुत्पादक व्यय*—रॉबिन्सन के अनुसार सरकारी व्यय को उत्पादक तथा अनुत्पादक, दो श्रेणियों में रख सकते हैं। उनके एक लेख के आधार पर कोई भी सरकारी व्यय, जिससे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से देश के नैसर्गिक साधनों तथा मानव शक्ति की उन्नति हो, उत्पादक व्यय समझा जायगा। उत्पादक व्यय का अर्थ केवल उस व्यय से ही नहीं जिससे कोई मौद्रिक लाभ होता हो पर उससे भी है जिससे दीर्घकालीन अवधि में तथा परोक्ष रूप से देश के साधनों में विकास होता हो। इसके विपरीत अनुत्पादक व्यय से न तो कोई मौद्रिक लाभ होता है और न समाज के आर्थिक कलेवर में ही वृद्धि होती है, जैसे युद्ध पर किया गया व्यय, जिसमें हार हो गई हो।

आवश्यक एवं वैकल्पित व्यय—प्रो० मिल ने सरकारी व्यय को आवश्यक एवं वैकल्पित, दो श्रेणियों में विभक्त किया है। वैकल्पित या ऐच्छिक व्यय से उनका तात्पर्य उस व्यय से है जो ऐसे कार्यों पर किया जाय जो आवश्यक नहीं है। इस विचार का स्पष्ट रूप से व्यक्त करना तो सरल नहीं है पर समयानुसार वैकल्पित व्यय को आवश्यक व्यय कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, युद्ध विजय करने के लिए व्यय करना आवश्यक माना जाता है और तब शिक्षा एवं चिकित्सा का व्यय वैकल्पित कहा जा सकता है। पर शान्ति के समय शिक्षा एवं चिकित्सा पर किए गए व्यय को आवश्यक माना जायगा।

आवश्यक, लाभदायक तथा अनावश्यक व्यय—रोशर नामक एक राजस्व-शास्त्री ने सरकारी व्यय को आवश्यक, लाभदायक तथा अनावश्यक कहकर

* Robinson : Public Finance, pp. 7-8.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वर्गीकृत किया है। उनकी दृष्टि में आवश्यक व्यय वह है जो सरकार को अवश्य करना ही चाहिए। लाभदायक व्यय वह है जो करना आवश्यक है और जिससे समाज को लाभ भी हो सकता है पर समयानुसार टाला भी जा सकता है। अनावश्यक व्यय वह है जिसे सरकार कर सकती है और नहीं भी कर सकती। इस तीसरे प्रकार के व्यय को फालतू व्यय भी कहा जा सकता है।

प्रो० रोशर का उक्त वर्गीकरण कैसा भी हो पर किसी भी व्यय के विषय में यह निर्धारित करना कि वह किस श्रेणी में रक्खा जाय, कठिन है। फिर, एक व्यय किसी विशेष समय में किसी एक सरकार के लिए आवश्यक हो सकता है और दूसरी सरकार के लिए उसी समय में अनावश्यक हो सकता है।

स्थिर एवं अस्थिर व्यय—प्रो० जे० के० मेहता ने सरकारी व्यय को स्थिर एवं अस्थिर, दो वर्गों में बांटा है। उन्होंने लिखा है "स्थिर व्यय वह है जिसकी राशि का निश्चय जनता को उस व्यय से मिलनेवाली सेवाओं के उपयोग की सीमा पर निर्भर रहता है।" देश की सुरक्षा पर किया जानेवाला व्यय इसका एक उदाहरण है। "इसी प्रकार वह व्यय जो जनता के ही लाभार्थ किया जाता हो और जिसमें जनता द्वारा जनहित कार्यों के उपयोग की वृद्धि के साथ-साथ सरकारी व्यय में भी वृद्धि होती हो, अस्थिर व्यय कहलाता है।"*

मूल एवं गौण व्यय—प्रो० शिराज ने सरकार के कर्तव्यों के आधार पर सरकारी व्यय को 'मूल' एवं 'गौण' कहकर सम्बोधित किया है। उनका कहना है कि "मूल व्यय में वे सारे व्यय सम्मिलित हैं जो शासन के नाम से पुकारे जानेवाले शासन को अन्य सब कामों से पहिले करने होते हैं, जैसे सुरक्षा एवं शान्ति-व्यवस्था पर किए गए व्यय। गौण व्यय में सामाजिक व्यय, जनहित सम्बन्धी अन्य व्यय तथा अन्य विविध व्यय सम्मिलित हो सकते हैं।"† उक्त लेखक ने मूल व्यय को चार भागों में विभक्त करके उनकी अलग-अलग व्याख्या की है। ये भाग इस प्रकार हैं :—

(१) सुरक्षा—जिसमें जल, थल तथा नभ-सेनाओं का व्यय सम्मिलित है;
(२) शासन-विधि—जिसमें न्याय विभाग, पुलिस, जेल तथा गुप्तचर विभाग पर किए जानेवाले व्यय सम्मिलित हैं;
(३) अनुशासन-व्यवस्था—जिसमें शासन संबंधी विभागों, मंत्रालयों तथा विदेशी दूतावासों पर किया जानेवाला व्यय सम्मिलित है;
(४) ऋण सम्बन्धी व्यय।

गौण व्यय के अन्तर्गत सामाजिक व्यय जैसे शिक्षा, चिकित्सा, निर्धनों तथा

*Introduction to Public Finance by J. K. Mehta & Agrawal, pp. 1617-18.

† Science of Public Finance by Shirras, pp. 70-72.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

असहायों की सहायता, बेकारी-बीमा, अकालपीड़ितों की सेवा-सहायता के व्यय सम्मिलित किए जाते हैं। यहां यह नहीं समझना चाहिए कि गौण व्ययों का महत्त्व कम है और उनके द्वारा सम्पादित कार्यों की समाज को आवश्यकता नहीं है। वितरण की दृष्टि से सामाजिक सेवाओं पर किया जानेवाला व्यय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। आजकल तो समाजोत्थान पर किया गया व्यय अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

डाल्टन द्वारा सरकारी व्यय का वर्गीकरण—प्रसिद्ध राजस्वशास्त्री डाल्टन ने सरकारी व्यय को दो वर्गों में बांटा है—(१) अनुदान, (२) क्रय-मूल्य। ऐसा व्यय जिसके बदले में सरकार कोई वस्तु या सेवा प्राप्त करे क्रय-मूल्य कहलाता है। उदाहरणार्थ, सरकार द्वारा पुलिस, सैनिकों, अध्यापकों, न्यायाधीशों तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों पर किया गया व्यय क्रय-मूल्य कहा जायगा क्योंकि सरकार उन पर जो व्यय करती है उसके बदले में उक्त लोगों की सेवाएं खरीदती है। इसके विपरीत, वह व्यय जिसके बदले में सरकार को न कोई वस्तु मिले और न कोई सेवा प्राप्त हो अनुदान कहलाता है। उदाहरणार्थ, निर्धनों तथा असहायों की सहायता, बेरोजगारी-बीमा आदि पर किया गया व्यय अनुदान कहा जायगा। इस अनुदान के बदले सरकार को कोई वस्तु या सेवा प्राप्त नहीं होती। यहां अनुदान भी दो प्रकार का हो सकता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अप्रत्यक्ष। जब अनुदान का पूरा-पूरा लाभ उसी व्यक्ति को मिले जिसे अनुदान दिया गया है तो उसे प्रत्यक्ष अनुदान कहेंगे। पर जब अनुदान का लाभ केवल एक व्यक्ति को न मिलते हुए उसका सारा लाभ या कुछ लाभ अन्य व्यक्तियों को हस्तान्तरित किया जाय तो वह अप्रत्यक्ष अनुदान कहलाएगा।

केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय व्यय—संघीय शासन-प्रणाली को माननेवाले देशों में सरकारी व्यय तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय। केन्द्रीय सरकार प्रायः ऐसे कार्यों पर व्यय करती है जिनका संबंध सारे देश से हो और जिससे संघ के सभी राज्यों को लाभ पहुंचता हो, जैसे सुरक्षा, न्याय, डाक, तार, यातायात, मुद्रा-पद्धति तथा दूतावास आदि। जो व्यय संघ के किसी राज्य द्वारा केवल अपने शासन संबंधी कार्यों पर किए जाते हैं उन्हें प्रान्तीय तथा स्थानीय व्यय कहा जा सकता है। पुलिस, जेल, शिक्षा, चिकित्सा, सड़क, नहर आदि कार्यों पर किए गए व्यय प्रान्तीय स्तर पर तथा पानी, प्रकाश, ट्राम, बस, रोशनी, नाली इत्यादि कार्यों पर किए गए व्यय स्थानीय क्षेत्र में सम्मिलित होते हैं।

सरकारी व्यय के आर्थिक परिणाम

उत्पादन पर प्रभाव—इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी व्यय का देश के आर्थिक कलेवर पर बहुत प्रभाव पड़ता है और सरकार जितना अधिक व्यय करती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है उतना ही अधिक उसका प्रभावोत्पादक परिणाम होता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि युद्ध लड़ने में तथा उसके संचालन में जो व्यय होता है वह पूर्ण-रूपेण अनुत्पादक होता है और देश के आर्थिक कलेवर पर उसका अच्छा परिणाम नहीं होता। युद्ध-संचालन के क्रम में युद्ध जीतने की लालसा से देश की अन्य उत्पादन-क्रियाओं को बन्द करके या मन्द करके युद्धजनित कार्यों में केन्द्रित कर दिया जाता है तथा युद्ध में बहुत सा माल भी नष्ट कर दिया जाता है। इस दृष्टिकोण से युद्ध पर किया गया व्यय अवश्य ही विनाशक एवं अनुत्पादक कहा जा सकता है। पर इसमें भी एक बात और निहित रहती है—युद्ध को रोककर या युद्ध लड़कर समाज के विषम संतुलन को ठीकठाक कर दिया जाता है और देश में एक व्यवस्थित आर्थिक कलेवर बना दिया जाता है जिससे उत्पादन की शक्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिलती है। इस दृष्टिकोण से युद्ध पर किए गए व्यय को, यदि वह बहुत अधिक न हो तो, अनुत्पादक न कहकर उत्पादक ही कहना चाहिए। यह कहना असंगत न होगा कि सरकारी व्यय का अधिकांश, चाहे प्रत्यक्ष रूप से और चाहे परोक्ष रूप से, उत्पादक ही होता है। उत्पादन पर पड़नेवाले सरकारी व्यय के परिणामों को तीन प्रकार से आंका जा सकता है :—

(१) सरकारी व्यय का जनता के कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव,

(२) सरकारी व्यय का जनता के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव,

(३) भिन्न भिन्न स्थानों और आयोजनों-नियोजनों के साधनों का स्थानान्तरण पर प्रभाव।

जहां तक पहिली बात का प्रश्न है यह ठीक है कि आजकल सरकारें सामाजिक उन्नति पर जो आवश्यक व्यय करती हैं उससे समाज की उत्पादन-शक्ति बढ़ती है और उसके परिणामस्वरूप लोगों में बचत करने की शक्ति भी बढ़ती है। उदाहरणार्थ, सरकार यातायात, शिक्षा, चिकित्सा, अनुसंधान, शोध, सामाजिक सुरक्षा आदि पर जो व्यय करती है उससे लोगों की बचत करने की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

उत्पादन लोगों की काम करने की इच्छा पर भी निर्भर होता है चाहे उनमें काम करने की शक्ति कितनी ही अच्छी क्यों न हो। सरकार यदि व्यय करके जनता को भविष्य में होनेवाले लाभ का सब्जबाग न दिखावे तो लोग भविष्य के प्रति उदासीन होने लगेंगे और उनकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा मारी जावेगी। सरकार यदि बिना किसी शर्त और बंधन के वृद्धावस्था में पेंशन देने, बेकारी व अस्वस्थता को दूर करने तथा शिक्षा देने का वचन दे तो उससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनता में भविष्य के प्रति उदासीनता हो जायगी और तब उनकी बचत करने की इच्छा पर भी उलटा प्रभाव पड़ेगा। अतः यदि इस प्रकार के बन्धनहीन व्ययों पर उचित रोक लगाई जाय और उनकी मर्यादा निश्चित कर दी जाय तो उससे सरकारी व्यय का उत्पादनकारी प्रभाव पड़ेगा। प्रो० डाल्टन का कथन है, "जहां आय की मांग बेलोचदार होती है, वहां काम करने एवं बचत करने की इच्छा पर कुछ न कुछ रोक अवश्य रहती है।"

सिद्धांत की बात यह है कि बुद्धिमानी से किए जानेवाले सरकारी व्यय का उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सरकार यदि इस प्रकार व्यय करे कि देश के साधनों का स्थानान्तरण भिन्न भिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों में होकर उनका समायोजन होता रहे और इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता आती रहे तो वह व्यय उत्पादनकारी हो सकता है। यदि सरकार भिन्न भिन्न स्थानों के आयोजनों-नियोजनों का विचार करके व्यय करे तो देश का कलेवर सुडौल हो सकता है और सरकारी व्यय भी उत्पादक कहा जा सकता है। इस क्रम में सरकार नए नए व्यवसाय व उद्योग खोलने में व्यय कर सकती है तथा अविकसित व अर्ध-विकसित प्रदेशों का विकास कर सकती है। यदि ऐसा किया गया तो सरकारी व्यय निश्चित ही उत्पादक कहा जा सकता है।

वितरण पर प्रभाव—सरकारी व्यय तभी आदर्श कहा जाता है जब उसके द्वारा समाज में आय की विषमता कम करने की अधिक से अधिक संभावना हो। आय के वितरण पर प्रभाव डालने के लिए सरकारी व्यय को अधिक प्रगतिशील बनाने की आवश्यकता होती है। सरकार को अपने व्ययों का इस प्रकार नियमन करना चाहिए कि उससे समूचे समाज को महत्तम लाभ हो। सरकारी अनुदान आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी होते हैं। अनुदान जितना अधिक प्रतिगामी होगा आय की असमानता उतनी ही अधिक बढ़ेगी तथा वह जितना अधिक प्रगतिशील होगा, आय की असमानता उतनी ही शीघ्र कम होगी। अतः यदि सरकारी व्यय को प्रगतिशील बनाया गया तो वह वितरण की विषमता को दूर करने में सहायक होगा।

इस विषय में सबसे प्रमुख बात यह है कि सरकारी व्यय का उद्देश्य समाज को महत्तम लाभ पहुंचाना होना चाहिए। इस उद्देश्य को लेकर किया गया व्यय ही उत्पादन तथा वितरण पर महत्त्वपूर्ण परिणाम छोड़ सकता है।

सारांश

सरकारी वित्त-व्यवस्था में सरकारी व्यय का बड़ा महत्त्व है। व्यय सरकार की आर्थिक क्रियाओं का अन्त ही नहीं वरन् समाज-सेवा और जनहित का एक साधन भी है। किसी भी सरकार को अपनी जनता का अत्यधिक हित करने के लिए अपनी आय का इस प्रकार व्यय करना चाहिए कि उसके द्वारा जन-जन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को लाभ पहुंचे और समाज की उन्नति हो, इस क्रम में वित्त मंत्री को सरकारी व्यय की आवश्यकता, उसकी प्रकृति, उद्देश्यों और सिद्धान्तों का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए। आजकल देश-देश की सरकारों के बजटों में व्यय की मदें बढ़ती जा रही हैं। सरकारी व्यय बढ़ने के प्रमुख कारण हैं—(१) जनसंख्या में वृद्धि; (२) वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि; (३) राष्ट्रीय आय एवं लोगों के रहन सहन में विकास; (४) युद्ध एवं युद्ध निवारण की आवश्यकता; (५) दोषपूर्ण अर्थ-व्यवस्था एवं स्वार्थ-पूर्ण नागरिक प्रशासन; (६) प्रजातंत्र का भार।

सरकारी व्यय के नियम—(१) महत्तम सामाजिक लाभ का नियम; (२) मितव्ययिता का नियम; (३) स्वीकृति का नियम; (४) आधिक्य का नियम; (५) लोच की आवश्यकता; (६) प्रभाव का आधार। सरकार द्वारा किया जानेवाला कोई भी व्यय उचित अधिकारियों की स्वीकृति लेकर मित-व्ययिता के साथ समाज के महत्तम लाभ की सुविधा के उद्देश्य से करना चाहिए; उसमें लोच भी हो और उसका प्रभाव उत्पादनकारी होना चाहिए। सरकार को न आय से बहुत अधिक खर्च करना चाहिए और न आय से बहुत कम ही व्यय करना चाहिए। जहां तक हो सके सरकार के बजट संतुलित होने चाहिएं।

सरकारी व्यय को भिन्न भिन्न लेखकों ने प्रकार प्रकार से वर्गीकृत किया है। मुख्यतः इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है—सामाजिक हित के आधार पर, सरकारी कर्त्तव्यों के आधार पर तथा सरकार को होनेवाली आय के आधार पर। किसी किसी लेखक ने सरकारी व्यय को उत्पादक एवं अनुत्पादक; आवश्यक एवं वैकल्पित; आवश्यक, लाभदायक एवं अनावश्यक; स्थिर एवं अस्थिर; मूल एवं गौण; अनुदान एवं क्रय-मूल्य वर्गों में विभाजित किया है।

सरकारी व्यय का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि उसका प्रभाव समाज की उत्पादन-शक्तियों एवं आय के वितरण पर देश की सम्पत्ति बढ़ाने तथा असमानता दूर करने की ओर होना चाहिए। सरकारी व्यय तभी आदर्श कहा जा सकता है जब कि उसके द्वारा समाज में आय की विषमता कम करने की अधिक से अधिक संभावना हो। सरकारी व्यय का उद्देश्य समाज का महत्तम हित करना होता है इसलिए सरकार को इसे प्रगतिशील बनाना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

(१) सरकारी व्यय का राजस्वशास्त्र में क्या स्थान है? इसके द्वारा देश की जनता का महत्तम कल्याण किस प्रकार किया जा सकता है?

(२) सरकारी व्यय में वृद्धि होने के मुख्य-मुख्य कारणों का वर्णन करते हुए समझाइए कि सरकार का बढ़ता हुआ व्यय समाज के हित में होता है या कम होता हुआ व्यय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) सरकारी व्यय के मूल नियमों का विश्लेषण कीजिए। इस क्रम में महत्तम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

(४) सरकारी व्यय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वर्गीकरण कीजिए। 'उत्पादक एवं अनुत्पादक व्यय' से आप क्या समझते हैं ?

(५) डॉक्टर डाल्टन ने सरकारी व्यय का जो वर्गीकरण किया है उस पर अपने विचार प्रकट कीजिए। 'अनुदान' से आप क्या समझते हैं ?

(६) सरकारी व्यय के आर्थिक परिणामों की समीक्षा कीजिए।

(७) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए—

(१) अनुदान,
(२) मूल एवं गौण सरकारी व्यय,
(३) स्थिर एवं अस्थिर व्यय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४३

सरकारी आय एवं उसके स्रोत और साधन

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि वर्तमान काल में सरकारों का यय बढ़ता जा रहा है। बढ़ते हुए व्यय के अनुरूप सरकारें अपनी अपनी आय भी बढ़ाने लगी हैं और वे अपनी आय बढ़ाने के नए नए स्रोत और साधन खोजने लगी हैं। आज यह बात मानी जाने लगी है कि सरकार की जितनी अधिक आय होगी उतना ही अधिक वह समाज का हित कर सकेगी। इतना ही नहीं, आज तो समर्थ और समृद्धिशाली देशों की पहिचान भी वहां की सरकार की आय से जानी जाती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए अनुचित तथा अव्यावहारिक साधनों से काम ले या जनता से बलात् राशि छीने। सामान्यतः सरकारी आय के अनेक स्रोत हैं—सरकारी सम्पत्ति से आय होती है, जनता पर कर लगाए जा सकते हैं, सरकार व्यवसाय तथा उद्योग चलाकर आय प्राप्त कर सकती है तथा लोगों से ऋण भी लिया जा सकता है।

सरकारी आय का वर्गीकरण

आदम स्मिथ ने सरकारी आय का इस प्रकार वर्गीकरण किया है :—

(१) **प्रत्यक्ष आय** (Direct Revenue)—वह आय जो सरकारी व्यवसाय, उद्योग-धंधों, दान, उपहार, अपहरण से सरकारी शक्ति के द्वारा प्राप्त होती है, प्रत्यक्ष आय कहलाती है।

(२) **व्युत्पादित आय** (Derived Revenue)—वह आय जो आय-कर, शुल्क, विशेष कर, जुर्माना इत्यादि से प्राप्त होती है, व्युत्पादित आय कही जाती है।

(३) **प्रत्याशित आय** (Anticipatory Revenue)—सरकारी बजट में भावी आय का अनुमान भी लगाया जाता है। इसे प्रत्याशित आय की संज्ञा दी जाती है। यह आय सरकारी ऋण-पत्रों, कोष-पत्रों को बेचकर प्राप्त की जाती है। यह आय सरकार की शक्ति पर नहीं वरन् सरकार की साख पर निर्भर होती है। (आदम स्थिम चाहे इस प्रकार ऋण-पत्रों से प्राप्त आय को सरकारी आय समझें पर हम इसे आय नहीं कह सकते। यह तो एक प्रकार का ऋण होता है जो सरकार को अवधि पर लौटाना होता है।)

GC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रोफेसर सेलिग्मैन ने सरकारी आय की तीन वर्गों में व्याख्या की है :—

(१) **दानोक्त आय** (Gratuitous Revenue)—इसमें दान एवं उपहार से प्राप्त आय सम्मिलित होती है। इसको प्राप्त करने में सरकार को किसी प्रकार का श्रम या सेवा नहीं करने होते। इस आय की मात्रा एवं प्राप्ति-समय, दोनों अनिश्चित होते हैं। आजकल इस प्रकार की आय प्रायः कम देखने में आती है।

(२) **अनुबन्धीय आय** (Contractional Revenue)—यह आय सरकारी सम्पत्ति, व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों से प्राप्त होती है। रेल, तार, नहरों, डाकखानों आदि से होनेवाली आय इसी वर्ग में सम्मिलित होती है। सेलिग्मैन ने इस आय को 'मूल्य' कहकर भी पुकारा है क्योंकि इस प्रकार जो आय सरकार को प्राप्त होती है वह सरकारी सेवाओं या वस्तुओं का एक प्रकार का मूल्य होता है। चूंकि इसमें उपभोक्ता तथा सरकार के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय का एक अनुबंध सा होता है इसलिए इसे अनुबंधीय आय कहते हैं।

(३) **अनिवार्य आय** (Compulsory Revenue)—यह आय तीन प्रकार से प्राप्त होती है—एक सर्वोच्च शक्ति द्वारा, अर्थ-दण्ड या जुर्माना लगाकर तथा कर आदि अनिवार्य आरोपण करके। सरकार लोगों को उचित क्षतिपूर्ति देकर उनकी सम्पत्ति छीन सकती है।

बेस्टेबल ने सरकारी आय को दो भागों में बांटा है। उनके एक लेख के अनुसार प्रथम प्रकार की आय सरकारी उद्योगों से तथा द्वितीय प्रकार की आय कर लगाकर प्राप्त की जाती है। बेस्टेबल ने दान, उपहार, अपहरण आदि साधनों से प्राप्त आय का कोई वर्गीकरण नहीं किया है।

सरकारी आय का एक और वर्गीकरण भी हो सकता है, यथा—केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय। हमारे देश में इस प्रकार का वर्गीकरण देखने में आता है। केन्द्रीय सरकार आय-कर, चुंगी, आबकारी-कर, डाक-तार, रेल तथा कारपोरेशन-कर से आय प्राप्त करती है। प्रान्तीय सरकारें अपनी आय लगान, जंगलात, रजिस्ट्रेशन, टिकट-कर से तथा कुछ भाग आय-कर से प्राप्त करती हैं। स्थानीय सरकारें जैसे नगरपालिकाएं तथा जिलापालिकाएं अपनी आय चुंगी-कर, गाड़ियों, व्यापारों तथा व्यवसायों पर कर, पानी-कर, मकान-कर आदि से प्राप्त करती हैं।

सरकारी आय के विभिन्न स्रोत

सरकार विभिन्न स्रोतों एवं साधनों से आय प्राप्त करती है। मुख्यतः सरकारी आय के स्रोत हैं—कर (Tax), शुल्क (Fee), मूल्य (Price), अर्थदण्ड (Fine)।

कर—प्लेहन नामक राजस्वशास्त्री के अनुसार "कर धन के रूप में अनि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वार्यरूपेण दिया गया वह अंश है जो नागरिकों के सामान्य हित और कल्याण के लिए व्यय करने को सरकार नागरिकों से वसूल करती है।" इस प्रकार कर के विषय में दो मूल बातें स्पष्ट होती हैं—(१) कर करदाता को अनिवार्य रूप से देना पड़ता है; (२) वह नागरिकों के सामान्य हित के लिए लिया जाता और व्यय होता है। कर से प्राप्त आय का व्यय लोकहित एवं जनकल्याण के लिए किया जाता है न कि किसी व्यक्तिविशेष या करदाता की सेवा के लिए। प्रो० सेलिग्मैन का कथन है कि "कर करदाता द्वारा सरकार को दिया गया वह अंशदान है जिसे सरकार सामान्यतः जनकल्याण के लिए व्यय करती है। उस अंशदान से करदाता को ही लाभ प्राप्त हो यह आवश्यक नहीं है।" कर के बदले में सरकार करदाता को कोई वस्तु या सेवा देने का न वचन देती है और न देती है, वह तो सामान्य हित में वह व्यय करती है जिसमें करदाता को भी लाभ मिल सकता है। राजस्वशास्त्र के एक विशेषज्ञ ने कर को जनता का वह अंश माना है जिसे सरकार सबके हित में व्यय करती है। करदाता के त्याग और लाभ में कोई समान एवं प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। सरकार कर दो उद्देश्यों को लेकर लगाती है—एक, अपनी आय बढ़ाने के उद्देश्य से तथा दूसरे, सामाजिक दूषणों को रोकने के उद्देश्य से। निर्यात या आयात की जानेवाली वस्तुओं पर लगाया हुआ कर आय बढ़ाने के उद्देश्य से लगाया जाता है तथा शराब या अफीम पर लगा हुआ कर समाज की उन बुराइयों को रोकने के उद्देश्य से होता है चाहे उसमें सरकार की आय स्वतः ही बढ़ जाती है। सरकार का उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, उसकी आय अवश्य बढ़ती है।

शुल्क—अपनी कुछ सेवाओं के बदले में सरकार नागरिकों से (जो उन सेवाओं का लाभ उठाते हों) कुछ धन वसूल करती है। इसे शुल्क कहते हैं। शुल्क लेकर सरकार शुल्कदाता को कुछ विशेष लाभ पहुंचाती है। कोर्ट-फीस व रजिस्ट्रेशन-फीस सरकार द्वारा लिये जानेवाले शुल्क के स्पष्ट उदाहरण हैं। करदाता को कर के बदले में सरकार से कोई प्रत्यक्ष एवं समान लाभ नहीं मिलता परन्तु शुल्क के बदले में उसे सरकार कुछ विशेष लाभ देती है। शुल्क के लेन-देन में सरकार उत्पादक, तथा शुल्कदाता उपभोक्ता के रूप में काम करते हैं। शुल्क अनिवार्यरूपेण वसूल किया जाता है। प्रो० सेलिग्मैन ने अपने एक निबंध में दर्शाया है कि "लायसेंस शुल्क उसी समय शुल्क कहा जायगा जब शुल्क-दाता को उससे विशेष लाभ हो, पर जब उससे मिलनेवाली आय से सरकार को कुछ लाभ मिलता हो तो वह कर के समान ही समझा जायगा।" शुल्क सरकार द्वारा की गई सेवा के लागत के एक अंश को पूरा करता है, वह सेवा की लागत से अधिक नहीं होता। जनता कहीं सरकारी सेवाओं का दुरुपयोग न करे इसलिए सरकार उन सेवाओं के बदले में शुल्क वसूल करती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्य—सामान्य व्यवसायी की भांति सरकार भी व्यवसाय करती है। वह अपनी सेवाएं तथा वस्तुएं बेचती है। इन सेवाओं तथा वस्तुओं के बदले में सरकार को जो राशि प्राप्त होती है उसे 'मूल्य' कहते हैं। रेल, डाक, तार विभाग से जो धन सरकार को मिलता है वह उन सेवाओं का मूल्य है। इसी प्रकार जंगलों की पैदा तथा सरकारी व्यवसायों में निर्मित वस्तुओं के बदले में जो राशि सरकार को प्राप्त होती है वह 'मूल्य' है। शुल्क की भांति मूल्य अनिवार्य नहीं होता। पर इस दृष्टि से अनिवार्य कहा भी जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो सरकारी सेवाओं या वस्तुओं का क्रय करे, अनिवार्य रूप से मूल्य चुकाना पड़ता है। मूल्य और कर में भी मूल अन्तर है। कर जनता के सामान्य लाभ पर व्यय होता है पर मूल्य के बदले में मूल्यदाता को ही लाभ मिलता है।

विशेष कर*—कभी-कभी सरकार किसी विशेष कार्य के लिए नागरिकों से विशेष प्रकार का कर वसूल कर सकती है। उदाहरणार्थ, यदि सरकार किसी स्थान पर सड़कें बना दे, पार्क लगवा दे या नालियों की उचित व्यवस्था कर दे तो उनसे उनके पास-पड़ोस के नागरिकों को विशेष लाभ पहुंचता है। यही नहीं, अपितु उन पड़ोसियों की सम्पत्ति का मूल्य भी बढ़ जाता है। इस प्रकार उन पड़ोसी नागरिकों को एक प्रकार का अनर्जित लाभ मिलता है। इस लाभ का कुछ भाग सरकार उन नागरिकों पर विशेष कर लगाकर प्राप्त कर सकती है। प्रोफेसर सेलिग्मैन ने विशेष कर के विषय में पांच संकेतों का उल्लेख किया है—(१) उसमें विशेष उद्देश्य निहित हो; (२) उससे मिलनेवाले विशिष्ट लाभ को मापा जा सके; (३) विशेष कर प्राप्त लाभ के समानुपात में हो; (४) वह स्थानीय विकास का प्रतिफल हो; (५) स्थान का पूंजीगत मूल्य बढ़ गया हो। विशेष कर अन्य करों की भांति अनिवार्य होता है।

दर या महसूल†—नगरपालिकाएं तथा जिलापालिकाएं स्थानीय जनता के लाभ में व्यय करने के लिए अचल सम्पत्ति पर जो कर या महसूल लगाती हैं उन्हें Rates या महसूल की संज्ञा दी जाती है। ये दरें भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न होती हैं।

अर्थदण्ड या जुर्माना—सरकार अपराधी नागरिकों पर अर्थदण्ड या जुर्माना लगाकर आय प्राप्त करती है। जुर्मानों का उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं वरन् अपराधियों को दण्ड देकर समाज में होनेवाली बुराइयों को दूर करना या रोकना होता है।

---

*Special Assessment

†Rates

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

जैसे जैसे सरकार का व्यय बढ़ता है वह आय के नवीन साधन और स्रोत खोज लेती है। आदम स्मिथ ने सरकारी आय को तीन प्रकार से व्यक्त किया है—(१) प्रत्यक्ष आय (Direct Revenue); (२) व्युत्पादित आय (Derived Revenue); (३) प्रत्याशित आय (Anticipatory Revenue)। प्रो० सेलिग्मैन ने सरकारी आय के और दूसरे तीन विभाग किए हैं—(१) दानोक्त आय (Gratuitous Revenue); (२) अनुबंधीय आय (Contractional Revenue); और (३) अनिवार्य आय (Compulsory Revenue)। सरकारी आय के मुख्य स्रोत इस प्रकार हैं—(१) कर (Tax); (२) शुल्क (Fee); (३) मूल्य (Price); (४) विशेष कर (Special Assessment); (५) दरें (Rates) तथा (६) अर्थदण्ड (Fines)।

जन-ऋण को सरकारी आय का स्रोत नहीं कह सकते क्योंकि वह सरकार को वापस करना होता है। उसे सरकार की प्राप्ति (Receipt) कह सकते हैं।

परीक्षा-प्रश्न

(१) आदम स्मिथ ने सरकारी आय का जो वर्गीकरण किया है उसकी व्याख्या कीजिए।

(२) प्रोफेसर सेलिग्मैन के अनुसार सरकारी आय को किन वर्गों में बांटा जा सकता है ?

(३) सरकारी आय के विभिन्न स्रोतों एवं साधनों की विवेचना कीजिए। आपकी राय में कौनसा साधन अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है ?

(४) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां तैयार कीजिए—

(१) मूल्य (Price)
(२) शुल्क (Fee)
(३) विशेष कर (Special Assessment)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४८

कर-निर्धारण के सिद्धान्त एवं समस्याएं

बताया जा चुका है कि कर धन के रूप में अनिवार्यतः दिया गया वह अंश है जो नागरिकों के सामान्य कल्याण के निमित्त व्यय करने के उद्देश्य से सरकार नागरिकों से वसूल करती है। कर निर्धारित करने की अनेक विधियां एवं पद्धतियां हैं जिनका हम यहां विस्तृत विवेचन करेंगे।

विभिन्न कर-पद्धतियां

विभिन्न पद्धतियों के अनुसार कर समानुपाती, प्रगतिशील, प्रतिगामी एवं अधोगामी हो सकते हैं :—

समानुपाती कर-पद्धति (Proportional Tax System)—जिस कर-पद्धति में आय या सम्पत्ति पर एक निश्चित प्रतिशत की दर से कर वसूल किया जाय उसे समानुपाती कर-पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में आय या सम्पत्ति के घटने-बढ़ने पर कर की दर घटाई-बढ़ाई नहीं जाती वरन् प्रत्येक स्थिति में वही रहती है। यह पद्धति सरल होने के कारण सामान्य जनता की समझ में शीघ्र आ जाती है और प्रत्येक करदाता निश्चित रूप से जान सकता है कि उसे कितना कर चुकाना है। मैक कुलोच नामक प्रसिद्ध राजस्वशास्त्री का इस पद्धति के पक्ष में इतना विश्वास है कि उसने अपने एक लेख में लिखा है कि "इस सरल पद्धति को छोड़ना एक तूफानी समुद्र में बिना पतवार और कम्पास के चलने के समान है जिसमें डूबने या पथभ्रष्ट हो जाने का भय रहता है।" जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इस पद्धति के पक्ष में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "क्रमानुसार बदलनेवाले आय-कर की निर्धारण पद्धति उचित नहीं। वह एक सुव्यवस्थित डकैती या चोरी है।" कुछ भी हो, यह पद्धति आज अपनाई नहीं जाती। यह उसी अवस्था में उचित समझी जाती है जब आय बढ़ने के साथ साथ उसकी उपयोगिता में भी वृद्धि हो। पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। अतः यह पद्धति व्यावहारिक नहीं समझी जाती।

प्रगतिशील कर-पद्धति (Progressive Tax System)—जिस कर-पद्धति में आय या सम्पत्ति के बढ़ने के साथ साथ उस पर लगाए गए कर की दरें भी बढ़ती जायं उस पद्धति को प्रगतिशील कर-पद्धति कहा जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसके अनुसार जैसे-जैसे आय बढ़ती जाती है तैसे ही तैसे कर भी बढ़ता जाता है। यह ठीक भी है। आय बढ़ने के साथ आयकर्त्ता की कर देने की क्षमता भी बढ़ती है और इसलिए उससे अधिक कर लेना उचित ही रहता है। इसमें अधिक धनी पर अधिक कर और कम धनी पर कम कर लिया जाता है। यह पद्धति कम खर्चीली है क्योंकि कर की दरों के बढ़ने के साथ कर-वसूली का व्यय नहीं बढ़ता। नैतिक तथा सामाजिक दृष्टियों से भी यह पद्धति उत्तम समझी जाती है। ठीक भी है कि धनी और समर्थ लोगों को निर्धन और असहायों की सहायता करनी चाहिए, अतः धनी तथा समर्थों पर अधिक कर लगाया जाता है। आय-कर, सम्पदा-कर तथा उत्तराधिकार-कर इसी पद्धति के अनुसार लगाए जाते हैं। संसार के अधिकांश देशों में इसी पद्धति-को अपनाया जाता है।

प्रतिगामी कर-पद्धति (Regressive Tax System)—जिस पद्धति में कर का भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता हो उसे प्रतिगामी कर-पद्धति की संज्ञा दी जाती है। कोई भी सभ्य और समझदार सरकार इस पद्धति को नहीं अपनाती।

अधोगामी कर-पद्धति (Degressive Tax System)—जिस पद्धति में कम आयवाले की अपेक्षा अधिक आयवाले को कम त्याग करना पड़े उसे अधोगामी कर-पद्धति कहा जायगा। कोई भी कर एक निश्चित सीमा तक प्रगतिशील हो सकता है और फिर उस सीमा के पश्चात् भी उसी दर पर कर लिया जाता है। ऐसा तब होता है जब कर-पद्धति अर्द्ध-प्रगतिशील हो।

विशिष्ट तथा यथामूल्य कर (Specific and *ad valorem* Taxes)—विशिष्ट कर वस्तु (जिस पर कर लगा है) के भार या माप के आधार पर लगाया जाता है और यथामूल्य कर वस्तुओं के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। विशिष्ट कर का प्रबंध एवं प्रशासन सरल एवं सुविधाजनक होता है और यथामूल्य कर के संग्रहण में अपेक्षाकृत कठिनाई रहती है क्योंकि वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने में जांच-पड़ताल की आवश्यकता होती है।

एकक एवं अनेक-कर पद्धति (Single versus Multiple Tax System)—जब एक ही प्रकार का कर एक विशेष प्रकार की वस्तुओं अथवा वर्गविशेष के मनुष्यों पर लगाया जाता है तो उसे एकक-कर प्रणाली कहते हैं। कभी-कभी एक ही कर सभी प्रकार के मनुष्यों या वस्तुओं पर भी लगाया जा सकता है। यह प्रणाली सरल अवश्य है पर इसका प्रभाव समाज में सभी प्रकार के व्यक्तियों या वस्तुओं पर नहीं पड़ता। इससे लोगों में कर टालने की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। अनेक-कर प्रणाली में कर इस प्रकार लगाए जाते हैं कि कर का थोड़ा बहुत भार प्रत्येक व्यक्ति पर पड़े। आर्थर यंग ने इस पद्धति की सिफारिश की है। इस पद्धति से करदाताओं को असुविधा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होती है तथा कर-वसूली में सरकार को बहुत व्यय करना पड़ता है। इन दोनों प्रणालियों को छोड़ बेस्टेबल ने बहु-कर पद्धति का समर्थन किया है। उनका कथन है कि कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमें कुछ कर ऐसे हों जिनका भार केवल धनिकों पर ही पड़े और कुछ कर ऐसे होने चाहिएं जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ें।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर
(Direct and Indirect Taxes)

कर चुकाने के दायित्व एवं कर-भार की दृष्टि से कर दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष कर, (२) परोक्ष कर। यदि किसी कर को चुकाने का दायित्व एवं कर-भार, दोनों अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति पर पड़ें तो उस कर को प्रत्यक्ष कर की संज्ञा दी जाती है। ऐसे कर का भार अन्तिम रूप से उसी व्यक्ति पर रहता है जो उसका भुगतान चुकाता है। वह व्यक्ति इस कर-भार को किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं टाल सकता। आय-कर प्रत्यक्ष कर का एक उत्तम उदाहरण है। प्रो० मिल ने लिखा है कि "प्रत्यक्ष कर उसी व्यक्ति से मांगा जाता है जिससे उसे वसूल करने का सरकार का उद्देश्य होता है।"* प्रत्यक्ष कर की पद्धति बड़ी सरल और सीधी है क्योंकि वह व्यक्ति जो उसका भुगतान देता है, उसका भार भी निभाता है।

यदि किसी कर को चुकाने का दायित्व एक व्यक्ति पर हो और उसका भार अन्तिम रूप से दूसरे व्यक्ति पर पड़े तो उस कर को परोक्ष कर कहा जाता है। परोक्ष कर से दो व्यक्ति प्रभावित होते हैं—एक उसका भुगतान सरकार को चुकाता है और दूसरा उसका भार सहन करता है। जो व्यक्ति परोक्ष कर का भुगतान चुकाता है वह फिर उस कर की राशि को अन्य किसी व्यक्ति से वसूल करके उसका भार उस पर टाल देता है। उदाहरणार्थ, बिक्री-कर का भुगतान विक्रेता सरकार को करते हैं पर वे माल के मूल्य में उस कर-राशि को जोड़कर उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार को कर का भुगतान चाहे विक्रेता ने किया हो पर उसका अन्तिम भार तो उपभोक्ताओं पर पड़ता है। प्रो० मिल ने लिखा है कि "परोक्ष कर एक व्यक्ति से इस आशा और इरादे पर मांगा जाता है कि वह व्यक्ति उस राशि को दूसरे व्यक्तियों से वसूल करके अपनी हानि की पूर्ति कर लेगा।"*

* "Direct tax is demanded from the very person who it is intended or desired should pay it"....."Indirect tax is demanded from one person in the expectation and intention that he should indemnify himself at the expense of another."
John Stuart Mill: Principles of Political Economy.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों में मूल भेद भार के विवर्तन (shifting) का है। यदि किसी कर का भार अन्य व्यक्ति पर टाल दिया जाय तो वह परोक्ष कर होगा और यदि उसका भार न टाला जा सके तो वह प्रत्यक्ष कर की श्रेणी में रखा जायगा। अतः किसी कर को प्रत्यक्ष या परोक्ष कहने से पूर्व यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उसका भार विवर्तक है या नहीं। आय-कर एक प्रत्यक्ष कर माना जाता है पर कुछ विशेष परिस्थितियों में उसका अंश विवर्तक हो सकता है। उस सीमा तक वह परोक्ष कर कहा जायगा। इसी प्रकार बिक्री-कर सामान्यतः परोक्ष कर माना जाता है पर यदि विक्रेता उस कर का भुगतान करके भी वस्तुओं का मूल्य न बढ़ावे तो उस स्थिति में उपभोक्ता पर उस कर का कोई भार नहीं पड़ेगा और वह प्रत्यक्ष कर ही माना जायगा। हेडले नामक एक राजस्वशास्त्री ने उक्त दोनों प्रकार के करों का भेद निर्धारित करते हुए लिखा है कि "जिन करों का विवर्तन (shifting) नहीं होता वे प्रत्यक्ष कर होते हैं और जिनका नियमपूर्वक विवर्तन हो सके तथा जिन्हें व्यावसायिक प्रतियोगिता द्वारा दूसरों पर टाला जा सके वे परोक्ष कर कहलाते हैं।" बेस्टेबल का कहना है कि "प्रत्यक्ष कर स्थायी और समागत अवसरों पर लगाए जाते हैं तथा विशेष परिस्थितियों में तथा कभी-कभी परोक्ष कर लगाए जाते हैं।" *

प्रत्यक्ष करों के गुण—(१) प्रगतिशील होते हैं तथा उनका भार धनिकों पर सरलता से डाला जा सकता है और निर्धन तथा असहायों को कर-भार से मुक्त रक्खा जा सकता है।

(२) करदाता और सरकार के बीच कोई मध्यस्थ न होने के कारण कर-वसूली में सरलता, सुविधा तथा मितव्ययिता होती है।

(३) सरकार अपना बजट तैयार करते समय ऐसे कर से प्राप्त होनेवाली राशि की गणना निश्चित रूप से कर सकती है। करदाता को भी कर की राशि तथा उसे भुगतान करने का समय ज्ञात रहता है।

(४) ये कर लोचदार होते हैं और उन्हें आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

(५) करदाता में सरकार के प्रति अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों में चैतन्य

---

* "Those Taxes are direct which are levied on permanent and recurring occasions, while charges on occasional and particular events are placed under the category of indirect taxation."

Bastable : Public Finance, pp. 290-292

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आता है। प्रत्यक्ष कर देकर वह अनुभव करता है कि वह भी सरकार के कोष में कुछ राशि दे रहा है। उसमें नागरिकता की भावना आती है।

प्रत्यक्ष करों के अवगुण—(१) कर चुकाने की विधि जटिल होती है अतः करदाता को कर का भुगतान करने में बड़ी असुविधा होती है।

(२) करदाता को कर की सम्पूर्ण राशि एक साथ ही चुकानी होती है अतः इससे उसे बड़ा हो कष्ट होता है। इसी कारण प्रत्यक्ष कर अधिक लोकप्रिय नहीं होते।

(३) कर बचाने की अधिक आशंका रहती है। करदाता बड़ी सरलता के साथ कर टाल सकता है और सरकार को धोखा दे सकता है। कर-अधिकारियों में भी अनाचार और भ्रष्टाचार फैलने की आशंका रहती है।

उक्त कठिनाइयों और असुविधाओं के कारण प्रत्यक्ष कर जनता में अधिक लोकप्रिय नहीं होते।

परोक्ष करों के गुण—(१) परोक्ष कर को टालना बड़ा कठिन है इसलिए सरकार को ऐसा कर लगाने से कर-वसूली में बड़ी सुविधा रहती है।

(२) परोक्ष करों के द्वारा सरकार की कर-व्यवस्था बड़ी विस्तृत हो जाती है और सरकार को आय का अच्छा साधन मिल जाता है।

(३) करदाता को कर चुकाने में असुविधा नहीं होती। उसे प्रत्यक्ष कर की बहुत बड़ी राशि एक साथ ही नहीं चुकानी पड़ती वरन् वह जैसे-जैसे वस्तु खरीदता जाता है तैसे-तैसे कर चुकाता जाता है। उसे इस प्रकार कर चुकाना व्यापता नहीं।

(४) मादक तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं पर परोक्ष कर लगाकर उनका उपभोग कम किया जा सकता है और तब सामाजिक दोषों को दूर किया जा सकता है। इसके विपरीत, लाभदायक वस्तुओं को करमुक्त करके उनका उपभोग बढ़ाया जा सकता है।

(५) विलास की वस्तुओं पर इस प्रकार का कर लगाकर करों का भार श्रीमानों और धनिकों पर अधिक डाला जा सकता है।

(६) परोक्ष कर जब उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनकी मांग लोचपूर्ण है तो वह कर अधिकांश में लोचपूर्ण हो जाता है।

परोक्ष करों के अवगुण—(१) इन करों से प्राप्त होनेवाली आय अनिश्चित होती है। सरकार को बजट में निर्धारित करना कठिन होता है कि अमुक परोक्ष कर से वास्तव में कितनी आय होगी।

(२) ये कर प्रतिगामी होते हैं अतः इनका भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। इस दृष्टि से ये न्यायोचित कर नहीं कहे जा सकते।

(३) इनके द्वारा करदाता में नागरिकता का चैतन्य नहीं होता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(४) इनको वसूल करने में अधिक व्यय होता है अतः ये मितव्ययी नहीं माने जाते।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों की अपेक्षा अधिक लोचदार, न्यायोचित, मितव्ययी तथा उत्पादक होते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार केवल प्रत्यक्ष कर ही लगाती जाय। आय बढ़ाने तथा समाज के सभी अंगों पर कर-पद्धति को लागू करने के लिए सरकार को दोनों प्रकार के कर लगाने चाहिएं। प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों प्रकार के करों में एक उचित अनुपात होना चाहिए। दोनों करों के विषय में लिखते हुए ग्रेट स्काटमैन ने संकेत किया है कि "प्रत्यक्ष और परोक्ष करों को मैं दो आकर्षक बहिनों के समान समझता हूं। इसके अतिरिक्त उन्हें मैं कुछ और नहीं समझ सकता। दोनों बहिनें लन्दन के सुन्दर वातावरण में उपस्थित हैं, दोनों विपुल भाग्यशाली हैं और दोनों सहोदरा हैं। मेरा विश्वास है कि दोनों के माता-पिता 'आवश्यकता' और 'आविष्कार' हैं—उनमें केवल उतना ही अन्तर है जितना दो बहिनों में हो सकता है।" *

कर-निर्धारण के नियम
(Canons of Taxation)

आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता आदम स्मिथ ने कर-निर्धारण के कुछ मूल नियमों का उल्लेख किया है जो राजस्वशास्त्रियों तथा सरकार के वित्त-व्यवस्थापकों को पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं। कर-निर्धारण के वे नियम इस प्रकार हैं:—

(१) **क्षमता या समता का नियम**—"प्रत्येक देशवासी को अपनी क्षमता के अनुपात में सरकार को कर देना चाहिए। 'क्षमता' का आधार उसकी वह आय है जो उसे सरकार की छत्रछाया और संरक्षण के कारण प्राप्त होती है।" इस नियम में समानता का सार छिपा हुआ है। 'समानता' का अर्थ यह नहीं कि सभी नागरिकों को एकसी दर पर कर देना चाहिए या एक राशि कर में देनी चाहिए। 'समानता' का यहां अर्थ है समानुपातिक त्याग अर्थात् धनियों को अधिक और निर्धनों को कम, अपनी-अपनी क्षमतानुसार, कर देना चाहिए। आदम स्मिथ ने इस समानता का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिख दिया है कि "धनिकों द्वारा अपनी आय के समानुपात से अधिक राशि सार्वजनिक व्यय में योगदान देना अनुचित नहीं कहा जा सकता।" †

---

* फिण्डले शिराज द्वारा अपनी पुस्तक 'साइंस ऑव पब्लिक फायनेंस' में उद्धृत—पृ० २९७

† The Wealth of Nations, Book V Volume II, p. 327

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) **निश्चितता का नियम**--कर की राशि तथा उसके चुकाने का ढंग और समय निश्चित होने चाहिएं। सरकार तथा करदाता, दोनों को ही कर-राशि तथा समय निश्चित रूप से ज्ञात होने चाहिएं जिससे वे अपने-अपने बजटों को संतुलित बना सकें। कर-निर्धारण में अनिश्चितता रहने से तथा सरकार द्वारा इच्छानुसार कर-पद्धति बदलने से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। कर-पद्धति में स्वेच्छाचारिता को तनिक भी स्थान नहीं मिलना चाहिए।

(३) **सुविधा का नियम**--कर करदाता से इस रीति से और ऐसे समय वसूल करना चाहिए कि उसे अधिक से अधिक सुविधा हो। उदाहरणार्थ, भूमि का लगान फसल काटने के समय वसूल करना सुविधाजनक होता है। सरकार को भी कर-वसूली में असुविधा नहीं होनी चाहिए।

निश्चितता के नियम का अर्थ है कि कर चुकाने का समय और रीति निश्चित होने चाहिएं पर सुविधा के नियम का अर्थ है कि चुकाने का समय और रीति सुविधाजनक होने चाहिएं।

(४) **मितव्ययिता का नियम**--कर वसूल करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर-वसूली में कम से कम व्यय हो। यदि कर-वसूली करने वाले अधिकारियों के वेतन और भत्तों में कर से प्राप्त आय का अधिकांश व्यय हुआ तो वह कर अमितव्ययी होगा। जहां तक संभव हो सरकारी कोष में उतना ही आना चाहिए जितना करदाताओं से वसूल किया जाय। अनेक राजस्वशास्त्री उसी कर-व्यवस्था को सर्वोत्तम मानते हैं जिसमें वसूली का व्यय कम से कम हो। उनका विश्वास है कि कर-वसूली भी सरकार की एक उत्पादन-क्रिया है जिसमें न्यूनातिन्यून व्यय होना चाहिए।

आदम स्मिथ के उक्त कर-निर्धारण के नियमों के अतिरिक्त अन्य राजस्वशास्त्रियों ने कुछ और नए नियमों की शोध की है। ये नियम इस प्रकार हैं:—

(५) **उत्पादकता का नियम**--बेस्टेबल के अनुसार कर-व्यवस्था अधिकतम उत्पादक होनी चाहिए। सरकार को करों से प्राप्त होनेवाली आय इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि वह सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। दूसरी ओर कर-व्यवस्था का स्वरूप तथा कर की दरें इतनी जटिल और भारी नहीं होनी चाहिएं कि उनसे देश के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़े। कर न तो इतने अधिक और भारी होने चाहिएं कि उनके द्वारा करदाताओं की उत्पादन-शक्ति पर आघात लगे और न इतने कम होने चाहिएं कि वे सरकार की उत्पादन-योजनाओं में कुछ काम ही न आ सकें। दोनों प्रकार से कर उत्पादक होने चाहिएं।

(६) **लोच का नियम**--कर-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें सरकार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जब आवश्यक समझे तभी अपनी आय बढ़ा सके और आवश्यकतानुसार कर-पद्धति में परिवर्तन कर सके। आय-कर लोचदार कर-पद्धति का एक उत्तम उदाहरण है। रेल, डाक व तार की कर-नीतियां भी लोचदार हैं। लोचदार कर-व्यवस्था का यहां यह अर्थ नहीं कि करदाता को कष्ट देकर भी अनुचित रीति से सरकार आय बढ़ावे। लोच के इस नियम के साथ उत्पादकता तथा मितव्ययिता के नियमों को भी मिला लेना चाहिए। उत्पादकता तथा मितव्ययिता को बलि करके लोच लाना कर-पद्धति का नियम नहीं कहा जा सकता।

(७) **कोमलता का नियम**—इसका अर्थ है कि कर-पद्धति में कोई कठोरता नहीं होनी चाहिए जिससे उसमें परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक समायोजन किए जा सकें। वैसे तो कोमलता का होना लोच की एक अनिवार्य शर्त है क्योंकि जब तक कर-पद्धति कोमल नहीं हो, आय बढ़ाई ही नहीं जा सकती। कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि बिना किसी क्रांति के उसमें आवश्यक परिवर्तन किए जा सकें।

कुछ लेखकों ने 'कोमलता' और 'लोच' को एक जैसी बात मानकर एक साथ ही विश्लेषण कर दिया है पर सिद्धान्त की दृष्टि से हमने इन्हें अलग अलग ही दर्शाया है।

(८) **सरलता का नियम**—कर-पद्धति सरल, सीधी तथा सादी होनी चाहिए जिससे वह देश के सामान्य से सामान्य नागरिक की समझ में सरलता से आ सके। जटिल तथा पेचीदा कर-पद्धति जनता की समझ न आने के कारण उसमें विश्वास नहीं जमा पाती। इतना ही नहीं, कर-वसूली में भ्रष्टाचार फैलने लगता है। करदाता तथा कर-अधिकारी, दोनों का नैतिक स्तर गिरने लगता है और कर-वसूली का व्यय बढ़ जाता है। अतः कर-व्यवस्था सरल और सादी होनी चाहिए।

(९) **बहुरूपता का नियम**—देश की कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमें विभिन्न प्रकार के करों की व्यवस्था हो। एक ही प्रकार के कर से न तो पर्याप्त आय मिल सकती है और न समाज के प्रत्येक अंग पर उसे समुचित रीति से लागू किया जा सकता है। अतः जहां तक संभव हो, देश में भांति-भांति के कर होने चाहिएं पर उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि उनके प्रबन्ध-संचालन में गड़बड़ी होने लगे।

(१०) **एकरूपता का नियम**—कुछ राजस्वशास्त्रियों* ने कर-पद्धति में एकरूपता का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि कर 'एकरूप' होने चाहिएं। देश में प्रचलित सब करों का भार प्रत्येक करदाता पर एकसा पड़ना चाहिए जिससे 'समान त्याग' का सिद्धान्त पूरा हो सके।

* Nitty and Louard.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उक्त नियमों में प्रथम चार को छोड़कर, जो आदम स्मिथ ने मौलिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय प्रतिपादित किए थे, शेष नियम आधुनिक राजस्व से संबंध रखते हैं। आदम स्मिथ के चार नियमों में से प्रथम नियम—क्षमता या समानता का नियम—कर-नीति का नैतिक आधार प्रतीत होता है। शेष तीन नियम कर-वसूली से संबंधित प्रतीत होते हैं। कहा गया है कि आदम स्मिथ का प्रथम नियम सैद्धांतिक है और अन्य तीन नियम प्रशंसनीय हैं। आज के राजस्व-प्रबन्धन में उक्त दसों नियमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर-निर्धारण से पूर्व उन सभी पर विचारना आवश्यक है।

कर-निर्धारण में 'न्याय' का पुट

बताया जा चुका है कि कर निर्धारित करते समय सरकार को न्यायपूर्ण प्रवृत्ति से काम लेना चाहिए। कर-निर्धारण इस प्रकार करना चाहिए कि उसका भार समान स्थितिवाले नागरिकों पर एकसा पड़े। कर-निर्धारण में 'न्याय का पुट' राजस्व-मंत्रियों के सामने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है। इस विषय में विषय के जानकारों ने कई मार्ग खोज निकाले हैं जिनका यहां उल्लेख करना आवश्यक है।

लाभ-सिद्धान्त अथवा 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त—इसके अनुसार सरकार को करदाता से उतना ही कर लेना चाहिए जितना लाभ सरकार की छत्रछाया में उस करदाता को प्राप्त होता है। सरकारी व्यय से करदाता को जितना लाभ या सुविधा मिले उसी के अनुपात में उसे सरकारी व्यय में कर देकर सहायता करनी चाहिए।

यह सिद्धान्त देखने और सुनने में तो बड़ा उत्तम जान पड़ता है पर व्यवहार में बड़ा कठिन है क्योंकि प्रत्येक नागरिक को सरकार के संरक्षण में मिलने वाले लाभ को ठीक प्रकार से नहीं मापा जा सकता। यदि ऐसा किया भी गया तो निर्धनों और असहायों को धनिकों की अपेक्षा अधिक कर चुकाना पड़ेगा क्योंकि सामाजिक सुरक्षा का लाभ निर्धनों को अधिक मिलता है। इस क्रम में यह कहा जा सकता है कि नागरिकों को प्राप्त होनेवाले 'सामूहिक लाभ' के अनुसार ही उनसे कर वसूल होना चाहिए।

सेवा के मूल्य का सिद्धान्त—इसके अनुसार सरकार को अपनी सेवाओं के मूल्य के बराबर ही कर वसूल करना चाहिए—न इससे अधिक और न इससे कम। इस सिद्धान्त को भी व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि सरकार द्वारा दी जानेवाली बहुत सी सेवाओं का मूल्यांकन करना संभव ही नहीं हो सकता। फिर, इसमें एक कठिनाई और भी है। जब सरकार नागरिकों की समानरूपेण सेवा करती है तो प्रत्येक नागरिक को मिलनेवाली सेवा का मूल्यांकन करना संभव नहीं हो सकता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर चुकाने की क्षमता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आदम स्मिथ ने किया था। उनका कहना था कि प्रत्येक नागरिक को सरकारी व्यय को पूरा करने के लिए अपनी 'क्षमता' के अनुसार योगदान करना चाहिए। राजस्व-शास्त्रियों ने 'क्षमता' का प्रकार प्रकार से अर्थ लगाया है। प्राचीन विचारकों का मत था कि नागरिकों की कर देने की क्षमता उनकी सम्पत्ति की मात्रा के अनुसार कम या अधिक होती है अतः अधिक सम्पत्तिवाले नागरिकों को अधिक कर देना चाहिए। पर यह आधार दोषपूर्ण है क्योंकि इस प्रकार वे लोग, जिनकी आय तो काफी हो पर सम्पत्ति न हो, कर से साफ बच जायेंगे। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि कर देने की 'क्षमता' नागरिक के 'व्ययस्तर' पर आधारित होनी चाहिए। उनका तर्क है कि जो व्यक्ति अधिक व्यय करते हैं वे कर भी अधिक दे सकते हैं। परन्तु यह आधार भी गलत है क्योंकि एक बड़े परिवारवाला व्यक्ति, जो छोटे परिवार की अपेक्षा अधिक व्यय करता हो, अधिक कर देने की क्षमता रक्खे, यह आवश्यक नहीं है। कुछ लोग 'आय' को क्षमता का आधार मानते हैं पर यह पक्ष भी सबल नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि दो समान आयवाले व्यक्तियों की पारिवारिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हों तो उनकी कर देने की क्षमता एक जैसी नहीं कही जा सकती। कुछ अन्य विशेषज्ञों ने 'त्याग' के आधार पर कर देने की क्षमता निर्धारित करने के सुझाव दिए हैं। त्याग के आधार पर कर देने की क्षमता ज्ञात करने के तीन स्वरूप हो सकते हैं :—

(१) **समान त्याग का रूप**—कर इस प्रकार लगाया जाय कि सब करदाताओं को समान त्याग करना पड़े। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर-पद्धति प्रगतिशील रखनी चाहिए। पर इसमें एक कठिनाई आती है कि करदाता का परोक्ष त्याग ज्ञात करना संभव नहीं होता।

(२) **न्यूनतम सामूहिक त्याग का रूप**—इसके अनुसार सामूहिक रूप से करदाताओं को न्यूनतम त्याग करना चाहिए। कर-नीति ऐसी होनी चाहिए कि जनता को न्यूनतम त्याग करना पड़े। यदि ऐसा किया गया तो अधिक आयवालों पर कर लगाने से सामूहिक त्याग की मात्रा कम होगी और इसलिए अधिक आयवालों पर ही कर लादे जायेंगे। फलतः धनी लोग कम काम करने लगेंगे और उनमें अधिक काम करके धन कमाने का उत्साह नहीं रहेगा।

(३) **समानुपातिक त्याग का रूप**—इसके अनुसार प्रत्येक नागरिक पर उसकी आय के अनुपात में कर लगाना चाहिए या सरकारी व्यय से वह जितना लाभ प्राप्त करता है उसके अनुपात में उससे कर लेना चाहिए। ऐसा करने के लिए कर-पद्धति प्रगतिशील होनी चाहिए।

देखने में तो 'त्याग' के आधार पर कर निर्धारित करने का सिद्धान्त बड़ा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उचित और उत्तम जान पड़ता है पर उसे व्यावहारिक नहीं कह सकते क्योंकि त्याग का कोई व्यावहारिक माप संभव नहीं है। अतः आय को ही कर-निर्धारण का सर्वोत्तम आधार मानकर कर लगाए जाते हैं।

कर-निर्धारण के विविध सिद्धान्त

(१) **वित्तीय सिद्धान्त**—कहा जाता है कि फ्रांस के वित्तमंत्री का बजट सिद्धान्त यह था कि "हंस के पर इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम चिल्लाए।" इस सिद्धान्त के अनुसार जनता पर कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि वह उसका कम से कम विरोध करे और सरकार के पास उसके द्वारा अधिक से अधिक आय हो जाय।

(२) **समाजवादी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को इस प्रकार कर-निर्धारण करना चाहिए कि उस कर के द्वारा समाज में धन के वितरण की असमानता दूर हो। प्रगतिशील कर लगाकर इस सिद्धान्त का पालन किया जा सकता है।

(३) **'जैसा हो सके वैसा करो' सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार निर्धारित करने चाहिएं कि करदाता उन्हें चुका सके तथा कर चुका देने के पश्चात् भी करदाता की आर्थिक स्थिति पूर्ववत् बनी रहे।

(४) **'कुछ न कुछ दो' सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक से, चाहे वह धनिक हो और चाहे निर्धन, कर लेना चाहिए। प्रजातंत्रीय देशों में ऐसी भावना जोर पकड़ने लगी है।

(५) **'उपभोग नियमन हेतु' सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को कर हानिकारक वस्तुओं या मादक द्रव्यों का उपयोग रोककर नियमित करने के लिए लगाना चाहिए। इससे जनता के स्वास्थ्य और नैतिकता में वृद्धि होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और फिर उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को भिन्न-भिन्न राजस्वशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से निर्धारित किया है। इनमें न तो सभी उत्तम हैं, न सभी दोषपूर्ण हैं और न सभी व्यावहारिक ही हैं। समयानुसार परिस्थितियों के अनुकूल किसी भी सिद्धान्त को माना जा सकता है।

आदर्श कर-पद्धति के लक्षण

आदर्श कर-पद्धति में समता, निश्चितता, करदाता तथा सरकार दोनों की सुविधा तथा सरलता और मितव्ययिता होनी चाहिए। कर-पद्धति विश्व-सनीय एवं सर्वांगपूर्ण आंकड़ों के आधार पर तैयार करके बनानी चाहिए जिससे भविष्य के आय-व्यय के अनुमान लगभग सही और खरे उतर सकें। वह अंधेरे में एक-उछाल मात्र नहीं होनी चाहिए। कर-पद्धति में सम्मिलित करों का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उत्पादन एवं वितरण पर पड़नेवाले प्रभावों का पूरा-पूरा ज्ञान संभव होना चाहिए। सब प्रकार के कर सुविधाजनक होने चाहिएं जिससे करदाता को कोई कठिनाई न हो। कहा गया है कि अमीरों को जितना वे सोचते हैं, उससे अधिक कर देना चाहिए और निर्धनों को समझना चाहिए कि जितना वे दे सकते हैं, उससे अधिक देते हैं। इस दोहरे भ्रम से धनिक संतुष्ट और निर्धन ईमानदार बने रहेंगे।

कर-पद्धति लोचदार तथा व्यावहारिक होनी चाहिए जिससे उसके द्वारा नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। कर-पद्धति का आधार अधिक से अधिक विस्तृत होना चाहिए। करों के भार का वितरण उचित होना चाहिए। कर का भार समर्थ और योग्य कंधों पर पड़ना चाहिए। प्रशासन की दृष्टि से कर-पद्धति योग्य एवं सरल होनी चाहिए। करों को टालने का क्षेत्र कम होना चाहिए जिससे करदाता उसे टालकर कर की चोरी न कर सकें। कर-वसूली में अनाचार और भ्रष्टाचार की संभावना कम होनी चाहिए।

आदर्श कर-पद्धति सद्भावनापूर्ण होनी चाहिए। न तो एकक-कर नीति अच्छी होती है और न अनेक-कर नीति वरन् बहु-कर नीति का पालन करना चाहिए। विभिन्न करों में ताल-मेल होना चाहिए जिससे सब साथ-साथ चल सकें। कर इस भांति लगाने चाहिएं कि उनसे किसी प्रकार देश के आर्थिक कलेवर पर एवं भावी आर्थिक विकास पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। कहा गया है कि "कर-निर्धारण का अधिकार आ जाने से विनाश की अनुचित शक्तियां जन्म ले लेती हैं और फिर विनाश की ये शक्तियां निर्माण-शक्ति को हटाकर विफल बना देती हैं।" अतः कर-निर्धारण के अधिकार का सावधानी के साथ प्रयोग होना चाहिए।

कर-देय क्षमता
(Taxable Capacity)

किसी भी सरकार को देश की जनता पर कोई नया कर लगाने से पूर्व वहां के नागरिकों की कर-देय क्षमता का पूर्ण अध्ययन-विश्लेषण कर लेना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र की कर-देय क्षमता सीमित होती है। अतः यह जानना आवश्यक हो जाता है कि सरकार किस सीमा तक कर लगा सकती है। द्वितीय युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् भी देश-देश की सरकारों ने वहां के नागरिकों पर जो तरह-तरह के कर लगाए उससे आज के युग में देश की कर-देय क्षमता का अनुमान लगाना और भी महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। अतः हम देखेंगे कि कर-देय क्षमता क्या है और यह किन तत्त्वों पर निर्भर होती है।

कर-देय क्षमता का अर्थ—भिन्न-भिन्न राजस्वशास्त्रियों ने समाज की कर-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देय क्षमता की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। डाल्टन ने उसे 'एक धुंधला और अस्त-व्यस्त विचार' कहकर पुकारा है। उन्होंने सलाह दी है कि कर-देय क्षमता एक ऐसी पौराणिक किंवदन्ती है जिसे राजस्व जैसे गंभीर और महत्त्वपूर्ण विषय का विचार करते समय भुला देना चाहिए। इसके विपरीत प्रो० फिण्डले शिराज ने कर-देय क्षमता को राजस्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझकर लिखा है कि "सरकार को सामान्यतः यह ज्ञात होना आवश्यक और बुद्धिमानी है कि साधारण और विशिष्ट परिस्थितियों में देश किस सीमा तक कर दे सकता है।"* प्रो० शिराज ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर आगे चलकर लिखा है कि "युद्धोत्तरकाल में ऋण के भार से दबे हुए देशों में बजट संतुलन की जो समस्या उपस्थित हुई उसने कर-देय क्षमता को और भी महत्त्वपूर्ण और गंभीर प्रश्न बनाकर खड़ा कर दिया है। डाल्टन जैसे प्रसिद्ध राजस्ववेत्ता का स्पष्ट मत है कि सापेक्ष कर-देय क्षमता एक वास्तविक विषय हो सकता है और उसे कुछ शब्दों में मापा भी जा सकता है पर केवल कर-देय क्षमता एक कोरी कल्पना या भ्रम है जिसमें भारी त्रुटियां और विभ्रम हो सकता है। अतः राजस्वशास्त्र के किसी अध्ययन में इसको स्थान नहीं देना चाहिए। सर जोसियाह स्टाम्प ने कर-देय क्षमता की इस प्रकार व्याख्या की है—"कर-देय क्षमता वह अधिकतम धन-राशि है जिसे नागरिक दुःखी और दलित जीवन बिताए बिना तथा आर्थिक कलेवर को अस्त-व्यस्त किए बिना सरकारी व्यय के हेतु योगदान करते हैं।"

कर-देय क्षमता के सामान्यतः दो प्रकार से अर्थ लगाए जाते हैं :— (१) समुदाय-विशेष किसी भी अनुचित दबाव के बिना जितना कर दे सके वही उसकी कर-देय क्षमता कही जायगी, (२) सरकारी व्यय में नागरिक जो योगदान दे सकें वही उनकी कर-देय क्षमता होगी। यह अर्थ बहुत व्यापक है। कर-देय क्षमता के प्रथम अर्थ के दो रूप बनाए जा सकते हैं—बिना वेदना के कर देने की क्षमता तथा वेदना की चिन्ता न करते हुए कर देने की क्षमता। यदि सच कहा जाय तो ये दोनों ही अर्थ काल्पनिक और अव्यावहारिक हैं क्योंकि कोई कर दे और वेदना न हो या वेदना माने बिना कर दे, ये दोनों ही बातें मानव-जीवन में व्यावहारिक नहीं।

कर-देय क्षमता की उक्त सभी व्याख्याएं अवैज्ञानिक प्रतीत होती हैं क्योंकि प्रत्येक में कोई न कोई ऐसा तत्त्व सम्मिलित है जिसे व्यवहारस्वरूप माप कर कर-देय क्षमता ज्ञात करना संभव नहीं। उदाहरणार्थ, जोसियाह स्टाम्प की व्याख्या में 'दुःखी और दलित जीवन' की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। इसी प्रकार शिराज की परिभाषा में 'अधिकतम आर्थिक हित' का अर्थ

* Findlay Shirras : Science of Public Finance, pp. 234-236

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लगाना संभव नहीं है। इसी प्रकार की बातें अन्य परिभाषाओं में भी मिलती हैं। अतः कर-देय क्षमता को व्यावहारिक अर्थों में स्पष्ट करना कठिन बात ही है। फिर भी कहा जा सकता है कि "राष्ट्रीय आय का वह अंश, जो उसे अर्जित करने की लागत काटकर शेष बचे, समाज की कर-देय क्षमता कही जा सकती है।" इसमें कठिनाई यह होगी कि 'अर्जित करने की लागत' को कैसे मापा जाय? कुछ भी हो, यह परिभाषा सत्य के अधिक समीप जाती दीख पड़ती है।

कर-देय क्षमता को प्रभावित करनेवाले कारण—प्रोफेसर शिराज ने कर-देय क्षमता को न्यूनाधिक करनेवाले जो कारण बताए हैं वे इस प्रकार हैं :—

(१) **नागरिकों की संख्या**—देश की जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक मात्रा में वहां के समाज की कर-देय क्षमता होगी। इस दृष्टि से भारत का स्थान अच्छा है।

(२) **कर-दाता की मनोवृत्ति**—नागरिकों की मनोवृत्ति पर कर-देय क्षमता निर्भर होती है। नागरिकों में जितनी देशभक्ति होगी, जितना सरकार के प्रति विश्वास होगा और जितना सरकार के साथ सम्पर्क होगा उतना ही अधिक वे सरकारी व्यय में योगदान कर सकेंगे।

(३) **असमान वितरण**—धन का वितरण जितना असमान होगा समाज की कर-देय क्षमता उतनी ही अधिक होगी। ४०,००० रुपये की आयवाले की कर-देय क्षमता २०००–२००० रुपये की आयवाले लोगों की क्षमता से अधिक होगी।

(४) **आय की स्थिरता**—यदि नागरिकों की आय स्थिर है तो उनकी कर-देय क्षमता अधिक होगी अन्यथा कम।

(५) **देश की आर्थिक स्थिति**—यदि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी है, उद्योग-धंधे और कृषि उन्नति पर हैं और उत्पादन खूब होता है तो वहां के नागरिकों की कर-देय क्षमता अधिक होगी। जनता का जीवन-स्तर ऊंचा हुआ तो उनकी कर-क्षमता भी अधिक होगी।

(६) **कर-निर्धारण का उद्देश्य**—यदि कर-पद्धति समझ-सोचकर वैज्ञानिक रीति पर तैयार की गई जिसमें प्रकार-प्रकार के करों को सम्मिलित किया गया तो समाज की कर-क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(७) **मौद्रिक स्थिति**—मौद्रिक स्थिति का भी कर-देय क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-स्फीति के काल में लोगों की आय बढ़ जाने से कर-देय क्षमता बढ़ जाती है। हमारे देश में मुद्रा-स्फीति के युग में जनता अनेक-अनेक भारी-भारी कर दे सकती थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सारांश

विभिन्न पद्धतियों के अनुसार कर समानुपाती, प्रगतिशील एवं प्रतिगामी और अधोगामी होते हैं। कर-पद्धतियां इस प्रकार हैं—(१) समानुपाती कर-पद्धति जिसमें आय या सम्पत्ति पर एक निश्चित प्रतिशत की दर से कर वसूल किया जाता है; (२) प्रगतिशील कर-पद्धति जिसमें करदाता की सम्पत्ति या आय बढ़ने के साथ-साथ उस पर लगाए गए कर की दरें भी बढ़ती जाती हैं; (३) प्रतिगामी कर-पद्धति जिसमें कर-भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है; (४) अधोगामी कर-पद्धति जिसमें कर इस प्रकार लगाए जाते हैं कि कम आयवाले की अपेक्षा अधिक आयवाले को कम त्याग करना पड़े।

विशिष्ट कर वस्तु की तौल या माप पर वसूल किया जाता है तथा यथा-मूल्य कर वस्तुओं के मूल्य के आधार पर वसूल किया जाता है। एकक-कर पद्धति में एक ही प्रकार का कर एक विशेष प्रकार की वस्तुओं अथवा वर्ग-विशेष के मनुष्यों पर लगाया जाता है। अनेक-कर पद्धति के अन्तर्गत कर इस प्रकार लगाए जाते हैं कि कर का थोड़ा बहुत भार प्रत्येक व्यक्ति पर पड़े। बहु-कर प्रणाली में कुछ कर केवल धनिकों पर व कुछ कर सभी नागरिकों पर लगाए जाते हैं।

यदि किसी कर को चुकाने का दायित्व एवं कर-भार, दोनों अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति पर पड़ें तो उस कर को प्रत्यक्ष कर कहते हैं। यदि किसी कर को चुकाने का दायित्व एक व्यक्ति पर तथा कर-भार दूसरे व्यक्ति पर पड़े तो उसे परोक्ष कर कहा जाता है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर में मूल भेद भार के विवर्तन का है।

प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील होते हैं, उनकी वसूली में सरलता तथा सुविधा होती है, मितव्ययी होते हैं, लोचदार होते हैं तथा उनके द्वारा करदाता में नागरिकता की चैतन्यता आती है। पर उनके चुकाने की प्रणाली जटिल होती है और उसमें करदाता को कर टालने की भावना बनी रहती है।

परोक्ष करों को टालना कठिन होता है तथा उनके द्वारा सामाजिक दोषों को दूर किया जा सकता है। परोक्ष कर देना करदाता को खटकता नहीं, पर इन करों से होनेवाली आय अनिश्चित होती है तथा इनके द्वारा करदाताओं में नागरिकता का चैतन्य नहीं आता। इनकी वसूली में भी अधिक व्यय होता है।

कर-निर्धारण के नियम—(१) क्षमता या समता का नियम, (२) निश्चितता का नियम, (३) सुविधा का नियम, (४) मितव्ययिता का नियम, (५) उत्पादकता, (६) लोच, (७) कोमलता, (८) सरलता, (९) एकरूपता, (१०) बहुरूपता। प्रथम चार नियम आदम स्मिथ ने प्रतिप्रादित किए हैं तथा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शेष वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने आधुनिक अर्थशास्त्र की आवश्यकतानुसार शोध किए हैं।

कर-निर्धारण के अन्य सिद्धान्तों में वित्तीय सिद्धान्त, समाजवादी सिद्धान्त, 'जैसा हो सके वैसा करो' सिद्धान्त, 'कुछ न कुछ करो' सिद्धान्त मुख्य हैं।

आदर्श कर-पद्धति में समता, निश्चितता, सुविधा, सरलता, मितव्ययिता, लोच, कोमलता तथा व्यावहारिकता होनी चाहिए।

कर-देय क्षमता के विषय में राजस्वशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। डाल्टन ने उसे एक 'धुंधला और अस्त-व्यस्त विचार मात्र' कहकर टाल दिया है और शिराज ने उसे 'कर-प्रणाली की एक उत्तम कसौटी' कहकर पुकारा है। कहने का अर्थ यह है कि कर-देय क्षमता राष्ट्रीय आय का वह अंश है जो उसे अर्जित करने की लागत काटकर शेष बचे। कर-देय क्षमता को न्यूनाधिक करनेवाले कारण हैं—(१) नागरिकों की संख्या, (२) कर-दाता की मनोवृत्ति, (३) आय का असमान वितरण, (४) आय की स्थिरता, (५) देश की आर्थिक स्थिति, (६) कर-निर्धारण का उद्देश्य, (७) मौद्रिक स्थिति।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'कर' किसे कहते हैं ? विभिन्न कर-पद्धतियों का उल्लेख करते हुए उनके लक्षण एवं गुण-दोष समझाइए।

(२) 'प्रगतिशील कर-पद्धति' किसे कहते हैं ? इस पद्धति द्वारा समाज में आय का समान वितरण किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ?

(३) प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों का अर्थ समझाते हुए दोनों का भेद दर्शाइए। दोनों के गुण-दोषों पर भी प्रकाश डालिए।

(४) कर-निर्धारण के विभिन्न नियमों की व्याख्या कीजिए। आदम स्मिथ ने कर-निर्धारण के जो नियम प्रतिपादित किए उनका समावेश वर्तमान कर-पद्धतियों में कहां तक देखने में मिलता है ? उदाहरण देकर समझाइए।

(५) "कर-निर्धारण में न्याय की समस्या" पर एक लेख तैयार कीजिए।

(६) आदर्श कर-पद्धति में कौन-कौन गुण होना आवश्यक है ? क्या भारतीय कर-पद्धति में वे सब गुण पाए जाते हैं ?

(७) "कर-देय क्षमता" से आप क्या समझते हैं ? इसको प्रभावित करनेवाले कारणों की विवेचना कीजिए।

(८) निम्नलिखित पर टिप्पणियां तैयार कीजिए—

(१) बहु-कर पद्धति

(२) यथा-मूल्य कर

(३) कर-देय क्षमता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४५

कर के भार के सिद्धान्त एवं समस्याएं

'कर के भार का अर्थ'––प्रायः देखने में आता है कि सरकार किसी एक व्यक्ति से कर वसूल करती है पर वह करदाता कर की राशि दूसरे व्यक्ति पर टालकर अपनी क्षतिपूर्ति कर लेता है। उदाहरणार्थ, बिक्री-कर विक्रेता से वसूल किया जाता है पर विक्रेता उस कर-राशि को वस्तुओं के मूल्य में जोड़कर उसे उपभोक्ताओं से प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बिक्री की कर-राशि चुकाने का दायित्व अथवा कर का दबाव विक्रेता पर होता है पर अन्तिम रूप से कर का भार उपभोक्ता पर पड़ता है। विक्रेता कर के भार को उपभोक्ता पर टाल देता है। इस प्रकार राजस्वशास्त्र के अध्ययन के क्रम में कर के भार का प्रश्न हमारे सामने आता है। स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कर की राशि सरकार को देता है उस पर 'कर का दबाव' (Impact) या कर चुकाने का दायित्व होता है और जिस व्यक्ति के कंधों पर अंतिम रूप से कर की राशि आकर जम जाती है, उस पर 'कर का भार' (Incidence) पड़ता है। 'कर के दबाव' और 'कर के भार' में मूलभूत अन्तर है। कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो आरम्भ में उसे सरकार को देता है और कर का भार उस व्यक्ति पर होता है जो अन्ततः उसे सहन करता है। कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है ? इसका उत्तर जानने के लिए इस प्रश्न का उत्तर समझना चाहिए कि वास्तव में कर कौन देता है ? जो व्यक्ति अन्तिम रूप से कर की राशि सहन करे वही कर का भार वहन करता है।

'कर के भार' के साथ हस्तान्तरण या विवर्तन की क्रिया निहित होती है। वह व्यक्ति जो कर की राशि सरकार को दे, प्रयत्न करके उस कर को अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करता है जिसे अन्तिम रूप से उसे सहन करना पड़ता है या जो उसे फिर किसी पर हस्तान्तरित कर देता है। जिस कर का विवर्तन न हो वह प्रत्यक्ष कर कहलाता है तथा जिसका विवर्तन हो सके उसे परोक्ष कर कहते हैं। कर के भार का विवर्तन पूर्ण प्रतियोगिता, श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता आदि तत्त्वों पर निर्भर होता है। जहां व्यापार में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वतंत्र प्रतियोगिता होती हो वहां कर का भार सरलतापूर्वक उपभोक्ता पर डाला जा सकता है पर जहां ऐसा न हो वहां उत्पादक या विक्रेता को ही कर का भार सहन करना पड़ेगा। कर के भार का विवर्तन दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर, (२) वस्तुओं की कोटि घटाकर।

'कर के भार' और 'कर के बोझ' में भी मूलभूत अन्तर है जिसको पहिचान कर हम कर के भार की समस्या को समझ सकते हैं। सरकार को किसी कर से जो मुद्रा-राशि प्राप्त होती है वह कर का 'प्रत्यक्ष मुद्रा भार' कहलाता है। उस कर को देने में करदाता को जो आर्थिक कल्याण का त्याग करना होता है वह उसका 'प्रत्यक्ष वास्तविक बोझ' कहलाता है। विक्रेता जब कर सरकार को चुकाता है और उसे हस्तान्तरित करके उपभोक्ता पर टालता है, इन दोनों क्रियाओं के बीच में कुछ समय लगता है। इस अन्तरिम समय में विक्रेता को कर में दी गई राशि पर ब्याज की हानि होती है जिसे कर का 'परोक्ष मुद्रा भार' कहते हैं। जब विक्रेता अपनी वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर कर का भार उपभोक्ताओं पर टालना चाहता है तो ऊंचे मूल्यों के कारण बहुत से उपभोक्ता उन वस्तुओं को नहीं खरीद पाते। इससे उन्हें उनका उपभोग न करने से जिस सुख और सुविधा का त्याग करना पड़ता है उसे 'परोक्ष वास्तविक भार' कहते हैं।

कर के भार के सिद्धान्त

कर के भार का प्रश्न कुछ विशेष सिद्धान्तों पर निर्भर है जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) **स्थानापन्न वस्तुओं के कर का भार**—यदि किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाय जिसकी स्थानापन्न वस्तु उपभोक्ता खोज लें तो करारोपित वस्तु का मूल्य बढ़ जाने पर उपभोक्ता स्थानापन्न वस्तु का उपभोग करने लगेंगे और करारोपित वस्तु पर लगे कर का भार उत्पादक पर ही रह जायगा। उत्पादक उस कर का भार उपभोक्ताओं पर नहीं टाल सकेगा।

(२) **एकाधिकारी व्यापार के कर का भार**—एकाधिकारी व्यापारी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। जब तक उसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर रहेंगे वह उत्पादन करता रहेगा। ऐसी स्थिति में यदि उसके लाभ पर कर लगाया गया तो अपनी वस्तुओं की वह मूल्य-वृद्धि न करके कर का भार स्वयं ही सहन कर लेगा क्योंकि कर चुकाने पर भी उसे वस्तुओं के पुराने मूल्य पर ही महत्तम आय होती रहेगी। यदि उसे मूल्य बढ़ाकर अधिक लाभ मिल सकता तो वह पहिले ही ऐसा कर सकता था। अतः आनुपातिक कर का भार एकाधिकारी स्वयं सहन करता रहेगा। पर यदि उसके उत्पादन पर कर लगाया जाय तो उससे उसका लागत-व्यय बढ़ जायगा और इस कारण उसे अपनी वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ाना पड़ेगा। मूल्य बढ़ने से कर का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भार उस वस्तु की मांग की लोच के आधार पर ज्ञात होगा। यदि उस वस्तु की मांग अधिक लोचदार न हुई तो एकाधिकारी तथा उपभोक्ता, दोनों ही कर का भार सहन करेंगे। यदि उस वस्तु की मांग उसकी प्रदाय से अधिक लोचदार हुई तो उपभोक्ता पर कर का भार पड़ेगा। यदि मांग प्रदाय की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो उपभोक्ता पर कर का भार कम पड़ेगा।

(३) **मांग तथा प्रदाय की लोच के आधार पर कर का भार**—जिस वस्तु की मांग लोचदार हो उस पर कर लगाने से कर का अधिकांश भार विक्रेता पर पड़ता है। जिस वस्तु की प्रदाय लोचदार हो उस पर कर लगाने से कर का भार उपभोक्ता पर पड़ने की संभावना रहती है। यदि किसी वस्तु की मांग और प्रदाय की लोच बराबर हो तो उस पर लगे हुए कर का भार विक्रेता और उपभोक्ता दोनों पर पड़ता है। संक्षेप में बात यह है कि कर का भार विक्रेता पर पड़े या उपभोक्ता पर, यह उन दोनों की कर-भार के हस्तान्तरण की क्षमता और योग्यता पर निर्भर होता है। अल्पकाल में प्रदाय लोचहीन होती है तथा दीर्घकाल में लोचदार। अतः अल्पकाल में कर का भार विक्रेता पर और दीर्घकाल में उपभोक्ता पर पड़ता है। इस प्रकार विक्रेता प्रदाय कम करके कर का भार उपभोक्ता पर डालने की चेष्टा करता है और उपभोक्ता मांग कम करके कर का भार विक्रेता पर रखना चाहता है। दोनों में जो अधिक समर्थ होता है वही अपने अनुकूल स्थिति बना लेता है।

(४) **करारोपित वस्तु की उत्पत्ति के नियमों के आधार पर कर का भार**—जिस वस्तु पर कर लगाया जाय यदि उसका उत्पादन स्थिर उत्पत्ति (Constant Returns) के नियमानुसार होता हो तो कर लगते ही उत्पादक उसका मूल्य बढ़ा देगा और फिर कर का भार उपभोक्ता पर पड़ेगा। यदि उस वस्तु का उत्पादन क्रमानुसार घटती हुई उत्पत्ति (Diminishing Returns) के नियमानुसार हो तो कर लगने से उसका मूल्य कर की राशि के बराबर न बढ़ाया जाकर कुछ कम बढ़ेगा और कर का भार उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों पर पड़ेगा। यदि किसी वस्तु का उत्पादन क्रमानुसार बढ़ती हुई उत्पत्ति (Increasing Returns) के नियमानुसार होता हो तो उस पर कर लगाने से उसका मूल्य कर की राशि से भी अधिक बढ़ जायगा और कर का भार उपभोक्ता पर पड़ेगा।

(५) **प्रतियोगिता के अंतर्गत कर का भार**—प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्था में कर या तो लाभ पर लगाया जाता है और या उत्पत्ति पर लगाया जा सकता है। अब यदि उत्पत्ति पर कर लगाया गया और वह कम हुआ तो उसे उच्चकोटि के उत्पादक स्वयं सहन कर सकते हैं क्योंकि उन्हें भय रहता है कि यदि उन्होंने माल का मूल्य बढ़ाया तो बिक्री कम हो जायगी। सीमान्त उत्पादक प्रतियोगिता में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ठहर ही नहीं पाते और वे अपना उत्पादन बन्द कर देते हैं। इस प्रकार उच्चकोटि के उत्पादक ही क्षेत्र में रह जाते हैं और प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और तब कर का भार सरलतापूर्वक उपभोक्ताओं पर टाल दिया जाता है।

यदि कर लाभ पर लगाया गया तो उस समय स्थिति कुछ भिन्न होगी। जिन व्यापारियों के लाभ कम होंगे उनसे कर लिया ही नहीं जायगा। अधिक लाभ कमानेवाले व्यापारियों पर कर लगेगा पर वे इस भय से माल के मूल्य नहीं बढ़ाएंगे कि कहीं उपभोक्ता छोटे व्यापारियों से ही मांग न खरीदने लगें। अतः कर का भार उपभोक्ताओं पर नहीं टाला जा सकेगा। यदि बड़े व्यापारियों को यह विश्वास हो जाय कि उपभोक्ता छोटे व्यापारियों से माल नहीं खरीदेंगे तो वे कर का भार उपभोक्ताओं पर डालने लगेंगे।

(६) ब्याज पर लगे कर का भार—यदि ब्याज पर कर लगाया जाय तो कर का भार पूंजी की मांग और प्रदाय से निर्धारित होगा। यदि पूंजी की प्रदाय उसकी मांग से अधिक हुई तो ब्याज पर लगे कर का भार पूंजीपति पर पड़ेगा। यदि पूंजी की मांग उसकी प्रदाय से अधिक हुई तो कर का भार ऋण लेनेवाले पर होगा।

(७) वेतन या भृति पर लगे कर का भार—मजदूरी या भृति पर वैसे तो कर नहीं लगाया जाता पर गुप्तरूप से उस पर कुछ कटौती लगाई जाती है। सामाजिक सुरक्षा का चंदा मजदूरों की मजदूरी में से काटा जाता है। मजदूर उसे टाल नहीं सकते और उसका भार उन्हीं को सहन करना पड़ता है। यदि इस प्रकार की कटौती किन्हीं विशेष प्रकार के श्रमिकों पर लगाई गई तो वे अपनी मजदूरी बढ़ा देंगे और फिर उस कटौती का भार नियोजकों पर पड़ेगा अथवा उसका कुछ भाग नियोजकों पर और कुछ भाग मजदूरों पर पड़ेगा।

कुछ विशिष्ट करों के भार का चिन्तन

गृहादि पर लगे कर का भार—भूगृहादि पर लगे हुए कर का भार विभिन्न पक्षों पर पड़ सकता है। यदि बने हुए मकानों पर कर लगाया जाय तो उसका भार उस मकान के क्रेता पर पड़ेगा क्योंकि मकान का स्वामी कर की राशि से उस मकान का मूल्य बढ़ा देगा। मकानों की मांग प्रायः लोचहीन होने के कारण कर का भार किरायेदारों पर पड़ता है। यदि मकानों की प्रदाय अधिक हो और फिर उन पर कर लगाया जाय तो कर का भार मकान-मालिक को ही वहन करना पड़ेगा। यदि मकानों पर भारी-भारी कर लगाए जायं तो मकान कम बनने लगेंगे। मजदूरों की मांग कम होने के कारण उनकी मजदूरी कम हो जायगी। मकान बनाने योग्य स्थानों का मूल्य कम हो जायगा। फलतः मकान की प्रदाय कम हो जायगी और फिर किराए बढ़ने लगेंगे और तब कर का भार किरायेदारों के मत्थे डाल दिया जायगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भूमि पर लगे कर का भार—भूमि के उपजाऊपन पर लगे हुए कर का भार जमींदार पर पड़ता है क्योंकि वह भूमि के लगान पर कर होता है। जमींदार उस कर को काश्तकार पर नहीं टाल सकता। यदि जमींदार भूमि पर कर लगने के कारण लागत कम करने लगे तो उसकी उपज कम हो जायगी और फिर उस माल के भाव बढ़ने लगेंगे। फलतः कर का भार उपभोक्ता पर जा पहुंचेगा। यदि मकान बनाने योग्य भूमि पर कर लगाया गया तो उसका भार उस भूमि को खरीदने वाले व्यक्ति पर पड़ेगा क्योंकि भूपति कर की राशि से उस भूमि का मूल्य बढ़ाकर वसूल करेगा। यदि कर भूमि की उपज पर लगाया जाय तो उसका भाव बढ़ जायगा और कर का भार उपभोक्ताओं पर पड़ेगा, पर यदि उस उपज की मांग लोचदार हुई तो उस कर का भार जमींदार या उत्पादक को ही सहन करना पड़ेगा।

सम्मिलित मांग और प्रदाय के अनुसार भी कर के भार का विवर्तन निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, यदि चाय पर कर लगा दिया जाय तो उस कर का भार कुछ चाय के उपभोक्ताओं पर, कुछ चाय की पेटियां बनानेवालों पर डाल दिया जायगा। यदि कर की राशि कम होती है तो उत्पादक माल का मूल्य बढ़ाने की अपेक्षा उसे स्वयं ही सहन कर लेता है पर दीर्घकाल में उसका भार उपभोक्ता के मत्थे ही डाला जाता है।

निर्यात-कर का भार—निर्यातक का विदेशी बाजारों तथा विदेशी उपभोक्ताओं पर कोई प्रभाव नहीं होता इसलिए निर्यात-कर को वह माल के भाव बढ़ाकर उपभोक्ताओं पर नहीं टाल सकता। पर यदि वह एकाधिकारी है अर्थात् उसके माल की मांग लोचहीन है तो वह माल के भाव बढ़ाकर कर का भाव उपभोक्ताओं पर टाल सकता है।

आय-कर का भार—आय-कर के भार के विषय में व्यवसायी वर्ग और सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों के अलग-अलग विचार हैं। व्यवसायी वर्ग का कथन है कि आय-कर की राशि से वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर कर-भार का विवर्तन किया जा सकता है। अनेक व्यावहारिक व्यवसायियों का कहना है कि माल का मूल्य निर्धारित करते समय व्यापारी जब अपनी लागत का अनुमान लगाता है तो वह सम्भावित आय-कर भी उसमें मिला लेता है और इस प्रकार वह कर के भार को उपभोक्ता पर हस्तान्तरित कर देता है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि प्रतियोगिता के कारण माल का मूल्य बढ़ाना और फिर आय-कर के भार का विवर्तन करना बड़ा कठिन है। वे मानते हैं कि एकाधिकारी आय-कर का भार उपभोक्ताओं पर टाल सकते हैं। अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि अपूर्ण एवं अविकसित बाजारों में, जहां प्रतियोगिता नहीं होती, आय-कर को वस्तुओं के मूल्यों में मिलाकर उपभोक्ताओं पर टाला जा सकता है। प्रो० सेलिग्मैन का कथन है कि वस्तुओं के

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूल्यों में आय-कर को सम्मिलित तो किया जा सकता है, पर यह बात दीर्घकाल तक नहीं चल सकती क्योंकि जैसे ही प्रतियोगिता बढ़ती है विक्रेताओं को मूल्य कम करने ही पड़ते हैं। मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियों पर लगे आय-कर का भार कम्पनी को ही सहना पड़ता है।

आयात-कर का भार—आयात-कर का भार आयात-निर्यात किए जानेवाले माल की मांग और प्रदाय के अनुसार दो देशों में बंट जाता है। जब देश में किसी वस्तु की प्रदाय अधिक तथा लोचदार हो तो उस वस्तु का मूल्य देश में कम बढ़ेगा और विदेशों में अधिक। यदि मूल्य बढ़ने से उत्पादन बढ़ जाय तो देश में मूल्य कम बढ़ेंगे और बाहर अधिक मात्रा में गिरेंगे। फलतः आयात-कर का भार देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। आयात-कर से मूल्य बढ़ते हैं और उपभोक्ता उस भार को सहन करते हैं। यदि कोई देश कच्चा माल निर्यात करे और उसकी मांग लोच-हीन हो तथा पक्का माल आयात करे और उसकी मांग लोचदार हो तो कर का भार विदेशियों पर पड़ेगा। पर यदि विदेशी उत्पादक किन्हीं अन्य साधनों से कच्चा माल प्राप्त कर लें तो उन पर कर का भार नहीं पड़ेगा।

बिक्री-कर का भार—यह कर माल की विक्रीत राशि पर लगाया जाता है। यह कर कुछ वस्तुओं पर लगाया जाता है तथा कुछ पर नहीं। यदि किसी वस्तु की मांग लोचहीन हुई तो विक्रेता उसका मूल्य बढ़ाकर उस कर का भार उप-भोक्ताओं पर टाल सकता है। पर यदि उसकी मांग लोचदार हुई तो कर का कुछ भार विक्रेता पर तथा कुछ भार उपभोक्ता पर पड़ेगा। यदि सच पूछा जाय तो बिक्री-कर का भार जनता को ही सहन करना पड़ता है।

मृत्यु-कर का भार—कहा जाता है कि "मनुष्य के मरने पर मृत्यु समस्त ऋणों का भुगतान करती है। मृतक व्यक्ति से अब और अधिक कर नहीं लिया जा सकता।" पर यह बात अक्षरशः सत्य नहीं है। यदि मृतक व्यक्ति ने मृत्यु-कर देने के लिए कोई बीमा करा लिया है तो वह निश्चित ही मृत्यु-कर के भार को सहन करता है क्योंकि उसी व्यक्ति ने (जो अब मर चुका है) बीमा का प्रीमियम भुगतान किया है। यदि इस प्रकार का कोई बीमा नहीं है तो इस कर का भार मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारी पर पड़ेगा क्योंकि उसकी सम्पत्ति में से कर की राशि कम हो जायगी।

करों का भार

किसी देश में करों का प्रभाव तीन प्रकार से जाना जा सकता है—(१) उत्पा-दन पर प्रभाव; (२) वितरण पर प्रभाव; तथा (३) नियोग पर प्रभाव। यहां इन तीनों रूपों में करों के प्रभाव का हम विश्लेषण करेंगे।

उत्पादन पर प्रभाव—सम्पत्ति के उत्पादन पर कर सामान्यतः तीन विधियों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से अपना प्रभाव जमाते हैं—जनता की संचय करने की शक्ति को प्रभावित करके, नागरिकों की संचय करने की इच्छा को प्रभावित करके तथा स्थान-स्थान पर व्यवसायों तथा उद्योग-धंधों के अनेक साधनों के वितरण को प्रभावित करके। कर लगाने से करदाताओं की आय कम होती है और फिर उनकी कार्यकुशलता घटने लगती है। अतः शक्तिहीनों, असमर्थों तथा निर्धनों पर कर लगाना उचित नहीं समझा जाता। कभी-कभी कर लगाने से अनेक लोग, जिनकी बचत कम होने लगती है, अधिक काम करके अपनी बचत की कमी को पूरा करने लगते हैं ताकि वे अपना रहन-सहन का स्तर बनाए रक्खें। इस प्रकार कर इन लोगों को कर्तव्य-निष्ठ बनाकर अधिक काम करने में प्रेरित करते हैं। जिन नागरिकों के पास पर्याप्त मात्रा में संचित राशि हो वे कर लगने पर भी काम करना नहीं चाहते। अतः कर का प्रभाव कर की प्रकृति और नागरिकों के दृष्टिकोणों पर निर्भर होता है। कई कर ऐसे होते हैं जिनका करदाता के काम करने की शक्ति और बचत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जैसे लॉटरी की राशि पर लगाया हुआ कर। उत्तराधिकारी को यदि उत्तराधिकार में कोई सम्पत्ति मिले तो उस सम्पत्ति पर कर लगाने से उत्तराधिकारी की कार्यशक्ति पर या बचत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। संक्षेप में बात यह है कि यदि कोई कर समाज में नागरिकों के धन बचाने की शक्ति और इच्छा को कम करे तो वह अनुचित माना जाता है। जो कर उत्पादन के साधनों के वितरण पर न्यूनातिन्यून प्रभाव डालें वे अच्छे समझे जाते हैं। वे कर जो मादक द्रव्यों तथा अन्य हानिकारक पदार्थों पर लगाए जाते हैं समाजोन्नति की दृष्टि से अच्छे माने जाते हैं। इसी प्रकार संरक्षण-कर लगाने से देशी उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। सरकार यदि कर से प्राप्त राशि को देश के कल्याण में व्यय करे तो वे कर हितकारी कहे जायंगे।

वितरण पर प्रभाव—वितरण की दृष्टि से वह कर उत्तम माना जाता है जिससे समाज में आय का असमान वितरण कम होता जाय। प्रतिगामी कर तथा आनुपातिक कर समाज में आय की विषमता को और प्रोत्साहित करते हैं। प्रगति-शील कर लगाने से सम्पत्ति का विषम वितरण कम होता है। आय-कर से वितरण की विषमता कुछ सीमा तक दूर होती है तथा बिक्री-कर से अधिक आयवाले लोगों पर उसका भार कम पड़ता है। सम्पदा-कर लगाने से आय की असमानता दूर होने में सहायता मिल सकती है। संक्षेप में बात यह है कि वे कर उत्तम होते हैं जिनसे समाज में सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को अवसर न मिले और आय की असमानता दूर हो।

नियोग पर प्रभाव—करों का रोजगारी तथा काम-धंधों पर भी प्रभाव पड़ता है। कर लगाकर सरकार जो राशि प्राप्त करे उसे यदि आर्थिक कल्याण के लिए विकास कार्यों में लगाया जाय तो देश की बेरोजगारी दूर होती है। अतः

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो कर देश की विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिए लगाए जाते हैं उनसे देश में बेकारी होने का भय नहीं रहता।

उक्त सिद्धान्तों को देखते हुए सरकार को अपनी कर-पद्धति इस प्रकार आयोजित करनी चाहिए कि उसे आवश्यक आय प्राप्त होती रहे और उद्योगों, व्यापार और कारोबारों को भी प्रोत्साहन मिले। वस्तुओं का उपभोग बढ़े और नागरिकों का रहन-सहन का स्तर नीचा न हो। साथ ही साथ यह भी देखना चाहिए कि नागरिकों की काम करने तथा धन बचाने की शक्ति पर कोई आघात न पहुंचे और समाज में धन का विषम वितरण न पनपने पावे।

कर का समाज पर व्यापक प्रभाव

राजस्वशास्त्र में कर के विषय में एक उक्ति है कि "पुराना कर कर नहीं होता।" यह बात ठीक भी है। कभी-कभी कर इतना थोड़ा और पुराना हो जाता है कि करदाता उससे अभ्यस्त होकर उसका भार अनुभव ही नहीं करते। स्थायी सम्पत्ति पर लगे हुए कर प्रायः इसी प्रकृति के होते हैं। बात यह है कि इस प्रकार के कर समाज में इस प्रकार विलीन हो जाते हैं कि समाज के विभिन्न अंगों अर्थात् नागरिकों पर उसका भार ज्ञात ही नहीं होता। कर का भार समाज के विभिन्न अंगों पर अपने आप विस्तार रूप में फैल जाता है। कुछ राजस्वशास्त्रियों ने कर के संविलयन सिद्धान्त (Diffusion Theory) का पक्ष लेते हुए निर्धारित किया है कि कर का भार समाज पर इस प्रकार बखेर दिया जाता है कि नागरिक उसको चुकाते हुए भी उसका भार अनुभव नहीं कर पाते। लॉर्ड मैन्सफील्ड का कथन है "किसी स्थान पर लगाया हुआ कर एक बहुत विस्तृत झील में गिरते हुए उस छोटे से पत्थर के टुकड़े के समान है जो उसमें एक भंवर पैदा करता है, उससे दूसरी बड़ी-बड़ी भंवरें आगे बनती चली जाती हैं और इस प्रकार उस छोटे से पत्थर से सारी झील में हलचल मच जाती है।"* फ्रांस के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केनार्ड ने बताया है कि "कर का भार सिंघी लगाकर खून निकालने के समान है। सिंघी शरीर के एक स्थान पर लगाई जाती है पर खून सारे शरीर में से निकलता है और शरीर में कम हो जाता है।"† इन सिद्धान्तों के आधार पर पुराना कर समाज में भली प्रकार समा जाता है और फिर उससे न कोई अछूता रहता है और न उसे अनुभव ही करता है। कर का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। यह ठीक है कि पुराने कर से करदाता अभ्यस्त होकर उसका भार अनुभव नहीं करते पर इसका यह अर्थ नहीं कि पुराने कर का नागरिकों पर भार ही नहीं पड़ता हो। प्रत्येक कर का, चाहे नया हो और या पुराना, भार तो अवश्य

*Findlay Shirras : Science of Public Finance, pp. 336-7

† वही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पड़ता है। पर पुराने कर का भार लोग उतना अनुभव नहीं करते जितना नए कर का। नए कर को तो लोग आफत जानकर उसका विरोध करते हैं। अतः संविलयन सिद्धान्त का अर्थ केवल यह है कि कर का भार स्थिर नहीं रहता वरन् समाज में फैलकर घुल-मिल जाता है।

भारतीय कर-व्यवस्था

प्रबन्ध-संचालन एवं नियमन की दृष्टियों से भारतीय कर-व्यवस्था उत्तम मानी जाती है। समूची कर-पद्धति सरल एवं सुविधाजनक है। देश के अशिक्षित नागरिक अनेक करों की कार्य-शैली सरलता से समझ सकते हैं। कर-कलेवर इस प्रकार निर्धारित किया हुआ है कि प्रत्येक नागरिक सरकार के कोष में कुछ न कुछ योगदान करता ही है। कर-वसूली की प्रणाली सरल है पर अधिक सस्ती नहीं कही जा सकती। कर देश में उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लक्ष्य से निर्धारित किए गए हैं। परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर देश में लगे हुए हैं और अपने अपने क्षेत्र में दोनों का समुचित स्थान है। कर-पद्धति में जहां सरलता है वहां कोमलता भी है। इतना होते हुए भी हमारी कर-व्यवस्था आदर्श नहीं कही जा सकती।

भारतीय कर-व्यवस्था में क्षमता या समता के सिद्धान्त का अच्छा पुट नहीं है। धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर कर का भार अधिक पड़ता है। लगान, चुंगी, आबकारी तथा रेल के किराए कुल मिलाकर गरीबों द्वारा अधिक दिए जाते हैं। अब सम्पदा-कर लगने से सम्पत्ति के केन्द्रीकरण पर कुछ चोट होगी पर अभी तक ऐसा कोई साधन नहीं था। प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर के० टी० शाह ने एक लेख में लिखा है "धनिक वर्ग थोड़ा सा ही भार उठाकर मुक्त हो जाते हैं जब कि भार वहन करने की उनकी शक्ति अधिक होती है। इसके विपरीत निर्धन वर्ग को सिंह जैसी शक्ति का भार उठाना पड़ता है जब कि उसे सहन करने की उनकी शक्ति मेमने जैसी होती है।" इस कथन से भारतीय कर-व्यवस्था में कर-भार की विषमता का परिचय प्राप्त होता है।

कर-व्यवस्था में अनिश्चितता का तत्त्व अधिक पाया जाता है। भारत सरकार का बजट ही 'मानसून में एक जूआ' माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि सरकारी बजट में जुए जैसी अनिश्चितता पाई जाती है। यह ठीक भी है। हमारे बजट पिछले वर्षों में विदेशी शासकों की अर्थ-व्यवस्था पर आश्रित होते थे। अतः उन्हें हमारे देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं ढाला गया। उत्पादन तथा वितरण पर करों का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन कर लगाते समय नहीं किया जाता। सर वाल्टर लेटन ने भारतीय बजट को "कसा हुआ" बताया था।

कर की चोरी करने की करदाताओं में प्रवृत्ति पाई जाती है। करदाता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सदैव इस घात में रहते हैं कि किसी प्रकार सरकारी अधिकारियों को धोखा देकर कर बचा लें। नागरिकों को इस ओर सफलता भी मिल जाती है और वे सफलता-पूर्वक सरकार को धोखा दे जाते हैं। युद्धकाल में व्यापारियों ने विपुल लाभ कमाए पर सरकार की आय उतनी अधिक नहीं हुई। लोगों ने आय-कर की बहुत चोरी की। फलतः सरकार की ओर से इनकम टैक्स जांच कमीशन नियुक्त करना पड़ा। कर-व्यवस्था को इस प्रकार बनाने की आवश्यकता है कि वह जनता में विश्वास और सद्भावना जमा कर सके।

केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों के बीच वित्त का आदान-प्रदान वैज्ञानिक नहीं है। प्रान्तीय कर-व्यवस्था में लोच का अभाव है। इन दृष्टियों से भारतीय कर-व्यवस्था में सुधार का काफी क्षेत्र बाकी है। भारत सरकार ने देश की कर-पद्धति की नए सिरे से जांच करने तथा वर्तमान पद्धति में परिवर्तन करने के लिए सुझाव देने को कर जांच आयोग की नियुक्ति कर दी है। इसके अध्यक्ष डॉक्टर जॉन मथाई हैं। आशा है, आयोग देश के आर्थिक कलेवर का समुचित अध्ययन करके भारतीय कर-पद्धति को वैज्ञानिक, लोचदार, पूर्ण तथा सुव्यवस्थित बनाने की सिफारिश करेगा।

सारांश

राजस्व के अध्ययन में 'कर के भार' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'कर का भार' उस व्यक्ति पर कहा जाता है जो अंततः उसे वहन करता है। जो व्यक्ति कर की राशि सरकार को चुकाता है उस पर कर का दबाव या कर चुकाने का दायित्व होता है और जिस व्यक्ति के कंधों पर अंतिम रूप से कर की राशि आकर जम जाती है उस पर कर का भार माना जाता है। कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है? इसका उत्तर हमें इस प्रश्न के जवाब में मिलता है कि वास्तव में कर कौन देता है? जो व्यक्ति अन्तिम रूप से कर की राशि सहन करे वही कर का भार वहन करता है। जो व्यक्ति सरकार को कर की राशि चुकाता है, वह प्रयत्न करके उस कर को अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित कर देता है जिसे अंतिम रूप से उसे सहन करना पड़ता है या जो उसे फिर किसी पर हस्तान्तरित कर देता है। इस क्रम में कर का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो उसे आगे हस्तान्तरित न करे और अंतिम रूप से स्वयं ही सहन कर ले। जहां व्यापार में प्रतियोगिता होती है वहां कर का भार सरलतापूर्वक उपभोक्ताओं पर टाला जा सकता है पर जहां ऐसा नहीं वहां उत्पादक या विक्रेता को ही कर का भार सहन करना पड़ता है। कर के भार का विवर्तन दो प्रकार से हो सकता है—(१) वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर, (२) वस्तुओं की कोटि घटाकर।

कर के भार के सिद्धान्त—(१) स्थानापन्न वस्तुओं के कर का भार विक्रेता पर पड़ता है; (२) एकाधिकार व्यापार के कर का भार व्यापारी व उपभोक्ता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दोनों पर पड़ सकता है या एकाधिकारी पर ही पड़ सकता है; (३) मांग तथा प्रदाय की लोच के आधार पर कर का भार विक्रेता और दोनों उपभोक्ता पर, विक्रेता पर या उपभोक्ता पर ही पड़ सकता है; (४) करारोपित वस्तु की उत्पत्ति के नियमों के आधार पर कर का भार उपभोक्ता पर, विक्रेता पर या दोनों पर पड़ने की संभावना रहती है; (५) प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर का भार उपभोक्ताओं पर या उत्पादकों पर ही टिक सकता है।

उक्त नियमों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के करों का भार भिन्न-भिन्न लोगों पर ही हो सकता है।

करों का प्रभाव जानने की तीन विधियां हो सकती हैं—(१) उत्पादन को प्रोत्साहन; (२) वितरण की समता; (३) नियोग की बढ़ोत्तरी। जो कर उत्पादन बढ़ाने में सहायता करें, आय और वितरण की विषमता दूर करें तथा देश में रोजगारी बढ़ावें, उन्हें उत्तम कर कहा जा सकता है।

कर के संविलयन सिद्धान्त के अनुसार कर का भार समाज पर व्यापक रूप से इस प्रकार पड़ता है कि नागरिक कर देते-देते उससे अभ्यस्त हो जाते हैं और फिर उन्हें उसका भार अनुभव नहीं होता। इसी सिद्धान्त के आधार पर कहा जाता है कि "पुराना कर, कर नहीं होता।"

भारतीय कर-व्यवस्था सरल, सुविधाजनक, कोमल, लचीली तथा प्रशासन-सरल है पर इसमें अनिश्चितता का पुट अधिक है। आय की असमानता दूर करने के भी इसमें प्रयत्न नहीं हो पाते। सरकारी बजट सदैव से 'जूआ' माना जाता रहा है। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों के बीच वित्त का समुचित समायोजन नहीं है। देश की कर-व्यवस्था को सुधारने के लिए सुझाव देने को सरकार ने कर-जांच आयोग की नियुक्ति की है। आशा है, उसकी सिफारिशों पर देश की कर-व्यवस्था वैज्ञानिक बन सकेगी।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'कर के भार' से आप क्या समझते हैं? कर के 'दबाव' और कर के 'भार' का स्पष्ट अन्तर समझाइए।

(२) 'कर के भार' के मूल सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए समझाइए कि आय-कर, बिक्री-कर तथा सम्पदा-कर का भार कौन वहन करता है।

(३) 'करों के प्रभाव' को कैसे आंका जा सकता है? वितरण की असमानता को दूर करने में कर कहां तक उपयोगी हो सकते हैं?

(४) "कर का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है"—इस उक्ति की व्याख्या कीजिए।

(५) 'भारतीय कर-व्यवस्था' पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४६

जन-ऋण

केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जनता से जो ऋण लेती हैं उसे 'जन-ऋण' या 'सार्वजनिक ऋण' कहते हैं। जिस प्रकार व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों को अपने विभिन्न कार्यों के लिए अपने मित्रों, परिचितों तथा बैंकों से ऋण लेने की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार सरकारों को भी अपनी जनता से, विदेशियों से तथा विदेशी सरकारों और बैंकों से ऋण लेने की आवश्यकता होती है। सरकार देश के अन्तर्गत जनता से जो ऋण लेती है उसे 'जन-ऋण' कहते हैं। आधुनिक काल में सरकारों द्वारा जन-ऋण लेना सभ्यता और प्रगति का सूचक माना जाता है। जो देश जितना अधिक उन्नत होगा वह उतना ही शीघ्र और अधिक ऋण प्राप्त कर सकेगा। सरकार को देश के आर्थिक कल्याण के लिए जब धन की आवश्यकता हो और उसे वह राशि कर आदि स्रोतों से सरलतापूर्वक प्राप्त न हो सके तो वह जनता से ऋण लेकर अपना काम चलाती है। युद्धोत्तरकाल में जहां देश-देश में आर्थिक विकास की योजनाएं बन रही हैं सरकारों को आवश्यक धनराशि न तो करों से प्राप्त हो सकती है और न असीमित मात्रा में विदेशी सहायता ही उपलब्ध हो सकती है; तो ऐसी स्थिति में सरकारें जनता से ऋण लेकर अपना काम चलाती हैं।

भारत में जन-ऋण पद्धति का विकास

हमारे देश में सरकार द्वारा जन-ऋण लेने की पद्धति बहुत प्राचीन नहीं है। प्राचीन राजाओं को तो जनता से ऋण लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी। न उस समय आज जैसी सरकारें थीं और न सरकारों के आज जैसे कार्यक्षेत्र थे। जो कुछ राशि सरकारों को आवश्यक होती थी वह कर आदि स्रोतों से आय करके पूर्ण हो जाती थी। पर शनैः शनैः सरकार और शासन का स्वरूप बदलता गया। मुगल काल में तथा उसके आसपास जगत्-सेठों का प्रादुर्भाव होने लगा। ये जगत्-सेठ बादशाहों को ऋण अवश्य देते थे पर जन-ऋण की आज जैसी प्रथा उस समय न थी। आधुनिक शासन-पद्धति में जब सरकार के दायित्व और कर्तव्य बढ़े तो उसे राशि की आवश्यकता होने लगी, कर लगाए जाने लगे और जब इससे भी आवश्यकता पूर्ण नहीं हुई तो सरकारे जनता से ऋण लेकर काम चलाने लगीं। अब जन-ऋण सरकारी वित्त-व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

माना जाता है। कोई भी सरकार चाहे वह केन्द्रीय हो, प्रान्तीय हो या स्थानीय हो जनता से ऋण लिए बिना अपना काम नहीं चला पाती।

जन-ऋण के विभिन्न रूप और उनकी सीमाएं

सरकार द्वारा ऋण लेना कितना ही भला क्यों न समझा जाता हो पर कोई भी सरकार अपनी सामर्थ्य से बाहर ऋण नहीं ले सकती और न लेना ही चाहिए। सरकार निम्न प्रकार से ऋण ले सकती है :—

(१) आन्तरिक ऋण—जब सरकार देश के नागरिकों को सरकारी ऋण-पत्र बेचकर ऋण प्राप्त करे तो उसे 'आन्तरिक ऋण' कहते हैं। देश के नागरिक सरकार के मांगने पर अपनी बचत राशि को सरकार को उधार देते हैं। अतः सिद्धान्त की बात यह है कि सरकार अधिकतम उतना ही उधार ले सकती है जितना देश के नागरिक बचाते हैं। पर सरकार को नागरिकों से उनकी सारी बचत नहीं ले लेनी चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो नागरिकों के पास उद्योग-व्यवसाय चलाने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जायगा और देश के आर्थिक कलेवर को हानि पहुंचेगी। अतः सरकार को अपने नागरिकों से उतनी ही राशि उधार लेनी चाहिए जितनी वहां के नागरिक सरलतापूर्वक अपनी आवश्यकताओं से बची हुई आधिक्य राशि को उधार दे सकें।

(२) बाह्य ऋण—देश की सरकार विदेशी सरकारों से तथा व्यक्तियों और संस्थाओं से ऋण प्राप्त कर सकती है। विदेशों से ऋण प्राप्त करना सरकार की साख और सद्भावना पर निर्भर होता है। विदेशी ऋणदाता भी अपनी सीमा से बाहर ऋण नहीं दे सकता।

सरकार द्वारा नोट-निर्गमन—कभी कभी सरकार को जब अतुल राशि की आवश्यकता हो और वह कर लगाकर व ऋण लेकर भी पूर्ण न हो सके तो सरकार नोट-निर्गमन करके अपनी आवश्यकता पूर्ण करती है। आधुनिक युद्ध इतने मंहगे हो गए हैं कि किसी देश को युद्ध लड़ना नोट-निर्गमन के बिना संभव नहीं हो सकता। प्रथम युद्धकाल में जर्मनी ने असंख्यों की संख्या में नोट चलाए थे। द्वितीय युद्धकाल में भारत में भी ऐसा ही हुआ था। इंगलैण्ड तथा अमेरिका जैसे देशों में भी नोटों की संख्या बढ़ाई गई थी। कुछ भी हो, यह एक अव्यावहारिक और हानिकारक साधन है। मुद्रा-स्फीति के कारण देश का आर्थिक कलेवर अस्त-व्यस्त हो जाता है। प्रो० वकील ने इसको 'डकैती' कहकर पुकारा है। अतः इस उपाय के द्वारा सरकार को अपनी आवश्यकताएं पूर्ण करना भय से खाली नहीं है।

जन-ऋणों का वर्गीकरण

राजस्वशास्त्रियों ने जन-ऋण का वर्गीकरण प्रकार प्रकार से किया है। किसी ने अवधि की दृष्टि से वर्ग बनाए हैं तो किसी ने सम्पत्ति के आधार पर ऋणों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का वर्गीकरण किया है। यहां हम उन सब वर्गों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

अवधि की दृष्टि से जन-ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **निश्चितकालीन ऋण**—उन ऋणों को, जिन्हें सरकार एक वर्ष की अवधि के अन्दर-अन्दर चुका दे, निश्चितकालीन ऋण कहते हैं। ट्रेजरी ऋण इसी श्रेणी के ऋण होते हैं। ऐसे ऋण प्रायः वर्ष के बजट के घाटे को पूरा करने के लिए लिए जाते हैं और फिर उसी वर्ष के अन्त तक चुका दिए जाते हैं। यदि कभी सरकार ऐसे ऋण लेना चाहे और जनता न दे तो सरकार की ख्याति को बड़ा धक्का लगता है। अतः एसे ऋण सरकार को बहुत सोच-समझकर लेने चाहिएं।

(२) **अनिश्चितकालीन ऋण**—वे ऋण जो एक वर्ष के पश्चात् चुकाए जायं या कभी न लौटाए जायं अनिश्चितकालीन ऋण कहलाते हैं। अकालपीड़ितों की सहायतार्थ अथवा अन्य किसी प्रकार से देश का आर्थिक विकास करने के लिए धन की आवश्यकता पूर्ण करने को ऐसे ऋण लिए जाते हैं। ऐसे ऋणों को लौटाने के लिए सरकार यद्यपि बाध्य नहीं होती पर तो भी वह राशि से काम निकालने के पश्चात् उन्हें लौटा देती है।

अनिश्चितकालीन ऋण उस समय खरीदे जाते हैं जब जनता को भविष्य में ब्याज-दर कम होने की आशंका हो तथा निश्चितकालीन उस समय खरीदे जाते हैं जब जनता भविष्य में ब्याज-दर बढ़ने का अनुमान लगाती हो।

सम्पत्ति के आधार पर निर्गमित ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **पुनर्उत्पादक ऋण**—सरकार जब ऋण लेकर उनके मूल्य के समान सम्पत्ति अपने पांस अलग रख लेती है तो उसे पुनर्उत्पादक ऋण कहते हैं। यह सम्पत्ति सरकार इसलिए अलग रखती है कि उसकी आय में से ऋण का ब्याज तथा मूलधन चुका सके।

(२) **मृत-भार ऋण**—जिन ऋणों के आधारस्वरूप सरकार किसी भी प्रकार की सम्पत्ति अपने पास नहीं रखती उन्हें मृत-भार ऋण कहते हैं। इन ऋणों का ब्याज तथा मूलधन सरकार को कर लगाकर या अन्य किसी प्रकार से राशि प्राप्त करके चुकाए जाते हैं।

उत्पत्ति के आधार पर भी जन-ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **उत्पादक ऋण**—सरकार जब ऋण लेकर ऋण राशि को ऐसे कार्यों में व्यय करे जिनसे कोई आय होती रहे तो उस ऋण को उत्पादक ऋण कहते हैं। उत्पादक ऋण सड़कें, नहरें तथा रेलें बनाने में व्यय किए जा सकते हैं।

(२) **अनुत्पादक ऋण**—जब सरकार लिए हुए ऋण को ऐसे कार्यों में व्यय करे जिनसे उसे कोई आय न होती हो तो वह अनुत्पादक ऋण कहलाता है।

उक्त वर्गीकरण चाहे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सही भले ही हो पर व्याव-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हारिक दृष्टि से 'अनुत्पादक ऋण' नामक कोई चीज नहीं होती। सरकार जितना व्यय करती है उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ मिलता ही है। यह दूसरी बात है कि किसी ऋण के व्यय से भौतिक लाभ मिलता हो और किसी से मानसिक और आध्यात्मिक। पर दोनों स्थितियों में ऋण उत्पादक तो कहा ही जायगा। उत्पादन का अर्थ सरकार के लिए केवल व्यावसायिक लाभ से ही नहीं होना चाहिए वरन् अपनी प्रजा की सुख-सुविधा से भी होना चाहिए। ह्विपिल नामक एक प्रसिद्ध विचारक ने कहा है कि "किसी देश की वास्तविक सम्पत्ति वहां की भूमि, वन और मुद्राओं में निहित नहीं होती वरन् वहां के स्वस्थ और आनन्द से परिपूर्ण स्त्री-बच्चों में निहित होती है।"

जनमत की दृष्टि से जन-ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **अनिवार्य ऋण**—जो ऋण सरकार जनता से जबरदस्ती लेती है उसे अनिवार्य ऋण की संज्ञा दी जाती है। ऐसे बलात् ऋण आजकल कहीं भी नहीं लिए जाते।

(२) **ऐच्छिक ऋण**—जो ऋण स्वेच्छापूर्वक जनता सरकार को देती है वे ऐच्छिक ऋण होते हैं। आजकल सभी जन-ऋण ऐच्छिक होते हैं क्योंकि नागरिक अपनी खुशी-खुशी सरकार की साख पर सरकार को ऋण देते हैं।

स्थान की दृष्टि से ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **आंतरिक ऋण**—देश के नागरिकों से लिए हुए ऋण आंतरिक ऋण कहलाते हैं। भारत सरकार के आन्तरिक ऋण Rupee Loans भी कहलाते हैं। आंतरिक ऋण सरकार को उस समय लेना चाहिए जब नागरिकों के पास अधिक राशि हो और वह उनके उपयोग में न आ रही हो।

(२) **बाह्य ऋण**—जब देश की सरकार अन्य देशों की सरकारों से, जनता से तथा संस्थाओं से ऋण ले तो वे बाह्य ऋण कहलाते हैं। बाह्य ऋण विदेशी मुद्राओं में लिए जाते हैं। बाह्य ऋण प्रायः देश के आर्थिक विकास के लिए लिए जाते हैं पर कभी-कभी विनिमय-दर को संतुलन में लाने के लिए भी बाह्य ऋण लिए जाते हैं।

ऋण-शोधन की दृष्टि से भी जन-ऋण दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **शोध्य ऋण**—सरकार जिन ऋणों को चुकाने के उद्देश्य से लेती है उन्हें शोध्य ऋण कहते हैं। इन्हें 'चल-ऋणों' की संज्ञा भी दी जाती है। शोध्य ऋण दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन होते हैं।

(२) **अशोध्य ऋण**—जिन ऋणों को चुकाने की कोई तिथि निश्चित नहीं होती वरन् सरकार की इच्छा पर जो चुकाए जायं उन्हें अशोध्य ऋण कहा जाता है। ऐसे ऋणों का ब्याज सरकार प्रति वर्ष चुकाती रहती है पर मूलधन को लौटाना उसकी खुशी पर निर्भर होता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमती हिक्स ने जन-ऋणों को मृत-भार, निष्क्रिय तथा सक्रिय कहकर तीन वर्गों में विभक्त किया है।

जन-ऋण चुकाने के ढंग

सरकार जनता से ऋण लेकर उन्हें चुकाना एक साख और ख्याति का विषय समझती है। कोई भी सरकार ऋण लेकर उसके प्रति उदासीन होकर नहीं बैठ सकती। यदि ऐसा किया गया तो उससे उसकी साख बिगड़ जाने का भय रहता है। ऋण सामान्यतः निम्न रीतियों से चुकाए जाते हैं :—

(१) **आधिक्य आय में से राशि देकर**—सरकार अपने बजट में से आधिक्य निकालकर ऋण का भुगतान कर सकती है। पर आजकल सरकारों के बजटों में इतना आधिक्य रहना संभव ही नहीं कि ऋण-शोधन के काम लाया जा सके।

(२) **सावधि वार्षिकी**—इस रीति में सरकार प्रतिवर्ष ऋणदाता को ब्याज के साथ कुछ मूल राशि भी देती रहती है। इस प्रकार के भुगतान को वार्षिकी कहा जाता है।

(३) **ऋण-परिशोधन कोष**—ऋण चुकाने की यह एक वैज्ञानिक रीति मानी जाती है। इस रीति में सरकार प्रतिवर्ष अपनी आय में से एक निश्चित राशि ऋण-परिशोधन के लिए निकालकर अलग रखती जाती है। यह राशि इस हिसाब से अलग रखी जाती है कि अवधि समाप्त होने पर ब्याज सहित ऋण का भुगतान करने के लिए वह कुल राशि पर्याप्त हो।

(४) **रूपान्तरण**—यदि सरकार ने ऊंची ब्याज-दर पर कोई ऋण ले रखा हो तो ब्याज के उस भार को कम करने के लिए सस्ती ब्याज-दर पर एक दूसरा ऋण ले लेती है और पहिले ऋण का दूसरे ऋण की राशि में से भुगतान कर देती है। यदि सच पूछा जाय तो यह रीति ऋण-शोधन की नहीं वरन् ऋण-रूपान्तर की है। इसके द्वारा एक ऋण का भुगतान करने के लिए दूसरा ऋण ले लिया जाता है। कभी-कभी पहिले ऋणदाता ही ऋण पर ब्याज-दर कम करके अपने ऋण का रूप बदल लेते हैं। ऋण का रूपान्तरण करने से सरकार का आर्थिक भार कम हो जाता है।

(५) **विशेष प्रकार का कर लगाकर**—कभी-कभी सरकार ऋण चुकाने के लिए जनता पर विशेषकर धनिकों पर एक विशेष प्रकार का कर लगाकर और उससे आय करके ऋण-शोधन कर सकती है। यह विशेष कर धनिकों की पूंजी पर लगाया जाता है। इस प्रकार धनिकों की पूंजी पर विशेष कर लगाकर ऋण-शोधन की नीति बहुत से लोगों को पसन्द नहीं है पर ऐसे विद्वान् भी हैं जो इसके पूर्ण पक्षपाती हैं। विशेष कर के पक्षपातियों का कहना है कि युद्धकाल में ऊंची कीमतों के कारण सामान्य जनता पिस जाती है, सैनिक युद्ध में मारे जाते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं और अनेक बालक अनाथ और स्त्रियां विधवा हो जाती हैं पर पूंजीपति बड़े-बड़े लाभ कमाकर और मोटे हो जाते हैं। अतः युद्ध के पश्चात् उनकी पूंजी पर विशेष कर लगाकर उनसे त्याग कराना चाहिए। इंगलैण्ड की कोल्वन समिति ने इस प्रकार ऋण-शोधन की क्रिया को अवैज्ञानिक बताया था।

उक्त रीतियों के अतिरिक्त ऋण-शोधन की एक रीति और कही जाती है। यह रीति ऋण-निषेध की है। सरकार, यदि क्रान्तिकारी हुई तो, घोषणा कर देती है कि वह जन-ऋण का भुगतान नहीं करेगी। इस प्रकार सरकार द्वारा लिया गया ऋण एक पल में रद्द हो जाता है। कभी-कभी सरकार लिए हुए ऋण पर ब्याज की दर जबरदस्ती कम कर देती है। ये दो कार्य सरकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके करती है।

जन-ऋण का आर्थिक प्रभाव

जन-ऋण के आर्थिक परिणाम ऋण के उद्देश्य, मात्रा, साधन, ब्याज की दर तथा उसकी मूल राशि को चुकाने की शर्तों पर निर्भर होते हैं। यदि जन-ऋण की सहायता से देश की उत्पादन शक्तियों को प्रोत्साहन मिलता हो, वितरण की असमानता दूर होती हो तथा देश की बेकारी दूर होती हो तो जन-ऋण देश के लिए हितकर ही मानना चाहिए। अतः हम देखें कि जन-ऋण का देश की विभिन्न शक्तियों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

उपभोग पर प्रभाव—ऋणों का जनता के वर्तमान उपभोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हां, ऋण देकर ऋणदाता की संचित बचत कम हो जाती है जिससे उसकी भावी उपभोग की क्रियाओं में कुछ कमी आ सकती है। जन-ऋण, यदि देखा जाय तो, वर्तमान में उपभोग कम न करके भविष्य में उपभोग कम करते हैं।

उत्पादन पर प्रभाव—यदि सरकार ने थोड़ा ऋण लिया हो तो ऋण-दाता अपनी निष्क्रिय बचत-राशि को ऋण दे देता है जिससे उसकी उत्पादन शक्ति पर कोई उलटा प्रभाव नहीं पड़ता। पर जब सरकार बहुत बड़ी राशि का ऋण ले तो ऋणदाता अपनी आवश्यक राशि भी ऋण देने में लगा देता है और तब उसकी उत्पादन शक्तियां शिथिल पड़ सकती हैं।

उद्योग-व्यवसाय पर प्रभाव—यदि सरकार ऋण ली हुई राशि को यातायात के साधनों में वृद्धि करने, औद्योगिक शोध करने तथा तांत्रिक सुविधाएं बढ़ाने में लगाए तो उत्पादन-व्यय में कमी होने की आशा रहती है जिससे व्यवसाय तथा उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। पर यदि सरकार ने ऋण-राशि अन्य अनुत्पादक कार्यों में लगाई तो उद्योगों को वर्तमान में कोई लाभ नहीं मिलता।

वितरण पर प्रभाव—सरकार को ऋण प्रायः धनिक लोग देते हैं। फिर इन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऋणों को चुकाने के लिए सरकार जो कर लगाती है उसका अधिकांश भी धनिकों से ही आता है। अतः ऋणों द्वारा देश में आय की विषमता दूर की जा सकती है। ऋण की राशि के उपयोग पर भी जनता की आय तथा धन का वितरण निर्भर होता है। यदि ऋण लेने और चुकाने की क्रियाओं द्वारा समाज में आय की असमानता को दूर करने में सहायता मिली तो ऋण कल्याणकारी माने जाते हैं।

भारत का जन-ऋण

हमारे देश में जन-ऋण का श्रीगणेश ईस्ट इंडिया कम्पनी से प्रारम्भ होता है। वैसे तो इससे पहिले भी राजा-महाराजा जनता से ऋण लिया करते थे पर उस समय आज जैसी जन-ऋण पद्धति नहीं थी। उस समय जगत् सेठ होते थे जो सरकार की वित्त सहायता करते थे। १७९२-९३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी पर ७० लाख पौण्ड का ऋण था जो १८३४ में ३½ करोड़ पौण्ड से भी अधिक हो गया था। १८५७ में जब गदर हुआ तो उसे दबाने के लिए राशि की आवश्यकता हुई। अतः उसके पश्चात् भारत का जन-ऋण १० करोड़ रुपये से भी अधिक था। प्रथम महायुद्ध काल में अनुत्पादक ऋणों की मात्रा बढ़ने लगी और उनकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते १० करोड़ पौण्ड हो गई। १९२४-२५ में अनुत्पादक ऋणों की राशि २६० करोड़ थी। प्रो० कीन्स के एक लेख के अनुसार १९०८ में भारत सरकार का बाह्य ऋण ३५·६ करोड़ पौण्ड था। डाक्टर डोरीलाल दुबे के अनुसार १९३० में वह ६० करोड़ पौण्ड था और वी० रामचन्द्र के अनुसार १९३४ में वह ६१·२ करोड़ पौण्ड हो गया।

प्रथम युद्धकाल तक सरकार लन्दन मुद्रामण्डी से ऋण लिया करती थी। इसके दो कारण थे—(१) सरकार को भारतीय मुद्रामण्डी का पूर्ण ज्ञान नहीं था, (२) भारतीय ऋण लेने से ब्याज-दर अधिक देनी पड़ती थी। युद्ध समाप्त होते-होते सरकार को देशी मुद्रामण्डी की महत्ता ज्ञात होने लगी और आन्तरिक ऋण लिए जाने लगे। निम्न आंकड़ों से हमें सरकार के आन्तरिक तथा बाह्य ऋणों का आभास मिलता है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आन्तरिक ऋण	बाह्य ऋण
१९१४	१८०	३६६
१९२४	४५३	३०४
१९३४	६९३	५१२
१९४४	१३४३	३९
१९५२	२४९६	१३७

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रथम महायुद्ध से सरकार ट्रेजरी बिल बेचकर अल्पकालीन ऋण लेती रही है। भारतीय सरकार की ऋण-व्यवस्था में इनका बड़ा महत्त्व है।

केन्द्रीय सरकार के साथ साथ प्रान्तीय सरकारें भी जनता से ऋण लेती हैं। प्रान्तीय सरकारें अपने बजटों की कमी को पूरा करने के लिए ऋण लेती हैं। पिछले दिनों में इन्हें आर्थिक विकास तथा समाज-कल्याण और शिक्षा-प्रसार के कार्यों को पूरा करने के लिए भी ऋण लेने पड़े हैं। निम्न आंकड़ों से प्रान्तीय सरकारों के जन-ऋणों का आभास मिलता है :—

वर्ष	प्रान्तीय सरकारों के जन-ऋण (करोड़ रुपयों में)
१९४८–४९	१४३
१९४९–५०	१८७
१९५०–५१	२४६
१९५१–५२	३३०

द्वितीय युद्धकाल और जन-ऋण—द्वितीय युद्धकाल में सरकार को धन की बहुत आवश्यकता हुई। अतः उसने प्रकार-प्रकार से ऋण लेना आरम्भ किया। युद्ध के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त करने के लिए सरकार ने जो ऋण-पत्र बेचे, वे इस प्रकार हैं* :—

(१) ६-वर्षीय ३ प्रतिशत ब्याज-दर के डिफेंस बाण्ड, जो जून १९४० में जारी किए गए थे;

(२) १०-वर्षीय डिफेंस सेविंग्ज सार्टीफिकेट और ब्याजरहित बाण्ड;

(३) द्वितीय ३ प्रतिशत के ऋण-पत्र जो १९४१ में चालू किए गए थे।

युद्ध आरम्भ होने के समय सरकार का स्टर्लिंग-ऋण ४७० करोड़ रुपये था और रुपया-ऋण की राशि ७३७ करोड़ रुपये थी। युद्ध में व्यय अधिक होने के कारण सरकार ने जनता से अनेक ऋण लिए और इस प्रकार जन-ऋण की मात्रा बढ़ती गई। जनवरी १९४६ में जन-ऋण की राशि ११७४ करोड़ रुपये थी। युद्ध से पहिले भारत सरकार पर इंगलैण्ड का बहुत ऋण था पर युद्ध में स्थिति ही बदल गई। भारत ने इंगलैण्ड का ऋण चुका दिया तथा इंगलैण्ड की सरकार पर भारत सरकार का करोड़ों रुपयों का ऋण हो गया। भारत सरकार देनदार से लेनदार बन गई।

---

* इनका पूर्ण और विस्तृत वर्णन पीछे "अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाएं" शीर्षक अध्याय में दिया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वतन्त्रता और देश के विभाजन के पश्चात् जन-ऋण की स्थिति—देश का विभाजन होने पर भारत और पाकिस्तान की सरकारों में वित्त-समझौते हुए। सरकार की देनदारी और लेनदारी का विभाजन किया गया। ४०० करोड़ रुपये की नकदी और सिक्यूरिटियों में से ७५ करोड़ पाकिस्तान को दिए गए। अरक्षित ऋण में से, जो ८६८ करोड़ रुपये के बराबर था, पाकिस्तान को १७½% स्वीकार करना पड़ा। निश्चय किया गया कि ५० वर्षों में पाकिस्तान कोई ४०२ करोड़ रुपये का भुगतान करेगा।

अब हमारे देश में तीन प्रकार के ऋण प्रचलित हैं—(१) स्थायी ऋण, जिनकी अवधि कम से कम एक वर्ष है; (२) अस्थायी ऋण, जिनकी अवधि १२ माह से कम है; (३) विविध ऋण, जिनमें डाकखानों के बचत-लेखे, सार्टी-फिकेटों की बिक्री की राशि आदि सम्मिलित हैं।

सारांश

केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय, सभी सरकारें अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश की जनता से तथा विदेशी सरकारों तथा संस्थाओं से ऋण लेती हैं। ये सरकारी ऋण कहलाते हैं। देश की सरकार देश के नागरिकों से जो ऋण लेती है उसे 'जन-ऋण' की संज्ञा दी जाती है। सरकारी ऋण कई प्रकार के हो सकते हैं—(१) आन्तरिक ऋण, (२) बाह्य ऋण। नोट-निर्गमन करके भी सरकार अपनी धन की आवश्यकताएं पूर्ण कर सकती है।

जन-ऋण के भेद—(१) निश्चितकालीन, (२) अनिश्चितकालीन, (३) पुनर्उत्पादक, (४) मृतभार, (५) उत्पादक, (६) अनुत्पादक, (७) अनिवार्य या बलात्, (८) ऐच्छिक, (९) आन्तरिक, (१०) बाह्य, (११) शोध्य, (१२) अशोध्य।

सरकार कई विधियों द्वारा जन-ऋण का भुगतान कर सकती है—(१) आधिक्य आय में से राशि देकर; (२) सावधि वार्षिकी की व्यवस्था करके; (३) ऋण-परिशोधन कोष द्वारा; (४) ऋणों के रूपान्तर की क्रिया द्वारा; (५) विशेष प्रकार के कर लगाकर राशि प्राप्त करके।

जन-ऋण की व्यवस्था सरकार को इस प्रकार करनी चाहिए कि ऋण लेते समय, ऋण-राशि का भुगतान करते समय तथा ऋण-राशि का उपयोग करते समय समाज की उपभोग क्रियाओं पर, उत्पादन-शक्तियों पर, उद्योग व्यवसायों पर और वितरण-व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़े।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'जन-ऋण' से आप क्या समझते हैं ? भारत में जन-ऋण का विकास किस प्रकार हुआ ?

(२) 'जन-ऋण' के विभिन्न रूप कौन-कौनसे होते हैं ? सरकार किन-किन साधनों से ऋण प्राप्त कर सकती है ?

(३) जन-ऋणों का वर्गीकरण करते हुए उनके लक्षण तथा सीमाएं समझाइए। ऋण-शोधन की दृष्टि से ऋण कितने प्रकार के होते हैं ?

(४) ऋण-परिशोधन के कौन-कौनसे ढंग होते हैं ? विशेष कर लगाकर ऋण-परिशोधन करने की क्रिया के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

(५) जन-ऋण का देश के आर्थिक कलेवर पर क्या प्रभाव पड़ता है ? सविस्तार उत्तर लिखिए।

(६) 'भारत के जन-ऋण' पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सप्तम भाग

भारतीय राजस्व-व्यवस्था

भारतीय राजस्व का क्रमिक विकास; केन्द्रीय, प्रान्तीय
तथा स्थानीय सरकारों के आय-व्यय के
साधन और स्रोत; वित्त आयोग की
सिफारिशें; पंचवर्षीय योजना
में वित्त की व्यवस्था;
आदि आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४७

भारतीय राजस्व का क्रमिक विकास

(केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में वित्त-सम्बन्ध)

गत शताब्दी के तीसा तक राजस्व की दृष्टि से प्रत्येक प्रान्त स्वतन्त्र था। जैसे वह चाहता अपनी आय करता था और जिस प्रकार चाहता उस आय को व्यय करता था। १८३३ के चार्टर एक्ट के अनुसार प्रान्तों के कर-निर्धारण के अधिकार छीन लिए गए और वित्त-व्यवस्था का केन्द्रीकरण करके सब शक्ति केन्द्र को सौंप दी गई। इस केन्द्रीकरण से प्रान्तीय वित्त-व्यवस्था पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। १८७० में विकेन्द्रीकरण की ओर शासन का ध्यान गया और लार्ड मेयो ने कुछ विभागों को प्रान्तों के अधिकार में दे दिया। १८८२ में लार्ड रिपन ने आय की कुछ मदें केन्द्र को तथा कुछ मदें प्रान्तीय सरकारों को हस्तान्तरित कर दीं। इस समय यह काम अस्थायी रूप से किया गया था पर १९१२ में इसे पूर्ण रूप से स्थायी कर दिया गया। इसके पश्चात् १९१९ में जो नया विधान पास हुआ उसके अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के आय और व्यय के स्रोतों को बिलकुल अलग अलग कर दिया गया। इसमें प्रान्तों को कर-निर्धारण तथा ऋण लेने के अधिकार दे दिए गए।

मेस्टन अवार्ड—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय के साधन अलग-अलग होने से केन्द्रीय सरकार को बड़ा घाटा होने लगा। इस घाटे की पूर्ति करने के लिए प्रान्तों से सहायता देने का सुझाव दिया गया। इस सुझाव पर विचार करके तत्सम्बन्धी सिफारिश देने के लिए एक कमेटी बनाई गई जिसके अध्यक्ष लार्ड मेस्टन थे। कमेटी ने निश्चित किया कि आय-कर का केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच में विभाजन न किया जाय और इसके बदले में प्रान्तों को सामान्य मुद्रांक-कर का एक आय का स्रोत दे दिया जाय। कमेटी ने प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा प्रामाणिक अनुदानों का सुझाव दिया। प्रान्त की तत्कालीन आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रारम्भिक अनुदानों को निश्चित किया गया तथा प्रामाणिक अनुदानों के अनुसार यह देखा जाता था कि बाद में जाकर कोई प्रान्त कितनी राशि दे सकता है और उसे कितनी राशि देनी चाहिए। मेस्टन अवार्ड से काफी असन्तोष रहा। प्रान्तीय सरकारें इस निर्णय से बड़ी क्षुब्ध रहीं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९३५ का विधान—१९३५ के संविधान के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय की मदों का वर्गीकरण कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार की आय के स्रोत इस प्रकार रखे गए :—

(१) आयात-निर्यात कर; (२) औषधियों तथा कुछ अन्य नशीले पदार्थों को छोड़कर देश में तैयार किए जानेवाले माल पर उत्पादन-कर; (३) कारपोरेशन-कर; (४) नमक-कर; (५) कृषि को छोड़कर अन्य आय पर कर; (६) कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति-कर; (७) उत्तराधिकार-कर; (८) स्टाम्प-कर; (९) वायु तथा रेलमार्ग द्वारा भेजे जानेवाले माल तथा यात्रियों पर सीमा-कर; (१०) मनोरंजन तथा द्यूतक्रीड़ा-कर; (११) न्यायालयों के स्टाम्प-कर; (१२) अन्तर्देशीय जलमार्गों द्वारा भेजे गए माल तथा मुसाफिरों पर कर।

निम्नलिखित कर संघ द्वारा लगाए तथा संग्रह किए जाते परन्तु प्रान्तों के हिस्से में रख दिए जाते थे—(१) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार-कर; (२) चेक, बिल आदि पर स्टाम्प-शुल्क; (३) माल तथा मुसाफिरों पर सीमा-कर; (४) भाड़े तथा महसूल पर लगाए हुए कर।

निमियर रिपोर्ट—१९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तों को जो स्वतन्त्रता मिली तो उसके संबंध में एक बार फिर जांच पड़ताल करना आवश्यक समझा गया। अतः १९३६ में सर ओटो निमियर इस कार्य के लिए नियुक्त किए गए। सर ओटो का सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव आय-कर के वितरण के संबंध में था। उन्होंने सिफारिश की कि आय-कर का ५०% भाग प्रान्तों को दिया जाय। परन्तु साथ में यह भी कह दिया गया कि प्रथम पांच वर्षों तक प्रान्तों को कुछ न दिया जाय। निमियर का सिद्धान्त द्वितीय युद्ध तक चलता रहा। १९४० में इसमें संशोधन किया गया।

नए संविधान के अन्तर्गत वित्त-व्यवस्था—२६ जनवरी १९५० से भारतीय गणतंत्र का नया संविधान लागू किया गया। संविधान में केन्द्र या संघ, 'क' राज्य तथा 'ख' राज्य के मध्य आय-साधनों के विभाजन की जो रूपरेखा निश्चित की गई है वह इस प्रकार है :—

संघ सरकार द्वारा लगाए जाने वाले कर—कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर, आयात-निर्यात-कर, मद्य या शराब तथा मादक द्रव्यों के अतिरिक्त देश में तैयार की हुई वस्तुओं पर उत्पादन-कर, कारपोरेशन-कर, सम्पदा-कर, सीमा-कर, बिलों, चेकों तथा प्रणपत्रों पर मुद्रांक-कर, रेलवे के भाड़े, विज्ञापन-कर तथा न्यायालयों में लिए जानेवाले शुल्क के अतिरिक्त संघ-सूची के विषयों पर शुल्क।

राज्यों के आय-स्रोतों की सूची—लगान, कृषि-आय पर कर, कृषिभूमि पर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्पत्ति-शुल्क, भूमि तथा भवनों पर कर, उत्तराधिकार-शुल्क, मद्य तथा मादक पदार्थों पर उत्पादन-कर, विद्युत् की बिक्री तथा उपभोग पर कर, बिक्री-कर, पशुओं, नौकाओं तथा वाहनों पर कर, प्रति व्यक्ति कर, भोग-विलास तथा आमोद-प्रमोद पर कर, मुद्रांक-कर आदि।

संघ द्वारा लगाए गए तथा संग्रहीत कर जिनकी आय का राज्यों में वितरण होता है—कृषिभूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति-कर; उत्तराधिकार पर शुल्क; रेल, समुद्र, वायुमार्ग द्वारा ले जाई गई वस्तुओं पर सीमा-कर; रेल-भाड़ों पर कर; समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

संविधान के २७५वें अनुच्छेद में संविधान ने विशेष सहायता की आवश्यकता वाले राज्यों को सहायक अनुदान देने का अधिकार संसद को दिया है। ऐसे सहायक अनुदानों की व्यवस्था दो विषयों के लिए की गई है—(१) अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए; (२) आसाम को अपने क्षेत्र में स्थित जाति-क्षेत्रों के विकास के लिए।

देशमुख अवार्ड—देश के विभाजन के पश्चात् बदलती हुई स्थिति में आय-कर के बंटवारे आदि के विषय में निर्माण करने के लिए वर्तमान वित्त-मंत्री श्री देशमुख को निमंत्रित किया गया। देशमुख ने अपना निर्णय जनवरी १९५० के अन्त में दिया और वित्त-आयोग* द्वारा दी गई सिफारिशों के लागू होने तक ही मान्य रखा गया। देशमुख ने राज्यों की जनसंख्या तथा अविकसित राज्यों की वित्तीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए शुद्ध आय-कर के वितरण के लिए निम्न आधार निश्चित किया :—

मद्रास	१७·५%	मध्य प्रदेश	६%
बबई	२१%	पंजाब	५·५%
पश्चिमी बंगाल	१३·५%	आसाम	३%
उत्तर प्रदेश	१८%	उड़ीसा	३%
बिहार	१२·५%		

जूट-निर्यात-कर से प्राप्त आय के वितरण का आधार इस प्रकार रक्खा गया :—

पश्चिमी बंगाल	१०५ लाख	रुपये वार्षिक
आसाम	४० लाख	" "
बिहार	३५ लाख	" "
उड़ीसा	५ लाख	" "

वित्त-आयोग—१९५१ में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में वित्त-आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने अपनी रिपोर्ट ३१ दिसम्बर १९५२

---

* इसका विवरण आगे देखिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को पेश की। भारत सरकार न इसकी सिफारिशों को मानकर १ अप्रैल १९५२ से लागू कर दिया। आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थीं :—

(१) आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों में जूट से निर्मित वस्तुओं पर निर्यात-कर के उनके हिस्से में वृद्धि;

(२) राज्यों को आय-कर में से मिलनेवाले अनुदानों में वृद्धि;

(३) कुछ अर्द्धविकसित राज्यों को प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार के लिए अनुदान।

आय-कर के विभाजन के लिए आयोग ने निम्न अंश निश्चित किए :—

आसाम	२·२५%	बिहार	९·७५%
बंबई	१७·५०%	हैदराबाद	४·५०%
मध्य भारत	१·७५%	मध्य प्रदेश	५·२५%
मद्रास	१५·२५%	मैसूर	२·२५%
उड़ीसा	३·५०%	पेप्सू	०·७५%
पंजाब	३·२५%	राजस्थान	३·५०%
सौराष्ट्र	१·००%	ट्रावनकोर-कोचीन	२·५०%
उत्तर प्रदेश	१५·७५%	पश्चिमी बंगाल	११·२५%

आयोग ने सिफारिश की है कि तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाए गए उत्पादक करों की शुद्ध आय का ४०% उनकी जनसंख्या के आधार पर राज्यों में बांट देना चाहिए। रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक राज्य का प्रतिशत इस प्रकार है :—

आसाम	२·६१	बिहार	११·६०
बंबई	१०·३७	हैदराबाद	५·३९
मध्य भारत	२·२९	पश्चिमी बंगाल	७·१६
मध्य प्रदेश	६·१३	मद्रास	१६·४४
मैसूर	२·६२	उड़ीसा	४·२२
पेप्सू	१·००	पंजाब	३·६६
राजस्थान	४·४१	सौराष्ट्र	१·१९
ट्रावनकोर-कोचीन	२·६८	उत्तर प्रदेश	१८·२३

इसके फलस्वरूप बंबई, मद्रास तथा मध्य प्रदेश को तम्बाकू पर कर न लगाने के बदले में जो क्षतिपूर्ति मिलती है वह १ अप्रैल १९५३ से बन्द हो गई है।

आयोग ने सिफारिश की है कि केन्द्रीय सरकार से राज्य सरकारों को जो अनुदान दिए जायं, उनका आधार यह होना चाहिए :—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) राज्यों में साधनों का अभाव;
(२) लोक-कल्याण के कार्यों में वृद्धि करने का महत्त्व;
(३) रोजगार, बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा आदि का विकास;
(४) अविकसित राज्यों में आधारभूत समाज-सेवाओं को बढ़ाने की आवश्यकता;
(५) राष्ट्रहित के लिए विशेष राशि की आवश्यकता ।

कर-आयोग की नियुक्ति—देश की कर-पद्धति की जांच-पड़ताल करके उसमें आवश्यक फेर-बदल करने की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव होती रही है। स्वतन्त्र सरकार ने इस कार्य को पूरा कर दिया है। मार्च १९५३ में डाक्टर मथाई की अध्यक्षता में कर-आयोग नियुक्त किया जा चुका है जो देश की कर-प्रणाली का अध्ययन करके उसमें सुधार करने की सिफारिशें पेश करेगा ।

परीक्षा-प्रश्न

(१) भारतीय राजस्व के क्रमिक विकास पर एक छोटा सा निबंध तैयार कीजिए ।

(२) स्वतन्त्र भारत के नए संविधान के अन्तर्गत राजस्व संबंधी जो व्यवस्था की गई है उसकी व्याख्या कीजिए ।

(३) वित्त-आयोग की मूल सिफारिशों का उल्लेख कीजिए ।

(४) संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए :—

(१) मेस्टन अवार्ड,
(२) देशमुख अवार्ड,
(३) प्रस्तावित कर-आयोग का कार्यक्षेत्र ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४८

प्रथम पंचवर्षीय योजना में वित्त-व्यवस्था

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत व्यय की जानेवाली राशि का अनुमान लगाते समय २०६९ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों का लेखा-जोखा तैयार करते समय तीन मूल बातों का ध्यान रखा गया है—(१) केन्द्र तथा राज्य सरकारों की विकास-योजनाओं के लिए आवश्यक राशि का प्रबन्ध करना; (२) सरकारी और निजी क्षेत्रों के कार्यक्रमों में लगाई जानेवाली पूंजी को प्रोत्साहित करना तथा देशी और विदेशी पूंजी के बीच ताल-मेल बनाए रखना; (३) ऐसे साधन और स्रोत खोजना जिनसे अधिक से अधिक राशि प्राप्त की जा सके। अनुमानित व्यय की कुल राशि अर्थात् २०६९ करोड़ रुपयों में से राज्य और केन्द्र की सरकारों को सरकारी बचतों से लगभग ७३८ करोड़ रुपये की राशि प्राप्त होने का अनुमान है। छोटी-छोटी बचतों तथा ऋणों आदि से ५२० करोड़ मिलने की आशा की गई है। इस प्रकार केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को कुल १२५८ करोड़ रुपये मिलने का अनुमान लगाया गया है। इसके अतिरिक्त १५६ करोड़ रुपये की राशि विदेशों से प्राप्त हो चुकी है। अतः अब ६५५ करोड़ रुपये की कमी रहती है जो विदेशी सहायता, आन्तरिक ऋणों तथा नए-पुराने करों से प्राप्त की जायगी। कमीशन ने योजना की वित्त-व्यवस्था करते समय हमारे इंगलैण्ड पर बाकी पौण्ड-पावनों को भी ध्यान में रखा है और उनमें २९० करोड़ रुपये प्राप्त करने की पुण्य आशा लगाई है।

योजना के अन्तर्गत जो वित्त-व्यवस्था की गई है वह इस प्रकार है :—

(१९५१–५६)

	केन्द्रीय सरकार	'क' तथा 'ख' राज्य और काश्मीर (करोड़ रुपयों में)	योग
सरकारी बचत :—			
(१) चालू राजस्व से प्राप्त	१६०	४०८	५६८
(२) रेलवे से प्राप्त	१७०	——	१७०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गैर-सरकारी बचत :—			
(१) जन-ऋण से प्राप्त	३६	७९	११५
(२) छोटी बचतों तथा अन्य प्रकार के ऋणों से प्राप्त	२७०	—	२७०
(३) जमा-राशि के कोष और इनसे संबंधित साधन	९०	४५	१३५
योग	७२६	५३२	१,२५८

योजना की सफलता के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के सहयोग और सहकारिता की आवश्यकता है। वित्तीय मामलों में तो सरकार और जनता के पारस्परिक विश्वास और सहयोग की भी आवश्यकता है। योजना को चलाने में कुल अनुमानित व्यय का ब्यौरा इस प्रकार है जो विभिन्न राज्यों को सौंप दिया गया है :—

	(करोड़ रुपयों में)	
केन्द्रीय सरकार	१,२४१	
'क' भाग के राज्य	६१०	
'ख' भाग के राज्य	१७३	
'ग' भाग के राज्य	३२	
जम्मू और काश्मीर	१३	
कुल व्यय	२,०६९	करोड़ रुपये

इस प्रकार ज्ञात होता है कि योजना पर अनुमानित व्यय का ६०% केन्द्रीय सरकार व्यय करेगी। योजना की वित्त-व्यवस्था में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ६५५ करोड़ रुपये की कमी के लिए कमीशन ने कोई निश्चित साधन नहीं खोजा है। कहा गया है कि यह कमी आन्तरिक करों, ऋणों या विदेशी सहायता से पूर्ण होगी और यदि ऐसा संभव न हो सका तो इसको पत्र-मुद्रा का प्रसार करके पूरा किया जायगा। आर्थिक विकास की योजना में इस प्रकार की अनिश्चितता दुर्बलता का प्रतीक है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ४९

विभिन्न सरकारों की आय-व्यय की मदें

केन्द्रीय सरकार की आय-व्यय की मदें

आय	व्यय
सीमा-शुल्क	राजस्व परं व्यय
केन्द्रीय आबकारी कर	सिंचाई
कारपोरेशन-कर	ऋण-क्रियाओं पर
आय-कर	नागरिक प्रशासन
अफीम-कर	मुद्रा और टकसाल
ब्याज	सार्वजनिक निर्माण
प्रशासन	पेंशनें
मुद्रा और टकसाल	शरणार्थी सहायता
नागरिक निर्माण	राज्यों को अनुदान
डाक व तार	असाधारण व्यय
रेल-मार्ग	सुरक्षा व्यय
असाधारण स्रोत	विविध व्यय
अन्य स्रोत	

राज्य-सरकारों की आय-व्यय की मदें

आय	व्यय
लगान (मालगुजारी)	सिंचाई
प्रान्तीय आबकारी	कृषि
कृषि-आय पर कर	यातायात
भूमि तथा भवनों पर कर	स्थानीय न्यायालय (प्रान्तीय)
व्यक्तिगत कर	शिक्षा
विज्ञापन-कर	स्वास्थ्य एवं चिकित्सा
मनोरंजन-कर	असाधारण व्यय
मुद्रांक-कर	विविध व्यय
मार्ग-कर	
सिंचाई-कर	
केन्द्र से अनुदान	
विविध	

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नगरपालिकाओं की आय-व्यय की मदें

आय	व्यय
व्यापार-कर (चुंगी आदि)	शिक्षा
सम्पत्ति-कर जैसे मकानों, इमारतों आदि पर कर	स्वास्थ्य व चिकित्सा
व्यक्तियों पर कर जैसे तीर्थ-यात्रियों, घरेलू नौकरों तथा पशुओं पर लिया जानेवाला कर	बिजली
फीस (शुल्क)	पानी
पानी, बिजली का शुल्क	हाट-बाजार
बाजारों तथा बूचड़खानों पर लगाया गया कर	स्थानीय सड़कें
इक्का, तांगा, साइकिल, मोटरगाड़ियों पर से लिया गया शुल्क	असाधारण व्यय
	विविध व्यय

जिला-बोर्डों की आय-व्यय की मदें

आय	व्यय
सरकारी अनुदान	शिक्षा
भूमि-कर	स्वास्थ्य व चिकित्सा
स्थिति-व सम्पत्ति-कर	सड़कें
पशुबाड़ा	मेला या नुमाइश
घाटों की आय	पानी
शिक्षा से फीस तथा बनी हुई वस्तुओं की बिक्री से आय	असाधारण
चिकित्सा (दवा की बिक्री से आय)	विविध
सार्वजनिक स्वास्थ्य (फीस व दण्ड)	
हाट की दूकानों से फीस (लाइसेंस)	
मेला व नुमाइश	
खेती व बाग	
ब्याज	
विविध	
ऋण लेकर	

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारतीय राजस्व व्यवस्था पर एक दृष्टि

वैसे तो संसार में कोई भी ऐसी राजस्व-व्यवस्था नहीं है जो सर्वथा दोषहीन हो या सर्वांगपूर्ण हो पर अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय राजस्व-व्यवस्था में अधिक दोष पाए जाते हैं। यदि देखा जाय तो भारतीय कर-व्यवस्था बड़ी अव्यवस्थित रही है। इसका विकास समय-समय पर उठनेवाली आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हुआ न कि किसी आयोजित पुरोगम को लेकर। कर का भार क्या होगा ? किस पर होगा ? करों का देश के उत्पादन पर, वितरण पर तथा उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? इन प्रश्नों पर पूर्ण ध्यान नहीं दिया जाता। हमारी कर-व्यवस्था एक लकीर की फकीर रही है। करों की प्रतिगामी प्रवृत्ति हमारी कर-पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष है। इसमें समानता और समता के सिद्धान्त का विचार नहीं रक्खा गया है। कर का भार जितना निर्धनों पर पड़ता है उतना धनिकों पर नहीं पड़ता।

यदि भारतीय बजट को देखें तो आय का अधिकांश सुरक्षा पर व्यय होता है। एक समय तो सुरक्षा-व्यय कुल व्यय का ६६% और कुल आय का ७४% तक पहुंच गया था। भारत स्वतंत्र होने के पश्चात् से तो कुछ ऐसी स्थिति बनी है कि सुरक्षा पर बहुत ही अधिक व्यय हो रहा है।

हमारे व्यय का दूसरा दोष यह है कि हमारे यहां नागरिक प्रशासन में काफी व्यय किया जाता रहा है। सरकारी अधिकारियों को ऊंचे-ऊंचे वेतन और भत्ते दिए जाते हैं। इस प्रकार भारत में आय का अधिकांश सुरक्षा, सेना तथा प्रशासन पर व्यय हो जाता है। सर वाल्टर लेटन ने एक बार कहा था कि भारत सुरक्षा तथा शान्ति एवं सुव्यवस्था पर अन्य पाश्चात्य देशों की भांति व्यय कर रहा है परन्तु शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि से वह उन देशों की तुलना में नहीं के बराबर व्यय करता है। अधिकांश व्यय ऐसे कामों पर होता है जिससे लोगों के आर्थिक कल्याण में कोई सहायता नहीं मिलती।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि हमारा राज्य एक 'पुलिस राज्य' बना हुआ है जहां सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में बहुत कम काम होता है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यय को सुसंचालित करके उसमें कमी की जाय और उसे लोक-कल्याण के कार्यों में लगाया जाय। सार्वजनिक व्यय ऐसा हो कि जिससे कृषकों का, मजदूरों का तथा निर्धन और असहायों का कल्याण हो, देश में उत्पादन बढ़े और वितरण की विषमता दूर हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट

श्रॉफ कमेटी की सिफारिशें

(जून १९५४)

अक्टूबर १९५३ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया ने देश के निजी उद्योगों को व्यापारिक बैंकों द्वारा वित्तीय सहायता पहुंचाने के साधन एवं सम्भावनाओं की जांच-पड़ताल करने के लिए श्री ए० डी० श्रॉफ की अध्यक्षता में एक कमेटी की नियुक्ति की थी। कमेटी की रिपोर्ट जून १९५४ में प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में कमेटी ने बैंकों के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं जो यहां उद्धृत की जाती हैं :—

(१) यद्यपि तालिकाबद्ध बैंक उद्योगों को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन वित्त-सहायता देते रहे हैं तो भी इससे उद्योगों की वित्त-आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही। अतः देश के सभी बैंकों को चाहिए कि वे अपने वर्तमान साधनों को दृष्टिगत रखते हुए परोक्षरूप से उद्योगों को वित्त-सहायता देते रहें। यह सहायता इस प्रकार दी जा सकती है :—

(क) उत्तम कोटि की औद्योगिक कम्पनियों के अंशों एवं ऋण-पत्रों में राशि विनियोग करके,

(ख) उक्त श्रेणी के अंशों एवं ऋण-पत्रों की साख पर मान्य ग्राहकों को अग्रिम राशि देकर,

(ग) सार्वदेशिक औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशन तथा प्रान्तीय वित्त-कॉरपोरेशनों के अंश एवं बॉण्ड खरीदकर। कमेटी का मत है कि इन संस्थाओं की सिक्यूरिटियां खरीदने से बैंकों की तरल स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(२) उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त-सहायता देने के लिए सबसे अधिक सरल उपाय यह है कि देश के कुछ अग्रगण्य व्यापारिक बैंक इन्श्योरेंस कम्पनियों के साथ मिलकर सिण्डीकेट या कन्सोरटियम बना लें जो औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन (underwriting) करें और उन्हें खरीदें भी। कमेटी का अनुमान है कि यदि देश के व्यापारिक बैंक अपनी अपनी जमा-राशि का ५% भी उद्योगों में विनियोग करें तो उद्योगों को ३०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करोड़ रुपये की विपुल राशि प्राप्त हो सकती है और इससे बैंकों को कोई हानि भी नहीं होगी। प्रस्तावित सिण्डीकेट देश के महान् व्यापारिक बैंक—इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया—के नेतृत्व में काम करें।

(३) यद्यपि इम्पीरियल बैंक अपने विधान के अनुसार पूर्ण-प्रदत्त अंशों की साख पर अग्रिम राशि दे सकता है और सीमित देनदारी की कम्पनियों के ऋण-पत्रों की साख पर उधार भी दे सकता है तो भी इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया एक्ट १९२० के अन्तर्गत वह कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों में विनियोग नहीं कर सकता। कमेटी ने सिफारिश की है कि एक्ट की यह व्यवस्था आज की स्थिति में असंगत एवं अनावश्यक है। अतः उक्त एक्ट की प्रथम तालिका के प्रथम अंश को इस प्रकार संशोधित कर देना चाहिए कि जिससे इम्पीरियल बैंक औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों में राशि विनियोग कर सके।

(४) रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया को चाहिए कि वह एक्ट की धारा १७ (४) (अ) के अनुसार अग्रिम राशि स्वीकार करने में औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशनों तथा राज्य वाहन-कम्पनियों के अंशों और बॉण्डों को, जिन पर केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों ने गारंटी दी हो, उसी श्रेणी में समझे जिसमें सरकारी सिक्यूरिटियों को समझता है। इन अंशों तथा बॉण्डों की साख पर खुले रूप में ऋण दे और जो भी शर्त उचित समझे लगा दे।

(५) बैंकों द्वारा औद्योगिक वित्त-कॉरपोरेशनों में अधिकाधिक राशि विनियोग करने की सुविधा देने के लिए विभिन्न प्रकार के विनियोगियों पर अंशों की कोई महत्तम सीमा रखने का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए।

(६) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को रिजर्व बैंक से मिलकर ऐसे बैंकों की एक सूची तैयार कर लेनी चाहिए जिनको स्थानीय सरकारों तथा अर्द्धसरकारी संस्थाओं से राशि जमा करने का तथा अपने ग्राहकों की सरकार में गारंटी देने का अधिकार हो। इससे बैंकों के साधनों में वृद्धि होगी और बैंकिंग व्यवसाय में जनता का विश्वास भी बढ़ेगा।

(७) रिजर्व बैंक द्वारा जनवरी १९५२ में प्रकाशित बिल-बाजार योजना का क्षेत्र विस्तृत एवं ढीला कर देना चाहिए। इसके अन्तर्गत कमेटी की सिफारिश है कि १ करोड़ और इससे अधिक जमा-राशि रखनेवाले सभी बैंकों को उक्त योजना के अन्तर्गत सुविधाएं मिलनी चाहिएं। बिलों की न्यूनातिन्यून राशि १ लाख से घटाकर ५०,००० कर देनी चाहिए।

[इस विषय में रिजर्व बैंक ने हाल ही में एक घोषणा प्रकाशित करके उक्त सिफारिश को कार्यान्वित कर दिया है।]

(८) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्गमित ऋणों को ऐसे समय में प्रकाशित करना चाहिए कि जिससे मुद्रा-मण्डी पर साधारण दबाव न पड़े और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारतीय बैंकों के विकास का चित्रण
(१९३८–१९५३)

वर्ष के अन्त में	इम्पीरियल बैंक ऑव इण्डिया के कार्यालयों की संख्या	विनिमय बैंकों के कार्यालयों की संख्या	अन्य तालिका-बद्ध बैंकों के कार्यालयों की संख्या	योग	अ-तालिका बद्ध बैंकों के कार्यालयों की सख्या	सकल योग
१९३८	३३५	९३	६७७	१,१२८	३४३	१४७१
१९३९	३८१	९९	७९८	१,२७८	६७३	१९५१
१९४०	३९०	१०१	८६०	१,३५१	८११	२१६२
१९४१	४०१	९९	९५४	१,४५४	१०१४	२४६८
१९४२	३९२	८२	९७४	१,४४८	१२६०	२७०८
१९४३	३९८	८४	१,४००	१,८८२	१५३१	३४१३
१९४४	४१९	७९	१,९७७	२४,७५	१९८५	४४६०
१९४५	४२६	७७	२,४५४	२,९५७	२३७८	५३३५
१९४६	३५८	५८	२,४४१	२,८५७	२०२९	४८८६
१९४७	३६२	६०	२,५६५	२,९८७	१८३२	४९१९
१९४८	३६७	६२	२,५३४	२,९६३	१७११	४६७४
१९४९	३७७	६४	२,४११	२,८५२	१५८९	४४४१
१९५०	३८२	६२	२,३३५	२,७७९	१५७४	४३५३
१९५१	३९१	६३	२,२१३	२,६६७	१४७३	४१४०
१९५२	४०८	६३	२,२२१	२,६९२	१३६९	४०६१
१९५३	४२२	६५	२,२०५	२,६९२	१३४४	४०३६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारतीय बैंकों के विदेश-स्थित कार्यालय

	१९५१		१९५२		१९५३	
	बैंकों की सख्या	बैंक कार्यालयों की संख्या	बैंकों की सख्या	बैंक कार्यालयों की संख्या	बैंकों की संख्या	बैंक कार्यालयों की संख्या
अदन	..	..	..	..	१	१
ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका	..	..	..	..	२	४
ब्रह्मदेश	५	८	५	८	५	८
श्रीलंका	३	३	३	३	३	३
हांगकांग	..	..	१	१	१	१
जापान	१	२	१	२	१	२
मलाया	४	१२	४	१२	४	१२
पाकिस्तान	३९	१००	३७	९६	२९	६७
थाईलैंड	१	२	१	१	१	१
इंगलैंड	२	२	२	२	४	४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट (२)

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन

पुस्तक प्रकाशित होते-होते सार्वदेशिक औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन की छठी वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है जिससे कॉरपोरेशन की ३० जून १९५४ को समाप्त होनेवाले वर्ष की गतिविधि का परिचय मिलता है। अतः विद्यार्थियों की जानकारी के लिए हम रिपोर्ट की मुख्य-मुख्य बातें यहां देना आवश्यक समझते हैं।

गत वर्ष में कॉरपोरेशन के पास ९ करोड़ रुपये के ऋणों के लिए ४३ आवेदन-पत्र आए जिनमें से २९ आवेदन-पत्र स्वीकार किए गए और ५·२७ करोड़ रुपये की राशि स्वीकृत की गई। इस प्रकार कॉरपोरेशन ने अपने जीवन-काल में १३७ औद्योगिक कम्पनियों को लगभग २१ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किए हैं। स्वीकृत किए गए ऋणों की स्थिति-तालिका इस प्रकार है :—

वर्ष	स्वीकृत किए गए ऋण (रुपयों में)
१९४८–४९	३,४२,२५,०००
१९४९–५०	३,७७,००,०००
१९५०–५१	२,३८,९५,०००
१९५१–५२	४,४५,२५,०००
१९५२–५३	१,४३,२५,०००
१९५३–५४	५,२७,०५,०००

स्पष्ट है कि अपने जीवन-काल में गत वर्ष ही कॉरपोरेशन ने सबसे अधिक राशि स्वीकृत की है। पर कॉरपोरेशन का लाभ फिर भी कम रहा। गत वर्ष कम्पनी को १७,१८,६३६ रुपये का लाभ रहा जब कि इससे पहिले वर्ष में २३,१६,६९१ रुपये का लाभ था। २¾% गारंटीड लाभांश चुकाने के लिए कॉरपोरेशन को ११,२५,००० रुपये की आवश्यकता होती है पर गत वर्ष लाभांश के लिए कॉरपोरेशन के पास व्यय काटकर केवल ७,१८,६३६ रुपये ही शेष रहे। अतः निश्चित दर पर लाभांश का भुगतान करने के लिए ४,०६,३६४ रुपये भारत सरकार को देने होंगे क्योंकि भारत सरकार ने २¾% की दर से लाभांश की गारंटी की हुई है। गत वर्ष से पहले वर्ष में कॉरपोरेशन को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार से कोई राशि इस हेतु नहीं लेनी पड़ी अन्यथा प्रत्येक वर्ष भारत सरकार को लाभांश के भुगतान में अंशदान देना पड़ा है ।

दिए गए ऋणों पर कॉरपोरेशन को १·४७ करोड़ रुपये की राशि ब्याज में मिलनी थी जिसमें से अभी तक १·३४ करोड़ रुपये ही प्राप्त हो सके हैं। मूल राशि में से ९०.३० लाख रुपये मिलने थे जिसमें से केवल ६१·४४ लाख रुपये ही मिले हैं ।

गत वर्ष में कॉरपोरेशन ने आवेदन-पत्रों पर विचार करने के लिए दो अस्थायी समितियों का और निर्माण किया है जो इंजीनियरिंग और रसायन-उद्योगों से सम्बन्धित हैं । गत वर्ष में कॉरपोरेशन की गतिविधि को लेकर पार्लियामेन्ट में काफी वाद-विवाद रहा। एक जांच-कमेटी भी बनाई गई और परिणामस्वरूप कॉरपोरेशन के एक्ट में कुछ संशोधन भी किए गए (जो ३४वें अध्याय में दिए गए हैं) । आजकल कॉरपोरेशन के संचालक सरकार द्वारा नामजद श्री पी० सी० भट्टाचार्य हैं जो ११ मार्च १९५४ से कार्य कर रहे हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संदर्भ-सूची

अ

अंकित चेक ३५८
अग्र विनिमय २४८–२५०
अतालिकाबद्ध बैंक ६४४
अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ४८०
  उद्देश्य ४८०
  गतिविधि ४८२
  प्रबन्ध ४८१
  पूंजी ४८१
  भविष्य ४८७
  महत्त्व ४८७
  भारत और— ४८६
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष २७३, ४७३
  उद्देश्य ४७३
  गतिविधि ४७८
  प्रबंध ४७५
  पूंजी ४७४
  महत्त्व ४७७
  भारत और— ४७९
अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन १५६
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार १९९
  जन्म और विकास १९९
  लाभ-हानि २०२–२०४
  सिद्धान्त २०७
अ-परिवर्तनीय नोट ३५, ३७
  दोष ४३
  लाभ ४४, ४५
अल्पकालीन ऋण ३०९
अवमूल्यन ११५, २५४, २५६
  रुपयें का— ११६, ४५६, ४६१
  परिणाम ४६४
असीमित कानूनी मुद्रा २५

आ

आई० ओ० यू० ३६५, ४९८
आनुपातिक कोष-प्रणाली ४९, ५०
आय ७४०
  अनिवार्य ७४१
  अनुबन्धीय ७४१
  दानोक्त ७४१
  प्रत्यक्ष ७४०
  प्रत्याशित ७४०
  व्युत्पादित ७४०

इ

इकॉनामिस्ट १२५
इम्पीरियल बैंक ५१८, ५३०, ६६७
  क्रियाएं ६७१
  भविष्य ६७७
  राष्ट्रीयकरण ६७७
  विधान ६६७
इलाई १९

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ई

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ३७७
ईस्टर्न इकॉनामिस्ट १२६

ए

एकक बैंकिंग २९१,२९२
एकधातुवाद ७८,१३३
एनेलिस्ट १२६

ऐ

ऐच्छिक पृष्ठांकना ३५७

औ

औद्योगिक बैंक २८८,५८५
आवश्यकता ५८५
स्थापना ५८८
औद्योगिक वित्त-
कॉरपोरेशन ५९२–६०३
कठिनाइयां ६००
कार्यक्षेत्र ५९४
गतिविधि ५९६
प्रबन्ध-संचालन ५९४
पूंजी ५९२
प्रान्तीय— ५८९

क

कर ७४१
अधोगामी ७४६
अनेक ७४६
एकक ७४६
परोक्ष ७४७
प्रगतिशील ७४५
प्रतिगामी ७४६
विशिष्ट ७४६
विशेष ७४३
समानुपाती ७४५
कर-आयोग ७८९
कर-दबाव ७६१
करदेय-क्षमता ७५६
अर्थ ७५६
प्रभाव ७५८
कर-भार ७६१,७६२
७६६
करेंसी १९
—सिद्धान्त ३९
क्रयशक्ति-समता-
सिद्धान्त २३०
आलोचना २३३
भारत में— २३५
महत्त्व २३४
कृषि-साख की आवश्य-
कता ६०७
कृषि-साख कॉरपोरेशन ६२५
कानूनी मुद्रा २४
असीमित २५
भेद २५
सीमित २५
कॉमर्स १२६
किन्ले १९,१५९
कीन्स ९३,११४,
१३५,३०१,
३३९
कूट चेक ३५९
केनन ३०४
केन्द्रीय बैंक ३२७
क्रियाएं ३२७,३२९,
३३३
विकास ३२८
केमरर १३५
केसल, गस्टव ११४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्लेअर एण्ड क्रम्प २२७
'कोटा' ४७४
कोल १८
कौंसिल बिल १७७,३९१

ख

खुला-बाजार क्रियाएं ३३७

ग

ग्रहणाधिकार २९५
स्वत्व ३१२
गाइड २२१
गारंटी ३१६
ग्रेशम का नियम ७६
अपवाद ८०
मूलस्वरूप ७६
विचित्रता ७७
विभिन्न रूप ७८
गोलक लेखा २८३

च

चलनाधिक्य ४३
चल-लेखा २८३
चिट-कोषागार ६९१
चेक ३५३
अंकित ३५८
उत्तरतिथीय ३५३
कूट ३५९
खुला ३५४
तिथिविहीन ३५३
पूर्वतिथीय ३५३
विकृत ३५९
वीतकालीन ३५३
रेखांकित ३५४
पृष्ठांकना ३५५
रेखांकन ३५५
चेम्बरलेन कमीशन ३९३, ४९५
सिफारिश ३५४
चैपमैन १६४

ज

जन-ऋण ७७२
प्रभाव ७७७
वर्गीकरण ७७३
रूप ७७३
शोधन ७७६
जमानतें ३१२
अचल सम्पत्ति ३१५
सामपार्श्विक ३१२
वैयक्तिक ३१६
ज्योफ्रे क्राउथर १६५, १७९, १८७, २२४, २५६

ट

टकसाली लाभ २७
टकसाली व्यय २७
टॉमस २२६, २३०, २४३, २४७
टॉसिग ३६९
ट्रेजरी सेविंग्ज़ सार्टीफिकेट ६८८
टंक-समता २२६

ड

डम्पिंग २११
डाकखाना ६८२
संख्या ६८३
बीमा योजना ६८६
डॉलर-समस्या ४५६
डेविडसन ५०

त

तालिकाबद्ध बैंक ६४४
तुलनात्मक अन्तर २०६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्त २०४

द

दलाल, दादीबा ४०६
दायित्वहीन पृष्ठांकना ३५६
द्विधातुवाद ७८, १५०
समातुलन सिद्धान्त १५०
गुण-दोष १५२–१५४
इतिहास १५४
विभिन्न रूप १५७
संभावना १५६
दुर्लभ मुद्रा ४७६
देशमुख, सी० डी० ४७१
अवार्ड ७८७

ध

धनीजोग हुण्डी ३६४

न

नकद कोष ३०४
नव-द्विधातुवाद १५९
निर्देशांक ११६, २३३
आर्थिक दशा के १२४
औद्योगिक १२४
भारशील ११९
निर्वाह-व्यय १२४
सामान्य ११७
सावरेक १२५
निर्देशांक प्रमाप १६१
गुण-दोष १६२-१६३
निधियां ६९१
निमियर रिपोर्ट ७८६
निष्क्रिय जमा ३०१
नेशनल सेविंग्ज सार्टीफिकेट ६८७
नैतिक अनुरोध ३४१
नोट ३५
अपरिवर्तनीय ३५,३७
प्रतिनिधि रूप ३५,३६
परिवर्तनीय ३५,३६
—भेद ३५
—विकास ३५

प

पत्र-मुद्रा-प्रमाप १६४
गुण-दोष १६५
परोक्ष कर ७४७
पुनर्मूल्यन ४६८
रुपये का ४६८
पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ४२२
पैंगो १८३
पौण्ड पावने ४४८,४५०, ४५२
समझौते ४५३,४५४
पंगु-प्रमाप १५७,१६७, ३८२
प्रतिज्ञा-पत्र ६३,३६४
प्रतिबन्ध की नीति २५८,२६१, २६२,२६६
प्रतिगामी कर ७४६
प्राधि ३१२
प्रामाणिक मुद्रा २९
पृष्ठांकन ३५५
ऐच्छिक ३५७
दायित्वहीन ३५६
सामान्य ३५६
सीमित ३५६
विशिष्ट ३५६
प्रेसीडेंसी बैंक ५१८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

फ

फरमानजोग हुण्डी ३६४
फाउलर कमेटी ३८४
सिफारिशें ३८७,३८८
फिण्डले शिराज ७१८,७३४
फिशर ९०
—का समीकरण ९०-९१

ब

बन्धक ३१२
बिल ६३,३५३,३६१
दर्शनी ६३
भुगतान २२३
लाभ ३३६
विनिमय ६३
वित्त ३६६
स्वीकृति २२३
बिल बाजार ५३२, ५३३, ६५०
बेविंग्टन-स्मिथ कमेटी ४०१, ४९६
सिफारिशें ४०३
बैंक २८१
औद्योगिक २८८,५८५
क्रियाएं २८२,२८७
केन्द्रीय २८८,५८५
कृषि २८९
परिभाषा २८१
भूमिबन्धक २८९,६१४
व्यापारिक २८८,५५४
विनिमय २८९,५६९
विविध २८८,२९१
सहकारी ६०७
स्थिति-विवरण ३२०,३२१, ६५५
बैंक ऑव बंगाल ४९२
बैंक ऑव बंबई ४९२
बैंक ऑव मद्रास ४९२
बैंक ड्राफ्ट ६४,३६६
बैंक-दर ३३६
उच्चावचन ३४४
महत्त्व ३४७
वर्तमान स्थिति ३४८
वृद्धि ३४९
बैंकिंग सिद्धान्त ३९
बैनहम २६५

भ

भारशील निर्देशांक ११९
भुगतान बिल २२३
भुगतान-संतुलन २२०
भूमिबन्धक बैंक २८९,६१४

म

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ३५८
मार्शल १९
मांग देनदारी २८३
मिल ८८,७४८
मिश्रित धातुवाद १६१
मुद्रा १
क्रियाएं १४–१७
दोष २०-२१
परिभाषा १८
भेद २५
महत्त्व ११–१३
विकास ३
मुद्रा की प्रदाय ८९
मुद्रा की मांग ८८
मुद्रा-वस्तु ३
गुण-धर्म ५-६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा का चलन सिद्धान्त ७६
मुद्रा का परिमाण
सिद्धान्त ८६
व्याख्या ८६-८७
आलोचना ९२
उपयोगिता ९४
मुद्रा का मूल्य ८५
परिवर्तन १०३
मुद्रा के चलन की गति ९६
—में फेर-बदल ९७
मुद्रा-स्फीति १०३,४३९, ६५७
अर्थ १०३
कारण १०४
प्रभाव १०५-१०६
मुद्रा-संकुचन १०७
अर्थ १०७-१०८
परिणाम १०८
विधि १०९
मुद्रा-संस्फीति ११२
मूल जमा ३०१
मूल्य-वृद्धि ११३
मूल्य-ह्रास १३१
मेन्सफील्ड कमीशन ३७९
मेस्टन अवार्ड ७८५
मैक्ल्यौड ३७७

र

रजत-प्रमाप १३४, १६७, ३७९
भारत में— १३५
रावर्टसन १९
राजस्व ७१५
अर्थ ७१६
महत्त्व ७१७
राबिनसन ७३३
रिकार्डो ६९,२०२, २०३
रिजर्व बैंक ऑव इंडिया ४२९,६३३
आवश्यकता ६३३
आलोचना ६५९
क्रियाएं ६४०,६४४
—एवं कृषि-साख ६५२
विधान ६३८
—एवं विनिमय-नियंत्रण ६५४
स्थिति-विवरण ६५६
—एवं स्वदेशी बैंकर ६४६
—एवं साख-नियंत्रण ६४८
—एवं बिल-बाजार ६५०
रिवर्स कौंसिल बिल ४०८
रीश मार्क १८३

ल

लाभार्जन क्रियाएं २४०,२४१, २४६,२४७
साधारण २४६
जटिल २४६
लाभांश २४१
लीरा १८३

व

वस्तु ३४१
वस्तु-विनिमय १-२
कठिनाइयां २-३

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वाल्टर लीफ ३०४
विकृत चेक ३५९
विकार ३१
वित्त-आयोग ७८७
विदेशी विनिमय २१८
विनिमय बैंक २१९,२८९, ५१९,५६९
कार्यशैली ५७२
क्रियाएं ५७१
देन ५७६
शिकायतें ५७४
विनिमय-दर २१९, २२४
ज्ञात करने के ढंग २२५
—की ऊंच-नीच २३६
अनुकूल २३६
—में उच्चावचन २३८,२४५
प्रतिकूल २३६
निर्बल २३६
सबल २३६
उच्चावचन के कारण २४२
विनिमय-दर वाद-विवाद ४१९,४२३
विनिमय-नियंत्रण २४४,४०१
उद्देश्य २५४
ढंग २५७
भारत में— २६९,४३६, ६५४
कानून २७२
विनिमय-नियंत्रण विभाग २७०
विनिमय-नीति ३०७
कसौटी ३०७
विधियां ३०९
विनिमय-प्रमाप १६३
विनिमय-समातुलन-कोष १४४, २५०,२६४
विनिमय-समाशोधन लेखा २६७
शाख बैंकिंग २९१,२९२, २९३
शाहजोग हुण्डी ३६४

स

स्टर्लिंग बिल १७७
स्टेटिस्ट १२५
स्थायी महत्तम सीमा प्रणाली ४७-४८
स्थायी विश्वसनीय प्रणाली ४८-४९
स्वदेशी बैंकर ५३९,५४०, ६४६
क्रियाएं ५४१
अवस्था ५४३
स्वर्ण-धातु-प्रमाप १३६,१३८, १६८,४१७
इंगलैण्ड में— १४०-१४१
गुण-दोष १३९-१४०
भारत में— १४०-१४१
स्वर्ण-प्रमाप १३५,१७४, १७७,१७८, १८०–१८२
भेद १३६
परित्याग १८४
स्वर्ण-प्रमाप-कोष १४३,५०८
वर्तमान स्वरूप १८८
स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप १३६
गुण-दोष १३७
तिरस्कार १३८
स्वयंपूर्ण कार्यशीलता १३६,१७५

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप १४१,१६७, १७७,३९१, ४१५
अन्त ३९९
गुण-दोष १४२
भारत में— १४३
स्वर्ण-बिन्दु २२८
आयात २२९
निर्यात २२९
सिद्धान्त २३०
स्वीकृति बिल २२३
सम-मूल्य ४७५
समान अन्तर २०६
समानान्तर प्रमाप १५८
सर्वांग अन्तर २०५
सक्रिय जमा ३०१
सृजित जमा ३०१
समाशोधन गृह ३३१,३६९
उद्गम ३७२
कार्य-प्रणाली ३६९
विकास ३७२
संरक्षण २०८
नीति २०९
पक्ष-विपक्ष २०९,२११
साख ५८
अर्थ ५८-५९
गतिशीलता ९८
मुद्रा ६०
जमा ३०२
लेन-देन ५९-६०
सृजन ३०१
सीमाएं ३०२
महत्त्व ६५-६६
दोष ६७
घटत-बढ़त ७२
राशन ३४०
साख-नियंत्रण ३३१, ३३४, ६४८, ६५९
अर्थ ३३४, ३३५
साधन ३३६, ३४२
साख-पत्र ६४, ३६५
अभियात्री ३६६
गतिशील ३६५
गश्ती ६४
चालू ६५
परिसाख ३६६
स्थायी ३६५
सीमित ३६५
सिक्का २९
प्रामाणिक २९
सांकेतिक २९-३०
भेद २९
सिक्का-ढलाई २४-२५
विकास २६
भेद २७
निःशुल्क २७-२८
सरकारी २७-२८
स्वतन्त्र २७,३८३
सीमित कानूनी मुद्रा २५
सीमान्त उत्पादन-व्यय २०४-२०५
सेयर्स ३३९
सेलिग्मैन ३०१

ह

हर्शल कमेटी ३८२
हस्तक्षेप की नीति २५८,२६६
हार्टले ह्विदर्स ११४,२२८
हिल्टन यंग कमीशन ४१७
सिफारिशें ४१७,४९८
हुण्डी ६४,३६४
देखनहारजोग ३६४
धनीजोग ३६४
फरमानजोग ३६४
शाहजोग ३६४

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri